प्रकाशक : **पंचशील प्रकाशन**
फिल्म कॉलोनी, जयपुर-302 003

संस्करण : प्रथम

मूल्य : अस्सी रुपये

टाइपसैटिंग : श्रीजा कम्प्यूटर्स, जयपुर-3

मुद्रक : गौरव ऑफसेट प्रिंटर्स, जयपुर

आमुख

1453 ई. में तुर्कों ने पूर्वी रोमन साम्राज्य (बाइजेन्टाइन साम्राज्य) की राजधानी कुस्तुनतुनिया पर अधिकार कर पूर्वी रोमन साम्राज्य का अन्त कर दिया। इस घटना के बाद ही यूरोप में पुनर्जागरण की गति को बल मिला और पश्चिम के राष्ट्र मध्य युग से निकल कर आधुनिक विचार तथा जीवन की पद्धतियों को ग्रहण करने लगे। आज विश्व के अधिकांश देशों में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में सभी नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त है। परन्तु इन समान अधिकारों को प्राप्त करने तथा जीवन स्तर को उन्नत बनाने के लिए मानव जाति को निरन्तर संघर्ष करना पड़ा है। आधुनिक विश्व-इतिहास इसी संघर्ष की कहानी है। यदि कोई जाति, समाज अथवा देश अपनी उपलब्धियों का निष्पक्ष मूल्यांकन करना चाहता है, तो उसे आधुनिक विश्व-इतिहास के सन्दर्भ में अध्ययन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त विश्व-इतिहास के अध्ययन से एक व्यापक दृष्टिकोण का विकास होता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय भावनाएँ विकसित होकर विश्व-बन्धुत्व का आदर्श प्रस्तुत करती हैं।

राजस्थान के सभी विश्वविद्यालयों ने इस सत्र से स्नातक स्तर तक एक समान पाठ्यक्रम लागू करने का निश्चय किया है, जो निःसन्देह स्वागत योग्य कदम है। इस योजना के अन्तर्गत प्रथम वर्ष के पाठ्यक्रम में "आधुनिक विश्व-इतिहास की रूपरेखा" का समावेश किया गया है। पाठ्यक्रम काफी व्यापक एवं संतुलित है। परन्तु पाठ्यक्रम के अध्ययन के लिए जिन पुस्तकों की संस्तुति की गई है; उनमें से एक भी पुस्तक ऐसी नहीं है जो सम्पूर्ण पाठ्यक्रम को अपने में समा सके। एक भी पुस्तक ऐसी नहीं है जो 1945 ई. के बाद के इतिहास पर प्रकाश डाल सके।

विद्यार्थियों को एक अच्छी पाठ्यपुस्तक जिसमें सम्पूर्ण पाठ्यक्रम समाहित हो, उपलब्ध हो सके, इसी दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक का प्रणयन किया गया है। शिक्षकों एवं विद्यार्थियों की सुविधा के लिए परिशिष्ट में समूचे पाठ्यक्रम से सम्बन्धित प्रमुख तिथियों का भी उल्लेख किया गया है। हमें पूरा विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक शिक्षकों एवं विद्यार्थियों—दोनों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन में जिन विद्वान् लेखकों के ग्रन्थों से सहायता ली गई है; उनके प्रति हम हृदय से आभार प्रकट करते हैं। लेखकगण पंचशील प्रकाशन के संस्थापक एवं संचालक श्री मूलचन्द गुप्ता के भी आभारी हैं जिन्होंने समयाभाव के उपरान्त भी अत्यधिक परिश्रम के साथ प्रकाशन का दायित्व निभाया।

—कालूराम शर्मा

—प्रकाश व्यास

SYLLABUS

PAPER - II : OUTLINE HISTORY OF MODERN WORLD

(1453 A.D. - 1976 A.D.)

UNIT-I : Renaissance : Meaning, causes and developement of Art and Literature.

Reformation : Causes, role of Martin Luther ; Counter Reformation.

Mercantalism : Meaning, factors and impact.

American War of Independence ; Causes and Results.

UNIT-II : Industrial Revolution - Causes, changes in agriculture and industries and results.

Parliamentary reforms in England in 19th and first half of the 20th centuries.

Imperialism in Asia and Africa ; Causes and Results.

UNIT-III : French Revolution-Causes and results; Napoleon Bonaparte Conquests and Reforms, French Revolution of 1848 and its impact; Unification of Italy and Germany, Eastern Question with special reference to Crimean War and Borlin Settlement.

UNIT-IV : First World War-Causes and results; Causes and results of Bolshevik Revolution; Versailles Settlement.

Causes of the rise of Fascism and Nazism.

Second World War-Causes and results.

UNIT-V : League of Nations; Aims, achievements and causes of fall U.N.O. : Birth, Organisation and achievements.

Emergence of China, Japan and Turkey as Modern Nations.

Freedom struggle in Indo-China and Indonesia.

विषय-सूची

अध्याय-1

पुनर्जागरण
(Renaissance)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—प्राचीनकाल में यूरोप के एक छोटे-से देश यूनान ने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया और एक सुविकसित संस्कृति को जन्म दिया। यूनान के राजनीतिक पतन के बाद इटली के रोमनों का उदय हुआ जिन्होंने विशाल रोमन साम्राज्य का निर्माण किया। रोमनों ने यूनानी सभ्यता एवं संस्कृति के अनेक तत्वों को आत्मसात करके अपनी संस्कृति को समृद्ध बनाया और इस समृद्ध संस्कृति को दूर-दूर तक फैलाया। परन्तु चौथी-पाँचवीं सदी में विशाल रोमन साम्राज्य का पतन हो गया और यूरोप में अनेक छोटे-बड़े सामन्तवादी राज्यों का उदय हुआ जो दीर्घकाल तक आपसी संघर्षों में उलझे रहे। एक सुदृढ़ केन्द्रीय सत्ता के अभाव में सम्पूर्ण यूरोप गहन अन्धकार में डूब गया और सदियों (पाँचवीं सदी से चौदहवीं सदी) तक यूरोपवासी इस अन्धकार में डूबे रहे। इस स्थिति के लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी थे—

(1) सामन्तों ने पढ़ने-लिखने में विशेष रुचि नहीं ली और न ही उनके लिए इसकी आवश्यकता ही थी। परिणाम यह निकला कि शिक्षा का प्रसार रुक गया और बहुत से विद्यालय बन्द हो गये। शिक्षा के अभाव में बौद्धिक प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो गया और धीरे-धीरे लोग प्राचीन यूनानी और रोमन ज्ञान-विज्ञान को भूल बैठे।

(2) अध्ययन-अध्यापन का थोड़ा-बहुत काम पादरी वर्ग तक ही सीमित रह गया। पादरी वर्ग ने धर्मग्रन्थों के स्वतन्त्र चिन्तन एवं बौद्धिक व्याख्या पर प्रतिबन्ध लगा दिया। जो कुछ धर्म-ग्रन्थों में लिखा हुआ था, उसी को एकमात्र सत्य माना जाने लगा और उस सत्य के विपरीत विचारों को प्रतिपादित करने वालों को नास्तिक तथा धर्मद्रोही करार देकर कठोर सजाएँ दी जाने लगी। लोगों पर धर्म तथा धर्माधिकारियों का इतना गहरा आतंक एवं प्रभाव जम चुका था कि सामान्य व्यक्ति उन्हें किसी भी प्रकार की चुनौती देने का साहस ही नहीं कर पाते थे।

(3) मेनर व्यवस्था (जागीर-प्रथा) के कारण ग्राम में बसने वाले किसानों तथा श्रमिकों के लिए आजीविका के निमित्त अपना गाँव छोड़ना बहुत कठिन काम था; क्योंकि इसके लिए सामन्त की स्वीकृति लेना आवश्यक था और सामन्त लोग सरलता से स्वीकृति देने वाले नहीं थे।

(4) बड़े शहरों में काम करने वाले श्रमिक गिल्ड (व्यवसाय श्रेणी) के मालिकों की दया पर निर्भर करते थे और दक्षता प्राप्त कर लेने के उपरान्त भी गिल्ड की अनुमति के बिना अपना स्वतन्त्र व्यवसाय या कारोबार प्रारम्भ नहीं कर सकते थे।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुगीन यूरोप में व्यक्ति का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व दब गया था और उसे स्वतन्त्र रूप से बौद्धिक चिन्तन, अन्वेषण एवं आविष्कार करने के अवसर नहीं मिल पा रहे थे, जिसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण यूरोप की बौद्धिक एवं वैज्ञानिक प्रगति को लकवा मार गया था।

स्थिति में परिवर्तन—मध्ययुग के अन्तिम दशकों में यूरोप की उपर्युक्त स्थिति में धीरे-धीरे परिवर्तन आता गया। लोग मेनर से अपना सम्बन्ध तोड़कर कृषि फार्मों पर स्वतन्त्र रूप से मजदूरी करने लगे अथवा अन्य कोई काम करने लगे या कस्बों अथवा गाँवों में अपनी स्वयं की दुकानें खोलने लगे। इसके साथ ही अब लोग पीढ़ियों से निर्विरोध चले आ रहे विचारों को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। चर्च तथा धर्मशास्त्रों की कई बातों पर भी शंका करने लगे। ऐसी स्थिति में यूनानी तथा लेटिन भाषाओं के प्राचीन ग्रन्थों के माध्यम से वास्तविक ज्ञान अर्जित करने का प्रयास किया गया और मातृभाषाओं के माध्यम से इस ज्ञान का प्रसार किया जाने लगा। परिणामस्वरूप यूरोपवासियों के जीवन एवं उनके विचारों में महान् परिवर्तन आ गया। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण बदल गया। अब मनुष्य ने अपने आपको और अपनी उपलब्धियों को पहचानना शुरू कर दिया। अब वह परलोक की कल्पना के स्थान पर इस लोक में रुचि लेने लगा। धार्मिक समस्याओं के स्थान पर सांसारिक समस्याओं को अधिक महत्त्व देने लगा। इस संसार को ही स्वर्ग बनाने की सोचने लगा। इस परिवर्तित स्थिति अथवा दृष्टिकोण को ही पुनर्जागरण कहते हैं।

पुनर्जागरण का अर्थ—पुनर्जागरण (रेनेसाँ) मानव-जीवन के प्रति मनुष्य के नवीन दृष्टिकोण का नाम है। इतिहास में इसको "नवयुग", "नया जन्म", "बौद्धिक पुनरुत्थान" आदि विभिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता है। प्रोफेसर जानसन टामसन के मतानुसार, 'रेनेसाँ' शब्द का प्रयोग सामान्यतः चौदहवीं शताब्दी में इटली के कला एवं ज्ञान के क्षेत्र में होने वाले नवजागरण के लिए किया जाने लगा। प्रोफेसर ल्यूकस ने इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "रेनेसाँ" शब्द का अर्थ इटली के उन सांस्कृतिक परिवर्तनों से है, जो चौदहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर 1610 ई. तक सम्पूर्ण यूरोप में फैल गये। प्रोफेसर स्वेन के मतानुसार मध्ययुग के अन्तिम काल में होने वाले समस्त बौद्धिक परिवर्तन ही सामूहिक रूप से पुनरुत्थान है।

मिकेलिट नामक विद्वान् का मत है कि पुनरुत्थान मानव द्वारा अपनी तथा विश्व की खोज है। इतिहासकार सीमोण्ड ने पुनरुत्थान की व्याख्या करते हुए लिखा है कि यह एक ऐसा आन्दोलन था, जिसके द्वारा पश्चिम के राष्ट्र मध्ययुग से निकल कर आधुनिक विचार तथा जीवन की पद्धतियों को ग्रहण करने लगे। पुनरुत्थान की चारित्रिक व्याख्या करते हुए प्रोफेसर डेविस ने लिखा है कि "पुनर्जागरण शब्द मनुष्य की स्वातन्त्र्यप्रियता एवं साहसी विचारों की अभिव्यक्ति है।"

संक्षेप में, पुनरुत्थान व्यक्ति को मध्ययुगीन अन्धविश्वासों, रूढ़ियों तथा चर्च एवं धर्मशास्त्रों के बन्धनों से मुक्त करके स्वतन्त्र चिन्तन तथा अपने व्यक्तित्व का विकास करने का अवसर देने वाला तथा प्राचीन यूनानी एवं रोमन संस्कृति के आधार पर एक नयी संस्कृति का

निर्माण करने का प्रयास था। इसके मूल में परलोकवाद तथा धर्मवाद के स्थान पर मानववाद की भावना थी। इसे यूरोप के मध्ययुग एवं आधुनिक युग को मिलाने वाला सेतु कहा जा सकता है। वास्तव में यह यूरोपीय इतिहास की एक महान् युगान्तकारी घटना थी, जिसने आगे चलकर सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित किया और मानव सभ्यता एवं संस्कृति की प्रगति में अविस्मरणीय योगदान दिया।

पुनर्जागरण की विशेषताएँ—पुनर्जागरण की मुख्य विशेषता 'स्वतन्त्र चिन्तन' है। मध्ययुग में व्यक्ति के चिन्तन एवं मनन पर धर्म का कठोर अंकुश लगा हुआ था। पुनर्जागरण ने आलोचना को नई गति एवं विचारधारा को नवीन निडरता प्रदान की। पुनरुत्थान का लक्ष्य परम्परागत विचारधाराओं को स्वतन्त्र आलोचना की कसौटी पर कसना था, वैज्ञानिक ढँग से किसी बात की व्याख्या करना था। पुनर्जागरण की दूसरी विशेपता मनुष्य को अन्धविश्वास, रूढ़ियों तथा चर्च के बन्धनों से मुक्त कराकर उसके व्यक्तित्व का स्वतन्त्र रूप से विकास करना था। पुनर्जागरण की तीसरी विशेपता मानववादी विचारधारा थी। मध्ययुग में चर्च ने लोगों को बतलाया था कि इस दुनियाँ में जन्म लेना ही घोर पाप है। अतः तपस्या तथा निवृत्ति मार्ग को अपनाकर मनुष्य को इस पाप से मुक्त होने का सतत् प्रयास करना चाहिए। अर्थात् मध्ययुग ने मनुष्य को इस जीवन का आनन्द उठाने से मना किया और परलोक को सुधारने पर बल दिया। इसके विपरीत पुनर्जागरण ने मनुष्य को इस जीवन का पूरा-पूरा आनन्द उठाने को कहा। मानव जीवन को सार्थक बनाने की शिक्षा दी। धर्म और मोक्ष के स्थान पर मानवता के उद्धार का सन्देश दिया। यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता थी। पुनर्जागरण की एक अन्य विशेपता देशज भाषाओं का विकास थी। अब तक केवल यूनानी तथा लेटिन भाषाओं में लिखे गये ग्रन्थों को ही महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। पुनर्जागरण ने लोगों की बोलचाल की भाषा को गरिमा एवं सम्मान दिया। क्योंकि इन भाषाओं के माध्यम से सामान्य लोग बहुत जल्दी ज्ञानार्जन कर सकते थे। अपने विचारों को सुगमता के साथ अभिव्यक्त कर सकते थे। देशज भाषा का प्रयोग रेनेसाँ का एक मुख्य लक्षण था। चित्रकला के क्षेत्र में पुनर्जागरण की विशेपता थी—यथार्थ का चित्रण। वास्तविक सौन्दर्य का अंकन। विज्ञान के क्षेत्र में पुनर्जागरण की विशेषता थी—निरीक्षण, अन्वेपण, जाँच और परीक्षण। इस वैज्ञानिक भावना ने मध्ययुगीन अन्धविश्वासों और मिथ्या विश्वासों को अस्वीकार कर दिया।

पुनर्जागरण के कारण—पुनर्जागरण की गति कब और कैसे प्रारम्भ हुई, इसके बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। ऐसी मान्यता है कि इस गति का जन्म तेरहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हो चुका था। प्रोफेसर स्वेन का मत है कि पुनर्जागरण धर्म-युद्ध तथा नये देशों की खोज से आरम्भ हुआ। जो भी हो, इतना निश्चित है कि पुनरुत्थान किसी एक व्यक्ति, एक स्थान अथवा एक विचारधारा के कारण सम्भव नहीं हो पाया था। फिर भी, निम्नलिखित कारणों को इसके लिए उत्तरदायी माना जा सकता है—

(1) धर्म-युद्ध (क्रूसेड) —ईसाई धर्म के पवित्र तीर्थ-स्थान जेरूसलम के अधिकार को लेकर ईसाइयों और मुसलमानों (सैल्जुक तुर्क) के मध्य लड़े गये युद्ध इतिहास में 'धर्मयुद्धों' (क्रूसेड) के नाम से विख्यात हैं। ये युद्ध लगभग दो सौ वर्षों तक चलते रहे। इन धर्मयुद्धों के

परिणामस्वरूप यूरोपवासी पूर्वी रोमन साम्राज्य तथा पूर्वी देशों के सम्पर्क में आये और अनेक चीजें देखीं तथा उन्हें बनाने की पद्धति भी सीखी। इससे पूर्व वे अरबों के माध्यम से कुतुबनुमा, वस्त्र, कागज और छापाखाने की जानकारी प्राप्त कर चुके थे। अब उन्हें पूर्वी देशों की तर्क-शक्ति, प्रयोग-पद्धति तथा वैज्ञानिक खोजों की पर्याप्त जानकारी मिली। मुस्लिम देशों के रहन-सहन, खान-पान तथा सार्वजनिक स्वच्छता एवं सफाई का भी यूरोपवासियों पर जबरदस्त प्रभाव पड़ा। धर्मयुद्धों के परिणामस्वरूप यूरोपवासियों को नवीन मार्गों की जानकारी मिली और कई साहसिक लोग पूर्वी देशों की यात्राओं के लिए चल पड़े। उनमें से कुछ ने पूर्वी देशों की यात्राओं के दिलचस्प वर्णन लिखे, जिन्हें पढ़कर यूरोपवासियों की कूप-मण्डूकता दूर हुई और उनकी चिन्तन शक्ति जागृत हुई। धर्मयुद्धों में पोप की सम्पूर्ण शुभकामनाओं तथा आशीर्वाद के बाद भी ईसाइयों की पराजय हुई। इससे ईसाई जगत् में पोप की प्रतिष्ठा को जबरदस्त आघात पहुँचा। अब धर्म के बन्धन ढीले पड़ने लगे और एक नया दृष्टिकोण पनपने लगा, जिसने पुनर्जागरण को आहूत करने में भारी योगदान दिया। ये सारी बातें धर्मयुद्ध के बिना भी धीरे-धीरे आ जातीं, परन्तु धर्मयुद्ध के कारण इनके आने में निःसन्देह शीघ्रता हुई।

(2) व्यापार का विकास—व्यापार-वाणिज्य का विकास तथा आर्थिक समृद्धि पुनर्जागरण का एक प्रमुख कारण था। सामन्ती युग के प्रारम्भ में धन-सम्पत्ति का संग्रह केवल थोड़े-से सामन्तों के पास और चर्च के पास ही हो पाया था और इन दोनों को वैज्ञानिक प्रगति, खोज तथा अनुसन्धान में रुचि नहीं थी। सामन्त वर्ग को तो परिवर्तन के नाम से ही चिढ़ थी, क्योंकि उन्हें हर समय यह भय बना रहता था कि कहीं परिवर्तनों के परिणामस्वरूप उनके अधिकारों तथा स्थिति में परिवर्तन न आ जाय। अतः जिज्ञासु वैज्ञानिकों, अन्वेषकों और कलाकारों, साहित्यकारों तथा विचारकों को प्रगतिशील कार्यों के लिए प्रोत्साहन एवं संरक्षण नहीं मिल पाया। मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में यूरोपीय व्यापार-वाणिज्य का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विकास शुरू हुआ। व्यापार-वाणिज्य के विकास से कई नये नगरों का उदय हुआ। इन नगरों में व्यापारियों के भव्य भवन बने। व्यापारियों ने ज्ञान-विज्ञान को प्रोत्साहन दिया जिससे नगरों का वातावरण बदलने लगा। क्योंकि इन नगरों पर सामन्तों अथवा धर्माधिकारियों का विशेष प्रभाव कभी कायम नहीं हो पाया; अतः यहाँ व्यापारी वर्ग तथा मध्यम वर्ग का बोलबाला था जिनके पास धन की कमी नहीं थी और जो समाज में अपनी शान-शौकत तथा प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए मुक्त हाथ से धन खर्च करते थे। इसके अलावा, व्यापारी वर्ग को सामन्तों तथा चर्च दोनों से ही जलन थी। अतः वे लोग लेखकों, विद्वानों और कलाकारों को आश्रय देते और विचार-विनिमय के लिए गोष्ठियों का आयोजन करते थे। इन गोष्ठियों में विविध विषयों पर वाद-विवाद होता, तर्क-वितर्क होता और प्रत्येक वस्तु की अच्छाई-बुराई की चर्चा की जाती थी। इससे लोगों की चिन्तन-शक्ति का विकास हुआ। चिन्तन-शक्ति के विकास से पुरानी मान्यताएँ टूटने लगीं और नई मान्यताओं की पृष्ठभूमि तैयार होती गई जिससे पुनर्जागरण को बल मिला। नगरों के विकास ने एक और दृष्टि से भी सहयोग दिया। चूँकि ये नगर व्यापार-वाणिज्य के केन्द्र बन गये थे, अतः विदेशों से व्यापारी लोग इन नगरों में आते रहते थे। इन विदेशी व्यापारियों से नगरवासी विचारों का आदान-प्रदान किया करते थे। देश-विदेश की बातों पर मनन होता था जिससे नगरवासियों की चिन्तन-शक्ति बढ़ने लगी।

(3) अरब और मंगोल—पूर्वी देशों के संचित ज्ञान से यूरोपवासियों को परिचित कराने में अरबों और मंगोलों ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। यूरोप के बहुत से क्षेत्रों, विशेषकर स्पेन, सिसली और सार्डिनिया में अरब लोग बस चुके थे। अरब लोग स्वतन्त्र चिन्तन के समर्थक थे। उन्हें शिक्षण संस्थायें स्थापित करने में रुचि थी। उनके द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थाओं में धर्म-निरपेक्ष ज्ञान-विज्ञान का पठन-पाठन होता था। अरब लोगों को यूनान के सुप्रसिद्ध विद्वानों—प्लेटो तथा अरस्तू की रचनाओं से विशेष लगाव था, क्योंकि ये दोनों विद्वान् स्वतन्त्र चिन्तक थे और उनकी रचनाओं में धर्म का कोई सम्बन्ध न होता था। अरब लोगों ने यूरोपवासियों का ध्यान प्लेटो तथा अरस्तू की तरफ आकर्षित किया और इस प्रकार यूरोपवासी प्राचीन यूनानी ज्ञान के सम्पर्क में आये।

यूरोप को पूर्व के सभ्य देशों के सम्पर्क में लाने में मंगोल साम्राज्य ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। तेरहवीं सदी के मध्य में कुबलाई खाँ ने एक विशाल मंगोल साम्राज्य स्थापित किया और उसने अपने ढंग से यूरोप और एशिया को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। उसके दरबार में जहाँ पोप के दूत, यूरोपीय देशों के व्यापारी और दस्तकार रहते थे, वहीं एशियाई देशों के विद्वान् तथा साहित्यकार और भारत के बौद्ध विद्वान्, गणित एवं ज्योतिष के प्रकाण्ड पण्डित भी रहते थे। उसके दरबार में बहुधा किसी न किसी विषय पर विद्वत्तापूर्ण चर्चा होती रहती थी, जिसमें यूरोपीय व्यापारी तथा विद्वान् भी सम्मिलित होते थे। कुबलाई खाँ के दरबार से सम्पर्क का यूरोप के लोगों पर जबरदस्त प्रभाव पड़ा और वे धीरे-धीरे पूर्वी लोगों के ज्ञान-विज्ञान को सीखने लगे। अरबों और मंगोलों के माध्यम से ही यूरोप में चीन के आविष्कारों—कागज, छापाखाना, कुतुबनुमा और बारूद की जानकारी पहुँची थी। इन चीजों की जानकारी ने यूरोपवासियों के जीवन को गतिशील बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

(4) स्कालिष्टिक विचारधारा—मध्ययुगीन यूरोपीय दर्शन में एक नई विचारधारा चल पड़ी थी जिसे 'स्कालिष्टिक' अथवा विद्वत्तावाद या पण्डितपंथ कहा जाता है। यह अरस्तू के तर्कशास्त्र से प्रभावित था और अरबों ने यूरोपीय विद्वानों को अरस्तू की विचारधारा से परिचित करवाया था। अरस्तू के तर्क के साथ सेण्ट आगस्टाइन के तत्त्व-ज्ञान को भी जोड़ दिया गया। इस प्रकार, विद्वत्तावाद में धार्मिक-विश्वास और तर्क—दोनों का समन्वय किया गया। इस समय तक यूरोप के कई नगरों—पेरिस, ऑक्सफोर्ड, बोलीन आदि में विश्वविद्यालय स्थापित हो चुके थे। इन नवस्थापित विश्वविद्यालयों ने विद्वत्तावाद के आन्दोलन को तेजी से आगे बढ़ाया जिससे विद्याध्ययन एवं वाद-विवाद को प्रोत्साहन मिला। तेरहवीं सदी के अधिकांश विद्वानों ने तत्त्वज्ञान और तर्कशास्त्र पर विशेष जोर दिया और उसी बात को सही मानने का निर्णय किया जो तर्क की सहायता से सही पाई जा सके।

(5) कागज और छापाखाना—कागज और छापाखाने के आविष्कार का श्रेय चीनियों को है। यूरोपवासियों को इन दोनों की जानकारी देने का श्रेय अरब लोगों को है। सर्वप्रथम इटली के लोगों ने अच्छी किस्म का कागज बनाना सीखा और फिर धीरे-धीरे यूरोप के अन्य देशों में भी कागज बनने लगा। इसी के साथ यूरोपीय नगरों में छापेखाने भी खुलने लगे। कागज और छापाखाना ने पुनर्जागरण को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसके पूर्व हस्तलिखित

पुस्तकों का प्रचलन था और उनकी संख्या भी काफी सीमित थी, क्योंकि वे काफी महँगी थीं। परिणामस्वरूप ज्ञान-विज्ञान के इन साधनों पर थोड़े से लोगों का एकाधिकार बना हुआ था। परन्तु कागज और छापाखाना के कारण अब पुस्तकों की कमी न रही और पुस्तकें सस्ती भी हो गई, जिससे सामान्य लोग भी पुस्तकों को पढ़ने में रुचि लेने लगे। इससे ज्ञान का प्रसार हुआ। शिल्पी और कारीगर लोगों को सबसे अधिक लाभ हुआ जिससे विज्ञान और तकनीकी की प्रगति का रास्ता खुल गया। कुछ लोगों ने तो लेखन कला के आविष्कार के बाद कागज और छापाखाने के आविष्कार को इतिहास का सबसे बड़ा आविष्कार माना है।

(6) कुस्तुनतुनिया पर तुर्कों का अधिकार—1453 ई. में पूर्वी रोमन साम्राज्य जो इन दिनों में बाइजेन्टाइन साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध था, की राजधानी कुस्तुनतुनिया पर उस्मानी तुर्कों ने अधिकार जमा लिया। कुस्तुनतुनिया पिछले दो सौ वर्षों से यूनानी ज्ञान, कला और कारीगरी का विख्यात केन्द्र बना हुआ था। परन्तु इस्लाम के अनुयायी उस्मानी तुर्कों के लिए बाइजेन्टाइन संस्कृति का कोई महत्त्व न था। उन्होंने वहाँ के सभी लोगों को समान रूप से लूटना-खसोटना शुरू कर दिया। परिणामस्वरूप बहुत से यूनानी विद्वान् अपने साथ प्राचीन यूनानी एवं रोमन पाण्डुलिपियाँ लेकर आजीविका की खोज में इटली, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में आ बसे। उनके बस जाने से यूरोपीय देशों के बौद्धिक वातावरण में उथल-पुथल मच गई। यूरोपवासी अब रुचि के साथ यूनानी साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की ओर अग्रसर हुए जिससे उनका दृष्टिकोण व्यापक होता गया।

कुस्तुनतुनिया पर तुर्कों की विजय का एक और परिणाम निकला। यूरोप से पूर्वी देशों को जाने वाले स्थल मार्ग पर भी अब तुर्कों का अधिकार हो गया। तुर्क लोग व्यापारियों को संरक्षण देने के स्थान पर उन्हें लूट लिया करते थे। फलस्वरूप यूरोप का पूर्वी देशों के साथ व्यापार ठप्प हो गया, परन्तु यूरोपीय नगरों में पूर्वी देशों की वस्तुओं तथा गर्म मसालों की जबरदस्त माँग थी। अतः यूरोपवासियों ने पूर्वी देशों के जलमार्ग को खोज निकालने का प्रयत्न शुरू किया और इसी प्रयास के कारण अमेरिका की खोज सम्भव हो पायी और इसी के कारण भारत आदि देशों का जलमार्ग ढूँढा जा सका। उपर्युक्त कारणों के सामूहिक परिणामस्वरूप यूरोप में पुनर्जागरण सम्भव हो पाया था।

इटली में पुनर्जागरण का प्रारम्भ—उपर्युक्त आधारभूत कारणों से यूरोप में जो पुनर्जागरण हुआ, उसका प्रारम्भ इतालवी नगरों (इटली के नगर) से हुआ और वहाँ से फ्रांस, इंगलैण्ड आदि अन्य देशों में भी पुनर्जागरण का प्रकाश पहुँचा। यहीं पर हमारे सामने एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि पुनर्जागरण का प्रारम्भ इतालवी नगरों से ही क्यों हुआ ? इसके जवाब में प्रायः यह कहा जाता है कि चूँकि उस युग के इतालवी नगर पूर्वी देशों के साथ व्यापार करके धनी बन चुके थे, अतः वे सांस्कृतिक गतिविधियों को प्रोत्साहन एवं संरक्षण देने में समर्थ थे। इतालवी नगरों के नये धनिकों के पास श्रेष्ठ ढँग से जीवन बिताने के लिए आवश्यक अवकाश तथा धन दोनों की कमी नहीं थी। ये धनी लोग बढ़िया जरीदार वस्त्र पहनते, बड़े-बड़े खर्चीले प्रीतिभोजों का आयोजन करते, रंगीले आनन्दोत्सव मनाते और अपने घरों में तमाम प्रकार की सुख-सुविधा तथा सौन्दर्य लाने का यत्न भी करते थे। उन्होंने अपने रहने के लिए विशाल भव्य भवन बनवाये और उन

भवनों को चित्रों तथा मूर्तियों से सजाने के लिए कलाकारों को उत्साहित किया गया। परिणामस्वरूप इतालवी नगरों का रूप परिवर्तित होने लगा और वे सम्पूर्ण यूरोप के केन्द्र वन गये।

पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने वाले व्यापारी तथा धर्मयुद्धों से वापस लौटने वाले शूरमा और सामन्त योद्धा वापसी में इतालवी नगरों में थोड़े दिन विश्राम करके फिर आगे बढ़ते थे। ये लोग इतालवी नगरवासियों को मुस्लिम नगरों तथा वहाँ के लोगों की उच्चतर सभ्यता का विवरण देते रहते थे। कुस्तुनतुनिया पर तुर्कों के अधिकार के समय अधिकांश यूनानी विद्वानों तथा कलाकारों ने इतालवी नगरों में ही आश्रय लिया था। अतः यूनानी ज्ञान-विज्ञान का व्यापक अध्ययन एवं मनन सर्वप्रथम इन्हीं नगरों में हुआ था।

मध्ययुग में जब अधिकांश यूरोपीय नगर तथाकथित अन्धकार में डूबे हुए थे, तब भी इटली के नगर जीवित थे। इतालवी नगर, विशेषकर फ्लोरेन्स, वेनिस और मिलान समृद्ध तथा उन्नत हो रहे थे परन्तु आल्प्स पर्वत के दूसरी तरफ बसे लोग अब भी अन्धकार में पड़े हुए थे। इतालवी नगरों के निवासी एक-दूसरे के साथ विचारों का आदान-प्रदान करते थे। इन नगरों की समृद्धि बढ़ी, उनमें से कुछ पवित्र रोमन सम्राट की अधीनता से भी स्वतन्त्र हो गये। अब उनकी तुलना प्राचीन यूनान के नगर राज्यों से की जाने लगी। इन स्वतन्त्र नगरों के सम्पन्न लोगों ने कलाकारों तथा साहित्यकारों को पर्याप्त आश्रय तथा सम्मान दिया। इस दृष्टि से फ्लोरेन्स नगर का मेडिची परिवार सबसे आगे रहा। यही कारण है कि रेनेसाँ काल की कई महान् विभूतियों को उत्पन्न करने का श्रेय इतालवी नगरों को ही है। इनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—दार्शनिक पेट्राक, कवि दान्ते, कथाकार वोक्काचिओ और चित्रकार लियोनार्डो डी विंची, माइकल ऐंजेलो तथा राफेल।

इतालवी नगरों में पुनर्जागरण के प्रारम्भ होने के लिए कुछ अन्य कारण भी थे। इटली प्राचीन रोमन साम्राज्य एवं संस्कृति का प्रतीक था। इतालवी नगरों में प्राचीन रोमन सभ्यता एवं संस्कृति के वहुत से स्मारक अव भी लोगों को उसकी स्मृति का आभास कराते थे। पुनर्जागरण को प्राचीन रोमन संस्कृति से प्रेरणा मिलती रही। इस दृष्टि से इतालवी नगर पुनर्जागरण के लिए उपयुक्त प्रारम्भिक क्षेत्र थे। दूसरा कारण यह था कि रोम अव भी सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोपीय ईसाई जगत् का मुख्य केन्द्र था। ईसाई धर्म का सर्वोच्च धर्मगुरु पोप रोम में ही निवास करता था। कुछ पोप भी रेनेसाँ की भावना से प्रभावित थे और उन्होंने विख्यात विद्वानों तथा कलाकारों को रोम में वसने के लिए आमन्त्रित किया और उन विद्वानों से यूनानी पाण्डुलिपियों का लेटिन भाषा में अनुवाद करवाया। इटली के विविध मठों में भी बहुत सारा लेटिन साहित्य भरा था। पोप निकोलस पंचम ने वेटिकन (पोप के निवास स्थान का नाम) पुस्तकालय की स्थापना की और सन्त पीटर के गिरजे का निर्माण करवाया। पोप के इन कार्यों का प्रभाव इटली के अन्य नगरों पर भी पड़ा। वेनिस, फ्लोरेन्स और मिलान के नगरों में वड़े-बड़े विश्वविद्यालय स्थापित किये गये, जिससे लोगों में ज्ञान-विज्ञान के प्रति रुचि का विकास हुआ। इतालवी नगरों में ही पुनर्जागरण के प्रारम्भ होने में इटली की भौगोलिक स्थिति का भी महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। यूरोप के अन्य देशों की तुलना में इटली का प्राचीन यूनानी साम्राज्य तथा संस्कृति से अधिक निकट का सम्पर्क था। इस

निकट सम्पर्क ने इतालवी नगरों को ही अधिक प्रभावित किया। नवीन जलमार्गों की खोज के पहले इटली भूमध्य सागर के पश्चिम और पूर्व के देशों के व्यापार का केन्द्र था। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण इटली ने भूमध्यसागरीय व्यापार पर अपना एकाधिकार जमा रखा था। परिणामस्वरूप इटली काफी समृद्ध हो गया। सांस्कृतिक उन्नति के लिए आर्थिक समृद्धि आवश्यक होती है। इतालवी नगर समृद्ध थे। अतः पुनर्जागरण के लिए वे उपयुक्त क्षेत्र थे। राजनीतिक दृष्टि से भी इतालवी नगर उपयुक्त थे। इटली के इन नगरों पर पवित्र रोमन साम्राज्य का प्रभुत्व समाप्त हो चुका था और वे लगभग पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करने लगे थे। यूरोप के अन्य नगरों की भाँति इतालवी नगरों में सामन्त प्रथा पनप नहीं पाई थी। इसलिए इन नगरों का स्वतंत्र वातावरण कला, साहित्य, विज्ञान आदि की उन्नति के लिए बहुत ही अनुकूल सिद्ध हुआ। उपर्युक्त सभी कारणों से इतालवी नगरों को पुनर्जागरण के अग्रदूत बन जाने में सहयोग मिला।

मानववाद का विकास—पुनर्जागरण का एक प्रमुख लक्षण उसकी मानववादी विचारधारा है, जिसे 'मानववाद' कहते हैं। मानववाद का जन्म और विकास इतालवी नगरों में हुआ। मानववाद का सीधा-सादा अर्थ है—मानव जीवन में रुचि लेना, मानव जीवन की समस्याओं का समाधान ढूँढना, मानव जीवन को सुखी एवं उन्नत बनाने का प्रयास करना और इस संसार में मानव के महत्त्व को प्रतिष्ठित करना। प्राचीन यूनान के साहित्य में जीवन के प्रति एक रुचि झलकती है। यूनानी लोग उस संसार में गहरी रुचि रखते थे, जिसमें वे रहते थे। पुनर्जागरण के प्रारम्भिक काल में जिन विद्वानों ने प्राचीन यूनानी साहित्य का अध्ययन करके प्रकृति और मनुष्य की रुचियों का विवेचन करने का प्रयास किया, वे 'मानवतावादी' कहे जाने लगे। वे इस संसार के प्रति अनुरक्त हुए, जबकि मध्ययुग में स्थिति इसके ठीक विपरीत थी। मध्ययुग के साहित्य तथा चिन्तन में मानव तथा मानव के संसार का विशेष महत्त्व न था। जीवन पर धर्म तथा चर्च का जबरदस्त प्रभाव छाया हुआ था और धर्म की ओट में अन्धविश्वासों तथा रूढ़ियों का वर्चस्व कायम था। मध्यकालीन अध्ययन-अध्यापन का मुख्य विषय भी धर्म ही था और बाइबिल तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ाया जाता था, क्योंकि मानव जीवन का ध्येय इस संसार के स्थान पर परलोक को सुधारना था। इस संसार के दैहिक और भौतिक सुख के स्थान पर आध्यात्मिक एवं स्वर्गीय सुख प्राप्त करना था। मध्ययुग के प्रारम्भ में लेटिन भाषा का बोलबाला था। लगभग सभी धार्मिक ग्रन्थ लेटिन भाषा में ही थे। बड़े-बड़े नगरों में जो विश्वविद्यालय कायम किये गये थे उनमें वैसे तो अन्य विषयों को पढ़ाया जाने लगा था परन्तु प्रमुखता धार्मिक विषयों की ही थी। यदि कोई व्यक्ति परम्परागत मान्यताओं का उल्लंघन करने अथवा उन्हें असत्य प्रमाणित करने का साहस करता तो उसे नास्तिक तथा धर्मद्रोही घोषित करके कड़ी सजा दी जाती थी। फिर भी कई विद्वान् लोगों ने अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए प्राचीन यूनानी तथा रोमन साहित्य का सहारा लिया। ऐसे लोगों को बाद में 'मानववादी' (ह्यूमेनिस्ट) कहा जाने लगा।

मानववाद के विकास ने मध्ययुगीन वातावरण में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया। मानववादी विचारक धर्म के स्थान पर मनुष्य को महत्त्व देने लगे। साहित्य और कला के क्षेत्र में भी धर्म का स्थान मनुष्य ने ले लिया। अब देवी-देवताओं की स्तुतियों तथा इहलोक सम्बन्धी

नीति उपदेशों के स्थान पर कशमकश करती हुई मानव जाति की विभिन्न समस्याओं—मानव जीवन, प्रेम, घृणा, विरह-मिलन आदि पर रचनाएँ की जाने लगीं। मानववादियों का मानना था कि परलोक की चिन्ता छोड़कर इस लोक को ही स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। देवी-देवताओं के स्थान पर रोगियों, निर्धनों, उत्पीड़ितों आदि की सेवा में जुट जाना चाहिए। धर्म और ऊँच-नीच का भेदभाव त्यागकर प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति का अवसर प्रदान किया जाना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म की उपासना करने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए और राष्ट्र के प्रति निष्ठा का विकास होना चाहिए। पठन-पाठन का विषय धर्म न होकर मनुष्य तथा संसार होना चाहिए। संक्षेप में, प्रकृति, विज्ञान और कलाओं में पाई जाने वाली प्रत्येक ऐसी वस्तु जो मनुष्य को प्रभावित करने में समर्थ हो, मानववादियों के लिए महत्त्वपूर्ण बन गई थी।

मानववादी विचारधारा का मुख्य प्रवर्त्तक पेट्राक माना जाता है। वह फ्लोरेन्स नगर का निवासी था। वह एक महान् कवि, साहित्यकार तथा कानूनशास्त्री था। अपने देश के लोगों में यूनानी तथा रोमन साहित्य के प्रति अभिरुचि पैदा करना उसकी सबसे बड़ी देन है। पेट्राक ने ईसाई मठों के बन्द कमरों में दबी प्राचीन पाण्डुलिपियों की खोज का काम हाथ में लिया, क्योंकि इस समय में जो पाण्डुलिपियाँ प्रचलित थीं उनमें बहुत-सी त्रुटियाँ आ गई थीं। पेट्राक ने पुरानी पाण्डुलिपियों की सहायता से मौजूदा पाण्डुलिपियों में आवश्यक सुधार किये। प्राचीन पाण्डुलिपियों तथा ग्रन्थों की सुरक्षा तथा सामान्य आदमी उनका लाभ उठा सके, इस दृष्टि से पुस्तकालयों की स्थापना के लिए अभिरुचि पैदा करना पेट्राक की दूसरी महत्त्वपूर्ण देन है। इटली के अन्य मानववादियों ने पेट्राक के अधूरे कार्य को पूरा करने का अथक प्रयास किया। परिणामस्वरूप मानववादी विचारधारा का यूरोप के दूसरे क्षेत्रों में भी प्रसार हुआ। इंगलैण्ड में इसका नेतृत्व ऑक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों ने किया।

साहित्य में पुनर्जागरण की अभिव्यक्ति

पुनर्जागरण की अभिव्यक्ति साहित्य में भी हुई। इस युग में लिखी गई रचनाओं ने बाद के सम्पूर्ण यूरोपीय साहित्य को प्रभावित किया। पुनर्जागरण के पूर्व विद्वान् लोग केवल लेटिन तथा यूनानी भाषाओं में ही लिखते थे। बोलचाल की भाषाओं में साहित्य का सृजन नहीं किया जाता था और विद्वान् लोग बोलचाल की भाषाओं को असभ्य मानते थे। परन्तु पुनर्जागरण काल में पश्चिमी यूरोप में बोलचाल की दो भाषाओं का विकास हुआ। रोमन साम्राज्य के भीतरी क्षेत्र में लेटिन में कुछ भाषाएँ विकसित हुईं जिन्हें 'रोमन्स भाषाएँ' कहा जाता है। इनमें इटालियन, फ्रेंच, स्पेनिश तथा पुर्तगाली भाषाएँ सम्मिलित थीं। रोम साम्राज्य की उत्तरी सीमा के पार के क्षेत्रों में जो भाषाएँ विकसित हुईं, उन्हें 'जर्मनिक भाषाएँ' कहा जाता है और उनमें जर्मन, अँग्रेजी, नार्वेजियन, डच और स्वीडिश भाषाएँ सम्मिलित थीं। इन्हीं को हम देशज भाषाएँ कहते हैं। पुनर्जागरण काल के लेखक अब दैनिक बोलचाल की इन्हीं भाषाओं में साहित्य का सृजन करने लगे। बोलचाल की भाषा में साहित्य की रचना पुनर्जागरण की एक प्रमुख विशेषता थी।

पुनर्जागरणकालीन साहित्य की दूसरी मुख्य विशेषता इसकी विषयवस्तु थी। मध्यकालीन साहित्य का मुख्य विषय धर्म था। साहित्यिक रचनाओं पर धर्म का गहरा प्रभाव था और धार्मिक

विषयों पर ही साहित्य लिखा जाता था। परन्तु अब जो साहित्य लिखा जाने लगा उस पर धर्म का प्रभाव नहीं था और न ही उसके विषय धर्म-प्रधान थे। अब मानव जीवन से सम्बन्धित विषयों पर लिखा जाने लगा। यही बात इस युग के साहित्य को मध्यकालीन साहित्य से पृथक् करती है।

इतालवी साहित्य—चूँकि पुनर्जागरण की लहर सबसे पहले इटली से शुरू हुई थी, अतः यह स्वाभाविक ही था कि इतालवी साहित्य में ही पुनर्जागरण की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति हो। जिन इतालवी साहित्यकारों की रचनाओं में पुनर्जागरण का सन्देश छिपा पड़ा है, उनमें दान्ते (1265-1321 ई.) और पेट्राक (1304-1374 ई.) का नाम सबसे पहले लिया जाता है। बोलचाल की भाषा में साहित्य-सृजन करने वाले प्रथम व्यक्ति दान्ते थे। उसने 'द डिवाइन कॉमेडी' नामक महाकाव्य की रचना की। उसने अपनी रचना अपनी मातृभाषा 'तुस्कानी' में की, अर्थात् उस भाषा में जो उसके प्रदेश तुस्कानी में बोली जाती थी। यह तुस्कानी भाषा आगे चलकर इटली की साहित्यिक भाषा बन गई। दान्ते न केवल समस्त इटालियन कवियों में ही श्रेष्ठ गिना जाता है, अपितु उसकी गणना सभी कालों के महान् कवियों में की जाती है।

दान्ते को प्राचीन साहित्य की पर्याप्त जानकारी थी और लेटिन भाषा पर उसका जबरदस्त नियन्त्रण था। उसने अपनी गम्भीर रचनाएँ—'द मोनरशिया' और 'द वल्गारी इलोक्योशिया' लेटिन भाषा में ही लिखी थीं। परन्तु अपनी सर्वोपरि रचना 'द डिवाइन कॉमेडी' की रचना उसने अपनी मातृभाषा में की। इस दृष्टि से दान्ते को पुनर्जागरण का अग्रदूत कहा जाता है, अन्यथा उसके विचार मध्ययुगीन थे। उस पर धर्म का गहरा प्रभाव था। 'द डिवाइन कॉमेडी' की विषय-वस्तु मृत्यु के बाद आत्मा की स्थिति है। वह आत्मा की नरक और स्वर्ग की काल्पनिक यात्रा का वृत्तान्त है। इसके माध्यम से उसने लोगों को मानवता, प्रेम, एकता, प्रकृति-प्रेम और देश-प्रेम का पाठ पढ़ाया। अपनी इस रचना में दान्ते ने अप्रत्यक्ष रूप में उन लोगों की कटु आलोचना भी की है, जो उसकी दृष्टि में चर्च और राज्य में बुराइयाँ पैदा करने के लिए उत्तरदायी थे।

मानववादी आन्दोलन के प्रारम्भिक समर्थकों में पेट्राक का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और उसे प्रायः 'मानववाद का पिता' कहा जाता है। वह फ्लोरेन्स नगर का निवासी था। लेटिन और यूनानी साहित्य के प्रति उसकी गहरी अभिरुचि थी और इन भाषाओं के पुराने हस्तलिखित ग्रन्थों को खोजने तथा उनका संग्रह करने में उसने अपनी सारी शक्ति लगा दी। इसके लिए पुस्तकालयों की स्थापना का सिलसिला शुरू किया गया और थोड़े ही समय में यूरोप भर में अनेकों पुस्तकालय स्थापित किये गये। पेट्राक को सिसरो की कृतियों से भारी लगाव था। सिसरो के पत्रों को पढ़ने में उसे गहरा आत्म-सन्तोष मिलता था। पेट्राक ने अपनी युवावस्था में इटालियन भाषा में रचनाएँ कीं, परन्तु अपने युग की लेटिन भाषा के निम्न स्तर को देखकर उसने बोलचाल की भाषा को त्यागकर क्लासिकल लेटिन में रचनाएँ कीं और अपना शेष जीवन लेटिन की सेवा में व्यतीत किया। पेट्राक अपने सानेटों (चौदह पंक्तियों का गीत) और गीतों के लिए प्रसिद्ध है और इन्हीं के द्वारा उसने इटालियन साहित्य को यूरोपीय साहित्य में सर्वश्रेष्ठ बना दिया था। पेट्राक ने विख्यात रोमन कवि वर्जिल की शैली का अनुकरण करते हुए 'अफ्रीका' नामक एक

लम्बा गीत लिखा, जिसमें सीपिओ (रोम का प्रसिद्ध सेनानायक) के जीवन का अभूतपूर्व विवरण दिया गया है। पेट्राक द्वारा प्राचीन मूर्ति पूजक लेखकों के नाम लिखे गये 'फेमिलियर लेटर्स' भी काफी लोकप्रिय हुए। यद्यपि पेट्राक ग्रीक भाषा में निपुणता प्राप्त नहीं कर पाया, फिर भी इसके मानववादी दृष्टिकोण के कारण इसके प्रति उसकी रुचि बनी रही।

'लेटिन गद्य का पिता' बोक्काचिओ पेट्राक का शिष्य और साथी था। उसकी रचनाओं में पुनर्जागरण का पूर्ण प्रतिनिधित्व देखने को मिलता है। उसने अपनी मातृभाषा में अनेक मनोरंजक कहानियों की रचना की। उसकी सर्वश्रेष्ठ रचना है—'डेकामेरन' (डिकैमरो)। इसमें सौ कहानियों का संकलन है और उसकी यह रचना विश्व की महान् पुस्तकों में मानी जाती है। इन कहानियों में तत्कालीन सम्पन्न तथा कुलीन समाज में व्याप्त नैतिक भ्रष्टाचार का विस्तृत चित्रण किया गया है। बाद के लेखकों में दो कवियों—एरिऑस्ट्रो तथा टासो ने काफी नाम कमाया—एरिऑस्टो ने 'ओरलेंडो पुरिओसी' नामक काव्य की रचना की, जो काफी लोकप्रिय रही। टासो ने भावना प्रधान 'मुक्त जेरूसलम' महाकाव्य की रचना की। इस प्रकार, पुनर्जागरण काल में सर्वप्रथम इटालियन विद्वानों ने अपनी रचनाओं द्वारा दूसरे देशों के लोगों को प्रभावित किया।

फ्रांसीसी साहित्य—पुनर्जागरण की लहर ने फ्रांस को भी प्रभावित किया और फ्रांस के कई लेखकों तथा कवियों ने अपनी मातृभाषा फ्रेंच में अपनी रचनाएँ कीं। ऐसे लोगों में फ्रायसर्ट (1339-1410), विलो (1331-1404), रैबेलास (1494-1553) तथा मौत्ये (1533-1592) की रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। फ्रायसर्ट ने फ्रेंच भाषा में काव्य तथा गद्य दोनों ही क्षेत्रों में अपनी रचनाएँ कीं। विलो एक लोकप्रिय कवि हुआ। रैबेलास का स्थान काफी महत्त्वपूर्ण है। वह विख्यात डच विद्वान् लेखक इरास्मस का प्रशंसक तथा अनुयायी था और उसी की हास्य और व्यंग्य मिश्रित शैली का अनुकरण किया। रैबेलास ने अधिकारसम्पन्न लोगों तथा धार्मिक कट्टरता और अन्धविश्वासों की खिल्ली उड़ाई। उसने सशक्त एवं ओजस्वी फ्रेंच भाषा में 'महान् गरगन्तुआ का महान् जीवन' की रचना की। उसकी यह रचना राजनीति और शिक्षा पर एक टीका जैसी है। मौत्ये व्यक्तिगत निबन्धों का प्रवर्त्तक माना जाता है। उसने अपने अधिकांश निबन्ध सरल एवं सुबोध फ्रेंच भाषा में लिखे। उसके निबन्ध व्यक्तिगत संस्पर्शों एवं संस्करणात्मक चित्रों से परिपूर्ण हैं। परन्तु फ्रेंच गद्य को प्रभावशाली बनाने का श्रेय एक धार्मिक सुधारक जान काल्विन (1509-1564) को है। फ्रांस में जिस मानववाद का विकास हुआ वह अधिक सार्थक नहीं हो पाया। इसका विकास फ्रांसीसी सम्राट फ्रांसिस प्रथम के संरक्षणत्व में हुआ, जिसने 'कॉलेज ऑफ फ्रांस' की स्थापना की और लेटिन तथा ग्रीक भाषाओं के सुयोग्य विद्वानों को प्रोफेसर पदों पर नियुक्त किया।

अँग्रेजी साहित्य—पुनर्जागरण से इंगलैण्ड भी प्रभावित हुआ और वहाँ अँग्रेजी साहित्य का विकास हुआ। तेरहवीं सदी में इंगलैण्ड के सम्पन्न लोग फ्रेंच भाषा में और सामान्य लोग सैक्सन भाषा में बोलते थे। परन्तु शीघ्र ही दोनों भाषाओं का महत्त्व कम होता गया और इंगलैण्ड में जर्मनिक तथा रोमन्स भाषाओं से प्रभावित एक नई भाषा 'अँग्रेजी' का उदय हुआ और चौदहवीं सदी में अँग्रेजी भाषा में साहित्य की रचना शुरू हो गई। 'विजन ऑफ पियर्स प्लोमेन' नामक रचना प्रारम्भिक अँग्रेजी साहित्य की शानदार रचना मानी जाती है। इसका लेखक शायद विलियम

लेंगलैण्ड था। परन्तु प्रारम्भिक अँग्रेजी साहित्य की सबसे महान् विभूति कवि चौसर (1340-1400) था। उसे अँग्रेजी कविता का पिता कहा जाता है। उसने अपने समय की प्रचलित भाषा का प्रयोग किया, जो 'आंग्ल-सैक्सन' और आधुनिक अँग्रेजी भाषा के बीच की कड़ी थी। उसकी सुप्रसिद्ध रचना का नाम है 'कैण्टरबरी टेल्स'। इस रचना में चौसर ने कैण्टरबरी की यात्रा पर निकले लोगों के वास्तविक गुण-दोषों का विनोदपूर्ण वर्णन किया है। जिस प्रकार दान्ते की रचनाओं में हमें मध्ययुगीन विचारों की झलक मिलती है, ठीक वैसे ही चौसर की रचनाओं में इंगलैण्ड के मध्यकालीन समाज की झलक देखने को मिलती है। चौसर के बाद पुनर्जागरण की विचारधारा को आगे बढ़ाने का काम जॉन कोलेट (1466-1519) और टॉमस मूर (1478-1535) ने किया। जॉन कोलेट लन्दन में स्थित 'सेंट पाल केथेड्रल' का डीन था। संत पाल के विचारों पर उसके आलोचनात्मक व्याख्यानों ने उसे काफी विख्यात बना दिया। उसके व्याख्यान मानववाद में धार्मिक दृढ़-संकल्प के उत्तम उदाहरण माने जाते हैं। उसने अपने निजी खर्च से सेंट पाल में एक ग्रामर स्कूल स्थापित किया जिसमें नई शिक्षा की व्यवस्था की गई थी। टॉमस मूर अपने युग का एक अत्यधिक व्यस्त व्यक्ति था। वह एक प्रमुख वकील तथा राजनैतिक नेता था और इंगलैण्ड का लार्ड चांसलर भी रहा। उसने 'यूटोपिया' नामक ग्रन्थ की रचना की। यूटोपिया का अर्थ है 'कल्पित लोक'। यद्यपि मूर ने इसकी रचना लेटिन भाषा में की थी, परन्तु शीघ्र ही इसका अँग्रेजी भाषा में अनुवाद कर दिया गया। इस ग्रन्थ में मूर ने अपने युग के समाज और सरकार की हास्यपूर्ण आलोचना की। उसने प्लेटो का अनुसरण करते हुए अपनी रचना में एक आदर्श नगर का विवरण प्रस्तुत किया और अपने युग के इंगलैण्ड के नगरों में विद्यमान कुरूपता तथा क्रूरता का भी चित्र प्रस्तुत किया। मूर ईसाई धर्म का एक कट्टर अनुयायी तथा चर्च का निष्ठावान पुत्र था और इसके लिए इंगलैण्ड के शासक हैनरी अष्टम के हाथों उसे अपने प्राण खोने पड़े।

पुनर्जागरण काल का एक अन्य महान् कवि एडमण्ड स्पेन्सर (1552-1599) हुआ। उसने 'फेयरी क्वीन' की रचना की। इस रचना में उसने नायक राजकुमार आर्थर की अच्छाइयों का वर्णन किया। इस रचना में मध्ययुग के टूर्नामेण्टों और तमाशों का भी वर्णन है। पुनर्जागरण का एक अन्य महान् साहित्यकार फ्रांसिस बेकन (1561-1626) हुआ। वह एक वकील, दरबारी अधिकारी और लेखक था। वह अपने युग का सर्वोत्तम निबन्धकार था और अपने असंख्य निबन्धों में उसने विज्ञान पर आधारित एक नई दार्शनिक विचारधारा को स्थापित करने का प्रयास किया। उसका कहना था कि लोगों को मध्यकालीन दर्शन का अध्ययन कम कर देना चाहिए और उसके स्थान पर प्रकृति और भौतिक विज्ञानों के अध्ययन पर जोर देना चाहिए। अपने विचारों का प्रतिपादन उसने अपनी रचना 'द ऐडवान्समेण्ट ऑफ लर्निंग' (विद्या की उन्नति) में किया। अपनी एक अन्य रचना 'द न्यू अटलाण्टिस' के माध्यम से बेकन ने इस बात पर विशेष जोर दिया कि स्कूलों और विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में विज्ञान को सम्मिलित किया जाना चाहिए।

पुनर्जागरण को इंगलैण्ड की सबसे बड़ी देन विलियम शेक्सपियर (1564-1661) है। परन्तु संयोग की बात है कि इस महान् साहित्यकार के व्यक्तिगत जीवन की प्रामाणिक जानकारी नहीं मिल पाई है। वह अपने युग का प्रसिद्ध नाटककार और कवि माना जाता है और आज संसार

की अधिकांश भाषाओं में उसकी रचनाओं का अध्ययन किया जाता है। मानव जीवन के हर पहलू और स्थिति का अंकन करने में शेक्सपियर को जितनी सफलता मिली, उतनी शायद ही किसी को मिल पाई हो। शेक्सपियर ने समाज के प्रत्येक वर्ग—साधु-संत, सेवक-सेविका, राजा-सम्राट, सैनिक-सेनापति, वेश्या-गायिका, भिखमंगा-निर्धन, हत्यारा-परमार्थी इत्यादि का अत्यधिक स्वाभाविक चित्रण किया है। उसके चित्रण में मानवी करुणा और मानव स्वभाव का शानदार उल्लेख मिलता है। हर श्रेणी के नाटक में उसने पूर्ण दक्षता का परिचय दिया, जैसे कि दुःखान्त नाटकों में 'आथेलियो', 'मैकबेथ' और 'हेमलेट'; ऐतिहासिक नाटकों में 'हैनरी चतुर्थ' और 'रिचार्ड द्वितीय'; सुखान्त नाटकों में 'द मेरी वाईवस ऑफ विण्डसर', 'ट्वेल्थ नाइट' और 'द टेम्पेस्ट'। शेक्सपियर की विशेषता यह है कि उसकी रचनाओं में जीते-जागते मानवीय गुणों की तस्वीर है। मानव की सभी दुर्बलताओं और अवगुणों के साथ-साथ मानवीय गुणों का वर्णन है। अपनी एक रचना 'मैकबेथ' में वह बताता है कि एक बुरे व्यक्ति में भी, जिसे आकांक्षाएँ खाये डाल रही हों; कुछ न कुछ 'मानवीय करुणा का दूध' विद्यमान रहता है। प्रेमी लोगों को अपनी कतिपय समस्याएँ उसके दुःखान्त नाटक 'रोमियो-जूलियट' में दिखाई पड़ती हैं। शेक्सपियर का ऐतिहासिक नाटक 'जूलियस सीजर' राजनीति में लिप्त अधिनायकों एवं नीति तथा दिशाहीन राजनीतिज्ञों का दर्शन कराता है। वह इंगलैण्ड के भूतपूर्व कैथोलिक युग के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी नये विचारों और देशों तथा पुनर्जागरण की बात करता है और भावी पीढ़ियों के लिए महत्त्वपूर्ण सन्देश छोड़ जाता है। वह निश्चय ही एक महान् विभूति था।

अन्य भाषाओं का साहित्य—स्पेन, पुर्तगाल, जर्मनी, हालैण्ड आदि देशों पर भी पुनर्जागरण का गहरा प्रभाव पड़ा और इन देशों की भाषाओं में भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना हुई। स्पेन में 'सर्वान्तेस' (सरवेण्टीज) (1547-1616) हुआ, जिसने 'डानक्विक्सोट' नामक पुस्तक की रचना की। सर्वान्तेस को स्पेन का महान् लेखक माना जाता है। उसने अपनी इस रचना में मध्यकालीन शूरता का मजाक उड़ाया है। इस रचना का नायक डानक्विक्सोट अपने आपको नाइट समझता है और दुनिया को सुधारने की कोशिश में दुर्गति भोगता है। दूसरे शब्दों में, इस रचना में अलभ्य स्वप्नों के लिए कशमकश करती हुई मानव जाति का चित्रण है। आपने ये उक्तियाँ अवश्य पढ़ी या सुनी होंगी—"हर कुत्ते का अपना दिन आता है।", "खीर का प्रमाण खाने में है।" और "एक से पंखों के पक्षी एक साथ रहते हैं।" ये सभी सर्वान्तेस की लेखनी से ही निकली हैं। लोपेडी वेगे और कैल्डेन स्पेनिश भाषा के अन्य प्रसिद्ध साहित्यकार थे। लोपेडी वेगे ने स्पेन के रंगमंच को जन्म दिया। कैल्डेन एक विख्यात कवि था।

पुर्तगाल में केमोन्स ने प्रसिद्धि प्राप्त की। उसने वास्को-डी-गामा की खोज पर 'लूसियाड' नामक महाकाव्य की रचना की। पुर्तगाली साहित्य में लूसियाड का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जर्मनी में रूडोल्फ एग्रीकोला और कोनार्ड केल्टस ने मानववादी विचारधारा को आगे बढ़ाया। एग्रीकोला हेडलबर्ग विश्वविद्यालय में प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति का प्राध्यापक था। पुनर्जागरण की नई विधा एवं विचारों की पर्याप्त जानकारी प्राप्त करने के लिए एग्रीकोला इटली भी गया। जर्मनी के अन्य विद्वानों में रियूकलीन और मेलांकथक उल्लेखनीय हैं। रियूकलीन लेटिन, ग्रीक और हिब्रू भाषा का विद्वान् था और उसकी रचनाओं में मानववादी विचारधारा का अधिक पुट था।

रियूकलीन का भतीजा मेलांकथक विटनबर्ग विश्वविद्यालय में प्राध्यापक था और वह भी लेटिन तथा ग्रीक भाषाओं का विद्वान् था। मार्टिन लूथर जिसे धर्म-सुधार आन्दोलन का अग्रदूत माना जाता है, ने बाइबिल का अनुवाद करके जर्मन साहित्य की महान् सेवा की।

हालैण्ड देश के रोटरडम नगर का निवासी टेसिडेरियस इरैस्मस (1466-1536) अपने युग का सर्वप्रथम मानववादी था। प्रारम्भ में उसने मठ का जीवन पसन्द किया, परन्तु धीरे-धीरे उसे पाण्डित्यवाद से अरुचि उत्पन्न हो गई और वह पुनर्जागरण की नई विचारधारा की ओर अग्रसर हुआ। अपनी विद्वत्ता तथा शालीनता के कारण वह इतना अधिक लोकप्रिय हो गया कि यूरोप के सभी विश्वविद्यालय और राजवंशीय लोग उसे बुलाने में गर्व अनुभव करने लगे। इरैस्मस ने इंगलैण्ड में भी बहुत से वर्ष व्यतीत किये और इंगलैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान् जॉन कोलेट और थामस मूर उसके घनिष्ठ मित्र बन गये थे। उसने अपनी रचनाओं के द्वारा अन्धविश्वास, असहिष्णुता तथा अज्ञान के विरुद्ध सतत् प्रयत्न किया। उसने विश्वशान्ति का समर्थन किया और निरंकुश अत्याचारी शासकों की आलोचना की। अपनी सुप्रसिद्ध रचना 'मूर्खत्व की प्रशंसा' (इन दी प्रेज ऑफ फ़ाली) में उसने व्यंग्यपूर्ण शैली में धर्माधिकारियों का उपहास उड़ाया। इरैस्मस ने बाइबिल का शुद्ध अनुवाद भी किया।

राजनीतिक साहित्य—पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप यूरोप के राजनीतिक क्षेत्र में भी परिवर्तन हुए। मध्ययुग में सामन्तों ने राजाओं से भी अधिक शक्ति अर्जित कर ली थी, परन्तु पुनर्जागरण काल में सामन्तों की शक्ति क्षीण हो गई और राजाओं की शक्ति का विकास हुआ। राजाओं की इस विकसित शक्ति का चित्रण उस युग के सुप्रसिद्ध लेखक मैकियावेली की कृतियों में स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। मैकियावेली अपने युग का एक बड़ा राजनैतिक चिन्तक भी था। वह इटली के फ्लोरेन्स नगर का निवासी था और फ्लोरेन्स के कई शासकों का सचिव रह चुका था। इससे उसे राजनीति के सूक्ष्म दाँवपेचों का अध्ययन एवं मनन करने का सुअवसर मिला। उसने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'द् प्रिन्स' में कुटिल तथा निर्मम राजनीति का प्रतिपादन किया। उसके अनुसार राजनीति में सफलता प्राप्त करना ही सबसे बड़ा लक्ष्य होता है और इसके लिए राजा को हर प्रकार की नीति का सहारा लेना चाहिए। उसने शासक को एक निरंकुश व्यक्ति के रूप में चित्रित किया और उसका मानना था कि अच्छे कार्यों के लिए शासक को निर्दयता और छल-कपट से भी नहीं घबराना चाहिए औन इन साधनों से भी उत्तम काम को अवश्य करना चाहिए। मैकियावेली के विचारों का बहुत से शासकों पर गहरा प्रभाव पड़ा।

इंगलैण्ड का हॉब्स भी एक प्रसिद्ध राजनीतिक चिन्तक तथा दार्शनिक था। उसने भौतिकवादी दर्शन का प्रतिपादन किया। उसके अनुसार सृष्टि सर्वथा भौतिक पदार्थ है और इसे वह गत्यात्मक भूत मात्र मानता था। उसके अनुसार इसमें किसी अलौकिक सत्ता या आध्यात्मिकता का स्थान नहीं है। हॉब्स ने राजनीतिक विज्ञान पर भी एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी, जिसका नाम है—'लेवियाथाँ'। इस पुस्तक में उसने राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। हॉब्स राज्य की सार्वभौमिकता और राज्य के सर्वोपरि नियन्त्रण तथा अधिकार में विश्वास रखता था।

पूर्वोक्त एवं अन्य बहुत से लेखकों की रचनाओं का सामूहिक प्रभाव यह पड़ा कि लोगों में यूनानी तथा रोमन ग्रन्थों का अध्ययन करने तथा मानववाद को समझने की जिज्ञासा पैदा हुई। इसके साथ-साथ लौकिक-पारलौकिक जीवन के सम्बन्ध में मध्ययुगीन मान्यताओं से विश्वास उठने लगा।

कला के क्षेत्र में पुनर्जागरण

मध्य युग में कला धर्म के साथ जुड़ी हुई थी। वहीं अब पुनर्जागरण का कलाकार यथार्थवादी बन गया था। वह मध्यकालीन धार्मिक बन्धनों से मुक्त हो गया था। अब धर्म का स्थान सांसारिकता, वैराग्य का स्थान सौन्दर्य और विरक्ति का स्थान आसक्ति ने ले लिया। पुनर्जागरण को यदि मध्ययुगीन परम्परा और नियमों के विरुद्ध एक विद्रोह मान लिया जाय, तो फिर यह कहा जा सकता है कि इस विद्रोह को सर्वाधिक सफलता कला के क्षेत्र में मिली और इसी क्षेत्र में पुनर्जागरण की झलक अधिक मात्रा में देखने को मिलती है।

स्थापत्य कला—मध्यकालीन यूरोप में स्थापत्य कला के क्षेत्र में गोथिक शैली की प्रधानता थी और अधिकांश भवनों का निर्माण इसी शैली में हुआ था। परन्तु पुनर्जागरण काल के कलाकारों में प्राचीन स्थापत्य कला के प्रति रुझान उत्पन्न हुआ और उन्होंने रोमन, यूनानी तथा अरबी स्थापत्य शैलियों का समन्वय करके एक नवीन शैली को विकसित किया। इस नवीन शैली की मुख्य विशेषताएँ थीं—श्रृंगार, सज्जा और डिजाइन। इस शैली में सजावट और आकार को विशेष महत्त्व दिया जाता था। इस नवीन शैली की शुरुआत इटली में हुई और बाद में यूरोप के अधिकांश देशों में इसका प्रसार हुआ। पुनर्जागरण काल के निर्माताओं ने ग्रीको-रोमन स्थापत्य की कुछ खास बातों को आत्मसात् किया। गोल मेहराबों को अपनाया गया। डोरिक, आयोनिक और कोरिन्थियन शीर्ष भागों का उपयोग चर्च तथा सार्वजनिक भवनों में किया जाने लगा। व्यक्तिगत भवनों की खिड़कियों को क्लासिकल पंक्तियों या प्लास्टर, मेहराबों आदि से सजाया जाने लगा। बहुत से पुराने भवनों को भी इस नवीन शैली के अनुसार परिवर्तित करके नया रूप दिया गया।

इटली के धनी परिवारों ने नवीन शैली को संरक्षण दिया। ऐसे लोगों में फ्लोरेंस के शासक लोरेन्जो दे मेदिचजी का नाम विशेष प्रसिद्ध है। उसने एक विशाल तथा सुन्दर उद्यान बनवाया तथा उच्च कोटि की मूर्तियों का संग्रह किया। उसका महल मूल्यवान सजावटी वस्तुओं से भरा पड़ा था। लोरेंजो ने फ्लोरेंस के कलाकारों को भी संरक्षण दिया। फ्लोरेंस में नवीन स्थापत्य शैली के विकास में फिलियो ब्रूनेलेस्की का स्थान महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उसने घूम-घूमकर प्राचीन रोमन मन्दिरों, नाट्यशालाओं तथा अन्य भवनों के अवशेषों का अध्ययन किया और प्राचीन रोमन स्थापत्य शैली की विशेषताओं के आधार पर नवीन शैली का विकास किया। ब्रूनेलेस्की की नई शैली में मेहराबों और स्तम्भों की प्रधानता थी। अब नुकीले मेहराबों के स्थान पर गोल मेहराबों का निर्माण किया जाने लगा। भवनों की ऊँचाई को भी कम किया जाने लगा और गुम्बदों को प्रधानता दी जाने लगी। फ्लोरेंस के गिरजाघर का गुम्बद ब्रूनेलेस्की की ही देन है।

पुनर्जागरण कालीन स्थापत्य कला का सर्वोत्कृष्ट नमूना रोम में निर्मित सन्त पीटर का नया गिरजा है। ईसाई जगत् के इस पवित्र स्मारक को नये सिरे से क्लासिकल शैली में निर्मित कराने सम्बन्धी पोपों के निर्णय में पुनर्जागरण की मानववादी तथा क्लासिकल भावना के प्रभाव को पहचाना जा सकता है। इस विख्यात स्मारक के डिजाइन को बनाने में अनेक कलाकारों ने सहयोग प्रदान किया और इसका निर्माण माइकेल एंजिलो और राफेल जैसे कलावन्तों की देखरेख में हुआ। गिरजे का विशाल एवं भव्य गुम्बद "रेनेसाँ काल" की अमूल्य देन है।

इटली के बाद इस नवीन शैली का प्रसार पश्चिमी यूरोप के अनेक देशों में हुआ। फ्रांस के सम्राट फ्रांसिस प्रथम ने इसे प्रश्रय दिया और उसने इटली से बहुत से कलावन्तों को पेरिस आमन्त्रित किया। इन लोगों की देखरेख में निर्मित पेरिस में 'लूबे का प्रासाद' विशेष उल्लेखनीय है। इस प्रासाद में सफेद तथा नीले रंग का टेराकोट कार्य देखते ही बनता है। जर्मनी और स्पेन में भी इस शैली का प्रसार हुआ। स्पेन का सम्राट फिलिप तृतीय इस शैली का संरक्षक बना और 'इस्कोरियल प्रासाद' पर इस शैली का जबरदस्त प्रभाव देखने को मिलता है। पश्चिमी यूरोप के कलावन्तों में डच वास्तुकार शलूटर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बर्ग्रेण्डी के ड्यूक ने उसे संरक्षण प्रदान किया था। उसके द्वारा निर्मित 'वेल ऑफ मासेज' तथा बर्ग्रेण्डी के शासकों की समाधियों पर उत्कीर्ण मूर्तियाँ, कला की दृष्टि से अनुपम मानी जाती हैं। इंगलैण्ड में इस शैली का प्रसार थोड़ा बाद में हुआ। 1669 ई. में इनिगोजान्स ने 'ह्वाइट हॉल' में जिस दावत-घर का निर्माण करवाया वह आश्चर्यजनक कृति मानी जाती है। इसी प्रकार, लन्दन में क्रिस्टोफर की देखरेख में निर्मित 'सन्त पाल का गिरजा' भी एक भव्य कृति है।

चित्रकला—कला के क्षेत्र में पुनर्जागरण का सर्वाधिक प्रभाव चित्रकला पर पड़ा। चित्रकला के क्षेत्र में भी इटालियन चित्रकारों ने अन्य देशों का मार्ग प्रशस्त किया। इन लोगों पर नवीन विचारों का प्रभाव था। परिणामस्वरूप इस युग की चित्रकला पर मानववाद, क्लासिकलवाद, सहिष्णुता आदि का जबरदस्त प्रभाव पड़ा। अब चित्रकार लोग मेडोना, सन्तों, बाइबिल के दृश्यों के साथ-साथ प्राचीन गाथाओं के नायिक-नायिकाओं और यूनानी तथा रोमन साहित्य के सुन्दर दृश्यों का चित्रण करने लगे। जो थोड़े बहुत धार्मिक चित्र बनाये भी जाते थे, वे भी केवल गिरजाओं के लिए न बनाये जाकर व्यक्तिगत भवनों की सजावट के लिए बनाए जाने लगे थे।

चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदियों में जो अनेक चित्रकार हुए, उन सभी का उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है। यहाँ केवल कुछ प्रमुख चित्रकारों का ही उल्लेख किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में एक बात का ध्यान रखना चाहिये कि चौदहवीं सदी के शुरू तक अधिकांश चित्रकार प्राचीन बाइजेण्टाइन कला से ही चिपके रहे थे। बाइजेण्टाइन कला में आकृति, डिजाइन और अंकन में परम्परावादी शैली पर अधिक जोर दिया जाता था और विषयवस्तु तथा उद्देश्य पूर्णतः धार्मिक होते थे। उस युग की चित्रकला का क्षेत्र भी सीमित था और उसका उपयोग गिरजाघरों की दीवारों को धार्मिक दृश्यों और महापुरुषों के चित्रों से सजाने में ही किया जाता था।

सर्वप्रथम जियटो (1336 ई. के आसपास) ने परम्परावादी बाइजेण्टाइन शैली के स्थान पर प्राकृतिक क्षेत्र को अपनाकर चित्रकला को नया मार्ग प्रदान किया। यद्यपि जियटो में प्राकृतिक

चित्र बनाने की कला में थोड़ी कमी रह गई थी और उसके चित्रों की पृष्ठभूमि भी उतनी सही नहीं बन पाई थी; फिर भी उसके चित्रों ने चौदहवीं सदी के अनेक चित्रकारों को प्रभावित किया। पन्द्रहवीं सदी के चित्रकारों ने इन कमियों को दूर करने का अथक प्रयत्न किया और उनके चित्रों में प्रकाश, छाया, रंगों का समन्वय, आकृति का सही अंकन आदि पर अधिक जोर दिया गया। मध्यकालीन कलाकारों ने मनुष्यों के चेहरों और हाथों तथा केश-विन्यास का अंकन तो किया था, परन्तु वस्त्रों के नीचे मानव शरीर की बनावट का कभी मूल्यांकन नहीं किया। पुनर्जागरण काल के कलाकारों ने मानव शरीर का अध्ययन किया और यह जानकारी प्राप्त की कि मनुष्य के शरीर की पेशियाँ और जोड़ कैसे उभरते हैं। इसीलिए वे अपनी कलाकृतियों को अधिक सजीव बना सके। इसके अलावा वे धार्मिक दृश्यों से हटकर सामान्य दृश्यों तथा यथार्थवादी पृष्ठभूमि की ओर अग्रसर हुए।

इस नई शैली का अग्रदूत फ्लोरेन्स नगर का मेसाक्च्यो (1401-1429) था। फ्रा लिप्पी और फ्रा एंजेलिको ने इस शैली को विकसित करने में योगदान दिया। फ्रा एंजेलिको (1378-1455) एक प्रतिभासम्पन्न संन्यासी था और यद्यपि उसकी शैली पर जियटो का प्रभाव था, फिर भी उसने तकनीकी दृष्टि से इस शैली के विकास में खास योगदान दिया। उसने छोटे गिरजों और मठों के लिए भित्ति-चित्र और वेदी-चित्र बनाये। बाद में पोप ने उसे वेटिकन के कुछ भागों को सजाने के लिए रोम आमन्त्रित किया। फ्रा एंजेलिको ने धार्मिक विषय-वस्तु को लेकर ही चित्र बनाये थे, फिर भी अपनी गहन आत्मिक खूबियों के कारण वे बेजोड़ माने जाते थे। पन्द्रहवीं सदी के अन्त में बोटीशैली (1444-1510) हुआ, जिसने विविध विषय-वस्तु को लेकर बेजोड़ चित्र बनाये। उपर्युक्त सभी चित्रकार फ्लोरेन्स नगर के थे। अतः उनकी चित्रकला शैली को 'फ्लोरेन्स शैली' भी कहा जाता था। इटली में फ्लोरेन्स शैली के अलावा अन्य शैलियों का भी विकास हुआ, जिनमें 'उम्ब्रीयन शैली' और 'वेनेशियन शैली' मुख्य थी। उम्ब्रीयन शैली का प्रमुख चित्रकार पीएट्रो पेरूजिनो (1446-1524) सर्वाधिक विख्यात है। वेनेशियन शैली में टिटियन (1477-1576) ने विशेष नाम कमाया।

लियोनार्डो डा विंची (1452-1519)—पुनर्जागरण काल की एक महान् विभूति लियोनार्डो डा विंची उपर्युक्त सभी शैलियों से भिन्न एक महान् कलाकार था। वह बहुमुखी प्रतिभा का व्यक्ति था। वह एक कलाकार, वैज्ञानिक, आविष्कारक, सैनिक, इंजीनियर और शरीर शास्त्र का विद्यार्थी था। उसे मेदिची परिवार, मिलन परिवार तथा फ्रांस के शासकों का संरक्षण मिलता रहा। उसके चित्रों को देखकर यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि एक चित्रकार भी बाह्य दृश्य या मानव आकृति को कैमरे की भाँति कितना सही अंकन कर सकता है। दुर्भाग्य की बात है कि इस महान् चित्रकार की अधिकांश कृतियाँ नष्ट हो चुकी हैं और हमें उसकी कला के थोड़े से नमूने ही उपलब्ध हैं। उपलब्ध चित्रों में 'मोनालिसा' और 'लास्ट सपर' (अन्तिम भोजन) उसके सर्वश्रेष्ठ चित्र हैं और जिन्हें विश्व के सर्वश्रेष्ठ चित्रों की पंक्ति में रखा जाता है। लियोनार्डो की शैली विविध रूप से विकसित थी और उसकी शैली में मौलिकता का पुट है। उसके चित्रों में सादगी तथा भावाभिव्यक्ति की प्रधानता के साथ-साथ यथार्थ में आदर्श की झलक भी देखने को मिलती है। उसकी चित्रकला की मुख्य विशेषताएँ हैं—प्रकाश और छाया, रंगों का

चयन तथा शारीरिक अंगों का सबल प्रदर्शन। अपने चित्रों को अधिक आकर्षक बनाने के लिए उसने रंगों और चित्रण की विधियों के समन्वय में प्रयोग किए। उसने मानव शरीर का बहुत ही मनोयोग के साथ अध्ययन किया और मानव को विभिन्न मुद्राओं में चित्रित किया। वस्तुतः वह एक महान् कलाकार था।

माइकेल एंजेलो—इटली का दूसरा बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न चित्रकार माइकेल एंजेलो (1475-1564) था। वह भी एक कलाकार, चित्रकार तथा मूर्तिकार था। उसकी कृतियों में जहाँ एक तरफ मध्यकालीन धार्मिक विश्वास की झलक देखने को मिलती है, वहीं दूसरी तरफ पुनर्जागरण की समस्त खूबियाँ भी स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। अपने चित्रों को यथार्थवादी बनाने के लिए उसने भी मानव शरीर विज्ञान का गहन अध्ययन किया था। एंजेलो का विश्वास था कि मनुष्य सृष्टि की सुन्दर अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम नमूना है। उन दिनों रोम में पोप पीटर का दूसरा कैथेड्रल बनवा रहा था। इस कैथेड्रल के गुम्बद की रूपरेखा माइकेल एंजेलो ने ही बनाई थी और विद्वान् लोग इस गुम्बद को दुनिया की आश्चर्यजनक कृतियों में मानते हैं। माइकेल एंजेलो ने ठोस संगमरमर को तराशकर दाऊद और मूसा की विशाल सजीव मूर्तियाँ भी बनाई थीं। इन मूर्तियों में उन महान् पुरुषों की भावनाओं को बहुत ही स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया गया है। चित्रकला के क्षेत्र में भी एंजेलो का योगदान काफी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। पोप ने उसे 'सिस्टाइन शैपेल' की भीतरी छत को चित्रित करने का काम सौंपा, जिसे उसने साढ़े चार साल की अत्यधिक परिश्रमयुक्त साधना के साथ पूरा किया। सिस्टाइन शैपेल (वेटिकन में पोप का महल) की भीतरी छत व उसके द्वारा बनाये गये चित्र आज भी लोगों के लिए विस्मय की वस्तु बने हुए हैं। इन चित्रों में उसके सर्वश्रेष्ठ चित्र का नाम है 'लास्ट जजमेंट' (अन्तिम निर्णय)। यह चित्र घोर निराशा और वेदना की अभिव्यक्ति करता है। इसमें चित्रित व्यक्ति भय और आतंक से ग्रस्त है और लगता है कि उसे भगवान् से भी दया की कोई आशा नहीं दिखलाई पड़ती।

राफेल—राफेल सान्त्स्यी (1483-1520) लियोनार्डो और एंजेलो से काफी भिन्न चित्रकार था। वह भी एक कवि और वास्तुकार था। उसने सन्त पीटर के कैथेड्रल की रूपरेखा तैयार की थी। परन्तु उसकी ख्याति उसके चित्रों के कारण है। राफेल के चित्रों में सजीवता सुन्दरता, मातृत्व, वात्सल्य और भक्ति की प्रधानता देखने को मिलती है। उसने मैडोना और शिशु के पचास से भी अधिक महान् चित्र और अनेक पोर्ट्रेट तैयार किये। 'कोलोना मेडाना' (सिस्टाइन मेडोना) नामक चित्र उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है जिसमें वात्सल्य, प्रेम और मातृत्व का सुन्दर चित्रण किया गया था। बहुत से विद्वानों का मानना है कि चित्रकला के क्षेत्र में समन्वयात्मक सौन्दर्य के चित्रण में राफेल माइकेल एंजेलो से भी श्रेष्ठ था। दुर्भाग्यवश सैंतीस वर्ष की आयु में ही उसकी मृत्यु हो गई।

अन्य कलाकार—पोर्ट्रेट बनाने वाले चित्रकारों में इटली का तिशन (1477-1576) सर्वोपरि था। वह वेनिस का निवासी था और वृद्धावस्था में भी कला की साधना करता रहा। उसने पोपों, पादरियों, सामन्तों और सम्पन्न परिवार की महिलाओं के अनेक चेहरे (पोर्ट्रेट) बनाये। वह हल्के रंगों का प्रयोग करता था और इस क्षेत्र में उसकी तुलना में अन्य कोई कलाकार नहीं पहुँच पाया। पन्द्रहवीं सदी के चित्रकार अपने रंगों को घोलने के लिए अण्डे की सफेदी का प्रयोग

किया करते थे परन्तु बेल्जियम के वान तथा आइक बन्धुओं—हर्बर्ट और जॉन ने रंगों को मिश्रित करने की एक नवीन पद्धति ढूँढकर चित्रकला को एक नया मोड़ दे दिया। वे रंगों के मिश्रण के लिए तेल का प्रयोग करने लगे जिससे चित्रों का रूप और अधिक निखर गया। फ्रान्ज हाल्स (1605-1666) की गणना भी विश्व के महान् पोर्ट्रेट चित्रकारों में की जाती है। उसने सामन्तों के चेहरे बनाये। परन्तु वह अपने चित्रों के विषय की खोज में प्रायः शराबखानों तथा अँधेरी सड़कों का चक्कर लगाया करता था। रैम्ब्रा वान रिन (1606-1669) बेल्जियम का अन्य प्रमुख चित्रकार था। वह रेखाचित्रों के लिए अधिक विख्यात है। रंगों, प्रकाश और छाया के अंकन में उसे विशेष निपुणता प्राप्त थी। स्पेन में डीगोवेलेसकैथ (1599-1660) हुआ जिसने राजवंशी लोगों के अनेक आकर्षक पोर्ट्रेट बनाये। जर्मनी के ड्योरार तथा हैन्स दाल्बीन ने लकड़ी तथा ताम्बे के पत्तरों पर आश्चर्यजनक चित्रों को अंकित किया।

मूर्तिकला—मूर्तिकला का क्षेत्र भी पुनर्जागरण के प्रभाव से अछूता नहीं रहा। इस क्षेत्र में नई शैली का विकास हुआ। नई शैली के विकास का श्रेय फ्लोरेन्स के मूर्तिकार दोनोतेलो (1386-1466) को है। उसने प्राचीन यूनानी तथा रोमन मूर्तियों का गहन अध्ययन किया था। उसके द्वारा निर्मित मूर्तियों का विषय मानव-जीवन था, जबकि मध्यकालीन मूर्तिकला का विषय धर्म था अर्थात् गिरजा की सजावट के लिए ही साधु-सन्तों की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। पुनर्जागरण ने जिस मानववादी विचारधारा का सन्देश दिया, उससे प्रभावित होकर अब मूर्तिकारों ने मानव-जीवन से ही अपने विषयों का चयन किया। खेलते हुए बच्चों की अथवा सामान्य मनुष्यों के सिरों की भी मूर्तियाँ बनाई जाने लगीं। दोनोतेलो द्वारा निर्मित वेनिस की सन्त मार्क की आदमकद मूर्ति उस काल की सर्वश्रेष्ठ मूर्ति मानी जाती है। उस युग का दूसरा प्रमुख मूर्तिकार लोरेंजो गिबर्टी (1378-1455) था। फ्लोरेन्स की वैप्टिस्ट्री (धर्म-संस्कार बप्तिसमा का भवन) के दो दरवाजों पर जो अद्भुत नक्काशी का काम किया हुआ है, वह गिबर्टी की देन है। दरवाजे कांसे के हैं और इनके दस लम्बे फलकों पर नक्काशी की गई है और प्रत्येक फलक पर बाइबिल की एक कहानी भी उत्कीर्ण की गई है। इस काम को पूरा करने में गिबर्टी को बीस वर्ष का समय लगा। माइकेल एंजेलो की मूर्तिकला की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं।

वास्तुशिल्प के क्षेत्र में पुनर्जागरण ने 'वास्तुविद्' (आर्किटेक्ट) के रूप में एक नये कलावन्त को जन्म दिया। उसका काम था—भवनों का डिजाइन तैयार करना। वास्तविक निर्माण कार्य अन्य कारीगर लोग करते थे। इससे लोगों को अपने मनपसन्द आवास बनाने की सुविधा उपलब्ध हो गई। उस युग के भवनों में यूनानी स्तम्भों, अलंकारयुक्त शिलापट्टों, रोमन मेहराबों और गुम्बदों का अधिक प्रयोग किया जाता था।

संगीत—पुनर्जागरण काल में अन्य कलाओं की भाँति संगीत कला में भी पर्याप्त प्रगति हुई। मध्यकालीन वाद्ययन्त्रों के स्थान पर नये-नये वाद्य यन्त्रों का आविष्कार किया गया जिनमें हार्प्सीकार्ड और वायलिन मुख्य थे। हार्प्सीकार्ड पियानो का पूर्व रूप था। इस युग की दूसरी विशेषता स्वर संगीत की प्रधानता है। पुनर्जागरण के प्रभाव से धार्मिक तथा लौकिक संगीत का भेदभाव समाप्त हो गया। संगीत के क्षेत्र में पुनर्जागरण ने एक गायक की ध्वनियों द्वारा सम्पादित की जाने वाली दो प्रकार की लम्बी नाटकीय रचनाओं को जन्म दिया। एक का नाम था 'औरतोरिये'

(परिकीर्तन) और दूसरे का नाम था 'ओपेरा'। औरतोरियो का विषय विशुद्ध धार्मिक होता था और उसमें कार्य-व्यापार, वेशभूषा तथा दृश्यावली का प्रयोग नहीं किया जाता था। ओपेरा आमतौर पर सांसारिक विषयों से सम्बन्धित होता था। इसमें अभिनय, वेशभूषा, गायन, दृश्यावली आदि का उपयोग किया जाता था। सबसे पहला ओपेरा सन् 1594 ई. में प्रस्तुत किया गया था। इस युग में छोटे-छोटे प्रेम-गीतों का प्रचार बढ़ा। 'मास्किनदस' इस युग का एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ था। गिओवानी पालेस्ट्राइना सिद्ध संगीत-रचयिता हुआ। पालेस्ट्राइना ने सामूहिक संगीत पर एक पुस्तक लिखी थी, जो 1554 ई. में प्रकाशित हुई। यह पुस्तक इतनी अच्छी रही कि पश्चिमी संसार में आज भी इसका महत्त्व बना हुआ है।

विज्ञान के क्षेत्र में पुनर्जागरण

मध्ययुग के लोगों पर धर्म और गिरजे का जबरदस्त प्रभाव था और पिछली पीढ़ियों से जो ज्ञान चला आया था, उसी को प्रामाणिक माना जाता रहा। परन्तु कुछ स्वार्थी लोगों ने परम्परा से प्राप्त ज्ञान में अन्धविश्वासों तथा जादू-टोने का विचित्र मिश्रण करके वास्तविक ज्ञान को इतना अधिक मिलावटी बना दिया कि सत्य को पहचानना दुष्कर हो गया। इस प्रकार की स्थिति के लिए चर्च एवं धर्माधिकारी उत्तरदायी थे। धर्माधिकारी लोग स्वतन्त्र चिन्तन के प्रबल विरोधी थे और विज्ञान को भी एक प्रकार की नास्तिकता समझते थे। परन्तु पुनर्जागरण काल के विद्वानों ने किसी भी सिद्धान्त को स्वीकार करने के पहले उसके विषय में निरीक्षण, अन्वेषण, जाँच और परीक्षण करने पर बल दिया। इस वैज्ञानिक भावना से मध्ययुगीन विश्वास चकनाचूर होने लग गये। इससे नये आविष्कारों और खोजों का मार्ग प्रशस्त हुआ, जिनके परिणामस्वरूप इतने परिवर्तन हो गये कि लोग इसे 'वैज्ञानिक क्रान्ति' के नाम से पुकारने लगे। वस्तुतः वैज्ञानिक क्रान्ति पुनर्जागरण की सबसे बड़ी देन है जिसने सम्पूर्ण मानव जाति को अन्धविश्वासों तथा मिथ्या विश्वासों से मुक्त करके स्वतन्त्र-चिन्तन के द्वार उन्मुक्त कर दिये।

मध्य युग में वैज्ञानिक प्रगति के मार्ग में जो बाधाएँ थीं, उनका उल्लेख पुनर्जागरण काल के प्रमुख विद्वान् रोजर बेकन ने इस प्रकार किया है—(1) अज्ञानी लोगों की भीड़ का निश्चित मत, (2) प्रथा, जो नये विचारों के प्रति शंकाकुल होती है, (3) यह दिखाने की आदत कि हम सब कुछ जानते हैं, और (4) 'दुर्बल तथा अयोग्य प्रमाण' पर निर्भर रहना। ऐसी स्थिति में वैज्ञानिक बनना और नई खोजें करना वास्तव में जीवट का काम था। ऐसे जीवटधारियों में रोजर बेकन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वह सत्य का एक गम्भीर अन्वेषक था। उसने एक साधारण सूक्ष्मदर्शी का निर्माण किया और धातुओं तथा रसायनों पर भी प्रयोग किये। बेकन ने ऐसे बहुत से सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जिन पर चलते हुए बाद के वैज्ञानिकों ने महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हासिल कीं।

दूसरी शताब्दी में मिस्र के यूनानी खगोलशास्त्री टॉलेमी ने यह मत प्रतिपादित किया था कि हमारी पृथ्वी ब्रह्माण्ड के बीचों-बीच स्थित है और यह सम्पूर्ण विश्व का स्थिर केन्द्र है। सूर्य, चन्द्र, तारे तथा अन्य ग्रह पृथ्वी की परिक्रमा करते हैं। ईसाई चर्च ने भी इस सिद्धान्त को सत्य मान लिया। शताब्दियों तक यही पढ़ाया जाता रहा और लोगों ने इस पर विश्वास भी किया। परन्तु जब पोलैण्ड के वैज्ञानिक निकोलस कोपर्निकस (1473-1543) ने इस सिद्धान्त को झूठा

प्रमाणित कर दिया तो लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ और सहसा वे विश्वास न कर सके। कोपर्निकस ने दृढ़ता से कहा कि सूर्य हमारे इस ग्रह मण्डल की नाभि है और पृथ्वी भी उन बहुतेरे ग्रहों में से एक है जो सूर्य की परिक्रमा करते हैं। चर्च ने कोपर्निकस के इस नए सिद्धान्त को बाइबिल और चर्च की शिक्षा के विरुद्ध मानकर इसे अस्वीकार कर दिया। कुछ लोगों ने इस विचार की यह कहकर खिल्ली उड़ाई कि यदि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है तो फिर हम लोग लुढ़क क्यों नहीं जाते ? पोप के आदेश से कोपर्निकस को अपने नये विचारों का प्रचार बन्द करना पड़ा। परन्तु इटली के एक अन्य वैज्ञानिक जाइडिनी बूनों (1548-1600) ने कोपर्निकस के विचारों का प्रचार किया और पोप के आदेश से उसे अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े। बाद में जर्मन वैज्ञानिक कैप्लर ने भी कोपर्निकस के सिद्धान्त की पुष्टि की। कैप्लर ने गति सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जो आधुनिक गणित के आधारस्तम्भ बन गये।

इटली के प्रसिद्ध विद्वान् गैलीलियो (1564-1643) ने एक दूरदर्शी (दूरबीन) बनायी जिसकी सहायता से पचास मील दूर के जहाजों को भी स्पष्टता के साथ देखा जा सकता था। इस दूरदर्शी यन्त्र से ज्योतिष-शास्त्र के अध्ययन में बहुत सहायता मिली। गैलीलियो अपने युग का लोकप्रिय वक्ता और लेखक भी था। उसने कोपर्निकस के सिद्धान्त को सही बतलाया और यह भी कहा कि उसने बृहस्पति ग्रह के चन्द्रमा को भी देखा है और बृहस्पति ग्रह को भी अपनी धुरी पर घूमते देखा है। गैलीलियो को भी चर्च की अदालत में बुलाया गया और उसे अपने विचारों का प्रचार बन्द करने अथवा आजीवन कारावास भोगने को कहा गया। इस प्रकार गैलीलियो को नये विचारों का प्रचार करने से रोक दिया गया, परन्तु फिर भी वह दबी जबान में कह बैठता था 'लेकिन धरती तो घूमती ही है।' गैलीलियो ने लटकन के सिद्धान्त का भी आविष्कार किया। उसने यह सिद्ध किया कि गिरते हुए पिण्डों की चाल उनके भार पर नहीं, अपितु दूरी पर निर्भर करती है जहाँ से वे गिरते हैं। अर्थात् भारी और हल्की चीजें एक ही गति से धरती पर गिरती हैं। इससे अरस्तू का सिद्धान्त गलत प्रमाणित हो गया। गैलीलियो ने पेण्डुलम के जिन नियमों की खोज की थी, उनके आधार पर आगे चलकर दीवाल घड़ियों का बनना सम्भव हो गया।

देस्कार्तेस (देकार्ते) एक फ्रांसीसी गणितज्ञ और दार्शनिक था। वैसे वह एक धर्मपरायण व्यक्ति था, परन्तु विज्ञान के क्षेत्र में उसने सन्देह और तर्क पर बल दिया और रूढ़िवादी लोगों को अपना शत्रु बना लिया। उसकी सबसे बड़ी देन उसकी यह खोज थी कि बीजगणित का उपयोग ज्यामिति में कैसे किया जाता है। तारतगलियों (1522-1563) नामक विद्वान् ने गणित के क्षेत्र में घन-समीकरण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तो केप्लर ने शंकु सम्बन्धी नियमों की खोज की। नेपियर नामक विद्वान् ने प्रतिफलन और स्टेविन ने दशमलव पद्धति पर काम किया।

उपर्युक्त वैज्ञानिकों के सिद्धान्तों और नियमों पर काम करते हुए बाद के वैज्ञानिकों ने प्रकृति को समझने की दिशा में महत्त्वपूर्ण काम किया और यह काम सत्रहवीं तथा अठारहवीं सदियों में भी जारी रहा। इस काल के वैज्ञानिकों में सर आइजक न्यूटन (1642-1727) का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। एक सामान्य परिवार में पैदा होने वाले न्यूटन ने गणित में इतनी अधिक कुशाग्रता तथा योग्यता का परिचय दिया कि 27 वर्ष की अल्पायु में ही उसे कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में गणित का प्रोफेसर नियुक्त कर दिया गया। भौतिक विज्ञान की सभी शाखाओं पर न्यूटन के

विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। परन्तु न्यूटन का सर्वाधिक महान् और अत्यधिक प्रभावशाली योगदान 'गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त' है। जब वह युवा था तभी उसने यह जानकारी प्राप्त करली थी कि वह शक्ति जिसके द्वारा चन्द्रमा पृथ्वी का चक्कर लगाता है और अन्य ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं, वही है जो छोड़ी गई वस्तुओं को नीचे गिराती है। परन्तु उसने अपनी यह जानकारी संसार को काफी देर बाद सन् 1687 ई. में अपनी पुस्क 'प्रिंसीपिआ' (प्राकृतिक दर्शन के गणित सम्बन्धी सिद्धान्त) के माध्यम से दी। गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त ने सम्पूर्ण वैज्ञानिक जगत् में हलचल मचा दी। न्यूटन ने सिद्ध किया कि प्रत्येक वस्तु पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के कारण ऊपर से पृथ्वी की ओर खिंचती है। पृथ्वी अन्य सभी ग्रहों को भी अपनी ओर खींचे रहती है। इस सिद्धान्त का लोगों पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। लोगों को पता चल गया कि हमारी पृथ्वी धर्मशास्त्रानुसार कोई देवयोग या आकस्मिक घटना नहीं है, अपितु एक ऐसी वस्तु है जो प्रकृति के सुव्यवस्थित नियमों के अनुसार चल रही है। न्यूटन ने प्रकाश-किरणों के स्पेक्ट्रम के छह रंगों में बँट जाने का भी अध्ययन किया।

रसायन शास्त्र के क्षेत्र में 1630 ई. में वॉल हेलमाट ने कार्बन-डाई-ऑक्साइड नामक गैस का निर्माण किया। उसने यह भी सिद्ध किया कि गैस और हवा अलग-अलग हैं। कोडेस नामक वैज्ञानिक ने गन्धक और अलकोहल को मिलाकर ईथर का निर्माण किया। राबर्ट बाइल नामक विद्वान् ने गैसों के विस्तार क्षेत्र में नये सिद्धान्त प्रतिपादित किये। चिकित्सा शास्त्र के क्षेत्र में बहुत प्रगति हुई। 1543 ई. में नीदरलैण्ड के पेसेडियम ने 'मानव शरीर की बनावट' नामक पुस्तक लिखी। उसने यह बताया कि मानव शरीर की बनावट को समझने के लिए केवल पुस्तकीय ज्ञान पर्याप्त नहीं होगा। इसके लिए शल्य-चिकित्सा का व्यावहारिक ज्ञान अधिक लाभदायक एवं महत्त्वपूर्ण होता है। इंगलैण्ड के वैज्ञानिक विलियम हार्वे (1579-1657) ने पता लगाया कि हृदय रक्त को धमनियों के द्वारा सारे शरीर में फेंकता है और शिराओं द्वारा वापस लेता रहता है। इस खोज के कारण ही रक्त चढ़ाने तथा हृदय और ग्रन्थियों के रोगों की चिकित्सा सम्भव हो पायी। इस प्रकार, इन वैज्ञानिकों ने अपनी खोजों के द्वारा मानव समाज के सामने एक नया मार्ग प्रशस्त किया।

भौगोलिक अनुसन्धान

कारण—पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप यूरोप में जो वातावरण तैयार हो रहा था उसने यूरोपवासियों को इस संसार को देखने तथा उसकी जानकारी प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया। इससे यूरोपवासियों की भूगोल में अभिरुचि का विकास हुआ। कुछ ईसाई धर्म-प्रचारक नये-नये देशों में जाकर महात्मा ईसा के उपदेशों को फैलाने की जिज्ञासा रखते थे। परन्तु भौगोलिक अनुसन्धान का असली कारण भारत, चीन और पूर्वी द्वीप समूह (मसालों का द्वीप) तक सीधे जलमार्ग की खोज करना था। यूरोप में नये नगरों के उदय के परिणामस्वरूप पूर्वी देशों से आने वाले मसालों, रेशम, रत्नों, औषधियों, सुगन्धित द्रव्य पदार्थों आदि की माँग बढ़ रही थी। किन्तु पूर्वी देशों के स्थल मार्ग पर तुर्कों का नियन्त्रण हो गया था और जो थोड़ा-बहुत व्यापार पूर्वी भूमध्यसागर के मार्ग से होता था उस पर इटली के नगरों ने एकाधिकार ज़मा रखा था। वहाँ से यूरोप के अन्य नगरों तक सामान पहुँचते-पहुँचते काफी महँगा हो जाता था। पश्चिमी यूरोप के

नवोदित राष्ट्रीय राज्यों के शासकों को इस समय धन की बहुत अधिक आवश्यकता थी। क्योंकि उनकी नयी सरकारों का व्यय अधिक था और राष्ट्रीय सेवाओं तथा सैनिक सेवाओं का खर्चा चलाने के लिए धन के नये स्रोतों की जरूरत थी। इसका एक ही विकल्प था और वह यह कि पूर्वी देशों को जाने वाले जलमार्ग की खोज करना और फिर सीधे उनके साथ व्यापार करना।

पुनर्जागरण काल में उपलब्ध नयी जानकारी से नौका-नायकों की स्थिति भी अब काफी सुधर गई थी। अब वे लोग पहले की भाँति यह विश्वास नहीं करते थे कि समुद्री दानव जहाजों को निगल जायेंगे अथवा यह कि उष्ण कटिबन्धीय समुद्रों का पानी उबलता रहता है। अब उन्हें इस बात का भय नहीं रह गया था कि यदि वे समुद्र में बहुत दूर तक गये तो पृथ्वी के किनारे से गिर पड़ेंगे। अब उनका साहस बढ़ा हुआ था। उनके जहाज भी बड़े-बड़े थे। मानचित्रों में भी काफी सुधार हो गया था। नौ-चालन उपकरण भी सुधर गये थे और उनके पास अच्छा दिशासूचक यन्त्र (कुतुबनुमा) और एक सुधरा हुआ ऐस्ट्रोलेब (वह उपकरण जिससे अक्षांश जाना जाता है) था। अब अधिक पालों और पतवारों वाले जहाजों के साथ नाविक लोग विशाल महासागरों का वक्षःस्थल चीरकर दूर-दूर तक की यात्रा करने का आत्म-विश्वास रखते थे। इन्हीं सब बातों से भौगोलिक अनुसन्धान सम्भव हो पाया।

मार्को पोलो—तेरहवीं सदी के अन्त में मंगोल नेता कुबलाई खाँ ने चीन में एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया और उसी के शासनकाल में यूरोपवासी चीन के सम्पर्क में आये। सर्वप्रथम पोप ने अपने धर्मदूतों को चीन भेजा था। उसके बाद वेनिस के कुछ साहसिक व्यापारियों ने चीन से व्यापार करने का निश्चय किया। तेरहवीं सदी में वेनिस के मार्को पोलो ने इसी उद्देश्य से चीन की यात्रा की। कुबलाई खाँ के दरबार में उसे पर्याप्त सम्मान मिला और वह कई साल चीनी शासक के महल में रहा। वेनिस लौटने पर उसने अपने एक मित्र की सहायता से अपने यात्रा-वृत्तान्त को प्रकाशित करवाया जिसमें पूर्वी देशों के महान् वैभव का विस्तृत विवरण दिया गया था। पूर्वी देशों में मिलने वाले कपास, चीनी, मसालों, सोना और रत्न आदि के विवरण ने यूरोपवासियों को आकर्षित किया और वे पूर्वी देशों के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित करने की सोचने लगे। मार्को पोलो ने चीन के दक्षिण-पूर्व में स्थित अनेक द्वीपों का विवरण दिया और यह भी लिखा कि चीन का समुद्र अलग न होकर विशाल महासागर से जुड़ा हुआ है। उसने जापान, पूर्वी द्वीप समूह, श्रीलंका, भारत, लालसागर और पूर्वी अफ्रीका के बारे में भी लिखा। उसके विवरण ने भावी नाविकों को अत्यधिक प्रेरणा प्रदान की।

पुर्तगालियों की खोजें—पुनर्जागरण के प्रभाव से यूरोप ने जिस भौगोलिक अनुसन्धान का कार्य किया उसमें यूरोप का छोटा-सा देश पुर्तगाल सबसे आगे रहा। इसका मुख्य कारण अन्धमहासागर में उसकी भौगोलिक स्थिति थी। वहाँ के शासक के भाई राजकुमार हेनरी ने प्रारम्भिक खोज-यात्राओं को प्रोत्साहित किया। उसने समुद्री यात्रा तथा समुद्री नाविकों के लिए एक विद्यालय कायम किया और प्रशिक्षित नाविकों को अटलांटिक महासागर में अजोर्स तथा मडोरा द्वीपों की ओर अफ्रीका के पश्चिमी समुद्री तट की खोज करने को भेजा। उन्होंने अफ्रीका का गाइना तट खोज निकाला। इसके बाद वार्थो लोम्यूडाइज ने केप कोलोनी (उत्तमाशा अन्तरीप) तक का चक्कर लगाकर भारत पहुँचने का मार्ग खोजने का अथक प्रयत्न किया, परन्तु उसे

सफलता न मिली। भौगोलिक अनुसन्धान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त करने का श्रेय वास्को-डि-गामा को है।

1497 ई. में वास्को-डि-गामा नामक पुर्तगाली नाविक अपने साथियों सहित पूर्वी द्वीप-समूह की खोज में निकल पड़ा। केप-कोलोनी पहुँचने के बाद वह जंजीबर की तरफ मुड़ गया। संयोगवश यहाँ उसे एक अरेब नाविक की सहायता मिल गई जो उसे 1498 ई. में सीधा भारत के विख्यात बन्दरगाह कालीकट तक ले आया। अपने अभियान के खर्च से साठ गुनी अधिक कीमत का माल लादे एक वीर विजेता की भाँति वास्को-डि-गामा घर लौटा। उसने पूर्वी दुनिया के लाभप्रद व्यापार का एक नया जलमार्ग खोज निकाला था। अगले वर्षों में वास्को-डि-गामा पुनः भारत आया और भारत भूमि पर पुर्तगाली केन्द्र स्थापित करने में सफल रहा। उसकी खोज इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना बन गई। अब सुदूर पूर्व तक यूरोप का प्रसार सम्भव हो गया।

स्पेनियों की खोजें—पूर्वी देशों के लिए समुद्री मार्ग खोजने में स्पेन के लोगों ने भी काफी रुचि ली थी और अनजाने में ही वे एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण खोज के भागीदार बन गये। स्पेनियों को भौगोलिक अनुसन्धान में यश दिलाने का श्रेय क्रिस्टोफर कोलम्बस को है। कोलम्बस जिनोआ का नागरिक था, परन्तु बाद में वह पुर्तगाल चला आया और यहाँ उसने सरकारी नौकरी कर ली। मार्को पोलो के यात्रावृत्तान्तों तथा भूगोलवेत्ता टोसकेनेली के लेखों ने उसे भारत का जलमार्ग खोजने की प्रेरणा दी। उसका विचार था कि एशिया का पूर्वी तट अन्धमहासागर के उस पार है और भारत पहुँचने के लिए पश्चिम की ओर से समुद्र के आर-पार यात्रा करनी चाहिए। उस समय उसे क्या मालूम था कि इस मार्ग से वह एक नई दुनिया में पहुँच जायेगा। न ही उसे यह मालूम था कि इस रास्ते में उसे कितनी दूरी तय करनी होगी। उसके पास दूर की यात्रा के योग्य साधनों का अभाव था। बड़ी मुश्किल के बाद वह स्पेन की रानी आइसाबेला को मना पाया और रानी ने उसकी आवश्यकताओं के लायक उसे आर्थिक सहयोग देकर नया मार्ग खोजने की प्रेरणा दी।

3 अगस्त, 1492 ई. के दिन कोलम्बस ने केडिज के निकट पालोस बन्दरगाह से तीन छोटे जहाजों—मेरिया, पिण्टा और नीना के साथ अपनी महान् यात्रा के लिए प्रस्थान किया। कैनेरी द्वीप पहुँचने के बाद वह पश्चिम दिशा की ओर बढ़ता ही चला गया। पाँच सप्ताह तक धरती के दर्शन नहीं हुए। कोलम्बस के लिए जीवन और मृत्यु का समय उपस्थित हो गया, क्योंकि धर्म-भीरु मल्लाह विद्रोह पर उतारू हो गये थे। 6 अक्टूबर को दूर क्षितिज पर पक्षी उड़ते दिखाई दिये और पाँच दिन बाद कोलम्बस ने अमेरिका की भूमि पर पहला पाँव 'बहामा द्वीप समूह' पर रखा। इसके बाद कुछ दिन उसने क्यूबा, हेट्टी आदि स्थानों की खोज में बिताये। कोलम्बस अपनी इस खोज की महानता को भी नहीं जान पाया क्योंकि उसने सोचा कि वह एशिया के दक्षिण-पूर्व में स्थित भारत (इंडीज) द्वीप समूह में पहुँच गया है। इसीलिए उसने वहाँ के मूल निवासियों को 'इण्डियन' कहा। स्पेन लौटने पर उसका शानदार स्वागत किया गया। 1493 ई. में कोलम्बस को दूसरी बार 17 जहाजों के साथ अमेरिका भेजा गया। परन्तु वह स्पेन के राजकोष को न भर सका और न ही गर्म मसाले, रेशम और विलासिता की सामग्री पहुँचा पाया। दुःख और क्षोभ में 1506 ई. में इस महान् नाविक की मृत्यु हो गई। उसकी खोज का महत्त्व उसकी मृत्यु

के बाद ही स्पष्ट हो पाया और तभी लोगों को अब तक अज्ञात आधी दुनिया की जानकारी मिल पाई। उसकी खोज के कारण उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका की विशाल नयी दुनिया के अन्वेषण और उपनिवेशीकरण का मार्ग प्रशस्त हो गया।

कोलम्बस की साहसिक यात्रा से अन्य लोगों को भी प्रेरणा मिली और वे नई दुनिया के अन्वेषण में लग गये। अमेरिगो वेस्पूची नामक इटालियन ने कोलम्बस के काम को आगे बढ़ाया और उसने यह सिद्ध किया कि नई दुनिया एशिया का भाग न होकर एक अलग दुनिया है। इस पर विद्वानों ने इस नई दुनिया का नाम अमेरिगो के सम्मान में अमेरिका रख दिया। वास्को नूनेज डि बालबोआ नामक साहसिक व्यक्ति सोने की खोज में नई दुनिया के जंगलों और पहाड़ों की खाक छानता हुआ पनामा के आसपास घूमता रहा और दक्षिण सागर का पता लगाया।

परन्तु कोलम्बस के बाद रोमांचक यात्रा करने वाला व्यक्ति फर्डिनांड मेगेल्लन था। उसकी उपलब्धियों का उल्लेख किये बिना भौगोलिक अनुसन्धान का विवरण अधूरा रह जाता है। वह एक पुर्तगाली था परन्तु स्पेन के राजा ने 'मसाले के द्वीपों' का जलमार्ग खोज निकालने के लिए उसे अपने यहाँ नौकर रख लिया था। 1519 ई. में मेगेल्लन पाँच जहाजों और तीन सौ लोगों के साथ स्पेन से रवाना हुआ। स्पेन से वह दक्षिण-पश्चिम और दक्षिणी अमेरिका की दक्षिण नोक को पार कर प्रशान्त महासागर में घुसा। उसकी खाद्य-सामग्री समाप्त हो गई। लकड़ी के ढोलों में सुरक्षित पानी में कीड़े कुलबुलाने लगे। उन लोगों को लकड़ी के बुरादे, समुद्री चूहे तथा पाल के चमड़े के टुकड़े चबा-चबाकर गुजारा करना पड़ा। उनमें से काफी लोग मर गये। किसी तरह मेगेल्लन फिलीपाइन द्वीप पहुँच गया। परन्तु वहाँ के आदिवासियों के साथ उसका झगड़ा हो गया जिसमें मेगेल्लन सहित बहुत से लोग मारे गये। केवल एक जहाज किसी तरह से बच गया जो अफ्रीका का चक्कर लगाकर स्पेन वापस पहुँचा। उस जहाज पर केवल 18 अधमरे नाविक शेष रह गये थे। परन्तु इस यात्रा का अपना विशेष महत्त्व है। यह मानव इतिहास में जलमार्ग द्वारा की गई पृथ्वी की परिक्रमा का पहला प्रयास था। इससे पृथ्वी का आकार और रूप निश्चित रूप से सिद्ध हो गया और यह भी सिद्ध हो गया कि अमेरिका केवल द्वीप मात्र नहीं है और न ही एशिया का भाग है अपितु अपने आप में एक महाद्वीप है।

बाद के अन्वेषकों में पोथे दा ले आन ने फ्लोरिडा की खोज की। हरनांडो कोर्टेज ने मैक्सिको का पता लगाया। उसने मैक्सिको के आदिवासी एज्टेकों को खदेड़कर मैक्सिको पर अधिकार कर लिया और स्वयं प्रशासक बन बैठा। इसके बाद उसने मध्य अमेरिका तथा कैलिफोर्निया की खोज की। पिजारो नामक अन्वेषक ने पेरू पर अधिकार जमा लिया। यहाँ इन्का नामक मूल निवासियों का शासन था। सोटो नामक अन्वेषक ने मिसीसिपी नदी के क्षेत्र की खोज की। ऐसे ही लोगों के माध्यम से स्पेन ने नई दुनिया में अपने साम्राज्य की स्थापना की।

अँग्रेजों की खोजें—भौगोलिक अनुसन्धान के क्षेत्र में अँग्रेजों ने काफी देर से भाग लिया। प्रारम्भ में अँग्रेज नाविक नई दुनिया से स्पेन आने वाले जहाजों को लूटकर धन अर्जित करने लगे। इन साहसिक नाविकों को उस समय के लोग 'समुद्री कुत्ते' (Sea dogs) के नाम से पुकारने लगे थे। इनमें ड्रेक, हाकिन्स, रेले आदि प्रमुख थे। परन्तु इन लोगों के उदय के बहुत पहले इंगलैण्ड के शासक हैनरी सप्तम् ने 1497 ई. में जॉन कैबट नामक एक इटालियन नाविक

को चीन और भारत जाने का मार्ग खोजने के लिए भेजा था। परन्तु कैबट पूर्वी-उत्तरी अमेरिका के तट पर जा पहुँचा और उसने इस द्वीप को 'न्यू फाउण्डलैण्ड' नाम प्रदान किया। लेकिन उस समय कैबट को यह जानकारी नहीं थी कि वह एक नये महाद्वीप तक पहुँच गया है। बाद में कुछ अन्य अँग्रेजी नाविकों ने उत्तरी-पश्चिमी जलमार्ग खोजने का प्रयास किया परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली।

फ्रांसीसी खोजें—फ्रांसीसी भी एशिया के लिए पश्चिमी मार्ग खोजने में रुचि रखते थे। 1524 ई. में फ्रांस के शासक ने बेरात्सोनो नामक एक इटालियन नाविक को इस अभियान पर भेजा। परन्तु वह भी नई दुनिया पहुँच गया और नार्थ कैरालिना से लेकर न्यूयार्क तक के क्षेत्र की खोजबीन की। उसके बाद एक फ्रांसीसी जाक कार्त्या नई दुनिया पहुँचा। उसने सेंट लारेन्स नदी के मार्ग से यात्रा की और एक व्यापारिक चौकी भी कायम की। यही चौकी धीरे-धीरे एक विशाल नगर में परिवर्तित हो गई और आज 'मांट्रियल' नगर के नाम से प्रसिद्ध है। बाद में सामुएल दे शैम्पले ने क्यूबेक पर फ्रांस का अधिकार जमाया। उत्तरी अमेरिका में फ्रांसीसी प्रभुत्व को बढ़ाने में मार्क्वित, जोलिए, ला साले आदि साहसिक अन्वेपकों का विशेष योगदान रहा है।

परिणाम—भौगोलिक अनुसन्धानों ने यूरोपवासियों के कार्यों और चरित्र में महान् परिवर्तन ला दिया। नये देशों से आने वाली धन-सम्पदा ने उन्हें लोभी तथा हिंसक बना दिया। शुरू में यह चन्द व्यक्तियों के एकाधिकार में था। बाद में इस काम को सरकारी नियन्त्रण में ले लिया गया, जिससे यह काम राष्ट्रीय गौरव का प्रतीक बन गया। इसके महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले। एक तरफ तो व्यापार-वाणिज्य का विकास हुआ और दूसरी तरफ उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का प्रसार हुआ जिसके कारण यूरोपीय देशों में आपसी झगड़ों का सूत्रपात हुआ। राजनैतिक और धार्मिक मतभेदों ने उनके बीच विरोध को और बढ़ाया और अब बड़ी नौ सेनाएँ रखना आवश्यक हो गया। दूसरा परिणाम विज्ञान का विकास है। वैज्ञानिक प्रगति से भौगोलिक अनुसन्धान का क्षेत्र भी बढ़ता चला गया। तीसरा; अमेरिका, अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया में यूरोपवासियों ने वहाँ के मूल निवासियों पर बर्बर अत्याचार किये। वहाँ के मूल निवासियों को पकड़कर यूरोप के बाजारों में गुलामों के रूप में बेचा गया। इस प्रकार, दास-व्यापार को बढ़ावा मिला। यूरोपवासियों ने नव-प्राप्त देश की मूल सभ्यता को नष्ट कर दिया और वहाँ ईसाई धर्म तथा पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति का प्रचार किया। भारत एवं चीन जैसे सुसभ्य देशों में व्यापार की ओट में राजनीतिक दाँव-पेंच खेले गये और अन्त में यहाँ भी साम्राज्य का विस्तार किया गया। भौगोलिक अनुसन्धानों ने यूरोप को सम्पूर्ण विश्व का भाग्य-विधाता बना दिया।

पुनर्जागरण के परिणाम और महत्त्व

पुनर्जागरण के परिणाम बहुत ही महत्त्वपूर्ण और दूरगामी सिद्ध हुए। इसके कारण यूरोप के जीवन में आमूल परिवर्तन आ गया। मध्यकालीन मान्यताओं एवं अन्धविश्वासों का अन्त हुआ और आधुनिक युग का आरम्भ हुआ। इसके कुछ महत्त्वपूर्ण परिणाम इस प्रकार थे—

1. विचार स्वातन्त्र्य और वैज्ञानिक दृष्टिकोण—पुनर्जागरण ने लोगों को चिन्तन की स्वतन्त्रता प्रदान की जिससे विचार स्वातन्त्र्य का विकास हुआ। इसके पूर्व लोगों को धर्मशास्त्रों

में जो कुछ सच्चा-झूठा लिखा हुआ था अथवा धर्माधिकारी लोग जो कुछ बतलाते थे, उसे सत्य मानना पड़ता था। उन्हें स्वतन्त्रतापूर्वक चिन्तन एवं विचार करने की सुविधा अथवा छूट नहीं थी। इससे लोगों की बुद्धि कुण्ठित हो गई और प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो गया। पुनर्जागरणकाल में तर्क का महत्त्व बढ़ा। जो वस्तु तर्क एवं विवेक की कसौटी पर खरी उतरे, उसी में विश्वास करने की प्रवृत्ति बढ़ी। इसी से वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हुआ जिसमें निरीक्षण, अन्वेषण, जाँच और परीक्षण पर जोर दिया गया। इससे लोग सत्य को पहचानने में समर्थ हुए।

2. भौतिकवादी दृष्टिकोण का विकास—तर्क और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के द्वारा मनुष्य प्रकृति के रहस्यों को समझने में सफल हुआ। प्रकृति में विद्यमान शक्ति का उपयोग मानव जीवन को सुखी एवं सम्पन्न बनाने के लिए किया जाने लगा। अब धर्म और देवताओं से ध्यान हट गया। मानव जीवन का महत्त्व बढ़ गया। पुनर्जागरण काल के विद्वान् एवं वैज्ञानिक मानववादी थे। उनकी मनोवृत्ति विवेचनात्मक थी। अब इस मानव संसार को अधिक सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया जाने लगा। परिणामस्वरूप अधिक आकर्षक नगरों और सुविधाजनक तथा आरामदेह घरों का निर्माण किया जाने लगा। सार्वजनिक मनोरंजन के स्थान बनने लगे। रहन-सहन और खान-पान का स्तर बढ़ा। स्त्रियों का जीवन भी अधिक सुखी और आकर्षक बन गया। उन्हें भी अब पढ़ने-लिखने का अवसर मिला। इस प्रकार, भौतिकवादी दृष्टिकोण के विकास ने आधुनिक-युग की नींव रखी।

3. राष्ट्रीयता का विकास—पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति का जो सिलसिला शुरू हुआ उससे लोगों में राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ। लोगों में अपने-अपने राष्ट्र की प्रगति और शक्ति के विकास में रुचि बढ़ने लगी। देशज भाषाओं के विकास ने राष्ट्रीयता को आगे बढ़ाने में और भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इन भाषाओं के अभ्युदय ने प्रान्तीयता की भावना को प्रभावहीन बनाने में भी सक्रिय सहयोग दिया। व्यापार-वाणिज्य के विकास तथा उपनिवेशों की स्थापना और साम्राज्यवादी विस्तार ने राष्ट्रीयता की भावना को और भी मजबूत बना दिया। अब प्रत्येक राष्ट्र के निवासी अपने राष्ट्र को अधिक समृद्ध और शक्तिसम्पन्न बनाने की दिशा में प्रयत्नशील हुए।

4. धर्म-सुधार की पृष्ठभूमि का निर्माण—पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप जो बौद्धिक विकास हुआ उसका सर्वाधिक प्रभाव धार्मिक क्षेत्र पर पड़ा। धर्मयुद्धों ने पोप की सत्ता और प्रभाव को पहले ही प्रबल आघात पहुँचा दिया था। पुनर्जागरण काल की नई खोजों तथा वैज्ञानिक सिद्धान्तों ने प्राचीन धर्मग्रन्थों के बहुत से सिद्धान्तों और परम्परागत धार्मिक विश्वासों को भी हिला दिया जिससे लोगों को धार्मिक बन्धनों से मुक्त होने का अवसर मिला। नवयुग की नवीन विचारधारा से प्रेरित लोगों ने धर्म के क्षेत्र में व्यापक स्वेच्छाचारिता एवं कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठानी शुरू कर दी। कागज और मुद्रण के कारण धर्म का गूढ़ ज्ञान जो अब तक केवल कुछ व्यक्तियों के मस्तिष्क में ही समाया हुआ था, अब सर्वसाधारण की पहुँच में आ गया था। बाइबिल एवं अन्य धार्मिक ग्रन्थों का लोकभाषाओं में अनुवाद किया गया, जिसके परिणामस्वरूप अनेक आडम्बरों तथा मिथ्या विश्वासों से लोगों का विश्वास उठ गया और वे सुधारों की माँग करने लगे। इससे धर्म-सुधार आन्दोलन को बहुत बल मिला। वस्तुतः धर्म-सुधार आन्दोलन पुनर्जागरण की देन था।

5. उन्नत पाठ्यक्रम—पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। यूनानी और लेटिन भाषाओं के अध्ययन को अब प्रमुख स्थान दिया जाने लगा। तब से लेकर आज तक सीजर, सिसरो, वर्जिल, होमर, शेक्सपियर, अरस्तू आदि विद्वानों की रचनाओं का गम्भीर अध्ययन-अध्यापन चला आ रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में आत्म-निरोध के स्थान पर आत्म-उद्‌गार के आदर्श को स्वीकार किया गया। विज्ञान एवं गणित के अध्ययन-अध्यापन के साथ सामाजिक विज्ञान के विषयों पर भी पर्याप्त जोर दिया जाने लगा।

6. अन्य परिणाम—पुनर्जागरण ने यूरोप के लोगों में प्राचीन संसार के प्रति जिज्ञासा की भावना उत्पन्न की। धार्मिक अन्धविश्वासों के स्थान पर तर्क और बुद्धि को प्रोत्साहित किया। इससे मानव जीवन पर अब धर्म का उतना प्रभाव नहीं रहा जितना कि मध्य काल में था। पुनर्जागरण का एक परिणाम देशज भाषाओं एवं उनके साहित्य के विकास के रूप में सामने आया। पुनर्जागरण ने इतिहास के अध्ययन को भी प्रभावित किया। अब इतिहास का वैज्ञानिक ढँग से अध्ययन किया जाने लगा। कला-कौशल की उन्नति में भी पुनर्जागरण का सहयोग रहा। औद्योगिक क्रान्ति की पृष्ठभूमि का निर्माण करने का श्रेय भी पुनर्जागरण को ही है। भौगोलिक अनुसन्धानों के परिणामस्वरूप मानव की भौगोलिक ज़ानकारी का अभूतपूर्व विस्तार हुआ। अमेरिका, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया जैसे महाद्वीप जो अब तक अज्ञात थे, अब प्रकाश में आ गये और उन महाद्वीपों पर नयी बस्तियाँ तथा उपनिवेश कायम किये गये। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-वाणिज्य तथा उद्योग-धन्धों का विकास हुआ और बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पुनर्जागरण एक उदार सांस्कृतिक आन्दोलन था जिसने विज्ञान, व्यवसाय, धर्म और शासन में बड़े परिवर्तनों के लिए मार्ग तैयार किया। इस मार्ग पर चलकर ही मानव अपनी आधुनिक सभ्यता एवं संस्कृति का निर्माण करने में सफल हो पाया। इस दृष्टि से मानव सभ्यता के इतिहास में पुनर्जागरण का एक विशेष महत्त्व है। मानव सभ्यता के इतिहास में यह एक मोड़ बिन्दु सिद्ध हुआ।

प्रश्न

1 पुनर्जागरण का अर्थ एवं इसकी विशेषताएँ समझाइए तथा इसके लिए उत्तरदायी कारणों की व्याख्या कीजिए।
2. पुनर्जागरण इटली से ही क्यों प्रारम्भ हुआ ? इसके लिए उत्तरदायी परिस्थितियों का उल्लेख कीजिये।
3. साहित्य कला और विज्ञान के क्षेत्र में पुनर्जागरण की उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिये।
4. पुनर्जागरण के परिणामों की समीक्षा कीजिये।
5. भौगोलिक खोजों के कारणों एवं परिणामों का उल्लेख कीजिये तथा मुख्य खोजों का विवरण दीजिये।
6. मानववाद से आप क्या समझते हैं ? इस विचारधारा की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।

अध्याय-2

धर्म सुधार आन्दोलन
(Religious Reformation)

सोलहवीं सदी के आरम्भ में कैथोलिक चर्च—सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में लिथुआनिया से आयरलैण्ड और नार्वे तथा फिनलैण्ड से लेकर पुर्तगाल और हंगरी तक सम्पूर्ण पश्चिमी और मध्य यूरोप में कैथोलिक ईसाई चर्च का एक विशिष्ट महत्त्वपूर्ण स्थान था। प्रत्येक राज्य चर्च का समर्थक था और चर्च पर अँगुली उठाने वाले को राज्यों की ओर से उचित सजा दी जाती थी। चर्च ईसाई धर्म के परम्परागत विश्वासों तथा निष्ठा का प्रतीक समझा जाता था। वह धार्मिक संस्कारों तथा नैतिक मापदण्डों का संरक्षक माना जाता था।

चर्च के संगठनात्मक ढाँचे के सबसे ऊपर रोम का बिशप था, जिसे 'पोप' के नाम से पुकारा जाता था। उसका निर्वाचन जीवन भर के लिए कुछ खास पादरियों द्वारा किया जाता था, जिन्हें 'कार्डिनल' कहा जाता था। पोप चर्च का सर्वोच्च नियम-निर्माता, सर्वोच्च न्यायाधीश और चर्च की सम्पूर्ण गतिविधियों तथा वित्त-व्यवस्था का सर्वोच्च प्रशासक था। अपने विशिष्ट धार्मिक कार्यों के अलावा वह अन्य क्षेत्रों में भी विशेषाधिकार रखता था अथवा रखने का दावा करता था। वह रोम नगर और उसके आसपास की 'पेपल स्टेट्स' का शासक था। वह यूरोप के किसी भी ईसाई राज्य के शासक को पदच्युत करने की सत्ता रखता था और मध्य युग में कुछ पोपों ने इस अधिकार का प्रयोग भी किया था। वह किसी भी ईसाई देश के किसी भी ऐसे सिविल कानून को जो उसकी निगाह में अनुचित हो, रद्द कर सकता था। वह तमाम ईसाई भूमि से कर वसूल करता था और विवाह, तलाक, वसीयत, उत्तराधिकार सम्बन्धी कई वैधानिक मामले अन्तिम निर्णय के लिए उसके दरबार में प्रस्तुत किये जाते थे।

मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में कैथोलिक चर्च को भी कुछ समस्याओं का सामना करना पड़ा। कुछ लोगों—जिन्हें 'धर्मद्रोही' कहकर पुकारा गया था—ने चर्च की कुछ खास शिक्षाओं को चुनौती देना शुरू कर दिया था और उनके स्थान पर दूसरी बातों को मानना शुरू कर दिया गया। अधिकांश धर्मद्रोहियों को समझा-बुझाकर अथवा अन्य दबाव डाल कर चुप कर दिया गया और कुछ अधिक हठी लोगों को मौत की सजा देकर शान्त कर दिया गया। चर्च के निम्न पदाधिकारियों के आलसी तथा भ्रष्ट बन जाने से भी चर्च के सामने संकट उठ खड़ा हुआ था परन्तु आन्तरिक सुधारों के द्वारा जैसे-तैसे इस संकट से भी निपट लिया गया। 1378 से 1417 ई. के मध्य चर्च

को आन्तरिक विघटन का भी सामना करना पड़ा, जबकि एक पोप पद के लिए दो व्यक्ति अपने-अपने को पोप कहते रहे। कौन्सिल आन्दोलन ने पोप की असीम सत्ता का जबरदस्त विरोध किया और कई प्रमुख विद्वानों तथा विशपों ने यह मत प्रस्तुत किया कि सम्पूर्ण ईसाई जगत् के प्रतिनिधियों के अधिकार पोप के अधिकारों से सर्वोच्च माने जाने चाहिए। परन्तु चर्च इस संकट से भी बच गया।

परन्तु चर्च के भीतर सभी कुछ ठीक नहीं था और कई ऐसी बातें थीं जिनसे निष्ठावान् ईसाई भी अत्यधिक क्षुब्ध थे। पन्द्रहवीं सदी के कुछ पोप अधिक सांसारिक निकले। उनमें से एक, अलेक्जेण्डर षष्ठ (1491-1503) अपने विलासी तथा भ्रष्ट जीवन के लिए अधिक कुख्यात हो गया था। वह अपने महत्त्वाकांक्षी लड़के सीजर बोरगिया और बदचलन लड़की के लिए नाना प्रकार की योजनाएँ बनाता रहता था। रोम में जिस अनैतिकता और सांसारिकता का बोलबाला था उसकी झलक अन्य क्षेत्रों में भी दिखाई देने लग गई थी। कुछ बिशपों, एबाटों और पादरियों ने तो अपने कर्त्तव्य को निभाना ही बन्द कर दिया था। कुछ धनी और आलसी बन गये थे। कुछ भोग-विलास में लिप्त होने लगे। कुछ अज्ञानी अथवा पापी थे। ऐसे लोगों की संख्या यद्यपि कम थी, फिर भी वे शीघ्र ही सभी की चर्चा का विषय बन गये। चर्च की वित्तीय व्यवस्था को लेकर भी भारी असन्तोष था। ऐसी स्थिति में यूरोप में धर्म सुधार आन्दोलन का सूत्रपात हुआ।

धर्म सुधार आन्दोलन का अर्थ—से. तोकारेव के शब्दों में, "16वीं शताब्दी के आरम्भ में मध्य और उत्तरी यूरोप के देशों में सामन्तवाद और उसकी धार्मिक अभिव्यक्ति कैथोलिक मत के विरुद्ध, पोप के कार्यालय की निरंकुशता तथा धौंस के विरुद्ध एक आन्दोलन शुरू हुआ, जो अपने सार की दृष्टि से बुर्जुआ आन्दोलन था। इसे धर्म सुधार आन्दोलन कहा जाता है।" इतिहासकार डी.जे. हिल के शब्दों में, "धर्म सुधार आन्दोलन, धार्मिक भ्रष्टाचारों की उपस्थिति के कारण जो कि अब अधिक सहन नहीं किये जा सकते थे, जर्मन मस्तिष्क एवं प्रकृति के संविधान की तर्कसंगत एवं आवश्यक उपज थी।" ईसाई धर्म के विभाजन की कहानी बहुत पुरानी है। शुरू में, ईसाई धर्म दो प्रमुख शाखाओं—रोमन कैथोलिक चर्च और ओर्थोडक्स चर्च में विभाजित हो गया था। यूरोप में रूस तथा बाल्कन प्रायद्वीप को छोड़कर अन्य सभी देशों में रोमन कैथोलिक चर्च का प्रभाव एवं नियन्त्रण कायम हो गया। यह प्रभाव कई शताब्दियों तक कायम रहा और जैसा कि बताया जा चुका है कि मध्य युग में चर्च धर्म-विरोधी बातों को समाप्त करने में समर्थ रहा। परन्तु सोलहवीं सदी में जब चर्च की कुछ धार्मिक बातों एवं विचारों के विरुद्ध जबरदस्त विद्रोह उठ खड़ा हुआ तो चर्च न तो इसे दबाने में समर्थ रहा और न ही विद्रोहियों की माँग पूरी कर पाया। दूसरी तरफ, सुधारकों अथवा विद्रोहियों ने भी अपने धार्मिक विश्वासों को छोड़ना उचित नहीं समझा और उन्होंने रोमन चर्च का परित्याग कर अपने निजी चर्च की स्थापना करना अधिक उचित समझा। इस प्रकार कैथोलिक चर्च का विभाजन हो गया। धर्म के क्षेत्र में यह जो जन आन्दोलन चला, उसे अँग्रेजी भाषा में 'रिफारमेशन' कहते हैं। चूँकि आन्दोलनकारियों ने कैथोलिक चर्च का प्रोटेस्ट (विरोध) किया था, अतः उनके द्वारा स्थापित नया धर्म 'प्रोटेस्टेण्ट धर्म' के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ। इसी नाम के कारण यह आन्दोलन 'प्रोटेस्टेण्ट क्रान्ति' के नाम से भी पुकारा जाता है। इस आन्दोलन का प्रारम्भिक ध्येय कैथोलिक चर्च में विद्यमान भ्रष्टाचार को दूर करके धर्म में सुधार करना था। परन्तु बाद में इसका प्रारम्भिक ध्येय बदल गया और सुधार

के स्थान पर एक नये धर्म की स्थापना हुई और यूरोप के इतिहास में यह घटना धर्म सुधार आन्दोलन के नाम से प्रसिद्ध हुई।

आन्दोलन के कारण—इस सुधार आन्दोलन के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—

1. पुनर्जागरण का प्रभाव—बौद्धिक पुनर्जागरण ने यूरोपवासियों की मध्ययुगीन मान्यताओं, जो धर्म के अन्धविश्वासी बन्धनों में जकड़ी हुई थीं, को समाप्त कर दिया और उन्हें एक स्वतन्त्र एवं निडर विचारधारा प्रदान की, जिसके फलस्वरूप वे धर्म का सही रूप समझने में सफल हुए। पुनर्जागरण ने व्यक्ति तथा इस संसार को समझने वाली शिक्षा का प्रचार किया और आलोचना तथा जाँच की आवश्यकता पर जोर दिया। इससे शताब्दियों से स्थापित विश्वासों की नींव हिलने लग गई। धर्मसुधारकों ने रोमन चर्च के सिद्धान्तों एवं अनुशासन के बारे में भी आलोचना एवं विचार-विमर्श करने की आवश्यकता पर जोर दिया। पुनर्जागरण ने मध्ययुगीन धार्मिक पद्धति से दी जाने वाली स्कूली शिक्षा पर भी घातक प्रहार किया। यूनानी एवं लेटिन के अध्ययन एवं प्राचीन तथा नवीन टेस्टामेंट (बाइबिल) की आलोचना प्रक्रिया तथा मुद्रणालय के द्वारा धर्म के गूढ़ तत्त्व सर्वसाधारण तक पहुँचने लगे और इस प्रकार के साहित्य के प्रचार ने सुधार आन्दोलन की गति को उत्साहित एवं प्रेरित किया।

2. चर्च की आन्तरिक कमजोरियाँ—रोमन चर्च की आन्तरिक कमजोरियाँ सुधारवादी आन्दोलन की प्रमुख आधारशिला थी। 1378 ई. में पोप ग्रेगरी की मृत्यु के बाद पोप पद को लेकर रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय में जो महान् मतभेद उत्पन्न हुआ उससे पोप पद की प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुँचा। ग्रेगरी की मृत्यु के बाद कार्डिनलों ने उरबन षष्ठ को पोप चुना, परन्तु उसके क्रूर तथा बुद्धिहीन कृत्यों ने कार्डिनलों को असन्तुष्ट बना दिया और फ्रांसीसी कार्डिनल रोम से भागकर नेपल्स चले गये और उन्होंने क्लीमेण्ट सप्तम् को नया पोप चुना। इस प्रकार अब दो पोप हो गये। उरबन का केन्द्र रोम था और क्लीमेण्ट का फ्रांस में एविगन था। एक को रोमन पदाधिकारियों, इंगलैण्ड, फ्लैण्डर्स, स्केण्डेनेवियन देशों का समर्थन प्राप्त था, तो दूसरे को फ्रांस और फ्रांस के मित्र देशों—स्पेन, नेपल्स, सिसली, स्काटलैण्ड आदि का समर्थन प्राप्त था। सम्पूर्ण यूरोप दो खेमों में बँट गया और अब किसी भी पोप का कैथोलिक जगत् पर एकाधिकार नहीं रहा। यह स्थिति 1417 ई. तक जारी रही। अन्त में मार्टिन पंचम को सर्वसम्मति से पोप चुना गया और महान् मतभेद का युग समाप्त हुआ। परन्तु पोप पद के लिए होने वाले इस संघर्ष ने जनता के मन में पोप के प्रति विद्यमान श्रद्धा एवं निष्ठा को कम कर दिया, क्योंकि अब तक सामान्य जनता पोप को धरती पर ईश्वर का प्रतिनिधि समझती थी। अब बहुत से लोग यह सोचने लगे कि पोप धरती पर ईश्वर के प्रतिनिधि कैसे हो सकते हैं, जबकि उनका निर्वाचन फ्रांसीसी राजा करा सकते हैं।

तत्कालीन विद्वानों द्वारा चर्च और उसके क्रिया-कलापों की कटु आलोचना ने चर्च की कमजोरी को और अधिक उजागर कर दिया। पुनर्जागरण तथा मुद्रण यन्त्रों के आविष्कार से अब बहुत से लोग पढ़ना सीख गये थे और वे रुचिपूर्वक चर्च की आलोचना तथा बुराइयों के प्रति अपना विचार व्यक्त करने लगे। इस प्रकार के विचारों में चर्च के प्रति शंका की भावना अधिक थी। इसके विपरीत बहुत से पादरी अशिक्षित तथा अज्ञानी थे और उन्हें धर्म के गूढ़ तत्त्वों के

बारे में कुछ भी ज्ञान न था, जबकि सर्वसाधारण अपनी धार्मिक जिज्ञासा को शान्त करने का इच्छुक था। ऐसी स्थिति में सर्वसाधारण के मन में धर्म के इन अज्ञानी प्रतिनिधियों के विरुद्ध विद्रोह की ज्वाला सुलगने लगी।

विद्रोह का एक अन्य कारण पोप तथा उसके अधिकारियों की शान-शौकत तथा विलासी जीवन था। कुछ प्रमुख धर्माधिकारियों के अवैधानिक (औरस) पुत्र-पुत्रियों की समस्या ने यूरोप में अशान्त वातावरण उत्पन्न कर दिया था। बहुत से धर्माधिकारियों ने तो अपने धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन करना ही बन्द कर दिया था। इंगलैण्ड, जर्मनी, फ्रांस तथा अन्य देशों में नियुक्त धर्माधिकारियों में से अधिकांश इटालियन थे और वे इटली में ही रहना अधिक पसन्द करते थे और धार्मिक अनुष्ठानों को करने के लिए अपने कार्यक्षेत्र में भी नहीं जाते थे, जबकि उन्हें अपना पद सम्बन्धी धन अपने कार्यक्षेत्र से मिलता था। इससे लोगों में यह विचार उठने लगा कि जब ये लोग अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते तो इन लोगों की शान-शौकत पर हमारा धन क्यों व्यंय किया जाय ? कुछ प्रगतिशील पादरियों के सहयोग से फ्लोरेन्स आदि नगरों में राष्ट्रीय तथा स्थानीय देशभक्तों का प्रादुर्भाव हुआ और यहाँ के निवासी रोम के पोप के प्रभुत्व से मुक्त होने का प्रयास करने लगे। इससे अन्य देशों के लोग भी प्रभावित हुए।

चर्च में विद्यमान भ्रष्टाचार को रोकने के लिए कई वर्ष पहले भी कुछ धर्मनिष्ठ लोगों ने धर्मगुरु पोप तथा अन्य धार्मिक नेताओं का ध्यान आकर्पित करने का प्रयत्न किया था और सुधारों की माँग की थी। इंगलैण्ड के वाइक्लिफ ने पादरियों के शान-शौकत तथा विलासी जीवन के विरुद्ध आवाज उठाई। बोहेमिया के जान हस ने गलत गतिविधियों की आलोचना की। परन्तु दोनों को दण्ड दिया गया। पन्द्रहवीं सदी में कौंसिलर आन्दोलन हुआ, जिसने चर्च में आन्तरिक सुधारों की योजना तैयार की। परन्तु पोप के व्यक्तिगत हस्तक्षेप के कारण यह योजना भी असफल रही। बाद में इरेस्मस जैसे विद्वानों ने चर्च के क्रिया-कलापों में सुधार की आवश्यकता पर जोर दिया। इस प्रकार, सोहलवीं सदी के प्रारम्भ में धर्म सुधार की अत्यधिक आवश्यकता अनुभव की जा रही थी और सुधार आन्दोलन की पृष्ठभूमि मजबूत बन चुकी थी।

3. राजनीतिक कारण—धर्म सुधार आन्दोलन का एक प्रमुख कारण पोप का राजनीतिक प्रभाव था। पोप रोम नगर तथा उसके आस-पास की 'पेपल स्टेट्स' का शासक था। यूरोप के राजाओं का राज्याभिपेक भी पोप या उसके प्रतिनिधि के द्वारा अथवा पोप की स्वीकृति से किया जाता था। पोप को राज्यों के घरेलू तथा वैदेशिक मामलों में हस्तक्षेप करने का भी अधिकार था। पोप अपने आदेश द्वारा किसी कैथोलिक शासक को धर्म से बहिष्कृत कर सकता था और उस शासक की प्रजा को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का आदेश भी दे सकता था। पोप को यूरोपीय राज्यों से कर वसूल करने का भी अधिकार था। इस प्रकार, पोप के पास असीमित राजनीतिक अधिकार थे। दूसरी तरफ, सोलहवीं सदी में यूरोप में राष्ट्रीय राज्यों और निरंकुश राजतन्त्रों का उत्थान हो चुका था और राजाओं की शक्ति काफी सबल हो चुकी थी। राजा लोगों को पोप की राजनीतिक प्रभुता पसन्द न थी, क्योंकि इससे उनकी सम्प्रभुता को चोट पहुँचती थी। अतः वे लोग पोप के प्रभाव से मुक्त होना चाहते थे। इसलिए दोनों में संघर्ष होना स्वाभाविक एवं अनिवार्य था। रोम का पोप यूरोप के समस्त कैथोलिक देशों के चर्चों का प्रधान था और इस

हैसियत से उन देशों के चर्चों के अधिकारियों को नियुक्त करना उसके अधिकार की बात थी। यही बात राजाओं को अखरती थी क्योंकि वे लोग अपने-अपने राज्य में अपनी सत्ता को सर्वोपरि मानते थे। वे चाहते थे कि उनके देश के चर्च के अधिकारियों को नियुक्त करने का अधिकार उन्हीं में निहित होना चाहिए। इसके पीछे एक महत्त्वपूर्ण कारण भी था। प्रायः पोप राजाओं को तंग करने की दृष्टि से भी राजाओं के विरोधियों को ऐसे पदों पर नियुक्त कर देता था। धर्माधिकारियों और राजाओं के आपसी विवाद से कई प्रकार की समस्यायें उत्पन्न हो जाती थीं, जिनके समाधान के लिए फिर राजाओं को पोप की शरण लेनी पड़ती थी। यही कारण है कि शासकों तथा उनकी प्रजा के लोगों ने अन्तर्राष्ट्रीय ईसाइयत का विरोध किया। वे एक ऐसी ईसाइयत चाहते थे जो किसी विदेशी पोप के प्रति निष्ठावान् न हो।

पोप और राजाओं के मध्य संघर्ष का दूसरा कारण चर्च के न्यायालय थे। सामन्ती युग के प्रारम्भ में जब रोमन न्यायालय और नियम लुप्त होने लगे तब चर्च ने लोगों को न्याय प्रदान करने के लिए अपने न्यायालय स्थापित किये। पुनर्जागरण तथा राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना के बाद भी इन न्यायालयों का अस्तित्व बना हुआ था और कई मामलों—विवाह, तलाक, उत्तराधिकार आदि का फैसला चर्च के न्यायालय ही करते थे। राजाओं को यह बात पसन्द न थी। वे अपने न्यायालयों का महत्त्व कायम करना चाहते थे। क्योंकि कई बार धार्मिक न्यायालयों के निर्णयों और राजकीय न्यायालयों के निर्णयों में आपस में टक्कर हो जाती थी और तब स्थिति विचित्र बन जाती थी कि किसके निर्णय को सही माना जाये ? जहाँ तक सामान्य लोगों का सवाल है, उन्हें धार्मिक न्यायालयों में अब विश्वास नहीं रहा था, क्योंकि वे न्यायालय घूस तथा भ्रष्टाचार के केन्द्र बने हुए थे। अतः जनता की सहानुभूति भी राजाओं के साथ थी।

कुछ विद्वानों का मानना है कि पोप तथा राजाओं के संघर्ष का मुख्य कारण चर्च की धन-सम्पदा पर राजाओं की कुदृष्टि थी। चर्च के पास बहुत भूमि थी और उसे इस भूमि की उपज तथा आय पर किसी प्रकार का कर नहीं देना पड़ता था। इसके अतिरिक्त, चर्च नागरिकों से धार्मिक कर भी वसूल करता था। धार्मिक न्यायालयों से भी चर्च को आय होती थी। कुल मिलाकर, चर्च काफी समृद्ध था और उसके पदाधिकारी भोग-विलास तथा ऐश्वर्य का जीवन बिताते थे। दूसरी तरफ, राजाओं को प्रशासन-व्यवस्था का खर्च चलाने तथा सैनिक शक्ति को सबल बनाने के लिए धन की सख्त आवश्यकता थी। अतः वे लोग चर्च की भूमि तथा आय पर कर लगाना चाहते थे। इस प्रकार दोनों में संघर्ष अनिवार्य था। शासकों ने पोप के प्रभाव को समाप्त करने की दृष्टि से पोप के विरोधियों को गुप्त सहायता एवं संरक्षण देना शुरू कर दिया। यदि राजा लोग सुधारवादियों को सहयोग न देते तो सुधारवादी आन्दोलन इस सीमा तक कभी सफल नहीं हो पाता। डी.जे. हिल ने लिखा है कि, "यदि प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन केवल धार्मिक आन्दोलन ही होता तो यह अपने सृजनकर्त्ताओं के जीवनकाल तक भी न पनप पाता। जिस वस्तु ने इसे सफल बनाया, वह थी इसके राजनीतिक उद्देश्य तथा प्रभाव और विशेषकर कूटनीति।" हमें मालूम है कि लूथर के पूर्वाधिकारी सुधारकों को शासकों का सहयोग प्राप्त न होने से अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। परन्तु चूँकि लूथर को राजाओं का सहयोग प्राप्त हो गया था, अतः वह पोप के दण्ड से बच गया।

4.. आर्थिक कारण—पुनर्जागरण काल में वाणिज्य का प्रसार हुआ, नगरों का विकास और धन में वृद्धि हुई, जिससे चर्च और उसकी शिक्षाओं के प्रति बहुत से लोगों की विचारधारा में परिवर्तन आ गया। चर्च आध्यात्मिक गुणों और पारलौकिक जीवन के लिए तैयारी करने पर जोर देता था। परन्तु जो लोग समृद्ध बन गये थे अथवा समृद्ध वन जाने का विश्वास रखते थे, वे इस संसार में आराम का जीवन बिताना चाहते थे। ऐसे लोगों के अलावा व्यापारियों को भी चर्च के अधिकारियों तथा चर्च के नियमों से बहुत-सी शिकायतें थीं। व्यापारी लोग काफी संकटों का सामना करते हुए दूर-दूर देशों की यात्रा करते थे और व्यापार-वाणिज्य के द्वारा पूँजी अर्जित करके जब स्वदेश लौटते थे तो उनकी आय का एक बहुत बड़ा भाग चर्च की नजर हो जाता था। शासक लोक व्यापारियों की मदद करने में असमर्थ थे, क्योंकि उनके पास शक्ति का अभाव था। अतः व्यापारी वर्ग ने शासकों को आर्थिक सहयोग देकर उन्हें सबल बनाया। व्यापारियों के विरोध का एक अन्य कारण यह भी था कि चर्च कर्ज लेने और सूद पर कर्ज देने के विरुद्ध था। परन्तु व्यापार-वाणिज्य के विकास के साथ-साथ सूद पर कर्ज लेना आवश्यक हो गया था।

5. अन्य कारण—धर्म सुधार आन्दोलन के लिए अन्य वहुत से कारण भी उत्तरदायी थे, जिनका उल्लेख इस स्थान पर करना सम्भव नहीं है। फिर भी एक-दो का उल्लेख किया जा सकता है। रोम के धार्मिक न्यायालयों में अपीलों की सुनवाई एवं उनके निर्णयों का खुलेआम क्रय-विक्रय होता था। यह आन्दोलन का एक कारण वन गया, क्योंकि इस प्रकार की व्यवस्था में निर्धन लोगों को न्याय नहीं मिल पाता था और पूँजीपति लोग अपने धन के बल पर अपने अनुकूल न्याय पाने में सफल हो जाते थे। एक अन्य कारण चर्च के बड़े-बड़े पदों का बेचा जाना था, अर्थात् स्वयं पोप अधिक धन देने वाले व्यक्ति को ही किसी उच्च पद पर नियुक्त करता था। परिणामस्वरूप समृद्ध परिवारों के सदस्य चर्च के बड़े-बड़े पदों पर आसीन हो जाते थे और अपने पद के प्रभाव से अपने परिवार को लाभ पहुँचाने का काम किया करते थे। इससे बहुत से लोगों में भारी असन्तोष फैला हुआ था। इसी प्रकार, एक अन्य कारण पादरी लोगों द्वारा अपने यजमानों को मनमाना धर्म सिखाना और उनसे अपनी इच्छानुसार द्रव्य वसूल करना था। यह बात सर्वसाधारण को वहुत खटकती थी।

6. तत्कालीन कारण—धर्म सुधार आन्दोलन का तत्कालीन कारण मार्टिन लूथर द्वारा 'इंडलजेन्स' (पाप-विमोचन-पत्र) का विरोध करना था। इंडलजेन्स एक ऐसा मुक्ति-पत्र था जिसको धन के बदले खरीदा जा सकता था और इस पत्र को खरीदने वालों के लिए पोप का यह आश्वासन होता था कि उनके पाप धुल जायेंगे। इसका विस्तृत विवरण आगे दिया गया है।

धर्म सुधार के अग्रदूत

1. वाइक्लिफ (1320-1384) – जॉन वाइक्लिफ एक अँग्रेज विद्वान् तथा ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का एक प्राध्यापक था। उसने कैथोलिक धर्म के बहुत से उपदेशों तथा चर्च के क्रिया-कलापों की आलोचना की। उसने घोषित किया कि, "पोप पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं है तथा भ्रष्ट एवं विवेकहीन पादरियों द्वारा दिये जाने वाले धार्मिक उपदेश व्यर्थ हैं।" उसका कहना था कि प्रत्येक ईसाई को बाइबिल के सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करना चाहिए और इसके

लिए चर्च या पादरियों के मार्ग-निदेशन की आवश्यकता नहीं है। उसने यह भी माँग की कि चर्च की विपुल धन-सम्पत्ति पर राज्य को अधिकार कर लेना चाहिए। उसके विचार क्रान्तिकारी थे, जिन्हें रूढ़िवादी धर्माधिकारी सहन नहीं कर पाये। धर्माधिकारियों और शिक्षा-शास्त्रियों—दोनों ने ही उस पर 'धर्मद्रोह' का आरोप लगाया, परन्तु सामान्य जनता में वाइक्लिफ की लोकप्रियता से डर कर वे उसके विरुद्ध कोई सख्त कार्यवाही नहीं कर पाये। बाद में वाइक्लिफ ने भी सार्वजनिक रूप से अपने विचारों को व्यक्त न करने का आश्वासन दे दिया। उसने विश्वविद्यालय से त्याग-पत्र दे दिया और सम्मान सहित मृत्यु को प्राप्त हुआ। परन्तु बाद में चर्च के अधिकारियों ने उसकी लाश को कब्रिस्तान से निकलवा कर गन्दी जगह फिंकवा दिया। इस पर भी वाइक्लिफ के विचार पूर्णतया समाप्त नहीं हुए। उसके अनुयायी, जिन्हें 'लोलार्डस' कहा जाता था, ने उसके विचारों का प्रचार जारी रखा। चर्च ने उन पर घोर अत्याचार किये तथा उनके विरुद्ध कड़े कानून बनाये गये। उनमें से बहुतों को फाँसी दी गई और कइयों को जिन्दा जला दिया गया।

2. जॉन हस (1369-1415) – जॉन हस बोहेमिया का निवासी था और वह प्राग विश्वविद्यालय का प्राध्यापक था। उसके विचारों पर वाइक्लिफ का गहरा प्रभाव था। उसने वाइक्लिफ के विचारों का प्रचार किया। यद्यपि कुछ बातों में वह वाइक्लिफ से भिन्न विचार रखता था परन्तु वह उसकी इस बात से सहमत था कि एक सामान्य ईसाई बाइबिल के अध्ययन से ही मुक्ति का मार्ग ढूँढ सकता है और इसके लिए चर्च अथवा धर्माधिकारियों के सहयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। बोहेमिया के लोगों पर जॉन हस के विचारों का जबरदस्त प्रभाव पड़ा। 1414 ई. में जॉन हस को चर्च की महान् परिषद् के सन्मुख अपने विचारों को पुष्ट करने के लिए बुलाया गया। यद्यपि सम्राट की ओर से जॉन हस को शारीरिक सुरक्षा का वचन दिया गया था, फिर भी उसे गिरफ्तार कर लिया गया और चर्च की निन्दा तथा नास्तिकता का प्रचार करने के आरोप में उसे जिन्दा जला दिया गया। उसकी मृत्यु ने सम्पूर्ण बोहेमिया प्रान्त में सशस्त्र विद्रोह को जन्म दिया। इसके पीछे राजनीतिक कारण भी था। बोहेमिया के चेक लोग जर्मन प्रभुत्व से मुक्त होना चाहते थे। परिणामस्वरूप दोनों पक्षों में कई वर्षों तक भयंकर संघर्ष चलता रहा। इस संघर्ष में पोप, पवित्र रोमन सम्राट और जर्मन एक तरफ थे और चेक लोग दूसरी तरफ। अन्त में 1436 ई. में पोप ने हस के अनुयायियों के साथ समझौता कर लिया। उसने लेटिन चर्च के ऊपर किये गये बहुत से आक्षेपों को स्वीकार कर लिया तथा उन्हें दूर करने का वचन दिया।

3. सेवोनारोला (1452-1498) – सेवोनारोला फ्लोरेन्स नगर का एक विद्वान् पादरी तथा राजनीतिज्ञ था। उसने लोगों में नये विचारों का प्रचार किया और अपने जोशीले भाषणों से वह शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया। उसने मौजूदा नैतिकता तथा राजनीति—दोनों की कटु आलोचना की। लोरेंजो की मृत्यु के बाद फ्लोरेन्स नगर पर सेवोनारोला का वास्तविक शासन कायम हो गया। अब उसने चर्च के भ्रष्ट नियमों एवं क्रिया-कलापों में सुधार करने पर जोर दिया। पोप अलैक्जेण्डर षष्ठ ने उसे अपने विचारों का प्रचार बन्द करने का आदेश दिया। परन्तु सेवोनारोला ने पोप के आदेश को ठुकरा दिया। इस पर उसे चर्च की महान् परिषद् के सम्मुख स्पष्टीकरण के लिए बुलाया गया और चर्च की निन्दा करने के आरोप में उसे जीवित जला दिया गया।

4. इरेस्मस (1466-1536)—इरेस्मस हालैण्ड का निवासी था। कुछ वर्ष वह इंगलैण्ड में भी रहा और ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में यूनानी भाषा और साहित्य पढ़ाने का काम किया। वह अपने युग का एक प्रभावशाली लेखक, विचारक, विद्वान् एवं सुधारक था। यूरोप के बड़े-बड़े संभ्रांत परिवारों में उसे आदरपूर्वक आमन्त्रित किया जाता था। इरेस्मस को भी चर्च में विद्यमान बुराइयों से असन्तोष था। उसने अपनी पुस्तक 'मूर्खत्व की प्रशंसा' में पादरियों एवं धर्माधिकारियों की अज्ञानता तथा उन मूर्ख लोगों—जिन्हें विश्वास था कि धर्म का अर्थ केवल तीर्थ-यात्रा, शैव पूजा तथा द्रव्यादि देकर पोप द्वारा अपराध-क्षमापन ही है—की खूब आलोचना की। उसकी आलोचना में व्यंग्य तथा उपहास की प्रधानता थी। इसलिए शिक्षित लोग रुचि के साथ उसकी कृतियों को पढ़ते थे। इरेस्मस ने प्रायः उन सभी बुराइयों की निन्दा की जिनकी बाद में लूथर ने खूब आलोचना की थी। अन्तर इतना ही था कि सर्वसाधारण इरेस्मस के वास्तविक विचारों को नहीं समझ सका। इरेस्मस ने ईसाई धर्म के मूल सिद्धान्तों के प्रचार हेतु न्यूटेस्टामेण्ट का शुद्ध संस्करण निकाल कर धर्म की उत्पत्ति की ठीक व्याख्या की। इससे धर्मशास्त्रियों की बड़ी-बड़ी भूलें उजागर हो उठीं।

5. मार्टिन लूथर (1483-1546) – चर्च में विद्यमान दोषों के विरुद्ध शिकायतें खासकर जर्मनी में सबसे अधिक थीं और जर्मनी में ही चर्च के विरुद्ध एक व्यापक तथा सशक्त आन्दोलन चला था। इस आन्दोलन का नेता था मार्टिन लूथर। लूथर का जन्म एक निर्धन खान-श्रमिक के घर हुआ था। वह बचपन से ही मेधावी था। अठारह वर्ष की आयु में वह एरफर्ट विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुआ और चार वर्ष तक वहाँ अध्ययन करता रहा। उसकी इच्छा वकील बनने की थी। परन्तु एक अपराध-भावना से उसका मन परेशान था और अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध उसने साधु बनने का निश्चय किया और एरफर्ट के मठ में जाकर मुक्ति का उपाय सोचने लगा, क्योंकि उसे स्वयं अपनी मुक्ति में गहरी रुचि थी। वहाँ के मठाधिपति ने उसे अपने पुण्य कार्यों पर भरोसा न रखकर ईश्वर की कृपा तथा क्षमा पर भरोसा रखने के लिए कहा। यहाँ रहते हुए लूथर ने महात्मा पाल और आगस्टाइन के लेखों का गम्भीर मनन किया, जिससे उसे ज्ञान हुआ कि मनुष्य किसी भी पुण्य को करने में समर्थ नहीं है, उसकी मुक्ति केवल ईश्वर में श्रद्धा और भक्ति करने से ही हो सकती है। फिर भी, इससे लूथर को विशेष संतोष नहीं हुआ। 1508 ई. में वह विटनबर्ग विश्वविद्यालय में प्राध्यापक बन गया और वहाँ पाल के पत्रों तथा भक्ति से मुक्ति पाने के सिद्धान्त की शिक्षा देने लगा। 1510-11 ई. में उसे रोम जाने का अवसर मिला। रोम में उसने देखा कि बड़े-बड़े धर्माधिकारी उचित-अनुचित उपायों से धन कमाने में लिप्त हैं और एक-दूसरे के प्रभाव को कम करने के लिए गुटबन्दी तथा जोड़-तोड़ में लगे हुए हैं। वे लोग अपने कर्त्तव्यों का पालन न करके सांसारिक जीवन बिता रहे हैं। धर्माधिकारियों के भ्रष्ट आचरण ने उसके विश्वासों को समाप्त कर दिया। उसके हृदय में दृढ़ विश्वास हो गया कि धर्म के प्रमुख शत्रु धर्म की प्रधान-संस्था और उसके संचालक ही हैं। 1517 ई. में एक महत्त्वपूर्ण घटना घटी जिसने लूथर को एक प्रगट विद्रोही बना दिया। यह घटना थी 'पाप-विमोचन-पत्रों की बिक्री।'

पोप लियो दशम् इन दिनों रोम में सन्त पीटर के गिरजाघर को पुनः बनवाने के लिए धन एकत्र कर रहा था और इसके लिये उसने इंडलजेन्स (पाप-विमोचन-पत्र) बेचने शुरू किये।

पाप-विमोचन-पत्र देना नयी बात न थी। कैथोलिक शिक्षा के अनुसार किसी व्यक्ति द्वारा किये गये पाप से उसे क्षमा मिल जाती है, यदि वह व्यक्ति अपने पाप के लिए पश्चाताप करे और भविष्य में पाप न करने का संकल्प करे। इससे पाप करने वाले व्यक्ति के लिए भी स्वर्ग के द्वार खुल जाते हैं। परन्तु मृत्यु के बाद ऐसे पापी लोगों की आत्मा को अस्थायी तौर पर अपने पापों की थोड़ी-बहुत सजा भुगतने के लिए नरक में रहना पड़ता है। इंडलजेन्स के माध्यम से नरक की अवधि में अथवा सजा में थोड़ी-बहुत कमी की जा सकती है अथवा पूर्णतया माफ हो सकती है। इंडलजेन्स तभी सार्थक हो सकता था जबकि उसे प्राप्त करने वाला व्यक्ति सच्चे मन से अपने पाप का प्रायश्चित करे। तीर्थ-यात्रा, उपवास, ईश्वर-भक्ति, चर्च को भेंट अथवा गरीबों को धन-दान—इनके माध्यम से प्रायश्चित किया जाता था अर्थात् चर्च को धन-दान देना प्रायश्चित करने का एक मार्ग था और इसके लिए पोप सम्बन्धित व्यक्ति को इंडलजेन्स जारी करता था। परन्तु कुछ लेखकों ने इंडलजेन्स की दूसरी परिभाषा दी है। उनके कथनानुसार उपर्युक्त पत्र क्षमा-याचना आयोग द्वारा पापी लोगों पर किया हुआ जुर्माना था, न कि माफी का पर्चा। परन्तु अधिकांश विद्वान् इस परिभाषा से सहमत नहीं हैं।

इंडलजेन्स का जो भी अर्थ रहा हो, 1517 ई. में पोप के एजेण्टों, विशेषकर जर्मनी में स्थित जॉन टिटजल ने बड़ी लगन के साथ इंडलजेन्स बेचने शुरू किये। अपने इस कार्य में उसने ऐसे उपायों का सहारा लिया, जैसाकि आजकल के निपुण सेल्समैन काम में लाते हैं। इससे लोगों को लगा कि टिटजल आध्यात्मिक वस्तु को भी नकद धन के बदले बेच रहा है। मार्टिन लूथर को इससे विशेष दुःख हुआ। लूथर इंडलजेन्सों को इस प्रकार बेचे जाने के विरुद्ध था। लूथर ने अपनी आपत्तियों को 95 कथनों (Ninty-five thesis) के रूप में लेटिन में लिखकर विटनबर्ग के गिरज़ाघर के दरवाजे पर लगा दिया।

लूथर के 95 कथनों का किसी ने जर्मन भाषा में अनुवाद करके, इनका जर्मनी में व्यापक पैमाने पर वितरण किया। जनसाधारण को लूथर के विचारों का अर्थ और महत्त्व समझने में देर नहीं लगी। परन्तु लूथर इससे भी आगे बढ़ गया। 1519 ई. में एक प्रमुख धर्मशास्त्री के साथ बहस करते हुए उसने खुले रूप से यह स्वीकार किया कि वह अपने पूर्व के सुधारकों की उन बहुत-सी बातों से सहमत है, जिनकी चर्च की महान् परिषद् ने निन्दा की थी। 1520 ई. में लूथर ने अपने तीन उत्तेजक लेखों में चर्च की बहुत-सी शिक्षाओं और पादरियों की विशेष स्थिति की कटु आलोचना की। उसने जर्मनी के शासकों से अपील की कि वे विदेशी पादरियों के चंगुल से देश को मुक्त करा लें और चर्च की अपार धन-सम्पदा पर अधिकार कर लें। लूथर चाहता था कि जर्मन बिशपों की नियुक्ति जर्मन शासकों द्वारा हो और इसमें पोप का कोई नियन्त्रण न रहे। उसने यह विचार भी व्यक्त किया कि यदि पादरी लोग चाहें तो उन्हें विवाह करने की अनुमति दे दी जाय। इस प्रकार, लूथर कैथोलिक चर्च की रीतियों के साथ-साथ उसके सिद्धान्तों पर भी चोट कर रहा था।

लूथर की गतिविधियों से पोप लियो दशम् तथा पवित्र रोमन सम्राट चार्ल्स दोनों ही काफी परेशान हो उठे। 1521 ई. में पोप ने लूथर को धर्म से बहिष्कृत कर दिया और सम्राट चार्ल्स ने इस समस्या पर विचार करने के लिए वर्म्स की राज्य-परिषद् की बैठक बुलाई। राज्य-परिषद् ने लूथर को 'विधि-बहिष्कृत' (Out law) घोषित किया। राज्य-परिषद् ने लूथर

की समस्त रचनाओं को जलाने का आदेश भी दिया। परन्तु लोगों पर पोप तथा राज्य-परिषद् के निर्णयों का कोई खास असर नहीं पड़ा। इस संकट काल में सेक्सनी के शासक ने लूथर को संरक्षण देकर उसे पोप तथा सम्राट के कोप से बचा लिया। लूथर को कई दिनों तक एक गढ़ी में छिपकर रहना पड़ा। अपने इस अज्ञातवास में लूथर ने बाइबिल का जर्मन भाषा में अनुवाद किया। यह अनुवाद आज भी जर्मन साहित्य की अमूल्य कृति मानी जाती है। उपर्युक्त घटनाओं के परिणामस्वरूप लूथर और कैथोलिक चर्च का सम्बन्ध पूर्णतः विच्छेद हो गया और अनेक विद्वानों द्वारा समझौता-प्रयास के बाद भी यह खाई गहरी और व्यापक होती गई।

आगामी कुछ वर्षों में ही लूथर की शिक्षाएँ जंगली आग की भाँति सम्पूर्ण उत्तरी और मध्य जर्मनी में फैल गईं। जर्मनी के बहुत से शासक, व्यापारी, पादरी, प्रोफेसर और किसान लोग चर्च के विरुद्ध उठ खड़े हुए। लूथर ने इस आन्दोलन को प्रभावशाली नेतृत्व प्रदान किया। उसने अपने विचारोत्तेजक भाषणों तथा लेखों के द्वारा आन्दोलन को बल प्रदान किया। परन्तु जर्मन किसानों ने लूथर के सामने एक विचित्र स्थिति उत्पन्न कर दी। किसानों का मानना था कि लूथर धार्मिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता का भी समर्थक होगा। अतः उन्होंने नकद मजदूरी और कृषक-दास-प्रथा के उन्मूलन की माँग करते हुए अपने भू-स्वामियों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। लूथर ने किसानों को बहुत समझाया और उनसे वापस अपने काम पर लौट जाने का आग्रह किया, परन्तु किसानों ने उसकी अपील को ठुकरा दिया और हिंसक कार्यवाहियों में लीन हो गये। तब लूथर ने शासकों से अपील की कि वे किसी भी उपाय से इस विद्रोह को कुचल दें। ऐसा अनुमान है कि लगभग पचास हजार किसानों की मौत के बाद इस विद्रोह को दबाया जा सका।

पवित्र रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत जो असंख्य राज्य थे, उनके शासक भी अब स्पष्ट रूप से दो दलों—कैथोलिक तथा लूथरन—में विभाजित हो चुके थे। इस समस्या पर पुनः विचार करने के लिए सम्राट चार्ल्स पंचम ने राज्य-परिषद् की बैठक आमन्त्रित की और इस बैठक में सम्राट ने धर्मद्रोहियों तथा नास्तिकों के विरुद्ध सख्त कानून लागू करने का आदेश दिया। लूथरन शासकों ने इसका जबरदस्त विरोध किया और इसी समय से वे 'प्रोटेस्टेण्ट' के नाम से पुकारे जाने लगे। 1530 ई. में आग्सबर्ग की राज्य परिषद् की बैठक में लूथर के एक मित्र ने नये धार्मिक विचारों और मान्यताओं को लेखबद्ध किया और परिषद् की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया। परिषद् ने इसे ठुकरा दिया परन्तु यह लेख-पत्र, 'आग्सबर्ग की स्वीकारोक्ति' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और बाद में लूथरन चर्चों का मार्ग-निदेशक बन गया।

आगामी वर्षों में सम्राट चार्ल्स पंचम तथा कैथोलिक शासकों ने जर्मनी में लूथरवाद को समाप्त करने का अथक प्रयत्न किया। दूसरी तरफ, लूथरवादी शासकों ने अपने-अपने राज्यों से कैथोलिक प्रभाव को नष्ट करने का प्रयास किया। परिणामस्वरूप सम्पूर्ण जर्मनी गृह-युद्ध की ज्वाला में जलने लगा। अन्त में 1555 ई. में दोनों पक्षों में समझौता हो गया जिसे 'आग्सबर्ग की धार्मिक सन्धि' कहा जाता है। इसमें निम्न बातों पर सहमति प्रकट की गई—(1) जर्मनी के प्रत्येक राज्य के शासक को यह तय करना होगा कि उसका राज्य कैथोलिक चर्च का पालन करेगा या नये प्रोटेस्टेण्ट चर्च का। उस राज्य की सम्पूर्ण जनता को अपने शासक का चुनाव मानना पड़ेगा

अन्यथा उस राज्य को छोड़ देना होगा। (2) 1552 ई. तक प्रोटेस्टेण्टों ने चर्च की जितनी सम्पत्ति पर अधिकार जमा लिया था, वह उन्हीं को सौंप दी गई। (3) लूथरवाद के अलावा प्रोटेस्टेण्टवाद की अन्य किसी भी शाखा को प्रश्रय नहीं दिया जायेगा। (4) कैथोलिक राज्य में रहने वाले लूथरवादियों को कैथोलिक धर्म अपनाने के लिए बाध्य नहीं किया जायेगा। (5) यदि चर्च का कोई व्यक्ति प्रोटेस्टेण्ट बनता है तो उस व्यक्ति को अपने कब्जे की चर्च की जमीन को छोड़ना होगा। यह अन्तिम धारा धार्मिक सन्धि में सम्मिलित नहीं थी और सम्राट के आदेश पर बाद में सम्मिलित की गई थी, जिसे प्रोटेस्टेण्टों ने पूरी तरह से स्वीकार नहीं किया। इससे भविष्य में पुनः कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं। इस प्रकार, आग्सबर्ग की शान्ति से जो धार्मिक सहिष्णुता कायम की गई थी, वह काफी सीमित थी। प्रोटेस्टेण्टवाद की किसी अन्य विचारधारा को अनुमति न देना तथा शासक को अपने राज्य की सम्पूर्ण प्रजा का धर्म निश्चित करने का अधिकार—दोनों ही बातें वास्तविक शान्ति-स्थापना के मार्ग में बहुत बड़ी बाधाएँ थीं।

लूथर के सिद्धान्त—(1) क्षमा-याचना से विशेष लाभ नहीं होता है। जो व्यक्ति वास्तव में पश्चाताप करता है, वह यातना से भागता नहीं है, अपितु पश्चाताप की चिरस्मृति को बनाये रखने के लिए उसे सहर्ष सहन करता है। यदि क्षमा मिल सकती है तो केवल ईश्वर-भक्ति तथा श्रद्धा के द्वारा ही मिल सकती है। चर्च के संस्कारों तथा क्षमा-याचना-पत्रों से क्षमा नहीं मिल सकती। जो व्यक्ति अन्तःकरण से पश्चाताप करता है उसे अपने पापों तथा यातना, दोनों से मुक्ति मिल जाती है।

(2) पोप सर्वोच्च धार्मिक शक्ति नहीं है। पोप की शक्ति का विकास धीरे-धीरे हुआ है और इसका कारण जन-साधारण की अज्ञानता रहा है। मध्य युग के पूर्व के महात्माओं को न तो स्तुतियों का, न वैतरणी स्थान का और न ही रोम के बिशप (पोप) का कैथोलिक चर्च के अधिपति होने का ज्ञान था।

(3) रोम के चर्च के प्रभुत्व का अन्त करके राष्ट्रीय चर्च की शक्ति को संबल बनाया जाना चाहिए। क्योंकि रोमन प्रभुत्व की अहंकारी भावना ने धर्म को पंगु बना दिया है। लूथर के अनुसार धर्मग्रन्थ सबके लिए खुले हुए हैं और श्रद्धालु व्यक्ति स्वयं उनका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

(4) मुक्ति केवल ईश्वर की असीम दया, ईश्वर में श्रद्धा तथा भक्ति के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। धर्माधिकारियों की कृपा से नहीं।

(5) किसी भी धार्मिक संस्था के किसी भी धर्माधिकारी द्वारा यदि कोई अपराध किया जाय तो सरकार को उसे साधारण लोगों की भाँति सजा देनी चाहिए। किसी भी व्यक्ति को न्याय से ऊपर नहीं माना जाना चाहिए। न्याय के सम्मुख सभी समान होते हैं।

(6) चर्च में भ्रष्टाचार को रोकने के लिए पादरी लोगों को विवाह करके सभ्य नागरिकों की भाँति रहने की अनुमति दी जानी चाहिए। गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी पादरी लोग धर्म-प्रचार का काम लगन के साथ कर सकते हैं।

(7) विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में पर्याप्त सुधार किया जाना चाहिए और विधर्मी पाखण्डी अरस्तू को भूल जाना चाहिए। पाठ्यक्रम धर्म पर आधारित होना चाहिए।

(8) ईसाई धर्म के सात संस्कारों में से चार—अभिषेक, विवाह, अनुमोदन और अवलेपन का त्याग कर देना चाहिए। शेष तीन संस्कारों—नामकरण, प्रायश्चित और यूख्रेस्ट को ही मान्यता दी जानी चाहिए।

(9) स्तुति तथा भगवती-भोग के क्रिया-कलापों को बिल्कुल बन्द कर देना चाहिए। पादरी का एकमात्र काम धार्मिक उपदेश देना होना चाहिए।

6. ज्विंगली (1484-1531) – यूलरिख ज्विंगली स्विट्जरलैण्ड के एक समृद्ध किसान का लड़का था। वह काफी पढ़ा-लिखा विद्वान् व्यक्ति था। वह एक कैथोलिक पादरी था और पोप की तरफ से उसे पेंशन मिलती थी। वह जितना बड़ा धार्मिक सुधारक था, उतना ही बड़ा राजनीतिक सुधारक भी था। शुरू से ज्विंगली ने विदेशी शासकों की सहायता के लिए भाड़े के स्विस सैनिकों को भेजने के विरुद्ध आवाज उठायी। इस काम में चर्च की भूमिका भी उत्तरदायी थी। कुछ समय बाद ज्विंगली ने चर्च के अन्य दोषों की आलोचना भी शुरू कर दी। जब उसे जूरिख कैथेड्रल में धर्मोपदेशक के पद पर नियुक्त किया गया तो उसे अपने विचारों का प्रसार करने का स्वर्ण अवसर उपलब्ध हो गया। ज्विंगली ने पोप की सर्वोच्चता को अस्वीकार कर दिया और कहा कि धर्मानुकूल जीवनयापन का मार्गदर्शक चर्च नहीं है, बल्कि बाइबिल है। उसने वैतरणी स्थान के अस्तित्व को असिद्ध बतलाया और चर्च की उन दूषित प्रथाओं को समाप्त करने की माँग की, जिनके विरुद्ध लूथर ने भी आन्दोलन चलाया था। उपवास और पादरियों के अविवाहित जीवन की प्रथाओं पर भी उसने प्रहार किया। 1524 ई. में उसने स्वयं अपने विवाह को धूमधाम के साथ मनाया।

ज्विंगली की शिक्षाएँ स्विट्जरलैण्ड की पाँच 'फोरेस्ट केंटनों' के अलावा अन्य सभी केंटनों (जिलों के समकक्ष इकाई) में काफी लोकप्रिय हो गई। यहाँ के लोगों ने कैथोलिक चर्च से सम्बन्ध विच्छेद करने में ज्विंगली को पूरा समर्थन दिया। ज्विंगली की शिक्षा थी—"विश्वास और नैतिकता के मामलों में बाइबिल ही सर्वोच्च सत्ता है और चर्च के संस्कार तथा परम्पराएँ विशुद्ध ईसाइयत से काफी दूर हैं।" उसने राज्य तथा धार्मिक संगठन में लोकतान्त्रिक पद्धति का समर्थन किया।

1531 ई. में ज्विंगली ने अपने सशस्त्र अनुयायियों के साथ फोरेस्ट केंटनों के लोगों का बलात् धर्म-परिवर्तन कराने की दृष्टि से उन पर आक्रमण कर दिया। इस संघर्ष में ज्विंगली मारा गया। इसके बाद दोनों पक्षों में सुलह हो गई जिसमें यह तय किया गया कि प्रत्येक केंटन को अपना धर्म तय करने का अधिकार होगा।

7. काल्विन (1509-1564) – लूथरवाद के बाद विकसित होने वाली शाखाओं में से एक शाखा अपनी उपलब्धियों के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध है। कुछ अंशों में वह अन्य मौलिक शाखाओं से मिलती-जुलती थी, परन्तु इसने अन्य शाखाओं के विपरीत अपनी धार्मिक संस्था का सुचारुरूप से संगठन किया और चर्च-संगठन का विकास किया। इस शाखा को इसके संस्थापक जॉन काल्विन के नाम पर काल्विनवाद के नाम से पुकारा जाता था।

जॉन काल्विन का जन्म 1509 ई. में फ्रांस में एक मध्यम श्रेणी के परिवार में हुआ था। प्रारम्भ में उसे कैथोलिक पादरी बनने योग्य शिक्षा दी गई और बाद में वकील बनने की। उस समय में, अन्य यूरोपीय देशों की भाँति फ्रांस भी धर्म-सुधार आन्दोलन के प्रभावों से उत्तेजित हो उठा था। लूथरवादी पादरी लोगों को नई विचारधारा से परिचित कराने में लगे हुए थे। चर्च के दोषों के विरुद्ध सुधारों की माँग उठाई जाने लगी थी। परन्तु फ्रांसीसी सम्राट फ्रांसिस प्रथम चर्च का कट्टर समर्थक था और 1516 ई. में उसने एक विशेष समझौते के द्वारा फ्रांस के कैथोलिक चर्च के मामलों में पोप के द्वारा व्यापक अधिकार प्राप्त कर लिये थे। यही कारण है कि जब फ्रांस में सुधारवादियों ने उत्तेजक कार्यवाहियाँ प्रारम्भ कीं तो फ्रांसिस ने उन लोगों का सख्ती के साथ दमन किया।

बीस वर्ष की आयु में काल्विन भी धार्मिक उत्तेजना में सम्मिलित हो गया। उसे अचानक दिव्य संदेश का अनुभव हुआ कि कैथोलिक सम्प्रदाय को त्याग कर विशुद्ध ईसाइयत की शिक्षा दी जानी चाहिए। उसकी युवावस्था के उपरान्त भी असंख्य लोग उसके आसपास जुटने लग गये और ध्यान से उसकी बातें सुनने लगे। काल्विन उन्हें बतलाता था कि किस प्रकार से ईसाई लोग प्रारम्भिक दिनों की सादगी और सरलता को पुनः स्थापित कर सकते हैं। उसकी बढ़ती हुई लोकप्रियता ने सरकारी तन्त्र को सचेत कर दिया और काल्विन ने भी फ्रांस को छोड़ना उचित समझा। फ्रांस से काल्विन स्विट्जरलैण्ड में आ बसा और यहाँ वह ज्विंगली की शिक्षाओं के सम्पर्क में आया। स्विट्जरलैण्ड में काल्विन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'इन्स्टीट्यूट्स ऑफ क्रिश्चियन रिलिजन' (ईसाई धर्म की रीतियाँ) लिखी। यह पुस्तक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। इसमें काल्विन ने अपने धार्मिक विचारों को प्रस्तुत किया जिनका दूसरे प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदायों पर गहरा प्रभाव पड़ा। काल्विनवाद अन्य देशों में भी फैला। स्काटलैण्ड में यह प्रेसबीटीरियन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। फ्रांस में इसके अनुयायियों को ह्यूगोनाट कहा जाता था। इंगलैण्ड में प्यूरिटनों ने इसकी शिक्षाओं पर अमल किया। अमेरिका में भी काल्विनवाद का व्यापक प्रसार हुआ।

काल्विन बाइबिल को सर्वोपरि मानता था और उन सभी बातों को त्यागने के पक्ष में था जिनका औचित्य बाइबिल से प्रमाणित न हो सके। वह बाइबिल को ही मुक्ति का एकमात्र उपाय मानता था। अपने समस्त रूपों में काल्विनवाद एक नितान्त सादा धर्म था, क्योंकि यह किसी भी प्रकार की विलासिता के पक्ष में नहीं था और इस मत के गिरजों को भी शान-शौकत तथा बाह्य चमक-दमक से मुक्त रखा जाता था। काल्विन-चर्च में प्रार्थना की व्यवस्था भी बहुत सादी थी। अपने व्यक्तिगत जीवन में भी इस मत के अनुयायी नाच, खर्चीले प्रीतिभोज और विलासितापूर्ण पहनावे को बुरा मानते थे। रविवार का दिन सिर्फ धर्म के लिए सुरक्षित रखा जाता था और इस दिन काल्विन के अनुयायी अपना अधिकांश समय गिरजे में व्यतीत करते थे।

फ्रांस पर प्रभाव—काल्विन की शिक्षाओं का फ्रांस के निवासियों पर भी प्रभाव पड़ा। यद्यपि फ्रांस में सुधारकों को व्यापक सफलता नहीं मिल पाई, फिर भी हजारों फ्रांसीसी प्रोटेस्टेण्ट मत के अनुयायी बन गये जिन्हें 'ह्यूगोनाट' के नाम से पुकारा जाता था। फ्रांस का राजवंश तथा अधिकांश जनता रोमन कैथोलिक चर्च की समर्थक बनी रही। फ्रांस के शासकों ने ह्यूगोनाटों का

सफाया करने के लिए भयंकर दमन-चक्र का सहारा लिया परन्तु वे इसमें पूरी तरह सफल नहीं हो पाये। फ्रांस के शासक हेनरी चतुर्थ ने धर्म के नाम पर होने वाले रक्तपात को रोकने का निश्चय किया और सन् 1598 ई. में उसने एक आदेश जारी किया जो 'नान्तेज का फरमान' कहलाता है। इस आदेश में निम्नलिखित बातों का उल्लेख किया गया था—(1) पेरिस तथा कुछ अन्य बड़े नगरों के अलावा शेष फ्रांस में ह्यूगोनाटों को पूजा करने की छूट दी गई। (2) ह्यूगोनाटों को कैथोलिकों के समान ही राजनीतिक सुविधाएँ प्रदान की गईं। (3) ह्यूगोनाटों को सभाएँ करने की सुविधा दी गई। (4) उन्हें दीवारों से सुरक्षित दो नगर आठ साल के लिए प्रदान किये गये। इस प्रकार, नान्तेज के आदेश द्वारा फ्रांस में आंशिक धार्मिक सहिष्णुता स्थापित की गई।

इंगलैण्ड में एंग्लीकनवाद का उदय—एंग्लीकनवाद भी प्रोटेस्टेण्ट धर्म का दूसरा रूप है, जिसका आधार राष्ट्रीय भावना व पोप के आधिपत्य से मुक्ति की इच्छा थी। सर्वप्रथम इंगलैण्ड में इसका प्रचार हुआ और इसे राजकीय धर्म स्वीकार कर लिया गया। इस सम्प्रदाय का मुख्य संचालक राष्ट्र का शासक होता है। परन्तु इसके उदय की कहानी बहुत रोमांचकारी है।

जिस समय यूरोप के कई देशों में धर्म-सुधार आन्दोलन की लहर उठ रही थी, उससे भी पहले इंगलैण्ड में पोप और मध्यकालीन चर्च की कुछ रीतियों के विरुद्ध असन्तोष फैल चुका था, जिसका विवरण हमें उस समय की रचनाओं 'पियर्स प्लोमेन' और 'द कैंटरबरी टेल्स' में देखने को मिलता है। ट्यूडर वंश के शासक हेनरी अष्टम् (1509-1547) के समय में राजा का सहयोग पाकर यह असन्तोष सुधारवादी आन्दोलन में परिवर्तित हो गया। हुआ यह कि हेनरी अष्टम् ने अपनी पत्नी कैथराइन को तलाक देकर एक दासी एनी से विवाह करने का निश्चय किया, परन्तु कुछ राजनीतिक कारणों से पोप ने उसे तलाक की स्वीकृति नहीं दी। इस पर हेनरी पोप से रुष्ट हो गया। इंगलैण्ड की संसद तो पहले से ही पोप के अधिकार को खत्म करने को इच्छुक थी। हेनरी का संकेत मिलते ही संसद ने एक कानून बनाकर पोप को धन देने की मनाही कर दी। पोप के निर्णय के लिए अपीलें भेजने पर रोक लगा दी गई। राजा को इंगलैण्ड के सभी बिशपों को नियुक्त करने का अधिकार दिया गया और बाद में राजा को इंगलैण्ड के चर्च का प्रधान बना दिया गया। इस प्रकार, इंगलैण्ड का चर्च पोप के प्रभाव से बिल्कुल मुक्त हो गया। इसके बाद हेनरी ने हर सम्भव उपाय से मठों की सम्पत्ति को लूटा।

हेनरी के बाद उसका नाबालिग लड़का एडवर्ड षष्ठ (1547-1553) सिंहासन पर बैठा। उसके समय में इंगलैण्ड में काल्विनवादी विचारों का प्रवेश हुआ और इंगलैण्ड का चर्च उन विचारों से काफी प्रभावित हुआ। गिरजाघरों से प्रतिमाओं तथा रंगीन शीशों को हटा दिया गया। लेटिन के स्थान पर अँग्रेजी भाषा में प्रार्थना होने लगी और 'बुक ऑफ प्रेयर' प्रकाशित की गई। एडवर्ड के बाद उसकी बहिन मेरी ट्यूडर (1553-1558) सिंहासन पर बैठी। वह कट्टर कैथोलिक थी और उसका विवाह स्पेन के फिलिप द्वितीय से हुआ था। फिलिप कैथोलिक चर्च का प्रबल समर्थक एवं संरक्षक था। मेरी ने इंगलैण्ड में पुनः कैथोलिक चर्च की प्रधानता कायम करने तथा सुधार के कामों को नष्ट करने का अथक प्रयास किया। उसने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त हजारों लोगों को घोर यातनाएँ दीं और सैंकड़ों को जीवित जलवा दिया। इतिहास में

वह "खूनी मेरी" के नाम से प्रसिद्ध हुई। परन्तु उसकी मृत्यु के साथ ही उसके सारे किये-कराये पर पानी फिर गया।

मेरी के बाद एलिजाबेथ (1558-1603) इंगलैण्ड के सिंहासन पर बैठी। यद्यपि वह सहिष्णु नहीं थी, फिर भी वह चाहती थी कि इंगलैण्ड के चर्च के उपदेश तथा शिक्षाएँ इतनी व्यापक हों कि विभिन्न विचार वालों को उसके नेतृत्व में विश्वास उत्पन्न हो सके। इस दृष्टि से एंग्लीकनवाद की स्थापना की गई और मध्यकालीन रीतियों को बन्द किया गया तथा चर्च को नया रूप दिया गया।

प्रति-सुधार आन्दोलन—प्रोटेस्टेण्ट आंन्दोलन की सफलता से कैथोलिक धर्म को गहरा आघात लगा था, फिर भी उसके अनुयायियों की संख्या अब भी कम न थी। सुधार आन्दोलन ने कई निष्ठावान् कैथोलिकों को चर्च की उन बुराइयों को दूर करने की प्रेरणा दी जिन पर प्रोटेस्टेण्ट आपत्ति करते थे। कैथोलिक चर्च में आवश्यक सुधार लाने के लिए 1545 ई. में इटली के ट्रैण्ट नामक स्थान में चर्च की एक परिषद् बुलाई गई। इसकी बैठकें बीच-बीच में लगभग अठारह वर्ष तक होती रहीं। ट्रैण्ट की परिषद् में कैथोलिक धर्म के अनेक विद्वानों तथा धर्मशास्त्रियों ने भाग लिया तथा चर्च में सुधार लाने के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये गये। इसके साथ ही मध्यकालीन चर्च के निम्न मुख्य उपदेशों की पुष्टि की गई—(1) पोप कैथोलिक चर्च का प्रधान है और सभी सिद्धान्तों का अन्तिम व्याख्याता है। (2) केवल चर्च को ही धर्म-ग्रन्थों का अर्थ लगाने का अधिकार है। (3) कैथोलिकों के लिए लेटिन भापा में एक नई बाइबिल तैयार की जायेगी, जिसका नाम वल्गेट संस्करण रहेगा।

परिषद् ने निम्नलिखित सुधारों की भी घोपणा की—(1) चर्च के पदों की बिक्री की भर्त्सना, अर्थात् भविष्य में चर्च का कोई भी पद किसी को नहीं बेचा जायेगा। (2) सभी बिशपों को अपने-अपने क्षेत्र में रहते हुए अपने पद-सम्बन्धित कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक निर्वाह करना होगा। (3) पादरियों को सही ढँग से प्रशिक्षित करने के लिए नये स्कूलों की स्थापना करना। (4) जहाँ आवश्यकता हो, जनभापा में धार्मिक उपदेश देना।

कैथोलिक चर्च में सुधार की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण कदम था। स्वयं पोप ने इसकी कई बैठकों में भाग लिया था और उसने परिषद् के निर्णयों को लागू करने का वचन दिया। परिषद् के निर्णयानुसार अब योग्य तथा चरित्रवान लोगों को ही पादरी-पद पर नियुक्त किया जाने लगा। स्वयं पोप ने सदाचरण की तरफ ध्यान देना शुरू कर दिया। पाप-विमोचन-पत्रों की बिक्री को बन्द कर दिया गया। स्कूलों में बाइबिल के अध्ययन पर जोर दिया जाने लगा। इसका परिणाम बहुत ही अच्छा निकला और रोमन कैथोलिक धर्म में एक नई शक्ति और स्फूर्ति आ गई, जिसके फलस्वरूप सुधारवादी आन्दोलन की गति धीमी पड़ गई। इतिहास में कैथोलिक धर्म के इस आन्तरिक सुधार को 'प्रति-धर्म-सुधार आन्दोलन' कहते हैं।

जैसुइट संगठन—कैथोलिक सम्प्रदाय को सुधारने के लिए जिन नए संगठनों की स्थापना की गई थी, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण था—'जैसुइट संगठन'। इस संगठन की स्थापना एक स्पेनी सैनिक इग्नेशियम लायल ने की थी। उसने सर्वप्रथम स्पेन में इस संगठन की स्थापना की थी।

बाद में इस संगठन की शाखाएँ यूरोप के अनेक देशों में कायम की गईं। कई अर्थों में यह संगठन बहुत कठोर था और इसका प्रशिक्षण बहुत लम्बा और कठिन था। कई प्रशिक्षण समाप्त कर लेने वाले लोगों को कठिन काम करने को भेजा जाता था। लायल ने धर्म के प्रति श्रद्धा एवं आचार से पवित्र रहने का प्रण किया था और संगठन के सभी सदस्यों से भी ऐसा ही प्रण करवाया। बाद में, स्पेन के सम्राट और रोम के पोप का संरक्षण भी इस संगठन को मिल गया और तब इसने बड़ी लगन एवं शक्ति के साथ अपना कार्य शुरू किया। कैथोलिक चर्च के विरोधियों का सफाया और कैथोलिक चर्च में व्याप्त कुरीतियों का उन्मूलन तथा विदेशों में कैथोलिक धर्म का प्रचार इस संगठन के मुख्य उद्देश्य थे। लायल ने 'इनक्वीजिशन' नामक धार्मिक न्यायालय स्थापित किया। इस न्यायालय का काम धर्मद्रोहियों को सजा देना था। इस न्यायालय ने इतने अधिक लोगों को प्राण दण्ड दिये और इतने लोगों को जीवित जलाया कि यूरोप के लोग इसका नाम सुनकर ही काँपने लगते थे। इस संगठन ने पोप तथा अन्य धर्माधिकारियों को भी सदाचारमय जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य किया। जैसुइटों का स्वयं का अपना जीवन अत्यन्त तप और सादगी का था। इस संगठन की दूसरी महत्त्वपूर्ण देन यूरोप में शिक्षा का प्रचार है। संगठन द्वारा स्थापित स्कूल यूरोप के सबसे अच्छे स्कूल थे। जैसुइट धर्म प्रचारकों ने यूरोप के बाहर चीन, भारत, जापान, अमेरिका आदि में भी कैथोलिक धर्म का प्रचार किया। ऐसे साहसी धर्म प्रचारकों में से ही जेक्युअस मार्क्वेते थे, जिन्होंने मिसीसिपी घाटी के ऊपरी भाग की खोज की थी और वहाँ के आदिवासी लोगों को ईसाई बनाया। अपने प्रचार कार्य के सिलसिले में इस संगठन ने स्कूलों, चिकित्सा तथा सेवा केन्द्रों की स्थापना के माध्यम से मानवता की सेवा का काम भी किया था।

सुधार आन्दोलन के परिणाम

सोलहवीं सदी की धार्मिक घटनाओं का जीवन के अन्य पहलुओं पर क्या और कितना प्रभाव पड़ा, इसका सही मूल्यांकन करना बहुत ही कठिन है, क्योंकि कई मामलों में वे पुरानी प्रवृत्तियों के जाल में फँसी हुई थीं और कुछ मामलों में नवीन विचारों से प्रेरित थीं। परन्तु कुछ विशिष्ट परिणाम निश्चय ही धार्मिक क्रान्ति से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित थे—

1. ईसाई एकता का अन्त—धर्म-सुधार आन्दोलन ने ईसाई धर्म की एकता को समाप्त कर दिया। इसके पूर्व रूस और बाल्कन क्षेत्र को छोड़कर सम्पूर्ण यूरोप में कैथोलिक धर्म का वर्चस्व कायम था और लोगों पर इस धर्म की धाक जमी हुई थी। परन्तु सुधारवादी आन्दोलन ने कैथोलिक चर्च को विभाजित कर दिया और एक नये सम्प्रदाय—प्रोटेस्टेण्ट का उदय हुआ। परन्तु प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय भी धीरे-धीरे अनेक पन्थों में बिखरता गया। इस प्रकार ईसाई एकता का अन्त हो गया।

2. मतभेदों की उत्पत्ति—धर्म-सुधार आन्दोलन के परिणामस्वरूप जिन अनेक सम्प्रदायों का उदय हुआ, उनमें सैद्धान्तिक एकता का अभाव था और धर्म के गूढ़ तत्त्वों को लेकर उनमें आन्तरिक मतभेद उत्पन्न हो गये। कोई भाग्यवाद में श्रद्धा रखता था, तो कोई इच्छा स्वातन्त्र्य में। चर्च और राज्य के आपसी सम्बन्धों को लेकर भी उनमें भारी मतभेद था। कोई चर्च की

स्वतन्त्रता का समर्थक था, तो कोई चर्च पर राज्य के नियन्त्रण का पक्षपाती था। प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय में और भी अधिक मतभेद उत्पन्न हो गये थे। इसका एक कारण तो यह था कि प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय ने बाइबिल को ही एकमात्र सत्य का प्रतीक मान लिया था और अपने अनुयायियों को इस बात की शिक्षा दी थी कि वे किसी भी ढँग से बाइबिल के सिद्धान्तों का पालन करें। ऐसी अवस्था में भिन्न-भिन्न मार्गों का उदय होना स्वाभाविक ही था। सम्प्रदाय के संगठन को लेकर भी मतभेद बढ़ा। कुछ समय बाद मैथोडिज्म, बैपटिज्म और कोंग्रिगेशनलिज्म आदि विभिन्न मत-मतान्तरों के प्रचलन से यह मतभेद और भी अधिक बढ़ गया।

3. असहिष्णुता का विकास—उपर्युक्त मतभेदों के परिणामस्वरूप धार्मिक सहिष्णुता का लोप हो गया और इसके स्थान पर असहिष्णुता की भावना का विकास हुआ। 1500 ई. के आस-पास पश्चिमी तथा मध्य यूरोप के लगभग सभी निवासी कैथोलिक ईसाई थे और वे धार्मिक शान्ति के साथ एक-दूसरे के साथ मिलकर जीवन बिता रहे थे। साठ साल के बाद, कैथोलिकों के अलावा अब वहाँ लूथरवादी, काल्विनवादी, अनाबेपटिस्ट, मेनोनाइट्स आदि एक दर्जन पन्थों के लोग एक-दूसरे से लड़ रहे थे और एक-दूसरे का रक्त बहा रहे थे। कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट दोनों ने अपने-अपने सम्प्रदाय की सुरक्षा के निमित्त शस्त्र धारण कर लिए थे और उनमें अत्यधिक भयानक युद्ध, कत्लेआम और हत्याओं का सिलसिला शुरू हो गया। युद्ध-बन्दियों और स्त्रियों तथा मासूम बच्चों तक को बिना किसी दया भाव के निर्ममतापूर्वक मौत के घाट उतारा जाने लगा। परिणामस्वरूप यूरोप धर्मयुद्धों की रणभूमि बन गया। धर्म के नाम पर हजारों-लाखों लोगों को मौत के घाट उतार दिया गया। महात्मा काल्विन जैसे महान् सुधारक भी असहिष्णुता के चक्कर में फँस गये और उन्होंने सर्विटस को जीवित जलवा दिया। इस प्रकार, धार्मिक असहिष्णुता ने एक लम्बे समय तक यूरोप की शान्ति को नष्ट कर दिया।

4. सहिष्णुता का विकास—काफी लम्बे समय के बाद, प्रोटेस्टेण्ट विद्रोह ने व्यापक सहिष्णुता का मार्ग प्रशस्त किया। कुछ क्षेत्रों में दो या अधिक सम्प्रदाय इस मजबूती के साथ पैर जमा चुके थे कि लोग दीर्घकालीन आपसी संघर्ष से उकता गये और वहाँ की सरकारें भी किसी प्रकार के धार्मिक समझौते के द्वारा शान्ति स्थापित करने को उत्सुक थीं। फलतः कैथोलिक फ्रांस में 'नान्तेज के फरमान' के द्वारा ही ह्यूगोनाटों को धार्मिक सहिष्णुता प्राप्त हुई। सोलहवीं सदी के अन्त में पोलैण्ड में भी धार्मिक सहिष्णुता के लक्षण प्रकट होने लगे। सत्रहवीं सदी में हालैण्ड भी एक सहिष्णु देश बन गया। फिर भी, इतना निश्चित है कि आधुनिक धार्मिक सहिष्णुता सोलहवीं सदी के धार्मिक उथल-पुथल की सीधी देन न होकर 1700 ई. के बाद लोगों में धार्मिक उदासीनता तथा विवेक-शक्ति के विकास का परिणाम है।

5. नैतिकता और शिष्टता—लूथर के साथ भयंकर धार्मिक संघर्ष का एक परिणाम यह निकला कि अब अनैतिकता और शिष्ट व्यवहार पर कठोरता के साथ ध्यान दिया जाने लगा। प्रत्येक पक्ष दूसरे पर अनैतिकता तथा भ्रष्ट आचरण का आरोप लगा रहा था। प्रोटेस्टेण्ट लोग कैथोलिक पादरियों और बिशपों के भ्रष्ट जीवन का डरावना चित्र प्रस्तुत करते थे। कैथोलिक लोग भी प्रोटेस्टेण्टों का इतना ही डरावना चित्र प्रस्तुत करते थे और कहते थे कि वे तलाक की तुरन्त स्वीकृति देते हैं। इन आरोपों का सामना करने के लिए कैथोलिकों और प्रोटेस्टेण्टों—दोनों

ने ही उच्च नैतिक मूल्यों की शिक्षा देने तथा उन पर अमल करने का जोरदार प्रयत्न किया। प्रत्येक जगह ईश्वर निन्दा, फूहड़ पुस्तकों और आचरणहीनता को समाप्त करने का जोरदार प्रयास किया गया और तमाम मन्त्रियों और धर्माधिकारियों को पवित्र एवं नैतिक जीवन व्यतीत करने को विवश किया गया।

6. शिक्षण संस्थाओं का विकास—उपर्युक्त परिस्थितियों से विवश होकर कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्टों—दोनों को ही शैक्षणिक सुविधाओं को सुधारने तथा नई शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की तरफ विशेष ध्यान देना पड़ा। यदि उन्हें वाद-विवाद में अपने विरोधी से सफलतापूर्वक निपटना था तो उनके पास आवश्यक बौद्धिक यन्त्रों की नितान्त जरूरत थी। इसलिए पादरियों, उपदेशकों और मन्त्रियों को ठीक ढँग से प्रशिक्षित करने की दिशा में विशेष ध्यान दिया गया और इसके लिए नये स्कूल स्थापित किये गये। इन स्कूलों में सम्बन्धित सम्प्रदाय की विशेषताओं तथा विरोधी सम्प्रदायों की कमियों तथा दोषों की अच्छी जानकारी दी जाती थी।

7. व्यक्ति की महत्ता का विकास—धार्मिक विद्रोह ने अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्तिवाद को बढ़ावा दिया। कैथोलिक चर्च ने हमेशा सिद्धान्तों की एकता तथा चर्च संगठन के माध्यम से मुक्ति पर जोर दिया था। दूसरी तरफ, अधिकांश सुधरकों ने ईश्वर के साथ प्रत्येक व्यक्ति के सम्बन्ध पर जोर दिया। प्रत्येक व्यक्ति को बाइविल पढ़कर स्वयं उसकी व्याख्या करने पर जोर दिया। सुधारक लोग प्रायः उस प्रत्येक व्यक्ति के प्रति अत्यधिक असहिष्णु होते थे, जिसकी व्याख्या उनकी स्वयं की व्याख्या से मेल नहीं खाती थी। फिर भी, अन्ततः उनकी शिक्षाओं ने, केवल धर्म के क्षेत्र में ही नहीं अपितु आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी, व्यक्ति के महत्त्व के सम्बन्ध में ईसाई विश्वास की परम्परा को उजागर करने की सेवा की।

8. राजाओं की शक्ति का विकास—वस्तुतः धार्मिक उथल-पुथल का पहला प्रभाव राजाओं और सम्राटों की शक्ति को बढ़ाना था, राजतान्त्रिक निरंकुशवाद की ओर प्रवृत्ति को बढ़ाना था। लूथरवादी राज्यों—जर्मनी और स्केण्डेनेविया में, इंगलैण्ड में और यहाँ तक कि स्विट्जरलैण्ड और हालैण्ड में भी, राजाओं ने धार्मिक मामलों में नियन्त्रण का अधिकार प्राप्त करके और उसी के साथ चर्च की जमीनों को अधिकृत करके अपनी शक्ति और सम्पत्ति—दोनों का ही विकास किया। कैथोलिक देशों में भी राजाओं ने पोप की कठिनाइयों का लाभ उठाते हुए उससे बहुत-सी सुविधाएँ प्राप्त कर लीं, जिनके फलस्वरूप चर्च के मामलों में उन्हें पहले से अधिक शक्ति प्राप्त हो गई। लूथर के बाद की तीन शताब्दियों में राजाओं ने पहले की अपेक्षा बहुत अधिक शक्ति प्राप्त कर ली। पोप के प्रभुत्व से मुक्त होने के बाद राज्यों की सार्वभौम सत्ता अथवा सम्प्रभुता पूरी हो गई, क्योंकि अब उनके ऊपर किसी भी आन्तरिक या बाह्य शक्ति का प्रभुत्व नहीं रहा। राज्य की सम्प्रभुता ने राष्ट्रीयता की भावना के विकास में भी योगदान दिया। इसीलिए प्रायः यह कहा जाता है कि धर्म-सुधार आन्दोलन की एक महत्त्वपूर्ण देन है—राष्ट्रीय भावना का विकास।

9. लोक साहित्य का विकास—धर्म-सुधार आन्दोलन का एक परिणाम लोक भाषा और लोक साहित्य के विकास के रूप में देखने को मिलता है। धर्म-सुधारकों ने सामान्य जनता को

धर्म के गूढ़ रहस्यों तथा अपने विचारों को समझाने के लिए लोकभाषा को अपने भाषणों का माध्यम बनाया और इसी में अपने विचार सम्बन्धी साहित्य का प्रकाशन करवाया। लूथर ने जर्मन भाषा में बाइबिल का अनुवाद किया था। इसी प्रकार, अन्य देशों में भी वहाँ की लोकभाषाओं में बाइबिल के अनुवाद किये गये। नवीन धर्म प्रचारकों ने भी अपने-अपने क्षेत्रों में क्षेत्रीय भाषाओं में शिक्षा का प्रसार कार्य किया, जिसके परिणामस्वरूप लोगों में भी अपनी मातृभाषा के प्रति श्रद्धा की भावना का विकास हुआ।

10. धर्म-निरपेक्षता का विकास—निरंकुशवाद के साथ ही साथ 'धर्म-निरपेक्षता' की प्रवृत्ति का भी विकास हुआ; अर्थात् उन बहुत-सी गतिविधियों, जिन्हें पहले चर्च देखा करता था, अब उनकी देखभाल का उत्तरदायित्व राज्य सरकारों को हस्तान्तरित कर दिया गया। मध्य युग में शिक्षा, दान और बहुत से कानूनी मामलों का नियन्त्रण चर्च के हाथों में था। जब चर्च की शक्ति को तोड़ दिया गया और प्रोटेस्टेण्ट राज्यों में इसकी जमीनों और सम्पत्ति को छीन लिया गया तो सम्बन्धित सरकारों के लिए चर्च के दायित्व को निभाना भी आवश्यक हो गया और उन्हें स्कूलों की स्थापना, रोगी और निर्धनों की देखभाल और परिवार तथा विवाह सम्बन्धी कानून बनाने पड़े। इस प्रकार, धर्म-निरपेक्षता का विकास हुआ।

11. पूँजीवाद—अन्य क्षेत्रों में धार्मिक परिवर्तनों के प्रभाव इतने स्पष्ट नहीं हैं। विद्वानों में अब भी यह विवाद का विषय है कि प्रोटेस्टेण्टवाद ने पूँजीवाद के विकास का मार्ग प्रशस्त किया अथवा नहीं। यह स्पष्ट है कि मध्य युग में चर्च ऋणों पर ब्याज लेने का ही विरोधी नहीं था, अपितु अनुचित तरीकों से अधिक धन कमाने की प्रवृत्ति के भी विरुद्ध था। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि प्रोटेस्टेण्टों और खासकर काल्विनवादियों ने ब्याज लेने की तरफ उदार दृष्टिकोण अपनाया और मितव्ययता, समय और कठोर श्रम आदि पर जोर दिया, जो कि व्यवसाय की वृद्धि और पूँजीवाद के विकास के लिए आवश्यक गुण थे। फिर भी, पूँजीवाद के विकास में धर्म-सुधार आन्दोलन की भूमिका का सही मूल्यांकन करना कठिन है, क्योंकि बड़े पूँजीपतियों का उदय इसके बाद में हुआ था।

इस प्रकार, यूरोपीय इतिहास में धर्म-सुधार आन्दोलन का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसने मध्ययुगीन मान्यताओं, अन्धविश्वासों को समाप्त किया, पोप एवं चर्च के एकाधिकार का अन्त किया तथा नवयुग की नई प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान की। प्रोटेस्टेण्टवाद ने धार्मिक जीवन का केन्द्र चर्च के बजाय मनुष्य को, व्यक्ति को बना दिया।

प्रश्न

1. धर्म सुधार आन्दोलन का अर्थ समझाइये तथा इसके कारणों एवं परिणामों की व्याख्या कीजिये।
2. मार्टिन लूथर के सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिये तथा धर्म सुधार आन्दोलन में उसकी भूमिका की समीक्षा कीजिये।
3. "प्रतिधर्म सुधार आन्दोलन" क्या था ? इसकी उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिये।
4. धर्म सुधार आन्दोलन के प्रमुख नेताओं की उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिये।

अध्याय-3

वाणिज्यवाद
(Mercantilism)

भूमिका—मध्यकालीन यूरोपवासियों के जीवन पर धर्म और नैतिकता का जबरदस्त प्रभाव था। इसके परिणामस्वरूप आर्थिक विचारधारा स्वतन्त्र रूप से विकसित न हो सकी। यह ठीक है कि ग्यारहवीं सदी से यूरोपीय अर्थव्यवस्था में परिवर्तन के चिह्न प्रगट होने लगे थे और व्यापार-वाणिज्य का विस्तार भी होने लगा था। फिर भी, उस युग में उन्हीं आर्थिक क्रियाओं को उचित व न्यायसंगत माना जाता था जो धर्मानुकूल होती थीं। क्योंकि उस समय में धन की अपेक्षा धर्म को अधिक महत्त्व दिया जाता था।

मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में धीरे-धीरे परिस्थितियाँ बदलने लगीं। पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप यूरोपवासी पूर्वी देशों के सम्पर्क में आये। उन्हें नवीन मार्गों की जानकारी मिली। भौगोलिक खोजों के द्वारा नये-नये देशों की खोज हुई। यूरोप का विस्तार होने लगा जिससे उसके व्यापार-वाणिज्य में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। मध्ययुग के पूर्वार्द्ध में एशियाई देशों के माल के लिए यूरोप केवल मुस्लिम वणिकों पर आश्रित था और इस पर भी केवल इटली के नगर-राज्यों का एकाधिकार था। परन्तु अब परिस्थिति बदल चुकी थी। इंगलैण्ड, फ्रांस, हालैण्ड, पुर्तगाल और स्पेन के व्यापारियों ने एशियाई व्यापार पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया और अमेरिका का दोहन करने लगे थे। इस प्रकार, भौगोलिक खोजों ने यूरोपीय देशों के व्यापार-वाणिज्य को तेजी के साथ बढ़ाया।

इसी समय यूरोप में शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना की भावना भी जोर पकड़ने लगी। प्रत्येक देश के विचारक इस बात से सहमत थे कि वाह्य आक्रमणों से सुरक्षा तथा आन्तरिक शान्ति की स्थापना तभी सम्भव हो सकती है, जबकि राज्य शक्तिशाली हो। राज्य को सशक्त तभी बनाया जा सकता है, जबकि उसके पास पर्याप्त धन हो। अतः अब धन-प्राप्ति के स्रोतों के बारे में विचार किया जाने लगा। अब धर्म के स्थान पर धन को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। धन की दृष्टि से सोना और चाँदी सबसे उपयुक्त थे। अर्थात् जिसके पास जितना अधिक सोना-चाँदी होगा, वह उतना ही धनी माना जायेगा। अतः मध्ययुग के अन्त तथा आधुनिक काल के प्रारम्भ में यूरोपीय शासकों ने अपने देश के स्वर्ण एवं रजत भण्डार को बढ़ाने तथा इन दोनों बहुमूल्यवान धातुओं को देश से वाहर जाने से रोकने के लिए समय-समय पर नियम बनाये।

चूँकि व्यापार-वाणिज्य को इन धातुओं को प्राप्त करने का एक प्रमुख साधन माना गया था, अतः यूरोपीय शासकों ने व्यापार-वाणिज्य और उद्योगों को भी नियमित किया। यही नीति 'वाणिज्यवाद' कहलाती है जिसका मुख्य ध्येय सोना-चाँदी प्राप्त करके अपने देश को सबल बनाना था।

वाणिज्यवाद का जन्म—वाणिज्यवाद का जन्म कब हुआ ? इस सम्बन्ध में इतिहासकारों तथा अर्थशास्त्रियों के मतों में काफी भिन्नता है। एल.एच. हैने के मतानुसार सोलहवीं सदी से अठारहवीं सदी के मध्य में इसका जन्म हुआ, जबकि एक अन्य विद्वान् अलैक्जेण्डर ग्रे इसका प्रारम्भ चौदहवीं सदी के अन्त या पन्द्रहवीं सदी के प्रारम्भ से मानते हैं। प्रो. केनल वाणिज्यवाद के प्रारम्भ को सत्रहवीं सदी से पूर्व नहीं मानते। चूँकि "वाणिज्यवाद" एक आधुनिक शब्द है, इसलिए इसके उद्भव का समय निश्चित करना काफी कठिन है; क्योंकि इसके कुछ लक्षण हमें चौदहवीं सदी से ही दिखलाई पड़ते हैं।

वाणिज्यवाद का अर्थ—वाणिज्यवाद (जिसे वणिकवाद एवं व्यापारवाद भी कहा जाता है) शब्द का प्रयोग लम्बे समय तक होता रहा है, परन्तु इसकी परिभाषा किसी के द्वारा नहीं दी गई है, क्योंकि यह कोई संगठित एवं व्यवस्थित विचारधारा नहीं थी। इसलिए इसकी सही-सही परिभाषा करना बहुत कठिन है। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग एडम स्मिथ ने 1776 ई. में प्रकाशित अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "वैल्थ ऑफ नेशन्स" में किया था। बाद में, 1883-84 के मध्य जर्मन विद्वान् गुस्ताव वॉन श्मॉलर ने अपने लेख तथा पुस्तक में इस शब्द का प्रयोग किया। इसके बाद कई लेखक इस शब्द का प्रयोग करते रहे। इस सम्बन्ध में अलैक्जेण्डर ग्रे ने लिखा है कि, "प्रायः हम वाणिज्यवादी सिद्धान्त, वाक्यांश का प्रयोग करते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिए कि किसी समय पर लेखकों का कोई समूह था जिसने वाणिज्यवादी विचार प्रस्तुत किये।"

प्रोफेसर हैने का कहना है कि, "वाणिज्यवाद से आशय उस आर्थिक विचारधारा से है जो कि सोलहवीं सदी से लेकर अठारहवीं सदी के मध्य तक यूरोपीय राजनीतिज्ञों में काफी लोकप्रिय रही थी।" इंगलैण्ड में इसे "वणिकवाद' अथवा 'व्यापारवाद' के नामों से पुकारा जाता था। फ्रांस में इसे 'कोल्बर्टवाद' के नाम से तो जर्मनी में "केमर्लिजम' के नाम से पुकारा जाता था।

व्यापार और उद्योग को नियमित करके सोना और चाँदी प्राप्त करने की नीति ही वाणिज्यवाद कहलाती है। राजाओं और व्यवसायी लोगों का विश्वास था कि केवल सोना और चाँदी के संचित भण्डार ही देश को धनी एवं सशक्त बना सकते हैं। इसलिए प्रत्येक शासक अथवा सरकार ने सोना और चाँदी को अपने देश की ओर आकृष्ट करने और अपने देश से उनको बाहर जाने से रोकने के लिए नियम बनाये। उनमें से कुछ इस प्रकार थे—

1. जितने माल का आयात होता है, उसकी तुलना में निर्यात ज्यादा हो ताकि बाह्य देश को आयात-निर्यात के अन्तर का भुगतान सोना-चाँदी के रूप में करना पड़े। इससे व्यापार का 'अनुकूल सन्तुलन' बना रहेगा।

2. विदेशी माल की खरीद को निरुत्साहित करने के लिए सीमा-शुल्कों में वृद्धि की जाय ताकि विदेशी वस्तुएँ महँगी हो जायँ और लोग उन्हें खरीद न पायें।

3. स्वदेशी उद्योगों को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया जाय।

4. उपनिवेशों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील बने रहना। उपनिवेशों का उपयोग सोना-चाँदी और कच्चे माल के स्रोत के रूप में तथा मातृ-देश के तैयार माल की खपत के लिए बाजार के रूप में करो। उपनिवेशों के स्वयं माल बनाने या दूसरे देशों से व्यापार करने पर प्रतिबन्ध लगा दो।

वाणिज्यवाद का मौलिक सिद्धान्त यह है कि सम्पत्ति बहुमूल्य धातुओं से अर्जित होती है और चूँकि इन धातुओं की निश्चित राशि परिभ्रमण में रहती है, अतः प्रत्येक देश को अपने हित के लिए इनका अधिक से अधिक संग्रह करना चाहिए। उस युग में वही देश धनी एवं शक्ति-सम्पन्न माना जाता था जिसके कोष में इन धातुओं का विशाल भण्डार हो। कुछ शासकों ने इन धातुओं को प्राप्त करने का एक अन्य उपाय सोचा। वह था दूसरे देशों पर आक्रमण करके उनकी धन-सम्पदा का अपहरण करना। परन्तु यह अधिक कारगर सिद्ध नहीं हुआ।

वाणिज्यवाद का उद्देश्य—वाणिज्यवाद के अर्थ की व्याख्या से इसके उद्देश्य भी स्पष्ट हो जाते हैं। इसका मूल उद्देश्य अपने राष्ट्र के आर्थिक प्रभुत्व को बढ़ाना था। आर्थिक प्रभुत्व की वृद्धि के लिए सोना-चाँदी के भण्डार को बढ़ाना आवश्यक था और यह व्यापार-वाणिज्य के अनुकूल सन्तुलन से ही सम्भव था। "अधिक स्वर्ण प्राप्त करके अधिक शक्तिशाली बनो"—यह उनका नारा था। इसीलिए कुछ लेखकों ने वाणिज्यवाद को धातुवाद की संज्ञा दी है। फ्रांसिस बेकन ने वणिकवाद को शक्तिशाली राज्य प्राप्त करने की नीति बताया तो कनिंगहम ने इसे राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु आर्थिक शक्ति का साधन बताया। जर्मन विद्वान् गुस्ताव वॉन श्मॉलर ने इसका उद्देश्य समाज तथा राज्य का आर्थिक एकीकरण बताया।

वाणिज्यवाद के उदय के कारण

वाणिज्यवाद को भली-भाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि उन कारणों (कारकों) का अध्ययन किया जाय जो इसके विकास के लिए उत्तरदायी थे। इसके उदय के लिए उत्तरदायी कारण निम्नलिखित हैं—

1. पुनर्जागरण—तेरहवीं सदी के उत्तरार्द्ध से सोलहवीं सदी तक यूरोप में जो अभूतपूर्व सांस्कृतिक प्रगति हुई, उसको अँग्रेजी भाषा में "रेनेसाँ" कहते हैं। इसका अर्थ है "पुनर्जागरण"। व्यावहारिक दृष्टि से हम इसे मनुष्य की बौद्धिक-चेतना और चिन्तनशक्ति का पुनर्जन्म कह सकते हैं।

रोमन साम्राज्य की अवनति के साथ-साथ यूरोप में एक गहन अन्धकार छा गया था और सदियों तक यूरोपवासी इस अन्धकार में डूबे रहे। लोगों के जीवन पर चर्च और धर्म का गहरा प्रभाव था और मनुष्य को स्वतन्त्र रूप से चिन्तन करने की छूट नहीं थी। धर्मशास्त्रों में जो कुछ सच्चा-झूठा लिखा हुआ था अथवा धर्म के प्रतिनिधि जो कुछ बतलाते थे, उसे पूर्ण सत्य मानना पड़ता था। विरोध करने पर मृत्यु-दण्ड तक की सजा दी जाती थी।

मध्य युग के अन्त में स्थिति में धीरे-धीरे परिवर्तन आता गया। अब मनुष्य ने अपने आपको तथा अपनी उपलब्धियों को पहचानना शुरू कर दिया। वह परलोक की चिन्ता छोड़कर

इहलोक में जिज्ञासा रखने लगा। धार्मिक समस्यांओं के स्थान पर सांसारिक समस्याओं को प्रधानता देने लगा। पुनर्जागरण ने आलोचना को नई गति एवं विचारधारा को नवीन निडरता प्रदान की। उसने मनुष्य को अन्धविश्वासों, रूढ़ियों तथा चर्च के बन्धनों से मुक्त किया और मनुष्य को इस जीवन का पूरा-पूरा आनन्द उठाने को कहा। मानव जीवन को सार्थक बनाने की शिक्षा दी। चूँकि सांसारिक सुख के लिए धन-दौलत का संग्रह करना आवश्यक था, फलतः आर्थिक क्षेत्र में धीरे-धीरे व्यापक प्रगति होने लगी।

2. भौगोलिक खोजें—पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप यूरोपवासियों में भूगोल के प्रति अभिरुचि का विकास हुआ जिससे भौगोलिक अनुसन्धान को प्रोत्साहन मिला। पुर्तगाल और स्पेन ने यूरोप के अन्य देशों का मार्ग प्रशस्त किया। वास्कोडिगामा ने पूर्वी द्वीप समूह के लाभप्रद व्यापार का जलमार्ग खोज निकाला तो कोलम्बस ने अब तक अज्ञात अमेरिका की खोज की। बाद में अनेक यूरोपीय विश्व के अज्ञात क्षेत्रों के अनुसन्धान में जुट गये। नये क्षेत्रों से प्राप्त धन-सम्पदा से पुर्तगाल, स्पेन, इंगलैण्ड, हालैण्ड, फ्रांस आदि देश सम्पन्न होने लगे। धीरे-धीरे भौगोलिक अनुसंधानों का काम राष्ट्रीय गौरव का प्रतीक बन गया। एक तरफ तो व्यापार-वाणिज्य का विकास हुआ और दूसरी तरफ उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का प्रसार हुआ।

3. जनसंख्या में वृद्धि—इस काल में यूरोप की जनसंख्या में तेजी के साथ वृद्धि हुई। ज्यों-ज्यों यूरोप की जनसंख्या बढ़ती गई, त्यों-त्यों रोटी-रोजी की समस्या भी बढ़ती गई; क्योंकि अब मात्र कृषि के द्वारा बढ़ती हुई जनसंख्या को रोजी देना सम्भव न था। अतः अधिकाधिक लोग उद्योग-धन्धों की तरफ बढ़ने लगे। दूसरी बात यह थी कि जनसंख्या की वृद्धि के कारण दैनिक उपयोग की वस्तुओं की माँग भी बहुत अधिक बढ़ गई थी। बढ़ती हुई माँग ने औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन दिया। औद्योगिक विकास ने व्यापार-वाणिज्य को विकसित होने में सहयोग दिया और व्यापारी वर्ग समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करता गया।

4. धर्म सुधार आन्दोलन—धर्म सुधार आन्दोलन के पूर्व मध्ययुगीन चर्च की मान्यता थी कि धन का लालच मनुष्य को पाप की ओर ले जाता है। भौतिक सुख क्षणिक होता है। अतः सांसारिक धन-दौलत का संग्रह करना बेकार है और सूद पर रुपया देना पाप है। चर्च की उपर्युक्त शिक्षाएँ व्यापार-वाणिज्य के विकास में बाधक सिद्ध हो रही थीं।

सोलहवीं सदी में चर्च की कुछ धार्मिक बातों एवं विचारों के विरुद्ध जबरदस्त विद्रोह उठ खड़ा हुआ और विद्रोहियों ने रोमन चर्च का परित्याग करके अपने निजी चर्च की स्थापना की। धर्म के क्षेत्र में होने वाले इन परिवर्तनों से वाणिज्यवाद को नई शक्ति प्राप्त हुई। नये चर्च के अनुयायी जिन्हें 'प्रोटेस्टेंट' कहा गया, ने ब्याज लेने की तरफ उदार दृष्टिकोण अपनाया और मितव्ययता, समय और कठोर श्रम आदि पर जोर दिया, जो कि व्यवसाय की वृद्धि तथा पूँजीवाद के विकास के लिए आवश्यक गुण थे। इसके अलावा उन्होंने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर जोर दिया। उन्होंने व्यक्तिगत सम्पत्ति व संविदा की स्वतन्त्रता का समर्थन किया। इससे व्यक्तिवादी विचारधारा को समर्थन मिलने लगा। लोगों में व्यक्तिगत सम्पत्ति के सृजन तथा उसकी वृद्धि की भावना जोर पकड़ने लगी। इस प्रवृत्ति ने वाणिज्यवादी विचारधारा को पनपने का सुअवसर प्रदान किया।

5. राजनैतिक विचारों में परिवर्तन—धर्म सुधार आन्दोलन के पूर्व यूरोपीय राज्यों पर चर्च के प्रमुख पोप का जबरदस्त राजनैतिक प्रभाव था। राजाओं का राज्याभिषेक पोप की स्वीकृति के बाद ही किया जा सकता था। पोप को राज्यों के घरेलू तथा वैदेशिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार था। पोप अपने आदेश द्वारा किसी भी कैथोलिक राजा को धर्म एवं समाज से बहिष्कृत कर सकता था और उस राजा की प्रजा को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का आदेश भी दे सकता था। संक्षेप में, पोप के पास असीमित अधिकार थे जिसकी वजह से यूरोप के शासक राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तनों को प्रोत्साहन देने की स्थिति में न थे।

सोलहवीं सदी में यूरोप में राष्ट्रीय राज्यों और निरंकुश राजतन्त्रों की स्थापना तथा राजाओं की शक्ति को सबल बनाने पर जोर दिया जाने लगा। इस विचारधारा का स्पष्ट चित्रण उस युग के सुप्रसिद्ध लेखक मेकियावेली (मेकाविली) की रचना 'द प्रिन्स' में देखने को मिलता है। उसने लोगों को चर्च की शक्ति न मानकर राज्य की शक्ति को मानने तथा उसे सबल बनाने का सुझाव दिया। उसके अनुसार राजा की शक्ति सबसे बड़ी शक्ति है और देश के भीतर प्रचलित अन्य शक्तियों को राजा की शक्ति की अधीनता स्वीकार करनी चाहिए। मेकियावेली के विचारों की समीक्षा करते हुए अलैक्जेण्डर ग्रे ने लिखा है कि, "उन्होंने राजनीति को सब प्रकार की नैतिकता से अलग स्वतन्त्र स्थान दे डाला था।" जीन बोदिन तथा अन्य विचारकों ने भी राज्य की सार्वभौमिकता तथा सर्वोपरि नियन्त्रण के विचारों का प्रतिपादन किया।

प्रश्न यह उठता है कि उस समय के विचारकों ने राज्य की शक्ति को इतना अधिक महत्त्व एवं समर्थन क्यों दिया था ? इसका एक प्रमुख कारण उस युग के सामन्तों के आपसी संघर्ष तथा विदेशी आक्रमणों का भय था। आये दिन के लड़ाई-झगड़ों से शान्ति और सुरक्षा अस्त-व्यस्त हो गई थी और जनता पर करों का बोझ बढ़ने लगा था। व्यापार-वाणिज्य भी चौपट हो रहा था। लोगों की आर्थिक स्थिति दयनीय बन गई थी। ऐसी स्थिति में राजा की शक्ति को बढ़ाने की भावना बलवती होती गई। इस सम्बन्ध में वाणिज्यवादियों का मानना था कि व्यापार-वाणिज्य के माध्यम से ही राजा के कोष में धन की वृद्धि हो सकती है और धन के सहारे ही राजा अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ाकर आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था कायम करने में सफल हो सकता है। क्योंकि कृषि तथा घरेलू अर्थ-व्यवस्था के माध्यम से इतनी आय प्राप्त नहीं की जा सकती थी कि उससे प्रशासनिक व्यय के साथ-साथ एक शक्तिशाली सेना का व्यय भी उठाया जा सके। अतः व्यापार, विशेषकर विदेशी व्यापार, पर जोर दिया जाने लगा, जो वाणिज्यवादी विचारों का मूल मन्त्र था।

6. आर्थिक परिस्थितियाँ—वणिकवाद के उदय में उस समय की आर्थिक परिस्थितियों ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। मध्यकाल के पूर्वार्द्ध में व्यापार-वाणिज्य के विकास की तरफ विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। सामन्तों ने कृषि को अर्थ-व्यवस्था का आधार मान लिया था। उद्योग-धन्धे भी नाममात्र के थे और उनमें भी स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त ही उत्पादन होता था। सम्पूर्ण आदान-प्रदान वस्तु-विनिमय के माध्यम से होता था। इससे अर्थ-व्यवस्था के विकास में बाधा आती थी। किन्तु मुद्रा के प्रचलन से यह बाधा दूर हो गई और व्यापार-वाणिज्य का क्षेत्र व्यापक होता चला गया। इंगलैण्ड की साम्राज्ञी एलिजाबेथ प्रथम (1558-1603 ई.) ने सिक्के में सुधार करके व्यापार-वाणिज्य तथा उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन

दिया। सोलहवीं सदी के अन्त तक यूरोप के अनेक देशों तथा अमेरिका के कई क्षेत्रों में सोने तथा चाँदी के भण्डारों का पता लग जाने के बाद मुद्रा का प्रचलन काफी बढ़ गया। इसी युग में बैंकों का भी जन्म हुआ। बैंकों ने उद्योग-धन्धों की उन्नति तथा आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार-वाणिज्य को बढ़ाने में अभूतपूर्व सहयोग दिया। नये-नये देशों की खोज ने भी वाणिज्यवाद को बढ़ावा दिया। अब प्रत्येक देश व्यापार को बढ़ाकर सोना तथा चाँदी जैसी बहुमूल्य धातुएँ प्राप्त करने में जुट गया। इन आर्थिक परिस्थितियों ने कुशल एवं साहसी व्यक्तियों को व्यापार-वाणिज्य तथा उद्योग के क्षेत्र में प्रवेश करने के अवसर प्रदान किये। परिणामस्वरूप वाणिज्यवाद को एक नई शक्ति एवं गति प्राप्त हुई।

7. राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना—यूरोप में सामन्तवाद के पतन तथा राष्ट्रीय राज्यों का उदय, मध्ययुग की प्रमुख घटनाएँ हैं। जर्मन आक्रान्ता पश्चिमी यूरोप में स्थायी रूप से बस गये थे और स्थानीय लोगों से काफी हिलमिल गये। कालान्तर में उनके प्रयत्नों द्वारा पश्चिमी यूरोप में राष्ट्रीयता का प्रचार किया गया तथा राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण किया गया। सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में सामन्तवाद की शक्ति जर्जर हो चुकी थी। इससे राजाओं को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर मिला। इटली तथा जर्मनी में प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना नहीं हो पाई। परन्तु इंगलैण्ड, फ्रांस तथा स्पेन के शासकों ने राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की। बाद में पुर्तगाल, हालैण्ड, स्विट्जरलैण्ड, स्वीडन आदि देशों में भी राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई। राष्ट्रीय राज्यों ने अपने-अपने राज्यों में शान्ति एवं व्यवस्था को कायम किया। व्यापार-वाणिज्य की उन्नति के लिए यह नितान्त जरूरी था। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय राज्यों के भौगोलिक क्षेत्र में भी वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप वस्तुओं की माँग बढ़ी जिससे व्यापार-वाणिज्य को बढ़ावा मिला। चूँकि प्रत्येक राष्ट्रीय राज्य अपनी शक्ति एवं समृद्धि बढ़ाने के लिए उत्सुक था, अतः अपने राज्य के व्यापारियों को विदेशों से व्यापार करने तथा विदेशों से सोना-चाँदी राज्य में आयात करने के लिए प्रोत्साहित किया जाने लगा।

8. मध्यम वर्ग का उदय—मध्यम वर्ग के उदय ने वाणिज्यवाद को तथा वाणिज्यवाद के विकास ने मध्यमवर्ग को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। वस्तुतः ये दोनों कारक एक ही सिक्के के दो पहलू थे। नगरों के उदय और उनके महत्त्व की वृद्धि के साथ-साथ इस वर्ग का महत्त्व भी बढ़ता गया। चार्ल्स मोराजे ने लिखा है कि यूरोप के विस्तार, इसकी वैज्ञानिक खोजों और इसकी प्रगति में मध्यम वर्ग का सर्वाधिक योगदान रहा है। विज्ञान और तकनीकी ज्ञान के माध्यम से अर्जित औद्योगिक, व्यावसायिक और व्यापारिक निपुणता के द्वारा मध्यम वर्ग ने वाणिज्यिक चरित्र को धारण कर लिया। कुलीन वर्ग के पतन के बाद ही मध्यम वर्ग उद्योगपतियों और पूँजीपतियों का शासकीय-वर्ग बन बैठा। इससे वाणिज्यवाद को जबरदस्त समर्थन मिला।

प्रमुख वाणिज्यवादी विचारक

वाणिज्यवाद का समय लगभग तीन सौ वर्ष का रहा है। इस लम्बी अवधि में अनेक विचारक हुए जिन्होंने अपने विचार-प्रवाह से उस युग को नई दिशा प्रदान की। यहाँ हम कुछ प्रमुख वणिकवादियों के विचारों को स्पष्ट करेंगे जिससे विभिन्न देशों में वणिकवादी विचारों की सही-सही जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

1. सर टामस मन (1571-1641)—सर टामस मन इंगलैण्ड के एक प्रबुद्ध लेखक तथा व्यापारी थे। उनकी सुप्रसिद्ध पुस्तक "इंगलैण्ड्स ट्रेजर बाय फॉरिन ट्रेड", उनकी मृत्यु के काफी वर्षों बाद 1664 ई. में प्रकाशित हुई थी। लोग इस रचना को वाणिज्यवाद की गीता मानते हैं। टामस मन देश के धन-संग्रह के लिए विदेशी व्यापार को बढ़ाने के पक्ष में थे क्योंकि धन-वृद्धि से ही देश शक्तिशाली बन सकता है। उन्होंने ने लिखा, "अपनी समृद्धि बढ़ाने के लिए हमें विदेशों को अधिक माल निर्यात करना चाहिये और कम-से-कम आयात करना चाहिए।" अर्थात् व्यापार का संतुलन देश के पक्ष में होना चाहिये। इसी सन्दर्भ में उन्होंने सुझाव दिया कि आयात की वस्तुओं पर भारी मात्रा में कर लगाना चाहिये तथा निर्यात पर साधारण कर लगाना चाहिये। वह असीमित मात्रा में धन-संग्रह के पक्षपाती नहीं थे। उनका विचार था कि ऐसा करने से अन्त में व्यापार संतुलन प्रतिकूल हो जाता है।

2. ऐण्टोनिओसैरा (1580-1650)—इनका जन्म इटली में हुआ था। उन्होंने अपनी पुस्तक में व्यापारवादी सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला था। उन्होंने सोने-चाँदी के संग्रह के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखा था कि इससे देश महान् बनता है। उन्होंने कृषि की अपेक्षा उद्योगों को अधिक महत्त्व दिया। उनका कहना था कि उद्योगों में उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है और इसी से देश में धन-सम्पत्ति की वृद्धि भी होती है। इसके विपरीत कृषि में मौसम की अनिश्चितता के कारण लाभ अनिश्चित रहता है। इसके अतिरिक्त कृषि-जन्य पदार्थों को लम्बे समय तक सुरक्षित भी नहीं रखा जा सकता और कृषि-जन्य पदार्थों का व्यापार एक निश्चित क्षेत्र तक ही सीमित रहता है। वे मुद्रा के निर्यात को नियंत्रित करने तथा रोकने के पक्ष में नहीं थे।

3. जीन बैपटिस्ट कोल्बर्ट (1619-1683)—फ्रांस के वित्त मन्त्री कोल्बर्ट का वाणिज्यवाद को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा था। कालान्तर में वाणिज्यवाद को इन्हीं के नाम पर 'कोल्बर्टवाद' भी कहा जाने लगा। उनके प्रमुख विचार इस प्रकार थे—

(i) सड़कों व नहरों का निर्माण करके घरेलू अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ करना,
(ii) शक्तिशाली जहाजी-बेड़े का निर्माण करना,
(iii) अनाज के निर्यात व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाना,
(iv) गिल्डों पर सरकारी नियंत्रण बनाये रखना,
(v) मुद्रा के सृजन के लिए निर्माण उद्योगों को बढ़ावा देना, और
(vi) शक्तिशाली व्यापारिक कम्पनियों की स्थापना करना तथा फ्रांस के औपनिवेशिक साम्राज्य का विस्तार करना।

4. अन्य विचारक—इनके अलावा सर विलियम पैटी (1623-87), सर जोशिया चाइल्ड (1630-99), रिचार्ड कैन्टिलन (1680-1734), सर जेम्स स्टुअर्ट (1712-80), फिलिप विलियम वोन होर्निक (1638-1712), जॉन लॉक, जॉन जोकिम वैकर्स आदि अनेक विचारक हुए जिन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा वाणिज्यवाद को प्रोत्साहन दिया। सर विलियम पैटी को "सांख्यिकीय विधि" (Statistical Method) का संस्थापक कहा जाता है, क्योंकि उन्होंने सर्वप्रथम अर्थशास्त्र

में सांख्यिकी का प्रयोग किया था। जोशिया चाइल्ड ने कम ब्याज-दर की वकालत की। जॉन लॉक ने माँग व पूर्ति के सिद्धान्त का विकास किया। उनके विचारों में मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का भी संकेत मिलता है। जॉन वैकर्स, गिल्ड प्रणाली के समर्थक तथा सट्टे को बन्द करने के पक्षपाती थे। वे व्यापार के क्षेत्र में एकाधिकार के पक्ष में नहीं थे। उनका कहना था कि एकाधिकार की प्रवृत्ति देश का विनाश ही करती है। कैन्टिलन का मानना था कि कच्चे माल का आयात एवं उत्पादित माल (तैयार माल) का निर्यात करने से ही समृद्धि बढ़ती है। उपर्युक्त सभी विचारकों के विचारों ने सामूहिक रूप से यूरोप में वाणिज्यवाद को बढ़ावा दिया।

वाणिज्यवादियों के प्रमुख विचार

लगभग तीन सौ वर्ष तक यूरोप के प्रमुख देशों में वाणिज्यवादी विचारों का प्रभाव बना रहा। इस अवधि में सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों का सिलसिला भी जारी रहा और इन परिवर्तनों के फलस्वरूप वाणिज्यवादी विचारकों के विचार-प्रवाह में भी अन्तर आता गया। परन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण बातें ऐसी थीं जिनका समर्थन लगभग सभी वाणिज्यवादियों ने एक स्वर से किया। यहाँ उन्हीं महत्त्वपूर्ण बातों की व्याख्या की जा रही है।

1. शक्तिशाली राज्यों का निर्माण—लगभग सभी विचारकों की मान्यता थी कि व्यापार-वाणिज्य की उन्नति के लिए शक्तिशाली राज्यों का निर्माण किया जाना चाहिए। वैसे भी, वाणिज्यवाद का जन्म शक्तिशाली राज्यों के निर्माण के लिए हुआ था। मध्यकालीन युग में राजा से बढ़कर ईसाई धर्म के प्रमुख अधिकारी 'पोप' को मान्यता दी जाती थी। परन्तु जनता सामन्तों एवं राजाओं, सामन्तों के आपसी युद्धों, तथा बाह्य आक्रमणों से तंग आ चुकी थी। लगभग सभी देशों की आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गई थी। ऐसी स्थिति में यह सोचा जाने लगा कि देश की सुरक्षा के लिए राज्य को शक्तिशाली बनाया जाना चाहिए तथा देश में शान्ति एवं व्यवस्था कायम की जानी चाहिए। वाणिज्यवादियों ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की और राजाओं को पर्याप्त आर्थिक सहयोग एवं समर्थन देकर उनकी सैनिक शक्ति को सबल बनाया। इस समय ऐसे विचार प्रस्तुत किये जाने लगे थे जिनसे राजनीतिक एकता और राष्ट्रीय शक्ति प्राप्त की जा सकती थी।

2. सोने एवं चाँदी को महत्त्व—वाणिज्यवादियों ने राज्य की शक्ति को बढ़ाने वाले संसाधनों को जुटाने की तरफ विशेष ध्यान दिया। वे सोने तथा चाँदी को राज्य की शक्ति बढ़ाने का साधन मानते थे क्योंकि यही ऐसी धातुएँ थीं जिनके बदले में कोई भी चीज प्राप्त की जा सकती थी तथा इनके मूल्य में गिरावट आने की कम ही सम्भावना थी। वाणिज्यवादियों का प्रमुख नारा यह था कि "अधिक सोना, अधिक धन और अधिक शक्ति" (More Gold, More Wealth and More Power)। इस सम्बन्ध में विलियम पैटी ने लिखा है, "व्यापार का अन्तिम व महान् प्रभाव धन की वृद्धि करना नहीं है; बल्कि सोना, चाँदी और जवाहरात आदि बहुमूल्य पदार्थों की वृद्धि करना है; जो न तो नाशवान हैं और न ही परिवर्तनशील हैं। इनको प्रत्येक समय और स्थान में प्रयुक्त किया जा सकता है और वे हर समय सम्पत्ति होते हैं।" इसी प्रकार टामस मन ने लिखा है कि, "जिन राष्ट्रों के पास अपनी खानें नहीं हैं उनको स्वर्ण और चाँदी प्राप्त करके

धनवान बनना चाहिये।" चाइल्ड का मानना था कि "किसी देश की समृद्धि का माप-स्तर वहाँ पाये जाने वाले सोने व चाँदी की मात्रा है।" सोने और चाँदी को इतना अधिक महत्त्व देने का मुख्य कारण यह था कि इन धातुओं की सहायता से अस्त्र-शस्त्र तथा युद्धोपयोगी सामग्री खरीदी जा सकती थी और जिसके पास पर्याप्त मात्रा में अस्त्र-शस्त्रों का भण्डार होगा वह युद्ध को जीतने की सम्भावना रख सकेगा।

3. विदेशी व्यापार का महत्त्व—यह ठीक है कि वाणिज्यवादियों ने सोने तथा चाँदी को अधिक महत्त्व दिया था, परन्तु वे यह भी जानते थे कि घरेलू व्यापार से आवश्यकतानुसार सोना-चाँदी प्राप्त नहीं किया जा सकता। वांछित सोना-चाँदी प्राप्त करने के लिए विदेशों के साथ स्वदेश के व्यापार को बढ़ाना आवश्यक था। वे विदेशी व्यापार को आत्मनिर्भरता और सम्पन्नता का साधन मानते थे। इस सम्बन्ध में टामस मन ने लिखा है कि, "अपने धन को बढ़ाने का सबसे अच्छा ढँग विदेशी व्यापार है। इसे प्रोत्साहित करना आवश्यक है; क्योंकि राजा को अधिक आय, राज्य का सम्मान, व्यापारियों का व्यवसाय, हमारी कला की प्रगति, हमारे निर्धनों का भोजन, हमारी भूमि की उन्नति, नाविकों की शिक्षा, हमारे साम्राज्य की दीवारें, हमारे युद्धों की विजय सब कुछ विदेशी व्यापार पर निर्भर करते हैं।" विदेशी व्यापार को बढ़ाने के लिए जोशिया चाइल्ड का कहना था कि, "उन उद्योगों को सबसे अधिक प्रोत्साहन देना चाहिये जिनमें जहाजरानी का सबसे अधिक प्रयोग किया जाता है।"

विदेशी व्यापार में अधिकांश कच्चे माल का आयात और निर्मित माल का निर्यात किया जाता था क्योंकि इस प्रक्रिया से निर्यातक देश को लाभ-ही-लाभ होता था। निर्यातक देश में कल-कारखानों का विकास होता था तथा देश में रोजगार की मात्रा भी बढ़ती थी। अतः वाणिज्यवादियों ने व्यापार तथा उद्योग को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। वे कृषि को आय का साधन नहीं मानते थे।

4. अनुकूल व्यापार संतुलन—वाणिज्यवादी ऐसे विदेशी व्यापार के पक्ष में थे जिससे लगातार निर्यात बढ़े और आयात घटे। अर्थात् वे अनुकूल व्यापार संतुलन के पक्ष में थे। इसके लिए वे निम्नलिखित बातों पर जोर देते थे—

(i) विदेशों की बनी-बनायी वस्तुओं पर भारी मात्रा में आयात-शुल्क लगाने चाहिए, परन्तु खाद्यान्नों के आयात के सम्बन्ध में इस नियम का पालन नहीं किया जाना चाहिये।

(ii) निर्यातों का मूल्य आयातों के मूल्य की अपेक्षा अधिक न हो।

(iii) आयात या तो किया ही न जाय और यदि करना आवश्यक हो तो बदले में सोना-चाँदी न देकर देश में उत्पन्न वस्तुएँ ही देनी चाहियें।

(iv) देश में माल की खपत को कम-से-कम किया जाय और बचे हुए माल को विदेशों को निर्यात कर दिया जाय।

स्पष्ट है कि प्रत्येक देश अपने देश के व्यापार को अपने पक्ष में रखना चाहता था। अपने देश को लाभ पहुँचाने के लिए वाणिज्यवादियों ने विदेशी व्यापार में अनेक प्रकार के नियंत्रणों का भी समर्थन किया था।

5. औद्योगिक एवं व्यापारिक नियंत्रण—व्यापार की वृद्धि तथा विदेशी व्यापार को अपने पक्ष में बनाये रखने के लिए वाणिज्यवादियों ने अनेक प्रकार के औद्योगिक एवं व्यापारिक नियंत्रणों को महत्त्व दिया था। वे व्यापार की वृद्धि के लिए उद्योग-धन्धों का भी नियंत्रण करना चाहते थे। राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने के उद्देश्य से उन्होंने आयात तथा निर्यात को सरकारी सहयोग से नियंत्रित करने की बात कही थी। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों को अधिक महत्त्व दिया गया—

(i) आयातों को प्रतिबन्धित किया गया तथा कुछ विशेष कम्पनियों को ही आयात करने की सुविधाएँ दी गईं। निर्मित माल विदेशों में बेचने तथा कच्चे माल को प्राप्त करने के लिए उपनिवेशों की स्थापना की जाने लगी तथा पिछड़े देशों पर राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करने का प्रयास किया गया ताकि वहाँ की अर्थ-व्यवस्था पर नियंत्रण किया जा सके।

(ii) निर्यातों को बढ़ाने तथा आयातों को कम करने के लिए अनेक प्रकार के करों को लागू किया गया। ऐसी व्यवस्था की गई कि उद्योगों पर करारोपण का कम-से-कम भार पड़े ताकि उन्हें हानि न हो सके।

(iii) आर्थिक एवं रानीतिक दृष्टिकोण से ऐसी व्यवस्था की गई जिससे यातायात के साधनों, विशेपकर समुद्री यातायात, का विकास किया जा सके।

(iv) लगभग प्रत्येक वाणिज्यवादी ने जनसंख्या को बढ़ाने का सुझाव दिया था, क्योंकि उस युग में उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में मानव व पशु शक्ति का ही उपयोग अधिक होता था। जोशिया चाइल्ड का विचार था कि, "अच्छे नियम और अधिक जनसंख्या किसी भी देश को धनवान बनाने के मुख्य साधन होते हैं।"

6. कृषि सम्बन्धी विचार—यद्यपि वाणिज्यवादियों ने व्यापार को अधिक महत्त्व दिया था, फिर भी उन्होंने कृषि-व्यवस्था की उपेक्षा नहीं की थी। उन्होंने कृषि को व्यापार के बाद दूसरा स्थान दिया था। वे कृषि को कच्चे माल का स्रोत मानते थे और बहुत से उद्योग-धन्धे कृषि की उपज पर ही निर्भर थे। अतः उन्होंने मिट्टी की जाँच कर फसल बोने तथा बंजर और बेकार भूमि को कृषि योग्य बनाने पर जोर दिया। इसमें उनका मुख्य ध्येय कृषि के उत्पादन को बढ़ाना था ताकि उद्योगों को सस्ते मूल्य पर कच्चा माल उपलब्ध हो सके और वे निर्यात को बढ़ा सकें। टामस मन ने तो कृषि के अतिरिक्त मछलीपालन तक को आर्थिक दृष्टि से उपयोगी बताया था। कृषि को बढ़ावा देने का एक कारण खाद्यान्नों की दृष्टि से देश को आत्मनिर्भर बनाना भी था ताकि खाद्यान्नों के आयात से व्यापार संतुलन प्रतिकूल न हो जाय।

वाणिज्यवाद की नीतियों का व्यावहारिक प्रयोग

वाणिज्यवाद की सभी नीतियों को एक साथ यूरोपीय देशों ने नहीं अपनाया था। शनैः शनैः कुछ महत्त्वपूर्ण नीतियों को विभिन्न देशों के द्वारा अपनाया जाने लगा था। आर्थिक नियमों का पालन करने के लिए उन देशों के द्वारा समय-समय पर कुछ महत्त्वपूर्ण कानून भी बनाये गये थे। कुछ देशों द्वारा वाणिज्यवादी नीतियों को किस प्रकार से व्यवहार में परिणत किया गया, उसका संक्षिप्त विवरण आगे प्रस्तुत किया गया है।

1. इंगलैण्ड—इंगलैण्ड में वाणिज्यवादी नीति की आधारशिला,टयूडरवंश के शासकों के समय में रखी गई। सर्वप्रथम इस वंश के प्रथम शासक हेनरी सप्तम (1485-1509 ई.) के समय में कुछ नाविक कानून पास किये गये जिनके द्वारा यह निश्चित किया गया कि विदेशी व्यापार के लिए केवल इंगलैण्ड के जहाजों (अँग्रेजी जहाजों) का उपयोग किया जायेगा। इसके अलावा हेनरी सप्तम ने कुछ स्वदेशी उद्योगों (रेशम, गर्म वस्त्र, रस्सी उद्योग) को विशेष प्रोत्साहन दिया। उसकी नीति का मुख्य ध्येय यह था कि इन वस्तुओं के लिए देश का धन बाहर न जाए।

महारानी एलिजाबेथ प्रथम के शासन-काल (1558-1603 ई.) में इंगलैण्ड ने पूर्ण रूप से वाणिज्यवादी नीतियों को अपना लिया था। उत्पादन को बढ़ाने के लिए देश के अनेक स्थानों में श्रमिकों को प्रशिक्षित करने के लिए प्रशिक्षण केन्द्रों व शिविरों का आयोजन किया गया था। आन्तरिक व्यापार की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार किया जाने लगा और कानून बनाकर जल-यातायात को भी सुव्यवस्थित किया जाने लगा। श्रमिकों की माँग बढ़ने लगी और इसकी पूर्ति के निमित्त वहाँ "निर्धन कानून" लागू किया गया। अमेरिका, अफ्रीका तथा अन्य क्षेत्रों में उपनिवेश स्थापित करने की तरफ विशेष ध्यान दिया गया।

गणतन्त्र शासन (1649-1660 ई.) की अवधि में इंगलैण्ड ने स्वीडन से व्यापारिक सन्धियाँ करके बाल्टिक सागर में व्यापार करने की सुविधा प्राप्त कर ली। इसी प्रकार की सन्धियाँ डेन्मार्क तथा पुर्तगाल के साथ भी की गईं परन्तु स्पेन के साथ पुरानी नीति, अर्थात् स्पेन के जहाजों को लूटना, को जारी रखा गया। क्रामवेल के जहाजरानी कानूनों के अन्तर्गत इंगलैण्ड ने अमेरिका के उपनिवेशों के साथ होने वाले व्यापार पर अँग्रेजों के एकाधिकार को सुदृढ़ बना दिया। चार्ल्स द्वितीय तथा प्रधानमन्त्री वालपोल के समय में कच्चे माल के स्थान पर तैयार माल के निर्यात पर जोर दिया जाने लगा और फ्रांस तथा इटली से आयात होने वाली विलासिता की सामग्री पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इस प्रकार, वाणिज्यवादी विचारों को प्रोत्साहन दिया गया।

यूरोप में फ्रांस की शराब लोकप्रिय थी और इंगलैण्ड में भी इसकी काफी माँग थी। 1703 ई. में इंगलैण्ड ने पुर्तगाल के साथ एक सन्धि (मैथ्यून सन्धि) सम्पन्न की। इसका ध्येय इंगलैण्ड में फ्रांसीसी शराब के आयात को रोकना था। अब पुर्तगाली शराब आयात की जाने लगी। बदले में पुर्तगाल ने अपने अमेरिकी उपनिवेश ब्राजील के द्वार अँग्रेजी व्यापार के लिए खोल दिये। इंगलैण्ड ने इससे काफी मुनाफा कमाया।

हनोवर काल (1714-1789 ई.) में इंगलैण्ड ने अपने कपड़ा उद्योग की तरफ विशेष ध्यान दिया। कच्ची ऊन का निर्यात रोक दिया गया। चीनी रेशमी वस्त्रों तथा भारतीय सूती वस्त्रों के आयात को काफी सीमित कर दिया गया। मशीनों के निर्यात पर रोक लगा दी गई और कुशल विदेशी शिल्पियों को इंगलैण्ड में आकर बसने के लिए प्रोत्साहित किया। उपर्युक्त कारणों से इंगलैण्ड में वाणिज्यवाद फलता-फूलता रहा।

2. फ्रांस—फ्रांस के वित्तमन्त्री कोल्बर्ट ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। फ्रांस में तो 'वाणिज्यवाद' को उसके नाम के पीछे "कोल्बर्टवाद" के नाम से पुकारा जाने लगा था। फ्रांस के विदेशी व्यापार को बढ़ाने के लिए कोल्बर्ट ने अनेक प्रकार के व्यापारिक तथा

क नियन्त्रण लगाये थे जो स्थानीय व्यापारियों के हित में थे। श्रमिकों व सेवायोजकों के अच्छे सम्बन्ध बने रहें, इस दृष्टि से भी बहुत से कानून लागू किये गये। उद्योगों का नीयकरण करने, उत्पादन बढ़ाने तथा उत्पादन के विशिष्टिकरण लागू करवाने के लिए भी कानून बनाये गये थे। बैल के मतानुसार, "कोल्बर्ट के अधीन वाणिज्यवाद को फ्रांस में जितने विस्तार से लागू किया गया उतना इंगलैण्ड में भी नहीं किया जा सका।" फ्रांस ने भी कालान्तर में उपनिवेश स्थापित करने तथा एशिया के पिछड़े देशों पर अपना प्रभाव स्थापित करने की नीति को अपनाया जिसके परिणामस्वरूप उसे इंगलैण्ड से कई बार संघर्ष करना पड़ा।

फ्रांस के वाणिज्यवाद के सम्बन्ध में विशेष उल्लेख की बात यह है कि वहाँ आर्थिक-नीति-निर्धारण का कार्य नौकरशाही ने किया था जबकि इंगलैण्ड में वहाँ के व्यापारी समाज के सदस्यों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। नौकरशाही में विद्यमान दोषों के कारण फ्रांस को अपनी नीतियों का अपेक्षित लाभ नहीं मिल पाया। उदाहरण के लिए फ्रांस के वैज्ञानिकों तथा इंजीनियरों ने कई आविष्कार किये परन्तु उनका विकास एवं व्यावहारिक इस्तेमाल इंगलैण्ड तथा स्कॉटलैण्ड में किया गया।

3. स्पेन—यद्यपि स्पेन में वाणिज्यवादी नीति पर अधिक जोर दिया गया था परन्तु आन्तरिक अर्थव्यवस्था को सुधारने की तरफ ध्यान नहीं दिया गया। स्पेनवासियों ने सोने और चाँदी के संग्रह को विशेष महत्त्व दिया और इसके लिए उन्होंने उन सभी साधनों का उपयोग किया जिनके द्वारा सोना-चाँदी प्राप्त किया जा सकता था। इसके लिए उन्होंने अपने औपनिवेशिक साम्राज्य का विस्तार किया और उपनिवेशों का अत्यधिक आर्थिक शोषण भी किया। परन्तु आन्तरिक उद्योग-धन्धों की उपेक्षा करने के कारण वे अपने परिश्रम का लाभ न उठा सके। क्योंकि वे व्यापार सन्तुलन को अपने अनुकूल न बना पाये और परिश्रम से अर्जित सोना-चाँदी आयातित वस्तुओं के बदले में विदेशों को चला गया।

4. जर्मनी—जर्मनी ने अपने औद्योगिक विकास की तरफ ध्यान दिया। विदेशों से कुशल कारीगरों को जर्मनी में बसाने के लिए अनेक योजनाओं पर अमल किया गया। आयात और निर्यात को नियन्त्रित किया गया तथा व्यापारिक अवसरों की सूचियाँ बनाकर सरकारी अधिकारियों के माध्यम से व्यापारियों के बीच में वितरित करने का सिलसिला प्रारम्भ किया। इससे निजी विनियोग को प्रोत्साहन मिला। व्यापार एवं वाणिज्य के लिए मुद्रा तथा साख को भी विकसित किया जाने लगा।

वाणिज्यवाद की आलोचना

सत्रहवीं सदी के अन्तिम दशक से ही कई विचारकों ने वाणिज्यवाद की कमियों एवं दोषों को लेकर उसकी आलोचना करनी शुरू कर दी थी। कुछ लोग नियन्त्रित व्यापार की आलोचना करते हुए "मुक्त व्यापार" का समर्थन करने लगे थे। लॉक ने वाणिज्यवाद के मूल सिद्धान्तों पर चोट करते हुए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की बात प्रारम्भ कर दी थी। नार्थ ने विदेशी व्यापार की अपेक्षा आन्तरिक व्यापार और कृषि की उन्नति की तरफ विशेष ध्यान दिये जाने का समर्थन किया।

वाणिज्यवादियों ने अपना पूरा ध्यान बहुमूल्य धातुओं के संग्रह पर केन्द्रित किया था। उन्होंने इसके संग्रह के लिए नैतिक नियमों तक को ताक में रख दिया था। आलोचकों का कहना था कि इन बहुमूल्य धातुओं से व्यक्ति का पेट नहीं भरा जा सकता था। इस सम्बन्ध में एडम स्मिथ ने लिखा है कि, "किसी देश का धन उसकी सस्ती और अधिक मात्रा में वस्तुएँ पैदा करने की क्षमता में होता है; सोना और चाँदी तो केवल इन वस्तुओं को प्राप्त करने का साधन ही हो सकते हैं।" आलोचकों के अनुसार देश के उद्योग-धन्धों का विकास सोने तथा चाँदी की अपेक्षा लोहा और इस्पात से होता है। सम्पूर्ण व्यापार इसी पर निर्भर रहता है। अतः सोना-चाँदी की अपेक्षा लोहे और कोयले को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। आलोचकों का यह भी मत था कि जब तक आन्तरिक व्यापार और कृषि की उन्नति नहीं की जायेगी तब तक विदेशी व्यापार के लाभों की आशा करना निरर्थक है। इस सन्दर्भ में नार्थ ने लिखा है कि, "आन्तरिक व्यापार एवं कृषि विदेशी-व्यापार की दो महत्त्वपूर्ण आधारशिलाएँ हैं। उनकी उन्नति के बिना विदेशी व्यापार को बढ़ाना सम्भव नहीं।"

आलोचकों का कहना था कि वाणिज्यवादियों के अनुकूल व्यापार संतुलन सम्बन्धी विचार भी भ्रामक हैं। यह कैसे सम्भव हो सकता है कि एक देश लगातार दूसरे देश को निर्यात करता ही रहे उससे बहुत ही कम आयात करे। क्योंकि आयातक देश भी अपने निर्यातक देश को अपनी वस्तुएँ निर्यात करके लाभ कमाना चाहेगा। क्योंकि यदि सभी देश निर्यात पर अधिक जोर देंगे तो ऐसी दशा में विदेशी व्यापार लम्बे समय तक नहीं चल पायेगा।

राज्य को अधिक शक्तिशाली बनाने तथा विदेशी व्यापार को अपने पक्ष में बनाये रखने के लिए अनेक प्रकार के राजनैतिक तथा आर्थिक प्रतिबन्धों को लागू किया गया था। इनके परिणामस्वरूप व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को गहरा आघात पहुँचा था। सरकारी हस्तक्षेप तथा औद्योगिक संरक्षण के कारण आर्थिक क्षेत्र में सरकारी नीतियों को लागू किया जाने लगा था जिसके फलस्वरूप व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी वस्तुओं को विदेशों को निर्यात नहीं कर सकता था और न ही उनके उत्पादन के लिए आवश्यक सामान आयात कर सकता था। क्योंकि कुछ विशेष कम्पनियों को ही ऐसा करने का एकाधिकार दिया गया था। आलोचकों का मत था कि आर्थिक क्षेत्र में अत्यधिक हस्तक्षेप के कारण उद्योग-धन्धों का समुचित विकास नहीं हो पा रहा है।

उपनिवेशों की स्थापना तथा उनकी उपयोगिता के सम्बन्ध में वाणिज्यवादी और उनकी सरकारें भ्रान्त धारणा से ग्रस्त रहीं। उनका मानना था कि उपनिवेश मातृदेश को लाभ पहुँचाने के लिए है और इसी आधार पर वे उपनिवेशों का आर्थिक शोषण करते रहे। परन्तु उपनिवेशी इस प्रकार के विचारों को अधिक समय तक सहन करने को तैयार नहीं थे। परिणामस्वरूप इंगलैण्ड को अपने अमेरिकी उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा और इंगलैण्ड सहित यूरोपीय देशों को अपने उपनिवेशों के प्रति अपनी नीतियों में परिवर्तन करना पड़ा।

वाणिज्यवाद का महत्त्व—वाणिज्यवाद की उपर्युक्त आलोचना से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वाणिज्यवाद महत्त्वहीन अथवा अप्रासंगिक था। उस समय की परिस्थितियों में वह अनुकूल ही था। इस सन्दर्भ में प्रो. स्कॉट ने लिखा है कि, "वाणिज्यवादियों की आलोचना करना तो आसान है परन्तु ऐसा करना बेकार है। सामान्य प्रयोग में आने वाली आर्थिक नीति तथा

राजनीतिज्ञों एवं अर्थशास्त्रियों का पथ-प्रदर्शन करने वाले सिद्धान्तों के रूप में उसके दोषों से आज के विद्यार्थी भली-भाँति परिचित हैं। जब वाणिज्यवादी युग का परिस्थितियों के सन्दर्भ में अध्ययन किया जाता है तो इस व्यवस्था में दोष निकालना यद्यपि असम्भव नहीं तो भी कठिन अवश्य है।"

वाणिज्यवाद का अपना महत्त्व है। आयातों पर नियंत्रण लगाने से ही इंगलैण्ड के उद्योग-धन्धों को भरपूर लाभ हुआ और वहाँ की सभ्यता का भी विकास हुआ। इसी नीति के कारण शक्तिशाली राज्यों की नीव रखी जा सकी थी और इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी जैसे महान् राज्यों का निर्माण सम्भव हो सका था। वाणिज्यवादियों ने इस बात को भी स्पष्ट कर दिया था कि मुद्रा केवल विनिमय का माध्यम ही नहीं है; अपितु धन-संचय करने का साधन भी है। वाणिज्यवाद के कारण ही यूरोप का विस्तार सम्भव हो पाया था। इसी के माध्यम से एशियाई देशों में घुसपैठ करने का अवसर मिल पाया था।

वाणिज्यवाद का पतन : कारण

अठारहवीं सदी के अन्त में वाणिज्यवाद के अभेद्य दुर्ग का ढहना शुरू हो गया। एडम स्मिथ के द्वारा वाणिज्यवादी विचारों की कड़ी आलोचना की गई और उनकी पुस्तक "वेल्थ ऑफ नेशन्स" का प्रकाशन मुख्य रूप से वाणिज्यवाद के पतन के लिए उत्तरदायी था। संक्षेप में, वाणिज्यवाद के पतन में निम्नलिखित कारणों ने योग दिया—

1. फ्रांसीसी वाणिज्यवाद की असफलता का प्रभाव—फ्रांस में कोल्बर्टवाद अथवा वाणिज्यवादी नीतियों का लोगों ने घोर विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। अब लोग नियंत्रणों की अपेक्षा स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था पर अधिक विश्वास करने लगे थे। संयोगवश फ्रांस में कृषि की दशा खराब होती गई और राजकोष में वृद्धि करने के उद्देश्य से लोगों पर भारी मात्रा में कर लगाये जाने लगे। करों के बोझ से पीड़ित लोगों का परेशान होना स्वाभाविक ही था और वे वाणिज्यवाद की आलोचना करने लगे। फ्रांस में कोल्बर्टवाद (वाणिज्यवाद) की असफलता का प्रभाव दूसरे देशों पर भी पड़ा और परिणामस्वरूप वाणिज्यवाद अपना महत्त्व खोता चला गया।

2. कृषि की शोचनीय स्थिति—वाणिज्यवाद में व्यापार को प्रथम, उद्योग को द्वितीय और कृषि को तृतीय स्थान दिया गया था। लगभग तीन शताब्दियों तक यही व्यवस्था चलती रही। परिणामस्वरूप कृषि और कृषक-दोनों की स्थिति शोचनीय बनती चली गई। किसानों पर नाना प्रकार के कर लगाये जाते रहे। जिस भूमि पर वह रात-दिन परिश्रम कर रहा था, वही भूमि उसका पेट भरने में सहायक नहीं रह गयी थी। इस का एक कारण यह था कि सभी देशों में लगभग 70 प्रतिशत भूमि पर सम्पन्न एवं प्रभावशाली लोगों ने अधिकार जमा रखा था। कृषि सुधारों के बारे में जमींदार तथा सरकार दोनों ही उदासीन हो चुके थे, क्योंकि विदेशी व्यापार को ही अधिक महत्त्व दिया जाता रहा। परन्तु इस नीति से फ्रांस की अर्थ-व्यवस्था चरमराने लग गई। इसी समय "प्रकृतिवादियों" का जोर बढ़ा। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि कृषि से ही शुद्ध उपज उपलब्ध होती है। जबकि व्यापार एवं उद्योग बोझ है। इस प्रकार के विचारों ने वाणिज्यवाद की जड़ें हिला कर रख दीं।

3. व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति का सवाल—वाणिज्यवादियों ने सोने-चाँदी के संग्रह को सर्वाधिक महत्त्व दिया था। बाद में, यही बात उनके पतन का कारण भी बनी। सोना-चाँदी प्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकता था। पेट के लिए सोना-चाँदी की अपेक्षा अन्य वस्तुएँ अधिक उपयोगी समझी जाने लगीं। व्यक्ति के कल्याण का महत्त्व बढ़ने लगा जबकि सोने-चाँदी का महत्त्व कम होता चला गया।

4. स्वतन्त्र व्यापार की माँग—वाणिज्यवाद, व्यापार एवं औद्योगीकरण का प्रारम्भिक काल था। ज्यों-ज्यों उत्पादन के क्षेत्र में नये-नये अनुसन्धान होने लगे, त्यों-त्यों उत्पादन के क्षेत्र तथा तकनीक में भी विस्तार होता चला गया था। परिणामस्वरूप उत्पादन व व्यापार सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्धों को धीरे-धीरे हटाया जाने लगा क्योंकि अब वे अव्यावहारिक हो चुके थे। अब स्वतन्त्र व्यापार को अधिक उपयोगी माना जाने लगा। एकाधिकार प्राप्त कम्पनियों के स्थान पर निजी कम्पनियों ने आयात-निर्यात का कार्य करना शुरू कर दिया था। इस प्रकार जो प्रतिबन्ध और नियम वाणिज्यवाद को जीवित रखे हुए थे, जब वे ही समाप्त हो गये तो वाणिज्यवाद का अन्त स्वाभाविक ही था।

5. एडम स्मिथ के विचारों का प्रभाव—वाणिज्यवाद पर गहरी चोट एडम स्मिथ के विचारों ने की थी। उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध कृति "वेल्थ ऑफ नेशन्स" के माध्यम से वाणिज्यवाद की कमजोरियों को उजागर किया। उन्होंने व्यापार-वाणिज्य के क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप का विरोध किया तथा 'अहस्तक्षेप की नीति' का जोर-शोर से प्रचार किया और व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड़ देने का समर्थन किया। परिणामस्वरूप वाणिज्यवाद के प्रति लोगों का उत्साह कम होता गया और उसके प्रभाव में कमी आती गई। परन्तु बीसवीं सदी में यह नया रूप धारण करके पुनः प्रगट हो गया।

6. निरंकुश शासन के प्रति असंतोष—वाणिज्यवादियों ने सत्ता को सुदृढ़ एवं सर्वोपरि बनाने में अहम् भूमिका अदा की थी। समय के साथ-साथ राजाओं की शक्ति में वृद्धि होती गई। परन्तु बाद के राजाओं ने निरंकुशता के साथ शासन करना शुरू कर दिया। चूँकि वाणिज्यवादी राजा की सर्वोच्च सत्ता के समर्थक थे अतः लोगों में निरंकुश शासन के साथ-साथ वाणिज्यवादी व्यवस्था के विरुद्ध भी असन्तोष फैलने लगा। इसी समय कुछ यूरोपीय देशों में उदारवादी विचारधारा का उदय हुआ। उदारवादी विचारधारा ने लोगों के असन्तोष को भड़काने का काम किया।

इस प्रकार, उपर्युक्त कारणों के सामूहिक प्रभाव के परिणामस्वरूप वाणिज्यवादी व्यवस्था का पतन हो गया।

प्रश्न

1. वाणिज्यवाद का अर्थ समझाइये तथा इसके उदय एवं विकास के लिए उत्तरदायी कारणों का उल्लेख कीजिये।
2. वाणिज्यवाद के प्रमुख विचारकों का उल्लेख कीजिये तथा संक्षेप में वाणिज्यवाद से सम्बन्धित प्रमुख विचारों की व्याख्या कीजिये।
3. वाणिज्यवाद के पतन के लिए उत्तरदायी कारणों का विश्लेषण कीजिये।

अध्याय-4

अमेरिका का स्वतन्त्रता संग्राम
(The American War of Independence)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—अमेरिका की खोज एक आकस्मिक घटना ही थी। 1492 ई. में क्रिस्टोफर कोलम्बस स्पेन से एशिया का जलमार्ग ढूँढने निकला था, परन्तु वह नये संसार के पश्चिमी द्वीपसमूह में पहुँच गया। उस समय न तो कोलम्बस और न उसके समकालीन ही यह जानते थे कि पश्चिम की ओर से एशिया जाने में उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका बीच में पड़ते हैं। अमेरिका की खोज करने और उसका पता देने का श्रेय कोलम्बस को है पर अमेरिका का नाम अमेरिगो वेस्पुची नामक इटालियन के नाम पर पड़ा। उसने 1501 ई. में ब्राजील तक की यात्रा की थी। वापस आने पर उसने अपनी यात्राओं का इतना विशद् वर्णन किया कि उसका नाम कोलम्बस से भी अधिक लोकप्रिय हो गया और विद्वान् लोगों ने इस नये संसार को अमेरिका के नाम से पुकारना शुरू कर दिया।

अमेरिका में अपना राजनीतिक प्रभुत्व जमाने में स्पेन अग्रणीय रहा। उन दिनों दक्षिणी अमेरिका के ऊपरी क्षेत्र में दो सभ्य जातियाँ—एजटिक और इन्का—निवास करती थीं। एजटिक लोगों का राज्य था मैक्सिको और इन्का लोगों का पीरू (पेरू)। 1521 ई. में स्पेन ने मैक्सिको को जीत लिया और 1533 ई. में पीरू को जीता। उत्तरी अमेरिका में भी स्पेन वालों ने बस्तियाँ बसाने का प्रयास किया था परन्तु इस कार्य में उन्हें अधिक सफलता नहीं मिल पाई। आज जिसे हम 'संयुक्त राज्य अमेरिका' कहते हैं, उसकी पहली स्थायी बस्ती 1565 ई. में सेंट आगस्टाइन ने बसाई थी और उसका नाम 'फ्लोरिडा' रखा गया। यहाँ स्पेन वालों ने एक शक्तिशाली दुर्ग भी बनवाया।

उन्हीं दिनों इंगलैण्ड, फ्रांस, हालैण्ड, स्वीडन और पुर्तगाल भी नये संसार में अधिकाधिक रुचि लेने लगे थे। इटली निवासी जॉन कैबट ने इंगलैण्ड की तरफ से लेब्रेडोर और न्यू फाउण्डलैण्ड की खोज की। उसकी इसी यात्रा से इंगलैण्ड को उत्तरी अमेरिका के महाद्वीप पर अपना अधिकार जमाने का आधार मिल गया। 1524 ई. में वेराजानो फ्रांस का झण्डा लेकर उत्तरी तट पर जा पहुँचा और कैरोलाइना से न्यू फाउण्डलैण्ड तक गया। एक अन्य फ्रांसीसी जेक कार्टी ने लारेन्स नदी के रास्ते कनाडा में स्थित माण्ट्रियल तक के प्रदेश ढूँढे।

अमेरिका से आने वाले धन-धान्य से स्पेन काफी समृद्ध होने लगा था। स्पेन के शत्रु इंगलैण्ड को उसकी समृद्धि से जलन होने लगी और इंगलैण्ड की महारानी एलिजाबेथ का समर्थन पाकर अँग्रेज समुद्री डाकुओं ने स्पेनी जहाजों को लूटना शुरू कर दिया। परिणामस्वरूप स्पेन और इंगलैण्ड में भयंकर जलयुद्ध लड़ा गया जिसमें इंगलैण्ड विजयी रहा। इस पराजय के बाद स्पेन उत्तरी अमेरिका के तट के आधिपत्य के लिए अँग्रेजों के मुकाबले में खड़ा न हो सका। 1578 ई. में रानी एलिजाबेथ ने अपने अनुभवी सरदार हम्फरी गिलबर्ट को आदेश दिया कि वह "दूर-दूर तक के उन सभी प्रदेशों को बसाकर अपने अधिकार में कर ले जो अभी तक किसी ईसाई राजा के अधीन नहीं हैं।" गिलबर्ट का साहसिक अभियान न्यू फाउण्डलैण्ड तक गया परन्तु उसका यह अभियान असफल रहा और वापसी में गिलबर्ट की भी मृत्यु हो गई। इस घटना के छः वर्ष बाद एलिजाबेथ ने सर वाल्टर रैले को उत्तर में सेंट लारेन्स नदी और दक्षिण में फ्लोरिडा के बीच के प्रदेश में अँग्रेजों की बस्ती बसाने की अनुमति दी। इस क्षेत्र का नाम 'वर्जीनिया' रखा गया। 1585 से 1587 के मध्य अँग्रेजों ने उत्तरी कैरोलाइना के तट पर बस्ती बसाने का असफल प्रयास किया।

1606 ई. में इंगलैण्ड के राजा जेम्स प्रथम ने लन्दन और प्लीमथ (प्लाईमाथ) की कम्पनियों को यह अनुमति दी कि वे कुछ निश्चित प्रदेशों में उपनिवेश बसायें और लाभ के लिए व्यापार करें। लन्दन कम्पनी को जो क्षेत्र दिया गया था वह आज के न्यूयार्क नगर से लेकर दक्षिण में कैरोलाइना तक फैला हुआ था। प्लीमथ कम्पनी को आज के उत्तरी न्यू इंगलैण्ड और न्यूयार्क राज्य में पोटोमेक नदी के बीच का क्षेत्र दिया गया था। 1607 ई. में कप्तान क्रिस्टोफर न्यू पोर्ट के नेतृत्व में 120 अँग्रेजों ने वर्जीनिया क्षेत्र के जेम्स नदी के किनारे 'जेम्स टाउन' नामक बस्ती की स्थापना की। यह संयुक्त राज्य अमेरिका में अँग्रेजों की पहली स्थाई बस्ती थी जो कि लन्दन की कम्पनी के द्वारा स्थापित की गई थी। यद्यपि इस पहली बस्ती के लोगों को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और कुछ ही दिनों में उनमें से तीन-चौथाई लोग मर भी गये परन्तु तम्बाकू की व्यापारिक सम्भावनाओं ने शेष लोगों को जमे रहने की प्रेरणा दी।

जेम्स टाउन की स्थापना के बाद अँग्रेजों ने धीरे-धीरे अन्य बस्तियाँ कायम कीं। 1620 ई. में न्यू इंगलैण्ड की कौंसिल को बस्ती बसाने का आज्ञा-पत्र मिला। 1629 ई. में मेसाचूसेट्स कम्पनी को आज्ञा-पत्र मिला। यहाँ पर बसने आये प्रारम्भिक लोगों को 'यात्री' के नाम से पुकारा जाता है। ये लोग 'मेफ्लावर' नामक एक छोटे-से जहाज से वहाँ पहुँचे थे। ये सभी लोग प्यूरिटन थे और स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन विताने के लिए नये संसार में गये थे। 1632 ई. में लार्ड बाल्टीमोर को उपनिवेश बसाने का आज्ञा-पत्र मिला और उसने मेरीलैण्ड की बस्ती बसाई। 1633 में कैरोलाइना उपनिवेश बसाया गया और 1681 में विलियम पेन ने पेंसिलवेनिया बस्ती की नींव रखी। इस प्रकार, उपनिवेशों की संख्या में वृद्धि होती गई। जो तेरह उपनिवेश अन्ततः संयुक्त राज्य बने, वे थे—(1) न्यू हैम्पशायर, (2) मेसाचूसेट्स, (3) रोड आइलैण्ड, (4) कनेक्टिकट, (5) न्यूयार्क, (6) न्यूजर्सी, (7) पेंसिलवेनिया, (8) डेलावेयर, (9) मेरीलैण्ड, (10) वर्जीनिया, (11) उत्तरी कैरोलाइना, (12) दक्षिणी कैरोलाइना, और (13) जार्जिया।

उपनिवेशों में बसने के कारण—अपनी मातृभूमि का त्याग और सामुद्रिक यात्रा के विषम कष्ट सहन करके अमेरिकी उपनिवेशों में आकर बसने के पीछे कई कारण थे। डॉ. बनारसी प्रसाद सक्सेना ने चार प्रमुख कारणों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं—(1) यूरोप में होने वाले निरन्तर और जनसंहारक युद्धों से मुक्ति की आशा, (2) उस भयंकर परिपाटी से बचने की आशा, जिसके अन्तर्गत निर्धन लोगों को पकड़कर युद्धों में भाग लेने हेतु उनको अमीरों और सत्ताधारियों के हाथ बेच दिया जाता था, (3) यह आशा कि नई दुनिया में पहुँचकर ईमानदारी से कारोबार का अवसर प्राप्त हो सकेगा और इसके द्वारा जो लाभ प्राप्त होगा, उससे वे लोग अपनी सन्तानों के लिए मकान बना सकेंगे, और (4) यह अभिलाषा कि धार्मिक तथा साम्प्रदायिक अत्याचार एवं उत्पीड़न से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप से वे ईश्वर की आराधना कर सकेंगे, जहाँ पर न तो चर्च का ही दबाव होगा और न सरकारी कर्मचारियों का।

अधिकांश यूरोपीय उत्प्रवासियों (देश छोड़कर उपनिवेशों में बसने वाले लोग) ने अपना घर इसलिए छोड़ा था कि उन्हें यहाँ अधिक आर्थिक अवसर मिलेंगे। इस प्रेरणा को बहुधा धार्मिक स्वतन्त्रता की लालसा अथवा राजनीतिक उत्पीड़न से बचकर भागने के दृढ़ संकल्प ने और भी बल दिया। 1620 ई. से 1635 ई. की अवधि में इंगलैण्ड के अधिकांश लोगों को आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। बहुत-से लोगों को रोजगार उपलब्ध नहीं हो पाता था। कुशल कारीगर भी किसी भाँति ही अपनी जीविका चला पाते थे। खराब फसलों ने लोगों की कठिनाई को और भी बढ़ा दिया था। अतः ऐसे बहुत से लोग नये संसार में बसने को उत्सुक हो गये। परन्तु ऐसे लोगों में भी कुछ ही ऐसे थे जो अपने परिवार का मार्ग व्यय तथा नये देश में जीवन प्रारम्भ करने का भार उठा सके। अन्य लोगों का भार उपनिवेश स्थापित करने वाली कम्पनियाँ उठाती थीं। इसके बदले में उपनिवेशियों को एक निश्चित समय तक कम्पनी के लिए मजदूरी करनी पड़ती थी। अवधि समाप्ति के बाद वे स्वतन्त्र हो जाते थे। अमेरिकी उपनिवेशों में इस प्रकार की अवस्था में काम करने वालों को समाज में किसी प्रकार हीन नहीं समझा जाता था।

16वीं और 17वीं शताब्दियों की धार्मिक उथल-पुथल ने भी बहुत से लोगों को अपना देश छोड़ने के लिए विवश किया। मेसाचूसेट्स के समीप प्लीमथ उपनिवेश की स्थापना करने वाले प्यूरिटन अँग्रेज ही थे जो अपनी धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए ही इंगलैण्ड से चले थे। मेसाचूसेट्स की स्थापना भी प्यूरिटन लोगों ने ही की थी। विलियम पेन और उसके साथ क्वेकरों ने धार्मिक दृष्टि से ही पेंसिलवेनिया की स्थापना की। कैथोलिकों ने मेरीलैण्ड को आबाद किया। इस प्रकार, उपनिवेशों में विभिन्न सम्प्रदायों के लोग अलग-अलग क्षेत्रों में बस रहे थे।

राजनीतिक कारणों ने भी लोगों को देश छोड़ने के लिए विवश किया। 1630 के दशक में इंगलैण्ड के चार्ल्स प्रथम के स्वेच्छाचारी शासन से तंग आकर लोग उपनिवेशों में आ बसे तो ओलीवर क्रामवेल के शासन में राजा के सहायक सरदार और उसके अनुयायी भाग्य आजमाने के लिए उपनिवेशों में आ बसे। जर्मन राजाओं की निरंकुशता ने बहुत से जर्मनों को उपनिवेशों में बसने को प्रेरित किया।

इस प्रकार, अनेक कारणों से प्रभावित होकर लोग उपनिवेशों की ओर प्रेरित हुए थे। परन्तु उन सबमें किसी-न-किसी प्रकार का असन्तोष था और वे सभी लोग प्रारम्भ से ही व्यक्तिगत

स्वतन्त्रता के पुजारी थे। औपनिवेशिक विकास की सभी अवस्थाओं में एक आश्चर्यजनक विशेषता यह थी कि उन पर अँग्रेजी सरकार के प्रभाव और नियन्त्रण का अभाव था। 1651 ई. से ब्रिटेन की सरकार ने उपनिवेशियों के आर्थिक जीवन को नियन्त्रित करने के लिए समय-समय पर कानून बनाये परन्तु उन्हें लागू करने की पूरी चेष्टा नहीं की गई।

क्रान्ति के कारण

अमेरिकी उपनिवेशों की क्रान्ति विश्व-इतिहास की प्रमुख घटनाओं में से एक है और इतिहास में इसका अपना ही स्थान है। तेरह उपनिवेशों में आवाद लोगों में काफी भिन्नता थी और उनमें से वहुतों को इंगलैण्ड से कोई विशेष शिकायत भी न थी; फिर भी, परिस्थितियों ने उन्हें एकता के सूत्र में आबद्ध कर दिया और वे शक्तिशाली इंगलैण्ड के विरुद्ध उठ खड़े हुए और अन्त में इंगलैण्ड के निरंकुश शासन से मुक्त होने में सफलता मिली। उपनिवेशियों के इस असन्तोष का मुख्य कारण सामान्यतया इंगलैण्ड की सरकार द्वारा उपनिवेशों पर लगाये गये विभिन्न करों को वताया जाता है, परन्तु इस वात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनके असन्तोष एवं विद्रोह के मूल में अन्य बहुत से कारण विद्यमान थे। उनमें से कुछ इस प्रकार थे—

(1) उपनिवेशियों में इंगलैण्ड के प्रति प्रेम का अभाव—इंगलैण्ड को छोड़कर अमेरिका के तेरह उपनिवेशों में बसने वाले अधिकांश लोगों में इंगलैण्ड के प्रति कोई विशेष प्रेम न था। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, बहुत से लोग धार्मिक अत्याचारों से परेशान होकर उपनिवेशों में आकर बसे थे। ऐसे लोगों को इंगलैण्ड के चर्च तथा वहाँ की सरकार से कोई विशेष सहानुभूति या प्रेम नहीं था। अँग्रेजों के अलावा अन्य यूरोपीय देशों के बहुत से लोग भी उपनिवेशों में आकर बस गये थे। उन लोगों से इंगलैण्ड के लिए कोई विशेष सहानुभूति की आशा नहीं की जा सकती थी। सत्रहवीं सदी में इंगलैण्ड में सजा देकर भी अपराधी लोगों को इन बस्तियों में भेज दिया जाता था। जेल के अधिकारियों तथा जजों को प्रोत्साहित किया जाता था कि अपराधियों को दण्ड भोगने की वजाय अमेरिका जाकर वसने का अवसर दें। ऐसे लोगों की सन्तानों से इंगलैण्ड के लिए प्रेम की आशा करना निरर्थक था। औपनिवेशिक विकास की सभी अवस्थाओं में एक आश्चर्यजनक विशेषता यह थी कि अपने निर्माणकाल से ही उपनिवेश परिस्थितियों के अनुसार अपना विकास करने में स्वतन्त्र थे। इंगलैण्ड की सरकार ने जार्जिया के अतिरिक्त और किसी उपनिवेश को स्थापित करने में कोई प्रत्यक्ष भाग नहीं लिया और उनके राजनीतिक निर्देशन में क्रमशः ही हस्तक्षेप किया। अतः उपनिवेशों पर शुरू से ही इंगलैण्ड सरकार के प्रभाव और नियन्त्रण का अभाव था। इसके अलावा उस समय यातायात के साधन इतने खराब और अपर्याप्त थे कि इंगलैण्ड और ये उपनिवेश एक-दूसरे के सम्पर्क में अधिक न आ सके। इस प्रकार, दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत ही कच्चे थे और जव उपनिवेशों में इंगलैण्ड के विरुद्ध विद्रोह उठ खड़ा हुआ तो उपनिवेशों में इंगलैण्ड के प्रति सहानुभूति रखने वाले लोगों की संख्या वहुत ही कम थी।

(2) चारित्रिक भिन्नता—उपनिवेशों में रहने वाले लोगों और इंगलैण्ड में रहने वाले लोगों में काफी चारित्रिक भिन्नता थी। यह ठीक है कि उपनिवेशियों की 90 प्रतिशत जनसंख्या

अँग्रेजों की थी। परन्तु ये अँग्रेज इंगलैण्ड के अँग्रेजों से भिन्न थे। इतिहासकार ट्रेवेलियन ने लिखा है कि जहाँ अँग्रेज समाज पुराना था और उसमें पेचीदापन और कृत्रिमता आ चुकी थी, वहाँ अमेरिकन लोग अभी नये-नये और सरल थे। उन्होंने अपनी सारी पूर्व-धारणाओं और रीति-रिवाजों को त्यागकर एक नया जीवन अपनाया था और अब वे 'अमेरिकी' बन गए थे। इस प्रवृत्ति को अन्य राष्ट्रीय दलों और संस्कृतियों के सम्मिश्रण से, जो साथ-साथ हो रहा था, और अधिक बल मिला। अँग्रेजों और अमेरिका के लोगों में धार्मिक मतभेद भी थे। उपनिवेशों के अधिकांश निवासी प्यूरिटन थे जबकि इंगलैण्ड के लोग इंगलैण्ड के चर्च के अनुयायी थे। उपनिवेशियों में समानता की भावना अधिक प्रबल थी, जबकि इंगलैण्ड में अभी भी वर्ग-भेद बना हुआ था और समाज में कुलीन-वर्ग के लोगों की प्रधानता थी। इस प्रकार, दोनों के दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न थे।

(3) **उपनिवेशियों का स्वतन्त्रता प्रेम**—उपनिवेशों में आबाद लोग इंगलैण्ड के लोगों की अपेक्षा अधिक उत्साही और स्वतन्त्रताप्रिय थे। उनमें जनतन्त्र शासन-पद्धति और स्वतन्त्रता का इंगलैण्ड के लोगों से भी अधिक प्रचार था। इसकी स्पष्ट झलक वर्जीनिया के प्रथम अधिकार-पत्र में ही देखने को मिलती है, जिसमें जोर देकर कहा गया है कि, "बसने वालों को सभी स्वाधीनताएँ, मताधिकार एवं रियायतें प्राप्त होंगी, ठीक उसी तरह जैसी वे इंगलैण्ड में जन्म लेने पर प्राप्त करते।" यह एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण बुनियादी सिद्धान्त था। नये महाद्वीप पर पैर रखने के प्रथम वर्ष से ही उपनिवेशी अँग्रेजी कानून और संविधान के अनुसार कार्य करने लगे थे—उनकी विधान सभा थी, प्रतिनिधिक शासन-पद्धति थी और सामान्य विधि (कॉमन ला) द्वारा आश्वासित व्यक्तिगत अधिकारों की मान्यता थी। उपनिवेशियों में आगे बढ़ने की भावना थी और उनकी विधान सभाएँ अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करती थीं। वे बस्तियों के आन्तरिक मामलों पर बड़ा ध्यान देती थीं। आरम्भ में इंगलैण्ड के राजा ने भी स्वेच्छा से उनकी शासन पद्धति को मान्यता दे दी थी। परन्तु जब इंगलैण्ड की संसद ने अमेरिकी उपनिवेशों को साम्राज्यवादी नीति के अनुरूप ढालने की ओर ध्यान दिया तो काफी देर हो चुकी थी। इस समय तक बस्तियाँ स्वयं शक्तिशाली और सम्पन्न हो चुकी थीं। ऐसी स्थिति में उपनिवेशी लोग भला यह कैसे गवारा कर सकते थे कि दूसरे लोग उनको यह सिखाएँ कि वे किस तरह अपना शासनभार सम्भालें। वे किसी भी कीमत पर अपनी स्वतन्त्रता को त्यागने के लिए तैयार न थे। वे चाहते थे कि अपनी परिस्थितियों के अनुकूल कानून वे स्वयं ही बनायें। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वे रूढ़िवादी और पुरानी लकीरों पर चलने वाले इंगलैण्ड से स्वतन्त्र होना चाहते थे।

(4) **दोषपूर्ण शासन-व्यवस्था**—उपनिवेशों की शासन-व्यवस्था भी सन्तोषजनक न थी और उसमें कई प्रकार के दोष विद्यमान थे। शासन-व्यवस्था के तीन प्रमुख अंग थे—(1) गवर्नर, (2) गवर्नर की कार्यकारिणी समिति, और (3) विधायक सदन अथवा असेम्बली। गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी समिति सम्राट के अन्तर्गत थी और वे विधायक सदन के प्रति उत्तरदायी नहीं होते थे। विधायक सदन में जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि होते थे। कानून-निर्माण और कर लगाने का अधिकार विधायक सदनों के हाथ में था। ऐसी स्थिति में गवर्नरों के लिए जनता के प्रतिनिधियों का विरोध करना बहुत ही कठिन काम था। इसका एक अन्य कारण भी था। शासन कार्य चलाने वालों—गवर्नर सहित सभी लोगों का वेतन तय करने का अधिकार विधायक सदनों

विशेष सहायता नहीं दी। फिर भी इंगलैण्ड को निर्णायक सफलता मिली और उत्तरी अमेरिका का विस्तृत फ्रांसीसी साम्राज्य इंगलैण्ड के अधिकार में आ गया।

सप्तवर्षीय युद्ध के दूरगामी परिणाम निकले। अब तक अमेरिका के उपनिवेश इंगलैण्ड के साथ इसलिए लटके चले आ रहे थे कि उन्हें कनाडा में रहने वाले फ्रांसीसियों से हमेशा आक्रमण का भय बना रहता था और उन्हें अपनी सुरक्षा के लिए इंगलैण्ड पर आश्रित रहना पड़ता था। परन्तु सप्तवर्षीय युद्ध में फ्रांसीसी शक्ति का अन्त हो गया और उसके साथ ही फ्रांसीसियों के आक्रमण का भय भी जाता रहा। इसलिए अँग्रेज बस्तियों ने अनुभव किया कि अब इंगलैण्ड के साथ चिपटे रहने में उन्हें कोई लाभ नहीं। अतः सप्तवर्षीय युद्ध के बाद बस्तियों के रुख में एकदम परिवर्तन आ गया और उन्होंने इंगलैण्ड की शक्ति की अवहेलना करनी शुरू कर दी। इस संघर्ष में भाग लेकर अमेरिकी लोगों ने अन्तरौपनिवेशिक सहयोग के सम्बन्ध में बहुत कुछ सीख लिया कि किस प्रकार सेनाएँ और साधन संगठित करके एक सह-उद्देश्य के लिए युद्ध किया जा सकता है। पृथक्-पृथक् शासन वाले तेरह विभिन्न राज्यों में एकता पैदा करने में अभी कुछ वर्ष का समय चाहिए था, परन्तु इस ओर एक बड़ा कदम इस प्रकार उठ गया। इस युद्ध का एक परिणाम यह भी हुआ कि उपनिवेशों को अपनी शक्ति का अनुभव हुआ। अमेरिका के 'भद्दे' सैनिकों पर ब्रिटिश कितना भी नाक-भौं क्यों न चढ़ायें, यह एक सत्य है कि औपनिवेशिक सेनाओं ने प्रत्येक युद्ध में सुशिक्षित ब्रिटिश सैनिकों के साथ-साथ बड़ी योग्यता से काम किया था। अन्त में इस युद्ध के परिणामस्वरूप इंगलैण्ड की आर्थिक स्थिति डगमगा उठी और नवविजित क्षेत्र को लेकर भी समस्या उठ खड़ी हुई। इन दोनों का विस्तृत विवरण अलग से किया जा रहा है, क्योंकि इनके कारण दोनों पक्षों में तनाव की खाई चौड़ी हो गई थी।

(7) **नवविजित क्षेत्र की समस्या**—सप्तवर्षीय युद्ध में फ्रांस की पराजय के बाद उत्तरी अमेरिका का समूचा फ्रेंच-क्षेत्र इंगलैण्ड के अधिकार में आ गया। इस क्षेत्र में मुख्यतः कैथोलिक फ्रांसीसी और आदिवासी रेड इण्डियन्स बसे हुए थे। अतः इंगलैण्ड के सामने एक ऐसी नीति अपनाने की आवश्यकता आ पड़ी जिससे कि फ्रांसीसियों और रेड इण्डियनों में आत्मविश्वास पैदा किया जा सके और साथ ही उनकी सुरक्षा की व्यवस्था भी की जा सके। उत्तरी अमेरिका के रेड इण्डियनों को शुरू से ही अँग्रेजों से घृणा थी। वे फ्रांसीसियों को अधिक पसन्द करते थे। दूसरी तरफ उपनिवेशी इस विशाल विजितक्षेत्र में अपनी तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ स्वयं लाभ उठाने पर तुले हुए थे। इस प्रकार, यहाँ इंगलैण्ड की सरकार का उपनिवेशों के स्वार्थ से संघर्ष हो गया। नयी भूमि की आवश्यकता के कारण विभिन्न उपनिवेशों ने यह दावा किया कि पश्चिम में मिसिसिपी नदी तक अपनी सीमा बढ़ाने का उन्हें अधिकार है।

इंगलैण्ड की सरकार को यह भय था कि उपनिवेशियों के नये क्षेत्र में जाकर बसने से वहाँ के मूल निवासियों (रेड इण्डियन्स) के साथ कहीं युद्धों का सिलसिला न आरम्भ हो जाय। अतः वह चाहती थी कि रेड इण्डियनों को शान्त होने के लिए थोड़ा समय देना चाहिए और उपनिवेशों के मध्य भूमि-वितरण का काम धीरे-धीरे होना चाहिए। इसलिए 1763 ई. में एक शाही घोषणा द्वारा एलेगनीज, फ्लोरिडा, मिसिसिपी और क्वेबेक के बीच का समूचा क्षेत्र रेड इण्डियनों के लिए सुरक्षित कर दिया गया। इससे उपनिवेशियों का पश्चिम की ओर प्रसार रुक गया और वे अपनी सरकार को अपना शत्रु समझने लगे।

(8) **नयी आर्थिक नीति**—सप्तवर्षीय युद्ध में इंगलैण्ड ने अपने उपनिवेशों को बचाने के लिए बहुत धन खर्च किया था जिससे उसकी आर्थिक स्थिति डगमगाने लग गई थी। अँग्रेज राजनीतिज्ञों का मानना था कि चूँकि यह धन उपनिवेशों की रक्षा के लिए व्यय किया गया था, अतः उपनिवेशों को इंगलैण्ड के आर्थिक संकट को दूर करने में हिस्सा बँटाना चाहिए। परन्तु उपनिवेशियों ने इसे साम्राज्य-विस्तार के लिए लड़ा गया युद्ध मानकर सहयोग देने से इन्कार कर दिया। इतना ही नहीं, अपितु उपनिवेशों ने भविष्य में भी बस्तियों की रक्षा के लिए खर्च होने वाले धन में भी अपना हिस्सा देने से इन्कार कर दिया।

शुगर एक्ट—युद्ध के अन्तिम दिनों में इंगलैण्ड की राजनीति में परिवर्तन आ गया था। जार्ज तृतीय के राजा बनने के एक वर्ष के भीतर ही पिट को प्रधानमन्त्री का पद छोड़ना पड़ा और ग्रेनविल नया प्रधानमन्त्री बना। ग्रेनविल और उसके साथी मन्त्री टाउनशेंड ने यह तय किया कि उपनिवेशों में अधिक जागरूक शासन की व्यवस्था करनी चाहिए और उपनिवेशों से शासन-व्यय के साथ-साथ संरक्षण-व्यय भी वसूल किया जाना चाहिए। इसके लिए दो उपाय सोचे गये—(1) नाविक और व्यापारिक नियमों का कड़ाई से पालन करवाना और (2) अमेरिकी व्यापार और उद्यम से सम्बन्धित नये कानून बनाना। नयी व्यवस्था आरम्भ करने में पहला कदम 1764 ई. में 'शुगर एक्ट' था जिसका ध्येय व्यापार को नियन्त्रित किये बिना आय बढ़ाना था। यह पुराने 'मोलेसेज एक्ट' का ही संशोधित रूप था। संशोधित 'शुगर एक्ट' के अनुसार विदेशी रम का आयात बन्द कर दिया गया; सभी स्थानों से आये शीरे पर साधारण कर लगा दिया और शराब, रेशम, कॉफी तथा अनेक विलास-सामग्रियों पर भी कर लगा दिया गया। इसको कड़ाई से लागू करने के लिए सीमा-शुल्क अधिकारियों को यह आदेश दिया गया कि वे अधिक दृढ़ता से काम करें। अमेरिकी समुद्र में स्थित ब्रिटिश युद्ध-पोतों को कहा गया कि वे तस्कर-व्यापारियों को पकड़ लें और शाही अधिकारियों को 'रिट्स ऑफ असिस्टेंस' (विस्तृत अधिकारों के वारण्ट) द्वारा संदिग्ध स्थानों की तलाशी लेने का अधिकार दे दिया गया। उपनिवेशियों के लिए—इस नियम की व्यापकता तथा इसके पालन के लिए उठाये गये कदम—दोनों ही असन्तोषजनक थे। क्योंकि इससे उनके आर्थिक हितों को नुकसान पहुँच रहा था। एक पीढ़ी से भी अधिक समय से न्यू इंगलैण्ड वाले अपने रम की भट्टियों के लिए अधिकांश शीरा फ्रांसीसी और डच पश्चिमी द्वीप समूह से बिना किसी आयात-कर के मँगाते थे। अब वे न तो सस्ते दामों पर शक्कर ही मोल ले सकते थे और न रम बनाने के लिए शीरा ही ला सकते थे। इसके विपरीत यह नियम अँग्रेज शक्कर-उत्पादकों के लिए लाभदायक था। अतः उनका उत्तेजित होना स्वाभाविक ही था। इसके अलावा, 1764 ई. के राजस्व-अधिनियम (रेवेन्यू एक्ट) में यह कहा गया था कि 'राज्य की आय को बढ़ाने के लिए' कर लगाये गये हैं। कर लगाने का यह नया अधिकार शीघ्र ही विवाद का विषय बन गया। इसी विवाद ने अन्ततः अमेरिकी उपनिवेशों को इंगलैण्ड से अलग कर दिया। व्यापारियों, विधानसभाओं तथा नगरसभाओं ने एक स्वर से इसका विरोध किया और सैमुएल एडम्स जैसे लोगों को इसमें 'बिना प्रतिनिधित्व के कर लगाने' का पहला आभास मिला।

करेन्सी एक्ट—उसी वर्ष इंगलैण्ड की संसद ने एक मुद्रा-कानून (करेंसी एक्ट) पास किया। इसके अनुसार, "राजा के किसी भी उपनिवेश में भविष्य में जारी की गयी कोई हुण्डी

वैध नहीं मानी जानी थी।" हुआ यह कि बहुत से उपनिवेशी नकद रुपये के स्थान पर कागज के नोट छापकर अपने ऋण का भुगतान करते थे। इससे इंगलैण्ड के आर्थिक हितों को हानि पहुँचती थी। नये कानून ने उपनिवेशियों का आर्थिक बोझ बढ़ा दिया, क्योंकि उनके पास नकद रुपयों की कमी थी। 1765 ई. में 'बिलेटिंग एक्ट' पास किया गया जिसके अनुसार उपनिवेशों को राजकीय सैनिकों को निवास स्थान तथा आवश्यक सामग्री देने को कहा गया। उपनिवेशियों के लिए यह कानून भी अपमानजनक तथा आपत्तिजनक था।

स्टाम्प एक्ट—1765 ई. में ग्रेनविल ने सुप्रसिद्ध 'स्टाम्प एक्ट' पास करवा दिया। इस कानून के द्वारा समाचार-पत्रों, कड़ी आलोचनाओं वाली पत्रिकाओं, पुस्तिकाओं, लाइसेन्सों, पट्टों तथा कानूनी दस्तावेजों पर रसीदी टिकट (स्टाम्प) लगाना आवश्यक हो गया। इस कानून ने उपनिवेशियों में पहले से चले आ रहे असन्तोष को संगठित रूप दे दिया। यद्यपि इस कानून द्वारा लादा गया बोझ बहुत हल्का था और इससे प्राप्त होने वाली आय का उपयोग उपनिवेशों के लिए ही किया जाना था; फिर भी, उपनिवेशों में तत्काल इस एक्ट का विरोध शुरू हो गया। वर्जीनिया का पैट्रिक हेनरी वर्गीज सभा में ही आपे से बाहर हो गया और उसने घोषणा की कि वर्जीनिया के लोगों पर कर लगाने का अधिकार वर्जीनिया की प्रतिनिधि सभा के सिवाय किसी को नहीं है। मेसाचूसेट्स में भी स्टाम्प एक्ट का जोरदार विरोध हुआ और वहाँ जेम्स ओटिस और सैमुएल एडम्स जैसे बौद्धिक वक्ताओं के भाषणों ने जलते पर तेल का काम किया। एडम्स ने घोषणा की कि नियमानुकूल प्रतिनिधि लिए बिना, कर लगा देना लोगों को गुलाम बनाने का ढँग है। न्यू इंगलैण्ड, न्यूयार्क और पेंसिलवेनिया में दंगा हो गया। स्टाम्प बेचने वाले अपने पद छोड़ गये। अधिक गड़बड़ और मारपीट को बढ़ावा देने के लिए 'आजादी के सपूतों' के स्वतन्त्रता-प्रिय दल संगठित किये जाने लगे। एक सभा में नौ उपनिवेशों के नेताओं ने स्पष्ट कहा कि उपनिवेशों पर उनकी प्रतिनिधि-सभाएँ ही कर लगा सकती हैं, अन्य कोई नहीं। इस प्रकार, उपनिवेशों में 'बिना प्रतिनिधित्व के कर नहीं' (No Taxation without Representation) का नारा बुलन्द हो गया। उपनिवेशों के व्यापारियों ने संगठित होकर 'आयात बहिष्कार संघ' बनाया और इंगलैण्ड से माल न मँगाने का निश्चय किया।

अमेरिकी उपनिवेशों में स्टाम्प एक्ट का जो घोर विरोध हुआ, उससे इंगलैण्ड में खलबली मच गई। 1765 की गर्मियों में 'मातृदेश' से व्यापार गिरने लगा। ब्रिस्टल, लन्दन और लिवरपूल के अँग्रेज व्यापारियों का बुरा हाल हो गया। कारखानों में कारीगर बेकार होने लगे। विवश होकर इंगलैण्ड की सरकार को 1766 ई. में स्टाम्प एक्ट का निरस्तीकरण तथा शुगर एक्ट में संशोधन करना पड़ा। इस प्रकार, पुनः शान्ति स्थापित हुई।

स्टाम्प एक्ट से उत्पन्न समस्या प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर ही केन्द्रित थी। उपनिवेशियों का मत था कि जब तक वे स्वयं इंगलैण्ड के हाऊस ऑफ कॉमन्स के सदस्य नहीं चुनते, तब तक वे यह कैसे मान लें कि इंगलैण्ड की संसद में उनका प्रतिनिधित्व है। परन्तु इंग्लिश सिद्धान्त स्थान की अपेक्षा वर्गों और स्वार्थों के प्रतिनिधित्व पर आधारित था। अँग्रेजों की मान्यता थी कि इंगलैण्ड की संसद को उपनिवेशों का प्रतिनिधित्व करने और उन पर शासन करने का उतना ही अधिकार है जितना स्वदेश पर। इंगलैण्ड और अमेरिका की तात्कालिक राजनीतिक विचारधाराओं में यह बुनियादी मतभेद था जिसको अन्त में युद्धभूमि में जाकर ही सुलझाना पड़ा।

नये कानून—1767 ई. में इंगलैण्ड के वित्तमन्त्री चार्ल्स टाउनशेंड ने जल्दबाजी में कुछ नये कानून पास करवाये जो कि उपनिवेशियों को उतने ही अप्रिय और असहनीय थे जितने कि पहले वाले नियम। एक नियम के अनुसार सीसे, काँच, रंग, चाय और अन्य कई वस्तुओं पर जिनका आयात उपनिवेशों में होता था, चुँगी लगाई गई। इससे होने वाली आय का उपयोग उपनिवेशों में ब्रिटिश सरकार की ओर से नियुक्त गवर्नरों तथा राजकीय कर्मचारियों के वेतन और अन्य खर्चों के भुगतान के लिए किया जाना था। इसका अर्थ था—गवर्नरों पर से औपनिवेशिक विधानसभाओं का नियन्त्रण कम करना। इससे उपनिवेशियों को यह विश्वास हो गया कि ब्रिटिश संसद उपनिवेशों के मामलों में और अधिक नियन्त्रण रखने की सोच रही है। दूसरे नियम के द्वारा यह तय किया गया कि उपनिवेशों में उत्पादित समस्त वस्तुओं पर चुँगी की वसूली सम्राट द्वारा नियुक्त कमिश्नर ही करेंगे। इन कमिश्नरों का वेतन इंगलैण्ड के राजकोष से चुकाने की व्यवस्था की गई, अर्थात् इन्हें भी उपनिवेशों के नियन्त्रण से मुक्त रखा गया। तीसरे कानून के अन्तर्गत ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा अमेरिका को भेजी जाने वाली चाय पर जो चुँगी लगती थी, उसे समाप्त कर दिया गया। इससे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लिए अमेरिकी तस्कर व्यापारियों की अपेक्षा सस्ती दरों पर चाय बेचना सम्भव हो गया। एक अन्य कानून ने उपनिवेशों के उच्च न्यायालयों को विस्तृत अधिकारों के वारण्ट (रिट्स ऑफ असिस्टेंस) जारी करने का अधिकार दिया। इस प्रकार, जिन सामान्य तलाशी वारण्टों से उपनिवेशी घृणा करते थे उन्हें वैधता प्राप्त हो गई।

नये कानूनों के परिणामस्वरूप सारे अमेरिका में फिर से विरोध उठ खड़ा हुआ। अमेरिका के धाराशास्त्रियों ने इन कानूनों को नियम के विरुद्ध बतलाया। व्यापारियों ने फिर आयात-बहिष्कार समझौते आरम्भ किये। सभी उपनिवेशों में इंगलैण्ड में बने सामान का बहिष्कार किया जाने लगा। इस बहिष्कार से अँग्रेज व्यापारी घबरा उठे और इंगलैण्ड में भी यह शोर मचने लगा कि ऐसे कानून जो झगड़े के स्रोत हैं, उनको निरस्त कर दिया जाए। मेसाचूसेट्स में जब सीमा-शुल्क अधिकारियों ने कर वसूलना शुरू किया तो जनता उन पर पिल पड़ी और उन्हें पीटा। इस कारण सीमा-शुल्क आयुक्तों के रक्षार्थ वहाँ दो सैनिक टुकड़ियाँ भेजी गयीं।

बॉस्टन हत्याकाण्ड—बॉस्टन में ब्रिटिश सैनिकों की उपस्थिति ने उपद्रवकारियों को और भी अधिक उत्तेजित कर दिया। जून, 1767 ई. में ब्रिटिश संसद ने एक और कठोर कदम उठाया। उसने न्यूयार्क की विधानसभा को इसलिए निलम्बित कर दिया कि वह अँग्रेज सैनिकों के आवास की सन्तोषजनक व्यवस्था नहीं कर पाई थी। यह कदम उपनिवेशियों की स्वाधीनता के मूल तत्त्वों पर कुठाराघात था। दोनों पक्षों के मध्य असन्तोष बढ़ता गया और अन्त में 5 मार्च, 1770 ई. के दिन बॉस्टन नगर में सात अँग्रेज सैनिकों और नगरवासियों के बीच झगड़ा हो गया। पहले तो इस झगड़े में बर्फ और मुक्कों से काम लिया गया, परन्तु अन्त में घबराये हुए ब्रिटिश सिपाहियों ने गोली चला दी। इसमें तीन नागरिक मारे गये। उपनिवेश के उपद्रवकारियों को इंगलैण्ड के विरुद्ध भड़काने वाले आन्दोलन में इससे बहुमूल्य सहयोग मिला। एक अमेरिकी इतिहासकार ने लिखा है कि, "इस घटना को 'बॉस्टन हत्याकाण्ड' की संज्ञा देकर इसे नाटकीय ढँग से ब्रिटिश हृदयहीनता और नृशंसता के प्रमाण-रूप में चित्रित किया गया, जिसका बहुत अनुकूल प्रभाव पडा।"

अमेरिका और अँग्रेज व्यापारियों के विरोध के सामने ब्रिटिश संसद ने झुकना ही अच्छा समझा और इस अधिनियम को संशोधित कर दिया। संशोधन के अनुसार चाय के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं पर से 'टाउनशेंड-शुल्कों' को हटा दिया गया। 'चाय-कर' भी जार्ज तृतीय के विशेष जोर देने पर रखा गया। उसका मानना था कि अधिकार की रक्षा के लिए एक कर तो रहना ही चाहिए। जो भी हो, इससे स्थिति काफी शान्त हो गई।

(9) देशभक्तों का आन्दोलन : "बॉस्टन टी-पार्टी"—टाउनशेंड-शुल्कों को हटा लिये जाने के बाद, उपनिवेशियों में आन्तरिक मतभेद पैदा हो गया। अभी भी अमेरिका में इंगलैण्ड के प्रति काफी सद्भावना थी, विशेषकर धनिक वर्गों में। वे स्वतन्त्रता के समर्थकों की ओर से कराये गये दंगों तथा बहिष्कार के विरुद्ध थे, क्योंकि गड़बड़ से व्यापार को हानि पहुँचती थी। साधारण अमेरिकी को भी इंगलैण्ड से पूर्ण स्वाधीन हो जाने की अधिक इच्छा न थी; वह तो केवल यह चाहता था कि अपने खेत या दुकान पर आजादी से काम करे और शान्ति से अपना निर्वाह करे। परन्तु देशभक्तों तथा अतिवादियों का एक छोटा-सा वर्ग विवाद को जीवित रखने के पक्ष में था। उनका कहना था कि जब तक चाय-कर रहेगा, उपनिवेशियों पर इंगलैण्ड की संसद के अधिकार का सिद्धान्त बना रहेगा और इसकी आड़ में भविष्य में कभी भी इस सिद्धान्त का पूर्ण प्रयोग किया जा सकेगा। अतः उपनिवेशों की स्वतन्त्रता के लिए घातक सिद्धान्त का डटकर विरोध किया जाना चाहिए। संयोग से उग्रवादियों को सैमुएल एडम्स जैसा आदर्श नेता मिल गया। उसमें साहस और कुशल बुद्धि भी थी। उसकी वाक्य-शैली सुस्पष्ट और निष्कपट थी। उसको एक सबल राजनीतिक दल का समर्थन भी प्राप्त था। उसका मुख्य ध्येय अमेरिकी लोगों को अपने महत्त्व का आभास कराना और उन्हें आन्दोलन के लिए जागृत करना था। इसके लिए उसने लेखों तथा भाषणों का सहारा लिया और 'पत्र-व्यवहार समितियों' की स्थापना की। ऐसे ही समय में इंगलैण्ड की सरकार की एक भारी भूल ने असन्तोष की ज्वाला को पुनः प्रज्ज्वलित कर दिया।

इंगलैण्ड की शक्तिशाली ईस्ट इण्डिया कम्पनी की आर्थिक दशा इस समय संकटापन्न हो गयी थी। कम्पनी को इंगलैण्ड की आवश्यकतानुसार चाय की पूर्ति का एकाधिकार था। परन्तु इस समय इंगलैण्ड के गोदामों में चाय भरी थी। उसका कोई ग्राहक ही न था। यदि कम्पनी को अमेरिका में चाय निर्यात करने का एकाधिकार मिल जाय तो कम्पनी दिवालिया होने से बच सकती थी। वैसे भी, अमेरिका में 1770 ई. के बाद से ही चाय का अवैधानिक व्यापार बहुत बढ़ गया था। अतः कम्पनी की प्रार्थना पर 1773 ई. में संसद ने चाय अधिनियम पास करके ईस्ट इण्डिया कम्पनी को अमेरिका में चाय निर्यात करने का एकाधिकार दे दिया। कम्पनी ने अपनी चाय प्रचलित दर से कम मूल्य पर अपने ही प्रतिनिधियों द्वारा बेचने का निश्चय किया। उसका उद्देश्य चाय के तस्कर व्यापार को लाभहीन बनाना था। आशा यह थी कि उपनिवेशी सस्ती चाय बड़ी मात्रा में खरीदेंगे। परन्तु उपनिवेशियों को एकाधिकार से चिढ़ थी और अमेरिकी व्यापारियों को आर्थिक हानि पहुँच रही थी। अतः जब कम्पनी के जहाज चाय लेकर अमेरिका पहुँचे तो उन्हें खरीदने वाला कोई न था। विवश होकर अधिकांश जहाजों को वापस इंगलैण्ड भेजना पड़ा। परन्तु बॉस्टन बन्दरगाह में कुछ जहाज रुक गये। बॉस्टन के गवर्नर के पुत्र तथा भतीजे यहाँ कम्पनी के प्रतिनिधि थे और वे गवर्नर की सहायता से माल को उतारकर गोदामों में ले जाने की

योजना बना रहे थे। इस पर 26 दिसम्बर, 1773 ई. की रात को पचास-साठ व्यक्तियों ने आदिवासियों का भेष धारण करके जहाजों पर धावा कर दिया और चाय को समुद्र में फेंक दिया। यह घटना इतिहास में 'बॉस्टन टी-पार्टी' के नाम से विख्यात हुई।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने संसद के एक कानून का पालन करते हुए काम किया था। उपनिवेशियों ने संसद की अवहेलना करके उसके अधिकार को चुनौती दी। जार्ज तृतीय जैसा शासक इस प्रकार की कार्यवाही को कभी सहन नहीं कर सकता था और न ही संसद इसे सहन कर सकती थी। अतः संसद ने पाँच निष्ठुर नियम पास किये जिनका उद्देश्य अमेरिका में उग्रवाद का दमन करना था। पहले नियम के द्वारा बॉस्टन बन्दरगाह को उस समय तक के लिए बन्द कर दिया गया जब तक चाय का हर्जाना न दे दिया जाय। इससे बॉस्टन नगर का जन-जीवन ही संकटमय हो गया, क्योंकि इसका सीधा अर्थ था—बॉस्टन का आर्थिक विनाश। दूसरे नियम के अन्तर्गत मेसाचूसेट्स के सभासदों, जिन्हें पहले उपनिवेशी निर्वाचित करते थे, को नियुक्त करने का अधिकार राजा को दिया गया। गवर्नर को न्यायाधीश नामांकित करने का अधिकार दिया गया और गवर्नर की अनुमति के बिना नगरसभाओं की बैठक पर रोक लगा दी गई। तीसरे नियम के अन्तर्गत हत्या सम्बन्धी सभी मुकदमे इंगलैण्ड या अन्य उपनिवेशों में न्याय हेतु भिजवाने का प्रावधान था। चौथे नियम के द्वारा ब्रिटिश सैनिकों के ठहरने के लिए समुचित आवास की व्यवस्था का भार स्थानीय अधिकारियों के ऊपर डाल दिया गया। पाँचवें नियम के द्वारा कनाडा में रहने वाले कैथोलिकों को सहिष्णुता प्रदान की गई और क्वीबेक की सीमा आहियो नदी तक बढ़ा दी गई।

(10) प्रथम महाद्वीपीय कॉंग्रेस—इन नवीन कानूनों से सारे अमेरिका में सनसनी पैदा हो गई। लोगों ने इन्हें 'दमनकारी कानून' की संज्ञा दी। इन कानूनों का उद्देश्य मेसाचूसेट्स को दबाना था परन्तु अन्य सभी उपनिवेश उसकी सहायता के लिए इकट्ठे हो गये; उन्होंने सहानुभूति प्रकट की और अत्यावश्यक खाद्य पदार्थ भेजे जिनकी उपनिवेश में बड़ी आवश्यकता थी। वर्जीनिया के नागरिकों ने सभी उपनिवेशों के प्रतिनिधियों का फिलाडेल्फिया में एक सम्मेलन बुलाने का सुझाव रखा। परिणामस्वरूप 5 सितम्बर, 1774 को महाद्वीप की इस प्रथम कॉंग्रेस का अधिवेशन शुरू हुआ जिसमें जार्जिया के अतिरिक्त अन्य सभी उपनिवेशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। प्रतिनिधियों में मेसाचूसेट्स के जॉन एडम्स और सैमुएल एडम्स, वर्जीनिया के जार्ज वाशिंगटन और पैट्रिक हैनरी और दक्षिणी कैरोलाइना के जॉन रूटलेज और क्रिस्टोफर गेडस्डेन प्रमुख थे।

कॉंग्रेस को बुलाने का मुख्य उद्देश्य था—"उपनिवेशों की वर्तमान स्थिति पर विचार करना। उनके न्यायोचित अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की पुनः प्राप्ति और स्थापना के लिए उचित और ठीक विधियों पर विचार करना और ग्रेट ब्रिटेन तथा उपनिवेशों के साथ फिर से एकता और अच्छे सम्बन्ध बनाना।" अधिवेशन के निर्णयानुसार एक घोषणा-पत्र तैयार करके इंगलैण्ड भेजा गया। यह एक प्रकार से अधिकारों और शिकायतों की एक घोषणा थी। कॉंग्रेस का महत्त्वपूर्ण कार्य एक संघ का संगठन था, जिसने व्यापार-बहिष्कार को पुनर्जीवित किया। गाँव-गाँव में सुरक्षा-समितियाँ स्थापित करने तथा ब्रिटिश माल का उपयोग करने वालों की सूचना कॉंग्रेस को भिजवाने का भी निश्चय किया गया। अन्त में, यदि गड़बड़ समाप्त न हो तो मई, 1775 ई. में एक और सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया।

परन्तु स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। मेसाचूसेट्स में तनाव जोरों पर था और वहाँ के स्वयंसेवकों ने कनकार्ड में गोला-बारूद का संग्रह किया। 19 अप्रैल, 1775 को जनरल गेज ने इस युद्ध-सामग्री के संग्रह करने पर जॉन हैनकाक और सैमुएल एडम्स को गिरफ्तार करने की आज्ञा दे दी। स्वयंसेवकों की एक छोटी-सी टुकड़ी ने लेक्सिंगटन गाँव के पास ब्रिटिश सेना का मार्ग रोकने का विफल प्रयास किया। इस प्रयास में आठ स्वयंसेवक मारे गये। इसकी सूचना तत्काल सभी उपनिवेशों में फैल गई। कनकार्ड से वापस लौटती अँग्रेज सेना को हजारों स्वयंसेवकों से टक्कर लेनी पड़ी और उसके बहुत से सैनिक मारे गये।

(11) द्वितीय महाद्वीपीय काँग्रेस—लेक्सिंगटन और कनकार्ड की घटनाओं ने स्वतन्त्रता-संघर्ष का बिगुल बजा दिया और ऐसी ही अनिश्चितता में 10 मई, 1775 को फिलाडेल्फिया में द्वितीय महाद्वीपीय काँग्रेस की बैठक हुई। बॉस्टन के एक धनी व्यापारी जॉन हैनकाक ने काँग्रेस की अध्यक्षता की। टॉमस जैफरसन और बेंजामिन फ्रेंकलिन जैसे महान् नेता भी उपस्थित थे। काफी वाद-विवाद के बाद यह घोषणा-पत्र तैयार किया गया—"हमारा उद्देश्य न्यायसंगत है। हमारी एकता सम्पूर्ण है। हमारे आन्तरिक साधन बहुत हैं; और यदि आवश्यकता पड़ी तो विदेशी सहायता निस्सन्देह लभ्य है......जो शस्त्र हमारे शत्रुओं ने हमें उठाने के लिए विवश किये हैं उन्हें हम.....अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए प्रयुक्त करेंगे, हम दास होने की अपेक्षा स्वतन्त्र होकर मरने का एकमत से संकल्प कर चुके हैं।"

इस घोषणा के बाद काँग्रेस ने सेना खड़ी करने की योजनाओं पर अमल शुरू कर दिया और जार्ज वाशिंगटन को प्रधान सेनापति बना दिया। दूसरी तरफ जार्ज तृतीय तथा ब्रिटिश संसद ने उपनिवेशों की ओर से की गई प्रार्थनाओं पर कोई ध्यान नहीं दिया। 23 अगस्त, 1775 ई. को जार्ज तृतीय ने एक घोषणा जारी करके अमेरिकी उपनिवेशों को विद्रोही घोषित कर दिया। इस प्रकार संघर्ष का सूत्रपात हो गया।

क्रान्ति की घटनाएँ

स्वतन्त्रता की घोषणा—जार्ज तृतीय ने उपनिवेशों के विद्रोह को सैनिक शक्ति से दबा देने का निश्चय किया। परन्तु जब उसे इंगलैण्ड में नई सेना की भर्ती के लिए अधिक व्यक्ति न मिले तो उसने हैसे, अन्लहाट और ब्रुन्सविक के राजाओं से 20,000 जर्मन सैनिक किराये पर मँगाकर अमेरिका में अपनी सैन्यशक्ति को बढ़ा दिया। उधर अमेरिकी सेनाओं ने विभिन्न भागों में लड़ाई शुरू कर दी। बॉस्टन में उन्होंने बंकर हिल पर अधिकार कर लिया। कनाडा पर भी आक्रमण किया गया परन्तु बाद में उपनिवेशियों को वहाँ से पराजित होकर वापस लौटना पड़ा। परन्तु नारफोक, वर्जीनिया, चार्लेस्टन और दक्षिणी कैरोलाइना में ब्रिटिश सेनाओं को पराजित होना पड़ा।

इस बीच सैमुएल एडम्स, पैट्रिक हैनरी और टामस पेन जैसे देशभक्त युद्ध कार्य को बढ़ावा देते रहे क्योंकि बहुत से अमेरिकी अभी भी इंगलैण्ड के पक्ष में थे। अन्त में काँग्रेस भी दृढ़तापूर्वक इंगलैण्ड से पृथक् होने के पक्ष में हो गई और 4 जुलाई, 1776 ई. को स्वतन्त्रता का घोषणा-पत्र स्वीकार कर लिया गया। अमेरिकन स्वतन्त्रता का जन्म उसी दिन से माना जाता है।

घोषणा-पत्र में कहा गया, "हम इन सत्यों को स्वयंसिद्ध मानते हैं कि सभी मनुष्य समान पैदा हुए हैं; कि उनके स्रष्टा ने उनको कुछ अविच्छिन्न अधिकारों से सम्पन्न किया है; कि उन्हें जीवन, स्वतन्त्रता और सुख की खोज के अधिकार भी हैं। इन अधिकारों की प्राप्ति के लिए ही मानव-समाज में शासन की स्थापना होती है और उनको न्यायोचित अधिकार शासितों की स्वीकृति से मिलता है। जब किसी प्रकार का शासन-तन्त्र इन उद्देश्यों पर कुठाराघात करता है तो जनता को यह अधिकार है कि वह उसे बदल दे अथवा उसे समाप्त कर दे; और एक नयी सरकार स्थापित करे जिसकी आधारशिला ऐसे सिद्धान्तों पर हो और शक्ति का संगठन इस प्रकार किया जाये, जिससे उन्हें ऐसी आशा हो कि उनको सुरक्षा और सुख की प्राप्ति होगी।" स्वतन्त्रता की घोषणा ने अमेरिकी उपनिवेशों को ब्रिटेन के शासन से पृथक् कर दिया और अमेरिकी लोगों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, स्वशासन तथा समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करने के लिए अदम्य जोश पैदा कर दिया। इंगलैण्ड ने भी इस विद्रोह को दबाने में कोई कसर नहीं रखी परन्तु छः वर्ष के निरन्तर युद्ध के बाद उसे झुकना पड़ा और स्वतन्त्रता को मान्यता देनी पड़ी।

मुख्य लड़ाइयाँ—स्वतन्त्रता की घोषणा के बाद कई महीनों तक अमेरिकियों को कई असफलताओं का सामना करना पड़ा। वाशिंगटन ने अँग्रेजी जनरल 'हो' और उसके 11,000 सैनिकों को बॉस्टन से तो भगा दिया, परन्तु जब वह न्यूयार्क के महत्त्वपूर्ण स्थान पर अधिकार करने के लिए पुनः अँग्रेजी सेना के मुकावले में आया तो हालात बदल गये। अँग्रेज और जर्मन सेनाओं ने अमेरिकी सेनाओं को हार पर हार दी और उन्हें न्यूजर्सी की ओर भगा दिया। महाद्वीपीय काँग्रेस ने अपनी सेनाओं को अधिक सहायता न दी। तेरह नये राज्यों में एकता अभी बहुत दूर थी। लांग आईलैण्ड के युद्ध में वाशिंगटन की स्थिति संकटमय हो गयी और उसने ब्रुकलिन से छोटी-छोटी नावों द्वारा मैनहैटन-तट तक पीछे हटने का कार्य बड़ी निपुणता से पूरा किया। विपरीत दिशा की हवा के कारण ब्रिटिश जहाज ऊपर की ओर न जा सके। इससे वाशिंगटन बच गया। 1776 ई. के अन्तिम दिनों में वाशिंगटन ने अपूर्व युद्ध-कौशल का परिचय देते हुए ट्रेण्टन के युद्ध में ब्रिटिश सेना को परास्त किया। इसके बाद प्रिन्सटन के युद्ध में पुनः अँग्रेजों की पराजय हुई। इन विजयों से अमेरिकी सैनिकों में नया जोश पैदा हो गया।

1777 ई. के प्रारम्भ में अमेरिकियों की स्थिति पुनः संकटमय हो गई। जनरल 'हो' की सेनाएँ न्यूयार्क से समुद्र के रास्ते फिलाडेल्फिया जा पहुँचीं और उन्होंने अमेरिका की नई राजधानी पर अधिकार कर लिया। काँग्रेस के सदस्य भाग गये। वाशिंगटन और उसके सैनिकों को शहर के बाहर वैलीफोर्जे में जाड़े के दिन गुजारने पड़े। सैनिकों के पास न तो पर्याप्त सामग्री थी और न सुरक्षित आश्रय। इस बार भी जनरल 'हो' ने अपना आक्रमण जारी न रखकर अमेरिकियों को कुचलने का अवसर खो दिया। वैसे अधिकांश इतिहासकारों की मान्यता है कि जनरल 'हो' की राजनीतिक सहानुभूति अमेरिकी लोगों के साथ थी।

1777 के आखिरी महीनों में अमेरिकियों का भाग्य प्रवल रहा। साराटोगा के प्रसिद्ध युद्ध में अँग्रेजों को अपमानजनक पराजय का मुख देखना पड़ा। हुआ यह कि इंगलैण्ड ने न्यूयार्क राज्य पर कब्जा जमाकर अमेरिका को दो भागों में वाँटने की योजना वनाई। न्यूयार्क पर एक साथ तीन दिशाओं से आक्रमण की वात सोची गई। तीनों सेनाओं को न्यूयार्क से 150 मील

उत्तर की ओर हडसन नदी की घाटी में अल्बानी नामक स्थान पर मिलना था। जनरल जॉन-बरगोइन को कनाडा से दक्षिण की ओर आना था, जनरल 'हो' को न्यूयार्क से उत्तर की ओर सेनाएँ भेजनी थीं और जनरल सैण्ट लेजर को पूर्व की ओर बढ़ना था। यह सारी योजना बुरी तरह से असफल हुई। सैण्ट लेजर को पश्चिमी वनों में अमेरिकियों ने रोके रखा और 'हो' की सेना पहुँची ही नहीं। जनरल बरगोइन अपने 6000 सैनिकों के साथ हडसन नदी के ऊपरी भाग तक पहुँच गया। वह सितम्बर के मध्य तक अन्य सेनाओं की प्रतीक्षा करता रहा। बेनेडिक्ट आर्नल्ड के नेतृत्व में लगभग 20,000 अमेरिकी किसानों और सैनिकों ने बरगोइन को साराटोगा की तरफ खदेड़कर चारों तरफ से घेर लिया। 17 अक्टूबर, 1777 को बरगोइन को आत्मसमर्पण करना पड़ा। इससे इंगलैण्ड की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा। युद्ध के इस निर्णायक प्रहार ने इंगलैण्ड के पुराने शत्रुओं—फ्रांस और स्पेन को अमेरिका के पक्ष में कर दिया और ये दोनों राष्ट्र अब अमेरिकियों को आर्थिक एवं सैनिक सहायता देने लगे। इससे पूर्व बैंजामिन फ्रैंकलिन की अपील पर इन देशों से अमेरिकियों को थोड़ी-बहुत युद्ध-सामग्री मिल पाई थी और फ्रांस के माकुई-द-लफायते, जर्मनी के बैरन फ़ान स्टम यूबन और बैरन फान कल्ब तथा पोलैण्ड के काउण्ट फलास्की जैसे दक्ष सैनिक अधिकारियों ने अपनी सेवाएँ भेंट की थीं। इन लोगों ने उपनिवेशी रंगरूटों को अनुशासन के साथ-साथ प्रशिक्षण भी दिया, क्योंकि इसकी अत्यन्त आवश्यकता थी।

साराटोगा की लड़ाई के बाद बैंजामिन फ्रैंकलिन ने फ्रांस से समझौता करने में सफलता प्राप्त कर ली। इसके अनुसार दोनों देशों ने उस समय तक युद्ध में एक दूसरे का साथ देने का वचन दिया जब तक कि उनमें से एक सुलह के लिए तैयार न हो जाय। इसके बाद स्पेन और हालैण्ड ने अमेरिका को उनकी उद्देश्य प्राप्ति में अपनी जल-सेना से सहायता दी। फ्रांस से उधार सामग्री और सैनिक मिल गये; परन्तु उसकी सबसे बड़ी देन फ्रांस का शक्तिशाली समुद्री बेड़ा था जो इंगलैण्ड के बाद अन्य यूरोपीय देशों में श्रेष्ठ था। फ्रांसीसी समुद्री बेड़े ने अँग्रेजों की सेना के लिए सामान और सैनिक भेजना कठिनतर बना दिया और ब्रिटिश वाणिज्य को गम्भीर हानि पहुँचाने में फ्रांसीसियों ने अमेरिकी अवरोधकारी जहाजों का साथ दिया। 1778 ई. में फ्रांसीसी बेड़े की कार्यवाही से घबराकर अँग्रेजों ने फिलाडेल्फिया खाली कर दिया। उसी वर्ष ओहायो की घाटी में उन्हें कई पराजयों का सामना करना पड़ा जिसके परिणामस्वरूप उत्तर-पश्चिम में उनका नियन्त्रण एवं प्रभाव समाप्त हो गया। परन्तु उन्होंने दक्षिण में युद्ध जारी रखा। ब्रिटेन ने जनरल क्लिण्टन और जनरल कार्नवालिस के अधीन एक सेना भेजी जो इन राज्यों को अमेरिकी पक्ष से विमुख करे। ब्रिटिश सेनाओं ने सवाना और चार्लेस्टन के बड़े बन्दरगाहों पर अधिकार कर लिया।

क्रान्ति की अन्तिम लड़ाई वर्जीनिया में यार्क टाउन के स्थान पर हुई। फ्रांसीसी बेड़े की सहायता से वाशिंगटन और रोशाम्बी के 15,000 सैनिकों ने लार्ड कार्नवालिस के 8,000 सैनिकों को चारों तरफ से घेर लिया। यद्यपि कार्नवालिस ने घेरा तोड़ने के लिए कई बार बड़ी वीरता से आक्रमण किये, परन्तु उसके सभी प्रयास निष्फल रहे और अन्त में 19 अक्टूबर, 1781 को उसने आत्म-समर्पण कर दिया। जब इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री लार्ड नार्थ को इसकी सूचना मिली तो अनायास ही उसके मुँह से निकला, "हे ईश्वर ! सब कुछ समाप्त हो गया।"

पेरिस की सन्धि

लार्ड कार्नवालिस का आत्म-समर्पण इंगलैण्ड के लिए भारी आघात था। ब्रिटिश संसद में युद्ध को समाप्त करने की माँग उठने लगी। युद्ध बन्द हो गया था, परन्तु परस्पर विरोधी हितों के कारण शान्ति-समझौते के मार्ग में बाधाएँ आ खड़ी हुई। इंगलैण्ड और अमेरिका शान्ति-वार्ता के लिए उत्सुक थे, परन्तु फ्रांस और स्पेन अभी शान्ति-वार्ता के विरुद्ध थे। वस्तुतः ये दोनों देश इंगलैण्ड से कुछ और भूमि हथियाना चाहते थे। दोनों ने मिलकर अँग्रेजों के जिब्राल्टर द्वीप को जीतने का अथक प्रयास किया परन्तु असफल रहे।

1782 ई. तक अमेरिकी प्रतीक्षा करते रहे। परन्तु अब उन्हें स्पष्ट हो गया कि फ्रांस को उनके हितों की तुलना में स्पेन के हितों की अधिक चिन्ता है। वस्तुतः फ्रांस चाहता था कि पश्चिमी क्षेत्र स्पेन को दे दिया जाय। न तो इंगलैण्ड और न ही अमेरिका यह चाहता था कि अमेरिका में फिर कोई नया फ्रांसीसी अथवा स्पेनिश साम्राज्य स्थापित हो, अतः इंगलैण्ड और अमेरिका में गुप्त बात-चीत शुरू हो गई। इस नये गठजोड़ से फ्रांस घबरा गया और अप्रैल, 1782 में उसने शान्ति-वार्ता की स्वीकृति प्रदान कर दी। शान्ति-वार्ता लम्बे समय तक चलती रही और अन्त में 3 दिसम्बर, 1783 ई. को पेरिस की सन्धि पर हस्ताक्षर हुए।

पेरिस की सन्धि के अनुसार इंगलैण्ड ने अपने भूतपूर्व तेरह अमेरिकी उपनिवेशों की स्वाधीनता को मान लिया। उपनिवेशों की स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता स्वीकार कर ली गई। नये संयुक्त राज्य की सीमा भी निर्धारित कर दी गई। उसे पूर्व में एटलाण्टिक महासागर के तट से पश्चिम में मिसिसिपी नदी तक और उत्तर में कनाडा से दक्षिण में पूर्वी और पश्चिमी फ्लोरिडा तक का चिर-अभिलषित क्षेत्र दिया गया। संयुक्त राज्य की ये सीमाएँ आज भी उसी रूप में मान्य हैं। अमेरिकी मछुआरों को न्यू फाउण्डलैण्ड के तट और लारेन्स की खाड़ी में मछली पकड़ने की पूर्ववत् छूट बनी रही। इसके बदले में अमेरिकी काँग्रेस ने ब्रिटेन की एक बड़ी चिन्ता दूर करने का आश्वासन दिया। यह चिन्ता थी अमेरिका में रहने वाले हजारों राजभक्तों की, जिन्होंने इस संघर्ष में इंगलैण्ड का साथ दिया था। युद्ध के दिनों में इन लोगों को बहुत-सी कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ीं। उनके खेत छिन गये, धन-दौलत और घर-बार से हाथ धोना पड़ा। लोग उन्हें 'टूरीज' कहकर अपमानित करते थे। ब्रिटिश सरकार चाहती थी कि उन लोगों को उनके खेत और धन-सम्पत्ति वापस कर दी जाय। काँग्रेस ने सभी राज्यों के टूरीज के अधिकारों की सुरक्षा और उनकी सम्पत्ति की वापसी की सिफारिश करने का आश्वासन दिया। परन्तु इसका उन लोगों को कम ही लाभ पहुँचा जो अपना घर-बार या धन-दौलत गँवा चुके थे।

अमेरिका की विजय और अँग्रेजों की हार के कारण

अमेरिका के स्वतन्त्रता संघर्ष के शुरू होने के समय उपनिवेशियों की स्थिति अधिक अच्छी न थी और अँग्रेजों की तुलना में वे बहुत तुच्छ लगते थे। उस समय में कोई यह सोच भी नहीं सकता था कि इस संघर्ष में तत्कालीन यूरोप की सर्वोच्च शक्ति—इंगलैण्ड—को परास्त होना पड़ेगा, क्योंकि इंगलैण्ड एक विशाल साम्राज्य का स्वामी था। उसकी जल सेना अजेय थी। उसके पास आधुनिक अस्त्र-शस्त्र, प्रशिक्षित सेना एवं अनुभवी सेनानायक थे। उपनिवेशों में भी

बहुत से लोग इंगलैण्ड के प्रति सहानुभूति रखते थे। उपनिवेशियों के पास जल सेना का अभाव था। उनके पास स्थायी सेना भी न थी। उपनिवेशी अस्थायी तौर पर सेना में भर्ती हो जाते थे और संकट के समय सेना को छोड़ जाते थे। एक उपनिवेशी दूसरे उपनिवेशी सेनानायक के नेतृत्व में लड़ना भी पसन्द नहीं करता था। अमेरिकी काँग्रेस की स्थिति भी अधिक अच्छी न थी। उसके आय-स्रोत सीमित थे और सदस्यों में एकता का अभाव था। इन सभी बातों के उपरान्त भी अमेरिका की विजय हुई और अँग्रेजों को पराजय का सामना करना पड़ा। इसके लिए कई कारण जिम्मेदार थे, जिनमें से कुछ निम्नलिखित थे—

(1) इंगलैण्ड और अमेरिका की दूरी—इंगलैण्ड को अपने घर से लगभग 3,000 मील की दूरी पर अमेरिका से लड़ना पड़ा। इतनी दूरी से युद्ध को चालू रखना बड़ा कठिन काम था। यातायात के उन्नत साधनों के अभाव में इतनी दूरी से समय पर सैनिक सहायता पहुँचाना बहुत मुश्किल काम था। फ्रांस, स्पेन, हालैण्ड आदि के अमेरिका के साथ मिल जाने के बाद इंगलैण्ड के लिए अपने सैनिकों को अत्यावश्यक सामान पहुँचाना भी कठिन हो गया। इसके अलावा, युद्ध के केन्द्र भी लगभग एक हजार मील के घेरे में फैले हुए थे। लड़ते-लड़ते अँग्रेज सैनिक जंगलों में भटक जाते थे और उन्हें स्थानीय लोगों के हाथों भारी हानि उठानी पड़ती थी। इसके विपरीत, अमेरिकी लोग जंगलों के चप्पे-चप्पे से परिचित थे।

(2) जातीय समानता—यह संघर्ष अँग्रेजों के बीच ही हुआ था। अमेरिका के लगभग नब्बे प्रतिशत लोग अँग्रेज ही थे। एक प्रकार से यह युद्ध वृद्ध माँ और उसकी जवान पुत्रियों के बीच में लड़ा गया था। चूँकि माँ ने पहले से पुत्रियों को राजनैतिक, आर्थिक एवं अन्य मामलों में काफी सुविधाएँ दे रखी थीं, अतः अब उनकी स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाना सरल काम न था। यदि अमेरिकन लोग अँग्रेज न होते तो शायद उनके लिए स्वतन्त्रता प्राप्त करना इतना आसान नहीं होता। क्योंकि इंगलैण्ड में भी बहुत-से लोग ऐसे थे जिनको अपने भाइयों से सहानुभूति थी और वे उनका कठोरता के साथ दमन किये जाने के विरुद्ध थे। बहुत-से सैनिकों और सेनानायकों की सहानुभूति भी उनके साथ थी। अतः इंगलैण्ड की अँग्रेज सेना अमेरिकी सेना के विरुद्ध एक कट्टर शत्रु सेना की भाँति युद्ध लड़ ही नहीं पाई।

(3) उपनिवेशियों का सहयोग—उपनिवेशी लोग अपने घर-बार और जीवन की सुरक्षा के लिए लड़ रहे थे। वे अपनी स्वतन्त्रता के लिए सब कुछ बलिदान करने के दृढ़ संकल्प के साथ लड़ रहे थे। इंगलैण्ड की सरकार ने विभिन्न करों को लगाकर पहले ही उनमें असन्तोष पैदा कर दिया था। इसके अलावा वे अपने ही घर में लड़ रहे थे। अतः उनके लिए अपने सैनिकों को रसद तथा अन्य सामान पहुँचाना बहुत आसान था। अँग्रेजी सेना के पहुँचते ही उपनिवेशी उसके आगे झुक जाते थे। परन्तु सेना के आगे बढ़ते ही विद्रोह कर देते थे। वे अपने सैनिकों को हर समय हर प्रकार की सम्भव सहायता देने को तैयार रहते थे। अँग्रेजी सेना को इस प्रकार का सहयोग कभी नहीं मिल पाया।

(4) उपनिवेशों की शक्ति का गलत मूल्यांकन—अँग्रेजों की पराजय का एक मुख्य कारण यह था कि उन्होंने शुरू से ही उपनिवेशों की शक्ति का सही मूल्यांकन नहीं किया। उन्हें स्वयं अपनी शक्ति पर बहुत अधिक विश्वास था। उनका मानना था कि यदि उपनिवेशों ने शस्त्र

उठाये तो वे सरलता के साथ उन्हें दवा देंगे। जनरल गेज ने तो कहा भी था कि अमेरिकी उपनिवेशों को जीतने के लिए केवल चार रेजिमेण्ट ही पर्याप्त होंगी। परिणाम यह निकला कि जब संघर्ष शुरू हुआ तो इंगलैण्ड की सरकार ने अधिक मात्रा में सैनिक सामान नहीं भेजा और जब उसे सही स्थिति का ज्ञान हुआ तब तक काफी देर हो चुकी थी और सैनिक तथा सामान पहुँचाना सम्भव न हो पाया। इसके अलावा अमेरिका में इंगलैण्ड की जो सेनाएँ लड़ रही थीं उनमें बहुत से सैनिक जर्मन थे, जिन्हें भाड़े पर लाया गया था। इन जर्मन सैनिकों की इंगलैण्ड की विजय में विशेष रुचि नहीं थी। इसके विपरीत, अमेरिकी सैनिकों में राष्ट्रीयता का अपार जोश था।

(5) जार्ज तृतीय और उसके मन्त्री—इंगलैण्ड का शासक जार्ज तृतीय अपने आपको वास्तविक राजा मानता था और वह सरकारी काम में बहुत अधिक हस्तक्षेप करता था। संयोगवश उसके अधिकांश मन्त्रियों में उसकी नीतियों का विरोध करने की सामर्थ्य नहीं रही। जार्ज तृतीय का प्रधान उद्देश्य इंगलैण्ड के हित के लिए उपनिवेशों का शोषण करना था जबकि शासक का उद्देश्य होना चाहिए शासितों के कल्याण की चिन्ता करना। जार्ज का प्रधानमन्त्री लार्ड नार्थ भी एक अयोग्य व्यक्ति था। उसमें स्थिति की गम्भीरता और दूसरों की योग्यता परखने की शक्ति नहीं थी। जार्ज के विशेष आग्रह पर ही चाय-कर कायम रखा गया था और यही चाय-कर संघर्ष का मूल कारण बना। यदि जार्ज और उसकी सरकार उस समय उपनिवेशियों को कुछ सुविधाएँ और दे देती तो स्थिति सामान्य हो जाती। परन्तु उसने तो चुनौती देते हुए कहा था, "अब पासा फेंका जा चुका है। उपनिवेश या तो आत्मसमर्पण करें अथवा जीत जायें।" इंगलैण्ड के बहुत-से बुद्धिजीवी जार्ज तृतीय के व्यक्तिगत शासन से रुष्ट थे। वे चाहते थे कि अमेरिका जीत जाये ताकि इंगलैण्ड में जार्ज की शक्तियों पर नियन्त्रण लगाना सम्भव हो जाये।

(6) सेनानायक—उपनिवेशियों की सफलता का एक मुख्य कारण जार्ज वाशिंगटन का सुयोग्य नेतृत्व था। जार्ज वाशिंगटन एक कुशल, धैर्यशील एवं साहसी सेनानायक था। उसने किसानों तथा मजदूरों को प्रशिक्षित करके एक अच्छी सेना खड़ी करके अपनी संगठन शक्ति का अच्छा परिचय दिया। युद्ध के बुरे दिनों में भी उसने अपने में और सैनिकों में आत्म-विश्वास की कमी नहीं आने दी। इसके विपरीत अँग्रेज सेनानायकों में बहुत-सी कमियाँ थीं। इंगलैण्ड का युद्ध मन्त्री लार्ड जर्मेन एक अयोग्य व्यक्ति था। उसने बस्तियों तथा युद्ध के मैदान से आने वाले पत्रों को शायद ही कभी पढ़ा हो और बिना पढ़े ही अपनी इच्छानुसार नये-नये आदेश भिजवाता रहता था। परिणामस्वरूप घटनास्थल पर काम करने वाले सैन्य अधिकारी कभी भी ठीक से काम नहीं कर पाये। अन्यथा अमेरिका में अँग्रेजी सेना की यह दुर्गति कभी नहीं होती। सर विलियम जैसे सुस्त सेनानायकों के कारण अँग्रेजी सेना को कई बार सुअवसरों को खोना पड़ा। उपनिवेशों के किसी भी अँग्रेज गवर्नर ने भी इस अवसर पर योग्यता का परिचय नहीं दिया।

(7) अन्य राष्ट्रों का सहयोग—सप्तवर्षीय युद्ध में जो घाव फ्रांस को लगे थे, उसकी टीस अब भी शेष रह गई थी। वह इंगलैण्ड से अपने अपमान का बदला लेना चाहता था। फ्रांस का मानना था कि यदि उपनिवेशों को अन्य राष्ट्रों का सहयोग मिल जाय तो यह संघर्ष काफी लम्बा चलेगा और इससे इंगलैण्ड को भयंकर आर्थिक हानि का सामना करना पड़ेगा और सम्भव है कि उसके हाथ से अमेरिका के उपनिवेश निकल जायँ। अतः फ्रांस ने उपनिवेशों को सहायता

देने का निश्चय कर लिया। परन्तु संघर्ष के प्रारम्भिक वर्षों में खुल्लमखुल्ला सैनिक सहायता न देकर वह गुप्त रूप से धन और सामान भेजता रहा। फ्रैंकलिन बैंजामिन ने फ्रांस जाकर खुला सहयोग प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की और उसके बाद स्पेन, हालैण्ड आदि राष्ट्रों ने भी उपनिवेशों की सहायता का निश्चय किया। इन राष्ट्रों की जलसेना ने इंगलैण्ड की जलसेना को काफी परेशान किया और इंगलैण्ड के लिए अमेरिका स्थित अपनी सेनाओं को सामान पहुँचाना कठिन बना दिया। फ्रांसीसियों के सहयोग से ही वाशिंगटन ने यार्क टाउन में लॉर्ड कार्नवालिस को आत्मसमर्पण के लिए विवश किया था। अन्यथा उपनिवेशियों के लिए अँग्रेजी जहाजों की घेराबन्दी करना अथवा उन्हें रोकना कभी सम्भव नहीं हो पाता।

अमेरिका की क्रान्ति का स्वरूप—निःसन्देह अमेरिका की क्रान्ति जनतन्त्र के क्षेत्र में एक महान् घटना है। फिर भी इसके स्वरूप के विषय में विद्वान् लोग एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार यह परिवर्तन-विरोधी तथा निवारक आन्दोलन मात्र था। अर्थात् अपनी स्थापना के समय से ही उपनिवेश जिस स्वतन्त्रता एवं अधिकारों का उपयोग करते आ रहे थे, उस पर जब अंकुश लगाने का प्रयास किया गया तो उपनिवेश इसके निवारण के लिए उठ खड़े हुए। कुछ अन्य विद्वान् इसे लोकतन्त्र का संघर्ष नहीं मानते। उनका तर्क है कि उपनिवेशों में तो पहले से ही प्रजातन्त्र विद्यमान था और अधिकांश लोगों को मताधिकार प्राप्त था। यह क्रान्ति तो अँग्रेजों के विरुद्ध एक संघर्ष मात्र था। संघर्ष का मूल कारण उपनिवेशियों के माने अधिकारों पर अंकुश लगाना था।

इसके विपरीत आर.आर. पामर का मत है कि यह क्रान्ति शक्तिशाली ब्रिटेन के विरुद्ध अमेरिका का एक वास्तविक संघर्ष था। यह स्वतन्त्रता का एक महान् संघर्ष था।

कुछ इतिहासकार इसे "मध्य वर्ग" की क्रान्ति मानते हैं; क्योंकि स्वतन्त्रता की घोषणा पर जिन 56 लोगों ने हस्ताक्षर किये थे, वे सभी मध्यवर्गीय थे। क्रान्ति का नेतृत्व भी उन्हीं लोगों ने किया था। परन्तु इसे मध्यवर्ग की क्रान्ति मानना भूल होगी। क्योंकि इस क्रान्ति में जनसाधारण ने सक्रिय भाग लिया था और जन-साधारण के अभूतपूर्व सहयोग के कारण ही क्रान्ति सफल हो पाई थी।

कुछ विद्वान् इसे अमेरिका का मुक्ति संग्राम न कहकर इंगलैण्ड की विरोधी यूरोपीय शक्तियों का इंगलैण्ड के विरुद्ध संघर्ष कहते हैं। उनका तर्क है कि यदि इन शक्तियों का सहयोग उपनिवेशों को नहीं मिला होता तो उपनिवेश कभी सफल नहीं हो पाते। गुडविन का मत है कि जब उपनिवेशों को फ्रांस, स्पेन आदि के सहयोग का आश्वासन मिल गया तभी उपनिवेश संघर्ष के लिए तैयार हुए थे।

परन्तु जब हम सम्पूर्ण घटनाक्रम तथा परिणामों का मनन करते हैं तो यह क्रान्ति स्वतन्त्रता का संग्राम ही दृष्टिगत होता है। उपनिवेशियों ने अपनी स्वतन्त्रता में बाधक सरकार को हटाकर अपने ही लोगों की अपने ही लोगों के लिए सरकार बनाई। यह अपने ढँग का विश्व इतिहास में प्रथम मुक्ति-संघर्ष था।

क्रान्ति के परिणाम

1. उपनिवेशों का एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में उदय—क्रान्ति के पूर्व अमेरिका के तेरह उपनिवेश ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत थे और उनमें आपसी एकता तथा राष्ट्रीयता का अभाव था। परन्तु क्रान्ति की सफलता ने तेरह उपनिवेशों को एक स्वतन्त्र राष्ट्र में परिवर्तित कर दिया। इंगलैण्ड सहित अनेक यूरोपीय देशों ने उसकी स्वतन्त्रता को मान्यता प्रदान की। इस प्रकार, एक स्वतन्त्र राष्ट्र का उदय हुआ। नव प्राप्त स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने की दृष्टि से एक लिखित संविधान का निर्माण किया गया और तेरह राज्यों को आन्तरिक स्वतन्त्रता प्रदान करते हुए संघीय शासन व्यवस्था को लागू किया गया। समय के साथ-साथ 'नया राष्ट्र' विश्व की एक प्रमुख शक्ति बन गया।

2. धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना—लिखित संविधान में अनेक विशेषताएँ हैं। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता का अधिकार दिया गया है। परन्तु मुख्य विशेषता धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना है। धर्म को राज्य से अलग रखा गया, जबकि, क्रान्ति के पूर्व राज्य का धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध होता था। अब धर्म को मनुष्य का व्यक्तिगत कार्य समझा गया। किसी धर्म को राज्य-धर्म नहीं बनाया गया और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार उपासना की स्वतन्त्रता प्रदान की गई।

3. वाणिज्यवादी सिद्धान्त का परित्याग—उपनिवेशों के हाथ से निकल जाने से "वाणिज्य सिद्धान्त" (मर्केन्टाइल थ्योरी) का अन्त हो गया और उसके स्थान पर एक नई नीति का विकास हुआ। वाणिज्यवादी सिद्धान्त के अनुसार वही देश सबसे अधिक समृद्ध एवं शक्तिशाली समझा जाता था जिसके पास मुद्रा के रूप में अधिक सोना-चाँदी हो। जो देश आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक करता था, उसके पास स्वाभाविक रूप से सोना-चाँदी का भण्डार बढ़ता जाता था। चूँकि सभी देश ऐसा ही चाहते थे, अतः उनमें आपसी प्रतिस्पर्धा बढ़ती गई और अब तक जो युद्ध लड़े गये थे उनके मूल में वाणिज्यवादी सिद्धान्त ही थे। इन सिद्धान्तों में बस्तियों (उपनिवेशों) का विशेष महत्त्व था। मातृदेश यह मानते थे कि बस्तियों को तैयार माल खरीदने तथा कच्चा माल देने के लिए विवश किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, बस्तियों का आर्थिक शोषण करना ही मुख्य ध्येय था। उपनिवेशों के छिन जाने के बाद बहुत से लोगों का मानना था कि इससे इंगलैण्ड के व्यापार-वाणिज्य को जबरदस्त धक्का लगेगा। परन्तु जब कुछ वर्षों बाद इंगलैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका में पहले से भी कहीं अधिक व्यापार होने लगा तो अधिकांश देशों का "वाणिज्य सिद्धान्त" से मोहभंग हो गया। स्वयं इंगलैण्ड ने भी इस नीति को त्याग दिया।

4. अन्य उपनिवेशों के प्रति इंगलैण्ड की नीति में परिवर्तन—अमेरिकन उपनिवेशों के हाथ से निकल जाने से इंगलैण्ड को अपनी अन्य बस्तियों को बचाने की चिन्ता लग गई। इंगलैण्ड के नेताओं ने यह स्पष्ट अनुभव कर लिया कि यदि बाकी बस्तियों को अपने अधीन रखना है तो उन्हें इन बस्तियों के शोषण की नीति छोड़नी पड़ेगी। अतः इंगलैण्ड को अपने उपनिवेशों के प्रति नीति को बदलना पड़ा। इस परिवर्तित नीति के आधार पर ही "ब्रिटिश कामनवैल्थ ऑफ नेशन्स" (ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल) का जन्म सम्भव हो पाया।

5. इंगलैण्ड के सामने नई समस्याएँ—क्रान्ति की सफलता के परिणामस्वरूप इंगलैण्ड को नई समस्याओं का सामना करना पड़ा। अमेरिकन उपनिवेशों में आबाद हजारों राजभक्त

अँग्रेजों ने नये संयुक्त राज्य अमेरिका में रहना उचित नहीं समझा और वे अपने परिवारों सहित कनाडा में जा बसे। इससे इंगलैण्ड के सामने एक नवीन समस्या उत्पन्न हो गई; क्योंकि कनाडा में फ्रांसीसियों की संख्या अधिक थी। अतः जातीय संघर्ष का भय उत्पन्न हो गया।

इसके अलावा इंगलैण्ड को एक अन्य समस्या का सामना भी करना पड़ा। अब तक वह अपने अपराधियों को अमेरिका में निर्वासित कर देता थी। अब इस काम के लिए आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड को चुना गया। परिणामस्वरूप इन दोनों देशों का भी तेजी के साथ विकास होने लगा।

6. जार्ज तृतीय के व्यक्तिगत शासन का अन्त—अमेरिका की क्रान्ति के परिणामस्वरूप इंगलैण्ड में सम्राट जार्ज तृतीय के व्यक्तिगत शासन का अन्त हो गया। उसके प्रधानमन्त्री लॉर्ड नार्थ को अपना पद छोड़ना पड़ा, क्योंकि सारे देश में जार्ज और नार्थ की निन्दा होने लगी थी और इंगलैण्ड की असफलता के लिए इन दोनों को ही उत्तरदायी माना गया। जार्ज तृतीय के पूर्व इंगलैण्ड में वैधानिक शासन काफी प्रगति कर चुका था। परन्तु जार्ज ने कुछ सफलता के साथ भूतपूर्व राजाओं द्वारा खोये गये अधिकारों को पुनः प्राप्त कर लिया था। उपनिवेशों के हाथ से निकल जाने पर पुनः स्थिति बदल गई और संसद में राजा के अधिकारों को कम करने की जोरदार माँग उठने लगी। परिणामस्वरूप राजा की शक्तियों पर अंकुश लग गया और छोटे पिट के लिए रास्ता साफ हो गया जिसने 'केबिनेट' की शक्ति को पुनः स्थापित किया। इस प्रकार, अमेरिका के मुक्ति-संघर्ष ने ब्रिटिश संविधान की रक्षा की और राजा की शक्ति को नियन्त्रण में रखा गया।

7. आयरलैण्ड पर प्रभाव—अमेरिका की क्रान्ति का आयरलैण्ड पर भी प्रभाव पड़ा। फिलाडेल्फिया काँग्रेस की नकल करते हुए आयरिश लोगों ने भी इंगलैण्ड से मुक्त होने का उपाय खोजने के लिए 'डूनगेनन" में एक कन्वेंशन बुलाई और ब्रिटिश सरकार के सामने अपना माँग-पत्र रखा। आयरिश लोग भी व्यापारिक प्रतिबन्धों का अन्त और स्वतन्त्र आयरिश संसद की स्थापना करना चाहते थे। इंगलैण्ड ने उनकी माँगों पर सहानुभूति के साथ विचार किया। 1780 ई. में वहाँ के वाणिज्य कानून को समाप्त कर दिया गया और 1782 ई. में पोइंग अधिनियम समाप्त कर दिया। इससे आयरिश लोगों को आर्थिक क्षेत्र में काफी स्वतन्त्रता मिल गई। बाद में व्यवस्थापिका को भी स्वतन्त्रता मिल गई। इस प्रकार, अमेरिका की क्रान्ति ने आयरिश जनतन्त्र का मार्ग प्रशस्त किया।

8. फ्रांस पर प्रभाव—अमेरिका के स्वतन्त्रता संघर्ष ने फ्रांस को अत्यधिक प्रभावित किया। सप्तवर्षीय युद्ध (1757-63) में फ्रांस की पराजय ने उसकी आर्थिक स्थिति को खराब कर दिया था। अमेरिका के स्वतन्त्रता संघर्ष में भी उसे भारी खर्चा वहन करना पड़ा और बदले में कोई बड़ा उपनिवेश भी हाथ नहीं लगा। यह ठीक है कि अपने कट्टर शत्रु इंगलैण्ड को हराने से उसके अहम् को शान्ति मिल गई और उसकी प्रतिष्ठा भी बढ़ी। परन्तु युद्ध के व्यय ने उसकी आर्थिक स्थिति को और भी अधिक दयनीय बना दिया और इसी स्थिति ने फ्रांस में क्रान्ति का श्रीगणेश किया।

फ्रांस के हजारों सैनिकों और स्वयंसेवकों ने उपनिवेशियों के साथ मिलकर आजादी की लड़ाई में भाग लिया था। वहाँ उन्हें मालूम हुआ कि उपनिवेशी अपने राजनीतिक अधिकारों के लिए इंगलैण्ड के निरंकुश शासन एवं शोषण के विरुद्ध किस प्रकार से संगठित होकर लड़ रहे

हैं। जब वे लोग वापस स्वदेश लौटे तो उन्होंने अनुभव किया कि यदि वे दूसरे लोगों को स्वतन्त्रता प्राप्त करने में सहायक हो सकते हैं तो क्या वे स्वयं अपने तथा अपने देशवासियों के लिए राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते ? क्या वे अपने देश को निरंकुश शासन से मुक्ति नहीं दिलवा सकते ? इस प्रकार के विचारों ने उनके दिमागों में क्रान्ति मचा दी और जब फ्रांस में क्रान्ति की शुरूआत हुई तो उन लोगों ने क्रान्ति को सफल बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस प्रकार, अमेरिका की क्रान्ति ने फ्रांसीसी क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त किया।

क्रान्ति का महत्त्व

विश्व इतिहास में अमेरिका की क्रान्ति का एक अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। लगभग आठ वर्षों तक लड़े गये इस संघर्ष का सामरिक दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है, क्योंकि दोनों ही पक्षों ने इस संघर्ष में अधिक स्फूर्ति तथा युद्धकौशल का परिचय नहीं दिया। परन्तु राजनीतिक दृष्टि से इस संघर्ष का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इंगलैण्ड के निरंकुश औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध अमेरिकन जनता की यह शानदार विजय थी। यह जनशक्ति की जीत थी।

यदि इंगलैण्ड ने प्रतिनिधित्यात्मक प्रथा को जन्म दिया था तो अमेरिका की क्रान्ति के परिणामस्वरूप जनतन्त्रात्मक प्रथा का जन्म हुआ जिसमें पहली बार सर्वसाधारण को मताधिकार प्राप्त हुआ। पहली बार सही अर्थों में आधुनिक ढँग के प्रजातन्त्र की स्थापना हुई।

अमेरिका की क्रान्ति से दूसरे देशों को भी प्रेरणा मिलती रही और अमेरिकी स्वतन्त्रता संघर्ष उनके लिए एक प्रेरणादायक आदर्श बन गया। निरंकुश साम्राज्यवाद की शिकार जनता को एक नया सहारा मिल गया। आयरलैण्ड और फ्रांस के लोगों को इससे विशेष प्रेरणा मिली। फ्रांसीसी क्रान्ति के मुख्य सिद्धान्तों—स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व का मूल अमेरिका की क्रान्ति में ही निहित है। इस संघर्ष से प्रेरणा पाकर दक्षिण अमेरिका के लोग भी स्पेन तथा पुर्तगाल के शासन से मुक्त होने में सफल रहे।

अमेरिका के कुछ सिद्धान्तों ने तो सारे संसार को प्रभावित किया है। संघात्मक शासन पद्धति का प्रयोग एवं विकास इसी क्रान्ति की देन मानी जाती है। लिखित संविधान का व्यवहार और धर्म तथा शासन का अलगाव भी इसी क्रान्ति की विशेषता है। शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त भी अमेरिका के संविधान ने ही संसार के राजनीतिज्ञों तथा राष्ट्रों के सामने प्रस्तुत किया। इससे समूचे संसार को लगा कि वह अब एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के युग में प्रवेश कर रहा है। अमेरिका की क्रान्ति के परिणामस्वरूप इंगलैण्ड की पुरानी औपनिवेशिक नीति और वाणिज्यवादी सिद्धान्तों में महान् परिवर्तन आया और राजा के व्यक्तिगत अधिकारों पर अंकुश लगा तथा "केबिनेट प्रथा" का पुनः विकास हुआ। इस प्रकार, प्रजातन्त्र के विकास में अमेरिका की क्रान्ति का विशेष स्थान रहा है और इसीलिए इसे एक युगान्तकारी घटना माना जाता है।

प्रश्न

1. अमेरिका के स्वतन्त्रता संघर्ष के कारणों की व्याख्या कीजिये।
2. अमेरिका की क्रान्ति के स्वरूप को समझाइये तथा इसके परिणामों का उल्लेख कीजिये।
3. अमेरिका की क्रान्ति के प्रमुख कारणों एवं परिणामों का उल्लेख कीजिये।
4. विश्व इतिहास में अमेरिका की क्रान्ति का स्थान निर्धारित कीजिये।

अध्याय-5

औद्योगिक क्रान्ति
(Industrial Revolution)

औद्योगिक क्रान्ति का अर्थ—1750 ई. के आस-पास शक्तिचालित मशीनों का निर्माण शुरू हो गया जिनके द्वारा पुरानी व्यवस्था में परिवर्तन आ गया। अब हाथ का श्रम गौण हो गया। घरेलू उत्पादन पद्धति का स्थान कारखाना पद्धति ने ले लिया, जहाँ बहुत बड़ी मात्रा में उत्पादन होने लगा। हजारों किसानों ने अपने खेतों को छोड़कर कारखानों में काम करना शुरू कर दिया। सार्वजनिक जीवन और शासन-व्यवस्था में भी परिवर्तन आ गया। इस सभी परिवर्तनों का आधारभूत कारण 'औद्योगिक क्रान्ति' था।

विश्व के आर्थिक इतिहास में 'क्रान्ति' शब्द का विशेष महत्त्व है। सामान्यतया यह शब्द रक्त-रंजित विद्रोह या विप्लव अथवा हिंसात्मक विस्फोट का संकेत देता है जिससे राजनैतिक या सामाजिक क्षेत्र में आमूल-चूल परिवर्तन हो जाता है, जैसाकि 1789 में फ्रांस की क्रान्ति तथा 1917 में रूस की क्रान्ति में हुआ। परन्तु चूँकि आर्थिक परिवर्तन की प्रक्रिया प्रायः धीमी होती है अतः उसमें रातों-रात परिवर्तन सम्भव नहीं होता। 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में इंगलैण्ड में औद्योगिक क्षेत्र में जो मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए उनसे उत्पादन की पद्धतियों, मात्रा तथा संगठन में आमूल-चूल परिवर्तन हो गये और आर्थिक जगत् में नये युग का सूत्रपात हुआ। इसीलिए इन परिवर्तनों को क्रान्ति की संज्ञा दी गई है। इतिहासकार डेविस का मत है कि औद्योगिक क्रान्ति का मतलब उन परिवर्तनों से है, जिन्होंने यह सम्भव कर दिया कि मनुष्य उत्पादन के पुराने उपायों को छोड़कर बड़ी मात्रा में बड़े कारखानों में वस्तुओं का उत्पादन कर सके। दूसरे शब्दों में, औद्योगिक क्रान्ति उद्योगों और उपज सम्बन्धी वह क्रान्ति है, जिसने श्रम का सामूहिक रूप से उपयोग किया, परन्तु उसका लाभ श्रम करने वालों को नहीं अपितु पूँजी लगाने वाले चन्द लोगों को ही मिला।

प्रोफेसर ए. बिर्नी ने उपर्युक्त परिवर्तनों के सन्दर्भ में लिखा है कि, "इसके अन्तर्गत परिवर्तन इतने गहरे एवं व्यापक थे, गुण एवं दोषों के अनोखे सम्मिश्रण में इतने दुःखदायी तथा भौतिक उत्थान और सामाजिक त्राण के संयोग में इतने नाटकीय थे कि उन्हें क्रान्तिकारी कहना ही उचित है।" वस्तुतः इन परिवर्तनों के लिए 'औद्योगिक क्रान्ति' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अर्नाल्ड टायनबी ने किया था। इस सम्बन्ध में श्रीमती एल.सी.ए. नोवेल्स ने लिखा है कि,

"औद्योगिक क्रान्ति शब्द का प्रयोग इसलिए नहीं किया जाता कि परिवर्तन की प्रक्रिया तीव्र थी, वरन् इसलिए कि पूर्ण होने पर ये परिवर्तन पूर्णतया मौलिक थे।" इतिहास के एक अन्य विद्वान् साउथगेट ने लिखा है कि, "अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश उद्योगों को ऐसे महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक परिवर्तनों से गुजरना पड़ा जिसके कारण इन परिवर्तनों को संयुक्त रूप से औद्योगिक क्रान्ति कहा जाने लगा।" इस प्रकार, यह स्पष्ट हो जाता है कि औद्योगिक क्षेत्र में उत्पादन पद्धति, संगठन तथा प्रबन्ध में जो मौलिक परिवर्तन हुए उन्हें सामूहिक रूप से औद्योगिक क्रान्ति कहा जाता था।

औद्योगिक क्रान्ति का काल—औद्योगिक क्रान्ति कोई आकस्मिक घटना नहीं थी, अपितु विकास की एक निरन्तर क्रिया है जो आज भी जारी है। इसके अभ्युदय में अनेक तत्त्वों और परिस्थितियों का सहयोग रहा। इतिहासकारों में औद्योगिक क्रान्ति के काल के सम्बन्ध में मतभेद है। प्रोफेसर हेफ इसका काल 1550 से 1890 बताते हैं, जबकि अर्नाल्ड टायनबी इसका काल 1760-70 से 1830-40 निर्धारित करते हैं। श्रीमती नोवेल्स 1770 से 1914 बताती हैं। अनेक अर्थशास्त्री इसका काल 1760 से 1914 स्वीकार करते हैं और इसे दो भागों में विभाजित करते हैं। उनके अनुसार 1760 से 1830 तक के समय को इसका प्रथम चरण मानना चाहिए, जिसमें विभिन्न प्रकार के आविष्कार तथा कारखाना-पद्धति का विकास हुआ और 1830 से 1914 तक के समय को इसका दूसरा चरण मानना चाहिए, जबकि औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि, विविधता, जटिलता और यातायात तथा व्यापारिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी विकास हुआ।

औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व की स्थिति

यूरोप की सामान्य स्थिति—अठारहवीं सदी के शुरू में यूरोप में सामन्ती-व्यवस्था का दबदबा था। उद्योग-धन्धों का नियन्त्रण गिल्ड-पद्धति द्वारा किया जाता था। सामन्ती-व्यवस्था में सर्वसाधारण को राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। सामन्तों का अपने किसानों तथा दासों पर पूरा अधिकार था और ये लोग भी अपने स्वामी की सेवा एवं उसके आदेशों का पालन करना अपना परम कर्त्तव्य मानते थे। किसानों को अपने स्वामी के अनेक काम बेगार में करने पड़ते थे। मजेदार बात तो यह थी कि सामन्त की स्वीकृति के बिना किसान अपना गाँव छोड़कर किसी दूसरी जगह स्थायी रूप से नहीं बस सकता था। इसी प्रकार की स्थिति उद्योग-धन्धों में थी। व्यापार-वाणिज्य कम होता था और जो कुछ भी होता था वह भी गिल्ड्स (संघों) के नियन्त्रण में था। प्रत्येक उद्योग एवं व्यवसाय का अपना एक गिल्ड (संघ) होता था और उस संघ के सदस्यों को ही उस धन्धे को करने की अनुमति दी जाती थी। औद्योगिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को आठ-दस वर्ष तक किसी निपुण कारीगर की सेवा में रहना पड़ता था। वह अपना स्वतन्त्र कारोबार नहीं कर सकता था। संक्षेप में, आर्थिक स्वतन्त्रता का सर्वथा अभाव था।

इंगलैण्ड की स्थिति—अठारहवीं सदी के मध्य तक इंगलैण्ड मुख्य रूप से एक कृषि-प्रधान देश था। उसकी 77 प्रतिशत जनता प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से कृषि से अपनी जीविका चलाती थी। कृषि की स्थिति बहुत अधिक सन्तोषजनक न थी। कृषि के पुरातन तरीकों, खुले खेतों की

पद्धति, भूमि का उपखण्ड तथा उपविभाजन एवं अवैज्ञानिक कृषि-संगठन से यह क्षेत्र पिछड़ा हुआ था। देश की केवल 5 प्रतिशत जनसंख्या उद्योगों में लगी हुई थी। लोहा, इस्पात, ऊनी-सूती वस्त्र-उद्योग, कोयला तथा अन्य उद्योग अपने वर्तमान रूप में नहीं पाये जाते थे। ज्यादातर उत्पादन कार्य कुटीर-उद्योग के रूप में किया जाता था। सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दी में लोह-उद्योग, जहाज-निर्माण उद्योग, कागज छपाई, सीसा, ताँबा-उद्योग तथा कुछ अन्य उद्योग विकसित हो चुके थे। 1750 ई. तक इंगलैण्ड उद्योग के क्षेत्र में समृद्धि के लिए प्रसिद्ध हो चुका था।

औद्योगिक विकास तथा यातायात-साधनों के विकास में प्रगति की गति काफी मन्द रही, जिसके परिणामस्वरूप विदेशी व्यापार का अधिक विकास नहीं हो पाया। इसकी तुलना में आन्तरिक व्यापार अधिक था। व्यापार वाणिज्यवादी सिद्धान्तों पर आधारित था। 1700 ई. में कुल निर्यात जहाँ 70 लाख पौण्ड था, वहीं 1760 तक बढ़कर 145 लाख पौण्ड हो गया था। परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण अब इंगलैण्ड का व्यापार यूरोपीय देशों के साथ कम होता जा रहा था और उपनिवेशों के साथ बढ़ता जा रहा था। औपनिवेशिक व्यापार में वृद्धि से जहाजरानी-उद्योग को जबरदस्त प्रोत्साहन मिला।

अठारहवीं सदी के मध्य तक इंगलैण्ड में यातायात के साधन अत्यन्त अविकसित अवस्था में थे। सड़कों की दशा दयनीय थी। स्थल-यातायात काफी खर्चीला, धीमा तथा खतरे से परिपूर्ण था। 1660 से 1760 के मध्य आन्तरिक जलमार्गों के विकास की दृष्टि से नदियों को गहरा किया गया तथा नहरों का निर्माण किया गया। फिर भी, विशेष प्रगति सम्भव न हो पाई।

1696 ई. के आस-पास इंगलैण्ड की आबादी लगभग 55 लाख थी। 1760 ई. में यह बढ़कर 90 लाख हो गयी। देश की लगभग 70 प्रतिशत आबादी गाँवों की थी और 30 प्रतिशत शहरों की थी। परन्तु अब अनुपात उल्टा हो गया। अब शहरों की आबादी 80 प्रतिशत हो गयी और गाँवों की आबादी 20 प्रतिशत रह गयी। समाज में दो वर्गों—उत्पादक-वर्ग और श्रमिक-वर्ग की प्रधानता थी। उत्पादन की घरेलू पद्धति होने के कारण नियोजक तथा नियोजित के आपसी सम्बन्ध अच्छे थे। मजदूरों का अधिक शोषण नहीं होता था। इसलिए वर्ग-संघर्ष का जन्म नहीं हो पाया।

भूमिपतियों का ब्रिटिश संसद में प्रभुत्व था। व्यापारी, उद्योगपति तथा महाजनों का संसद में प्रतिनिधित्व न होने से उनके हितों की सुरक्षा पर कम ध्यान दिया जाता था। उद्योगों तथा व्यापार के विकास में सरकार की रुचि प्रेरणास्पद नहीं कही जा सकती। उपनिवेशों का शोषण करना सरकारी नीति का उद्देश्य था। प्रोफेसर कोल के शब्दों में, "औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व इंगलैण्ड एक व्यापारिक दृष्टि से उन्नत तथा औद्योगिक प्रगति में प्रेरणास्पद था, न कि औद्योगिक दृष्टि से उन्नत एवं व्यापारिक खोज करने वाला राष्ट्र।"

क्रान्ति का सूत्रपात इंगलैण्ड से ही क्यों हुआ ?

प्रायः यह प्रश्न पूछा जाता है कि औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात इंगलैण्ड से ही क्यों हुआ ? किसी अन्य देश से क्यों नहीं हुआ ? इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी देश में औद्योगिक क्रान्ति के लिए मुख्य रूप से पाँच बातें महत्त्वपूर्ण होती हैं—(1) प्राकृतिक

साधन, (2) पूँजी एवं कुशलता, (3) विस्तृत बाजार, (4) औद्योगिक प्रभुत्व, तथा (5) राजनैतिक शान्ति और सामाजिक सहयोग। संयोगवश, इंगलैण्ड में इन पाँचों बातों के साथ-साथ वहाँ के लोगों में वाणिज्यवादी दृष्टिकोण, आविष्कारों के प्रति रुचि और समृद्धि के लिए लगन मौजूद थी।

प्राकृतिक साधन—प्राकृतिक कारणों में इंगलैण्ड की भौगोलिक स्थिति काफी महत्त्वपूर्ण हैं। अपनी विशेष भौगोलिक स्थिति के कारण एक तरफ तो वह शेष संसार से पृथक् है और दूसरी तरफ संसार के निकट सम्पर्क में भी है। इंगलैण्ड चारों तरफ से सागर से घिरा हुआ है। इसलिए वह बाह्य आक्रमणों से काफी सुरक्षित रहा है। संसार के प्रमुख व्यापारिक मार्गों पर स्थित होने से उसे विदेशी व्यापार में आशातीत सफलता मिली। इंगलैण्ड की समशीतोष्ण जलवायु तथा स्वास्थ्यप्रद वातावरण ने यहाँ के लोगों को कठिन परिश्रम तथा बौद्धिक विकास के लिए प्रोत्साहित किया। इंगलैण्ड का समुद्र तट न केवल 7000 मील लम्बा है अपितु इतना कटा-फटा है कि सुरक्षित खाड़ियाँ तथा उत्तम बन्दरगाहों का अपने आप निर्माण हो गया। गल्फ-स्ट्रीम की गर्म सामुद्रिक धारा के कारण इंगलैण्ड का पूर्वी किनारा हमेशा व्यापार के लिए खुला रहता है। प्रकृति की कृपा से इंगलैण्ड में कोयला, लोहा तथा जल-शक्ति के स्रोत प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। लोहा और कोयला के साथ-साथ और पास-पास मिलने से लोहे एवं इस्पात उद्योग के विकास में महत्त्वपूर्ण सहयोग मिला। कच्चे माल की पूर्ति के लिए इंगलैण्ड के पास उपनिवेशों की कमी न थी। इससे स्पष्ट है कि इंगलैण्ड की भौगोलिक स्थिति तथा प्राकृतिक परिस्थितियों ने औद्योगिक क्रान्ति को आहूत करने में पर्याप्त सहयोग प्रदान किया।

आर्थिक कारण—इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि का निर्माण हो चुका था। लोहा, ऊन और जहाज-निर्माण उद्योग विकसित अवस्था में थे। विदेशी व्यापार से अधिक मुनाफा कमाने की दृष्टि से संयुक्त पूँजीवादी कम्पनियों तथा बैंकिंग-व्यवसाय का भी विकास हो चुका था। इंगलैण्ड के लोगों में नये आविष्कारों के प्रति भी रुचि थी। चूँकि इंगलैण्ड में श्रमिकों का अभाव था, अतः बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए अधिकाधिक यन्त्रों और मशीनों के प्रयोग तथा नये-नये आविष्कारों को प्रोत्साहन मिला। औद्योगिक विकास के लिए पर्याप्त पूँजी होना आवश्यक होता है। सोलहवीं सदी के शुरू से ही इंगलैण्ड के लोग सामुद्रिक लूट-मार, दास-व्यापार तथा विदेशी व्यापार-वाणिज्य से काफी धनी बनते जा रहे थे और कारखानों में धन लगाने वाले लोगों की कमी न थी। बैंक ऑफ इंगलैण्ड के नेतृत्व से इंगलैण्ड की बैंकिंग व्यवस्था ने भी पूँजी-संचय और विनियोग को सम्भव बनाया। वैज्ञानिक आविष्कारों ने औद्योगिक क्रान्ति को सफल बनाने में विशेष भूमिका अदा की। 1760 ई. तक इंगलैण्ड के विदेशी व्यापार का क्षेत्र काफी विस्तृत हो चुका था। कच्चा माल देने के लिए बहुत से उपनिवेश थे और इंगलैण्ड में तैयार माल के बहुत से ग्राहक भी थे। स्थानीय करों से मुक्त होने के कारण इंगलैण्ड का आन्तरिक व्यापार भी बढ़ता जा रहा था। इंगलैण्ड की सामुद्रिक शक्ति भी अजेय थी। उसके व्यापारियों को विश्वास था कि इस शक्ति द्वारा उनके व्यापारिक जहाजों की सुरक्षा की जा सकेगी। इसके साथ-साथ सड़कों, नहरों तथा नदियों में जल-यातायात का विकास होने से न केवल आन्तरिक व्यापार में वृद्धि हुई, बल्कि श्रमिकों की गतिशीलता में

वृद्धि और कारखानों में निर्मित माल को समुद्र तट तक भिजवाने और वहाँ से विदेशों से आये कच्चे माल को कारखानों तक पहुँचाने में भी सुविधा हो गई।

इंगलैण्ड में श्रमिकों की कमी थी, परन्तु कुशल एवं योग्य श्रमिकों ने इस कमी को पूरा करने में काफी सहयोग दिया। यूरोप के अधिकांश देशों में आन्तरिक शान्ति का अभाव था। इसलिए वहाँ के बहुत से कुशल एवं अनुभवी श्रमिक भागकर इंगलेण्ड में आ गये। इससे इंगलैण्ड को लाभ ही हुआ। इंगलेण्ड के लोगों में विस्तृत व्यापार के संगठन की दक्षता एवं बड़े पैमाने पर उत्पादन की कुशलता भी थी और इसी कारण वे समस्त संसार के साथ व्यापारिक सम्पर्क करने में समर्थ रहे। उनकी इस कुशलता ने औद्योगिक क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त किया।

औद्योगिक विकास के लिए व्यक्तिगत आर्थिक स्वतन्त्रता काफी महत्त्वपूर्ण होती है। अठारहवीं सदी के अन्त में इंगलेण्ड में एक भयंकर महामारी 'काली मृत्यु' का प्रकोप हुआ, जिसने लाखों लोगों के प्राण ले लिये। इसके फलस्वरूप इंगलैण्ड में किसानों और मजदूरों की अत्यधिक कमी हो गयी। परिणामस्वरूप भूमिपतियों को किसानों के साथ उदारतापूर्वक व्यवहार करना पड़ा। फिर भी, परिस्थिति का लाभ उठाकर हज़ारों किसानों ने गाँव छोड़कर मजदूरी की तलाश में नगरों का रास्ता पकड़ा। इससे नगरों में मजदूरों की संख्या बढ़ गई। किसान लोग अपनी-अपनी योग्यता एवं रुचि के अनुसार विभिन्न काम-धन्धे करने लगे। परिणामस्वरूप शहरों में गिल्ड पद्धति का नियन्त्रण ढीला पड़ गया। इस परिस्थिति का लाभ उठाया, नये प्रशिक्षित कारीगरों ने। उन्होंने अपने स्वतन्त्र उद्योग स्थापित करने शुरू कर दिये। इस प्रकार, इंगलैण्ड में व्यक्तिगत आर्थिक स्वतन्त्रता का सूत्रपात हुआ जो औद्योगिक विकास के लिए अनिवार्य है।

इंगलैण्ड के औद्योगिक विकास में वहाँ की सरकार की आर्थिक नीति का भी योगदान रहा है। सरकार ने उद्योग-धन्धों के विकास के लिए विदेशी माल के इंगलेण्ड में आयात तथा वहाँ से कच्चे माल के निर्यात पर रोक लगाई। भारतीय वस्तुओं पर 70-80 प्रतिशत आयात कर लगाया तथा भारतीय सूती कपड़े के आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिया, क्योंकि ब्रिटिश वस्त्र उद्योग को भारी धक्का लग सकता था। सरकार की संरक्षण नीति से भी औद्योगिक विकास को बल मिला। कुछ विद्वानों के अनुसार प्लासी के युद्ध के बाद भारतीय पूँजी बड़ी मात्रा में इंगलैण्ड में भेजी गई। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारियों तथा अधिकारियों द्वारा बंगाल से अत्यधिक धन लूटकर इंगलैण्ड में उद्योग-धन्धों के विकास में लगाया गया। इससे औद्योगिक विकास की गति बढ़ गई।

राजनैतिक कारण—इंगलैण्ड में राजनैतिक स्थायित्व, शान्ति एवं व्यवस्था ने भी औद्योगिक क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त करने में योगदान दिया। 1688 की महान् क्रान्ति के बाद जिन सुदृढ़ सिद्धान्तों पर इंगलैण्ड के संविधान को आधारित किया गया उससे आन्तरिक शान्ति बनी रही। वालपोल की कुशल नीति ने इंगलैण्ड के राजनैतिक तथा वित्तीय स्थायित्व को और भी अधिक बल प्रदान किया। इन दिनों जबकि यूरोप के अन्य देश गृह-युद्धों तथा बाह्य आक्रमणों से आतंकित रहे, इंगलैण्ड में घरेलू शान्ति तथा व्यवस्था कायम रही, जिससे व्यापार तथा उद्योगों का विकास सम्भव हो पाया। श्रीमती नोवेल ने लिखा है कि, "ब्रिटेन की राजनैतिक सुरक्षा इतनी अच्छी थी कि लोग बड़े उद्योगों में आवश्यक स्थायी पूँजी लगाने में बिल्कुल भी संकोच नहीं

करते थे।" दूसरी बात यह है कि जहाँ यूरोप के अन्य देशों में कृषक-दास प्रथा प्रचलित थी, वहीं इंगलैण्ड के लोगों को इस घृणित प्रथा से बहुत पहले ही मुक्ति मिल चुकी थी। कृषक-दास भूमि से बँधा रहता था और इसलिए वह कारखानों आदि में काम नहीं कर पाता था। इंगलैण्ड के लोगों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मिल चुकी थी और वे अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकते थे। इससे व्यक्तिगत साहस को बढ़ावा मिला और औद्योगिक क्रान्ति की सफलता सम्भव हो गई।

उदार सामाजिक एवं धार्मिक वातावरण—औद्योगिक क्रान्ति के समय इंगलैण्ड का सामाजिक तथा धार्मिक वातावरण भी औद्योगिक विकास के अनुकूल था। मध्य युग की जड़ता और कट्टरता लगभग समाप्त हो चुकी थी। लोगों में शिक्षा का प्रसार हो चुका था और वहाँ के लोग आर्थिक समृद्धि के लिए विकासशील दृष्टिकोण अपना चुके थे। इंगलैण्ड के लोगों में नये आविष्कारों तथा नई उत्पादन पद्धतियों को अपनाने में विशेष रुचि थी और वे वैज्ञानिको तथा आविष्कारकर्त्ताओं को सक्रिय सहयोग देते थे। इस प्रकार के जनसहयोग से भी औद्योगिक क्रान्ति को सफलता मिली।

इंगलैण्ड में ही औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात क्यों हुआ, इस सम्बन्ध में हेमण्ड ने लिखा है कि, "इन महत्त्वपूर्ण आविष्कारों के प्रारम्भ होने के पूर्व इंगलैण्ड में वाणिज्य के अनुकूल सरकार, मुक्त आन्तरिक व्यापार, समृद्ध एवं विकासशील वस्त्र-उद्योग जिसका निर्मित माल महाद्वीप (यूरोप) को निर्यात होता था, जिसके विस्तृत व्यापार सम्बन्ध थे, संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियाँ थीं और उन्नत बैंकिंग व्यवस्था थी।" इन सबके सामूहिक परिणामस्वरूप ही इंगलैण्ड में सर्वप्रथम औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ।

औद्योगिक क्रान्ति के कारण

इंगलैण्ड में ही औद्योगिक विकास का सूत्रपात क्यों हुआ, इस प्रसंग में हम औद्योगिक क्रान्ति के मूल कारणों—(1) किसानों की बदली हुई स्थिति, (2) प्रशिक्षित कारीगरों द्वारा गिल्ड्स के नियन्त्रण से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप से कारोबार करना, (3) श्रमिकों की उपलब्धि और (4) आर्थिक स्वतन्त्रता का सूत्रपात—की चर्चा कर चुके हैं। अतः यहाँ पुनः उनकी चर्चा न कर कुछ अन्य सहयोगी कारणों का उल्लेख करेंगे, जो निम्नलिखित हैं—

1. पुनरुत्थान और भौगोलिक खोजें—पुनरुत्थान के परिणामस्वरूप मानव में नूतन उत्साह एवं प्रेरणा का जागरण हुआ। ज्ञानवर्धक शिक्षा तथा भौगोलिक-खोजों की पूर्व पीठिका में भी पुनरुत्थान दृष्टिगोचर होता है। भौगोलिक खोजों के परिणामस्वरूप यूरोपवासी दूसरे देशों के सम्पर्क में आये। दूसरे महाद्वीपों में नई-नई बस्तियाँ बसाई गईं और इन बस्तियों के साथ व्यापार-वाणिज्य शुरू हुआ। परन्तु इसके लिए बड़ी मात्रा में उत्पादन की आवश्यकता का अनुभव हुआ। बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के लिए अनेकों मशीनों तथा यन्त्रों का निर्माण तथा आविष्कार किया गया। इस प्रकार, पुनरुत्थान औद्योगिक क्रान्ति का एक कारण बन गया।

2. जनसंख्या में वृद्धि—यूरोप की जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि भी क्रान्ति का एक कारण बनी। ज्यों-ज्यों यूरोप की जनसंख्या बढ़ती गई, त्यों-त्यों रोटी-रोजी की समस्या भी बढ़ती गई। क्योंकि अब कृषि के द्वारा बढ़ती हुई जनसंख्या को रोजी देना सम्भव न था, अतः अधिकाधिक लोग उद्योग-धन्धों की तरफ बढ़ने लगे। दूसरी बात यह थी कि जनसंख्या की वृद्धि के कारण

दैनिक उपयोग की वस्तुओं की माँग भी बहुत अधिक बढ़ गई थी। बढ़ती हुई माँग ने मनुष्य को औद्योगिक विकास के लिए प्रोत्साहन दिया। इससे उद्योग-धन्धों का विकास हुआ।

3. रहन-सहन के स्तर में वृद्धि—ज्यों-ज्यों मनुष्य को सुविधाएँ मिलती गईं; त्यों-त्यों उसके रहन-सहन का स्तर भी उन्नत होता गया। इससे उसकी आवश्यकताएँ भी बढ़ीं। बढ़ती हुई आवश्यकताओं से औद्योगिक विकास को बहुत बल मिला। वस्तुओं के उत्पादन की वृद्धि ने भोग-विलास की सामग्री का सृजन किया। अमीर लोग जिनके पास धन का अभाव न था, अपनी शान-शौकत बढ़ाने की खातिर अत्यधिक मात्रा में वैभव-विलास की वस्तुएँ खरीदने लगे। इस प्रकार, माँग बढ़ती गई और बढ़ती हुई माँग के साथ-साथ औद्योगिक विकास भी होता गया।

4. फ्रांसीसी क्रान्ति का योग—फ्रांसीसी क्रान्ति ने भी औद्योगिक क्रान्ति के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। नेपोलियन बोनापार्ट ने अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के निमित्त सम्पूर्ण यूरोप को युद्ध में धकेल दिया। इस उलझन को सुलझाने का भार इंगलैण्ड पर पड़ा। इंगलैण्ड को न केवल अपने सैनिकों की अपितु अपने साथी देशों के सैनिकों की आवश्यकताओं को पूरा करना पड़ा। इसके लिए उत्पादन के तरीकों में सुधार करना आवश्यक हो गया। युद्ध समाप्ति के बाद इंगलैण्ड में बेकारी फैल गई। इस बेकारी को दूर करने का एकमात्र उपाय था—उद्योग-धन्धों का विकास करना। इससे उत्पादन बढ़ा। अब तैयार माल को खपाने के लिए दूसरे देशों के बाजार ढूँढने पड़े। कच्चे माल की मण्डियाँ ढूँढनी पड़ीं। उपनिवेश बसाने पड़े। इस प्रकार, एक के बाद एक समस्या आती गई, जिसका हल औद्योगिक क्रान्ति से ही किया जा सकता था।

5. व्यापारी वर्ग—पुनरुत्थान के कारण व्यापार-वाणिज्य का विकास हुआ। सामन्ती व्यवस्था और धार्मिक अन्धविश्वासों का प्रभाव समाप्त हुआ। इन सब परिवर्तनों के परिणांमस्वरूप व्यापारी वर्ग का अभ्युदय हुआ। यह वर्ग पर्याप्त धनी था और अपने धन को उत्तरोत्तर उत्पादन और फलतः धनोपार्जन में लगाना चाहता था। इसके लिए यह आवश्यक था कि वे उन अन्वेषकों की मदद करें जो अपनी खोजों से उनके उत्पादन की मात्रा को बढ़ाने में योग दे सकते हों। इस प्रकार नये-नये यन्त्रों की खोज का सिलसिला शुरू हुआ, जिससे औद्योगिक क्रान्ति के विकास में बहुत सहयोग मिला।

6. राष्ट्रीयता—राष्ट्रीयता की भावना ने भी औद्योगिक विकास में सहयोग दिया। प्रत्येक देश के निवासी यही चाहते थे कि उनका देश अन्य देशों की तुलना में अधिक उन्नतिशील बन जाये। उनके देश के साम्राज्य का विस्तार हो। परन्तु इन सबके लिए अधिक उत्पादन की आवश्यकता थी। क्योंकि अब उन्नति का मार्ग बदल गया था। अब आर्थिक प्रगति के सहारे ही शक्ति सम्पन्न बना जा सकता था। फलतः महान् राष्ट्रों में व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा शुरू हो गई। इस दौड़ में वही राष्ट्र आगे बढ़ सकता था जो अधिक से अधिक उत्पादन करने में समर्थ हो। इंगलैण्ड ने जो विशाल साम्राज्य खड़ा किया था, उसकी सफलता का एक प्रमुख कारण यही था।

औद्योगिक क्रान्ति का स्वरूप

औद्योगिक क्रान्ति का स्वरूप विभिन्न क्षेत्रों में हुए औद्योगिक विकास से स्पष्ट हो जाता है। औद्योगिक विकास चार महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है। ये क्षेत्र हैं—(1) कृषि, (2) परिवहन एवं संचार, (3) उद्योग और (4) आर्थिक सिद्धान्त एवं नीति।

कृषि के क्षेत्र में विकास—जिस समय इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ था, उस समय किसानों को कड़ी मेहनत करनी पड़ती थी। चूँकि औद्योगिक क्रान्ति का कृषि से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः इस क्षेत्र में भी वैज्ञानिक तरीकों से काम करने और कृषि-उपयोगी मशीनों को बनाने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। क्योंकि ज्यों-ज्यों कारखाना प्रणाली का विस्तार हुआ, शहरों की आबादी बढ़ी और अधिकाधिक लोग कम आत्मनिर्भर रहने लगे। अब गाँव के किसानों को शहर के रहने वालों के लिए भी अधिक अन्न और कारखानों के लिए अधिक कपास का उत्पादन करना पड़ता था। इस प्रकार, कृषिजन्य वस्तुओं की माँग बढ़ती जा रही थी।

एक और कारण भी कृषि क्रान्ति में सहयोगी रहा। अब तक लोगों ने खाने के लिए खेत बोये थे, लेकिन अब लोग मुनाफा कमाने के लिए खेतों में पूँजी लगा रहे थे। पूँजीपति लोग कृषि में पूँजी लगाकर इस क्षेत्र से भी अधिक लाभ उठाने की सोचने लगे। परन्तु पुराने ढँग से की जाने वाली खेती से यह सम्भव न था। अतः खेती अब अधिक वैज्ञानिक तरीकों और अधिक अच्छे औजारों से की जाने लगी। नये परीक्षण और प्रयोग किये जाने लगे। चूँकि सिर्फ धनी लोगों के पास ही परीक्षणों के लिए धन तथा अवकाश था; इसलिए प्रारम्भिक उन्नति अधिकांशतः 'समृद्ध किसानों' द्वारा ही की गयी।

सर्वप्रथम, वर्कशायर के एक अँग्रेज जमींदार जेथ्रो टल (1674-1740) ने वनस्पति जीवन की उपयुक्त अवस्थाओं का अध्ययन किया और भूमि जोतने तथा बीज बोने के नये ढँगों का आविष्कार किया। 1701 ई. में उसने सीड ड्रिल (बीज बोने का यन्त्र) नामक एक मशीन का आविष्कार किया। यह मशीन अपने आप खेत में हल चलाकर उसमें लकीर डाल देती थी और साथ ही साथ लकीर में बीज भी गिरता रहता था और साथ ही यह मशीन उस लकीर में गिरे हुए बीजों को मिट्टी के साथ ढाँपती हुई खेत को बराबर करके आगे चलती रहती थी। इससे किसानों को श्रम से मुक्ति मिल गई और समय भी बचने लगा। टल का दूसरा सुझाव यह था कि किसानों को घासपात निकालने तथा भूमि को नरम बनाने के लिए घोड़ों से चलाए जाने वाले 'कर्षक' (पटेला) यन्त्र का प्रयोग करना चाहिए। इसके बाद वाइकाउण्ड टाउनसैण्ड (1670-1738) ने किसानों को फसलों को बदल-बदल कर उपजाने के लाभ समझाये। गेहूँ, शलजम, जौ और क्लोवर की खेती क्रमशः आने वाले वर्षों में उसी जमीन के टुकड़े में करने से जमीन को सीजन भर बेजोत भी नहीं रखना पड़ता और इससे जमीन की उर्वरता भी नष्ट नहीं होती। इस प्रणाली से प्रति एकड़ दुगुनी पैदावार होने लग गई।

1760 ई. के आस-पास रोबर्ट बेकवैल नामक अँग्रेज ने पशुपालन को एक लाभदायक व्यवसाय बना दिया। उसने मवेशियों और घोड़ों की नस्लों में सुधार और चुनी हुई भेड़ों की उत्पत्ति बढ़ाने का प्रयास किया। वह मवेशियों को दुधारू तथा गोश्त प्रदान करने वाला और भेड़ों को ऊन तथा मांस देने वाला बनाने में कामयाब रहा। उसके बाद के वैज्ञानिकों ने स्वस्थ जानवरों की वृद्धि के लिए और भी उपाय खोज निकाले। वनस्पति शास्त्री भी पीछे नहीं रहे। एक अमेरिकी, लूथर बरबंक ने पौधों की नई किस्में पैदा करने में सफलता प्राप्त की। पौधों में कलम लगाने से इच्छित और नई किस्में तैयार की जाने लगीं।

1840 ई. तक किसान लोग अपने खेतों में पुराने तरीके से खाद देते रहे और खाद देने के मामले में कोई नया तरीका नहीं अपनाया गया। लेकिन उसी वर्ष जस्टिस वॉन लीविग नामक एक जर्मन रसायन शास्त्री ने एक पुस्तक प्रकाशित करवाई, जिसमें उसने यह प्रतिपादित किया कि पौधों की आधारभूत खुराक पोटाश, नाइट्रोजन और फास्फोरस है। इन द्रव्यों की मात्राएँ मिला देने से मिट्टी की उर्वरता बढ़ जाती है। इसके बाद व्यापारिक खादें बड़े पैमाने पर खेती में प्रयुक्त होने लगीं जिससे पैदावार काफी बढ़ गई।

अब श्रम बचाने के लिए कृषि के प्रयोग में आने वाली मशीनों की तरफ ध्यान दिया गया क्योंकि औद्योगिक मशीनों के लिए कृषि उत्पादन की माँग काफी बढ़ गई थी। अमेरिका में भाड़े के मजदूरों की कमी ने भी लोगों का ध्यान इस तरफ केन्द्रित किया और यही कारण है कि इस क्षेत्र में अमेरिका दूसरे देशों का अगुवा बन गया। 1834 ई. में साइरस एच. मैकेकोरमिक ने फसल काटने वाली मशीन का आविष्कार किया। इसके बाद, एफ. एप्पलबाई ने बटोरने वाले दुहरे बाइण्डर इसमें जोड़कर इस मशीन को अधिक उपयोगी बना दिया। इसी अवधि में अन्य आविष्कारक घोड़े से खींचा जाने वाला पाँचा, मढ़ाई की मशीन, लोहे का हल और तवेदार हैरो (पटला) आदि का निर्माण करने में कामयाब हो चुके थे। बाद में घोड़े के स्थान पर भाप इंजिन, गैसोलीन इंजिन और बिजली की मोटरें खेतों में लगाई गईं, जिससे कृषि का कार्य तेज गति से होने लगा।

इसके बाद, कृषि की पैदावार के संरक्षण और प्रयोग के नये तरीके ढूँढ निकाले गये। अब उन्हें तेजी से बाजार और बाजार से दुकानों तक पहुँचाने की तरफ सुरक्षित रखने के लिए वैज्ञानिक स्टोर बनाये जाने लगे। फ्रांस के लुई पाश्चर ने मक्खन और पनीर बनाने के कार्य को सुधारा। रासायनिकों ने निरन्तर प्रयोग करके फसलों के नये प्रयोगों की खोज करके उनके लिए बाजार को विस्तृत किया। उदाहरणार्थ, अमेरिका के नीग्रो वैज्ञानिक जार्ज वाशिंगटन कार्वर ने अनवरत खोजों के बाद यह बतलाया कि मीठे आलू से एक सौ विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ बन सकती हैं।

कृषि वैज्ञानिक और अन्वेषकों को जल्द कामयाबी मिल गई थी, परन्तु आम किसान उनकी खोजों का तत्काल लाभ न उठा पाया। क्योंकि अभी तक खुले खेतों का प्रचलन था। इन खेतों का क्षेत्रफल भी काफी छोटा था। इससे बहुत-सी भूमि बेकार चली जाती थी और खुले खेतों पर मशीनों का प्रयोग भी सम्भव न था। इंगलैण्ड के धनी किसान आर्थर यंग (1744-1820) ने इंगलैण्ड, आयरलैण्ड फ्रांस आदि देशों का दौरा किया और तत्कालीन कृषि-प्रणालियों का गहन अध्ययन करने के उपरान्त 'नयी खेती' का प्रचार किया। इस सम्बन्ध में उसने कई पुस्तकें लिखीं। इंगलैण्ड के सुप्रसिद्ध इतिहासकार ट्रैवेलियन ने तो उसे 'नयी खेती का अवतार' कहा है। उसने छोटे-छोटे खुले खेतों को मिलाकर बड़े-बड़े कृषि फार्म बनाने तथा बड़े फार्मों से मिलने वाले लाभों का विस्तृत विवरण दिया। यंग के प्रयत्नों से ब्रिटिश कृषि बोर्ड की स्थापना हुई। इसका मुख्य उद्देश्य किसानों में नये विचारों को फैलाना था और नई-नई खोजों की जानकारी देना था। इसके बाद, प्रत्येक देश में कृषि मन्त्रालय (या विभाग) कायम होने लगे। मन्त्रालय अथवा विभाग की देखरेख में परीक्षण क्षेत्र कायम किये गये और पौधों तथा भूमि समस्याओं पर खोजें की जाने

। तथा किसानों को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ प्रकाशित की जाने लगीं। रकारी तौर पर कृषि विद्यालयों की स्थापना की जाने लगी। इन विद्यालयों में वैज्ञानिक ढंग से कृषि का काम सिखाया जाने लगा।

इंगलैण्ड में कृषि के क्षेत्र में नवीन आविष्कारों तथा पद्धतियों से पैदावार में काफी वृद्धि हुई परन्तु इससे छोटे किसानों को लाभ के स्थान पर हानि उठानी पड़ी। बड़े-बड़े फार्मों की स्थापना के चक्कर में उन्हें अपने छोटे-छोटे खेत बेचने के लिए बाध्य किया गया और वे भूमिहीन मजदूरों की श्रेणी में आ गये। जमींदार तथा अमीर किसानों को बहुत अधिक लाभ हुआ। उनकी भूमि और पैदावार काफी बढ़ गई। इसका परिणाम यह निकला कि गाँवों के बहुत से किसान शहरों में जा बसे।

परिवहन एवं संचार में सुधार—अब परिवहन के साधनों को उन्नत बनाने की तरफ विशेष ध्यान दिया गया। क्योंकि कोयला, लोहा और अन्य उत्पादित वस्तुओं को कारखानों तक पहुँचाना और तैयार माल को कारखानों से दूरस्थ स्थानों तक ले जाना आवश्यक हो गया। इसके लिए यातायात के मौजूदा साधनों को सुधारना आवश्यक हो गया। 18वीं सदी के अन्तिम वर्षों में फ्रांस ने सड़कों और नहरों का निर्माण करके दूसरे देशों को नेतृत्व दिया। इंगलैण्ड और अमेरिका में भी प्रमुख नदियों और झीलों को मिलाती हुई नहरें खोदी गईं। परन्तु सड़क-निर्माण का नया तरीका एक स्कॉटिश मकाडम (1756-1836) ने निकाला। उसने सड़कों के सबसे निचले भाग में भारी पत्थरों की परतें, उसके बाद छोटे-छोटे पत्थरों की परत, उसके बाद मिट्टी और गारे के स्थान पर अलकतरे (तारकोल) की परत जमाई जाने लगी। मकाडम की ये सड़कें बहुत अधिक टिकाऊ और उपयोगी सिद्ध हुईं। इससे यातायात की गति को जबरदस्त बल मिला। सड़कों के निर्माण में टैलफोर्ड, ब्रिडले और रैनी जैसे विशेषज्ञों का भी महान् योगदान रहा है।

इसके बाद नहरों पर ध्यान दिया गया। सहस्रों मील लम्बी नहरों का निर्माण किया गया। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम ड्यूक ऑफ ब्रिजवाटर ने विशेष नाम कमाया। उसने ब्रिडले नामक इंजीनियर की सेवाएँ प्राप्त कीं और वर्सले से मानचेस्टर तक एक नहर बनाने का नक्शा तैयार करवाया। इसके बाद नहर को तैयार किया गया। ड्यूक के नाम पर इस नहर का नाम रखा गया 'ब्रिजवाटर नहर'। इसके बाद बहुत-सी नहरें तैयार की गईं जिनमें मर्सी और कोल्डर की नहरें विशेष प्रसिद्ध थीं। कुछ समय बाद इंगलैण्ड के प्रमुख नगर—लन्दन, ब्रिस्टल, लिवरपूल और हिल आदि को बड़ी-बड़ी नहरों से जोड़ दिया गया। इससे भारी वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में काफी सुविधा हो गई। सॉल सेंट मारी नहर यातायात की सबसे प्रसिद्ध नहर थी। 1869 ई. में फ्रांसीसी इंजीनियर फर्डिनाद लेस्सेस ने स्वेज नहर जो भूमध्यसागर को लालसागर से मिलाती है, का निर्माण पूरा करवाया। इस नहर के बन जाने से यूरोप और भारत के बीच के मार्ग की दूरी एक-तिहाई कम हो गई।

अब पानी पर अधिक गति से चलने वाले यातायात की तरफ ध्यान दिया गया। 1807 ई. में एक अमेरिकी राबर्ट फुल्टन ने सर्वप्रथम हडसन नदी में सबसे पहली वाष्पशक्ति से चालित नौका 'क्लेरमोट' का सफल परीक्षण किया। इस नौका ने न्यूयार्क से एल्बानी तक ही 150 मील की दूरी पाँच मील प्रति घण्टा की रफ्तार से पूरी की। उसके इस आविष्कार से जल यातायात के

क्षेत्र में क्रान्ति ला दी। इसके बाद ही समुद्र में चलने वाले जहाजों का निर्माण सम्भव हो पाया। 1838 ई. में पहले स्टीम वोट 'सिरिअस' ने एटलाण्टिक महासागर को 18 दिनों में पार किया। 1850 ई. में नौकाओं में पैडल व्हील के स्थान पर स्क्रू प्रोपेलर का प्रयोग किया जाने लगा, जिससे उनकी गति काफी तेज हो गई।

लोहे की पटरियों पर चलने वाले रेल के इंजन के आविष्कार ने यातायात के क्षेत्र में जबरदस्त हलचल पैदा कर दी। प्रारम्भ में स्वचालित इंजन का सफल आविष्कार इंगलैण्ड के जेम्सवाट ने किया। 1830 ई. में एक अन्य अँग्रेज जार्ज स्टीफेन्सन ने अपने प्रसिद्ध भाप के इंजन 'राकेट' का आविष्कार करके स्थल परिवहन के साधनों में क्रान्ति ला दी। इस इंजन ने माल से भरे डिब्बों की पंक्ति को एक घण्टे में उन्नीस मील की रफ्तार से खींचकर संसार को चकित कर दिया। बहुत से लोगों ने इस बेहद शोर मचाने वाले और भयानक दानव जैसा दिखाई पड़ने वाले इंजन पर आपत्ति उठाई। उन लोगों को डर था कि इससे किसानों को भारी हानि पहुँचेगी और धुएँ से वायु दूषित हो जायेगी। इस प्रकार की आपत्तियों के उपरान्त भी यूरोप के देशों में रेलमार्गों की माँग बढ़ती गई और हजारों मील लम्बे रेलमार्ग बन गये। धीरे-धीरे रेलमार्ग केवल माल ढोने के लिए ही नहीं अपितु यात्रा के एक सर्वसुलभ और लोकप्रिय साधन के रूप में भी काम में आने लगे। यात्री-ट्रेनों में सुधार का सिलसिला जारी रहा और उन्हें अधिक सुरक्षित बनाया जाने लगा। उनमें तेज गति से चलने वाले इंजन लगाये गये। डाइनिंग कारों, स्लीपिंग कारों और मुलायम कोचों की व्यवस्था की गई जिससे ट्रेन की यात्रा पहले की अपेक्षा कहीं अधिक आरामदेह हो गई।

1880 के आस-पास गैसोलीन अर्थात् पेट्रोल इंजन के आविष्कार ने पुनः हलचल पैदा कर दी। प्रारम्भ में चालक शक्ति के रूप में इसका उपयोग मोटर लांच, बाइसिकल और मोटर बग्घी में किया गया था। इसकी सफलता से अमेरिका में कई कम्पनियाँ मोटर बनाने के लिए खुल गई थीं। इस दिशा में अमेरिका के हेनरी फोर्ड का विशेष योगदान रहा। उसने सस्ते दामों में मोटरों को बनाकर उन्हें काफी लोकप्रिय बना दिया। फ्रांस, जर्मनी और इंगलैण्ड में भी मोटर बनाने के अनेक कारखाने खुल गये। इसके वाद माल ढोने के लिए ट्रक गाड़ियाँ बनाई गईं। ट्रकों के परिणामस्वरूप रेलमार्गों से अत्यधिक दूर के स्थान भी राष्ट्रीय बाजारों से जुड़ गये। मोटर साइकिल तथा स्कूटरों के निर्माण ने सामान्य लोगों की परिवहन समस्या को काफी मात्रा में हल कर दिया। 1839 में चार्ल्स गुडइयर ने यह खोज निकाला कि रबर का किस तरह वल्कनीकरण किया जाय कि वह सख्त हो जाय। इस खोज से मोटर-उद्योग की उन्नति में बहुत अधिक सहायता मिली।

स्थानों की दूरियों को कम करने और पृथ्वी के लोगों को परस्पर निकट लाने में वायुयानों का निर्माण सबसे महत्त्वपूर्ण रहा। वैसे तो मनुष्य प्राचीन काल से ही हवा में उड़ने के स्वप्न देखता आया था। पुनर्जागरण काल के प्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा इंजीनियर लियोनार्डो डी विन्सी ने भी उड़ने का रहस्य खोजने का असफल प्रयास किया था। 18वीं सदी के अन्त में कुछ फ्रांसीसी गैस भरे गुब्बारों की सहायता से हवा में उड़ने में सफल रहे। 1890 के आस-पास जर्मनी के काउण्ट वोन जिपलिन ने हाइड्रोजन से भरे हुए बड़े वायुयानों के डिजाइन वनाये, परन्तु अधिक कामयाबी

न मिली। 1903 ई. में विलवर और ओरविले राइट नामक दो अमेरिकनों को हवा में उड़ने वाली मशीन बनाने में सफलता मिल गई। उसी के साथ विमान-निर्माण उद्योग की स्थापना हुई। 1920 के बाद यात्रा और व्यापारिक कार्यों के लिए भी विमान सेवाएँ प्रारम्भ हो गईं। विमानों के आविष्कार ने आधुनिक युद्ध कला को बहुत अधिक प्रभावित किया है।

संचार व्यवस्था के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण सुधार किये गये। रालैण्ड हिल नामक एक अँग्रेज ने आधुनिक डाक-व्यवस्था की नींव डाली। 1874 ई. में अन्तर्राष्ट्रीय डाक संघ की स्थापना हुई और एक देश से दूसरे देश को पत्र, समाचार-पत्र, पार्सल, मनीआर्डर आदि आने-जाने लगे। 1844 ई. में सेमुअल मॉर्स ने एक व्यावहारिक तार यन्त्र का आविष्कार किया, जिससे सन्देश को इधर से उधर भेजने में सुविधा हो गई। 1866 में साइरस फील्ड प्रथम अतलांतक समुद्री तार बिछाने में सफल हुआ। 1876 ई. में ग्राहम बेल ने टेलीफोन का आविष्कार करके संचार व्यवस्था को ही बदल दिया। 1896 ई. में मारकोनी नामक एक इटालियन ने वेतार के तार से तार भेजने की मशीन बनाई। इसके बाद रेडियो तथा ब्राडकास्टिंग स्टेशन का समय आया और फिर अन्त में टेलीविजन शुरू हुआ। इस प्रकार, संचार व्यवस्था का काया-कल्प हो गया।

उद्योग में क्रान्ति—उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में औद्योगिक क्रान्ति की प्रथम झलक सूती वस्त्र के उद्योग में देखने को मिलती है। वैसे 17वीं शताब्दी से ही इंगलैण्ड में सूत का उपयोग व्यापक पैमाने पर शुरू हो गया था, परन्तु वस्त्र बुनने की पुरानी पद्धति में कोई खास परिवर्तन नहीं आया था। सूती कपड़ों की माँग इतनी अधिक बढ़ गई कि पुराने ढँग से चरखे काफी सूत नहीं कात सकते थे और पुराने करघों से उस माँग को पूरा करने लायक कपड़ा नहीं बुना जा सकता था। 1733 ई. में 'जॉन के' नामक एक अँग्रेज ने उड़ने वाली ढरकी (फ्लाइंग शटल) का आविष्कार किया। इससे कपड़ा बुनने की गति में तेजी आ गई। ढरकी करघे का वह हिस्सा होता है, जो चौड़ाई में पड़ने वाले तागों को जिसे बाना कहा जाता है, तागे की लम्बाई वाले हिस्से के जिसे ताना कहते हैं, बीच से गुजरता था। इसके आविष्कार से अब एक जुलाहा उतना सूत प्रयोग में लाने लगा जितना कि दस व्यक्ति एक दिन में कात सकते थे। इससे सूत कातने वालों की कठिनाइयाँ बढ़ गईं। 1764 ई. में जेम्स हारग्रीव्स ने एक ऐसे चरखे का आविष्कार किया जिसमें आठ सूत एक साथ काते जा सकते थे। यह मशीन बनावट में बहुत ही सादा और लकड़ी की बनी होती थी। इसमें एक पहिये को घुमाने से आठ तकुए एक साथ घूम सकते थे और इस प्रकार एक साथ ही आठ सूत काते जा सकते थे। बहुत से मजदूरों ने शुरू में इस मशीन का बहिष्कार किया था, क्योंकि उन्हें भय था कि इसके प्रयोग से मजदूरों में बेकारी फैल जायेगी। परन्तु धीरे-धीरे लोगों ने इसे अपनाना शुरू कर दिया। हारग्रीव्स ने अपनी कताई मशीन का नाम अपनी पत्नी के नाम पर 'कतन जैनी' (स्पिनिंग जैनी) रखा था। परन्तु इन मशीनों को हाथ से चलाना पड़ता था। 1769 ई. में प्रेस्टन निवासी रिचार्ड आर्कराइट ने सबसे पहली सूत कातने की मशीन 'पन-चौखट' (वाटर-फ्रेम) बनाई जो हाथ से न चलकर जलशक्ति द्वारा चलती थी। चूँकि 'पन-चौखट' अथवा 'जलतन्त्र' बहुत बड़े थे, अतः घरों में उनका प्रयोग सम्भव न था। अतः उन्हें रखने के लिए कारखाने बनाने पड़े। आर्कराइट ने अन्य धनी लोगों के साथ मिलकर बड़ी-बड़ी मिलें कायम कीं जिससे कारखाना पद्धति को प्रोत्साहन मिला। आर्कराइट की इस मशीन से दूसरे

लोगों को भी प्रोत्साहन मिला और 1789 ई. में सेमुअल क्राम्पटन ने फन-चौखट (वाटर-फ्रेम) और कतन-जैनी (स्पिनिंग जैनी) दोनों को मिलाकर एक नई मशीन बनाई। इसे 'खच्चर' (म्यूल) नाम दिया गया। इससे बहुत बारीक सूत काता जाता था और इससे काता हुआ सूत सस्ता भी पड़ता था। अब सूत कातने की समस्या तो हल हो गई परन्तु बुनाई के क्षेत्र में और सुधार न होने से वस्त्र-उद्योग के सामने पुनः समस्या उत्पन्न हो गई। 1785 ई. में एडमण्ड कार्ट राइट ने एक ऐसी बुनाई की मशीन बनाई जो कताई मशीनों द्वारा किये जाने वाले उत्पादन की बराबरी कर सके। इसे शक्ति-चालित करघा (पावरलूम) के नाम से पुकारा जाने लगा क्योंकि इसे जलशक्ति अथवा वाष्पशक्ति दोनों से ही चलाया जा सकता है। इस मशीन से बुना कपड़ा बहुत बढ़िया और सस्ता होता था। कुछ वर्षों बाद लगभग सभी कारखानों में इस मशीन को प्रयुक्त किया जाने लगा। अब कपास से बिनौले और रुई पृथक् करने वालों की कठिनाइयाँ बढ़ गईं। 1793 ई. में एक अमेरिकी स्कूल शिक्षक एली ह्विटने ने कपास से रुई अलग करने की एक मशीन बनाई, जिसकी सहायता से एक आदमी एक ही दिन में हजारों पौण्ड कपास साफ कर सकता था। चूँकि इस मशीन का आकार बहुत बड़ा था, अतः इसका नाम 'कॉटिनजिन' रखा गया। इसके बाद सूत की रंगाई, धुलाई और छपाई के नये तरीके अपनाये गये। कालिकट छापने की नई रीति की खोज की गई। लोहे के रोलरों पर विभिन्न प्रकार के बेल-बूँटे निकाल दिये जाते थे और उन्हें कपड़ों पर छाप दिया जाता था। चूँकि इस पद्धति से कपड़ों पर जगह-जगह रंग के धब्बे पड़ जाते थे, अतः कपड़ों को साफ करने के लिए एसिड का प्रयोग किया जाने लगा। इस प्रकार, वस्त्र उद्योग में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ गये और सूती वस्त्रों का निर्माण इंगलैण्ड का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय बन गया। इसका प्रभाव दूसरे उद्योगों पर भी पड़ा।

यदि मशीनों को चलाने के लिए केवल जलशक्ति पर ही निर्भर रहना पड़ा होता तो औद्योगिक क्रान्ति का विकास तेजी से नहीं हो पाता। जलशक्ति का उपयोग करने के लिए कारखानों का निर्माण तेज बहने वाली पानी की धारा के समीप करना पड़ता और ऐसी धाराएँ बहुत कम थीं और जो थीं वे कच्चे माल के उत्पादक क्षेत्रों से बहुत दूर थीं। इसलिए अनेक लोगों ने वाष्प शक्ति का प्रयोग करने के उपाय ढूँढने का प्रयत्न किया। सर्वप्रथम, टामस न्यूकोमन नामक एक अँग्रेज ने खानों से पानी बाहर निकालने के लिए प्रथम वाष्प इंजन का सफल आविष्कार किया था। परन्तु इस इंजन में ईंधन का खर्चा बहुत अधिक था। 1769 ई. में जेम्सवाट ने न्यूकोमन के इंजन के दोषों को दूर करके एक नया भाप का इंजन बनाया, जो कम खर्चीला होने से अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। लगभग सभी सूती कपड़ा कारखानों में जेम्सवाट के इंजन को लगाया गया और अब मशीनें वाष्प शक्ति से चलाई जाने लगीं।

बहुत अधिक संख्या में मशीनों का निर्माण करने के लिए लोहे की माँग बढ़ी। परन्तु कच्चे लोहे को पिघलाकर, उसके मैल को साफ करने का ढँग बहुत ही श्रमसाध्य और महँगा था। लोहे को पिघलाने के लिए लकड़ी का कोयला काम में लाया जाता था। नई मशीनों के प्रयोग में लकड़ी का प्रयोग किया जाता था। परिणाम यह निकला कि इंगलैण्ड में लकड़ी की मात्रा में तेजी से कमी आने लगी। अतः ईंधन के अन्य साधन की खोज शुरू की गई। 18वीं और 19वीं शताब्दियों में पत्थर के कोयले के उपयोग करने के उपाय खोजे गये। पत्थर के कोयले के उपयोग

से श्रम और मूल्य दोनों की बचत होने लगी। परिणामस्वरूप खानों से पत्थर का कोयला निकालना इंगलैण्ड का एक प्रमुख उद्योग बन गया। लोहे से बनी मशीनें काफी वजनदार होती थीं और उनमें जंग भी अधिक लग जाता था। अतः लोगों की रुचि इस्पात से बनी मशीनों की तरफ बढ़ गई। 1856 ई. में हेनरी बेस्सीमेर ने लोहे को शोधने और उसे अधिक सख्त बनाने की प्रणाली ढूँढ निकाली। इस पद्धति से तैयार किये गये लोहे को 'इस्पात' का नाम दिया गया। इस्पात ऐसा लोहा है जो अपेक्षाकृत अधिक हल्का, अधिक मजबूत, अधिक जंग-रोक और अधिक लचकदार होता है। इससे अधिक सही मशीनों और औजारों का बनाना सम्भव हो गया। 19वीं सदी के अन्त में मैंगनीज और टंगस्टन नामक धातुओं को मिलाकर इस्पात को और अधिक सख्त बनाने की पद्धति को खोजा गया। इससे सूक्ष्म औजारों का बनना सम्भव हो गया। इस प्रकार, नयी-नयी मशीनों तथा पद्धतियों से उद्योग-धन्धों का अभूतपूर्व विकास हुआ।

आर्थिक सिद्धान्त एवं नीति—आर्थिक सिद्धान्त एवं नीति के क्षेत्र में भी औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप नये-नये परिवर्तन हुए। इससे पूर्व 'वाणिज्यवाद' (Mercantilism) का सिद्धान्त लागू था और एकाधिकार की नीति का बोलबाला था। औद्योगिक विकास के फलस्वरूप पूँजीपति वर्ग का उदय एवं विकास हुआ जो सरकार से यह माँग करने लगा कि व्यापार-वाणिज्य के सम्बन्ध में सभी प्रकार के सरकारी प्रतिबन्धों को हटा दिया जाय तथा सरकार इसमें हस्तक्षेप करना छोड़ दे। इस नये सिद्धान्त को 'अहस्तक्षेप की नीति' अथवा 'स्वतन्त्र व्यापार' (Laissez Faire or Free Trade) कहते हैं। इसका अर्थ है—"सब चीजों को अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करने दो।" तत्कालीन अर्थशास्त्री एडम स्मिथ ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'वैल्थ ऑफ नेशन्स' में बहुत से नये आर्थिक सिद्धान्त प्रतिपादित किये। उसके विचारों का बहुत प्रभाव पड़ा और कई देशों ने स्वतन्त्र व्यापार को प्रोत्साहन दिया, जिससे औद्योगिक विकास की गति को बढ़ावा मिला।

औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप नवीन सामुद्रिक मार्गों का विकास हुआ। नई व्यापारिक कम्पनियों की स्थापना हुई जिनमें 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' प्रमुख थी और इसका हमारे देश के इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। बैंकिंग और ऋण-पद्धति का विकास हुआ। केन्द्रीय बैंकों की स्थापना हुई। बीमा कम्पनियाँ खोली गईं। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों का विकास हुआ। इस प्रकार, औद्योगिक क्रान्ति ने अलग-अलग क्षेत्रों में अनेकों मौलिक परिवर्तनों का मार्ग प्रशस्त करके आधुनिक समाज के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम

(i) आर्थिक परिणाम

1. घरेलू उद्योगों का विनाश—औद्योगिक क्रान्ति का सर्वप्रथम विनाशकारी प्रभाव घरेलू उद्योग-धन्धों पर पड़ा। क्रान्ति के पूर्व कारीगर लोग अपने घर पर, अपने परिवार के सदस्यों के साथ, अपने थोड़े से औजारों और सीमित पूँजी से काम करते थे। जिस वस्तु से रुचि होती थी, उसी को बनाते थे और अपना निर्वाह कर लेते थे। वे लोग लगभग आत्म-निर्भर तथा स्वतन्त्र थे। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति से घरेलू उद्योग-धन्धे ठप्प हो गये। मशीनों से जो उत्पादन होता था, वह हाथ के उत्पादन से काफी सस्ता और सुन्दर होता था। अतः घरेलू उत्पादन की वस्तुओं

के ग्राहक कम हो गये और कुटीर-उद्योगों में काम करने वाले कारीगर वेकार हो गये। आजीविका के लिए इन स्वतन्त्र एवं दक्ष कारीगरों को कारखानों में मजदूरी करने के लिए विवश होना पड़ा। इस प्रकार, कारीगरों के स्वतन्त्र व्यवसाय तथा व्यक्तित्व—दोनों का अन्त हो गया।

2. बड़े कारखानों की स्थापना—औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भिक काल में छोटे-छोटे कारखाने स्थापित किये गये थे। उनकी सफलता से प्रोत्साहित होकर लोगों ने सोचा कि यदि वे अपनी पूँजी बड़े कारखानों और मशीनों में लगायें तो उन्हें अधिक फायदा हो सकता है। कुछ लोग ऐसे भी थे जो वड़े कारखानों के आंशिक मालिक बनने को इच्छुक थे। अतः बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना शुरू हुई जिसमें हजारों लोग एक साथ काम करते थे। संयोग की वात है कि वड़े कारखाने कार्यकुशल और लाभप्रद सिद्ध हुए। इस प्रकार के बड़े कारखानों में केवल मजदूर लोग ही काम नहीं करते थे। ऐसे लोगों को भी सेवा में रख लिया जाता था जो हर समय खर्च घटाने, प्रति व्यक्ति से अधिक काम लेने और कारखाने में बनने वाले माल के लिए और बाजार खोजने के तौर-तरीकों का अध्ययन कर सकें।

बड़े-वड़े कारखानों में "फैक्टरी पद्धति" अपनाई गई। इस पद्धति की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार थीं—(1) एक ही कारखाने में असंख्य लोगों का एक साथ काम करना। (2) कार्य का विभाजन। (3) श्रमिकों पर निरीक्षकों की नियुक्ति। (4) मशीनों का यान्त्रिक शक्ति से चलना। (5) पूँजी का विशेष उद्योग में फँसा रहना और (6) श्रम के मूल्य को लेकर मालिक-मजदूर संघर्ष। वस्तुतः औद्योगिक क्रान्ति ने वर्ग-संघर्ष को अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया।

3. विशेषता का विकास—घरेलू उद्योग-धन्धों में वस्तुएँ शुरू से अन्त तक एक ही व्यक्ति द्वारा बनाई जाती थीं। परन्तु कारखाना पद्धति में यह व्यवस्था बदल गई। अब प्रत्येक व्यक्ति को एक ही वस्तु का छोटा-मोटा काम करने को दिया जाता था और प्रायः एक व्यक्ति को दूसरे लोगों के कामों के बारे में अधिक जानकारी नहीं होती थी। स्वयं काम करनेवाला व्यक्ति ही एकमात्र विशेषज्ञ नहीं था। कारखानों में अन्य बहुत से विशेषज्ञ होते थे। उदाहरणार्थ, एक कार में कई सौ पुर्जे होते हैं। अक्सर एक बड़ा कारखाना एक ही हिस्सा बनाता है। कुछ कारखाने स्क्रू (पेंच) वनाते हैं; कुछ बैटरियाँ बनाते हैं; कुछ कार का ढाँचा बनाते हैं; कुछ टायर बनाते हैं और कुछ इंजन बनाते हैं। इन सभी हिस्सों को एकत्र करके एक अन्य कारखाने में जोड़ा जाता है। प्रत्येक कारखाना लाखों की तादाद में पुर्जे या हिस्सा तैयार करता है। इस प्रकार, विशेषता का विकास हुआ अर्थात् एक वस्तु के एक ही पुर्जे अथवा हिस्सा बनाने की विशेषता।

4. नये नगरों का विकास—औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप गाँवों की जनसंख्या कम होती गई और औद्योगिक केन्द्रों की आबादी बढ़ती गई; क्योंकि गाँवों के जिन लोगों ने अपना घर-बार छोड़ा था, उन्होंने औद्योगिक केन्द्रों के आस-पास अपने नये घर बनवा लिए। छोटे-मोटे दुकानदार भी आजीविका की खोज में वहीं जा बसे। इस प्रकार, औद्योगिक केन्द्रों के आस-पास नवीन नगरों का विकास होता गया। लीड्स, मैनचेस्टर आदि बड़े-बड़े नगरों की नींव इसी क्रान्ति के कारण पड़ी। यूरोप में ही नहीं, हमारे भारत में भी कुछ नये नगरों की नींव इसी कारण सम्भव हो पाई है।

5. राष्ट्रीय बाजारों को संरक्षण—औद्योगिक क्रान्ति के बाद प्रत्येक विकसित देश के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह अपने राष्ट्रीय बाजार को संरक्षण प्रदान करे अर्थात् उस पर नियन्त्रण रखे। इस दृष्टि से अब राष्ट्रीय उत्पादन को महत्त्व दिया जाने लगा। अन्य राष्ट्रों की निर्मित वस्तुओं पर भारी चुँगी कर लगाया जाने लगा, ताकि वे स्वदेशी वस्तुओं से प्रतिस्पर्द्धा न कर सकें और अगर करें भी तो अधिक मुनाफा न कमा सकें। परन्तु अपने देश में उत्पादित माल को, अपने ही देश में खपाना भी जब असम्भव हो गया तो पिछड़े एवं अविकसित देशों की मण्डियों और बाजारों की तलाश करने का भार भी सरकारों पर आ पड़ा। इसी दृष्टि से औपनिवेशिक साम्राज्यवादी सरकारों ने उपनिवेशों के साथ व्यापारिक नियमों को काफी कठोर बना दिया, ताकि अन्य देश अथवा उनके अपने ही उपनिवेश एक-दूसरे के साथ सीधा व्यापार न कर सकें।

6. परस्पर निर्भरता—आर्थिक दृष्टि से औद्योगिक विकास ने संसार के सभी देशों को परस्पर निर्भर बना दिया। पहले प्रत्येक देश अपनी आवश्यकताओं को खुद पूरा कर लेता था। यातायात के उन्नत साधनों के अभाव में दूर-दूर के देशों तक सामान पहुँचाना भी सरल काम न था। परन्तु अब स्थिति बदल गई। संसार के सभी बाजार एक-दूसरे से जुड़ गये। आज यदि, न्यूयार्क की मण्डी में रुई का भाव बढ़ जाता है तो भारत पर भी इसका तत्काल प्रभाव पड़ेगा। औद्योगिक देशों को पिछड़े देशों से कच्चा माल चाहिए और पिछड़े देशों को मशीनें तथा तैयार माल चाहिए। इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति ने सभी को एक-दूसरे पर निर्भर बना दिया।

7. अन्य प्रभाव—औद्योगिक क्रान्ति से अर्थ-व्यवस्था में हुए मौलिक परिवर्तनों के फलस्वरूप विकास की दर और औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि की दर में वृद्धि हुई जिससे राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय दोनों में वृद्धि हुई। विशाल औद्योगिक इकाइयों के लिए एक या कुछ ही व्यक्तियों द्वारा पूँजी की पूर्ति अपर्याप्त तथा कठिन समस्या थी। अतः अंशों में विभाजित पूँजी को एकत्र करने के लिए संयुक्त पूँजी कम्पनियों का विकास हुआ। प्रारम्भ में इन कम्पनियों को पूँजी उधार लेने का असीमित अधिकार था, परन्तु बाद में 'सीमित उत्तरदायित्व' का सिद्धान्त लागू किया गया।

औद्योगिक क्रान्ति से उत्पादन में तेजी से वृद्धि हुई तथा लागत में भी कमी आई। उदाहरण के लिए, इंगलैण्ड में 60 साल की अवधि में लोहे के उत्पादन में 37 गुणी वृद्धि, कोयला उत्पादन में 10 गुणी वृद्धि, कपास के उपयोग में 40 गुणी वृद्धि हुई। बड़े पैमाने की उत्पत्ति आन्तरिक और बाह्य बचतें मिलने से उत्पादन-लागत भी बहुत कम हो गई थी। इससे सस्ती वस्तुएँ उपलब्ध होने लगीं।

औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व व्यापारिक वर्ग उद्योगपतियों पर हावी था और व्यापारिक वर्ग अधिक प्रभावशाली था। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति में बड़े उद्योगों की स्थापना तथा विकास विशाल पूँजी पर निर्भर था, जो पूँजीपति तथा उद्योगपतियों द्वारा ही उपलब्ध की जा सकती थी। अतः बड़े उद्योगों पर पूँजीपतियों का एकाधिकार हो गया। धीरे-धीरे आर्थिक और राजनैतिक सत्ता का नियन्त्रण भी पूँजीपति वर्ग के हाथों में केन्द्रित होने लग गया। आपसी प्रतियोगिता को समाप्त करने की कोशिश की प्रवृत्ति ने उन्हें संगठित होकर अधिक प्रभावशाली बना दिया।

औद्योगिक क्रान्ति में बड़े पैमाने की उत्पत्ति, असमान वितरण और एकाधिकार प्रवृत्तियों से उत्पादकों और उपभोक्ताओं का प्रत्यक्ष सम्बन्ध समाप्त हो गया और उत्पादन तथा उपभोग में असन्तुलन होने से व्यापार-चक्रों की पुनरावृत्ति होने लगी। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक संकट एक अनिवार्य अंग के रूप में सामने आया। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड में 1825, 1837, 1847, 1857, 1866, 1873, 1888, 1890, 1900, 1907, 1921 और 1930 की आर्थिक मन्दियाँ औद्योगिक क्रान्ति में संकटों की आवृत्ति के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

(ii) सामाजिक प्रभाव

आर्थिक प्रभावों की भाँति ही औद्योगिक क्रान्ति के सामाजिक प्रभाव भी काफी महत्त्वपूर्ण थे। जहाँ एक ओर औद्योगिक-क्रान्ति से भौतिक समृद्धि के नये युग का मार्ग प्रशस्त हुआ, वहीं दूसरी ओर सामाजिक उत्पीड़न, वर्ग-संघर्ष और शोषण की शुरूआत हुई। इस प्रकार, औद्योगिक-क्रान्ति के प्रभावों में आर्थिक उत्थान और सामाजिक दुःखों का विचित्र संयोग था। सामाजिक प्रभावों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

1. मध्यम वर्ग का उदय—औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व समाज में मुख्यतः गरीब और अमीर—दो ही वर्ग प्रमुख थे। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप मध्यम वर्ग का तेजी से विकास हुआ। औद्योगिक विकास के लिए कारखानों की स्थापना आवश्यक थी और इसके लिए पूँजी तथा व्यावसायिक बुद्धि—दोनों की जरूरत थी। मध्ययुगीन समाज के नेताओं अर्थात् सामन्तों के पास पूँजी तो थी, परन्तु व्यावसायिक बुद्धि नहीं थी। इसके अतिरिक्त सामन्त लोग व्यवसाय को निम्न समझते थे। अतः उन्होंने प्रारम्भ में इसमें रुचि नहीं ली। मध्यम वर्ग के पास आवश्यक पूँजी और व्यावसायिक बुद्धि दोनों ही थीं। अतः उसने इसमें पर्याप्त रुचि ली। फलतः औद्योगिक विकास के साथ-साथ उसका भी विकास होता गया। वे श्रमिक जो आर्थिक दृष्टि से थोड़े-बहुत सम्पन्न थे, उन्होंने भी अपने स्वतन्त्र व्यवसायों की शुरूआत कर दी। ऐसे लोग जो न तो मजदूरी कर सकते थे और न बड़े-बड़े उद्योग ही स्थापित कर सकते थे, उन्होंने व्यावसायिक कार्यों—दलाली, ठेकेदारी तथा अन्य व्यावसायिक संस्थाओं से नये वर्ग का निर्माण किया। इस वर्ग में बहुत से लोगों ने अच्छी दौलत कमाई, खूबसूरत इमारतें बनवाईं और समुदाय के राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन के प्रमुख बन गये। धीरे-धीरे सम्पूर्ण विश्व की आर्थिक स्थिति पर मध्यम वर्ग का प्रभाव कायम हो गया।

2. श्रमिकों की दयनीय स्थिति—औद्योगिक क्रान्ति ने उद्योगों के मालिकों को और भी अधिक अमीर बना दिया, परन्तु उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों की स्थिति को पहले से भी अधिक दयनीय बना दिया। उन्हें काम तो मिल गया, परन्तु उनके श्रम की उचित मजदूरी नहीं मिली। उन्हें कम से कम मजदूरी दी जाती थी और ज्यादा से ज्यादा काम लिया जाता था। पुरुषों को आम तौर पर प्रतिदिन 12 से 15 घण्टे काम करना पड़ता था। विवश होकर उन्हें अपनी स्त्रियों और छोटे-छोटे बच्चों को भी काम पर भेजना पड़ा। महिलाओं को भी काफी घण्टे तक काम करना पड़ता था, जो उनके लिए बड़ा कष्टदायक था। 6 या 7 वर्ष के बच्चों से काफी काम लिया जाता था। औद्योगिक विकास के प्रथम चरण में कारखानों की सफाई का आम तौर पर कोई ख्याल नहीं रखा जाता था और चूँकि मशीनों में भी सुरक्षा के उतने ज्यादा साधन नहीं थे; इसलिए

दुर्घटनाएँ आम तौर पर हुआ करती थीं। परन्तु ऐसे अवसरों पर भी श्रमिकों को किसी प्रकार की राहत नहीं दी जाती थी। घायल अथवा बीमार मजदूरों की देखरेख की भी कोई व्यवस्था नहीं थी। जब किसी कारणवश कारखाने बन्द हो जाते तो उन लोगों को रोजगार से निकाल दिया जाता था और उन्हें अस्थायी तौर पर बेरोजगार रहना पड़ता था। मजदूरों की सबसे बड़ी समस्या निवास स्थान की थी। इन लोगों को नगर के गन्दे मकानों में जानवरों की भाँति जीवन व्यतीत करना पड़ता था। उनके पास किसी प्रकार के राजनीतिक अधिकार भी नहीं थे। उनमें आपसी एकता का अभाव था क्योंकि उनमें से अधिकांश गाँव के भोले-भाले किसान थे जो पहली बार आजीविका की तलाश में शहरी जीवन बिता रहे थे। इन सब दोषों को दूर करने के लिए मजदूरों को एक दीर्घकालीन और तीव्र संघर्ष करना पड़ा। प्रोफेसर शार्प ने ठीक ही लिखा है कि, "अब श्रमिक सम्पत्तिहीन, मुद्राहीन और गृहहीन प्रतिहारी मात्र रह गये थे।"

3. संयुक्त पारिवारिक प्रथा का छिन्न-भिन्न होना—औद्योगिक क्रान्ति ने प्राचीन युग से चली आ रही संयुक्त परिवार प्रथा को छिन्न-भिन्न कर दिया। कारखाना-पद्धति में श्रमिकों को निश्चित समय तक काम करना पड़ता था और इसलिए उन्हें अपने परिवार के सदस्यों से अलग-अलग रहना पड़ता था। काम पाने की इच्छा से व यातायात के साधनों के विकास से श्रमिक गतिशीलता बढ़ी और संयुक्त परिवार प्रणाली का पतन आरम्भ हुआ। अब उसके स्थान पर स्वतन्त्र छोटे-छोटे परिवारों का विकास हुआ। इन स्वतन्त्र परिवारों का प्रेम युगल दम्पत्ति तक ही सीमित होता था जिससे पारिवारिक प्रेम का स्रोत सूखने लग गया। अब उनका ध्यान केवल अपने बच्चों तक ही सीमित रह गया। चूँकि अब नारी भी कमाने लगी थी अतः उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता का युग आया। वह स्वतन्त्र है; पुरुष के अधीन नहीं और न ही पुरुष पर आश्रित है—इस प्रकार की भावना का विकास हुआ जिससे पवित्र प्रेम का स्रोत सूख गया।

4. अनैतिकता का विकास—औद्योगिक क्रान्ति का एक प्रमुख दोष यह रहा कि उसने समाज को अनैतिकता की तरफ धकेल दिया। मानव समाज का नैतिक पतन शुरू हो गया। भौतिक समृद्धि से शराब और जुआ का प्रचार इतना बढ़ गया कि समाज पतन के गर्त में जा फँसा। व्यभिचार, अनाचार, स्वार्थपरायणता आदि प्रवृत्तियों के विकास ने इसमें और अधिक सहयोग दिया। दुर्भाग्यवश इन बुराइयों का सबसे घातक प्रभाव निम्न श्रेणी के लोगों पर अधिक पड़ा।

5. जनस्वास्थ्य की समस्या—औद्योगिक विकास के साथ-साथ शहरों में रहने वाले लोगों के स्वास्थ्य की समस्या भी अपने खतरनाक रूप में प्रकट हुई। अधिक समय तक बिना विश्राम किये तथा अस्वास्थ्यप्रद दूषित वातावरण में काम करने, गन्दि बस्तियों में रहने तथा शुद्ध पेयजल की व्यवस्था न होने से अनेकानेक रोगों का प्रकोप बढ़ा। कारखानों की चिमनियों से निकलने वाले धुएँ ने नगरों का वायुमण्डल दूषित कर दिया। पेट्रोल तथा डीजल से चलने वाली गाड़ियों ने वातावरण को और अधिक दूषित बनाने में सहयोग दिया। इन सभी के परिणामस्वरूप जनस्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ा।

6. गन्दी बस्तियों की समस्या—औद्योगिक क्रान्ति ने गन्दी बस्तियों के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। श्रमिकों तथा निम्न आय के परिवार कारखानों के इर्द-गिर्द बहुत सटे हुए

क्वार्टरों और झोंपड़ों में बस गये। इस स्थिति ने गन्दी बस्तियों को जन्म दिया। जहाँ कहीं भी कारखाने स्थापित हुए, इनकी संख्या बढ़ती चली गई और आज के नगरों में यह एक रोग के रूप में फैला हुआ है। गन्दी बस्तियों में रहने वाले बच्चों पर वहाँ के वातावरण का घातक प्रभाव पड़ता था और बड़े होने पर उनमें से बहुत से अपराधी बन जाते थे।

धीरे-धीरे राजनीतिज्ञों तथा समाज सुधारकों का ध्यान इस तरफ आकर्षित हुआ और वे अनुभव करने लगे कि गन्दी बस्तियाँ समाज में सबके लिए महँगी पड़ती हैं। अतः गन्दी बस्तियों वाले क्षेत्रों की समस्याओं पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। बीसवीं सदी में अधिकांश औद्योगिक देशों में इस स्थिति से उभरने के प्रयास होने लगे। हजारों गन्दी बस्तियों को उजाड़कर उनके स्थान पर आधुनिक साफ-सुथरी, हवादार इमारतें बनाई गईं। परन्तु एशिया एवं अफ्रीका के देशों में अभी तक यह समस्या सुलझ नहीं पाई है।

7. अन्य प्रभाव—औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप जो परिवर्तन हुए उससे समाज का कायाकल्प हो गया। पुराने रीति-रिवाज, रहन-सहन का तरीका, वेश-भूषा, धार्मिक विश्वास, कला और साहित्य तथा विज्ञान, सब कुछ बदल गये। नये ढँग से नये समाज का अभ्युदय हुआ जिसका निखरा हुआ रूप आज हमारे सामने मौजूद है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि औद्योगिक क्रान्ति ने मानव समाज की सुख-सुविधा की वृद्धि में अद्भुत भूमिका निभाई है। तड़क-भड़क, चमक-दमक और भोग-विलास की वस्तुओं की माँग दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। अच्छा कपड़ा, सुगन्धित तेल, पाउडर, फर्नीचर, बर्तन, यातायात के उन्नत साधन, मनोरंजन के बढ़िया साधन इत्यादि का निर्माण तथा उनकी माँग निरन्तर बढ़ती जा रही है। धन-सम्पन्न लोग समाज में अपनी प्रतिष्ठा और प्रभाव को बनाये रखने के लिए बहुत अधिक शान-शौकत से रहने लगे जिसका प्रभाव सामान्य जनता पर भी पड़ा और उसमें भी जीवन स्तर को उन्नत बनाने की इच्छा जागृत हुई।

19वीं सदी के अन्त में मनोरंजन अधिक लोगों के लिए सुलभ हो गया। सस्ते टिकट पर दिखाये जाने वाले नाटक और कनसर्ट यूरोप के अधिकांश शहरों और अमेरिका में, रंगमंच पर खेले जाते थे। बाद में सिनेमा, रेडियो और टेलीविजन ने नये किस्म का मनोरंजन प्रदान किया और दुनिया के सभी देशों में सर्वसाधारण को ये ज्यादा सुलभ हुए। अब मनोरंजन भी अधिकाधिक घर के बाहर की चीज बन गया। बहुत से खेलों का बड़े पैमाने पर चलन हो गया जिनमें बेसबाल, फुटबाल, क्रिकेट, हॉकी, टेनिस, बास्केटबाल आदि मुख्य थे। अन्तर केवल यही रहा कि जहाँ पहले लोग मनोरंजन वाले खेलों में स्वयं अधिक भाग लेते थे वहाँ अब वे मात्र दर्शक बनकर रह गये।

औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव लोगों में शिक्षा के प्रति चेतना का उदय है। अब अधिकांश लोग न केवल अपने बच्चों को शिक्षित बनाने की लालसा रखने लगे अपितु वे स्वयं भी थोड़ा-बहुत पढ़-लिखकर अपने समय की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक गतिविधियों में सक्रिय भाग लेने को अधिक उत्सुक थे। बहुत से यूरोपीय देशों में, जापान और अमेरिका में प्राथमिक स्कूलों के माध्यम से निःशुल्क सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था की गई तथा बड़े लोगों के लिए रात्रि में स्कूलें खोली गईं। कुछ देशों में तो अनिवार्य स्कूली शिक्षा के कानूनी भी बनाये गये।

औद्योगिक क्रान्ति से औद्योगिक-केन्द्रों और नगरों के विकास में प्रोत्साहन मिला। ग्रामीण लोग रोजगार पाने की दृष्टि से शहरों की ओर आकर्षित हुए। इससे ग्रामीण जनसंख्या का शनैः-शनैः ह्रास होने लगा और गाँव उजड़ने लगे। उदाहरण के लिए, जहाँ इंगलैण्ड में 1700 ई. में 77 प्रतिशत लोग गाँवों में बसते थे, वहाँ 1900 ई. में केवल 20 प्रतिशत लोग गाँवों में रह गये और 80 प्रतिशत लोग शहरों में रहने लगे। इस तरह बड़ी तीव्र गति से जनसंख्या का शहरीकरण हुआ।

(iii) राजनैतिक प्रभाव

औद्योगिक क्रान्ति ने न केवल आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र को ही प्रभावित किया बल्कि उसने राजनैतिक क्षेत्र को भी जबरदस्त रूप से प्रभावित किया। सामाजिक शोषण के विरुद्ध अधिनियम, मध्यम वर्ग का राजनैतिक अधिकारों के लिए संघर्ष तथा संसदीय सुधार, स्वतन्त्र व्यापार नीति, उपनिवेशवाद की सफलता और राजनैतिक सुदृढ़ता इत्यादि औद्योगिक क्रान्ति के ही परिणाम हैं। संक्षेप में, राजनैतिक प्रभावों का विवरण इस प्रकार है—

1. राजनैतिक सुदृढ़ता—औद्योगिक क्रान्ति की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है, औद्योगिक देशों की राजनीतिक सुदृढ़ता। औद्योगिक क्रान्ति से राष्ट्रीय-आय और प्रति-व्यक्ति-आय में वृद्धि हुई, यातायात के साधनों का विकास हुआ, संचार व्यवस्था में उन्नति हुई, व्यापारिक क्रान्ति से आर्थिक व्यवस्था को स्थायित्व मिला—इन सबने मिलकर राजनैतिक सुदृढ़ता को बल प्रदान किया। चूँकि प्रत्येक देश की विस्तारवादी नीति की सफलता उसके आर्थिक साधनों पर निर्भर है, अतः अधिक सम्पन्न देश औपनिवेशिक विस्तार करने में सफल रहे।

2. औपनिवेशिक प्रतिस्पर्द्धा—यद्यपि उपनिवेशों की स्थापना का कार्य औद्योगिक क्रान्ति से बहुत पहले से ही शुरू हो चुका था, परन्तु अमेरिका के स्वतन्त्रता संघर्ष के कारण जब इंगलैण्ड के हाथों से उसके तेरह अमेरिकी उपनिवेश निकल गये तो यूरोपीय देशों में उपनिवेशों को स्थापित करने की प्रवृत्ति में थोड़ी शिथिलता आ गई थी। औद्योगिक क्रान्ति ने इस प्रवृत्ति को पुनः सक्रिय बनाया। औद्योगिक क्रान्ति के कारण उत्पादन की मात्रा बढ़ने लगी परन्तु यूरोप में अपेक्षित कच्चे माल की कमी थी। अतः कच्चे माल को प्राप्त करने के लिए उपनिवेशों की स्थापना तथा स्थापित उपनिवेशों की सुरक्षा के लिए सैनिक व्यवस्था आवश्यक थी। उत्पादित माल को खपाने के लिए बाजारों की आवश्यकता थी और इस आवश्यकता की पूर्ति भी उपनिवेशों से हो सकती थी। अतः उपनिवेशों को स्थापित करने अथवा अविकसित देशों का राजनीतिक नियन्त्रण प्राप्त करने की प्रवृत्ति को बल मिला। इसी को हम 'साम्राज्यवाद' कहते हैं। इस दौड़ में इंगलैण्ड सबसे आगे निकल गया। फ्रांस, हालैण्ड, बेल्जियम, पुर्तगाल और रूस ने भी अपने-अपने साम्राज्यों का विस्तार किया। परन्तु इस दौड़ में जर्मनी और इटली काफी पीछे रह गये, क्योंकि एक राष्ट्रीय शक्ति के रूप में वे 1870 ई. में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रंगमंच पर प्रकट हो पाये थे। अतः स्वाभाविक था कि इन दोनों राष्ट्रों में दूसरे राष्ट्रों के प्रति मनमुटाव पैदा हो। इससे प्रत्येक देश को अपनी सुरक्षा की चिन्ता लग गई और उसने अपने विरोधी देश के विरुद्ध अपने मित्र देशों के साथ सैनिक सन्धियाँ कर लीं जिसका परिणाम यह हुआ कि संसार दो परस्पर विरोधी गुटों में बँट गया और प्रथम तथा द्वितीय महायुद्ध लड़े गये।

3. विदेश नीतियों में परिवर्तन—औद्योगिक क्रान्ति ने यूरोप के औद्योगिक देशों की विदेश नीतियों को भी प्रभावित किया। पहले ये देश धार्मिक युद्धों अथवा जातीय युद्धों में अधिक उलझे हुए थे। अब धर्म तथा जाति की बात गौण हो गई और उसके स्थान पर उपनिवेशों तथा अविकसित देशों के नियन्त्रण अथवा राष्ट्रीय हितों की बात अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई। उदाहरणार्थ, तुर्की की सरकार तथा उसके अधिकारी बाल्कन क्षेत्र के ईसाइयों पर जुल्म करते रहे परन्तु अपने उपनिवेशों की सुरक्षा एवं राष्ट्रीय हितों की खातिर इंगलैण्ड ने हमेशा तुर्की का पक्ष लिया। दूसरे शब्दों में, अब उनकी विदेश नीति महाद्वीपीय स्तर से हटकर अन्तर्राष्ट्रीय हो गई।

4. मध्यम वर्ग का राजनैतिक उत्कर्ष—औद्योगिक क्रान्ति को सफल बनाने में तथा उससे अधिकाधिक लाभ उठाने वाला मध्यम वर्ग ही था। क्रान्ति के फलस्वरूप शिक्षा और धन दोनों ही क्षेत्रों में मध्यम वर्ग मध्यकालीन कुलीनों एवं सामन्तों से काफी आगे निकल गया था। परन्तु जहाँ तक राजनैतिक अधिकारों का सवाल था—मध्यम वर्ग की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आ पाया था। उसके पास किसी प्रकार के राजनैतिक अधिकार नहीं थे। संसद तथा प्रशासन में उसका प्रतिनिधित्व भी नहीं था, यद्यपि प्रशासन को करों के रूप में इस वर्ग से काफी आय होती थी। अतः इस वर्ग में अधिकारों को प्राप्त करने तथा कुलीनों के साथ समानता का दर्जा लेने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। यह एक आश्चर्य की बात है कि औद्योगिक क्रान्ति सर्वप्रथम इंगलैण्ड में हुई थी, परन्तु अमेरिका के मध्यम वर्ग को सबसे पहले राजनैतिक अधिकार प्राप्त हुए। उसके बाद फ्रांस के मध्यम वर्ग ने अधिकार प्राप्त किये। 1832 ई. में इंगलैण्ड के मध्यम वर्ग को अधिकार प्राप्त हुए जबकि उदारवादी दल की सरकार ने प्रथम सुधार बिल पास करवाया था।

5. श्रमिकों का संघर्ष—श्रमिकों को अपने अधिकारों के लिए निरन्तर संघर्ष करना पड़ा। राबर्ट ओवन जैसे साहसी सुधारक ने उनका पक्ष लेकर सुधारों की माँग की। शुरू में ओवन को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा; परन्तु अन्त में सरकार को इस तरफ ध्यान देना पड़ा। सर्वप्रथम, 1802 ई. में एक कानून बनाया गया, जिसके द्वारा यह निश्चित किया गया कि निर्धन एवं अनाथ बच्चों से सप्ताह में केवल 62 घण्टे काम लिया जाय। 1819 ई. में एक अन्य कानून पास किया गया, जिसके द्वारा नौ वर्ष के बालकों से बारह घण्टा प्रतिदिन से अधिक काम लेना निषिद्ध कर दिया गया। 1822 ई. में बालकों के काम के घण्टे और कम कर दिये गये। इन कानूनों से मजदूरों में जागृति पैदा हुई और उनका आत्मविश्वास बढ़ा।

अब वे अपनी समस्याओं को हल करने का कोई जरिया निकालने को सक्रिय हुए। उनके सामने दो रास्ते थे—एक, संयुक्त होकर अपने मालिकों से माँग करना और दूसरा, राजनीतिक कार्यवाही करना। परन्तु मजदूरी करने वालों के लिए राजनीतिक कार्यवाही करना कठिन था क्योंकि उन्हें वोट देने का या पदासीन होने का अधिकार नहीं था। श्रमिक यूनियनों में एकत्र होना भी मुश्किल था क्योंकि 1800 ई. के एक कानून ने श्रम-संगठनों पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। अतः मजदूरों ने कानून की अवहेलना करते हुए गुप्त रूप से संगठन का काम शुरू किया। 1825 ई. में कुछ उदारदलीय नेताओं ने इंगलैण्ड की संसद को बाध्य किया कि वह मजदूरों को अपनी यूनियनें बनाने की अनुमति दे। कुछ समय बाद ही कई श्रमिक यूनियनें स्थापित हो गईं। 1834 ई. में उन सबको मिलाकर एक नेशनल यूनियन की स्थापना का सफल प्रयास किया गया।

1890 ई. तक इंगलैण्ड में बहुत-सी श्रमिक यूनियनें बन गयीं। 1875 ई. में फ्रांस ने यूनियनों को कानूनी मान्यता दी। 1881 ई. में संयुक्त राज्य अमेरिका में अमेरिकी मजदूर फेडरेशन की स्थापना हुई। कुछ श्रमिक यूनियनों का नेतृत्व उग्रपंथी लोगों के हाथों में था और वे मालिकों के सामने अनुचित माँगें रखते थे, लेकिन अधिकांश यूनियनों की रुचि आठ घण्टे प्रतिदिन काम, कारखानों की अधिक सफाई, काम पर सुरक्षा की स्थिति, अच्छा वेतन, बाल श्रम को बन्द करना आदि माँगों में थी।

बहुत से मजदूरों का विश्वास था कि उनकी माँगें तब तक नहीं मानी जायेंगी जब तक उन्हें राजनीतिक अधिकार प्राप्त न होंगे और संसद को उनके पक्ष में कानून पास करने के लिए बाध्य न किया जायेगा। इस दृष्टि से इंगलैण्ड में चार्टिस्टों ने, पीपुल्स चार्टर (जन-माँगपत्र) तैयार किया। इसकी मुख्य माँग थी—मजदूरों को वोट देने और पद ग्रहण करने का अधिकार। 1848 ई. में चार्टिस्ट आन्दोलन असफलता के साथ समाप्त हो गया और इसके साथ ही मजदूरों को राजनैतिक अधिकार दिलवाने का आन्दोलन भी ढीला पड़ गया। परन्तु अन्त में मजदूरों को सफलता मिली और 1867 के सुधार बिल के पास होते ही बहुतों को वोट देने तथा पदासीन होने के अधिकार मिल गये।

6. **समाजवाद**—मजदूरों की स्थिति को सुधारने के लिए जो आन्दोलन किया गया वह आगे चलकर समाजवाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। समाजवाद का अर्थ है—समाज में समानता की स्थापना करना। समानता का अर्थ है—आर्थिक और राजनीतिक समानता। अवसरों की समानता उपलब्ध कराना। समान कार्य के लिए समान वेतन उपलब्ध कराना। इस दिशा में सर्वप्रथम एक अँग्रेज उद्योगपति राबर्ट ओवन ने कदम बढ़ाया। उसने अपनी 'न्यू लेनार्क' (स्कॉटलैण्ड) की गन्दी बस्ती को एक आदर्श बस्ती में बदल दिया। न्यू लेनार्क में उसने अपने उद्योगों में मालिकाना अधिकार और मुनाफा मजदूरों और प्रबन्धकों के बीच बाँट दिये। ओवन का प्रयोग काफी सफल रहा परन्तु अन्य लोगों ने उसे यूटोपियन (काल्पनिक) समाजवादी कहकर उसकी योजना को अंगीकार नहीं किया।

फ्रांस में चार्ल्स फूर्याँ और क्लूडे हेनरी सॉसीमोन ने यह विचार प्रतिपादित किया कि सरकार सम्पत्ति का प्रबन्ध सम्भाले और सभी लोगों के बीच उसे बाँट दे। 1848 की क्रान्ति के समय लुई ब्लांक ने प्रस्ताव रखा कि पेरिस शहर के बेरोजगारों के लिए सरकार को कारखाने खोलने चाहिए।

समाजवादी विचारधारा को अमर रूप प्रदान करने का श्रेय दो प्रमुख जर्मन सोशलिस्टों—कार्लमार्क्स (1818-1883) और फ्रेडरिक ऐंगल्स को दिया जाता है। 1848 ई. में उन दोनों ने मिलकर 'कम्यूनिस्ट घोषणा पत्र' प्रकाशित करवाया। इसमें मजदूरों की निर्धन स्थिति को सुधारने सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन किया गया था। 1867 ई. में मार्क्स ने 'दास कैपीटल' नामक पुस्तक की पहली जिल्द प्रकाशित की। इस पुस्तक के शेष दो खण्ड उसकी मृत्यु के बाद उसके मित्र ऐंगलस ने प्रकाशित करवाये। इन पुस्तकों में उसने बहुत विस्तार के साथ अपने सिद्धान्तों को स्पष्ट किया था जो 'मार्क्सवादी समाजवाद' या 'साम्यवाद' के रूप में पुकारे गये।

कार्लमार्क्स के प्रयत्नों से ही श्रमिकों में समाजवाद की भावना का प्रचार एवं प्रसार हुआ। वैज्ञानिक होने के नाते मार्क्स की विचारधारा व्यक्तिवाद एवं अन्य वादों से सर्वथा अलग है। यदि पूँजी और श्रम में निहित तथ्यों का गम्भीर अध्ययन और विश्लेपण ही विज्ञान है तो मार्क्स के समाजवाद को वैज्ञानिक कहा जा सकता है। मार्क्स के मतानुसार किसान एवं मजदूर के हाथ में शक्ति आनी चाहिए। जव राज्य-शक्ति जनता के हाथ में रहेगी और भूमि एवं पूँजी पर व्यक्तियों का स्वामित्व न रहेगा और सब लोग काम करने लगेंगे तो स्वयं एक वर्ग-विहीन समाज का निर्माण हो जायेगा जिसमें कोई किसी का शोपण नहीं कर सकेगा। इस प्रकार, समाजवाद औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप उत्पन्न कठिनाइयों की उपज था।

कार्लमार्क्स ने 1864 ई. में पूँजीवाद के विरुद्ध सभी देशों के मजदूरों को 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ' में बाँधने का प्रयास किया। यह संगठन 'प्रथम इण्टरनेशनल' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विभिन्न कारणों से 1876 ई. में प्रथम इण्टरनेशनल भंग हो गया। कुछ वर्षों वाद 'द्वितीय इण्टरनेशनल' की स्थापना की गई और पूँजीवादी सरकारों को पलटने के लिये प्रयास किये जाते रहे। यूरोप के अधिकांश देशों में मार्क्सवादी विचारों का प्रचार करने के लिए राजनीतिक दल भी संगठित किये गये। 1906 ई. तक जर्मनी, वेल्जियम, आस्ट्रिया, फ्रांस, रूस, इंगलैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका में समाजवादी पार्टियाँ वन चुकी थीं और कुछ देशों में तो प्रमुखता की ओर अग्रसर होने लगी थीं1 1917 ई. में रूस की राज्य क्रान्ति और साम्यवादी शासन की स्थापना से समाजवाद को वहुत वल प्राप्त हुआ।

इस प्रकार,उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण मौलिक परिवर्तन हुए। आर्थिक दृष्टि से समृद्धि के प्रारम्भिक वर्षों में सामाजिक उत्पीड़न की प्रक्रिया प्रवल रही। संक्रमण काल में इन वुराइयों का पाया जाना स्वाभाविक भी था,परन्तु धीरे-धीरे एक सुदृढ़ औद्योगिक श्रमिक वर्ग अपनी आर्थिक एवं राजनैतिक स्थिति को सुधारने में सफल रहा।

प्रश्न

1. औद्योगिक क्रान्ति का अर्थ समझाइये। इसकी शुरूआत इंगलैण्ड में ही क्यों हुई?
2. औद्योगिक क्रान्ति के कारणों की विवेचना कीजिये।
3. कृपि एवं उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप होने वाले परिवर्तनों का उल्लेख कीजिये।
4. औद्योगिक क्रान्ति के परिणामों की संक्षेप में समीक्षा कीजिये।
5. सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में औद्योगिक क्रान्ति के परिणामों का उल्लेख कीजिये।

अध्याय-6

उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दियों में इंगलैण्ड में संसदीय सुधार
(Parliamentary Reforms in England in the 19th and 20th Centuries)

पृष्ठभूमि—इंगलैण्ड की प्रजातान्त्रिक शासन प्रणाली तथा संसदीय व्यवस्था विश्व की सभी संसदीय व्यवस्थाओं में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इंगलैण्ड में जिस संसदीय प्रणाली का विकास हुआ, वह सर्वथा अलिखित और विकसित परम्पराओं के अन्तर्गत हुआ। राजा जॉन (1199-1216 ई.) के शासनकाल में सामन्तों एवं जनता द्वारा अत्यधिक दबाव डालने पर राजा को विवश होकर 15 जून, 1215 को महाधिकार-पत्र (मेग्नाकार्टा) पर हस्ताक्षर करने पड़े। इस महाधिकार-पत्र में 63 धाराएँ थीं और इनके द्वारा राजा की शक्तियों पर अंकुश लगाने का प्रयास किया गया था। इसीलिए अधिकांश विद्वान् मेग्नाकार्टा को इंगलैण्ड के संवैधानिक-विकास में एक सीमा-चिह्न मानते हैं।

संसद का उदय—1066 ई. में इंगलैण्ड पर नार्मनों का अधिकार हो गया। नार्मन शासनकाल में राजा की सहायता के लिए दो संस्थाओं का निर्माण किया गया। एक महासभा (Magnum Councilium) थी और दूसरी शासन संचालन के लिए एक छोटी कौंसिल क्यूरिया रीजिस (Curia Regis) थी। आगे चलकर इन्हीं दो संस्थाओं का विकास संसद के रूप में हुआ।

1265 ई. में राजा साइमन ने महासभा का अधिवेशन बुलाया। राजा ने बड़े-बड़े सामन्तों, राज्याधिकारियों और पादरियों के साथ-साथ नगर-प्रतिनिधियों को भी आमन्त्रित किया। इस प्रकार, नगर प्रतिनिधियों को बुलाने की परम्परा आरम्भ हुई। प्रत्येक काउण्टी से भूस्वामियों को अपने दो प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया। यद्यपि साइमन के बाद हेनरी तृतीय ने नगर-प्रतिनिधियों को बुलाने की परम्परा समाप्त कर दी, परन्तु उसके उत्तराधिकारी एडवर्ड प्रथम ने पुनः उस परम्परा को जीवित किया। उसके समय की संसद को "मॉडल पार्लियामेंट" (Model Parliament) कहा जाता है। इसकी एक विशेपता यह है कि महासभा में पादरियों, भूस्वामियों, बड़े सैनिक अधिकारियों एवं कुलीनों ने मिलकर अपना पृथक् गुट बना लिया। उनके विरोध में

काउण्टी व नगर-प्रतिनिधियों ने अपना गुट बना लिया। दोनों गुट अलग-अलग भवन में बैठकर विचार-विमर्श करने लगे। पहले गुट का भवन आगे चलकर सामन्त-सदन (हाऊस ऑफ लॉर्ड्स) और दूसरे गुट का भवन लोक-सदन (हाऊस ऑफ कामन्स) कहलाये। इस प्रकार, इंगलैण्ड में द्विसदनात्मक संसदीय व्यवस्था का विकास हुआ जो प्रजातन्त्र के विकास की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी।

गौरवपूर्ण क्रान्ति और बिल ऑफ राइट्स—इंगलैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति (Glorious Revolution) इंगलैण्ड के संवैधानिक इतिहास की एक युगान्तकारी घटना है। 1688 ई. में स्टूअर्ट वंश के राजा जेम्स द्वितीय की निरंकुशता तथा अड़ियलपन से तंग आकर जनता ने विद्रोह कर दिया और उसकी लड़की मेरी तथा उसके पति हालैण्ड के राजा विलियम को इंगलैण्ड का सिंहासन सौंप दिया। इन दोनों को अधिकारों की घोषणा (Declaration of Rights) की रक्षा की शपथ लेनी पड़ी और अधिकारों की इसी घोषणा को 1689 में बिल ऑफ राइट्स (Bill of Rights) के रूप में परिवर्तित किया गया।

गौरवपूर्ण क्रान्ति ('रक्तहीन क्रान्ति' भी कहा जाता है) के फलस्वरूप संसद की सर्वोच्चता स्थापित हो गई। बिल ऑफ राइट्स के द्वारा संसद के स्वतन्त्र निर्वाचन, नियमित अधिवेशन, संसद सदस्यों की स्वतन्त्रता आदि बातें निश्चित की गईं। इस अधिनियम ने यह निश्चित कर दिया कि शासन-शक्ति की सर्वोच्च अधिकारिणी संसद है, न कि सम्राट।

संसद का स्वरूप एवं गठन—यद्यपि इंगलैण्ड में संसदात्मक शासन प्रणाली की स्थापना 1688 ई. में हो गयी थी; किन्तु उन्नीसवीं सदी के आरम्भ तक इंगलैण्ड की संसद सही अर्थों में जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी। संसद द्विसदनीय थी और सामन्त-सदन (हाऊस ऑफ लॉर्ड्स) लोक-सदन (हाउस ऑफ कामन्स) की तुलना में बहुत अधिक शक्तिशाली था।

यह ठीक है कि सदियों से सामन्त-सदन देश के लिए लाभदायक तथा सम्मानजनक कार्य करता आया है, परन्तु इसमें सदैव रूढ़िवादियों का बहुमत रहा। इस सदन की सदस्य संख्या निर्धारित नहीं है और उत्तरोत्तर इसमें वृद्धि होती रही। वर्तमान में इस सदन के सदस्यों की संख्या एक हजार से भी अधिक है जिनमें से अधिकांश वंश-परम्परा से सम्बन्धित हैं। इसलिए इनके सामने निर्वाचन की समस्या नहीं है। मजे की बात यह है कि इतनी अधिक संख्या वाले इस सदन की गणपूर्ति (Quorum) केवल तीन सदस्यों से हो जाती है। 1832 के पूर्व यह सदन लोकसदन से अधिक शक्तिशाली था। परन्तु 1832 के सुधार अधिनियम से यह उसके समकक्ष आ गया। 1867 और 1884 के अधिनियमों ने इसके अधिकारों को कम करके इसे लोकसदन से निर्बल बना दिया। बाद के अधिनियमों ने इसे और भी अधिक निर्बल बना दिया।

लोक-सदन (हाऊस ऑफ कामन्स) में जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि बैठते थे। परन्तु निर्वाचन के क्षेत्रों और मतदान की योग्यता में विषमता थी। मत देने का अधिकार बहुत ही सीमित था। निर्वाचन क्षेत्रों का वितरण आबादी के अनुपात में नहीं था। प्रत्येक 'बरो' (निर्वाचन क्षेत्र) तथा काउण्टी को, चाहे उनकी आबादी में कितनी ही असमानता हो, लोकसदन में दो प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था। इनमें से कई क्षेत्र तो कुछ झोपड़ियों के रूप में रह गये थे, फिर भी वहाँ

से सदस्य चुने जाते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि 'बरो' अपनी आबादी के अनुपात से ज्यादा और काउण्टी अपनी आबादी के अनुपात से कम सदस्य लोकसदन में भेजते थे। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों की आबादी में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहा था। कई प्राचीन नगरों की आबादी घट गई थी, जबकि अनेक नये नगर बस गये थे और उनकी आबादी में तेजी के साथ वृद्धि हो रही थी। मैनचेस्टर, बर्मिंघम, लीड्स आदि ऐसे ही नगर थे। इन नगरों को एक भी सदस्य चुनने का अधिकार नहीं था, क्योंकि उनका नाम निर्वाचन क्षेत्र की सूची में नहीं था। चुनाव में रिश्वत तथा भ्रष्टाचार का बोलबाला था। खुलेआम वोटों का क्रय-विक्रय होता था, विशेषकर "उजाड़ बरो" (रोटन बरो) के मतदाताओं को, जिनकी संख्या बहुत कम होती थी, लॉर्ड लोग खरीद लेते थे और जिसे चाहते, उसी को सदस्य निर्वाचित करा देते थे। इसीलिए इन 'रोटन बरो' को "पॉकिट बरो" भी कहते थे, क्योंकि इनके मतदाता धनपतियों की जेब में रहते थे। मताधिकार बहुत सीमित था। संसद के सदस्यों का निर्वाचन काउण्टी के वे भूमिदार करते थे जिनके पास कम से कम 40 सिलिंग वार्षिक लगान की भूमि होती थी। इस प्रकार केवल उच्च वर्ग के लोगों को मत देने का अधिकार था। बरो में मताधिकार प्रणाली तो अत्यन्त ही दूषित थी। 1830 ई. में इंगलैण्ड की 1 करोड़ 40 लाख आबादी में से केवल 1.6 प्रतिशत मतदाता थे। इस व्यवस्था के बारे में पिट् ने कहा था, "18वीं शताब्दी में संसद जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी बल्कि यह 'उजड़े बरो' तथा धनिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करती थी।"

सुधारों के लिए पूर्व प्रयत्न और फ्रांसीसी क्रान्ति—18वीं शताब्दी के मध्य में इंगलैण्ड में ऐसे व्यक्तियों का अभाव नहीं था जो संसद के इन दोषों से अवगत थे और उसमें सुधार चाहते थे। इस दूषित व्यवस्था के विरुद्ध सर्वप्रथम जॉन लॉक ने आवाज उठाई। किन्तु उसकी वह आवाज निरर्थक क्रन्दन बनकर रह गई। 1766 ई. में अर्ल ऑफ चैथम ने 'रोटन बरो' के मालिकों की शक्ति क्षीण करने के अभिप्राय से काउण्टियों का प्रतिनिधित्व बढ़ाने की माँग प्रस्तुत की। परन्तु इसे कार्यान्वित नहीं किया जा सका। 1766 ई. में विल्कीस (Wilkes) ने एक प्रस्ताव रखा था जिसका उद्देश्य 'रोटन बरो' को सदस्य भेजने के अधिकार से वंचित करना था तथा बड़े नगर, जैसे—मैनचेस्टर, शेफील्ड, बर्मिंघम आदि को अलग से सदस्य चुनने का अधिकार देना था, किन्तु यह प्रस्ताव भी निरर्थक सिद्ध हुआ। 1780 ई. में ड्यूक ऑफ रिचमाण्ड ने एक प्रस्ताव रखा जिसका उद्देश्य बालिग मताधिकार, वार्षिक संसद तथा समान निर्वाचन क्षेत्र स्थापित करना था। परन्तु यह प्रस्ताव भी पारित नहीं हो सका। चार्ल्स फॉक्स की अध्यक्षता में व्हिग पार्टी बराबर सुधार के लिए प्रयत्न करती रही। 1780 ई. में चार्ल्स फॉक्स ने मताधिकार में एकता तथा मतदान-पत्र द्वारा वोट देने की प्रणाली आरम्भ करने की माँग की। किन्तु इस माँग को ओर भी कोई ध्यान नहीं दिया गया।

1789 ई. में फ्रांस की राज्य क्रान्ति आरम्भ हुई। इसका उद्देश्य फ्रांस में स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व स्थापित करना था। व्हिग राजनीतिज्ञों ने क्रान्ति का हृदय से स्वागत किया। वर्ड्सवर्थ तथा कोलरिज जैसे कवियों ने इस क्रान्ति में स्वतन्त्रता के एक युग का प्रादुर्भाव देखा। संसदीय सुधार के लिए लोगों में सरगर्मी पैदा हो गई। लेकिन बर्क में जो व्हिगों का एक प्रमुख नेता था, दूसरी प्रतिक्रिया हुई। नवम्बर, 1790 में उसने 'फ्रांस की क्रान्ति पर विचार' (Reflections on

the French Revolution) नामक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें उसने अँग्रेजी और फ्रांसीसी क्रान्तियों के नेताओं के उद्देश्यों और तरीकों में भिन्नता दिखलाई। उसकी दृष्टि में फ्रांस के क्रान्तिकारी विधायक नहीं बल्कि विनाशक थे। उसने स्पष्ट घोषणा की कि, "मैं मरते दम तक फ्रांस के विधान से दूर रहने के लिए ही अँग्रेजों को राय दूँगा।" पिट् 'टोरी' होते हुए भी उदार विचारों का व्यक्ति था तथा इंगलैण्ड में सुधारों का पक्षपाती था। किन्तु फ्रांसीसी क्रान्ति के कारण वह सुधारों का कट्टर विरोधी बन गया। वस्तुतः फ्रांसीसी क्रान्ति ने पिट् को वास्तविक 'टोरी' बना दिया। 1793 ई. में इंगलैण्ड और फ्रांस के बीच युद्ध छिड़ गया। अतः सुधार की समस्त योजनाएँ स्थगित कर दी गईं। एक समकालीन लेखक के शब्दों में, "तूफान के समय में कोई अपना घर मरम्मत नहीं करा सकता।" अब सुधारवादी क्रान्तिकारी समझे जाने लगे और उनका दमन आरम्भ हो गया। 1793 ई. में एडिनबरा में सुधारवादियों ने एक बैठक की और उचित तथा वैध तरीकों के द्वारा सुधार की प्रगति पर विचार किया। फिर भी बहुतों पर राजद्रोह का अभियोग लगाकर उन्हें कैद कर लिया गया, कितनों को फाँसी दे दी गई। चार व्यक्तियों को कैदी के रूप में आस्ट्रेलिया निर्वासित कर दिया गया। अतः सुधारों की प्रगति में रुकावट आ गई। 1815 ई. में युद्ध की समाप्ति के बाद सुधारों की पुनः माँग होने लगी। अनेक सोसायटियाँ भी सुधार के लिए आन्दोलन चला रही थीं। प्रेस भी इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा था। युद्ध समाप्ति के बाद बेन्थम् और रसेल भी सुधार के पक्ष में हो गये थे। सन् 1818, 1819, 1820, 1821, 1822, 1823 तथा 1826 में सुधार के लिए संसद में प्रस्ताव रखे गये, किन्तु वे अस्वीकृत हो गये।

1820 ई. के बाद सुधार आन्दोलन जोर पकड़ने लगा। सुधार आन्दोलन चलाने के लिए अनेक संघों की स्थापना हुई। व्हिग दल के नेता लॉर्ड ग्रे का कथन था कि जब जनता सुधार के लिए तैयार हो जायेगी तभी वे सुधार को अपनी पार्टी के प्रोग्राम में स्थान देंगे। जनता से लॉर्ड ग्रे का मतलब मध्यम वर्ग से था और मध्यम वर्ग भी अब सुधारों के पक्ष में हो गया था। परिणामस्वरूप ग्रे की अध्यक्षता में अब व्हिग पार्टी भी सुधार की समर्थक हो गयी। इधर जनता की आर्थिक कठिनाइयों में वृद्धि हो रही थी तथा मजदूरों में असन्तोष फैल रहा था। ऐसी स्थिति में कुछ राजनीतिक नेता मजदूरों को हिंसा के प्रयोग के लिए भड़का रहे थे। मध्यम वर्ग में यह आशंका उत्पन्न हो गयी कि यदि समय पर उचित कार्यवाही नहीं की गई तो खूनी क्रान्ति हो जायेगी। 1820 में सुधारवादियों ने पूरे टोरी मन्त्रिमण्डल की हत्या करने का षड्यन्त्र रचा, किन्तु षड्यन्त्र का पहले ही भेद खुल जाने से षड्यन्त्रकारियों को मृत्यु-दण्ड दे दिया गया। 1822 में लिवरपूल मन्त्रिमण्डल का पुनर्गठन हुआ, जिसमें रॉबर्ट पील को गृह-मन्त्री तथा केनिंग को विदेश-मन्त्री बनाया गया, जो सुधारवादी विचारों के समर्थक थे। अतः 1830 ई. तक स्थिति शान्त रही।

जुलाई, 1830 में फ्रांस में क्रान्ति हो गयी, जिसके फलस्वरूप फ्रांस में लोकप्रिय प्रभुसत्ता की स्थापना हुई। लुई फिलिप 'फ्रांस का शासक' नहीं था बल्कि 'फ्रांस की जनता का शासक' था। फ्रांस की इस क्रान्ति की सफलता की सूचना मिलते ही इंगलैण्ड की जनता ने संवैधानिक सुधारों की माँग तेज कर दी। स्थान-स्थान पर सार्वजनिक सभाएँ होने लगीं। टोरी सरकार ने सुधारों की माँग को अस्वीकार कर दिया। किन्तु फ्रांस की जुलाई क्रान्ति की सफलता से लोगों में यह विश्वास उत्पन्न हो गया कि बल-प्रयोग से किसी आन्दोलन को दबाना असम्भव है।

वस्तुतः फ्रांस की जुलाई क्रान्ति ने इंगलैण्ड में सुधारों के लिए अनुकूल वातावरण तैयार कर दिया और सुधारवादियों की संख्या में वृद्धि होने लगी। सुधारों की मात्रा के सम्बन्ध में प्रचुर मतभेद था, परन्तु सुधार की आवश्यकता के पक्ष में अब बहुमत हो गया। लॉर्ड ग्रे, जॉन रसेल, लॉर्ड डरहम, पामर्स्टन, स्टेनली तथा सर जॉन ग्राहम—ये सभी सुधारवादी हो गये। टोरी दल की रूढ़िवादी नीति के कारण उसकी प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा तथा नवम्बर, 1830 के चुनाव में व्हिग दल को बहुमत प्राप्त हुआ तथा वेलिंगटन मन्त्रिमण्डल का पतन हो गया। राजा विलियम चतुर्थ ने ग्रे को व्हिग मन्त्रिमण्डल बनाने को निमन्त्रित किया। लॉर्ड ग्रे के प्रधानमन्त्री बनते ही इंगलैण्ड में सुधारों का द्वार खुल गया।

प्रथम सुधार अधिनियम 1832 – लॉर्ड ग्रे ने लार्ड डरहम की अध्यक्षता में सुधार बिल का मसविदा तैयार करने के लिए मन्त्रिमण्डल की कमेटी नियुक्त की। लॉर्ड डरहम अपने प्रगतिशील विचारों के लिए इतने प्रसिद्ध थे कि उन्हें उनके विरोधियों ने 'रैडिकल जैक' की उपाधि दे रखी थी। इस कमेटी में उनके दो प्रमुख सहयोगी जॉन रसेल तथा लॉर्ड एलथार्प विख्यात सुधारक थे। 'डरहम कमेटी' द्वारा निर्मित मसविदा जॉन रसेल ने सुधार विधेयक के रूप में मार्च 1831 में लोकसदन में रखा। इस मसविदे पर बेन्थम तथा फ्रांसीसी क्रान्ति का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता था तथा जुलाई क्रान्ति से भी इसे प्रेरणा मिली थी। इस मसविदे में सर्वप्रथम जनता के प्रतिनिधित्व को महत्त्व दिया गया था। यह विधेयक प्रथम तथा द्वितीय वाचन में पास तो हो गया, लेकिन द्वितीय वाचन में यह केवल एक मत के बहुमत से पारित हुआ। कमेटी ने संकीर्ण बहुमत को स्वीकार नहीं किया। इस पर विलियम ने लॉर्ड ग्रे के अनुरोध पर कामन सदन को भंग कर नये चुनाव के लिये आदेश दिया। व्हिग दल ने निर्वाचन सुधार को मुख्य मुद्दा बनाकर चुनाव लड़ा। उनका नारा था—'बिल, सम्पूर्ण बिल, बिल के अतिरिक्त और कुछ नहीं। चुनाव में व्हिगों को बहुमत प्राप्त हुआ। 24 जून, 1831 को जॉन रसेल ने वही सुधार विधेयक दूसरी बार लोक-सदन में पेश किया। 21 सितम्बर को लोक-सदन ने इसे 109 मतों के बहुमत से पारित कर दिया। किन्तु लॉर्ड्स सदन में यह विधेयक 41 मतों से अस्वीकृत हो गया। लॉर्ड्स सदन में परास्त होने के बाद मन्त्रिपरिषद् ने त्याग-पत्र देने से इन्कार कर दिया। सरकार ने संसद का अधिवेशन स्थगित कर दिया। इस समय जनता की उत्तेजना चरम सीमा पर पहुँच गई जिसका आभास लार्ड्स सदन को भी हो चुका था।

संसद के नये अधिवेशन में दिसम्बर 1831 में तीसरी बार यह विधेयक कुछ मामूली परिवर्तन के साथ कामन सदन में रखा गया। 13 मार्च, 1832 को कामन सदन ने इसे पास कर दिया, परन्तु इस बात की आशंका थी कि लॉर्ड्स सदन इसे फिर अस्वीकार कर देगा। अतः लॉर्ड ग्रे ने विलियम चतुर्थ से प्रार्थना की कि विधेयक को लॉर्ड्स सदन में पारित करवाने के लिए पर्याप्त संख्या में नये व्हिग पीयर्स मनोनीत कर दे। राजा ने प्रारम्भ में वचन दे दिया, किन्तु बाद में हिचकिचाने लगा। इस पर ग्रे ने सम्राट से कहा कि या तो वह नये पीयर्स की नियुक्ति करे या फिर मन्त्रिमण्डल का त्याग-पत्र स्वीकार कर ले। राजा ने इतनी संख्या में नये पीयर्स की नियुक्ति को उपयुक्त न समझते हुए मन्त्रिमण्डल का त्याग-पत्र स्वीकार कर लिया और टोरी दल के नेता वेलिंगटन को मन्त्रिमण्डल बनाने के लिये निमन्त्रित किया। परन्तु वेलिंगटन मन्त्रिमण्डल बनाने

में असफल रहा। अतः राजा को पुनः ग्रे को ही आमन्त्रित करना पड़ा। ग्रे ने राजा से यह वचन प्राप्त करके मन्त्रिमण्डल बनाया कि आवश्यकता पड़ने पर वह (राजा) इतने पीयर्स नियुक्त कर देगा कि बिल पारित हो जाय।

इस दौरान देश में बिल के पक्ष में बड़े जोश के साथ आन्दोलन चल रहा था तथा वातावरण अत्यन्त ही तनावपूर्ण हो गया था। इधर सम्राट ने इस बात का प्रयत्न किया कि मन्त्रिमण्डल बिल में ऐसे संशोधन कर दे कि लॉर्ड्स सदन उसे पास कर दे। किन्तु मन्त्रिमण्डल इसके लिए तैयार नहीं था। ऐसी स्थिति में सम्राट ने ऐसा कदम उठाया जो असंवैधानिक था, किन्तु सम्राट के इस कार्य का किसी ने विरोध नहीं किया। सम्राट ने अपने व्यक्तिगत सचिव द्वारा वेलिंगटन तथा अन्य टोरियों को यह कहलवाया कि वे बिल पर मतदान के समय स्वयं को अनुपस्थित रखें। अब टोरियों को यह मालूम हो गया कि उनकी दाल नहीं गल सकती। अतः राजा के प्रार्थना करने पर वेलिंगटन और उसके साथी लॉर्ड्स सदन को छोड़कर चले गये। फलस्वरूप 4 जून, 1832 को यह सुधार विधेयक भारी बहुमत से पास हो गया।

सुधार अधिनियम की धाराएँ—यह अधिनियम दो भागों में विभक्त था, पहले भाग में निर्वाचन क्षेत्रों से सम्बन्धित तथा दूसरे भाग में मताधिकार से सम्बन्धित धाराएँ थीं।

(अ) निर्वाचन क्षेत्रों से सम्बन्धित धाराएँ—

(1) जिन 'बरों' की आबादी 2,000 से कम थी उनसे कामन सदन में सदस्य भेजने का अधिकार ले लिया गया और वे पड़ौसी काउण्टी में मिला दी गईं।

(2) जिन 'बरों' की संख्या 2,000 से 4,000 के बीच थी और जिन्हें दो सदस्य प्रति 'बरो' के हिसाब से चुनने का अधिकार था, उन्हें अब एक ही सदस्य भेजने का अधिकार रह गया। ब्रेमाउथ और मेलकोम्ब रेजिस को भी दो सदस्य भेजने से वंचित कर दिया गया।

(3) इस प्रकार 56 'बरो', जो 111 सदस्य कामन सदन में भेजते थे और जिनकी संख्या 2,000 से कम थी, उनको इस अधिकार से वंचित कर देने से 111 स्थान रिक्त हुए। तीस ऐसे 'बरो' थे जिनकी जनसंख्या 2,000 से 4,000 के बीच थी उनको एक ही सदस्य भेजने का अधिकार रह जाने से 30 स्थान रिक्त हुए। ब्रेमाउथ और मेलकोम्ब रेजिस को सदस्य भेजने से वंचित कर देने से 2 स्थान रिक्त हुए। इस प्रकार कुल 143 सदस्यों के स्थान रिक्त हुए जिनका फिर से वितरण किया गया। इनमें से 62 सदस्य काउण्टियों को भेजने का अधिकार दिया गया, बड़े नगरों को 44, छोटे नगरों को 21, स्काटलैण्ड को 8 तथा आयरलैण्ड को 5 सदस्य भेजने का अधिकार दिया गया।

(ब) मताधिकार से सम्बन्धित धाराएँ—

(1) 'बरो' में मताधिकार प्रणाली में असमानताएँ दूर कर दी गईं और उन सभी गृह-स्वामियों को जो 10 पौण्ड वार्षिक लगान अथवा किराया देते थे, मताधिकार मिल गया।

(2) काउण्टियों में 40 सिलिंग वार्षिक लगान की भूमि रखने वाले फ्री-होल्डर को मत देने का अधिकार बना रहा। इसके अतिरिक्त 10 पौण्ड वार्षिक लगान देने वाले कॉपी होल्डर को मताधिकार मिल गया।

(3) 50 पौण्ड वार्षिक लगान देने वाले लीज होल्डर तथा 50 पौण्ड वार्षिक लगान देने वाले साधारण किसान (Tenant at will) को भी मताधिकार दिया गया।

(4) मताधिकार वयस्क पुरुषों को ही प्रदान किया गया।

(स) विविध—अधिनियम में यह भी कहा गया था कि प्रत्येक चुनाव से पूर्व मतदाताओं की सूची तैयार करली जाय तथा चुनाव में वही लोग मत दे सकें जिनका नाम उस सूची में हो। यह भी स्पष्ट किया गया कि निर्वाचन अनेक स्थानों पर कराया जाय तथा निर्वाचन दो दिन में ही समाप्त कर दिये जायँ।

अधिनियम का महत्त्व—प्रथम सुधार अधिनियम इंगलैण्ड के संवैधानिक इतिहास में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। ट्रैवेलियन ने इसे 'महान् अधिकार-पत्र' कहा। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इस अधिनियम द्वारा इंगलैण्ड में प्रजातान्त्रिक पद्धति और व्यवस्था में सुधार हुआ। 'रोटन बरो' व 'पॉकिट बरो' की भ्रष्टता को ध्यान में रखते हुए उनसे मताधिकार छीन लिया गया तथा औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न मध्यम वर्ग की महत्ता स्वीकार कर ली गई। इस अधिनियम के फलस्वरूप 4 लाख 55 हजार नये मतदाता हो गये और इस प्रकार निर्वाचकों की संख्या में तिगुनी से अधिक वृद्धि हुई। अब इंगलैण्ड की आवादी में प्रत्येक 24 व्यक्तियों में एक व्यक्ति को मताधिकार प्राप्त हो गया। अब निर्वाचन क्षेत्रों का निर्माण भी कुछ सीमा तक आवादी के आधार पर किया गया। इसके परिणामस्वरूप काउण्टियों में निर्वाचन क्षेत्रों की संख्या में वृद्धि हुई तथा 'बरो' में घटी। इस सुधार अधिनियम के कारण राजनैतिक सत्ता नगरों में मध्यम वर्ग तथा देहातों में किसानों व भू-पतियों के हाथ में आ गई। यद्यपि बड़े-बड़े भू-पतियों के अधिकारों को पूर्णतः समाप्त नहीं किया गया, किन्तु अव वे मध्यम वर्ग के साथ शासन संचालन के हिस्सेदार वन गये। विधेयक के पारित हो जाने से परिवर्तन के सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त हो गयी तथा भविष्य में सुधारों के लिये रास्ता साफ हो गया। अब टोरी दल ने भी सुधारों की आवश्यकता अनुभव की। अब कामन सदन की महत्ता बढ़ने लगी क्योंकि पूर्व के मुकाबले अब यह जनता का अधिक प्रतिनिधित्व करती थी। कामन सदन और लॉर्ड्स सदन के बीच यह प्रथम विकट संघर्ष था, जिसमें कामन सदन की विजय हुई। इस विधेयक के पारित होने के पश्चात् लॉर्ड्स सदन शनैः-शनैः निर्वल होता गया और जव 1909 ई. में उसने प्रस्तुत वजट को अस्वीकार कर दिया तव तो इस वात की आवश्यकता और अधिक महसूस होने लगी कि संवैधानिक दृष्टिकोण से लॉर्ड्स सदन को और अधिक निर्वल वनाया जाय जिसके लिये 1911 का संसदीय अधिनियम पास किया गया। मेरियट ने ठीक ही लिखा है कि, "इस विधेयक के पारित होने के साथ ही लॉर्ड्स के मृत्यु वारण्ट पर हस्ताक्षर हो गये और सम्राट ने स्वयं अपनी सीमा का अनुभव कर लिया।"

परन्तु इस अधिनियम के पश्चात् भी स्थिति में आमूल परिवर्तन नहीं हुआ। 'पॉकिट वरो' के मतदाता अभी भी अपने धनी मालिकों के प्रभाव में थे और ये धनी मालिक अपने उम्मीदवारों को मनोनीत करते थे। 19वीं शताब्दी के आरम्भिक काल में यदि कामन सदन के सदस्यों का लेखा-जोखा किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि इनमें से आधे से अधिक सदस्य ज़ागीरदारों व लॉर्ड्स के मनोनीत थे और इस प्रकार राजनीति कुछ स्वार्थी लोगों का ठेका जैसा लगती थी।

इस सुधार अधिनियम द्वारा सम्पत्ति की अर्हता स्थापित हुई। इस अधिनियम में सामान्य जनता के लिये कोई प्रावधान नहीं किया गया। संसद में स्थानों का पुनर्वितरण किसी प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त पर आधारित नहीं था, क्योंकि निर्वाचन क्षेत्रों का निर्धारण समान जनसंख्या के आधार पर नहीं किया गया था, जिससे आगे चलकर चार्टिस्ट आन्दोलन में जनसंख्या के आधार पर समान निर्वाचन क्षेत्रों की माँग की गई। फिर भी इस अधिनियम के बाद इंगलैण्ड में शुद्ध प्रजातन्त्र के विकास की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी। अतः एडम्स के शब्दों में प्रथम सुधार अधिनियम ने इंगलैण्ड में प्रजातन्त्र के द्वार खोल दिये।

चार्टिस्ट आन्दोलन

इंगलैण्ड के इतिहास में 1825 ई. से 1850 ई. तक का काल अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। इस काल में इंगलैण्ड में वैचारिक संघर्ष चल रहा था। यह संघर्ष व्यक्तिवाद और समाजवाद के बीच था। परन्तु शनैः-शनैः यह स्पष्ट होता जा रहा था कि व्यक्तिवाद द्वारा शोषण तथा अन्याय का अन्त नहीं हो सकता, इसका निराकरण समाजवाद द्वारा ही सम्भव है। परिणामस्वरूप इस काल में एक ऐसे आन्दोलन का जन्म हुआ जिसका उद्देश्य समाज के आधारभूत सिद्धान्तों में आमूलचूल परिवर्तन करके मजदूरों की दशा सुधारना था। इस आन्दोलन में प्रमुख चार्टिस्टों ने भाग लिया। मिस वेटर्स के शब्दों में चार्टिस्ट आन्दोलन राजनीतिक सुधारों के वेष में सामाजिक क्रान्ति का प्रयत्न था। कार्लाइल के विचार में, "चार्टिज्म का मामला बड़ा गम्भीर, युक्तियुक्त और दूर-दूर तक फैलने वाला है। इसका आरम्भ केवल कल ही नहीं हुआ और न ही इसे किसी ढँग से आज या कल समाप्त किया जा सकता है।" इससे स्पष्ट है कि इस आन्दोलन की परिभाषा देना सरल नहीं। यह मजदूरों द्वारा प्रारम्भ किया हुआ राष्ट्रीय जागृति का आन्दोलन था, जिसका उद्देश्य मजदूरों का सर्वतोमुखी विकास करना था।

आन्दोलन के कारण—चार्टिस्ट आन्दोलन का प्रथम कारण औद्योगिक क्रान्ति थी। इस क्रान्ति के फलस्वरूप इंगलैण्ड के विभिन्न भागों से आकर मजदूर नवस्थापित औद्योगिक नगरों में बस गये थे। इससे शिक्षा, आवास, सफाई आदि से सम्बन्धित अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं। निर्धन लोगों की मुसीबतें बढ़ गई थीं। उनके वेतन बहुत कम थे तथा पूँजीपति वर्ग के हितों की रक्षा के लिए वस्तुओं के भाव जानबूझकर बढ़ाये जा रहे थे। इससे पूँजीपति अधिक धनी होते जा रहे थे और निर्धन लोगों की निर्धनता बढ़ती जा रही थी। इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति ने आन्दोलन के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा कर दी थीं।

चार्टिस्ट आन्दोलन का दूसरा कारण इंगलैण्ड में समाजवादी विचारधारा का प्रचार था। 1830 ई. के पश्चात् रॉबर्ट ओवेन, टॉम्स एटवुड तथा फीयरगस ओ' कोनर के नेतृत्व में इंगलैण्ड में समाजवाद के प्रभाव में अत्यन्त वृद्धि हो गयी थी। इन समाजवादियों का कहना था कि परिश्रम से ही धन की उत्पत्ति होती है तथा परिश्रम करने वालों द्वारा तैयार की हुई वस्तुओं पर श्रमिक वर्ग का पूर्ण अधिकार होना चाहिये। परन्तु इसके विपरीत उत्पादित वस्तुओं से सबसे अधिक लाभ पूँजीपतियों को होता है, जिससे अमीर और अधिक अमीर होते जा रहे हैं और गरीब और अधिक गरीब। इस प्रकार समाजवादी वर्ग-संघर्ष की शिक्षा दे रहे थे, जिसका जनमत पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा।

चार्टिस्ट आन्दोलन का तीसरा कारण 1832 ई. के सुधार अधिनियम से मजदूर वर्ग में व्याप्त असन्तोष था। इस सुधार विधेयक को पारित करवाने के लिए मजदूरों ने मध्यम वर्ग के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर प्रयत्न किया था। किन्तु इसका लाभ केवल मध्यम वर्ग को ही मिला। उन्हें मतदाता तक का अधिकार नहीं मिला। इससे मजदूरों में बड़ी निराशा फैल गई। साथ ही मध्यम वर्ग की विजय से उनके मन में नवीन आशा का संचार हुआ। मध्यम वर्ग ने संगठित रूप से आन्दोलन करके सफलता प्राप्त की थी। अतः मजदूरों में भी यह भावना उत्पन्न हुई कि यदि वे भी संगठित आन्दोलन चलायें तो उन्हें भी सफलता मिल सकती है।

इंगलैण्ड के आर्थिक संगठन ने आन्दोलन के लिए अनुकूल वातावरण तैयार कर दिया तथा 1830 ई. की फ्रांसीसी क्रान्ति और यूरोप की क्रान्तियों ने बारूदखाने में चिनगारी डाल दी। फलस्वरूप इंगलैण्ड में भी आन्दोलन आरम्भ हो गया।

आन्दोलन का आरम्भ—उपर्युक्त कारणों से इंगलैण्ड में चार्टिस्ट आन्दोलन आरम्भ हुआ। इस आन्दोलन के दो पहलू थे—औद्योगिक तथा राजनीतिक। औद्योगिक आन्दोलन का नेतृत्व रॉबर्ट ओवेन के हाथ में था। 1834 में उसने 'ग्राण्ड नेशनल कन्सोलिडेटेड ट्रेड यूनियन' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य सभी उद्योग-धन्धों तथा व्यवसायों पर मजदूरों का नियन्त्रण स्थापित करना, व्यावसायिक प्रतिद्वन्द्विता समाप्त करना तथा तैयार की हुई वस्तुओं का उपयुक्त परिश्रम के आधार पर विनिमय करना था। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अनेक उद्योगों में हड़ताल हुई, परन्तु इसमें ओवेन को सफलता प्राप्त नहीं हुई। फलस्वरूप 'ग्राण्ड नेशनल कन्सोलिडेटेड ट्रेड यूनियन' टूट गया और इसके साथ ही हड़तालों द्वारा मजदूरों को अपने उद्देश्यों की प्राप्ति की आशा समाप्त हो गई। तत्पश्चात् मजदूर नेताओं ने अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राजनीतिक उपायों का प्रयोग करने का निश्चय किया।

सन् 1836 ई. में विलियम लॉवेट ने लन्दन में असन्तुष्ट मजदूरों का एक श्रमिक संगठन स्थापित किया। विलियम लॉवेट ने बैन्थम के शिष्यों की मदद से 'जनता का आज्ञापत्र' (Peoples Charter) तैयार किया। 'जनता का आज्ञापत्र' में प्रमुख रूप से छः माँगें थीं—

(1) निम्नलिखित शर्तें पूरी करने पर सभी पुरुष नागरिकों को मताधिकार प्रदान किया जाय—

(i) वे जो साम्राज्य के निवासी होने या विदेशी होने पर दो वर्ष से यहाँ रहकर यहीं के हो गये हों।

(ii) वे जो 21 वर्ष की आयु के हों।

(2) कामन सदन में प्रतिनिधित्व के लिये समान जनसंख्या के आधार पर समान निर्वाचन क्षेत्रों का बँटवारा किया जाय तथा प्रत्येक चुनाव क्षेत्र से केवल एक प्रतिनिधि चुना जाय, एक से अधिक नहीं।

(3) कामन सदन की सदस्यता के लिये किसी प्रकार की अर्हता नहीं होनी चाहिये। केवल निर्वाचकों द्वारा निर्वाचित लोग ही सदन के सदस्य हों।

(4) संसद के समस्त चुनाव जून महीने के प्रथम सोमवार को सम्पन्न हों। यदि कोई स्थान मृत्यु, त्याग-पत्र अथवा किसी कारण से रिक्त हो जाय तो वह स्थान यथासम्भव 18 दिन के अन्दर ही भर लिया जाय।

(5) निर्वाचन संसद का कार्यकाल एक वर्ष होना चाहिये तथा इसके सदस्यों को दुबारा चुनाव लड़ने और निर्वाचित होने का अधिकार होना चाहिये।

(6) कामन सदन का प्रत्येक सदस्य जन सेवा से सम्बन्धित अपने वैधानिक कर्त्तव्यों के बदले सत्र के अन्त में राजकोष से 500 पौण्ड प्रतिवर्ष प्राप्त करे।

उपर्युक्त माँगों को लेकर जो आन्दोलन आरम्भ हुआ उसे चार्टिस्ट आन्दोलन कहा जाता है। इस आन्दोलन में भाग लेने वाले दो दलों में विभक्त थे। विलियम लॉवेट और उसके अनुयायी शान्तिपूर्ण वैधानिक तरीकों से आन्दोलन चलाने के पक्ष में थे, अतः उनके दल का नाम 'मॉरल फोर्स पार्टी' था। इसके विपरीत फीयरगस ओ' कोनर और उनके अनुयायी अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये हिंसात्मक तरीकों के समर्थक थे, अतः उनके दल को 'फिजिकल फोर्स पार्टी' कहते थे। आरम्भ में तो 'मॉरल फोर्स पार्टी' को सफलता मिली, लेकिन जब शान्तिपूर्ण आन्दोलन का सरकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा तब 'फिजिकल फोर्स पार्टी' ने जोर पकड़ लिया।

चार्टिस्ट आन्दोलन के मुख्य केन्द्र लन्दन, बर्मिंघम और लीड्स थे। 1836 में लन्दन कर्मचारियों का संघ (London Working Men's Association) स्थापित हुआ तथा विलियम लॉवेट के नेतृत्व में शान्तिपूर्ण आन्दोलन आरम्भ हुआ। लेकिन लॉवेट को तुरन्त गिरफ्तार कर लिया गया। अब फिजिकल फोर्स पार्टी ने जोर पकड़ा तथा इस पार्टी के लोगों ने 1837 ई. में 'लन्दन डेमोक्रेटिक एसोसियेशन' की स्थापना की। 1837 ई. में ही टॉम्स एटवुड ने 'बर्मिंघम पोलिटिकल यूनियन' की पुनर्स्थापना की। किन्तु ज्यों-ज्यों यह आन्दोलन अधिक क्रान्तिकारी विचारों के पक्ष में होता गया, त्यों-त्यों एटवुड का इस पर नियन्त्रण समाप्त होता गया।

1839 ई. में चार्टिस्टों ने अपना आवेदन-पत्र संसद में विचारार्थ प्रस्तुत किया, जिस पर दस लाख से अधिक व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे। सरकार ने चार्टिस्टों का आवेदन-पत्र 12 जून, 1839 को संसद में प्रस्तुत किया, किन्तु गर्मागर्म बहस के बाद संसद ने चार्टिस्टों के आवेदन-पत्र को अस्वीकार कर दिया। इससे 'मॉरल फोर्स पार्टी' की प्रतिष्ठा को धक्का लगा तथा आन्दोलन का नेतृत्व पूर्ण रूप से 'फिजिकल फोर्स पार्टी' के हाथों में आ गया। इस दल के नेता जगह-जगह सभाएँ करके जनता को सरकार के विरुद्ध भड़काने लगे। बर्मिंघम में विद्रोह हुए। सर्वाधिक भयंकर विद्रोह मन्मथशायर के खान में काम करने वाले मजदूरों ने किया। सरकार ने उनके नेता हेनरी विन्सेण्ट को गिरफ्तार कर लिया तथा जेल में उसके साथ निर्दयता का व्यवहार किया गया। मजदूरों ने हेनरी विन्सेण्ट को मुक्त करवाने के लिए जॉन फ्रास्ट के नेतृत्व में जेल पर हमला कर दिया। सैनिकों से मुठभेड़ हो गयी, जिसमें तीस चार्टिस्ट मारे गये और बहुत से घायल हुए। फ्रास्ट को गिरफ्तार कर देश से निष्कासित कर दिया गया। इस घटना को 'न्यूपोर्ट का युद्ध' कहते हैं। 'फिजिकल फोर्स पार्टी' का यह अन्तिम प्रयास था। इसके बाद यह पार्टी समाप्त हो गयी।

1840 ई. में राष्ट्रीय चार्टिस्ट संघ की स्थापना हुई तथा दूसरा आवेदन-पत्र तैयार करके 1842 ई. में संसद के समक्ष प्रस्तुत किया। इस पर तीस लाख व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे। किन्तु 3 मई, 1842 को संसद ने इसे भी अस्वीकार कर दिया। चार्टिस्टों ने पूरे देश में आम हड़ताल की घोषणा कर दी। रॉबर्ट पील की सरकार ने सैकड़ों चार्टिस्टों और ट्रेड यूनियनों के नेताओं को

गिरफ्तार कर लिया और अनेक चार्टिस्टों को देश से निर्वासित कर दिया। इससे चार्टिस्टों को भारी धक्का लगा।

1848 ई. की फ्रांसीसी क्रान्ति की सफलता के समाचार से चार्टिस्टों में पुनः उत्साह छा गया। फ्रांसीसी क्रान्ति तथा यूरोप के अन्य देशों की सफल क्रान्तियों से प्रेरणा तथा प्रोत्साहन प्राप्त करके फियरगस ओ' कोनर के नेतृत्व में चार्टिस्टों ने पुनः आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। 10 अप्रैल, 1848 को लन्दन में एक विशाल आम सभा करने तथा एक बड़े जुलूस के साथ संसद को आवेदन-पत्र, जिस पर 50 लाख व्यक्तियों के हस्ताक्षर हों, देने की योजना बनायी गई। सरकार ने जुलूस को गैरकानूनी घोषित कर दिया। फिर भी केंनिगस्टन के मैदान में एक आम सभा हुई और जुलूस संसद भवन की ओर रवाना हुआ। किन्तु जुलूस को वेस्टमिनस्टर पुल से आगे नहीं बढ़ने दिया गया। फिर भी आवेदन-पत्र एक गाड़ी में रखकर कामन सदन में लाया गया। संसद की सलेक्ट कमेटी ने इस आवेदन-पत्र की जाँच की। जाँच करने पर पता चला कि आवेदन-पत्र में 30 लाख हस्ताक्षर जाली थे। परिणामस्वरूप चार्टिस्ट न केवल बदनाम हुए बल्कि वे संसद सदस्यों के मजाक और विनोद के विषय बन गये और उनका आन्दोलन स्वयंमेव सदा के लिये समाप्त हो गया।

आन्दोलन की असफलता के कारण—चार्टिस्ट आन्दोलन की असफलता के अनेक कारण थे। चार्टिस्टों में योग्य नेतृत्व का अभाव था। जो नेता थे उनमें आपस में बड़ा मतभेद था, कुछ घोर व्यक्तिवादी थे तो कुछ कट्टर समाजवादी। कुछ शान्तिपूर्वक वैधानिक तरीकों से आन्दोलन चलाना चाहते थे और कुछ हिंसा के पक्ष में थे। पारस्परिक मतभेदों ने इस आन्दोलन को बहुत कमजोर बना दिया। आन्दोलनकारी मजदूर व्यवस्थित एवं उचित प्रकार से आन्दोलन चलाने के लिए प्रशिक्षित नहीं थे। इसके अतिरिक्त मजदूरों के सामने समस्या आर्थिक तथा सामाजिक थी, किन्तु उन्होंने राजनैतिक सुधारों की माँग की। चार्टिस्टों की माँगें समय से बहुत आगे थीं और उन्हें मानने के लिए सरकार अथवा जनता कोई भी तैयार नहीं थी। इंगलैण्ड की तत्कालीन सरकार स्वेच्छाचारिणी नहीं थी। आन्दोलन को दबाने के लिए न्यूनतम शक्ति का प्रयोग किया गया। तत्कालीन समस्याओं पर विचार और तर्क करने की सबको स्वतन्त्रता थी। जॉन रसेल ने ठीक ही कहा था कि, "यदि चार्टिस्टों की शिकायतें ठीक हैं तो उन्हें उनकी अभिव्यक्ति करने का अधिकार है। यदि ठीक नहीं है तो जनता उनका साथ नहीं देगी।" इस प्रकार विचार करने, तर्क करने, सभाएँ करने तथा जुलूस निकालने से मजदूरों के असन्तोष को अभिव्यक्ति का एक माध्यम मिल गया और उनके असन्तोष की तीव्रता कम हो गयी। इसके अतिरिक्त कृषि और व्यवसाय की उन्नति से आर्थिक संकट दूर होता गया। 'अनाज कानून' के हटा देने से खाद्यान्न भी सस्ते होने लगे। नरम विचारों के लोग इस प्रगति से सन्तुष्ट हो गये और राजनीतिक आन्दोलन में उनकी कोई रुचि नहीं रही।

आन्दोलन का परिणाम—यद्यपि चार्टिस्ट आन्दोलन पूर्ण रूप से असफल रहा, तथापि उसका परिणाम बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। समय बीतने पर चार्टिस्टों की अधिकांश माँगें स्वीकार कर ली गई। संसद के वार्षिक चुनाव सम्बन्धी माँग अव्यावहारिकता के कारण स्वीकार नहीं की गई। 1867, 1884, 1918 और 1928 ई. में पारित किये गये अधिनियमों के द्वारा सभी

प्रौढ़ व्यक्तियों को, चाहे वे स्त्री हों या पुरुष, मताधिकार दिया गया। 1872 ई. में ग्लैडस्टोन के 'बैलट एक्ट' द्वारा गुप्त मतदान प्रणाली की माँग स्वीकार की गई। 1885 ई. के अधिनियम द्वारा संसद सदस्यों के लिए साम्पत्तिक अर्हता समाप्त कर दी गई और इसी अधिनियम के समान जनसंख्या के आधार पर निर्वाचन क्षेत्र भी बना दिये गये। 1911 ई. में संसदीय अधिनियम द्वारा संसद सदस्यों को भत्ता देने की माँग भी स्वीकार करली गई।

आधुनिक इंगलैण्ड के इतिहास में यह प्रथम संगठित श्रमिक आन्दोलन था। अतः इसके असफल हो जाने पर भी इसने मजदूरों में सहयोग एवं एकता की भावना का संचार किया तथा भविष्य में आन्दोलन चलाने का प्रशिक्षण दिया। इस आन्दोलन ने सभी वर्गों का ध्यान मजदूरों की समस्याओं की ओर आकर्षित किया। इसी आन्दोलन के परिणामस्वरूप 'अनाज कानून' समाप्त हुआ, गरीब कानून में सुधार किया गया, अनेक फैक्ट्री एक्ट पारित हुए और श्रमिक वर्ग की सफाई तथा स्वास्थ्य के लिये कई नियम पारित किये गये। इस आन्दोलन का 19वीं शताब्दी के अँग्रेजी साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। डिजरैली ने अपने उपन्यास 'Sibyl' में निःसहाय और विवश मजदूरों तथा निर्धन व्यक्तियों का पक्ष लिया। कार्लाइल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'चार्टिज्म . पास्ट एण्ड प्रजेण्ट' में इस आन्दोलन के विचारों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की। प्रसिद्ध व्यक्तिवादी विद्वान् जे.एस. मिल भी इससे प्रभावित हुआ और अपनी पुस्तक 'पॉलिटिकल इकॉनोमी' में इस तथ्य पर जोर दिया कि धन के वितरण में न्यायपूर्ण स्थिति स्थापित करने के लिए सरकार का हस्तक्षेप आवश्यक है।

अतः चार्टिस्ट आन्दोलन ने असफल होते हुए भी इंगलैण्ड की जनता को अत्यधिक प्रभावित किया और यह महसूस किया गया कि वर्तमान प्रशासकीय व वैधानिक स्थिति दोषपूर्ण है और उसमें सुधारों की आवश्यकता है।

द्वितीय सुधार अधिनियम, 1867

प्रथम सुधार अधिनियम से ही सुधारों तथा प्रजातन्त्र के विकास की श्रृंखला आरम्भ हो गयी थी। चार्टिस्ट आन्दोलन ने प्रजातन्त्रीय पक्ष की महत्ता और बढ़ा दी, जिससे प्रजातन्त्र के विकास की प्रक्रिया और आगे बढ़ी। प्रथम सुधार अधिनियम ने उच्च मध्यम वर्ग को मताधिकार प्रदान कर दिया, किन्तु निम्न मध्यम वर्ग तथा श्रमिक अब भी इससे वंचित थे। यद्यपि चार्टिस्ट आन्दोलन दबा दिया गया था किन्तु इसने मजदूरों में जागृति उत्पन्न करदी थी और यह अनुभव किया जाने लगा कि यदि मताधिकार का क्षेत्र नहीं बढ़ाया गया तो पुनः आन्दोलन प्रारम्भ हो जायेगा। मताधिकार के अतिरिक्त प्रतिनिधित्व प्रणाली भी अनेक दोषों से ग्रसित थी, क्योंकि प्रथम सुधार अधिनियम ने प्रतिनिधित्व प्रणाली में पूर्णरूपेण सुधार नहीं किया था। 1832 ई. के बाद इंगलैण्ड के विभिन्न क्षेत्रों की आबादी के घनत्व में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके थे, किन्तु निर्वाचन क्षेत्र की सीमाओं में कोई परिवर्तन नहीं किया गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि निर्वाचन क्षेत्रों की आबादी में फिर बहुत असमानता उत्पन्न हो गई थी। अतः इन दोषों का निराकरण आवश्यक हो गया था।

मताधिकार को और विस्तृत करने के लिए इंगलैण्ड में निम्न मध्यम वर्ग तथा श्रमिकों का काफी समय से आन्दोलन चल रहा था। जॉन ब्राइट इनके नेता थे। फिर भी देश में सुधारों

के लिये कोई विशेष उत्साह नहीं था। साथ ही सुधारों का विशेष विरोध भी नहीं था। यहाँ तक कि लॉर्ड्स सदन भी सुधार विरोधी नहीं था। किन्तु पामर्स्टन सुधार विरोधी था। पामर्स्टन के विरोध तथा देश में उत्साह के अभाव में 1865 ई. तक कामन सदन का सुधार नहीं हो सका। केवल 1858 ई. में जॉन रसेल का 'ओथ बिल' (Oath Bill) पास हुआ, जिससे यहूदियों को संसद में प्रवेश करने की अनुमति प्राप्त हो गयी। 1865 ई. में पामर्स्टन की मृत्यु हो जाने से सुधार के मार्ग की एक बहुत बड़ी बाधा हट गई। अब जॉन रसेल, जो सुधारों का पक्षपाती था, व्हिग दल का नेता तथा प्रधानमन्त्री हुआ, किन्तु उसने पार्टी का नेतृत्व ग्लैडस्टोन को सौंप दिया। ग्लैडस्टोन ने जॉन ब्राइट से मैत्री स्थापित करके सुधार विधेयक संसद में पेश करने का निश्चय किया।

सुधार के लिये पूर्व प्रयत्न—1854 ई. तक जॉन रसेल ने मजदूरों व निम्न मध्यम वर्ग को मताधिकार प्रदान करने के अभिप्राय से कामन सदन में दो विधेयक प्रस्तुत किये, किन्तु उनके मन्त्रिमण्डल का पतन हो जाने तथा क्रीमिया युद्ध छिड़ जाने के कारण वे पारित नहीं हो सके। 1859 ई. में डिजरैली ने एक विधेयक कामन सदन में पेश किया, किन्तु एक संशोधन को लेकर सरकार परास्त हो गई और उसका पतन हो गया। इसी के साथ विधेयक भी समाप्त हो गया। 1860 ई. में जॉन रसेल ने पुनः एक सुधार विधेयक प्रस्तुत किया, किन्तु संसद में तथा संसद के बाहर जनता से इतनी आलोचनाएँ प्राप्त हुईं कि रसेल को अपना विधेयक वापिस लेना पड़ा। तत्पश्चात् ग्लैडस्टोन ने श्रमिक वर्ग को मताधिकार देने के लिये एक साधारण तथा नरम प्रस्ताव कामन सदन में प्रस्तुत किया। अनुदार दल ने इसका इसलिये विरोध किया, चूँकि वे इसे अधिक उग्र समझते थे। इसके विपरीत उदारवादियों ने इसका इसलिये विरोध किया, चूँकि वे इसे बहुत नरम समझते थे। इन सब कारणों से बिल अस्वीकृत हो गया और रसेल की सरकार ने त्याग-पत्र दे दिया।

द्वितीय सुधार विधेयक—रसेल के बाद डर्बी तीसरी बार प्रधानमन्त्री हुआ। मन्त्रिमण्डल में डिजरैली उसका प्रमुख सहयोगी था। ग्लैड्स्टोन के बिल के अस्वीकृत होने से सुधार के पक्ष में उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन आरम्भ हो गया। जॉन ब्राइट की अध्यक्षता में विशाल आम सभाएँ हुईं तथा जुलूस निकाले गये। जुलाई 1866 में लन्दन की एक भीड़ हाइड पार्क में हिंसा पर उतर आई। इन सबका परिणाम यह हुआ कि डिजरैली समझ गया कि सुधारों को अब अधिक दिन तक नहीं टाला जा सकता। अतः डिजरैली ने डर्बी, सैलिसबरी आदि अपने अनुदार सहयोगियों को समझा-बुझाकर सुधारों के पक्ष में कर लिया। तत्पश्चात् डिजरैली ने जॉन रसेल के ढँग का ही एक सुधार विधेयक संसद में प्रस्तुत किया। यह सुधार विधेयक ग्लैडस्टोन के कुछ संशोधनों के साथ ही 1867 ई. में पारित हो गया।

सुधार अधिनियम की धाराएँ—इस अधिनियम में निर्वाचन क्षेत्र तथा मताधिकार से सम्बन्धित प्रमुख बातें निम्नलिखित थीं—

(1) इस अधिनियम द्वारा 11 छोटे-छोटे ऐसे 'बरों' से, जिनकी जनसंख्या 10,000 से कम थी, प्रतिनिधि भेजने का अधिकार छीन लिया गया और उन्हें पड़ौसी निर्वाचन क्षेत्रों में मिला दिया गया।

(2) 35 ऐसे 'बरो' थे जो एक से अधिक प्रतिनिधि भेजते थे, उन्हें एक से अधिक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार नहीं मिला।

(3) उपर्युक्त परिवर्तनों से 52 स्थान रिक्त हुए, उन्हें बड़ी-बड़ी काउण्टियों व 'बरो' में बाँट दिया गया तथा 12 नये 'बरो' बनाये गये। 25 काउण्टियों को नई सीटें प्रदान की गईं।

(4) बर्मिंघम, मैनचेस्टर, ग्लास्गो, लीड्स व लीवरपूल जैसे बड़े-बड़े नगरों को तीन-तीन प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया।

(5) लन्दन तथा स्कॉटलैण्ड के विश्वविद्यालयों को भी प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया।

(6) 'बरो' में रहने वाले प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को जिसका अपना खुद का मकान हो, मताधिकार प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त उन लोगों को भी मताधिकार प्राप्त हुआ जिनके पास कम से कम 10 पौण्ड वार्षिक लगान की सम्पत्ति थी। 12 पौण्ड वार्षिक लगान देने वाले ऐसे किसानों को जो भूमि के मालिक नहीं, बल्कि जोतने वाले थे, मताधिकार प्रदान किया गया। स्कॉटलैण्ड में सभी कर देने वालों को यह अधिकार प्राप्त हुआ। आयरलैंड वालों के लिये कम से कम चार पौण्ड कर देने वालों को मताधिकार दिया गया।

(7) काउण्टी में निवास करने वाले प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को जिसके पास कम से कम 12 पौण्ड की सम्पत्ति हो, मताधिकार दे दिया गया।

सुधार अधिनियम का महत्त्व—इस अधिनियम से मताधिकार प्रणाली काफी परिवर्तित हो गई तथा इंगलैण्ड में यथार्थ रूप से प्रजातान्त्रिक शासन प्रणाली आरम्भ हुई। मतदाताओं की संख्या में 10 लाख की वृद्धि हुई तथा अब 12 व्यक्तियों में से एक व्यक्ति को वोट देने का अधिकार प्राप्त हो गया। शासन में अब जमींदारों तथा पूँजीपतियों का प्रभुत्व समाप्त हो गया। प्रथम सुधार अधिनियम द्वारा मध्यम वर्ग को मताधिकार तो प्राप्त हो गया था, लेकिन शासन में उनका कोई महत्त्व नहीं था तथा उच्च वर्ग वाले अब भी शक्तिशाली थे। इस सुधार अधिनियम के फलस्वरूप शासन में मध्यम वर्ग का प्रभुत्व कायम हो गया। इससे 'बरो' में व्यवसायियों तथा कारीगरों को मताधिकार प्राप्त हो गया तथा काउण्टियों में लगभग सभी गृहस्थों को वोट देने का अधिकार प्राप्त हो गया। इससे श्रमिकों का राजनैतिक महत्त्व बढ़ गया। मतदाताओं की संख्या में वृद्धि होने से अब यह आवश्यक हो गया कि राजनीतिक दलों के नेता अपने उम्मीदवारों के लिए सभाओं तथा पत्रों द्वारा निर्वाचकों को प्रभावित करें तथा अपने पक्ष में लोकमत का निर्माण करें। धीरे-धीरे कामन सदन की निर्वाचकों पर निर्भरता बढ़ती गई तथा संसद सदस्यों पर निर्वाचन क्षेत्रों का नियन्त्रण अधिक मात्रा में प्रतीत होने लगा। निर्वाचकों में यह भावना व्याप्त होने लगी कि उनके प्रतिनिधि उनकी भावनाओं को संसद में व्यक्त करें। इससे राजनैतिक दलों का विकास तीव्रता से होने लगा।

फिर भी यह अधिनियम पूर्णतः दोषरहित नहीं था। खेतिहर मजदूर तथा छोटे-छोटे नगरों के श्रमिक अब भी मताधिकार से वंचित रहे। मतदाताओं की संख्या में वृद्धि होने से राजनैतिक दलों का महत्त्व बढ़ गया और व्यक्ति का महत्त्व पूर्व की अपेक्षा कम हो गया। अनेक राजनीतिज्ञों

ने इस अधिनियम के लिए डिजरैली की कटु आलोचना की। ग्लैडस्टोन ने इसे डिजरैली की 'शैतान चालाकी' कहा क्योंकि डिजरैली ने उदार दलीय सरकार द्वारा प्रस्तुत विधेयक का विरोध किया था, किन्तु स्वयं ने प्रायः उसी तरह का विधेयक पास करवाया। सेलिसबरी के शब्दों में डिजरैली द्वारा यह एक राजनीतिक विश्वासघात था जिसकी समता का उदाहरण ब्रिटिश इतिहास में नहीं मिलता।

तृतीय सुधार अधिनियम, 1884-85

द्वितीय सुधार अधिनियम ने यद्यपि अनेक संवैधानिक दोषों को दूर कर दिया था, किन्तु अब भी इंगलैण्ड में सच्चे अर्थ में प्रजातन्त्र स्थापित नहीं हो सका था। मेरियट ने लिखा है कि "इंगलैण्ड के लोगों की राजनीतिक माँगों की यह (द्वितीय सुधार अधिनियम) पूर्ण रूप से अन्तिम व्यवस्था नहीं थी। भविष्य के 1885 ई. तथा 1911 ई. के अधिनियमों द्वारा ही सभी बुराइयों को दूर किया जा सका।" द्वितीय सुधार अधिनियम पारित होने से 'बरो' में सभी मकान मालिकों तथा 10 पौण्ड वार्षिक किराया देने वालों को मताधिकार मिल गया था, लेकिन काउण्टियों में ऐसा नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त खेतिहर श्रमिकों, खानों में काम करने वाले व्यक्तियों तथा लाखों देहाती श्रमिकों को भी मताधिकार नहीं मिला था। किन्तु एडम्स का यह कथन भी सही है कि द्वितीय सुधार अधिनियम ने इंगलैण्ड को जनतन्त्र के द्वार तक पहुँचा दिया था।

प्रथम और द्वितीय सुधार अधिनियमों के दोषों को ध्यान में रखते हुए तथा 'बरो' और काउण्टी में मताधिकार एक समान करने के लिए सच्चे सुधारवादी ग्लैडस्टोन ने 1884 ई. में संसद में तीसरा सुधार विधेयक प्रस्तुत किया। रूढ़िवादी दल ने इस विधेयक का सिद्धान्त रूप से विरोध नहीं किया, किन्तु इसका विरोध इस दृष्टि से किया गया कि संसद के स्थानों के पुनर्वितरण सम्बन्धी विधेयक उसके साथ नत्थी नहीं हैं। इस आधार पर लॉर्ड्स ने कहा कि जब तक ग्लैडस्टोन इसके साथ सीटों के वितरण का भी बिल नहीं रखेंगे, वे इस बिल को पारित नहीं कर सकते। इससे संवैधानिक संकट उत्पन्न हो गया। ग्लैडस्टोन ने संसद को भंग करवाने की बजाए संसद के अगले अधिवेशन में विधेयक को पुनः प्रस्तुत करने के उद्देश्य से निर्वाचकों को इस विधेयक से परिचित कराया तथा लोकमत अपने पक्ष में कर लिया। इससे स्थिति गम्भीर हो गयी तथा जनता की ओर से यह माँग आने लगी कि लॉर्ड्स सदन के विधान को ही पुनर्निर्मित किया जाय ताकि लॉर्ड्स सदन सुधारवादी मार्ग में रुकावट उत्पन्न न कर सके। महारानी विक्टोरिया इस प्रकार की स्थिति देखकर अत्यन्त दुःखी हुई और उसने मध्यस्थता का स्थान ग्रहण किया। महारानी ने ग्लैडस्टोन और सेलिसबरी को लिखा कि वे व्यक्तिगत रूप से मिलें और इस बात का प्रयत्न करें कि किसी निश्चित समझौते पर पहुँचा जा सके, जिससे यह विधेयक पास हो सके। परिणामस्वरूप जब ग्लैडस्टोन ने सीटों के बँटवारे के सम्बन्ध में एक नया विधेयक प्रस्तुत करने का वायदा किया तब लॉर्ड्स सदन ने विधेयक पारित कर दिया। इस प्रकार 1884 ई. में मताधिकार नियम तथा 1885 ई. में सीटों के बँटवारे का नियम पारित हुआ। इन्हें संयुक्त रूप से तृतीय सुधार अधिनियम कहा जाता है।

इस अधिनियम की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

(1) 'बरो' के समान काउण्टी में भी सभी मकान मालिकों को और 10 पौण्ड वार्षिक किराया देने वालों को मताधिकार दिया गया।

(2) प्रत्येक पुरुष जिसकी न्यूनतम आयु 21 वर्ष थी तथा उसके पास रहने का मकान अथवा मकान के भाग पर स्वामित्व हो, किरायेदार हो अथवा किसी सेवा अथवा पद की हैसियत से वहाँ रहता हो, मताधिकार प्रदान किया गया।

(3) जिन 'बरो' की जनसंख्या 15,000 से कम थी, उनसे अलग प्रतिनिधि भेजने का अधिकार छीन लिया गया और उन्हें पड़ौसी काउण्टियों में मिला दिया गया। 50,000 तक की आबादी वाले 'बरो' को एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार रहा।

(4) यथासम्भव एक सदस्य निर्वाचन क्षेत्र स्थापित किये गये।

(5) उपर्युक्त परिवर्तन से रिक्त हुए स्थानों को अधिक आबादी वाले नगरों तथा काउण्टियों में वितरित कर दिया गया। 72 'बरो' को निकटवर्ती काउण्टियों में मिला दिया गया तथा 36 को एक सदस्य भेजने का अधिकार रह गया। इस प्रकार 142 स्थान रिक्त हुए। इनमें से 64 इंगलैण्ड की काउण्टियों को मिले, 4 वेल्स की काउण्टियों को तथा 74 स्थान नये 'बरो' को मिले।

(6) कामन सदन के सदस्यों की संख्या 12 बढ़ा दी गई। अब कुल 670 सदस्य हो गये।

अधिनियम का महत्त्व—प्रसिद्ध विद्वान् एडम्स ने इस अधिनियम का महत्त्व बताते हुए लिखा है कि, "यदि 1867 ई. के सुधार अधिनियम ने इंगलैण्ड को जनतन्त्र के द्वार पर पहुँचा दिया तो 1884 ई. के तृतीय सुधार अधिनियम ने जनतन्त्र के द्वार खोल दिये।" इस अधिनियम के फलस्वरूप खेतिहर मजदूरों को भी मताधिकार प्राप्त हो गया तथा मतदाताओं की संख्या में 20 लाख की वृद्धि हो गई। अब इंगलैण्ड सच्चे गणतन्त्र के बहुत निकट आ गया। इंगलैण्ड के संसदीय इतिहास में पहली बार 'बरो' व काउण्टी के निर्वाचन क्षेत्रों में मताधिकार के लिये एक प्रकार की योग्यताएँ (कुछ अपवादों को छोड़कर) निर्धारित की गईं। गुप्त मतदान प्रणाली 1872 ई. में बैलट एक्ट द्वारा पहले ही लागू कर दी गई थी। इस प्रकार इंगलैण्ड में प्रजातन्त्र का विकास बड़ी तीव्र गति से हो रहा था। परन्तु अभी भी चुनाव पद्धति में अनेक कमियाँ थीं। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में मतदाताओं की संख्या बराबर नहीं हो सकी। आयरलैण्ड में 2 वोट इंगलैण्ड के 3 वोट के बराबर हो गये। विभिन्न क्षेत्रों में आबादी के परिवर्तन के कारण निर्वाचन क्षेत्रों में मतदाताओं की संख्या विभिन्न हो गई। यह आशा की जाती थी कि एक सदस्य निर्वाचन क्षेत्र के कारण अल्पमत को भी ठीक प्रकार से प्रतिनिधित्व मिलेगा, किन्तु यह आशा पूर्ण नहीं हुई। मतदाताओं की संख्या में वृद्धि होने से उम्मीदवारों की अपेक्षा पार्टी का महत्त्व और अधिक बढ़ गया। मताधिकार का आधार अब भी सम्पत्ति था, जबकि गणतन्त्रवादियों की माँग थी कि सभी व्यक्तियों को समान मताधिकार प्राप्त होना चाहिये। स्त्रियों को अब भी मताधिकार प्राप्त नहीं था।

संसदीय अधिनियम 1911
(Parliament Act of 1911)

19वीं शताब्दी के पूर्व लॉर्ड्स सदन, कॉमन सदन से अधिक शक्तिशाली था। लॉर्डस सदन में सदैव अनुदार लोगों का बहुमत रहता था, जो प्रतिक्रियावादी थे। लॉर्ड्स सदन के सदस्यों का मनोनयन वंश परम्परा के आधार पर होता था तथा जो लोग चुनाव में हार जाते थे, उन्हें इस सदन का सदस्य मनोनीत कर दिया जाता था। लॉर्ड्स सदन के सदस्य रूढ़िवादी होने के कारण कॉमन सदन का विरोध करते रहते थे तथा वैधानिक कार्यों में बाधा उपस्थित करते रहते थे। 19वीं शताब्दी में जनमत के नये तत्त्वों का विकास हुआ। परिणामस्वरूप कॉमन सदन के सदस्यों में इस भावना का संचार हुआ कि वास्तविक और व्यावहारिक रूप से कॉमन सदन को ही शक्तिशाली होना चाहिये, क्योंकि उनका निर्वाचन सीधा जनता के द्वारा होता है और वे सीधे जनता के प्रति उत्तरदायी हैं। इसके विपरीत लॉर्ड्स सदन के सदस्य अभिजात्य वर्ग के लोग थे जो सैकड़ों वर्षों से इंगलैण्ड का शासन चलाते आ रहे थे, इसलिये वे आसानी से शक्ति हस्तान्तरण नहीं करना चाहते थे।

संसद का प्रमुख कार्य कानूनों का निर्माण है। इसी के सम्बन्ध में दोनों सदनों में संघर्ष आरम्भ हुआ। संसद में प्रस्तुत किये जाने वाले विधेयकों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—साधारण प्रस्ताव तथा वित्त प्रस्ताव। साधारण प्रस्तावों के सम्बन्ध में दोनों सदनों में अनेक बार मतभेद हुआ। प्रथम सुधार अधिनियम का लॉर्ड्स सदन ने घोर विरोध किया, किन्तु जनमत के समक्ष लॉर्ड्स सदन को झुकना पड़ा। तत्पश्चात् 1869 ई. में इसने आयरिश चर्च विल का विरोध किया। 1884 ई. में इसने तीसरे सुधार विधेयक का विरोध किया, किन्तु महारानी विक्टोरिया की विवेकपूर्ण मध्यस्थता ने समस्या का समाधान कर दिया। 1893 ई. में कॉमन सदन द्वारा पारित द्वितीय होम रूल विल को लॉर्ड्स सदन ने अस्वीकार कर दिया। 1906 ई. में जब इंगलैण्ड में उदार दल की सरकार वनी तो संघर्ष और तीव्र हो गया, क्योंकि लॉर्ड्स सदन ने 1906 ई. के बाद उत्तरदायी मंत्रिमण्डल के अनेक प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया। लॉर्ड्स सदन के इस विरोध का अन्त करने के लिए सर हेनरी केम्पवेल ने, जो उस समय इंगलैण्ड का प्रधानमन्त्री था, लॉर्ड्स सदन की व्यवस्थापिका सम्बन्धी शक्तियों को सीमित करने के लिए एक विधेयक प्रस्तुत किया और घोपणा की कि, "कॉमन सदन जनमत का प्रतीक है, अतः कॉमन सदन के निर्णयों को अन्तिम व सर्वोच्च माना जाय। कॉमन सदन के सदस्य जनता की इच्छाओं को कार्यान्वित करने के लिये सदन में उपस्थित होते हैं। मेरे प्रस्ताव में जनता की इच्छाएँ निहित हैं तथा स्वयं लॉर्ड्स सदन जनमत की सर्वोच्चता स्वीकार करता है। मैं यह नहीं समझ पाता कि लॉर्ड्स सदन किस माध्यम से यह पता लगाता है कि हमारे निर्णय जनता की भावनाओं के अनुकूल हैं या नहीं। हम जनता के प्रतिनिधि हैं और जनता द्वारा चुने जाते हैं, अतः कॉमन सदन द्वारा पारित विधेयक लॉर्ड्स सदन द्वारा पुनर्विचार के लिए वापिस करना वस्तुतः विवेकहीन और पागलपन है।" यद्यपि केम्पवेल का यह प्रस्ताव पारित न हो सका, किन्तु लॉर्ड्स सदन के विरुद्ध भविष्यवर्ती संघर्ष के द्वार खुल गये। इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए लॉयड जॉर्ज ने ऑक्सफोर्ड

विश्वविद्यालय में अपने भाषण में कहा, "इस बात के सम्बन्ध में संघर्ष होगा कि देश का शासन राजा और लॉर्ड्स सदन चलाये अथवा राजा और कॉमन सदन।"

लॉर्ड्स सदन और कॉमन सदन का संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था और 1909 ई. में तो स्थिति और भी अधिक गम्भीर हो गई। 1909 ई. में तत्कालीन वित्त मन्त्री लॉयड जार्ज ने जब लॉर्ड्स सदन में वित्त विधेयक प्रस्तुत किया तो लॉर्ड्स सदन ने उसे व्यक्तिगत कारणों से अस्वीकार कर दिया। लॉयड जॉर्ज समाजवादी कार्यक्रम से प्रभावित थे और उसे मूर्त रूप देने के लिए इस वित्त विधेयक में अनेक बातें थीं। वित्त विधेयक में मुख्य बात भूमि-कर थी, जिसने भूमिपति पीयर्स (लॉर्ड्स) को उत्तेजित कर दिया था। अब कॉमन सदन ने लॉर्ड्स सदन की इस चुनौती को स्वीकार कर लड़ने का निश्चय किया। कॉमन सदन ने प्रस्ताव पारित किया कि, "लॉर्ड्स सदन ने इस वर्ष के खर्च तथा आमदनी सम्बन्धी वित्तीय प्रस्तावों को जिनको इस सदन ने पारित कर दिया था, अस्वीकार करके विधान को भंग किया है और कॉमन सदन के अधिकारों का अपहरण किया है।" तत्पश्चात् 10 जनवरी, 1910 को संसद भंग करके नये चुनाव कराये गये। चुनाव में निर्वाचित उदारवादी तथा रूढ़िवादी समान संख्या में थे। अतः उदारवादी दल ने आयरिश राष्ट्रवादियों से मिलकर सरकार बनाई। सम्राट एडवर्ड सप्तम् ने 21 फरवरी, 1910 को नवीन संसद का उद्घाटन किया और अपने भाषण में ऐसे प्रस्ताव की ओर संकेत किया जिससे संसद के दोनों सदनों के पारस्परिक सम्बन्धों को इस प्रकार सुनिश्चित किया जाय जिससे वित्तीय विषय में कॉमन सदन को पूर्ण अधिकार प्राप्त हो तथा विधि-निर्माण में उसे प्रमुखता मिले। 29 मार्च को प्रधानमन्त्री एस्क्विथ ने तीन प्रस्ताव प्रस्तुत किये, जो लम्बी बहस के बाद 14 अप्रैल को स्वीकार किये गये। ये तीन प्रस्ताव इस प्रकार थे—

(1) वित्त विधेयक की सावधानी से परिभाषा की गई और कहा गया कि यह आवश्यक है कि कानून द्वारा लॉर्ड्स सदन को वित्तीय प्रस्तावों में संशोधन करने अथवा उन्हें अस्वीकार करने के अधिकार से वंचित कर दिया जाय।

(2) यदि कॉमन सदन किसी विधेयक को तीन लगातार सत्रों में पारित कर दे और लॉर्ड्स सदन उसे तीनों बार अस्वीकृत कर दे, तो राजा की स्वीकृति प्राप्त होने पर वह अधिनियम बन जायेगा, बशर्ते कि इसके प्रस्तुत होने के समय से दो वर्ष बीत चुके हों।

(3) संसद का कार्यकाल 4 वर्ष कर दिया जाय।

उपर्युक्त प्रस्ताव पारित होने के बाद इसके आधार पर प्रधानमन्त्री ने एक विधेयक उसी रात को प्रस्तुत किया। जिस समय कॉमन सदन इन प्रस्तावों को पारित कर रही थी, उसी समय लॉर्ड्स सदन ने भी निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किये—

(1) एक शक्तिशाली और कुशल द्वितीय सदन केवल ब्रिटिश संविधान का एक अभिन्न अंग ही नहीं है, अपितु राज्य के कल्याण के लिये तथा संसद के सन्तुलन के लिये आवश्यक है।

(2) इस प्रकार का द्वितीय सदन, लॉर्ड्स सदन में सुधार और पुनर्गठन द्वारा ही स्थापित किया जा सकता है।

(3) ऐसे सुधार और पुनर्गठन के लिये इस सिद्धान्त को स्वीकार करना चाहिए कि केवल पीयर (लॉर्ड) की उपाधि प्राप्त कर लेने से ही लॉर्ड्स सदन में बैठने और मत देने का अधिकार नहीं मिलना चाहिये।

उस रात को, जिसमें संसदीय विधेयक प्रस्तुत किया गया, प्रधानमन्त्री एस्क्विथ ने धमकी भरे शब्दों में घोषणा की कि यदि लॉर्ड्स सदन इस विधेयक को अस्वीकार कर देता है तो वह उसी स्थिति में कॉमन सदन को भंग करके चुनाव करायेंगे, यदि राजा यह वायदा करे कि यदि हमारा दल चुनाव जीत जाय तो लॉर्ड्स सदन के विरोध को समाप्त करने के लिए राजा पर्याप्त संख्या में नये लॉर्ड्स बना देंगे। राजा एडवर्ड सप्तम् ने इस संवैधानिक गतिरोध को दूर करने के लिए दोनों पक्षों से बातचीत की, किन्तु इसके पूर्व कि इस सम्बन्ध में कुछ किया जा सके, 7 मई, 1910 को एडवर्ड सप्तम् की मृत्यु हो गयी तथा उसका पुत्र जार्ज पंचम गद्दी पर बैठा। जार्ज पंचम ने 17 जून, 1910 को एक वैधानिक सम्मेलन आयोजित किया, जिसमें सरकारी पक्ष की ओर से एस्क्विथ, लॉयड जॉर्ज आदि थे तथा विरोधी पक्ष की ओर से बालफोर, लॉर्ड लैंसडाउन आदि थे। इस सम्मेलन में इस बात पर सहमति नहीं हो सकी कि वित्तीय बिल, वैधानिक बिल तथा साधारण बिलों के बीच कैसे विभेद किया जाय। अतः 10 नवम्बर, 1910 को सम्मेलन भंग हो गया। अन्त में 15 नवम्बर, 1910 को मंत्रिपरिषद् ने संसदीय विधेयक पर जनता का मत जानने के लिये संसद भंग कर नये चुनाव कराने का निर्णय लिया तथा 28 नवम्बर को संसद भंग करदी गई। दिसम्बर 1910 में जो चुनाव हुआ उसमें विभिन्न दलों की स्थिति लगभग वही रही जो निर्वाचन से पूर्व थी।

फरवरी 1911 में सरकार ने पुनः कॉमन सदन में संसदीय विधेयक प्रस्तुत किया, जो मई, 1911 में पारित हो गया। जिस दिन कॉमन सदन में यह विधेयक पारित हुआ उसी दिन लॉर्ड लैंसडाउन ने 'लॉर्ड्स सदन पुनर्गठन विधेयक' प्रस्तुत किया, किन्तु इस पर बहस में विशेष प्रगति नहीं हुई और द्वितीय वाचन न हो सका। इसी समय संसदीय विधेयक लार्डस सदन में लाया गया। पीयर्स में भी स्पष्ट मतभेद दिखाई दे रहा था। हेजर्स (Hedgers), जिसका नेतृत्व कर्जन और लैंसडाउन कर रहे थे, विधेयक को पारित करने के पक्ष में थे। उनका कहना था कि यदि वे विरोध करेंगे तो राजा 500 उग्र विचारों वाले लॉर्ड्स बना देगा और उनकी शक्ति सदा के लिए समाप्त हो जायेगी। इसके विपरीत सेलिसबरी के नेतृत्व में डिचर्स (Ditchers) अन्तिम समय तक लड़ने व मरने के पक्ष में थे। डिचर्स यह विश्वास करते थे कि मन्त्रियों की धमकी खोखली थी और अन्त में मन्त्रीगण तथा राजा समर्पण कर देंगे। किन्तु अन्त में हेजर्स की बात मान ली गई तथा 10 अगस्त, 1911 को लॉर्ड्स सदन ने संसदीय विधेयक पारित कर दिया।

संसदीय अधिनियम की धाराएँ—इस अधिनियम में ठीक उन्हीं प्रस्तावों को संगृहीत किया गया था जिन्हें 20 मार्च, 1910 को एस्क्विथ ने प्रस्तुत किया था। अधिनियम की प्रस्तावना काफी लम्बी थी, जिसमें मुख्य रूप से यह बात कही गई थी कि इस अधिनियम का उद्देश्य इस समय जो लॉर्ड्स सदन है उसके स्थान पर एक ऐसे द्वितीय सदन की स्थापना करना है जिसके सदस्यों की नामजदगी का आधार वंशानुक्रमागत की बजाय जनमत हो। इस प्रस्तावना के अतिरिक्त इस अधिनियम में मुख्य रूप से अग्रलिखित धाराएँ थीं—

(1) इसमें वित्त विधेयक की परिभाषा की गई थी। कॉमन सदन का अध्यक्ष (स्पीकर) यह प्रमाणित करेगा (यदि व्यवहार्य हो तो सदन के दो अनुभवी सदस्यों से परामर्श करने के पश्चात्) कि कोई बिल वित्तीय बिल है अथवा नहीं। अध्यक्ष का निर्णय अन्तिम होगा और किसी भी न्यायालय में उसके निर्णय के विरुद्ध अपील नहीं की जा सकेगी।

(2) लॉर्ड्स सदन को वित्तीय बिल में संशोधन करने अथवा उसको अस्वीकार करने का अधिकार नहीं रहेगा।

(3) वित्त विधेयक को छोड़कर अन्य विधेयक लॉर्ड्स सदन द्वारा दो वर्ष तक रोका जा सकता था, परन्तु यदि कॉमन सदन उसे उसके मूल रूप में अपने लगातार तीन सत्रों में पारित कर दे तो लॉर्ड्स सदन की स्वीकृति बिना भी वह सम्राट द्वारा स्वीकृत किये जाने पर अधिनियम बन जायेगा।

(4) संसद का कार्यकाल 7 वर्ष के बजाय 5 वर्ष कर दिया गया।

अधिनियम का महत्त्व एवं आलोचना—इंगलैण्ड की संवैधानिक प्रगति के इतिहास में इस अधिनियम का अत्यधिक महत्त्व है। इस अधिनियम के फलस्वरूप यह बात अन्तिम रूप से स्वीकार करली गई कि इंगलैण्ड में सार्वभौमिक सत्ता जनता द्वारा निर्वाचित कॉमन सदन में निहित है। अब यह निर्विवाद रूप से निश्चित हो गया कि लॉर्ड्स सदन का स्थान कॉमन सदन के नीचे है। 19वीं शताब्दी के आरम्भ में दोनों सदनों के बीच जो संघर्ष आरम्भ हुआ था, 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में उसका निर्णय कॉमन सदन के पक्ष में हो गया। यह जनतन्त्र की महान् विजय थी। मेरियट ने लिखा है कि, "उसी दिन जबकि पीयर्स ने स्वयं अपनी मृत्यु के आज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये, कॉमन सदन के सदस्यों ने अपने लिये 400 पौण्ड प्रति वर्ष का वेतन स्वीकार कर लिया।" मेरियट ने इसकी महत्ता बताते हुए लिखा है, "संसदीय अधिनियम, चाहे उसे कैसा ही समझा जाय, उसे एक संविधान के लिये, जो अलिखित है, एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन कहा जाना चाहिये।"

अनेक व्यक्तियों ने इस अधिनियम की आलोचना की है। इस अधिनियम की प्रस्तावना में लॉर्ड्स सदन के पुनर्गठन की जो इच्छा प्रकट की गई थी, वह पूर्ण नहीं हुई। अध्यक्ष को किसी बिल के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय देने का जो अधिकार दिया गया, उसकी भी कुछ लोगों ने कटु आलोचना की। इस अधिनियम में वित्त विधेयक की जो परिभाषा दी गई वह अपूर्ण थी। यह कितना हास्यास्पद है कि जिस वित्त विधेयक को लेकर इतना भीषण संघर्ष हुआ और जिसके फलस्वरूप यह अधिनियम पारित हुआ, वह इस परिभाषा के अनुसार वित्त विधेयक में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। फिर भी यह अवश्य मानना पड़ेगा कि जिस उद्देश्य से यह अधिनियम पारित हुआ था, उसकी पूर्ति हुई। प्रायः यह माना जाता है कि इस अधिनियम से लॉर्ड्स सदन की शक्ति बिल्कुल समाप्त कर दी गई, लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं हुआ। वित्त विधेयक के सम्बन्ध में लॉर्ड्स सदन की शक्ति बिल्कुल समाप्त करदी गई, लेकिन वास्तव में 1861 ई. के बाद लॉर्ड्स सदन ने इस शक्ति का उपयोग ही नहीं किया था। दूसरे विधेयकों का पारित होना लॉर्ड्स सदन वर्षों तक रोक सकता था। 1949 ई. के अधिनियम द्वारा यह अवधि घटाकर एक वर्ष करदी गई। धीरे-धीरे लॉर्ड्स सदन के सम्बन्ध में लोगों के विचार बदलने लगे। लॉर्ड्स

सदन भी जनमत का ध्यान रखते हुए प्रगतिशील नीतियों का विरोध करना बन्द करने लगा। अब लॉर्ड्स सदन द्वारा कॉमन सदन पर नियन्त्रण रखने के सिद्धान्त में कोई विश्वास नहीं करता। इस प्रकार 1911 के अधिनियम का लॉर्ड्स सदन पर रचनात्मक प्रभाव पड़ा है।

स्त्रियों को मताधिकार

इंगलैण्ड के संवैधानिक इतिहास की यह एक अनोखी बात है कि इंगलैण्ड में जनतन्त्र का तीव्र गति से विकास होने के बावजूद वहाँ स्त्रियाँ अभी तक मताधिकार से वंचित थीं। प्रसिद्ध राजनीतिशास्त्री जे.एस. मिल इस दिशा में बहुत वर्षों से प्रयत्न कर रहे थे और इस सम्बन्ध में उन्होंने अनेक पुस्तकें भी लिखी थीं। 1865 ई. में जब वे वेस्टमिनस्टर चुनाव क्षेत्र से चुनाव लड़े तब उन्होंने अपने चुनाव भाषणों में स्त्रियों को मताधिकार देने पर अत्यधिक महत्त्व दिया। जब वे इस चुनाव में सफल हुए तब उन्होंने सुधार अधिनियमों में संशोधन के द्वारा स्त्रियों को मताधिकार दिलाने का अथक प्रयत्न किया, किन्तु उनके संशोधन अस्वीकृत कर दिये गये। जे.एस. मिल के अतिरिक्त 1870 ई. में सर जेकॉब ब्राइट ने संसद में 'वीमेन्स सफ्रेज बिल' (Women's Suffrage Bill) प्रस्तुत किया, किन्तु द्वितीय वाचन से यह आगे नहीं बढ़ सका। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व स्त्रियों को मताधिकार दिलाने के लिये इंगलैण्ड में लगभग सौ संस्थाएँ काम कर रही थीं और संसद में कम से कम इस सम्बन्ध में सात बिल प्रस्तुत किये गये, लेकिन कोई भी बिल द्वितीय वाचन से आगे नहीं बढ़ सका। इसका कारण यह था कि इंगलैण्ड के लोग अब भी स्त्रियों को मताधिकार देने के विरुद्ध थे। यहाँ तक कि ग्लैडस्टोन और महारानी विक्टोरिया भी इसके विरुद्ध थे। किन्तु रूढ़िवादी दल का दृष्टिकोण इस दिशा में उदारवादी दल की अपेक्षा अधिक सहानुभूतिपूर्ण था।

1893 ई. में न्यूजीलैण्ड में तथा 1902 ई. में आस्ट्रेलिया में स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त हुआ। 1907 ई. में फिनलैण्ड में स्त्रियाँ प्रथम बार धारा सभा के लिये निर्वाचित हुईं। इन सबका इंगलैण्ड पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। 1906 ई. के बाद इंगलैण्ड में मजदूर दल भी स्त्रियों को मताधिकार देने के पक्ष में हो गया। 1907 ई. में इंगलैण्ड की संसद ने 'क्वालिफिकेशन ऑफ वीमेन एक्ट' पास करके स्त्रियों को काउण्टी तथा 'बरो' में काउन्सिलर तथा एल्डरमेन बनने का अधिकार दे दिया। फिर भी इंगलैण्ड में बहुत से लोग अब भी स्त्रियों को मताधिकार देने के पक्ष में नहीं थे। 1903 ई. के पूर्व स्त्रियों को मताधिकार देने के सम्बन्ध में 'सफ्राजिस्टे' के नेतृत्व में आन्दोलन चला। इसमें पढ़ी-लिखी स्त्रियों ने भाग लिया, जो शान्तिपूर्ण आन्दोलन में विश्वास करती थीं। किन्तु इनकी असफलता के कारण आन्दोलन का नेतृत्व आतंकवादियों के हाथ में चला गया, जिसकी नेता मैनचेस्टर के एक वकील की विधवा श्रीमती पैन्खर्स्ट थी। 1903 ई. में श्रीमती पैन्खर्स्ट ने 'वीमेन्स सोशियल एण्ड पोलिटिकल यूनियन' की स्थापना की। इसका उद्देश्य समाज तथा सरकार के विरुद्ध युद्ध करना था। इसने राजनीतिक सभाओं में गड़बड़ी उत्पन्न की, बड़े-बड़े जुलूस निकाले, मन्त्रिमण्डल की बैठकों में हस्तक्षेप किया, सरकारी दफ्तरों की खिड़कियाँ तोड़ दीं तथा पुलिसमैन के टखनों पर जूतों से ठोकरें मारीं। इंगलैण्ड की प्रेस ने भी इसका साथ दिया।

स्त्रियों को मताधिकार देने के सम्बन्ध में मंत्रिमण्डल में भी मतभेद था। प्रधानमन्त्री सहित अनेक मन्त्री इसके विरुद्ध थे जबकि एडवर्ड ग्रे, हाल्डेन तथा लॉयड जॉर्ज इसके पक्ष में थे। 1908

ई. में एस्क्विथ ने संसद सदस्यों के एक प्रतिनिधि मण्डल को सूचित किया कि सरकार निर्वाचन सम्बन्धी एक विधेयक संसद में प्रस्तुत करेगी और यदि स्त्रियों को मताधिकार दिलाने के लिये कोई संशोधन पेश किया जाता है तो सरकार कॉमन सदन को इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से निर्णय लेने का अवसर देगी। 1909 ई. में सरकार ने बालिग मताधिकार स्थापित करने के लिये एक विधेयक प्रस्तुत भी किया, लेकिन वह भी द्वितीय वाचन से आगे नहीं बढ़ सका। 1910 ई. में एक प्राइवेट 'कन्साइलेशन बिल' प्रस्तुत किया गया जिसका उद्देश्य गृहस्थ स्त्रियों को मताधिकार देना था, किन्तु प्राइवेट मेम्बर बिल होने के कारण सरकार की ओर से इसे कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। इससे आतंकवादियों को बड़ी निराशा हुई और उन्होंने अपना आन्दोलन और तेज कर दिया। आन्दोलन ने भीषण हिंसा का रूप धारण कर लिया। इस पर हजारों स्त्रियों को जेलों में ठूँस दिया गया। किन्तु उन्होंने जेल में अनशन आरम्भ कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप वे रिहा कर दी गईं। जेल से रिहा होने के बाद उन्होंने फिर वही हिंसात्मक कार्यवाही आरम्भ कर दी। अतः 1913 ई. में सरकार ने एक कानून पास किया जिसे जनता ने 'द कैट एण्ड द माऊस एक्ट' कहा। इस अधिनियम द्वारा गृह सचिव को यह अधिकार दिया गया कि वह किसी अपराधी को लाइसेन्स के आधार पर रिहा कर सकता है लेकिन यदि वह फिर अपराध करे तो बिना मुकदमा चलाये उसे अपनी सजा भुगतने के लिये जेल में डाला जा सकता था।

1912 ई. में सरकार ने निर्वाचन सम्बन्धी सुधार हेतु 'फ्रेन्चाइज एण्ड रजिस्ट्रेशन बिल' संसद में प्रस्तुत किया। स्त्रियों को मताधिकार देने हेतु संशोधन के रूप में इसमें एक अनुच्छेद बढ़ाया गया। परन्तु अध्यक्ष (स्पीकर) ने इस संशोधन को अवैध घोषित कर दिया। अतः सरकार ने यह बिल वापस ले लिया। 1914 ई. में लॉर्ड्स सदन में 'सफ्रेज बिल' रखा गया, लेकिन यह बिल भी पारित न हो सका। तत्पश्चात् प्रथम विश्व युद्ध छिड़ गया, जिसमें स्त्रियों ने राष्ट्र की सहायता के लिये महत्त्वपूर्ण कार्य किया। स्त्रियों की राष्ट्रीय सेवा से प्रभावित होकर देश यह अनुभव करने लगा कि स्त्रियों को मताधिकार मिलना चाहिये। अतः जनमत की भावनाओं को ध्यान में रखते हुए अक्टूबर 1916 में स्पीकर की अध्यक्षता में एक निर्दलीय समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने सर्वसम्मति से राय दी कि स्त्रियों को कुछ सीमा तक मताधिकार मिलना चाहिये। इस समिति की सिफारिश के आधार पर 1918 ई. में एक सुधार अधिनियम पारित किया गया, जिसमें मुख्य रूप से निम्नलिखित धाराएँ थीं—

(1) लन्दन नगर को छोड़कर जिन काउण्टी और 'बरो' की आबादी 50 हजार से कम थी उनसे कॉमन सदन में अपना प्रतिनिधि भेजने का अधिकार छीन लिया। 70 हजार आबादी पर एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया। इस योजना के अनुसार कुछ प्राचीन नगर, जैसे यार्कशायर, जो अब तक कॉमन सदन में दो प्रतिनिधि भेजते थे, अब सिर्फ एक भेज सकते थे। इसी प्रकार चेस्टर के समान कुछ नगर निकटवर्ती काउण्टी में मिला दिये गये।

(2) मतदाताओं द्वारा अपना नाम दर्ज कराने की प्रणाली सरल बना दी गई। मतदाता के लिये सम्पत्ति की अर्हता तथा एक से अधिक मत देने की प्रणाली समाप्त कर दी गई। आनुपातिक प्रतिनिधित्व सिर्फ विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधियों के लिए लागू किया गया।

(3) सभी चुनाव एक दिन में सम्पन्न करने का निश्चय किया गया तथा उम्मीदवारों के खर्च की सीमा निर्धारित कर दी गई।

(4) पुरुषों को बालिग मताधिकार दे दिया गया। जिन लोगों ने युद्ध में राष्ट्र के लिये कार्य किया था, उनकी आयु कम होने पर भी उन्हें मताधिकार दिया गया। किन्तु जिन लोगों ने सिद्धान्त रूप से युद्ध का विरोध किया था उन्हें युद्ध समाप्त होने के पाँच वर्ष तक मताधिकार से वंचित रखा गया।

(5) कम से कम 30 वर्ष की आयु की स्त्रियों को, जो सम्पत्ति की स्वामिनी होने के कारण काउण्टी और 'वरो' के चुनाव में वोट दे सकती थीं अथवा जिनके पति किसी व्यवसाय में लगे हुए थे और काउण्टी तथा 'वरो' के चुनाव में वोट दे सकते थे, उन्हें कॉमन सदन के लिये वोट देने का अधिकार मिल गया।

उपर्युक्त अधिनियम द्वारा स्त्रियों को पुरुषों के समान बालिग मताधिकार प्राप्त नहीं हुआ था और जहाँ पुरुषों के लिए सम्पत्ति की अर्हता समाप्त करदी गई, वहाँ स्त्रियों के लिये सम्पत्ति की अर्हता को बनाये रखा गया। अतः अब स्त्रियों ने पुरुषों के समान बालिग मताधिकार की माँग की। फलस्वरूप 1928 ई. में 'ईक्वल फ्रेन्चाइज एक्ट' पारित किया गया, जिसके अनुसार स्त्रियों को भी पुरुषों के समान बालिग मताधिकार प्राप्त हो गया। अब इंगलैण्ड में 21 वर्ष के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को मत देने का अधिकार प्राप्त हो गया।

1948 ई. में 'रिप्रेजेण्टेशन ऑफ पीपुल एक्ट' पारित करके एक से अधिक वोट देने की प्रथा समाप्त कर दी गई। विश्वविद्यालय निर्वाचन क्षेत्र तथा व्यापारिक मत (Business Vote) समाप्त कर दिये गये। 1949 ई. के एक अधिनियम द्वारा कॉमन सदन की सीटों का पुनर्निर्धारण हुआ। तदनुसार कॉमन सदन में कुल 625 सीटें निर्धारित की गईं, जिनमें से 506 इंगलैण्ड का प्रतिनिधित्व करते थे, 36 वेल्स का, 71 स्कॉटलैण्ड का तथा 12 अलस्टर का प्रतिनिधित्व करते थे। गुप्त मतदान प्रणाली 1872 ई. से ही लागू कर दी गई थी। 1883 ई. में चुनाव में भ्रष्टाचार समाप्त करने के लिए एक अधिनियम पारित हुआ था, जिसमें यह निश्चय किया गया कि किन चीजों पर खर्च किया जाय तथा चुनाव एजेण्ट को खर्च का हिसाब देना पड़ता था। नियम भंग करने वाले उम्मीदवार को चुनाव लड़ने के लिये अयोग्य घोषित किया जा सकता था।

उपर्युक्त सुधारों से स्पष्ट हो जाता है कि 1832 ई. से 1949 ई. के बीच इंगलैण्ड के विधान में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। कॉमन सदन का जनतन्त्रीकरण हुआ, राजा की शक्ति समाप्त हुई, लॉर्ड्स सदन की शक्ति का अन्त हुआ और उत्तरदायी मंत्रिमण्डल इंगलैण्ड में सर्वोच्च सत्ता हो गयी। फलस्वरूप इंगलैण्ड में सच्चे अर्थ में जनतन्त्र की स्थापना हो गयी और कॉमन सदन जनता का सच्चा प्रतिनिधि बन गया।

प्रश्न

1. इंगलैण्ड में प्रथम सुधार अधिनियम के पारित होने के पूर्व सुधारों के लिये किये गये प्रयासों का उल्लेख कीजिये।
2. प्रथम सुधार अधिनियम (1832) की मुख्य बातों का उल्लेख करते हुए इसका महत्त्व बताइये।
3. चार्टिस्ट आन्दोलन से आपका क्या अभिप्राय है ? इस आन्दोलन की असफलता के कारणों पर प्रकाश डालिये।
4. द्वितीय एवं तृतीय सुधार अधिनियमों की मुख्य बातों का उल्लेख कीजिये।
5. इंगलैण्ड में समय-समय पर किये गये सुधार अधिनियमों की समीक्षा कीजिये।

अध्याय-7

एशिया और अफ्रीका में साम्राज्यवाद
(Imperialism in Asia and Africa)

साम्राज्यवाद का अर्थ—"साम्राज्यवाद" शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अलग-अलग ढँग से की है। परन्तु इतिहास के सन्दर्भ में साम्राज्यवाद का अर्थ है—भिन्न प्रजाति वाले देश पर किसी दूसरे देश का राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित हो जाना। वैसे सामान्यतः यह माना जाता है कि जब कोई देश किसी अन्य देश पर किसी भी उपाय से अपना शासन स्थापित कर लेता है तो उसका यह काम साम्राज्यवाद का रूप धारण कर लेता है। प्राचीनकाल से ही शक्तिशाली शासक अपने देश की सीमाओं से निकलकर अन्य देशों को जीतकर साम्राज्यों का निर्माण करते आये थे।

साम्राज्यवोद के इतिहास को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—पुराना साम्राज्यवाद और नया साम्राज्यवाद। पुराने साम्राज्यवाद का इतिहास लगभग पन्द्रहवीं सदी से आरम्भ होता है। इससे पूर्व यूरोपवासी अपने महाद्वीप के अलावा अन्य किसी भी देश से परिचित नहीं थे। उस युग में कोई यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि यूरोपीय देश अपने महाद्वीप से चलकर एशिया, अफ्रीका, अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि महाद्वीपों के विशाल क्षेत्रों को जीतकर वहाँ अपने साम्राज्य स्थापित करेंगे।

यूरोपीय साम्राज्यवाद का उदय—पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप यूरोप में जो वातावरण तैयार हो रहा था उसने यूरोपवासियों में भूगोल के प्रति अभिरुचि को विकसित किया और वे नये-नये प्रदेशों तथा जल मार्गों की खोज में निकल पड़े। इस कार्य में पुर्तगाल तथा स्पेन के नाविक सबसे आगे रहे। 1492 ई. में स्पेन की रानी की सहायता से कोलम्बस ने अमेरिका (नई दुनियाँ) को खोज निकाला तो 1498 ई. में वास्कोडिगामा भारत के सुप्रसिद्ध बन्दरगाह कालीकट तक जा पहुँचा। अमेरिका में उपनिवेशों की स्थापना का सिलसिला शुरू हुआ और भारत तथा सुदूर-पूर्व में व्यापारिक चौकियाँ कायम की जाने लगीं। अफ्रीका के समुद्री तटों पर भी केन्द्र स्थापित किये जाने लगे। पुर्तगाल ने ब्राजील पर अधिकार जमाया तो स्पेन ने मध्य एवं दक्षिणी अमेरिका के एक विस्तृत भू-भाग पर अपना अधिकार जमाया। सत्रहवीं सदी में हालैण्ड, फ्रांस और इंगलैण्ड भी इस दौड़ में सम्मिलित हो गये और धीरे-धीरे यूरोपीय देशों ने शेष विश्व को आपस में बाँट लिया। इसलिए कई विद्वान् यूरोप के विस्तार को 'साम्राज्यवाद' के नाम से सम्बोधित करते हैं।

साम्राज्यवाद का विकास एक अद्भुत एवं रहस्यमय पहेली है। केवल एक सैनिक अथवा पर्यटक या नौ सैनिक-द्वारा किसी अज्ञात स्थान पर झण्डा गाड़ देने का अर्थ था, उस अज्ञात स्थान पर उस व्यक्ति के मातृ-देश का अधिकार। केवल एक व्यक्ति के साधारण कार्य के द्वारा विशाल भूखण्डों और उस पर पहले से आबाद जातियों के भाग्य का निर्णय किया जाना, वास्तव में आश्चर्यजनक एवं अपमान की बात है, परन्तु यूरोप के लोलुप साम्राज्यवादी देशों के लिए यह गौरव की बात थी।

पुराने साम्राज्यवाद का आधार—पन्द्रहवीं सदी से यूरोपीय राष्ट्रों ने विश्व के अज्ञात क्षेत्रों को अधिकृत करके जो साम्राज्य खड़ा किया उसे "औपनिवेशिक साम्राज्य" के नाम से पुकारा जाता है। इसका मुख्य आधार "वाणिज्यवाद" था। व्यापार और उद्योग को नियमित करके सोना-चाँदी प्राप्त करने की नीति ही "वाणिज्यवाद" कहलाती है। दूसरे शब्दों में यूरोपीय देशों का मुख्य ध्येय उपनिवेशों से व्यापारिक लाभ प्राप्त करना था। साम्राज्यवादी देशों द्वारा उपनिवेशों के आर्थिक शोषण के कारण औपनिवेशिक साम्राज्य को "आर्थिक साम्राज्यवाद" के नाम से भी पुकारा जाता है।

साम्राज्यवाद का नया रूप—सप्तवर्षीय युद्ध (1757-63) के परिणामस्वरूप फ्रांस के हाथ से उत्तरी अमेरिका निकल गया और कुछ वर्षों बाद अमेरिका के तेरह ब्रिटिश उपनिवेश ब्रिटेन के हाथ से निकल गये। इससे यूरोपीय देशों में उपनिवेशों की स्थापना के प्रति उदासीनता उत्पन्न हो गई। "मुक्त व्यापार" के सिद्धान्त के कारण अठारहवीं सदी के अन्त तक वाणिज्यवादी पद्धति का पतन होने लगा। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में "मुक्त व्यापार" एवं "अहस्तक्षेप के सिद्धान्तों" (Laissez faire) के परिणामस्वरूप "औपनिवेश-साम्राज्य" की जड़ें हिल गईं। अतः 1870 ई. के बाद नये साम्राज्यवाद का प्रसार हुआ, जो पुराने साम्राज्यवाद से काफी भिन्न था। इसका ध्येय न केवल आर्थिक लाभ उठाना ही था, अपितु अपनी राजनीतिक शक्ति का प्रसार और अपनी अतिरिक्त जनसंख्या को बसाने की बात भी थी।

1870 के बाद औद्योगिकीकरण के फलस्वरूप यूरोप के राज्यों को अपने उत्पादन की खपत की समस्या का सामना करना पड़ा। अतः उनके लिए औपनिवेशिक नीति अपनाना अनिवार्य हो गया। वस्तुतः औद्योगिकीकरण की नीति ही नवीन उपनिवेशवादी नीति की जन्मदात्री है। नवीन उपनिवेशवाद अथवा साम्राज्यवाद के प्रभाव के कारण यूरोपीय देशों में, विश्व के अविकसित क्षेत्रों पर अधिकार करने की प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हो गयी। एशियाई देश जापान भी इस दौड़ में सम्मिलित हो गया। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में नवीन साम्राज्यवाद का आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक स्वरूप विश्व के सामने आया। फ्रांस ने अपनी औपनिवेशिक विस्तार नीति को "सभ्यता के विस्तार" का कार्य बताया तो इंगलैण्ड ने उसे "श्वेत जाति का दायित्व" कहा। इटली ने इसे "पुनीत कर्त्तव्य" घोषित किया। नये साम्राज्यवाद के फलस्वरूप उन्नीसवीं सदी के अन्त तक एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देशों पर यूरोपीय राज्यों का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

साम्राज्यवाद के प्रसार के कारण

(अ) आर्थिक

1. अतिरिक्त उत्पादन—1870 ई. के आसपास औद्योगिक क्रान्ति का पहला चरण समाप्त हो गया था और इस काल में यूरोप के औद्योगिक देशों के उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई। परन्तु 1870 ई. के बाद यूरोपीय राज्यों में अभूतपूर्व औद्योगिक विकास हुआ। कुछ समय बाद संयुक्त राज्य अमेरिका और एशियाई देश जापान भी औद्योगिक देशों की पंक्ति में आ गये। औद्योगिक विकास के फलस्वरूप प्रत्येक देश में उत्पादन इतना अधिक बढ़ गया कि उसे अपने ही देश में खपाना कठिन हो गया। अतः तैयार माल को खपाने के लिए ऐसे बाजारों की आवश्यकता हुई जिन पर औद्योगिक देश अपना एकाधिकार रख सकें।

2. कच्चे माल की आवश्यकता—औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि के कारण कच्चे माल की माँग भी बढ़ने लगी। कच्चे माल की माँग साम्राज्यवाद का एक प्रमुख कारण था। क्योंकि कई औद्योगिक देशों में—रबर, टिन, टंगस्टन, मैंगनीज, कपास, वनस्पति, तेल आदि के पर्याप्त भण्डारों का अभाव था। अतः इस माँग की पूर्ति के लिए औद्योगिक देशों ने ऐसे पिछड़े क्षेत्रों पर अधिकार करने का प्रयास शुरू किया जहाँ से उन्हें पर्याप्त मात्रा में और सस्ते दामों पर कच्चा माल मिल सके। इसके अलावा, बहुत से औद्योगिक देशों में खाद्य पदार्थों की माँग भी बढ़ने लगी थी। इसकी पूर्ति भी उपनिवेशों से करने का निश्चय किया गया। इसी प्रकार, तेल, चाय, कॉफी, चीनी आदि की माँग ने भी साम्राज्यवाद को बढ़ावा दिया।

3. यातायात एवं संचार-साधनों का विकास—औद्योगिक क्रान्ति के प्रथम चरण में यातायात एवं संचार-साधनों में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। भाप की शक्ति से चलने वाले जलपोतों के बन जाने से सुदूरवर्ती देशों से व्यापार करना बहुत ही आसान हो गया। अब तीन सप्ताह के भीतर ही लन्दन से भारत आया जाने लगा। रेल्वे, डाक, तार, टेलीफोन आदि के आविष्कार से प्रत्येक उपनिवेश से व्यापारिक सौदे आसानी से किये जा सकते थे। 1880 के बाद जहाजों में प्रशीतन की व्यवस्था हो जाने से फल, मक्खन, पनीर, अण्डे आदि दूरवर्ती उपनिवेशों से लाना सम्भव हो गया। उपर्युक्त परिवर्तनों ने उपनिवेशों को प्राप्त करने की आकांक्षा को बल प्रदान किया।

4. अतिरिक्त पूँजी के निवेश की समस्या—औद्योगिक क्रान्ति ने यूरोप के लिए समृद्धि के द्वार खोल दिये और कई देश काफी धन-सम्पन्न हो गये। अधिक उत्पादन एवं व्यापार-वाणिज्य की वृद्धि से अधिक लाभ कमाया गया। परन्तु अब इस अतिरिक्त पूँजी के निवेश की समस्या आ खड़ी हुई। यूरोपीय राज्यों में पूँजी की माँग कम होने से उस पूँजी पर बहुत कम ब्याज मिलने की सम्भावना थी। किन्तु वही पूँजी उपनिवेशों में लगाने से दस से बीस प्रतिशत तक लाभ मिलने की सम्भावना थी, क्योंकि अविकसित देशों में मजदूरी सस्ती थी और प्रतियोगी भी बहुत कम थे। इसीलिए बड़े-बड़े बैंकर, व्यापारियों एवं उद्यमियों के साथ मिलकर उपनिवेश स्थापित करने की माँग करने लगे।

5. बढ़ती जनसंख्या का दबाव—उन्नीसवीं सदी के अन्त तक औद्योगिकीकरण की माँग के अनुरूप जनसंख्या में भी काफी वृद्धि हुई। एक अनुमान के अनुसार 1880-1914 ई. के बीच यूरोप की आबादी बढ़कर 45 करोड़ हो गयी। ब्रिटेन तथा स्कैंडीनेवियाई देशों में आबादी में तीन गुनी वृद्धि हुई। जर्मनी, नीदरलैण्ड, आस्ट्रिया-हंगरी और इटली की आबादी दुगनी हो गई। इस बढ़ती हुई आबादी को रोजगार देने तथा अतिरिक्त आबादी को बसाने की समस्या दिनों-दिन गम्भीर होती जा रही थी। अतः बड़े-बड़े राज्यों ने अपनी अतिरिक्त जनसंख्या को बसाने और उसे रोजगार उपलब्ध कराने के लिए उपनिवेशों पर अधिकार स्थापित करना ही अच्छा समझा। इन उपनिवेशों में बहुत से लोग सैनिकों के रूप में तथा अनेक प्रशासनिक अधिकारियों के रूप में जाकर रहने लगे; क्योंकि वहाँ उन्नति के अधिक अवसर उपलब्ध थे। कुछ लोग अपने उद्योग एवं व्यापार के विस्तार के लिए वहाँ बस गये। इस प्रकार, बढ़ती जनसंख्या का दबाव साम्राज्यवाद के प्रसार का एक कारण बन गया।

(ब) राजनीतिक कारण

वस्तुतः राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों के संयुक्त प्रभाव के कारण ही नये साम्राज्यवाद का विकास हुआ था। इस कार्य में लेखकों, विचारकों, राजनीतिज्ञों, व्यापारियों एवं धर्माधिकारियों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। ये लोग अपने-अपने स्वार्थों की भावना से प्रेरित होकर ही साम्राज्यवाद का समर्थन करते हैं और अपनी-अपनी सरकारों पर साम्राज्यवाद के प्रसार के लिए निरन्तर दबाव बनाये रखते हैं। ऐसे लोगों के वर्ग को साम्राज्यवाद के निहित का वर्ग (Vested interests of Imperialism) कहते हैं।

1. व्यापारिक वर्ग—व्यापारिक वर्ग को हमेशा अपने व्यापार की उन्नति का ध्यान रहता है। प्रत्येक देश में व्यापारियों का एक ऐसा संगठन बन जाता है जो अपनी सरकार पर दबाव डालकर व्यापारिक लाभ के लिए किसी भी कार्य को करने के लिए बाध्य करता है। औद्योगिक क्रान्ति के बाद व्यापारिक संगठन काफी सशक्त हो गये थे जिनमें कपड़े और लोहे से सम्बन्धित संगठनों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। ये संगठन साम्राज्यवाद के कट्टर समर्थक होते थे और अपने उत्पादनों की बिक्री के लिए नये बाजारों की तलाश में रहते थे। इसी प्रकार अस्त्र-शस्त्र तथा युद्धोपयोगी उपकरण बनाने वाली कम्पनियाँ भी अपने व्यवसाय की उन्नति के लिए साम्राज्यवाद का समर्थन करती थीं। इस काम में बैंकों की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी। जब इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री डिजरैली ने स्वेज नहर के शेयर खरीदने का निश्चय किया तो बैंकों ने सरकार को तत्काल धन दे दिया और बाद में सरकार पर दबाव डालते रहे कि मिस्र पर ब्रिटिश अधिकार स्थापित किया जाय। इससे स्पष्ट है कि साम्राज्यवाद के प्रसार के लिए व्यापारिक संगठनों का दबाव एवं सहयोग भी उत्तरदायी था।

2. सैनिक वर्ग—सेना के अनेक अधिकारी भी साम्राज्यवादी नीति के समर्थक थे। क्योंकि औपनिवेशिक प्रतिस्पर्धा के कारण युद्धों की सम्भावना बनी रहती है। युद्धों में उन्हें यश-प्राप्ति के अवसर प्राप्त होते हैं और साम्राज्यवाद के प्रसार के साथ-साथ सैनिकों की संख्या में भी वृद्धि होती जाती है। सैनिकों की वृद्धि से उच्च पदों की संख्या में वृद्धि होगी और सैनिक अधिकारियों को पदोन्नति के अधिक अवसर मिलेंगे।

3. सामरिक महत्त्व के स्थानों पर अधिकार—साम्राज्य विस्तार एवं व्यापारिक सुरक्षा की दृष्टि से प्रमुख जल मार्गों के निकटवर्ती द्वीपों तथा महाद्वीपों के तटवर्ती क्षेत्रों पर अधिकार जमाना आवश्यक हो गया। बड़ी-बड़ी जहाज कम्पनियों के मालिक भी इस नीति के समर्थक थे क्योंकि उन्हें कोयला एवं पानी तथा खाद्य सामग्री लेने, तूफान आदि से बचने और जहाजों की मरम्मत वगैरह करवाने के लिए सुरक्षित स्थानों पर अड्डों की आवश्यकता थी।

4. राष्ट्रीयता—उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में यूरोप के अनेक प्रमुख देशों में कुछ ऐसे राष्ट्रवादी राजनीतिज्ञ, लेखक, विचारक और अर्थशास्त्री हुए जिन्होंने राष्ट्रीय गौरव, राष्ट्रीय सुरक्षा और आत्म-निर्भरता की दृष्टि से औपनिवेशिक विस्तार की नीति को प्रोत्साहित किया व उसका प्रचार किया। ब्रिटेन, फ्रांस, पुर्तगाल, हालैण्ड, बेल्जियम आदि देशों में इसी प्रकार के राष्ट्रवादी व्यक्तियों के प्रभाव के कारण साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन मिला। साम्राज्यवाद की इस दौड़ में इंगलैण्ड सबसे आगे था, फिर भी वह अपने साम्राज्य का और अधिक विस्तार करना चाहता था। फ्रांस-प्रशा युद्ध (1870) में पराजित फ्रांस अपने औपनिवेशिक विस्तार के द्वारा अपने पुराने गौरव को प्राप्त करने की आकांक्षा रखता था। इस दौड़ में देर से सम्मिलित होने वाले जर्मनी, इटली, जापान आदि देश भी पुराने साम्राज्यवादी देशों के समान अपने विशाल औपनिवेशिक साम्राज्य की आकांक्षा रखने लगे थे। वास्तविकता यह थी कि संसार के मानचित्र को अपने देश के उपनिवेशों से रंगा देखकर सामान्य नागरिक तक प्रायः राष्ट्रीय गौरव से खिल उठता था।

5. साहसिक व्यक्तियों का योगदान—साहसिक व्यक्तियों तथा खोजकर्त्ताओं के कार्यों से भी औपनिवेशिक विस्तार को बल प्राप्त हुआ। कुछ प्रमुख प्रशासकों एवं सेनानायकों ने भी उपनिवेश-स्थापना के कार्य को राष्ट्रीय दायित्व मानकर बड़े उत्साह, लगन एवं निष्ठा से उस दायित्व को पूरा करने का प्रयास किया। वास्तव में इन व्यक्तियों की सेवाओं के बिना अफ्रीका में यूरोपीय राज्यों के साम्राज्य का विस्तार एवं दृढ़ीकरण सम्भव भी नहीं हो पाता। यूरोपीय राज्यों ने अपनी सैनिक शक्ति में वृद्धि करने के उद्देश्य से तथा नौसेना के लिए उपयुक्त स्थलों एवं सामरिक महत्त्व के स्थानों पर अधिकार करने का प्रयास किया।

(स) ईसाई धर्म-प्रचारकों का योगदान

ईसाई धर्म-प्रचारकों ने अपने धर्म का प्रचार-प्रसार करने तथा पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव बढ़ाने के उद्देश्य से नये साम्राज्यवाद के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इंगलैण्ड के डॉक्टर लिविंगस्टन ने लगभग 20 वर्ष तक अफ्रीका के आन्तरिक प्रदेशों और कांगो नदियों के क्षेत्र की खोज की। 1873 ई. में अपनी मृत्यु से पहले उसने अपने देशवासियों को यह सन्देश भेजा कि अफ्रीका की भूमि उनके व्यापार और ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ राजनीतिक एवं आर्थिक साम्राज्य के विस्तार के लिए बहुत उपयुक्त है। फ्रांस में तृतीय गणराज्य के काल में फ्रांसीसी कैथोलिक पादरियों ने ईसाई मत के प्रचार के साथ-साथ फ्रांस के औपनिवेशिक विस्तार के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। इस प्रकार, ईसाई धर्म-प्रचारकों ने ईसाई मत के प्रचार और मानवता के उद्धार के नाम पर साम्राज्यवाद के विस्तार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था।

एशिया में साम्राज्यवाद का नया रूप

मध्य एवं पश्चिमी एशिया—मध्य एवं पश्चिमी एशिया में मुख्य रूप से ब्रिटेन और रूस की प्रतिस्पर्द्धा रही। बर्लिन काँग्रेस ने बाल्कन प्रायद्वीप में रूस की प्रगति को रोक दिया था जिससे रूस काफी असन्तुष्ट हो गया। अब उसने मध्य एशिया की तरफ अपना ध्यान केन्द्रित किया जिससे ब्रिटेन की चिन्ता बढ़ गई। वस्तुतः रूस की विदेश नीति का एक मुख्य ध्येय रूस के लिए ऐसे बन्दरगाहों की तलाश करना था जो वर्ष भर खुले रहें। इसी उद्देश्य से वह दक्षिण की तरफ कुस्तुन्तुनिया को अधिकृत करना चाहता था और पश्चिम में एटलाण्टिक महासागर के तट पर बन्दरगाह प्राप्त करने की उधेड़बुन में था। क्रीमिया युद्ध के बाद रूस को प्रशान्त महासागर के तट पर ब्लाडीवोस्टक बन्दरगाह की नींव रखने में सफलता मिल गई। मध्य एशिया में उसने ताशकन्द (1864), समरकन्द (1868), खिवा (1873) और खोशकन्द (1876) को बर्लिन काँग्रेस के पहले ही हथिया लिया था। अब उसकी सीमाएँ अफगानिस्तान से जा मिली थीं। यही ब्रिटेन की चिन्ता का कारण बन गया, क्योंकि इस समय तक ब्रिटेन भारत और श्रीलंका में अपने पैर मजबूती से जमा चुका था। मध्य पूर्व में रूसी साम्राज्य के विस्तार से उसे अपने भारतीय साम्राज्य की चिन्ता होने लगी और तुरन्त ही रूसी प्रभाव को रोकने के उपायों पर विचार किया जाने लगा। सर्वप्रथम, अफगानिस्तान के शाह दोस्त मोहम्मद को पदच्युत करके भगोड़े शाह शुजा को नया शासक बनाया गया। परन्तु स्वतन्त्रताप्रिय अफगानों ने अँग्रेजों के कठपुतले शाह शुजा की हत्या कर दी और 1842 ई. में दोस्त मोहम्मद एक बार फिर अफगानिस्तान का शासक बन गया। इसके बाद अँग्रेजों ने लम्बे समय तक अफगानिस्तान के प्रति "परम निष्क्रियता की नीति" का पालन किया। परन्तु 1878-79 में उन्होंने अफगानिस्तान पर आक्रमण कर दिया। अफगानिस्तान का अमीर शेर अली रूसी सीमा की ओर भागते हुए मार्ग में ही मारा गया और अँग्रेजों ने उसके पुत्र याकूब खाँ को नया अमीर बनाया। उसने ब्रिटिश सरकार के इशारे पर शासन चलाने का आश्वासन दिया।

अब रूस दूसरी दिशा में बढ़ने लगा। 1881 ई. में उसने तुर्किस्तान पर विजय प्राप्त की और 1884 ई. में मर्व पर अधिकार कर लिया। इससे ब्रिटिश सरकार पुनः चिन्तित हो उठी। 1885 ई. में रूस पंजदेह तक जा पहुँचा। इस घटना से ब्रिटेन और रूस के बीच काफी तनाव उत्पन्न हो गया। अन्त में 1885 में दोनों ने मिलकर अफगानिस्तान की सीमा का निर्धारण कर दिया जिससे शान्ति कायम हो गई।

पश्चिमी एशिया में रूस ने फारस पर भी अपना प्रभाव स्थापित करने का प्रयास किया। इंगलैण्ड ने रूस का जोरदार विरोध किया। वस्तुतः फारस के शाह को आर्थिक सहायता की सख्त आवश्यकता थी। अतः 1892 ई. में इंगलैण्ड ने इम्पीरियल बैंक ऑफ पर्शिया की स्थापना की और इस बैंक के माध्यम से शाह को ऋण उपलब्ध कराया गया। रूस भी पीछे नहीं रहा। उसने भी फारस में "बैंक ऑफ लोन्स" स्थापित करके फारस की सरकार को रियायती दर से ऋण देना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार, फारस को अपने-अपने प्रभाव में लाने के लिए दोनों देशों में प्रतिस्पर्द्धा शुरू हो गई। अन्त में, 1907 ई. में दोनों में समझौता हो गया जिसके अनुसार फारस

के उत्तरी भाग में रूस का प्रभाव क्षेत्र और दक्षिणी भाग में इंगलैण्ड का प्रभाव क्षेत्र मान लिया गया तथा मध्य फारस में दोनों को कार्य करने की स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई।

अँग्रेजों ने भारत पर अपना शासन स्थापित करने के बाद बर्मा को भी जीत लिया और उसे ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया। इसके लिए उन्हें बर्मा के विरुद्ध तीन बार युद्ध लड़ने पड़े थे। अन्तिम युद्ध 1885 में लड़ा गया था। बर्मा को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने का एक कारण फ्रांस का भय था जिसने हिन्द चीन में अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था। तिब्वत और सिक्किम जैसे छोटे-छोटे क्षेत्रों को भी ब्रिटिश प्रभाव के अन्तर्गत लाया गया।

सुदूर पूर्व एवं दक्षिण-पूर्वी एशिया—सुदूर पूर्व में चीन और जापान लम्वे समय तक यूरोपीय साम्राज्यवाद से बचे रहे। परन्तु अफीम युद्धों ने चीन की निर्बलता को उजागर कर दिया। प्रथम अफीम युद्ध के बाद चीन को अपने पाँच बन्दरगाह यूरोपीय देशों के लिए खोलने पड़े तथा हाँगकाँग का क्षेत्र इंगलैण्ड को देना पड़ा। दूसरे अफीम युद्ध के बाद उसे अपने अन्य 11 बन्दरगाहों को विदेशी व्यापारियों के लिए खोलना पड़ा। इसी अवसर पर रूस ने आमूर नदी के उत्तर के चीनी प्रदेश और उसूरी के पूर्व के प्रदेश अपने अधिकार में कर लिये। असहाय एवं निर्वल चीन को इन क्षेत्रों पर रूसी अधिकार को मान्यता देनी पड़ी। 1884 ई. में फ्रांस ने अनाम पर अधिकार कर लिया और चीन को "कोचीन-चीन" पर से अपनी सम्प्रभुता का दावा त्यागना पड़ा।

जापान ही एकमात्र ऐसा एशियाई देश निकला जिसने यूरोपीय राष्ट्रों एवं अमेरिका के साथ प्रारम्भ में ही सन्धियाँ कर लीं और फिर शक्ति संचित करके साम्राज्यवाद के मार्ग पर चल पड़ा। 1874 ई. में उसने चीन के लुचू द्वीप समूह पर अधिकार कर लिया। इसके बाद जापान ने कोरिया में अपना प्रभाव बढ़ाया और 1894-95 ई. में चीन-जापान युद्ध लड़ा गया जिसमें चीन पराजित हुआ और उसे मंचूरिया, फारमोसा तथा कुछ अन्य द्वीपों पर जापान के अधिकार को मानना पड़ा। 1897 ई. में दो जर्मन पादरियों की हत्या की आड़ लेकर जर्मनी ने चीन से बलपूर्वक त्सिंग-ताओ बन्दरगाह और कियाऊचाऊ की खाड़ी को छीन लिया। इस प्रकार 1898 ई. तक तक साम्राज्यवादी देशों ने चीन के विभिन्न क्षेत्रों को अपने "प्रभाव क्षेत्रों" में वाँट लिया। 1900 ई. में चीनियों ने एक राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू किया, जो "वाक्सर आन्दोलन" (मुष्टि विद्रोह) के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु जापान, अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी और इंगलैण्ड की सम्मिलित सेनाओं ने बाक्सर आन्दोलन को बुरी तरह से दबा दिया और क्षतिपूर्ति के अतिरिक्त अनेक प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त कीं। अमेरिका के प्रभाव के कारण चीन की अखण्डता बची रही। परन्तु थोड़े समय बाद ही चीन के एक प्रान्त मंचूरिया को लेकर रूस और जापान में युद्ध लड़ा गया जिसमें रूस बुरी तरह से पराजित हुआ। इससे मंचूरिया और कोरिया में जापान का प्रभाव बढ़ गया।

हिन्देशिया (इण्डोनेशिया) में सर्वप्रथम पुर्तगालियों ने प्रवेश किया था परन्तु राजनीतिक प्रभाव स्थापित करने में डच लोग अग्रणी रहे। फ्रांसीसी क्रान्ति के दिनों में इस क्षेत्र पर, फ्रांसीसियों का नियन्त्रण रहा और 1811 से 1819 तक इंगलैण्ड का प्रभुत्व रहा। बाद में हिन्देशिया के द्वीप हालैण्ड (डचों) को वापिस कर दिये गये। डच शासन के विरुद्ध हिन्देशिया के लोगों ने जबरदस्त विद्रोह किया परन्तु डच शासन ने सभी विद्रोहों को कुचल कर अपना प्रभुत्व कायम रखा।

मलेशिया (मलाया प्रायद्वीप) में सोलहवीं सदी के प्रारम्भ से ही यूरोपीय व्यापारियों का आगमन शुरू हो गया था। 1511 ई. में पुर्तगालियों ने मुसलमानों से मलक्का छीन लिया। 1661 ई. में डचों ने पुर्तगालियों से मलक्का छीन लिया। 1795 में अँग्रेजों ने मलक्का को अपने अधिकार में ले लिया। वियना व्यवस्था से मलक्का पुनः डचों को प्राप्त हो गया तब अँग्रेजों ने मलाया के जोहोर राज्य को खरीद लिया। सिंगापुर का विख्यात बन्दरगाह इसी क्षेत्र में स्थित है। 1824 ई. में अँग्रेजों ने एक सन्धि के द्वारा मलक्का भी डचों से प्राप्त कर लिया। धीरे-धीरे अपनी विस्तारवादी नीति द्वारा 1909 ई. तक इस सम्पूर्ण क्षेत्र पर अँग्रेजों ने अपना आधिपत्य कायम कर लिया।

हिन्द चीन प्रायद्वीप में तीन देश आते हैं—कम्बोडिया, लाओस और वियतनाम। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में फ्रांस ने हिन्द चीन में प्रवेश किया और वियतनाम को अपने औपनिवेशिक शासन के अन्तर्गत लाने में संलग्न हो गया। 1863 ई. में फ्रांस को कम्बोडिया पर अपना संरक्षण कायम करने में सफलता मिल गई और 1884 ई. में उसने कम्बोडिया के शासक के साथ एक नई सन्धि करके कम्बोडिया को अपने एक उपनिवेश में बदल दिया। लाओस पर थाईलैण्ड ने अपना प्रभुत्व कायम करने का प्रयत्न किया परन्तु इससे फ्रांसीसी असन्तुष्ट हो गये और उन्होंने लाओस के लुआंग-प्रबांग क्षेत्र पर अधिकार जमा लिया। 1904 और 1907 में फ्रांस और थाइलैण्ड में सन्धियाँ हुई जिनके द्वारा फ्रांस ने लाओस के इस राज्य पर अपना अधिकार सुदृढ़ बना लिया। हिन्द-चीन प्रायद्वीप का तीसरा बड़ा देश वियतनाम है। वियतनाम के सम्राट दियुत्री के शासनकाल (1841-47) में कुछ फ्रेंच धर्म-प्रचारकों को मृत्यु की सजा सुनाई गई, यद्यपि इस आदेश को कार्यान्वित नहीं किया गया। फिर भी फ्रांसीसियों ने प्रतिशोधात्मक कार्यवाही करते हुए तूरेन (डानांग) बन्दरगाह पर अप्रैल, 1847 में जोरदार बमबारी की। उस समय तो यह घटना यहीं तक सीमित रही। परन्तु सितम्बर, 1858 में फ्रांसीसियों ने तूरेन पर अधिकार कर लिया और फरवरी, 1859 को सैगोन पर भी फ्रांसीसियों का कब्जा हो गया। जून, 1862 में सम्राट को एक सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश किया गया। इस सन्धि से सैगोन तथा उसके समीपवर्ती तीनों प्रान्तों पर फ्रांसीसी अधिकार को मान्यता मिल गई। चार साल बाद फ्रांस ने सम्पूर्ण कोचीन चीन पर अपने शासन का विस्तार कर लिया। फांसीसियों को कोचीन-चीन (दक्षिणी वियतनाम) पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में आठ वर्ष लगे और टोंकिंग (उत्तरी वियतनाम) को अधिकार में लाने के लिए आगामी सोलह वर्ष तक प्रयास करना पड़ा। इसी अवधि में अनाम (मध्य वियतनाम) पर भी उनका अधिकार हो गया। इस प्रकार, समूचा वियतनाम उनके अधिकार में आ गया।

फिलिपाइन्स पर स्पेन ने अधिकार कर लिया। परन्तु 1898 में क्यूबा के प्रश्न को लेकर अमेरिका और स्पेन में युद्ध शुरू हो गया जिसमें स्पेन पराजित हुआ। दिसम्बर, 1898 में पेरिस की सन्धि हुई जिसके परिणामस्वरूप फिलिपाइन्स पर अमेरिका का अधिकार हो गया। इस प्रकार, अमेरिका भी पहली बार उपनिवेश का स्वामी बन गया।

अफ्रीका में साम्राज्यवाद की विशेषताएँ

विशेषताएँ—1850 ई. से पूर्व यूरोप में अफ्रीका के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी नहीं थी और उसे "अन्धकारमय महाद्वीप" कहा जाता था। यूरोपीय राज्यों ने केवल उसके तटवर्ती क्षेत्रों पर अधिकार जमा रखा था। अफ्रीका के 90 प्रतिशत भाग पर यूरोप का आधिपत्य नहीं था। किन्तु 1850 से 1890 के बीच साहसी खोजकर्त्ताओं ने अफ्रीका के आन्तरिक प्रदेशों की जानकारी प्राप्त कर ली। फलस्वरूप फ्रांस, पुर्तगाल, इटली, ब्रिटेन, जर्मनी, बेल्जियम आदि देश अफ्रीका के विभिन्न भागों में छीना-झपटी में शामिल हो गये। चालीस वर्ष की अवधि में अबीसीनिया और लाइबेरिया को छोड़कर सम्पूर्ण अफ्रीका यूरोपीय राज्यों द्वारा आपस में बाँट लिया गया। अफ्रीका के इस बँटवारे में इसकी कुछ विशिष्टताएँ परिलक्षित होती हैं। सर्वप्रथम तो अफ्रीका का बँटवारा बिना किसी संघर्ष के हो गया। यद्यपि बँटवारे को लेकर विभिन्न राष्ट्रों के बीच तनाव उत्पन्न हुआ तथा संघर्ष की सम्भावना भी दिखाई दी, किन्तु समस्त संकटों का समाधान कूटनीति से हो गया और संघर्ष का खतरा टल गया। फिर, यह बँटवारा अत्यन्त शीघ्रता से हुआ। केवल 25-30 वर्षों की अवधि में इतना बड़ा और महत्त्वपूर्ण काम सम्पन्न हो गया। इसका प्रमुख कारण यह था कि इस समय जर्मनी और इटली जैसे नवोदित राज्य साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा के मैदान में कूद पड़े थे, जो शीघ्रातिशीघ्र अपने लिये साम्राज्य स्थापित कर लेना चाहते थे। इन नवोदित राज्यों को देखकर ब्रिटेन और फ्रांस जैसी साम्राज्यवादी शक्तियाँ चौकन्नी हो उठीं और वे भी जल्दी से अधिक से अधिक प्रदेश हथियाने का प्रयत्न करने लगे। इस कारण अफ्रीका का बँटवारा तेजी से सम्पन्न हो सका। इसकें अतिरिक्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इस बँटवारे का वहाँ के स्थानीय शासकों या सरदारों ने विरोध नहीं किया। इसलिये यूरोपीय देशों ने वहाँ बड़ी आसानी से अपने उपनिवेश स्थापित कर लिये। अफ्रीका के आदिवासियों कें सरदार अशिक्षित होने के साथ-साथ इतने सीधे और भोले थे कि वे सन्धि-समझौतों का महत्त्व ही नहीं समझते थे। शराब की कुछ बोतलों या चमकते हुए कुछ भड़कीले उपहारों के बदले वे अपनी भूमि यूरोपियनों के हाथों सौंपने को तैयार हो जाते थे। वे ऐसी सन्धि पर हस्ताक्षर कर देते थे जिसे वे स्वयं भी नहीं समझते थे। वास्तव में वे इतने असहाय और शक्तिहीन थे कि पेरिस या लन्दन में बैठकर साम्राज्यवादी उनके प्रदेशों को मानचित्र में ही बाँट लेते थे और उन्हें इसका पता तक नहीं चल पाता था। इस प्रकार, जो अफ्रीका कुछ साल पहले तक अज्ञात था, वह अब भूखे साम्राज्यवादियों का शिकार बन गया। 1890 ई. तक आते-आते यूरोप के तथाकथित सभ्य देशों ने अफ्रीका को आपस में बाँट लिया। विश्व राजनीति के रंगमंच पर नया साम्राज्यवाद अपने नग्न रूप में उपस्थित हुआ।

अफ्रीका की खोज—जैसाकि बताया जा चुका है कि कुछ साहसी खोजकर्त्ताओं ने अनेक बाधाओं का सामना करते हुए अफ्रीका के आन्तरिक भागों की पर्याप्त जानकारी प्राप्त करली थी। इस सम्बन्ध में लिविंग्स्टन, स्टेनली, बेकर, स्पीक, ग्राण्ट, बार्थ, वोगेल आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। बार्थ, वोगेल, नाक्टिगाल आदि ने सहारा और सूडान के भागों की खोज की तथा बेकर, स्पेक, ग्राण्ट ने बड़ी झीलों के आस-पास के क्षेत्रों का पता लगाया। लिविंग्स्टन ने जाम्वेजी (जेम्बिसी) नदी के मार्ग द्वारा यात्रा कर विक्टोरिया तथा न्याजा झीलों का पता लगाया। उसने

1840 से 1873 के बीच मध्य अफ्रीका के समस्त प्रदेशों को छान डाला। एक बार वह मा भटक कर सघन वनों में खो गया। अतः उसकी खोज के लिए 1874 में हेनरी मार्टन स्टेनली क भेजा गया। उसने कांगो नदी की घाटी और उसकी सहायक नदियों के क्षेत्र की खोज की औ स्वदेश आने के बाद "थ्रू द डार्क काण्टीनेण्ट" (Through the Dark Continent) नामव पुस्तक प्रकाशित की जिसमें मध्य अफ्रीका के प्रचुर प्राकृतिक साधनों का उल्लेख किया गय था। 1888 ई. में एक अँग्रेज अन्वेषक स्पीक ने एक झील का पता लगाया। इन भ्रमणों से विभि देशों के लोगों को अफ्रीका के अन्दर की दलदलों, जंगलों, झीलों, नदियों तथा निवासियों आ के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात हो गईं और प्रत्येक देश वहाँ उपनिवेश-स्थापना के लि प्रयास करने लगा।

अफ्रीका का बँटवारा—अफ्रीका का बँटवारा यूरोपीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घट है। अफ्रीका में बलात् प्रवेश करने का प्रथम प्रयास बेल्जियम के शासक लियोपोल्ड द्वितीय किया। उसके मन में लिविंग्स्टन और स्टेनली की खोजों से लाभ उठाने की प्रबल इच्छा जागृ हुई। 1876 ई. में उसने अफ्रीका के अज्ञात क्षेत्रों का पता लगाने तथा वहाँ सभ्यता का प्रका फैलाने के लिये अपनी राजधानी ब्रसेल्स में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया सम्मेलन में मध्य अफ्रीका में खोज एवं सभ्यता के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना व गई जिसका अध्यक्ष लियोपोल्ड स्वयं बना। यह भी निश्चय किया गया कि प्रत्येक यूरोपी राज्य में इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की शाखाएँ अथवा समितियाँ गठित की जायँ। किन्तु शीघ्र इस संस्था का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप समाप्त हो गया और प्रत्येक देश अपने ही लिए अफ्रीका अधिक से अधिक प्रदेश हथियाने का प्रयास करने लगा।

कांगो की लूट-खसोट—लियोपोल्ड ने अन्तर्राष्ट्रीय अफ्रीकन सभा की ओर से स्टेनल को कांगो क्षेत्र में खोज कार्य के लिए नियुक्त किया। स्टेनली 1879 से 1882 ई. तक कां प्रदेश में रहा तथा उसने वहाँ रहने वाले कबीलों के नीग्रो सरदारों को फुसलाकर या डरा-धमव कर अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का संरक्षण स्वीकार करने के लिये तैयार कर लिया। तीन-चार वर्ष व अवधि में उसने नीग्रो सरदारों से लगभग 400 सन्धियाँ कीं और इस प्रकार अफ्रीका का ए विशाल प्रदेश लियोपोल्ड के संरक्षण में आ गया।

स्टेनली की गतिविधियों को देखते हुए फ्रांस ने भी कांगों के दक्षिणी किनारे पर अप प्रभाव स्थापित करना आरम्भ कर दिया। इसी समय पुर्तगाल ने भी कांगों के कुछ भाग पर अप दावा किया। फरवरी, 1884 में पुर्तगाल और इंगलैण्ड के बीच एक समझौता हो गया जिस अनुसार ब्रिटेन ने कांगो नदी के मुहाने पर पुर्तगाल का अधिकार स्वीकार कर लिया। लियोपोल ने इस समझौते का विरोध किया, क्योंकि इससे "कांगो फ्री स्टेट" का समुद्र तट से सम्बन्ध-विच्छे हो गया था। फ्रांस ने भी इस समझौते को अमान्य घोषित कर दिया। इसी समय दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका के समुद्र तट पर स्थित एंग्रापिक्वेना पर जर्मनी के अधिकार को लेकर ब्रिटेन और जर्मन के आपसी सम्बन्धों में भी तनाव आ गया था। अतः बिस्मार्क ने फ्रांस और बेल्जियम का समर्थ किया।

बर्लिन सम्मेलन (1884-85)—जुलाई, 1884 ई. में जर्मनी ने कांगो की समस्या तथा अन्य समस्याओं के निराकरण के लिए एक सम्मेलन आमन्त्रित करने की माँग की। 1884 ई. में बर्लिन में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। यह सम्मेलन नवम्बर, 1884 से शुरू होकर फरवरी, 1885 में समाप्त हुआ। इसमें स्विट्जरलैण्ड को छोड़कर सभी यूरोपीय राज्यों के प्रतिनिधियों तथा अमेरिका के प्रतिनिधि ने भी भाग लिया। सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों ने एक "साधारण अधिनियम" (General Act) पर हस्ताक्षर किये, जिसे "बर्लिन एक्ट" कहा जाता है। इस एक्ट में मुख्य रूप से निम्नलिखित बातों का समावेश किया गया था—

(1) कांगो फ्री स्टेट, जिसमें कांगो नदी की घाटी का अधिकांश भाग सम्मिलित था, पर अन्तर्राष्ट्रीय अफ्रीकन सभा का अधिकार मान लिया गया।

(2) कांगो नदी की घाटी में सभी राज्यों को व्यापार और नौ-संचालन की स्वतन्त्रता प्रदान की गई। किन्तु यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि कांगो क्षेत्र में किसी भी राज्य को विशेष अधिकार अथवा व्यापारिक एकाधिकार प्राप्त नहीं करने दिया जायेगा।

(3) कांगो नदी के यातायात और व्यापार सम्बन्धी नियमों का पालन कराने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग स्थापित किया गया।

(4) नाइजर नदी के सम्बन्ध में यह तय किया गया कि उसके ऊपरी भाग पर ब्रिटेन का और निचले भाग पर फ्रांस का नियन्त्रण रहेगा।

(5) अफ्रीका के भावी बँटवारे के सम्बन्ध में यह निर्णय लिया गया कि किसी भी प्रदेश पर किसी राज्य का अधिकार तभी स्वीकार किया जायेगा जबकि उस क्षेत्र पर उसका वास्तविक अधिकार होगा। इसके साथ ही यह भी आवश्यक होगा कि उसे साम्राज्य में शामिल करने से पहले वह अन्य राष्ट्रों को इसकी सूचना देगा।

बर्लिन सम्मेलन में अफ्रीका के मूल निवासियों के नैतिक एवं भौतिक कल्याण के लिये कार्य करने एवं दास-प्रथा तथा दास-व्यापार को रोकने का भी आश्वासन दिया गया। किन्तु इन पवित्र उद्देश्यों को कार्यान्वित करने का कभी कोई प्रयास नहीं किया गया।

कांगो फ्री स्टेट का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप भी शीघ्र ही समाप्त हो गया और वह लियोपोल्ड का व्यक्तिगत राज्य बन गया। बेल्जियम की संसद का उस पर कोई नियन्त्रण नहीं था। कालान्तर में कांगों को बेल्जियम के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया गया।

मिस्र और इंगलैण्ड—मिस्र उत्तर-पूर्वी अफ्रीका का क्षेत्र है। यहाँ के निवासी अरब हैं। 1517 ई. में तुर्की के ओटोमन साम्राज्य ने इस पर अधिकार कर लिया था परन्तु उसने मिस्र के स्थानीय शासक जिसे "खदीव" कहा जाता था, को सिंहासन पर बने रहने दिया और आन्तरिक शासन में काफी स्वतन्त्रता दे रखी थी। 18वीं शताब्दी के अन्त तक ओटोमन साम्राज्य इतना निर्बल हो गया था कि वह दूरस्थ मिस्र पर अपना नियन्त्रण नहीं रख पाया। इसी समय मिस्र यूरोपीय साम्राज्यवादियों के जाल में फँसने लगा। 1798 में नेपोलियन बोनापार्ट ने मिस्र पर आक्रमण कर दिया। तब इंगलैण्ड ने रूस और ओटोमन साम्राज्य से मिलकर नेपोलियन को मिस्र से निकाल बाहर किया। परन्तु इससे इंगलैण्ड को अपने भारतीय साम्राज्य की चिन्ता उत्पन्न हो गई और उसने पश्चिमी एशिया में अपने सैनिक अड्डे स्थापित करने आरम्भ कर दिये।

1854 ई. में फ्रांस के एक इंजीनियर फर्डीनेण्ड-डी-लेसेप्स ने खारी झील और तिमाश झील से होते हुए स्वेज की खाड़ी से भूमध्यसागर तक सीधा नहर का रास्ता निकालने का सुझाव दिया। मिस्र के खदीव सईदपाशा ने स्वेज नहर की योजना स्वीकार कर ली। योजना के अनुसार नहर-निर्माण का सम्पूर्ण व्यय फ्रांस की नहर-निर्माण कम्पनी उठायेगी और कम्पनी को स्वेज नहर पर 99 वर्ष का अधिकार दिया जायेगा। कुल लाभ का 15 प्रतिशत हिस्सा; मिस्र सरकार द्वारा नहर-निर्माण में लगाई जाने वाली पूँजी का ब्याज और उस पूँजी का लाभांश मिस्र सरकार को देना स्वीकार किया गया। 1859 ई. में नहर-निर्माण का कार्य शुरू हुआ तथा 1869 ई. में 103 मील लम्बी नहर वनकर तैयार हो गई। 1863 ई. में सईदपाशा की मृत्यु के वाद इस्माइल पाशा मिस्र का शासक बना। उसके शासनकाल में मिस्र कर्ज के सागर में डूब गया और इंगलैण्ड ने स्वेज नहर में मिस्र के खदीव के हिस्से खरीद लिये। मिस्र की राजनीति में इंगलैण्ड की दिलचस्पी यहीं से शुरू होती है। 1880 में मिस्र के खदीव ने कम्पनी से प्राप्त होने वाले 15 प्रतिशत लाभ को हमेशा के लिये फ्रांस को हस्तान्तरित कर दिया। अव स्वेज नहर के दो हिस्सेदार रह गये—फ्रांस और इंगलैण्ड।

स्वेज नहर के हिस्से तथा लाभांश वेच देने के वाद भी इस्माइल पाशा की आर्थिक स्थिति में सुधार नहीं हुआ और वह इंगलैण्ड तथा फ्रांस से वेशुमार ऋण लेता रहा। उसने यह कर्ज अपने राज्य के टेक्सों (करों) को जमानत पर रखकर लिया था। अतः फ्रांस और इंगलैण्ड ने टेक्सों की वसूली के लिये अपने कर्मचारी नियुक्त कर दिये। जव इस्माइल पाशा ने इसका विरोध किया तो इंगलैण्ड और फ्रांस ने ओटोमन सुल्तान पर दवाव डालकर इस्माइल पाशा को गद्दी-च्युत करवाकर उसके पुत्र तौफीक पाशा को खदीव वनवा दिया। इस प्रकार, मिस्र में द्वैध-शासन की स्थापना हो गई।

अरवी पाशा का राष्ट्रीय आन्दोलन—द्वैध-शासन से मिस्र की अवस्था वहुत विगड़ गई। लोगों पर करों को वोझ वढ़ गया। सैनिकों को कई महीने तक वेतन नहीं मिला। इससे मिस्र में वहुत असन्तोष फैल गया। फलस्वरूप यूरोपीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक देशव्यापी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जिसका नेता अरवी पाशा था। उसने एक संवैधानिक सरकार की माँग की। नये खदीव को आन्दोलनकारियों के सामने झुकना पड़ा और उसने वायदा किया कि वह मिस्र को साम्राज्यवादियों के प्रभाव से मुक्त कराने का प्रयास करेगा।

मिस्र में अरवी पाशा के प्रभाव से एक नवीन जागृति उत्पन्न हो गई। व्रिटेन ने मिस्र की इस जागृति को कुचलने का निश्चय किया। व्रिटेन ने फ्रांस से सहयोग की प्रार्थना की, लेकिन फ्रांस तैयार नहीं हुआ। अतः व्रिटेन ने अकेले ही अरवी पाशा के आन्दोलन को कुचलने का निश्चय किया। उसने पोर्ट सईद पर अधिकार कर नहर पर अपना शासन स्थापित कर लिया। तेल-अल-कवीर के युद्ध में अरवी पाशा वुरी तरह से पराजित हुआ और इस प्रकार, 1882 ई. से मिस्र के शासन पर व्रिटेन का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया। तौफीक पाशा नाममात्र का शासक रह गया।

सूडान की समस्या—सूडान मिस्र के अधीन था। अतः मिस्र पर अधिकार हो जाने के वाद सूडान का इंगलैण्ड के अधीन होना स्वाभाविक था। परन्तु 1881 में मुहम्मद अहमद नामक व्यक्ति के नेतृत्व में सूडानियों ने विद्रोह कर दिया। इंगलैण्ड ने विद्रोह को दवाने के लिए कर्नल हिक्स को भेजा परन्तु वह पराजित हो गया। तव गार्डन को वहाँ से अँग्रेज सैनिकों को वापस

लाने के लिए भेजा गया। गार्डन ने आदेश के विपरीत विद्रोहियों का दमन करने का निश्चय किया। परन्तु मुहम्मद अहमद ने खारतूम में गार्डन को उसकी सेना सहित घेर लिया। यद्यपि गार्डन की सहायता के लिए एक नई सेना भेजी गई थी, परन्तु उसके पहुँचने के पूर्व फरवरी, 1885 में मुहम्मद अहमद ने गार्डन की हत्या कर सूडान पर अधिकार कर लिया। इससे ब्रिटिश सरकार की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा, फिर भी उसने कुछ समय के लिए सूडान की पुनर्विजय का काम स्थगित कर दिया।

मुहम्मद अहमद (जिसे मेंहदी भी कहते थे) की मृत्यु के बाद अँग्रेजों ने सूडान को जीतने का निश्चय किया, क्योंकि इस समय फ्रांस भी इस क्षेत्र को हथियाना चाहता था। 1898 ई. में अँग्रेजों ने सूडान पर आक्रमण कर उसे जीत लिया।

फेशोदा की घटना—अँग्रेजों के अधिकृत प्रदेश के उत्तर-दक्षिण में और फ्रांस वालों के अधिकृत क्षेत्र के पूर्व-पश्चिम में फ़ेशोदा स्थित था। इंगलैण्ड और फ्रांस दोनों ही इसको अधिकृत करना चाहते थे। 1898 में अँग्रेज सेनापति किचनर फेशोदा की तरफ बढ़ा। दूसरी तरफ फ्रांसीसी सेनापति मार्श भी पहुँच गया। इससे दोनों देशों के मध्य युद्ध की सम्भावना बढ़ गई। अन्त में, फ्रांस ने अपनी सेना को वापस बुला लिया और अँग्रेजों से समझौता कर लिया। इस प्रकार, सूडान में ब्रिटिश शासन की स्थापना हो गई।

दक्षिणी अफ्रीका—1652 ई. में डचों ने दक्षिणी अफ्रीका में केप कालोनी की स्थापना की थी। दक्षिणी अफ्रीका में बसने वाले डचों को "बोअर" कहा जाता था। वे अँग्रेजों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। 1815 ई. के आस-पास अँग्रेजों ने भी केप कालोनी में बसना शुरू कर दिया। प्रारम्भ में डचों और अँग्रेजों में कोई संघर्ष नहीं हुआ। परन्तु जब अँग्रेजों की संख्या निरन्तर बढ़ती गई तो डचों को आशंका उत्पन्न हो गई। अन्त में 1836 ई. में डचों ने केप कालोनी को छोड़ दिया और समीपवर्ती ऑरेंज-फ्रीस्टेट, ट्रांसवाल, नेटाल आदि इलाकों में जा बसे। 1879 ई. में अँग्रेजों ने डचों से ट्रांसवाल छीन लिया। इस पर 1881 ई. में अँग्रेजों और बोअरों में युद्ध शुरू हो गया जिसमें अँग्रेज पराजित हुए और उन्होंने बोअरों की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली तथा ट्रांसवाल को भी स्वतन्त्र कर दिया।

1881 ई. में ट्रांसवाल के कुछ इलाकों में सोने की खानों का पता लगा। इससे बहुत से अँग्रेज वहाँ जाकर बसने लगे जिससे बोअर लोग पुनः आशंकित होने लगे। अँग्रेजों को प्रेरित करने वाला व्यक्ति था—सेसिल रोड्स। वह युवावस्था में इंगलैण्ड से आकर दक्षिण अफ्रीका में बस गया था। भाग्य से उसे सोने की खानों का पता चल गया और उसने अपार सम्पत्ति इकट्ठी कर ली। 1890 से 1896 तक वह केप कालोनी का प्रधानमन्त्री भी रहा। वह चाहता था कि अँग्रेज ट्रांसवाल और ऑरेंज फ्रीस्टेट पर अधिकार करलें। उसकी प्रेरणा से डॉ. जेम्सन ने ट्रांसवाल पर आक्रमण कर दिया परन्तु बोअरो ने उसे बुरी तरह से पराजित किया। 1899 में अँग्रेजों ने पुनः आक्रमण किया और इस बार बोअरों को परास्त होना पड़ा। मई, 1902 ई. में दोनों पक्षों में सन्धि हो गई, जिसके अनुसार ट्रांसवाल और ऑरेंज फ्री स्टेट अँग्रजी साम्राज्य के अंग बन गये। 1909 ई. में ब्रिटिश सरकार ने ट्रांसवाल, ऑरेंज फ्री स्टेट, केप कालोनी तथा नेटाल को "यूनियन ऑफ साउथ अफ्रीका" के नाम से एक राज्य के अन्तर्गत संगठित किया।

अफ्रीका में फ्रांसीसी साम्राज्य—फ्रांस ने भी धीरे-धीरे अफ्रीका के कई महत्त्वपूर्ण प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। 1847 ई. में उसने अल्जीरिया पर अधिकार कर लिया। अल्जीरिया के

पूर्व में ट्यूनिस का प्रदेश था। फ्रांस और इटली दोनों ही इसे हस्तगत करना चाहते थे। परन्तु बिस्मार्क से प्रोत्साहन पाकर 1881 ई. में फ्रांस ने ट्यूनिस पर अधिकार कर लिया। पश्चिम -अफ्रीका में उसने सेनेगल तथा नाइजर नदियों की घाटी में अपना विस्तार किया। फ्रांस ने गायना, आइवरीकोस्ट,फ्रेंचकांगो तथा सहारा के नखलिस्तान पर भी अपना नियन्त्रण कायम कर लिया। 1904 ई. में इंगलैण्ड के साथ समझौता हो जाने के बाद फ्रांस ने मोरक्को को भी अपने नियन्त्रण में लेना शुरू कर दिया। 1896 ई. में मेडागास्कर द्वीप पर अधिकार हो जाने से फ्रांस की स्थिति मजबूत हो गई।

जर्मन उपनिवेश—प्रारम्भ में जर्मनी का चांसलर बिस्मार्क उपनिवेश-स्थापना के पक्ष में नहीं था क्योंकि इससे इंगलैण्ड से सम्बन्ध बिगड़ने की आशंका थी। परन्तु जर्मनी के औद्योगिक विकास, बढ़ती हुई जनसंख्या के निवास तथा राष्ट्रीय गौरव की वृद्धि के लिए बिस्मार्क को भी अन्त में उपनिवेश-स्थापना की ओर ध्यान देना पड़ा। 1884 से 1890 के मध्य उसने अफ्रीका में तोगोलैण्ड,कैमरून, पूर्वी अफ्रीका तथा दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका पर अधिकार कर लिया और इसके लिए उसे कोई युद्ध भी न करना पड़ा।

इटली का साम्राज्य—अफ्रीका में इटली को काफी समय बाद कुछ सफलता मिली। 1883 में उसने लालसागर के किनारे के प्रदेश में इरीट्रिया नामक उपनिवेश की स्थापना की। इसके पश्चात् वह पूर्वी सोमालीलैण्ड के कुछ भाग को अपने साम्राज्य में मिलाना चाहता था परन्तु उसके मध्य में अबीसीनिया का स्वतन्त्र राज्य था। 1896 ई. में इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया,परन्तु अडोवा के युद्ध में अबीसीनिया ने इटली को परास्त कर उसकी प्रगति को रोक दिया। इसके बाद इटली ने ट्रिपोली तथा उसके आस-पास के प्रदेश पर अधिकार कर लिया।

पुर्तगाल—पुर्तगाल जैसे छोटे से देश ने भी अफ्रीका में अपना औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित किया। उसने अफ्रीका के पश्चिमी तट पर अंगोला का उपनिवेश और पूर्वी तट पर मोजाम्बिक (पुर्तगाली पूर्वी अफ्रीका) का उपनिवेश बसाया। अफ्रीका के गिनी तट पर भी उसका नियन्त्रण हो गया था।

स्पेन—अफ्रीका की लूट-खसोट में स्पेन भी पीछे नहीं रहा। उसने अफ्रीका के उत्तर-पश्चिमी तट पर कुछ प्रदेश प्राप्त किये। 1906 ई. में उसे जिब्राल्टर के सामने के समुद्री तट पर पैर रखने का अवसर भी मिल गया।

साम्राज्यवाद के प्रसार के परिणाम

1. विजित क्षेत्रों में निरंकुश शासन—यूरोप के शक्तिशाली एवं विकसित देशों ने एशिया एवं अफ्रीका के अशक्त एवं अविकसित राज्यों को जीतकर उन्हें अपने उपनिवेशों में परिणत कर दिया और इन राज्यों में अपना निरंकुश शासन स्थापित किया। स्थानीय लोगों के साथ गुलामों जैसा व्यवहार किया जाने लगा और उन्हें राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखा गया। यूरोप के साम्राज्यवादी देशों का मूल उद्देश्य इन राज्यों पर अपने वर्चस्व को स्थायी बनाना था। अमेरिका के राष्ट्रपति लिंकन ने सत्य ही कहा था कि, "जब गोरा आदमी अपने ऊपर भी शासन करता है तो वह स्वशासन है; किन्तु जब वह दूसरे पर शासन करता है तो वह स्वशासन नहीं निरंकुशता है।" वास्तव में निरंकुश शासन का विरोध करने पर हजारों लोगों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा।

2. आर्थिक—साम्राज्यवाद के प्रसार में उपनिवेशों तथा अविकसित देशों का आर्थिक शोषण निहित था। आयात-निर्यात, भूमिकर तथा अन्य करों के माध्यम से विजित क्षेत्रों से अधिक से अधिक लाभ उठाना प्रत्येक साम्राज्यवादी देश का मुख्य उद्देश्य था। उपनिवेशों से सस्ती दरों पर कच्चा माल खरीदना और ऊँचे दामों में अपना तैयार माल बेचना, साम्राज्यवादी देशों का मुख्य काम था। उपनिवेशों की प्राकृतिक खनिज सम्पदा का दोहन उनकी नीति का मुख्य लक्ष्य था। उपनिवेशों के औद्योगिक विकास को रोककर उन्हें आर्थिक दृष्टि से कमजोर बनाये रखना भी इसी नीति का अंग था। परिणामस्वरूप साम्राज्यवादी देश और अधिक समृद्ध होने लगे तथा उपनिवेश और अधिक निर्धन होते गये।

3. साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा—उपनिवेशों तथा अविकसित देशों के राजनीतिक नियन्त्रण से मिलने वाली धन-सम्पदा ने यूरोप के साम्राज्यवादी देशों को अधिक लोभी बना दिया। परिणामस्वरूप प्रत्येक देश अपने लिए अधिक से अधिक उपनिवेशों एवं अविकसित देशों के नियन्त्रण की आकांक्षा रखने लगा। उपनिवेशों की लालसा ने उनमें वैमनस्य एवं प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न कर दी। एक-दूसरे को परास्त करने के लिए गुटबन्दियाँ होने लगीं। साम्राज्यवाद की इस दौड़ में इंगलैण्ड और फ्रांस सबसे आगे निकल गये। जर्मनी और इटली पिछड़ गये। बीसवीं सदी के आरम्भ से ही जापान भी इस दौड़ में सम्मिलित हो गया। रूस और अमेरिका भी पंक्ति में आ खड़े हुए। साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा ने समूचे संसार को प्रथम महायुद्ध की चपेट में ले लिया।

4. ईसाई धर्म का प्रसार—ईसाई देशों में भी मुस्लिम देशों की भाँति अपने धर्म-प्रसार की भावना बड़ी उग्र थी। साम्राज्यवाद के प्रसार के साथ-साथ ईसाई धर्म-प्रचारक भी जाने-अनजाने क्षेत्रों में जा पहुँचे और औपनिवेशिक लोगों को अपने धर्म में दीक्षित करने लगे। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने स्थानीय धर्मों को हेय बतला कर अपने धर्म को थोपने का अथक प्रयास किया। स्थानीय लोगों को सरकारी नौकरियों का प्रलोभन, पदोन्नति तथा अन्य नाना प्रकार के प्रलोभन देकर उन्हें ईसाई बनाया गया। परिणामस्वरूप एशिया और अफ्रीका में ईसाई धर्म का व्यापक प्रसार हुआ।

5. उपनिवेशों का विकास—साम्राज्यवादी शक्तियों ने उपनिवेशों का द्रुत गति से आर्थिक शोषण करने की दृष्टि से कुछ क्षेत्रों में विकासात्मक कार्य भी किये जिनके परिणामस्वरूप उपनिवेशों के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि साम्राज्यवादियों ने लोक-कल्याण की भावना से ऐसा नहीं किया था। मण्डियों से कच्चा माल बन्दरगाहों तक पहुँचाने के लिए यातायात के साधनों का विकास किया गया। कृषि-उत्पादनों को बढ़ाने के लिए कृषि के क्षेत्र में सुधार किये गये। सरकार विरोधी गतिविधियों की जानकारी तथा उनका दमन करने के लिए संचार-व्यवस्था में सुधार किये गये। स्थानीय लोगों के असन्तोष को कम करने की दृष्टि से थोड़े-बहुत शासन-सम्बन्धी सुधार भी किये। अपने हितों की पूर्ति के लिए कुछ कल-कारखाने भी स्थापित किये। सारांश यह है कि साम्राज्यवादी देशों ने इन अविकसित देशों का इसीलिए विकास किया कि वे अधिक-से-अधिक मुनाफा कमा सकें।

6. पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति का प्रसार—पराधीन देशों के लोगों के जीवन पर साम्राज्यवादी देशों की सभ्यता एवं संस्कृति का व्यापक प्रभाव पड़ा। वे लोग भी पश्चिमी वस्तुओं का उपयोग करने लगे। मनोरंजन के क्षेत्र में भी वे लोग पश्चिम का अनुसरण करने लगे। युवा-युवतियों में पश्चिमी संगीत एवं नृत्य का व्यापक प्रचलन हुआ। वेश-भूषा, खान-पान आदि

पर भी जबरदस्त प्रभाव पड़ा। पश्चिमी सभ्यता का एक लाभ भी मिला। अनेक देशों में समाज में व्याप्त कुरीतियों—सती प्रथा, कन्यावध, नर-मांस भक्षण, अन्धविश्वास आदि का उन्मूलन हुआ। लोगों में आधुनिक शिक्षा के प्रति रुझान बढ़ा और उन्होंने पश्चिमी विज्ञान एवं अनुसन्धान का लाभ भी उठाया।

7. राष्ट्रीय भावनाओं की जागृति—आधुनिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार के परिणामस्वरूप पराधीन देशों के लोगों ने यह मूलमन्त्र सीखा कि किसी भी देश के शासन-तन्त्र में उस देश के निवासियों का हाथ रहना चाहिए और उन्हें अपने देश के भविष्य का निर्माण करने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। अतः वे लोग अपने राजनैतिक अधिकारों की माँग करने लगे। परन्तु साम्राज्यवादी देशों ने उनकी स्वातन्त्र्य भावना का कठोरतापूर्वक दमन किया। ज्यों-ज्यों अत्याचार बढ़ता गया त्यों-त्यों लोगों में राष्ट्रीयता की भावना और अधिक बलवती होती गई। पराधीन देशों ने साम्राज्यवादी देशों के शासन से मुक्त होने के लिए बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही स्वतन्त्रता आन्दोलन प्रारम्भ कर दिये। इन आन्दोलनों के परिणामस्वरूप ही भारत, ब्रह्मा, मिस्र, सूडान, हिन्देशिया, हिन्दचीन सहित अनेक देश स्वतन्त्रता प्राप्त करने में सफल रहे।

8. स्वतन्त्रता सेनानियों पर अत्याचार—यह ठीक है कि लम्बे संघर्ष के बाद अधिकांश देश स्वतन्त्रता प्राप्त करने में सफल रहे। परन्तु साम्राज्यवादी देशों ने अपने अधिकृत देशों पर अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए स्वतन्त्रता सेनानियों पर अमानवीय अत्याचार भी किये। इंगलैण्ड ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने के लिए जिस प्रकार के अत्याचार किये थे, उससे हम सुपरिचित हैं। फ्रांस ने भी मोरक्को और अल्जीरिया के राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने के लिये वहाँ की जनता पर भयानक अत्याचार किये। हालैण्ड और पुर्तगाल ने भी अपने-अपने उपनिवेशों पर अपना नियन्त्रण बनाये रखने के लिए भयंकर राजनीतिक अत्याचारों का सहारा लिया।

9. प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का प्रसार—साम्राज्यवादी देशों ने अपने अधिकृत देशों में जन-असन्तोष को कम करने की दृष्टि से समय-समय पर कुछ प्रशासनिक सुधार भी किये और दिखावे के तौर पर ही सही, लोकतान्त्रिक संस्थाओं का निर्माण भी किया। इससे अधिकांश अधिकृत देशों में प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का आधारभूत ढाँचा खड़ा हो गया। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद कई देशों ने प्रजातान्त्रिक व्यवस्था को अपना लिया। इससे एशिया और अफ्रीका में लोकतन्त्र को फलने-फूलने का अवसर मिल गया।

प्रश्न

1. साम्राज्यवाद से आपका क्या अभिप्राय है ? यूरोपीय साम्राज्यवाद के उदय के लिए उत्तरदायी कारणों का उल्लेख कीजिये।
2. एशिया में साम्राज्यवाद के विकास पर एक निबन्ध लिखिए।
3. अफ्रीका में साम्राज्यवाद के विकास की समीक्षा कीजिये तथा इसकी विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।
4. साम्राज्यवाद के प्रसार के परिणामों का उल्लेख कीजिये।
5. साम्राज्यवाद के कारणों एवं परिणामों का विश्लेषण कीजिये।

अध्याय-8

फ्रांस की क्रान्ति
(French Revolution)

क्रान्ति के पूर्व का इतिहास

फ्रांस यूरोप का एक शक्तिशाली देश था और सम्भवतः इंगलैण्ड के बाद उसी की गणना की जाती थी। चौदहवें लुई के शासनकाल (1643-1715) में फ्रांस यूरोप में सबसे अधिक शक्तिशाली देश हो गया था। उसने युद्धों के माध्यम से फ्रांस की सीमाओं का विस्तार किया, सामन्तों की अवशिष्ट शक्ति का दमन किया और राज्य की सम्पूर्ण शक्तियों को अपने हाथों में केन्द्रित किया। राज्य में कोई भी शक्ति ऐसी न रह पाई जो किसी तरह उसका विरोध कर सके। परन्तु चौदहवें लुई के युद्धों ने राज्य की आर्थिक स्थिति को बिगाड़ दिया। सरकार पर भारी कर्जा हो गया। उसकी मृत्यु के बाद पन्द्रहवें लुई ने लगभग साठ वर्षों तक शासन किया। वह स्वयं तो अयोग्य, आलसी और विलासी था ही, उसके मन्त्री भी वैसे ही अयोग्य निकले। दरबार के विलासी जीवन तथा युद्धों के कारण उसके शासनकाल में फ्रांस की आर्थिक स्थिति निरन्तर बिगड़ती गई, परन्तु उसे सुधारने का प्रयास नहीं किया गया।

लुई सोलहवाँ (1774-1792)—लुई सोलहवाँ फ्रांस में पुरातन व्यवस्था का अन्तिम शासक था। लुई पन्द्रहवें की मृत्यु के उपरान्त 1774 ई. में वह फ्रांस का राजा बना। उस समय उसकी आयु केवल बीस वर्ष की थी। उसे फ्रांस जैसे विशाल साम्राज्य का शासन चलाने योग्य आवश्यक शिक्षा तथा अनुभव प्राप्त नहीं हो पाया था। राजा बनते समय वह एक भला तथा सद्भावना वाला व्यक्ति था और उसकी नैतिकता तथा कर्त्तव्य-परायणता भी बढ़ी-चढ़ी थी, परन्तु उसमें इच्छा-शक्ति का अभाव था। वह व्यक्तियों को परखने की योग्यता से वंचित था। अतः वह अपने से प्रभावशाली लोगों की बातों में बहुत जल्दी आ जाता था। अपने शासन के प्रारम्भिक काल में वह बुद्धिमान राजनीतिज्ञ तूर्गो के प्रभाव में रहा, परन्तु बाद में उस पर उसकी पत्नी का प्रभाव बढ़ गया जो उसके और पुरातन व्यवस्था—दोनों के लिए प्राणघातक सिद्ध हुआ।

रानी आन्त्वानेत—लुई सोलहवें की पत्नी रानी मारी आन्त्वानेत आस्ट्रिया की राजकुमारी थी। लुई के राज्याभिषेक के समय वह केवल 19 वर्ष की थी। चूँकि यूरोप की राजनीति में आस्ट्रिया फ्रांस का शत्रु था, अतः फ्रांसीसी लोगों को शुरू से ही यह वैवाहिक सम्बन्ध पसन्द न आया और वे रानी को हमेशा घृणा की दृष्टि से देखते रहे। मारी आन्त्वानेत काफी सुन्दर और उत्साही महिला

थी और लुई के विपरीत उसमें बहुत से गुण भी विद्यमान थे। परन्तु उसमें बुद्धि का अभाव था और उसकी निर्णय-शक्ति का दायरा सीमित था। रानी बनने के बाद वह हठी होती गई। अनाप-शनाप खर्च करने लगी। उसमें घमण्ड और अहंकार की मात्रा बढ़ती गई। वह आमोद-प्रमोद की शौकीन बनकर भोग-विलास में डूबती चली गई। उसका आचरण भी ठीक न था और इसकी वजह से शीघ्र ही वह समूचे फ्रांस में आलोचना का विषय बन गई। उसके चारों ओर स्वार्थी तथा चापलूस लोगों का घेरा बना रहता था, जो उसे हमेशा गलत सलाह देने में दक्ष थे।

तूर्गो के सुधार कार्य—लुई सोलहवें ने शासक बनते ही तूर्गो को अपना वित्त-मन्त्री नियुक्त किया। तूर्गो अपने युग का प्रसिद्ध अर्थशास्त्री तथा राजनीतिज्ञ था और उसमें असाधारण साहस तथा योग्यता थी। उसने लगभग दो वर्ष तक इस पद पर रहते हुए फ्रांस की आर्थिक स्थिति को सुधारने का अथक प्रयास किया। उसने उद्योग तथा व्यापार की उन्नति के लिए इस क्षेत्र को अधिक स्वतन्त्रता तथा सुविधाएँ दिलवाने तथा कष्टप्रद करों में कमी करने का प्रयास किया। फ्रांस के दिवालियेपन को दूर करने के लिए उसने राजा के सामने दो उपाय रखे—(1) सरकारी व्यय में कमी और (2) सार्वजनिक धन की वृद्धि। सरकारी आय को बढ़ाने के लिए कृषि, उद्योग तथा व्यापार को बहुत से प्रतिबन्धों से मुक्त करना जरूरी था। तूर्गो ने बहुत से अनावश्यक खर्चे कम करके काफी धन की बचत कर ली, परन्तु इससे वे सभी लोग उसके शत्रु बन गये जो अब तक उस अनावश्यक खर्चे पर ही शान-शौकत का जीवन बिता रहे थे। इसके साथ ही तूर्गो ने खाद्य सामग्री के व्यापार पर लागू बहुत से प्रतिबन्धों को हटाकर अनाज के व्यापार में स्वतन्त्रता का सिद्धान्त लागू किया। तूर्गो ने व्यावसायिक श्रेणी का अन्त कर दिया, इससे कारीगरों तथा दस्तकारों को नये-नये उद्योग खोलने का प्रोत्साहन मिला। तूर्गो के इस कदम से सटौरिये तथा श्रेणियों के नेता उसके शत्रु बन गये। तूर्गो ने 'कोरवी' नामक कर को भी समाप्त कर दिया। इसके अन्तर्गत किसानों को बिना मजदूरी के सड़कों पर काम करना पड़ता था और किसान लोग इसे घृणा की दृष्टि से देखते थे। अब किसानों को इस कार्य के लिए पारिश्रमिक देने की व्यवस्था की गई। इस धन की पूर्ति के लिए कुलीन वर्ग तथा अन्य भूस्वामी-वर्ग पर एक-समान कर लगाये गये। अन्त में, जब 1776 ई. के मार्च मास में तूर्गो ने कई विशेषाधिकारों को समाप्त करने, राज्यों के करों में कमी करने, नमक कर हटाने, किसानों को आर्थिक सहायता उपलब्ध कराने आदि प्रस्ताव रखे तो समस्त विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग उसके विरुद्ध हो गया। उन्होंने रानी मारी को भी अपने पक्ष में कर लिया। रानी और कुलीनों ने मिलकर लुई पर दबाव डाला कि वह तूर्गो को मन्त्री-पद से हटा दे। लुई अपनी रानी के आग्रह को न टाल सका और उसे विवश होकर अपने योग्य मन्त्री को हटाना पड़ा।

नेकर का कार्यकाल—तूर्गो की पदच्युति से सुधार का मार्ग पुनः बन्द हो गया। उसके स्थान पर 'नेकर' को नियुक्त किया गया। वह एक चालाक बैंकर था और उसमें दूरदर्शिता का अभाव था। नेकर ने फ्रांस की आर्थिक स्थिति को सुधारने का तो पूरा प्रयास किया, परन्तु उसने असन्तोषजनक सामाजिक प्रश्नों को हल करने का प्रयास नहीं किया। संयोग से इसी समय अमेरिका का स्वतन्त्रता संघर्ष शुरू हो गया। नेकर ने राजा को सलाह दी कि यदि फ्रांस ने खुल्लमखुल्ला इसमें भाग लिया तो फ्रांस का दिवालियापन और भी अधिक बढ़ जायेगा। परन्तु

राजा ने उसकी बात न मानी और सरकार ने लोगों से भारी कर्जा लेकर भी अमेरिकी उपनिवेशों को सहायता पहुँचाई। नेकर ने भी तूर्गो का अनुसरण करते हुए सरकारी खर्च में कमी का प्रस्ताव रखा। इस अवसर पर उसने राज्य की आय-व्यय के आँकड़े अपनी रिपोर्ट सहित प्रकाशित करवा दिये। इससे दरबारी और कुलीन लोग उसके शत्रु बन गये। अब तक किसी भी मन्त्री ने सरकारी आय-व्यय के आँकड़ों को जनता के सामने प्रकट नहीं किया था। नेकर की रिपोर्ट में दरबारियों को मिलने वाली पेंशनों तथा भत्तों का भी उल्लेख था और यह भी कहा गया था कि इसके बदले में वे किसी प्रकार की कोई भी सेवा नहीं करते। एक बार पुनः कुलीनों ने रानी से विनय की और एक बार पुनः रानी के प्रभाव में आकर लुई को अपना वित्त-मन्त्री (नेकर) हटाना पड़ा।

केलोन के कार्य—1781 ई. में नेकर के बाद केलोन को वित्त-मन्त्री नियुक्त किया गया। वस्तुतः उसकी नियुक्ति कुलीन वर्ग की तीव्र इच्छा के कारण ही की गई थी और इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुलीनों की इच्छानुसार कार्य करने वाला दूसरा वित्त-मन्त्री और कोई नहीं हुआ। केलोन जिस वर्ष मन्त्री बना, सरकारी बजट में लगभग 16 करोड़ 20 लाख फ्रैंक का घाटा था। केलोन ने इस समस्या का समाधान कर्ज लेकर किया। इसके लिए उसने ब्याज की दर को बढ़ा दिया, जिससे आकर्षित होकर लोगों ने सरकार को कर्ज दे दिया। परन्तु कुछ वर्षों बाद कर्ज मिलना बन्द हो गया। अगस्त, 1786 ई. में सरकारी खजाना बिल्कुल खाली हो गया और कहीं से कर्ज मिलने की सम्भावना भी न दिखी। केलोन ने भी अब राजा को सलाह दी कि एक ऐसा कर लगाया जाये जिसे तीनों वर्गों के लोगों को समान रूप से चुकाना होगा। विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग को यह पसन्द न आया और वे केलोन के विरोधी हो गये। केलोन ने समझदारी से काम लिया और अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया।

इस्टेट्स जनरल की माँग—केलोन के उपरान्त लोमनी द बीने को अर्थ-मन्त्री नियुक्त किया गया। उसके प्रयत्नों के उपरान्त भी फ्रांस की आर्थिक दशा में थोड़ा बहुत सुधार भी नहीं हो पाया। अतः विवश होकर उसने राजा को नये कर लगाने का सुझाव दिया। राजा ने नये कर लगाने की स्वीकृति दे दी। लेकिन पेरिस की पार्लमां (Parlement) ने इन करों का घोर विरोध किया और इन्हें अपने रजिस्टर में दर्ज करने से इन्कार कर दिया। जब तक नये कर अथवा नियम पार्लमां के रजिस्टर में दर्ज नहीं हो पाते, तब तक उन्हें लागू नहीं किया जा सकता था। पेरिस की पार्लमां का कहना था कि करों को लगाने का अधिकार उन्हीं लोगों को है जो कि उन्हें अदा करते हैं। अतः इसके लिए इस्टेट्स-जनरल का अधिवेशन बुलाया जाना चाहिए। राजा ने पार्लमां को आतंकित करने की दृष्टि से एक बार उसे भंग कर दिया और उसके सदस्यों को बन्दी बनाने की सोचने लगा। परन्तु जनता ने पार्लमां का जोरदार समर्थन किया और सेना ने उसके सदस्यों को बन्दी बनाने से इन्कार कर दिया। विवश होकर राजा ने पुनः पेरिस की पार्लमां को बुलाया, परन्तु इस बार भी उसने नये करों को रजिस्टर में दर्ज करने से इन्कार कर दिया। प्रान्तों की विभिन्न पार्लमाओं ने भी पेरिस की पार्लमां का समर्थन करते हुए इस्टेट्स-जनरल के अधिवेशन की माँग की। समूचे फ्रांस ने इस माँग का समर्थन किया। फिर भी, लुई सोलहवें ने कुछ दिनों तक इस माँग को स्वीकार नहीं किया। उसने नेकर को पुनः अर्थ-मन्त्री नियुक्त किया। परन्तु अब काफी देर हो चुकी थी। नेकर भी समस्या को हल करने में अपने आपको असमर्थ पा रहा था। अन्त

में, राजा को जनता की माँग के सामने झुकना पड़ा। राजा का झुकना इस बात का संकेत था कि अब निरंकुश शासन का समय निकट भविष्य में ही समाप्त होने वाला है।

इस्टेट्स जनरल—इस्टेट्स जनरल (एतात जनराल) फ्रांस की एक पुरानी संस्था थी, जिसका प्रथम अधिवेशन सम्राट फिलिप-द-फेयर ने सन् 1320 में बुलवाया था, परन्तु 1614 ई. के बाद से लेकर क्रान्ति के पूर्व तक इसका एक भी अधिवेशन नहीं हुआ था। इस संस्था का मुख्य काम शासन को परामर्श देना था, न कि कानून निर्मित करना। इसमें पादरी, कुलीन और सर्वसाधारण के प्रतिनिधि लगभग बराबर संख्या में बैठते थे, किन्तु विचित्र बात यह थी कि तीनों वर्गों के प्रतिनिधि एक साथ न बैठकर, वर्गों (Estates) अथवा श्रेणियों के हिसाब से पृथक्-पृथक् बैठते थे और व्यक्तिगत रूप से मत न देकर श्रेणियों के अनुसार मत प्रदान करते थे, अर्थात् एक श्रेणी का एक ही मत माना जाता था। कुल तीन श्रेणियाँ थीं और कुल मत भी तीन ही थे। जिस किसी योजना अथवा प्रस्ताव को दो श्रेणियों की स्वीकृति मिल जाती, वह इस्टेट्स-जनरल द्वारा स्वीकृत समझा जाता था। बहुधा ऐसा होता था कि प्रथम और द्वितीय श्रेणी अपने दो मतों से तृतीय श्रेणी (साधारण श्रेणी) को परास्त कर देते थे।

लुई सोलहवें ने इस्टेट्स जनरल को बुलाना स्वीकार कर लिया, परन्तु उस समय फ्रांस में कोई जीवित व्यक्ति ऐसा नहीं था जिसे इस संस्था के संगठन, निर्वाचन तथा मताधिकार आदि के बारे में जानकारी रही हो। अतः इसके लिए एक आयोग की स्थापना की गई, जिसने पुराने सरकारी कागजातों का गहन अध्ययन करके संस्था के प्रतिनिधियों के निर्वाचन आदि के बारे में सरकार को रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस समय सम्पूर्ण फ्रांस में दो महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर चर्चा चल रही थी। एक तो यह कि क्या पहले की भाँति तीन श्रेणियों के सदस्यों की संख्या बरकरार रहेगी ? दूसरा, यह कि क्या पहले की भाँति पृथक्-पृथक् बैठकें होंगी और प्रत्येक श्रेणी का एक ही मत माना जायेगा अथवा तीनों श्रेणियों की सम्मिलित सभा होगी और व्यक्तिगत रूप से मतदान करने की व्यवस्था होगी। अर्थ-मन्त्री नेकर यह चाहता था कि किसी प्रकार पादरी और कुलीन वर्ग के लोग कर देना स्वीकार कर लें। उन्हें आतंकित करने अथवा सर्वसाधारण को सन्तुष्ट करने के उद्देश्य से उसने सम्राट को सलाह दी कि तीसरी श्रेणी के सदस्यों की संख्या दुगुनी कर दी जाय। सम्राट ने उसकी बात को मानकर तीसरी श्रेणी के प्रतिनिधियों की संख्या को दुगुना कर दिया। परन्तु एक साथ बैठने की बात भविष्य के लिए टाल दी गई और यह बात घातक सिद्ध हुई। इसी समय लुई सोलहवें ने मतदाताओं को यह भी कह दिया कि वे अपनी शिकायतों का अथवा जो सुधार चाहते हैं उसका एक लेखा तैयार करके अपने-अपने क्षेत्र से निर्वाचित प्रतिनिधि को दें। इस प्रकार से तैयार किये गये स्मृति-पत्र को फ्रांसीसी भाषा में 'काहियेर' अथवा 'कैहियर' कहा जाता है। अन्त में 5 मई, 1789 के दिन वर्साय में इस्टेट्स जनरल का अधिवेशन बुलाया जाना तय हुआ। अप्रैल मास में इस्टेट्स जनरल के प्रतिनिधियों के निर्वाचन की व्यवस्था की गई। तीनों श्रेणियों ने पृथक्-पृथक् रूप से अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन किया। तीसरी श्रेणी के प्रत्येक व्यक्ति को जिसकी आयु 25 वर्ष थी और जो प्रत्यक्ष रूप से कोई कर देता था, को मत देने का अधिकार दिया गया था।

क्रान्ति के कारण

फ्रांस की राज्य क्रान्ति किसी एक कारण से नहीं हुई थी। न तो यह सिर्फ अत्याचार के विरुद्ध हुई और न असमानता के। इसके पीछे राजनीतिक, प्रशासनिक, सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक आदि कारण थे।

राजनीतिक कारण—फ्रांस में स्वेच्छाचारी निरंकुश शासन की एक अजीव परम्परा कायम हो गई थी। लुई चौदहवाँ कहा करता था, 'मैं ही राज्य हूँ।' प्रशासन की समस्त शक्तियाँ एक ही व्यक्ति अर्थात् राजा में केन्द्रित थीं। सिद्धान्त तथा व्यवहार में उसके अधिकार असीमित थे और उस पर किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण नहीं था। राजा की इच्छा ही कानून थी। सोलहवाँ लुई तो कहा करता था, "यह चीज कानूनी है, कारण मैं ऐसा चाहता हूँ।" यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि निरंकुश शासन के लिए एक योग्य तथा शक्तिशाली शासक की आवश्यकता होती है। परन्तु संयोग की बात है कि चौदहवें लुई के दोनों उत्तराधिकारी—लुई पन्द्रहवाँ और लुई सोलहवाँ—निरंकुश शासन के लिए अनुपयोगी सिद्ध हुए। लुई सोलहवाँ जिसके समय में क्रान्ति का विस्फोट हुआ, न तो प्रभावशाली था और न एक योग्य प्रशासक। उसमें इच्छा-शक्ति और निर्णय-बुद्धि का सर्वथा अभाव था। वह अपने आमोद-प्रमोद में डूबा रहता था। वह फ्रांस की राजधानी पेरिस से बारह मील दूर वर्साय के शानदार राजमहल में निवास करता था। उसका राजमहल यूरोप के अन्य शासकों के महलों की तुलना में बहुत अधिक शानदार था। वहाँ सैकड़ों मेहमान रहते थे और हजारों की संख्या में नौकर थे। महल में आमोद-प्रमोद और रंगरेलियों की भरमार थी। राजमहल पर प्रतिवर्ष करोड़ों रुपया व्यय होता था और इस निरर्थक खर्च के कारण लोग राज दरबार को राष्ट्र के सत्यानाश की जड़ कहते थे। फ्रांस के सम्राट को अपनी जनता की कठिनाइयों का पूरा पता भी न था और न उसके पास इस तरफ ध्यान देने के लिए समय ही था। उसकी इस उदासीनता से जनता उससे रुष्ट थी। लुई पर अपनी नवयौवना पत्नी मारी आन्त्वानेत (ऑतोआंत) का बहुत प्रभाव था। रानी का आचरण अधिक अच्छा न था। उसने अपने कृपापात्रों को उच्च पदों पर नियुक्त करवाने तथा राज दरवार के खर्च को वढ़ाने में काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

फ्रांस की आन्तरिक शासन-व्यवस्था भी सुसंगठित नहीं थी। वह कई प्रकार की इकाइयों में विभाजित था, जिनमें समानता का अभाव था। कहने को सभी इकाइयाँ केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत थीं। प्रत्येक इकाई में एक सर्वोच्च अधिकारी नियुक्त किया जाता था जो केन्द्र के आदेशानुसार इकाई की शासन-व्यवस्था चलाता था। परन्तु केन्द्रीय-शासन की निर्वलता का लाभ उठाकर इन इकाइयों के अधिकारी लगभग स्वतन्त्र शासकों की भाँति शासन करने लगे थे। केन्द्रीय आदेशों का ठीक से पालन नहीं किया जाता और उनके स्वयं के आदेश भी नित्य प्रति बदलते रहते थे। जनता इस प्रकार की शासन-व्यवस्था से परेशान थी। मजे की बात यह थी कि एक इकाई के नियम दूसरी इकाई के नियमों से काफी भिन्न होते थे। सम्पूर्ण फ्रांस में एक सामान्य नियम संग्रह का अभाव था।

फ्रांस के लोगों को किसी प्रकार के राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। उन्हें भाषण, लेखन, विचार-अभिव्यक्ति अथवा प्रकाशन की स्वतन्त्रता न थी। धार्मिक स्वतन्त्रता भी न थी।

वैयक्तिक स्वतन्त्रता का भी अभाव था। शासन चाहे जिस व्यक्ति को बन्दी बना सकता था और बिना मुकदमा चलाये सजा दी जा सकती थी। लोगों को कहीं से न्याय मिलने की आशा न थी। कानून और नियम केवल विशेषाधिकार प्राप्त लोगों की सहायता के लिए थे। प्रोफेसर केटेलबी ने फ्रांस की तत्कालीन स्थिति के सन्दर्भ में लिखा है, "विशेषाधिकार, रियायत, विमुक्ति—कानून नहीं, फ्रांसीसी समाज के आधार थे। उनके शासकों की नीति किसी सिद्धान्त पर नहीं, इच्छा पर निर्भर थी। इसीलिए, कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि क्रान्तिकारियों की सबसे पहली माँग 'संविधान' के लिए थी, जिससे उनका अभिप्राय था कि देश में कुछ व्यवस्था, कुछ संगठन हो।" ऐसी स्थिति में क्रान्ति का घटित होना कोई अनहोनी बात नहीं थी।

सामाजिक कारण—फ्रांसीसी समाज में विद्यमान सामाजिक असमानता क्रान्ति का दूसरा मुख्य कारण था। समाज मुख्यतः तीन वर्गों अथवा श्रेणियों (Estates) में विभाजित था। ये वर्ग थे—पादरी अथवा धर्माधिकारी, कुलीन सामन्त, और साधारण लोग। प्रथम् दो श्रेणियों के लोगों को विशेष सुविधाएँ अथवा विशेषाधिकार प्राप्त थे और तीसरे वर्ग (सामान्य लोग) की तुलना में उनकी स्थिति बहुत ऊँची थी। तीनों वर्गों में ही असमानता न थी अपितु प्रत्येक वर्ग के भीतर भी असमानता विद्यमान थी। क्रान्ति के समय फ्रांस की कुल जनसंख्या लगभग ढाई करोड़ थी जिसमें विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग के लोगों की संख्या लगभग 2,70,000 थी, अर्थात् कुल आब[illegible] का एक प्रतिशत भाग।

(i) पादरी वर्ग—क्रान्ति के पूर्व फ्रांस में चर्च का विशेष स्थान था और इसके पदाधिकारी (पादरी लोग) समाज के सर्वोच्च शिखर पर थे। ये लोग प्रथम श्रेणी (First Estate) के सदस्य थे। चर्च के अधिकारी काफी सम्पन्न तथा शक्तिशाली थे। फ्रांस की सम्पूर्ण जागीरी भूमि की बीस प्रतिशत भूमि चर्च के अधिकार में थी जिससे चर्च को बहुत अधिक आय होती थी और यह आय सरकारी करों से मुक्त थी। इस नियमित आय के अलावा कैथोलिक चर्च किसानों से सब प्रकार की फसलों पर धर्मांश (एक प्रकार का धार्मिक-कर) भी वसूल करता था।

चर्च की आय काफी थी और वह जनहित के बहुत से काम भी करता था, परन्तु चर्च के भीतर घोर पक्षपात और अपव्ययता का बोलबाला था। चर्च का नैतिक पतन भी हो चुका था और उसकी जड़ें खोखली हो चुकी थीं। उसकी आय का अधिकांश भाग बड़े-बड़े अधिकारियों—आर्क बिशप, बिशप, एबाट आदि की जेबों में चला जाता था और उनमें से अधिकांश आमोद-प्रमोद एवं भोग-विलास का जीवन बिताते थे। अतः लोगों में उनके प्रति असन्तोष बढ़ता जा रहा था।

चर्च के धार्मिक कार्यों का सम्पादन साधारण पादरी लोग करते थे। इन लोगों की नियुक्ति तीसरे वर्ग अर्थात् साधारण लोगों में से की जाती थी। इन लोगों को अपने भरण-पोषण के लिए बहुत ही कम वेतन मिलता था। चर्च के बड़े अधिकारी इन्हें घृणा की दृष्टि से देखते थे। परन्तु साधारण पादरियों में से अधिकांश काफी पढ़े-लिखे थे और उनका झुकाव सुधारवादी आन्दोलन की तरफ था। यही कारण है कि क्रान्ति के समय उन लोगों ने सर्वसाधारण का साथ दिया।

(ii) कुलीन वर्ग—कुलीन लोग "द्वितीय श्रेणी" (Second Estate) के सदस्य थे। इस वर्ग में सामन्त, राजदरबारी तथा बड़े-बड़े पदाधिकारी सम्मिलित थे। क्रान्ति के समय इन

लोगों की संख्या लगभग चार लाख थी। इनमें से अधिकांश मध्ययुगीन सामन्तों के वंशज थे। फ्रांस की सम्पूर्ण भूमि का एक-चौथाई भाग कुलीनों की सम्पत्ति थी जिसके सहारे वे शान-शौकत तथा भोग-विलासिता का जीवन बिताते थे। अपनी सम्पन्नता तथा विशेषाधिकारों की वजह से समाज में इनकी स्थिति बहुत ऊँची थी। परन्तु इस वर्ग में भी आपसी एकता का अभाव था।

हेजन के मतानुसार सामन्तों के दो वर्ग थे—एक सैनिकों का और दूसरा न्यायाधीशों का। पहला वर्ग पुराने योद्धा सामन्तों का वंशज था और वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी फ्रांस के राजाओं की सैनिक सेवा में रहते आये थे। दूसरे वर्ग में वे लोग थे जो अपने न्यायिक पदों के कारण कुलीन वर्ग के सदस्य बन गये थे। सैनिक सामन्त भी दो श्रेणियों में विभाजित थे—एक दरबारी सामन्त और दूसरे प्रान्तीय सामन्त। यद्यपि दरबारी सैनिक सामन्तों की संख्या काफी कम थी परन्तु शान-शौकत और ऐश्वर्य प्रदर्शन में वे सबसे आगे रहते थे। वे वर्साय में ही रहते थे और उनकी जागीरों की देखभाल उनके कारिन्दे और गुमाश्ते करते थे। ये लोग मनमाने तरीके से जागीरों का प्रबन्ध चलाते थे और किसानों का हरसम्भव उपाय से शोषण करते थे। ऐसे सामन्त समाज में ईर्ष्या व तिरस्कार के पात्र बने हुए थे, क्योंकि प्रशासन के अधिकांश उच्च पदों पर भी उन्हीं का एकाधिकार था।

प्रान्तीय सामन्त अपना अधिकांश समय अपनी जागीरों में ही बिताया करते थे। उनमें से अधिकांश की आर्थिक स्थिति बिगड़ चुकी थी और कुछ तो ऐसे थे जिनकी आय सम्पन्न किसानों से अधिक न थी। फिर भी, सभी सामन्तों की रीति-नीति एक जैसी ही थी। किसानों का शोषण करना, उनसे बलात् बेगार लेना—इसकी वजह से किसानों में काफी असन्तोष व्याप्त था।

(iii) तीसरा वर्ग—उपर्युक्त दोनों वर्गों के अलावा अन्य सभी लोगों को तीसरे वर्ग (Third Estate) का सदस्य माना जाता था। इस वर्ग के लोग सभी प्रकार के अधिकारों से वंचित थे। इस वर्ग में भी भारी असमानता थी और सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से इस वर्ग के विभिन्न अंगों में व्यापक अन्तर था। धनी व्यापारी, साहूकार, उद्योगपति, साहित्यकार, चिकित्सक, इंजीनियर, शिक्षक, कलाकार, किसान और मजदूर—सभी तीसरे वर्ग के सदस्य थे। इस दृष्टि से इसमें एकरूपता का अभाव था। इस वर्ग को तीन मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है—बुर्जुआ अथवा मध्यम वर्ग, दस्तकार और मजदूर तथा किसान।

मध्यम वर्ग—फ्रेंच भाषा में इस वर्ग के लिए "बुर्जुआ" शब्द का प्रयोग किया गया है। इस वर्ग में वे सभी लोग सम्मिलित थे जिन्हें शारीरिक श्रम नहीं करना पड़ता था। लेखक, कलाकार, वकील, चिकित्सक, अध्यापक, साहित्यकार, व्यवसायी, व्यापारी, साहूकार, कारखानों के मालिक, निम्न-पदस्थ सरकारी कर्मचारी आदि मध्यम वर्ग में थे। इस वर्ग की आर्थिक दशा सन्तोषजनक थी और शासन के अधिकांश निम्न-पदों पर इन्हीं लोगों का अधिकार था। प्रथम दोनों वर्गों (पादरी एवं कुलीन) को इस वर्ग की सेवाओं की निरन्तर आवश्यकता पड़ती थी। इस सम्पर्क की वजह से इस वर्ग को थोड़ी-सी सुविधाएँ भी प्राप्त थीं।

मध्यम वर्ग मौजूदा राजनीतिक व्यवस्था में संशोधन का समर्थक था। बुद्धिमान, कर्मठ, शिक्षित और धनी होने के उपरान्त भी देश की राजनीतिक संस्थाओं पर उसका कोई प्रभाव नहीं

था। जबकि यह वर्ग देश की राजनीति पर अपना नियन्त्रण कायम करने को इच्छुक था। ऐसा पुरानी व्यवस्था को बदलने से ही सम्भव था। अतः इन दोनों वर्गों में संघर्ष एक तरह से अनिवार्य था। आर.आर. पालमर ने लिखा है कि मध्यम वर्ग के असन्तोष का सर्वाधिक मुख्य कारण यह था कि सुयोग्य एवं समृद्ध होते हुए भी उन्हें कुलीनों के समान सामाजिक सम्मान प्राप्त नहीं था और वे राजनीतिक अधिकारों से वंचित थे। यही कारण है कि क्रान्ति के समय "समानता" का नारा बुलन्द किया गया और इस नारे को बुलन्द करने वाले मध्यम श्रेणी के लोग ही थे।

शिल्पकार—बुर्जुआ वर्ग के नीचे शिल्पकार लोग थे। इन्हें दस्तकार भी कह सकते हैं। इनमें से अधिकांश नगरों में बसे हुए थे और ये लोग अपनी-अपनी श्रेणियों में संगठित थे। परन्तु सरकार की तरफ से उन्हें किसी प्रकार का प्रोत्साहन अथवा संरक्षण प्राप्त नहीं था और कुलीन वर्ग तथा पादरी वर्ग उनका निरन्तर शोषण करते रहते थे जिसकी वज़ह से वे लोग भी मौजूदा सामाजिक व्यवस्था से काफी परेशान थे।

कृषक वर्ग—फ्रांस की अधिकांश आबादी कृषक वर्ग की थी। राजपरिवार, शासन, कुलीन वर्ग और पादरी वर्ग का अधिकांश व्यय इसी वर्ग को सहन करना पड़ता था। परन्तु उन्हें दयनीय जीवन बिताना पड़ता था। उन्हें राज्य, चर्च और जागीरदार को अनेक प्रकार के कर देने पड़ते थे। करों के अलावा उन्हें अधिकारियों तथा सामन्तों की अनेक प्रकार की निःशुल्क सेवाएँ करनी पड़ती थीं। परन्तु राजनीति और शासन में उनका कोई प्रभाव नहीं था। न तो उनके पास किसी प्रकार के अधिकार थे और न ही सुविधाएँ। भूमिकर सख्ती से वसूल किया जाता था। अकाल अथवा कम पैदावार के दिनों में भी उन्हें किसी प्रकार की माफी अथवा छूट नहीं दी जाती थी। उन्हें दीन-हीन जीवन बिताना पड़ता था। न तो उन्हें भरपेट भोजन ही नसीब हो पाता था और न तन ढँकने के लिए पर्याप्त वस्त्र। आमोद-प्रमोद तथा भोग-विलास तो उनके जीवन से कोसों दूर था। इस प्रकार, करों के भारी बोझ से किसानों की कमर टूट चुकी थी। उनकी आय का लगभग 85 प्रतिशत करों के रूप में चला जाता था। अतः सुविधा-सम्पन्न वर्गों के प्रति उनके रोष की मात्रा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। यही कारण है कि जब फ्रांस में क्रान्ति हुई तो किसानों ने हृदय से उसका स्वागत किया और कुलीन वर्ग का सफाया करने में पूरा-पूरा सहयोग दिया।

आर्थिक कारण—बहुत से विद्वानों के मतानुसार फ्रांस की शोचनीय आर्थिक स्थिति क्रान्ति का मूल कारण थी। सरकार की आर्थिक स्थिति बिगड़ते-बिगड़ते दिवालियापन की तरफ बढ़ गई थी। चौदहवें लुई के युद्धों तथा वर्साय के राजमहल के निर्माण ने सरकारी कोष को खाली ही नहीं कर दिया था अपितु कर्ज का भार भी लाद दिया। पन्द्रहवें लुई की अयोग्यता से कर्ज और भी अधिक बढ़ गया। सोलहवें लुई की शान-शौकत और आमोद-प्रमोद से सरकार दिवालिया हो गई। जब कर्ज मिलना बन्द हो गया तो स्थिति को सुधारने की चिन्ता हुई। परन्तु कुलीन वर्ग के षड्यन्त्र के कारण कोई भी मन्त्री कामयाब नहीं हो पाया। अन्त में, नये कर लगाने का निश्चय किया गया। पेरिस की पार्लमां और जनता ने नये करों का जोरदार विरोध किया, उन्होंने मांग की कि पहले इन करों को इस्टेट्स जनरल से स्वीकृत कराया जाय। अतः इस्टेट्स

जनरल का अधिवेशन बुलाना आवश्यक हो गया और वहीं से क्रान्ति का विस्फोट हुआ। इस दृष्टि से फ्रांस की तत्कालीन आर्थिक स्थिति क्रान्ति का एक प्रमुख कारण बन गई।

दार्शनिकों एवं विचारकों का योगदान—क्रान्ति के पूर्व फ्रांस में कई लेखक, विचारक तथा दार्शनिक हुए जिन्होंने जनता में मौजूदा व्यवस्था के विरुद्ध क्रान्ति की भावना को जागृत करने का अथक प्रयास किया। परन्तु यह कहना कि इनके कारण क्रान्ति हुई, समुचित नहीं होगा। हाँ, इन विचारकों ने लोगों को शासन, समाज एवं अन्य क्षेत्रों में व्याप्त बुराइयों से अवगत कराया था और उनमें विद्रोह की भावना पैदा की। उन्होंने पुरातन व्यवस्था पर प्राणघातक प्रहार किया। लोगों के असन्तोष, क्षोभ, क्रोध आदि को उन्होंने शब्दों के द्वारा अद्‌भुत ढंग से प्रस्तुत किया और सुधारों के लिए जनमत तैयार किया। उन्होंने क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त किया। कुछ प्रमुख दार्शनिक, विचारक एवं लेखकों का संक्षिप्त परिचय देना उचित रहेगा।

मौन्तेस्क्यू (1685-1755 ई.)—फ्रांसीसी राजतन्त्र की आलोचना करने वाला पहला प्रमुख व्यक्ति मौन्तेस्क्यू था। वह एक उच्च कोटि का वकील और बोर्दो की संसद का न्यायाधीश था। उसने 1748 ई. में अपनी सुप्रसिद्ध रचना "कानून की आत्मा" (The Spirit of Law) का प्रकाशन करवाया। इसमें उसने फ्रांस के राजाओं के दैवी-अधिकार के सिद्धान्त की कटु आलोचना की तथा फ्रांस की सड़ी-गली खोखली संस्थाओं की बड़ी कड़ी व्यंग्यात्मक आलोचना की। वह वैधानिक शासन तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का जबरदस्त समर्थक था। उसका मानना था कि निरंकुश शासन को समाप्त करने के लिए शासन के तीनों अंगों—कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका—के क्षेत्रों को पृथक्-पृथक् करना आवश्यक है। उसने "शक्ति-पार्थक्य के सिद्धान्त" का प्रतिपादन किया और बतलाया कि ऐसा करने से तीनों शक्तियाँ एक-दूसरे के अधिकारों को सीमित रखेंगी तथा जनता के अधिकारों की रक्षा सम्भव हो सकेगी।

वाल्तेयर (1694-1788)—वाल्तेयर की गणना बौद्धिक जागृति के नेताओं में सबसे आगे होती है। वह एक महान् लेखक, कवि, दार्शनिक, नाटककार, इतिहासकार, पत्रकार, आलोचक एवं व्यंग्यकार था। अपनी आलोचना के कारण उसे बार-बार कारावास की सजा भी भुगतनी पड़ी। वाल्तेयर को हर प्रकार के अत्याचार से घृणा थी। वह मानव स्वतन्त्रता का समर्थक था। उसकी लेखनी तलवार से भी अधिक सशक्त थी। उसकी शैली जितनी स्पष्ट थी उतनी ही नुकीली और तीखी भी थी। उसने अपनी लेखनी के द्वारा उस युग के अन्याय व अत्याचार, धार्मिक पक्षपात एवं निराधार विश्वासों के विरुद्ध दीर्घकाल तक संघर्ष किया था। हेजन के शब्दों में, "वह जो कुछ भी लिखता था उसमें उसकी आत्मा का उत्साह और उमंग प्रतिबिम्बित रहती थी। कटु व्यंग्य के तीर छोड़ने में और धूल में मिला देने वाला वाक्-प्रहार करने में वह दक्ष था।" वाल्तेयर ने सबसे अधिक प्रहार चर्च पर किया। वह चर्च को "बदनाम चीज" (Pinfame) कहकर पुकारता था। उसने धर्म के सभी बाह्य-आडम्बरों का जोरदार खण्डन किया। उसकी रचना 'चौदहवें लुई का इतिहास' एक अनमोल कृति है।

रूसो (1712-1778)—इस युग के विचारकों में जीन जेकस रूसो का स्थान सर्वोपरि था। अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में रूसो ने यह विचार प्रस्तुत किया कि आदि मानव एक भला,

न्यायशील तथा सुखी प्राणी था, किन्तु सभ्यता ने उसे भ्रष्ट और पतित कर दिया है। इसलिए सभ्यता की जड़ों को उखाड़ फेंकना चाहिए और एक आदर्श समाज का निर्माण करना चाहिए। रूसो ने अपने उपर्युक्त क्रान्तिकारी विचारों का अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "सामाजिक संविदा" (Social Contract) में विस्तार से उल्लेख किया है। पुस्तक का पहला वाक्य "मनुष्य स्वतन्त्र पैदा हुआ था, किन्तु वह सर्वत्र बन्धनों में जकड़ा हुआ है।" वास्तविक सत्य को प्रतिपादित करता है। रूसो के अनुसार सभी शासन सत्ताओं की उत्पत्ति एक संविदा के द्वारा हुई है, जिसे लोगों ने प्राकृतिक दशा में रहते समये किया था और जिसे वे इच्छानुसार बदल भी सकते हैं। प्रभुत्व समस्त जनता में निवास करता है, न कि किसी व्यक्ति अथवा वर्ग में। सभी व्यक्ति स्वतन्त्र और समान हैं; सरकार का कर्त्तव्य है प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना। यदि शासन और शासित में से कोई इसके विरुद्ध कार्य करे तो दूसरे को इस बात का अधिकार होगा कि वह उसे उचित दण्ड दे। रूसो के विचारों ने यूरोप के निरंकुश राज्यों की जड़ें खोदने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। नेपोलियन ने तो यहाँ तक कहा कि यदि रूसो का जन्म न होता तो फ्रांस में राज्य क्रान्ति का होना असम्भव था।

अन्य विचारक—दिदरो, आलेंबेयर एवं केने आदि विचारकों ने भी लोगों को जागृत करने में अपना-अपना योगदान दिया। दिदरो ने एक विशाल ज्ञानकोष का सम्पादन किया जिसमें तत्कालीन युग के प्रमुख विद्वानों की रचनाएँ संकलित थीं। इसमें धर्म और राजनीति से सम्बन्धित आलोचनात्मक लेख थे जिनसे विद्रोह की गन्ध आ रही थी। राजतन्त्र की निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता, चर्च की अनैतिकता, सामन्ती व्यवस्था की अनुपयोगिता, सामाजिक असमानता, शासन की भ्रष्टता आदि पर कठोर प्रहार किये गये थे। इससे लोगों को एक नया दृष्टिकोण मिला।

कुछ ऐसे अर्थशास्त्री भी हुए जिन्होंने व्यापार तथा कला-कौशल के मार्ग में शासन की ओर से पैदा की गई रुकावटों का विरोध किया। उनका नारा था, "सबको इच्छानुसार कार्य करने दो।" और शासन को कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए। वे वाणिज्यवादी नीति के विरोधी थे। ऐसे लोगों में क्वेसने प्रमुख था। अन्य लेखकों में इतिहासकार रेनाल तथा माबली के नाम उल्लेखनीय हैं।

फ्रांस के उपर्युक्त विचारकों एवं लेखकों ने लोगों के दिमाग में बौद्धिक हलचल पैदा करके फ्रांसीसी क्रान्ति के मनोवैज्ञानिक आधार को पुष्ट कर दिया। स्वतन्त्रता, समानता, सहिष्णुता, उन्मुक्त व्यापार और जनसत्ता सम्बन्धी विचारों ने पुरातन व्यवस्था को उखाड़ने में शक्तिशाली अस्त्रों की भूमिका अदा की। उन्होंने क्रान्ति को जन्म नहीं दिया परन्तु क्रान्ति के कारणों को बड़ी चतुराई के साथ लोगों के सामने रखकर उन्हें क्रान्ति की ओर बढ़ने के लिए विवश कर दिया।

अन्य कारण—क्रान्ति के कुछ अन्य कारण भी थे। अमेरिका के स्वतन्त्रता संघर्ष में फ्रांस ने इंगलैण्ड के विरुद्ध उपनिवेशों को सहायता दी थी। इस युद्ध के परिणामस्वरूप फ्रांस के राजकोष पर भारी बोझ पड़ा और उसकी आर्थिक स्थिति बिगड़ गई। इसीलिए सरकार को इस्टेट्स जनरल का अधिवेशन बुलाना पड़ा था। दूसरी तरफ, इस संघर्ष में फ्रांस के हजारों स्वयंसेवकों और सैनिकों ने भी भाग लिया था। वापस स्वदेश आने के बाद उन लोगों ने फ्रांस के लोगों को

भी क्रान्ति के लिए उत्साहित किया। अत्याचारी शासन के विरुद्ध कैसे लड़ा जाता है, इसका अनुभव इन लोगों ने प्राप्त कर लिया था। आयरलैण्ड के लोगों ने भी निरंकुश शासन के विरुद्ध आन्दोलन करके 1779-82 की अवधि में काफी सुविधाएँ प्राप्त कर ली थीं। इस उदाहरण का फ्रांसीसियों पर काफी प्रभाव पड़ा। इंगलैण्ड में संवैधानिक शासनतन्त्र जिस सफलता के साथ काम कर रहा था, उसका भी फ्रांस की जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा। फ्रांस की सेना भी मौजूदा शासन से सन्तुष्ट न थी। सैनिकों तथा उनके अधिकारियों पर उस समय के विचारों का जोरदार प्रभाव पड़ चुका था। अतः उन्होंने भी सर्वसाधारण का साथ दिया।

इससे स्पष्ट है कि फ्रांस की राज्य क्रान्ति किसी एक कारण का परिणाम न थी। इसके पीछे सामाजिक, आर्थिक, प्रशासनिक, वौद्धिक आदि अनेक कारण थे। राज्य की विषम आर्थिक समस्या को क्रान्ति का तात्कालिक कारण कहा जा सकता है।

क्रान्ति के लिए उत्तरदायी घटनाएँ

इस्टेट्स जनरल का अधिवेशन—5 मई, 1789 ई. को इस्टेट्स जनरल का अधिवेशन शुरू हुआ। इसके सदस्यों की संख्या 1200 के आसपास थी (पादरी 308, कुलीन 285 और जनसाधारण के प्रतिनिधि 631)। पादरियों के प्रतिनिधियों में लगभग 20 साधारण पादरी थे जिनकी सहानुभूति तीसरे वर्ग (जनसाधारण) के साथ थी। इससे सर्वसाधारण के प्रतिनिधियों को जवरदस्त वल प्राप्त हुआ। सोलहवें लुई के सुझावानुसार प्रत्येक प्रतिनिधि अपने साथ शिकायतों के स्मृति-पत्र (कैहियर) लेकर आये थे। इन शिकायत-पत्रों के विश्लेषण से पता चलता है कि इस समय तक किसी के मन में क्रान्ति की कोई वात न थी। उन सवमें राजा के प्रति गहरा प्रेम भाव प्रकट किया गया था। उनकी शिकायतें मनमानी तथा अनियन्त्रित शासन-व्यवस्था से सम्बन्धित थीं। सवकी माँग थी कि एक संविधान वनाया जाय। इसके द्वारा सरकार की शक्तियों को सीमित कर दिया जाय, राजा और जनता के अधिकार निश्चित कर दिये जायँ और संविधान को सभी पर समान रूप से लागू किया जाय। स्पष्ट है कि क्रान्ति की इच्छा का कहीं कोई संकेत नहीं था।

5 मई को लुई सोलहवें ने जो उद्घाटन भाषण दिया उसमें उसने संविधान अथवा सुधारों के वारे में एक शब्द भी नहीं कहा। उसने केवल इसी वात पर जोर दिया कि देश की विषम आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए इस्टेट्स जनरल को वुलाया गया है। राजा को विश्वास था कि इस्टेट्स जनरल उसे नये करों की स्वीकृति प्रदान कर शान्तिपूर्वक अपना अधिवेशन समाप्त कर देगी। उसने यह कल्पना भी नहीं की थी कि इस्टेट्स जनरल का अधिवेशन क्रान्ति का प्रत्यक्ष कारण वन जायेगा। राजा की गलती यही थी कि उसने उन लोगों को एक साथ वैठने का अवसर प्रदान किया जो सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था को पूरी तरह से सुधारना चाहते थे। उसने विशेषाधिकार-प्राप्त पादरी और कुलीन वर्ग को विना किसी अधिकार वाले साधारण वर्ग के सामने खड़ा कर दिया। इसके अलावा अधिवेशन के समय उसके पास न तो कोई स्पष्ट योजना थी और न निर्देश देने का दृढ़ संकल्प।

इस्टेट्स जनरल तीन सदनों वाली संस्था थी। कुलीन श्रेणी का सदन, पादरियों का सदन और तीसरे वर्ग का साधारण सदन। परम्परा के अनुसार प्रत्येक सदन बहुमत से निर्णय लेता था; परन्तु पूरे सदन के निर्णय को केवल एक मत माना जाता था। किसी भी नियम या प्रस्ताव की स्वीकृति के लिए दो सदनों का बहुमत आवश्यक था। 'आबे साइस' नामक एक प्रमुख विधिवेत्ता ने अधिवेशन के पूर्व एक पुस्तिका छपवाकर इस्टेट्स जनरल के सभी सदस्यों में बाँटी। इस पुस्तक में यह सवाल उठाया गया कि तीसरा सदन क्या था ? उसने स्वयं ही पुस्तक में उत्तर भी दिया, "यह लगभग सब कुछ था और फिर भी इसका कोई महत्त्व नहीं रह गया। यह पूरे राष्ट्र का पर्याय था; फिर भी राष्ट्र की सरकार से इसे अलग रखा गया था।" आबे साइस के विचारों का सदस्यों पर जबरदस्त प्रभाव पड़ा।

मतदान सम्बन्धी विवाद—सोलहवें लुई ने अपने उद्घाटन भाषण के बाद तीनों सदनों को पृथक्-पृथक् रूप से कार्य करने का आदेश दिया। परिणामस्वरूप एक गम्भीर विवाद उठ खड़ा हुआ। प्रश्न यह था कि प्रत्येक सदन का एक वोट हो अथवा प्रत्येक सदस्य को एक-एक वोट देने का अधिकार हो। सभा में तीन सदन हों अथवा एक। कुछ पादरी और कुलीन सदस्य पुरानी व्यवस्था को कायम रखना चाहते थे जबकि तीसरा सदन उनके इस विशेषाधिकार को समाप्त करने पर अड़ा हुआ था। बिना उचित रूप से संगठित हुए इस्टेट्स जनरल कोई काम नहीं कर सकती थी और इस विवाद को सुलझाये बिना किसी प्रकार का संगठन असम्भव था। दुर्भाग्यवश, इस नाजुक स्थिति में सरकार ने कोई विस्तृत कार्यक्रम नहीं रखा। राजा ने भी अपने उत्तरदायित्व की अवहेलना की और अवसर हाथ से निकल जाने दिया। 6 मई को यह संघर्ष शुरू हुआ जो जून के अन्त तक चलता रहा। सर्वसाधारण के प्रतिनिधि इस बात का निर्णय कर चुके थे कि वे पादरी और कुलीनों के साथ बैठकर ही अधिवेशन करेंगे। केवल एक ही सदन होगा और उस सदन के प्रत्येक सदस्य को वोट देने का अधिकार होगा। पाँच सप्ताह तक उन्होंने कोई काम नहीं किया। वे पादरी और कुलीनों के प्रतिनिधियों को साथ बैठकर अधिवेशन करने के लिए बराबर आमन्त्रित करते रहे यद्यपि दूसरी तरफ से उन्हें हमेशा प्रतिकूल जवाब मिलता रहा। 28 मई को पेरिस के प्रतिनिधि भी इस्टेट्स जनरल में सम्मिलित हुए। उनमें बेली और आबे साइस सबसे प्रसिद्ध थे। उनके आगमन से सर्वसाधारण के प्रतिनिधियों का उत्साह दुगुना हो गया।

राष्ट्रीय महासभा : कार्य और उपलब्धियाँ

आबे साइस की सलाह से 13 जून को पादरियों और कुलीनों के पास अन्तिम बार निमन्त्रण भेजा गया और यह कह दिया गया कि वे न भी आयें तो काम शुरू कर दिया जायेगा। तीन पादरियों ने उनके सभा भवन में प्रवेश किया और कहा, "बुद्धिमानी की मशाल के प्रकाश में, सर्वसाधारण के कल्याण की भावना तथा अपनी अन्तर्रात्मा की आवाज के कारण, हम अपने साथी नागरिकों एवं भाइयों में सम्मिलित होने आये हैं।" उनका शानदार स्वागत किया गया। दूसरे दिन नौ अन्य पादरी प्रतिनिधि सम्मिलित हो गये। 17 जून को तीसरे सदन ने महत्त्वपूर्ण कदम उठाते हुए अपने आपको 'राष्ट्रीय महासभा' (National Assembly) घोषित कर दिया। यह स्पष्ट रूप से एक क्रान्तिकारी कदम था। 19 जून को पादरियों ने गम्भीर वाद-विवाद के

पश्चात् सर्वसाधारण के प्रतिनिधियों से मिलने तथा उनमें सम्मिलित होने का निश्चय किया। इससे राष्ट्रीय महासभा की स्थिति मजबूत हो गई। कुलीनों की सभा बिना किसी निर्णय के भंग हो गई।

टेनिस कोर्ट की शपथ—20 जून को कुलीनों एवं प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के प्रभाव में आकर लुई सोलहवें ने तीसरे वर्ग के सदन (सभा-भवन) में ताला लगवा दिया। जब तीसरे सदन (अब राष्ट्रीय असेम्बली) के सदस्य हमेशा की भाँति सभा-भवन में बैठने गये तो उन्हें द्वार पर ताला मिला और सुरक्षा के लिए पहरेदार तैनात थे। सदस्यों को कहा गया कि एक विशेष समारोह की तैयारी के लिए सभा-भवन में मरम्मत करवाना जरूरी हो गया है। सदस्यों को कहीं न कहीं अपना अधिवेशन करना जरूरी था। समीप में ही एक बहुत विशाल भवन था जो टेनिस खेलने तथा घोड़े की सवारी के लिए प्रयोग में लाया जाता था। मीराबो और आबे साइस के सुझाव पर सभी प्रतिनिधि उस भवन की तरफ गये और वहीं अपना अधिवेशन किया। वहाँ उन्होंने शपथ ली कि वे अपनी बैठकें जारी रखेंगे और एक संविधान बनाकर छोड़ेंगे। इतिहास में यह 'टेनिस कोर्ट की शपथ' के नाम से विख्यात है। कुछ विद्वान् क्रान्ति का प्रारम्भ इसी घटना से मानते हैं। क्योंकि इस्टेट्स जनरल के केवल एक सदन ने एकतरफा कार्यवाही के द्वारा अपने आपको 'राष्ट्रीय महासभा' में परिवर्तित करने के पश्चात् अब संविधान बनाने की घोषणा कर दी थी।

संयुक्त अधिवेशन—तीसरे सदन की कार्यवाहियों से चिन्तित होकर राजा ने 23 जून को तीनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाई। इस बैठक में राजा ने घोषणा की कि अभी हाल ही में तीसरे सदन ने जो कार्य किये हैं वे अवैध और असंवैधानिक हैं। उसने तीनों सदनों को पुनः पृथक्-पृथक् बैठकें करने को कहा और इसके बाद सभा-भवन से चला गया। कुलीन वर्ग के प्रतिनिधियों ने भी तुरन्त सभा कक्ष खाली कर दिया। उनके चेहरों पर विजय की मुस्कान थी। बहुत से पादरी भी उनके साथ ही चले गये। परन्तु साधारण प्रतिनिधि गुमसुम बैठे रहे। उनके लिए यह जीवन और मृत्यु का प्रश्न था। इसी समय सरकारी उत्सवों के अध्यक्ष ब्रेजे ने आकर उनसे कहा, "आप लोग राजा का आदेश सुन चुके हैं। श्रीमानजी की प्रार्थना है कि तीसरे सदन के प्रतिनिधि उठकर चले जायँ।" इस नाजुक क्षण में मीराबो ने स्थिति को सम्भाल लिया। उसने दहाड़ते हुए ब्रेजे से कहा, "जाओ और अपने स्वामी से कह दो कि हम जनता की इच्छा से यहाँ एकत्र हुए हैं और संगीनों की नोंक छोड़कर और कोई हमें यहाँ से हटाने वाला नहीं है।" राजा संगीनों का प्रयोग करने का साहस नहीं कर सका। दो दिन बाद बहुत से पादरी और कुलीन भी राष्ट्रीय महासभा में सम्मिलित हो गये। 27 जून को राजा ने तीनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन की स्वीकृति दे दी। इस प्रकार, यह जन-प्रतिनिधियों की प्रथम शानदार सफलता थी। राजा के झुक जाने से उनका उत्साह दुगुना हो गया।

संविधान सभा—तीनों सदनों के साथ बैठने से राष्ट्रीय असेम्बली को अपना वास्तविक स्वरूप प्राप्त हो गया। अब वह सही अर्थों में राष्ट्रीय सभा बन गई थी। उसने अब एक संविधान बनाने का कार्य हाथ में लिया और इस दृष्टि से एक संविधान समिति नियुक्त की गई। चूँकि राष्ट्रीय सभा संविधान बनाने का काम कर रही थी, अतः उसने अपने नाम को भी बदल दिया। अब वह 'संविधान सभा' (Constituent Assembly) के नाम से पुकारी जाने लगी।

भड़काने वाली घटनाएँ—इधर राजा पर कुलीनों और रानी का दबाव पड़ रहा था। अन्त में राजा ने असेम्बली को दबाने का प्रयास किया। विदेशों से भाड़े पर बहुत से सैनिक बुलाये गये और उन्हें पेरिस तथा वर्साय में तैनात किया गया। सीमान्त चौकियों से भी बहुत से सैनिकों को बुलाया गया। 11 जुलाई को अर्थमन्त्री नेकर और उसके सहयोगियों को बर्खास्त कर दिया गया क्योंकि वे सुधारों के पक्ष में थे। नेकर इस समय तक जनता में काफी लोकप्रिय हो चुका था। उसकी बर्खास्तगी का लोगों ने यह अर्थ लगाया कि राजा अब कोई करारी चोट करने वाला है। सारे पेरिस में उत्तेजना फैल गई। कैमाइल देसमोलाँ नामक एक नेता ने लोगों को भड़काना शुरू किया। उसका कहना था कि, 'नेकर की पदच्युति खतरे की घण्टी है। राजा ने देशभक्तों एवं क्रान्तिकारियों को कत्ल करने के लिए विदेशी सैनिकों को बुलाया है। हमें हथियार उठाने होंगे।' परिणाम यह निकला कि लोग हथियारों की खोज में निकल पड़े और 14 जुलाई को सुबह तक पेरिस की सड़कों पर हजारों लोग हथियारों के साथ घूम रहे थे। दूसरी तरफ बड़े नेताओं की देखरेख में नागरिक रक्षकों का दल बनाया गया जिसने शीघ्र ही 'राष्ट्रीय संरक्षक-दल' का रूप ले लिया। इसका मुख्य उद्देश्य लोगों के अधिकार और सम्पत्ति की सुरक्षा करना था क्योंकि इस समय हजारों बेरोजगार लोग पेरिस में घुस आये थे।

बस्तीय्य का पतन—14 जुलाई को पेरिस की उतेजित भीड़ ने 'बस्तीय्य' (बैस्टिल) नाम के प्राचीन किले पर हमला बोल दिया। पेरिस नगर के पूर्वी छोर पर स्थित इस किले का सैनिक दृष्टिकोण से कोई महत्त्व न था। किन्तु जेल के रूप में वह काफी बदनाम हो गया था और राजा की शक्ति तथा अत्याचार का प्रतीक समझा जाता था। वाल्तेयर और मीराबो जैसे प्रसिद्ध नेता भी इस जेलखाने में बन्द किये गये थे। इस पर हमला करके क्रान्तिकारी लोग राजा को जनता की शक्ति का परिचय दे देना चाहते थे। कुछ घण्टों की घमासान लड़ाई और रक्तपात के बाद भीड़ ने बस्तीय्य पर अधिकार कर लिया। राजा चाहता तो भीड़ को दबा सकता था परन्तु दया और डर के कारण वह कोई कदम नहीं उठा पाया। इस घटना का बहुत बड़ा राजनीतिक महत्त्व है। दूसरी बार जनता ने निरंकुश शासन पर विजय प्राप्त की। अब 'संविधान सभा' अपने को ज्यादा मजबूत महसूस करने लगी और क्रान्ति पर पेरिस का नियन्त्रण हो गया। 14 जुलाई को राष्ट्रीय अवकाश का दिन घोषित कर दिया गया और फ्रांस के बोर्बन राजाओं के पुराने सफेद झण्डे के स्थान पर लाल, सफेद तथा नीले रंग का एक नया तिरंगा झण्डा अपना लिया गया। तीन दिन बाद लुई सोलहवें ने राजधानी में प्रवेश किया और उसने इन सब परिवर्तनों को स्वीकार कर लिया।

बस्तीय्य के पतन से फ्रांस के विभिन्न हिस्सों में क्रान्ति की लहरें उठने लगीं। शहरों में नयी तरह की म्युनिसिपल सरकार और सुरक्षा-दल का संगठन होने लगा। देहातों में किसानों ने कानून अपने हाथ में ले लिया और सामन्तों के कागजात जला डाले और जहाँ-तहाँ मारपीट मच गई। इस तरह यद्यपि कानूनन सामन्त-प्रथा समाप्त नहीं हुई थी पर व्यवहार में इसे समाप्त कर दिया गया। जुलाई के अन्त तक क्रान्तिकारियों का विध्वंसकारी कार्य बढ़ता ही गया। कई जगह अन्न और हथियार के भण्डार लूट लिये गये अथवा नष्ट कर दिये गये।

संविधान सभा के कार्य

विशेषाधिकारों का अन्त—अगस्त के महीने में संविधान सभा ने कई महत्वपूर्ण कार्य किये। 4 अगस्त की रात को कुलीन वर्ग और पादरियों के प्रतिनिधियों ने अपने सामन्तवादी विशेषाधिकार को समाप्त कर दिया। यह काम उन्होंने स्वेच्छा से किया। गाँव के पादरियों ने अपने शुल्कों का त्याग कर दिया। न्यायाधीशों ने अपनी उपाधियाँ तथा सम्मान छोड़ दिये। शिकार तथा धर्मांश वसूल करने के अधिकार भी समाप्त हो गये। रात भर अधिवेशन चलता रहा और लगभग 30 अध्यादेश जारी किये गये, जिनके परिणामस्वरूप अचानक ही एक ऐसी सामाजिक-क्रान्ति हो गई जिसकी किसी ने कल्पना भी न की थी। सभी फ्रांसीसी नागरिकों के लिए समान रूप से राजकीय सेवाओं के द्वार उन्मुक्त कर दिये गये। वर्ग-जनित भेदभाव को हटा दिया गया।

हिंसा का नया दौर—विशेषाधिकारों के अन्त की घोषणा कर दी गई, परन्तु औपचारिक रूप से इसे कानून का रूप देने में समय की आवश्यकता थी। यह साधारण-सी बात सामान्य लोगों की समझ में न आ पाई और जब कुछ समय बीत जाने पर भी उन्हें कोई परिवर्तन नजर नहीं आया तो पुनः लड़ाई-झगड़े शुरू हो गये। लोगों को डर था कि कहीं उनका संघर्ष और बलिदान व्यर्थ न चला जाय और अब तक जो कुछ प्राप्त हुआ है उस पर पानी न फेर दिया जाय क्योंकि राजा का भाई और बहुत से कुलीन फ्रांस को छोड़कर दूसरे राज्यों में चले गये थे और वहाँ के शासकों की सहायता से क्रान्ति को कुचलने की योजना बना रहे थे। कुछ क्रान्तिकारी नेता भी अफवाहें फैलाकर अव्यवस्था बढ़ा रहे थे। लोगों की आशंका का मुख्य कारण यह था कि संविधान सभा द्वारा 4 अगस्त को पारित प्रस्तावों पर राजा ने अभी तक अपनी स्वीकृति नहीं दी थी। लोग सोच रहे थे कि कहीं राजा भी विदेशी शक्तियों के साथ मिलकर कोई षड़यंत्र तो नहीं रच रहा है।

5 अक्टूबर को वर्षा के उपरान्त भी पेरिस की 6 से 7 हजार महिलाएँ वर्साय जा पहुँचीं और "हमें रोटी दो" का नारा बुलन्द किया। 6 अक्टूबर को प्रातः भीड़ ने शाही महल के फाटक तोड़ दिये, कुछ रक्षकों को मार दिया और महल पर अधिकार जमा लिया। राजा और उसके परिवार को पेरिस आने पर मजबूर किया। अब उनका नारा था, "अब रोटी पकाने वाला (राजा), उसकी स्त्री और उसका बच्चा हमारे बीच में है, अब हमारी रोटी की समस्या हल हो जायेगी।" पेरिस में राज परिवार को 'ट्यूलरिज' के पुराने महल में रखा गया। संविधान सभा भी पेरिस में आ गई। अब राजा पेरिस की भीड़ का बन्दी बनकर रह गया, क्रान्ति का नेतृत्व उसके बूते की बात नहीं रही।

मानव अधिकारों का घोषणा-पत्र—26 अगस्त को राष्ट्रीय असेम्बली ने मनुष्य और नागरिकों के अधिकारों की घोषणा की। यह जरूरी समझा गया कि संविधान से पहले इस तरह की घोषणा हो। स्वतन्त्रता, सम्पत्ति, सुरक्षा और अत्याचार का विरोध—ये सब जनता के अधिकार घोषित किये गये। 'जनता की प्रभुसत्ता' को मान्यता दी गई। घोषणा-पत्र में कहा गया कि आदमी जन्म से ही स्वतन्त्र रहता है और अधिकारों की समानता रखता है। स्वतन्त्रता की व्यवस्था इस

तरह की गई कि एक मनुष्य की स्वतन्त्रता दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधक न बने। अब किसी भी व्यक्ति को मनमाने ढंग से गिरफ्तार नहीं किया जा सकता था। कानून के सम्मुख सबको समान कहा गया। प्रत्येक नागरिक को बोलने, लिखने और प्रकाशन की स्वतन्त्रता दी गई, बशर्ते कि वह कानून द्वारा निश्चित सीमा का उल्लंघन न करे।

इस घोषणा-पत्र में कुल 17 धाराएँ थीं, जो अठारहवीं सदी के राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व करती थीं। इन पर अमेरिकन संविधान की अधिकार सम्बन्धी धाराओं का प्रभाव था। जनता की प्रभुसत्ता को जितना महत्त्व अभी दिया गया, उतना पहले कभी नहीं दिया गया था। इस घोषणा-पत्र के द्वारा क्रान्ति का एक निश्चित ध्येय और कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। ग्राण्ट टेम्परले के शब्दों में, "यह घोषणा क्रान्ति के उज्ज्वल रूप का परिचायक है; इसके बिना यह यूरोपीय इतिहास की इतनी बड़ी घटना नहीं होती।" वस्तुतः इसमें उन सभी सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया, जिनके आधार पर राष्ट्रीय असेम्बली पूरी फ्रेंच-शासन-प्रणाली का सुधार करना चाहती थी। दूसरे, यह अधिकारों की घोषणा थी, कर्त्तव्यों की नहीं। इनमें नयी माँगों पर बल दिया गया था और एक अच्छी शासन-प्रणाली की स्थापना करने के लिए जिन राजनीतिक, संवैधानिक तथा सामाजिक अधिकारों की आवश्यकता होती है, उनका उल्लेख किया गया था। तीसरे, यह मनुष्य-मात्र के अधिकारों की घोषणा थी। दुनिया के किसी भी भाग में लोग इसे लागू कर सकते थे। फ्रांस ने अपनी इस घोषणा के द्वारा पड़ौसी निरंकुश शासकों को बहुत बड़ी चुनौती दी। पूरी उन्नीसवीं सदी में यह "उदारता का चार्टर" समझा जाता रहा।

अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य—राष्ट्रीय असेम्बली ने अन्य बहुत से महत्त्वपूर्ण कार्य किये। उसने दण्ड-विधान में संशोधन किया तथा प्रेस की स्वतन्त्रता की गारण्टी दी। क्रान्ति के शुरू में ही प्रोटेस्टेण्टों को नागरिकता का अधिकार दिया गया और 1791 ई. में यह अधिकार फ्रांस के यहूदी लोगों को भी दिया गया। धार्मिक सम्प्रदायों को सहिष्णुता की गारण्टी दी गई। परन्तु मजदूरों को हड़ताल करने का अधिकार नहीं मिल पाया। इसी प्रकार, राजनीति के क्षेत्र में स्त्रियों को कोई स्थान नहीं दिया गया। फ्रांस के सभी वयस्क लोगों को मत देने का अधिकार प्राप्त न हो सका, क्योंकि इसके लिए कर देने और सम्पत्ति के स्वामी होने की सीमित योग्यता रख दी गई थी।

नया संविधान—1791 ई. में संविधान बनकर तैयार हो गया। फ्रांस के इतिहास में यह पहला लिखित संविधान था। यह अत्यधिक मर्यादित था। इसमें दो बातों पर विशेष जोर दिया गया था—(1) लोक प्रभुत्व का सिद्धान्त, अर्थात् जनता की इच्छा और अनुमति सरकार की सभी शक्तियों का स्रोत है, और (2) कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका शक्तियों का पृथक्करण। नये संविधान में संवैधानिक राजतन्त्र की व्यवस्था की गई। इस दृष्टि से राजा की उपाधि में भी परिवर्तन किया गया। अब वह फ्रांस का राजा न कहा जाकर फ्रांसीसियों का राजा कहा जाने लगा। अब राजा को सरकारी धन को मनचाहे ढंग से खर्च करने का अधिकार नहीं दिया गया। उसका वार्षिक वेतन निश्चित कर दिया गया। मन्त्रियों की नियुक्ति का अधिकार राजा के हाथ में ही रखा गया परन्तु मन्त्रियों को व्यवस्थापिका के सामने प्रस्तुत होने की सुविधा नहीं दी गई। राजा को सीमित निषेधाधिकार भी दिया गया जिसके द्वारा वह व्यवस्थापिका द्वारा पास किये गये किसी कानून को चार वर्ष की अवधि तक लागू होने से रोक सकता था। वैदेशिक

नीति का संचालन, राजदूतों की नियुक्ति तथा विदेशी राजदूतों का स्वागत आदि कार्य भी राजा के पास ही रखे गये। परन्तु युद्ध और सन्धि के अधिकार व्यवस्थापिका के पास रखे गये।

नये संविधान के अनुसार भावी व्यवस्थापिका के सदस्यों की संख्या 745 निश्चित की गई और उनका कार्यकाल दो वर्ष की अवधि तक रखा गया। इसके बाद पुनः चुनावों की व्यवस्था की गई। नयी व्यवस्थापिका में केवल एक ही सदन रखा गया। अपने को भंग करते समय राष्ट्रीय असेम्बली (संविधान संभा) ने अपने सदस्यों के लिए एक बन्धन लगा दिया। इसके सदस्य दूसरी विधानसभा (लेजिस्लेटिव असेम्बली) के सदस्य नहीं हो सकते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह एक आदर्शवादी कदम था, किन्तु इसके कारण देश को कुछ अनुभवी संसद सदस्यों की सेवाओं से वंचित हो जाना पड़ा। लुई सोलहवें ने विवश होकर नया संविधान स्वीकार कर लिया।

चर्च सम्बन्धी कानून—राष्ट्रीय असेम्बली ने चर्च के सम्बन्ध में भी बहुत से कानून बनाये। सबसे पहिले चर्च की सम्पत्ति जब्त कर ली गई और बाद में चर्च के संगठन को ही बदलने का प्रयास किया गया। सरकार की वित्तीय स्थिति को सुधारने के लिए चर्च की जब्त सम्पत्ति को बेचने का निर्णय किया गया। इसके लिए एक आज्ञप्ति पास की गई जिसके अनुसार चर्च की भूमि को राष्ट्रीय सम्पत्ति घोषित किया गया। एक अन्य अधिनियम के द्वारा फ्रांस में विशप क्षेत्रों की संख्या को 134 से घटाकर 83 कर दिया गया। चर्च के अधिकारियों तथा कर्मचारियों के लिये अब राज्य की ओर से वेतन निश्चित कर दिये गये। अर्थात् वे भी अन्य लोगों की भाँति राज्य के कर्मचारी बन गये। पोप से नियुक्ति सम्बन्धी अधिकार छीन लिए गये। परन्तु निर्वाचित विशपों को मान्यता देने का अधिकार पोप के पास रहने दिया गया। सभा ने यह प्रस्ताव पास किया कि चर्च के सभी अधिकारियों को इस संविधान का समर्थन करने की शपथ लेनी पड़ेगी। 134 विशपों में से केवल 4 इसके लिए तैयार हुए। इससे धार्मिक कलह खड़ा हो गया। जिन पादरियों ने अब तक क्रान्ति का समर्थन किया था, वे भी अब क्रान्ति के शत्रु बन गये। लुई सोलहवें ने अत्यधिक आत्म-ग्लानि के साथ आज्ञप्ति पर हस्ताक्षर किये।

राजा का पलायन और वापसी—पेरिस की घटनाओं से राजा लुई काफी परेशान हो गया था। अतः उसने पेरिस से निकल भागने की योजना बनाई। उसका विचार पूर्वी फ्रांस में जाना था जहाँ फ्रांसीसी फौजें तैनात थीं और जिनकी राजभक्ति में विश्वास किया जा सकता था। 20 जून, 1791 की रात को लुई अपनी पत्नी तथा राजकुमार के साथ, भेष बदलकर पेरिस से भाग निकला। दूसरे दिन लगभग आधी रात के समय वे लोग अपनी बग्घी में 'वरेन' नामक गाँव में पहुँच गये जो फ्रांसीसी सीमा के निकट ही था। वहाँ पर वे लोग पहिचान लिये गये और उन्हें वापिस पेरिस लाया गया। अब राजा एक प्रकार से नजरबन्द कैदी की तरह रखा गया। लोगों को अपने राजा में विश्वास नहीं रहा। इस घटना ने क्रान्ति के प्रवाह को एकदम बदल दिया। अभी तक फ्रांस में गणतन्त्र की स्थापना कायम करने की बात किसी ने न की थी। लेकिन अब लोगों में गणतन्त्र-स्थापना की चर्चा होने लगी। इस प्रकार, फ्रांस में गणतन्त्रवाद का प्रारम्भ हुआ।

नयी विधानसभा

नये संविधान के अनुसार नये निर्वाचन हुए और 1 अक्टूबर, 1791 को नयी विधानसभा का अधिवेशन शुरू हुआ। उसका चुनाव दो वर्ष के लिए हुआ था पर उसने एक वर्ष से भी कम

काम किया। यद्यपि लुई सोलहवें के विरुद्ध लोगों का अविश्वास बढ़ रहा था फिर भी नयी विधान सभा को राजतन्त्र से मोह था। परन्तु घटनाओं ने कुछ दूसरा ही चित्र प्रस्तुत कर दिया। पादरियों ने 'व्यावहारिक संविधान' के प्रति शपथ लेने मे इन्कार कर दिया और लवां दे नामक प्रदेश में पादरियों के नेतृत्व में हजारों किसानों ने विद्रोह कर दिया। उन्होंने राष्ट्रीय रक्षकों को मार भगाया। फ्रांस में गृह-युद्ध शुरू हो गया। विधान सभा ने पादरियों के विरुद्ध एक आज्ञप्ति निकाल दी। परन्तु लुई ने संविधान द्वारा प्राप्त अपने निषेधाधिकार का प्रयोग करते हुए इस आज्ञप्ति को रद्द कर दिया। इससे लुई जनता में बदनाम हो गया।

क्रान्ति के बाद बहुत से कुलीन फ्रांस को छोड़कर भाग गये थे। बाद की घटनाओं से परेशान होकर कुलीनों के साथ-साथ पादरी भी भागने लगे। इन सभी को 'भगोड़ा' कहा जाने लगा। भगोड़ों ने फ्रांस की पूर्वी सीमा के उस पार लगभग 20 हजार लोगों की सेना तैयार कर ली। इतना ही नहीं, उन्होंने आस्ट्रिया और प्रशिया के शासकों की सहानुभूति एवं समर्थन भी प्राप्त कर लिया। इस पर विधानसभा ने भगोड़ों के विरुद्ध एक आज्ञप्ति जारी कर दी और इसमें यह कहा गया कि वे लोग वापस लौट आयें और सेनाएँ भंग कर दें। अन्यथा उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति जब्त कर ली जायेगी और उनके विरुद्ध शत्रुओं जैसा व्यवहार किया जायेगा। लुई ने इस प्रकार की आज्ञप्ति को भी रद्द कर दिया। राजा के इस क़दम ने क्रान्तिकारियों को और अधिक भड़का दिया।

जैकोबिन क्लब—इस समय फ्रांस की घरेलू राजनीति में कुछ नये तत्त्व उठ खड़े हुए। कुछ राजनैतिक गोष्ठियाँ उठ खड़ी हुईं और वे विधानसभा तक से प्रतिस्पर्द्धा करने लगीं। इनमें जैकोबिन और कार्देलिये क्लब अधिक विख्यात थे। जैकोबिन क्लब में विधानसभा के अनेक सदस्य तथा पेरिस के नागरिक सम्मिलित थे। इस क्लब की बैठकें नियमित रूप से होती थीं और उसमें बड़े जोशीले भाषण दिये जाते थे। रोबस्पियर इस क्लब का प्रसिद्ध नेता था। फ्रांस के लगभग दो हजार नगरों एवं गाँवों में इस क्लब की शाखाएँ फैली हुई थीं और सभी शाखाएँ पेरिस के केन्द्रीय क्लब के आदेशों का पालन करती थीं। विधानसभा पर इस क्लब का भारी प्रभाव कायम हो गया था।

कार्देलिये क्लब—यह क्लब जैकोबिन क्लब से भी अधिक उग्र और जनवादी था। इसके सदस्य समाज की निम्न श्रेणियों के सदस्य थे। यह क्लब गणतन्त्रीय विचारों का केन्द्र बन गया था। इसकी शक्ति का आधार पेरिस का मजदूर वर्ग था और यह पेरिस तक ही सीमित था। इस क्लब का प्रसिद्ध नेता दांतो नामक वकील था। यह क्लब भी विधानसभा पर अपना दबाव डालने के लिए नाना प्रकार के हथकण्डों का सहारा लेता था।

जिरोंदीस्त (जिरोण्डिन) —विधानसभा के एक गुट का नाम जिरोंदीस्त के नाम से प्रसिद्ध हो गया था। उसके सदस्य फ्रांस के दक्षिण-पश्चिम भाग जिसे 'जिरोण्ड' कहा जाता था, से आये थे। वे वामपक्षी थे और बड़े ही दृढ़ निश्चय तथा साहस वाले थे। वे अधिकतर युवक थे और उनकी नेता मादाम रोलां एक रोमांटिक स्वभाव की युवती थी। जिरोंदीस्त पक्के गणतन्त्रवादी थे और उन्होंने पूरे यूरोप में गणतन्त्रीय सिद्धान्त को फैलाया। उन्होंने लोगों को भड़काया, उनका

उत्साह बढ़ाया और एक भयंकर युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार की जिसके भयंकर परिणाम निकले। फ्रांस की तत्कालीन राजनीति में जैकोबिन और जिरोंदीस्त एक-दूसरे के कट्टर प्रतिस्पर्द्धी और शत्रु थे।

युद्ध का प्रारम्भ—20 अप्रैल, 1792 को फ्रांस ने आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। इस युद्ध की लपेट में धीरे-धीरे समूचा यूरोप आ गया और यह लगभग 23 वर्ष तक चलता रहा। इसका अन्त वाटरलू के मैदान में हुआ। युद्ध का कारण था—फ्रांस के भगोड़े जिन्हें आस्ट्रिया ने संरक्षण दे रखा था। युद्ध के प्रारम्भ में फ्रांस को भारी क्षति उठानी पड़ी और पराजय का सामना करना पड़ा। इसी समय विधानसभा ने दो आज्ञप्तियाँ जारी कीं। एक विद्रोही पादरियों को सजा देने के सम्बन्ध में थी और दूसरी पेरिस की रक्षा के लिए 20,000 सैनिकों की व्यवस्था करने के सम्बन्ध में थी। लुई ने दोनों को रद्द कर दिया। पेरिस की जनता उत्तेजित हो उठी और 20 जून, 1792 को उसने राजमहल पर धावा बोल दिया और राजा को आज्ञप्तियों पर हस्ताक्षर करने को कहा। परन्तु पहली बार लुई ने दृढ़ता का परिचय दिया और हस्ताक्षर करने से मना कर दिया। भीड़ राजा को अपमानित करके वापिस लौट गई। घटना-चक्र तेजी से घूम रहा था। प्रशिया भी आस्ट्रिया के साथ फ्रांस के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित हो गया और प्रशियन सेना फ्रांस की सीमाओं में काफी दूर तक घुस आई। प्रशियन सेनापति ब्रुंशविक ने एक घोषणा प्रकाशित की जिसमें फ्रांसीसी जनता को आदेश दिया गया कि वह राजा को स्वतन्त्र कर दे। राजपरिवार के साथ किसी प्रकार अभद्र व्यवहार न करे और यदि ऐसा न किया गया तो पेरिस नगर को धूल में मिला दिया जायेगा। इस घोषणा से पेरिस की जनता पुनः भड़क उठी और 10 अगस्त, 1792 को पहले से भी अधिक भयंकर विद्रोह हुआ। भीड़ ने राजमहल पर धावा बोल दिया। राजपरिवार तो किसी प्रकार बच गया परन्तु 800 स्विस रक्षक मारे गये। भीड़ में से लगभग 5,000 व्यक्ति मारे गये।

कम्यून का शासन—10 अगस्त के विद्रोह तथा मारकाट के लिए पेरिस की क्रान्तिकारी समिति उत्तरदायी थी जिसमें जैकोबिन लोगों की प्रधानता थी। वे किसी भी उपाय से राजा को हटाना चाहते थे। उनके प्रभाव में आकर विधान सभा ने राजा का पद अस्थायी रूप से स्थगित कर दिया। परन्तु राजतन्त्र को समाप्त करने के लिए नये संविधान की आवश्यकता थी, क्योंकि मौजूदा संविधान राजतन्त्रीय था। अतः संविधान पर विचार करने के लिए एक सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया। सम्मेलन के चुनाव के लिए सम्पत्ति पर आधारित मताधिकार नियम को हटाकर सार्वभौम मताधिकार की घोषणा की गई। इसके साथ ही विधानसभा भंग हो गई। सम्मेलन के अधिवेशन के शुरू होने तक की बीच की अवधि के लिए एक अस्थायी कार्यपालिका समिति गठित की गई जिसका अध्यक्ष 'दांतो' को बनाया गया परन्तु इस समिति पर क्रान्तिकारी कम्यून का जबरदस्त प्रभाव था। अतः इस अल्पकाल को कम्यून का शासन कहा जाता है।

कम्यून ने विधानसभा के प्रस्तावों की अवहेलना करते हुए राजा और रानी को टेम्पिल नामक पुराने किले में बन्दी बनाकर रखा। राजा के अनेक समर्थकों को जेलों में ठूँस दिया गया। कम्यून ने प्रेस की स्वतन्त्रता को भी समाप्त कर दिया। सितम्बर मास में कम्यून ने भयंकर हत्याकाण्ड का संगठन किया। तमाम व्यक्तियों को जिन पर शत्रु को सहायता पहुँचाने का जरा

भी सन्देह हुआ, मौत के घाट उतार दिया गया। 2 सितम्बर से 6 सितम्बर के मध्य लगभग 1200 लोगों को मौत के घाट उतार दिया गया। ऐसे ही वातावरण में सम्मेलन (कन्वेन्शन) का चुनाव हुआ।

कन्वेन्शन

कन्वेन्शन अथवा सम्मेलन तीसरी क्रान्तिकारी सभा थी, जिसने 20 सितम्बर, 1792 से 26 अक्टूबर, 1795 तक शासन चलाया। उसने अपने शासनकाल में देश में एक गणराज्य स्थापित किया। एक स्थायी सरकार का संगठन किया और देश को छिन्न-भिन्न होने से बचाया और देश की स्वतन्त्रता की रक्षा की। परन्तु उसके शासनकाल में अत्याचार और निर्दयता का ऐसा अमानवीय दौर भी चला जिससे गणतन्त्र की सफलताओं पर काला धब्बा लग गया।

गणराज्य की घोषणा—21 सितम्बर, 1792 को बिना किसी धूमधाम के कन्वेन्शन ने एक प्रस्ताव पास करके फ्रांस के राजतन्त्र की समाप्ति और गणराज्य की स्थापना की घोषणा कर दी। तुरन्त ही संविधान बनाने के लिए समिति गठित कर दी गई। परन्तु जिरोंदीस्त और जैकोबिन दलों के आपसी संघर्ष के कारण लम्बे समय तक समिति अपना कार्य भी शुरू न कर पाई। देश की भावी सरकार में पेरिस का क्या स्थान होगा ? इसी प्रश्न पर मतभेद उठ खड़ा हुआ था। जिरोंदीस्त फ्रांस के 83 जिलों के प्रतिनिधि थे। अतः वे पेरिस को उसी अनुपात में हिस्सादेना चाहते थे जबकि जैकोबिन जिनकी शक्ति का मूल स्रोत पेरिस ही था, भावी व्यवस्था में पेरिस का वर्चस्व कायम करना चाहते थे। इसके अलावा एक व्यक्तिगत कारण भी था। जिरोंदीस्तों को जैकोबिन के तीन प्रमुख नेताओं—रोबस्पियर, मारा और दांतो से सख्त घृणा थी। जैकोबिन नेताओं को जिरोंदीस्तों से घृणा थी। झगड़े का मूल कारण लुई सोलहवें के भावी भविष्य को लेकर शुरू हुआ और दोनों दलों में प्राणघातक संघर्ष शुरू हो गया।

राजा का वध—जैकोबिन दल लुई सोलहवें को क्रान्ति का सबसे बड़ा शत्रु मानता था और उसने माँग की कि राजा को तुरन्त बिना अभियोग चलाये ही मृत्युदण्ड दे दिया जाय। किन्तु अन्य लोगों ने इसका विरोध किया। अन्त में उस पर मुकदमा चलाया गया और कन्वेन्शन ने राजा के विरुद्ध प्रस्ताव पारित कर दिया। इसके बाद राजा को मृत्युदण्ड दिया जाय या नहीं, इस पर मतदान हुआ। कुल 721 सदस्यों ने मतदान में भाग लिया। 387 ने मृत्युदण्ड के पक्ष में और 334 ने विरोध में मतदान किया। 21 जनवरी, 1793 को लुई सोलहवें को सूली पर चढ़ा दिया गया। राजा के वध के परिणाम बुरे निकले। क्रान्ति की क्रूरता ने इंगलैण्ड, रूस, स्पेन, हालैण्ड और जर्मनी के राज्यों तथा इटली को फ्रांस का शत्रु बना दिया और ये सभी देश फ्रांस के विरुद्ध चल रहे युद्ध में आस्ट्रिया और प्रशिया के साथ हो गये। इस प्रकार, क्रान्तिकारी फ्रांस के विरुद्ध प्रथम यूरोपीय गुट अस्तित्व में आ गया। फ्रांस में भी गृह-युद्ध की ज्वाला धधक उठी। बाँदे के एक लाख किसानों ने गणतन्त्र के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा फहरा दिया।

जिरोंदीस्त दल का सफाया—जिरोंदीस्त दल सितम्बर हत्याकाण्ड के लिए उत्तरदायी लोगों को सजा दिलवाना चाहता था। सितम्बर हत्याकाण्ड के लिए जैकोबिन नेता 'मारा' को उत्तरदायी ठहराया गया। जिरोंदीस्त ने कन्वेन्शन में प्रस्ताव पास करके 'मारा' को क्रान्तिकारी

अधिकरण के सामने भिजवा दिया परन्तु अधिकरण ने 'मारा' को मुक्त कर दिया। अब पेरिस की कम्यून ने जिरोंदीस्तों के विरुद्ध कार्यवाही की। उसकी विशाल भीड़ ने कन्वेन्शन भवन को घेर लिया और कन्वेन्शन भवन से माँग की कि जिरोंदीस्त नेताओं को निकाल दिया जाय। असहाय और विवश कन्वेन्शन को तीस जिरोंदीस्त नेताओं की गिरफ्तारी का प्रस्ताव पास करना पड़ा। परिणाम यह निकला कि फ्रांस के जिलों के लोगों ने सरकार के विरुद्ध हथियार उठा लिये। इस प्रकार, गृह-युद्ध का कार्यक्षेत्र व्यापक हो गया।

1793 का संविधान—गृह-युद्ध से कन्वेन्शन परेशानी में पड़ गया। उस पर पेरिस की कम्यून का प्रभाव कायम हो चुका था परन्तु फ्रांस के प्रान्तों को (जो उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए थे) यह दिखलाने के लिए कि उस पर कम्यून का कोई प्रभाव नहीं है, उसने जल्दी से एक नया संविधान बना डाला जो 1793 के संविधान के नाम से प्रसिद्ध हुआ। नये संविधान में प्रान्तों के अधिकारों तथा जनता के अधिकारों को सुरक्षित रखने की ऐसी व्यवस्था की गई जिससे भविष्य में पेरिस के लिए अपना वर्चस्व कायम करना असम्भव हो गया। नये संविधान में सार्वभौम मताधिकार की व्यवस्था की गई तथा शासन के विकेन्द्रीकरण को और अधिक बढ़ा दिया गया। व्यवस्थापिका की अवधि केवल एक वर्ष रखी गई और व्यवस्थापिका द्वारा पारित प्रत्येक कानून को जनमत के सामने रखने और जनमत की स्वीकृति के बाद लागू करने का प्रावधान रखा गया। इस संविधान से प्रान्तों का अविश्वास दूर हो गया और फ्रांस भयंकर गृह-युद्ध से बच गया।

अस्थायी सरकार की स्थापना—देश को विपत्तियों से मुक्त कराने के लिए कन्वेन्शन की देखरेख में एक अस्थायी सरकार की स्थापना की गई जो इतनी निरंकुश और अत्याचारी सिद्ध हुई कि बोर्बो राजाओं की सरकार भी उसके सामने कुछ न थी। अस्थायी सरकार में दो महत्त्वपूर्ण समितियाँ थीं। एक जनरक्षा समिति और दूसरी सामान्य सुरक्षा समिति। जनरक्षा समिति को प्रारम्भ में केवल वैदेशिक मामलों और सेना का प्रबन्ध सौंपा गया था परन्तु धीरे-धीरे वह शासन का सर्वोच्च शक्तिशाली अंग बन गई और इतने अधिक अत्याचार किये कि गिनती करना असम्भव है। परन्तु उसने फ्रांस की सेनाओं का पुनर्गठन किया और फ्रांसीसी सेनाएँ शत्रुओं को रोकने में कामयाब रहीं।

जनरक्षा समिति और सामान्य सुरक्षा समिति ने मिलकर फ्रांस के नगरों—लियोंस तथा बाँदे के विद्रोहों का क्रूरता के साथ दमन किया। पेरिस के दो सार्वजनिक चौकों में 'गिलोटीन' खड़े किये गये और वहाँ प्रतिदिन अनेकों लोगों का वध किया जाता रहा। 31 अक्टूबर, 1793 को इक्कीस जिरोंदीस्त नेताओं को भी गिलोटीन पर चढ़ाया गया। मदाम रोलां भी उनमें से एक थीं। इससे कुछ दिनों पहिले, 16 अक्टूबर को रानी को सूली पर चढ़ाया गया था।

आतंक का राज्य

कन्वेन्शन के शासन की शुरूआत के साथ ही राजधानी पेरिस और प्रान्तीय राजधानियों में प्रतिदिन लोगों को सूली पर चढ़ाया जाता रहा। उन लोगों में अधिकांश ऐसे थे जिन्होंने क्रान्ति का नेतृत्व किया था अथवा क्रान्ति को सफल बनाने में प्राणों की बाजी लगा दी थी। फिर भी, उस युग के लिए 'आतंक' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता था क्योंकि वह सब कुछ गणतन्त्र के

शत्रुओं को दण्ड देने के नाम पर हुआ था। आतंक का राज्य तो अब शुरू होने वाला था। इसमें व्यक्तिगत और राजनीतिक लाभ के लिए अपने ही साथियों को मौत के घाट उतारा गया।

10 अगस्त, 1792 के बाद में व्यावहारिक दृष्टि से फ्रांस में दो सरकारें थीं—एक, कम्यून अथवा पेरिस की सरकार और दूसरी कन्वेन्शन अथवा फ्रांस की सरकार। अब तक दोनों ने मिलकर काम किया था परन्तु अब दोनों में बिगाड़ उत्पन्न हो गया। कम्यून के नेता थे—हर्बर्ट और शोमेते। ये दोनों ही अत्यधिक उग्रवादी, बर्बर तथा अधार्मिक थे। एक तरह से पेरिस के वास्तविक शासक थे। उनके नेतृत्व में कम्यून ने कन्वेन्शन को विवश किया कि वह फ्रांस को ईसाइयत के प्रभाव से मुक्त करने का प्रयत्न करे और विवश कन्वेन्शन ने इसके लिए काफी प्रयास भी किया। अब ईश्वर के स्थान पर बुद्धि की पूजा की जाने लगी। कन्वेन्शन और जनरक्षा समिति ने अपनी इच्छा के विरुद्ध यह सब कुछ स्वीकार कर लिया परन्तु रोबसपियर इससे सन्तुष्ट न था।

रोबसपियर—रोबसपियर जनरक्षा समिति का सर्वाधिक प्रभावशाली सदस्य था। वह हर्बर्ट और दांतो दोनों गुटों का सफाया करना चाहता था। पहले हर्बर्ट और उसके साथियों पर धर्म-विरोधी कार्यों का आरोप लगाकर उन्हें बन्दी बना लिया गया और 24 मार्च, 1794 को उन सभी को गिलोटीन पर चढ़ा दिया गया। इसके बाद दांतो और उनके साथियों को मौत की सजा दी गई क्योंकि वे लोग अब रक्तपात को बन्द करके उदार नीति का प्रतिपादन करने लगे थे। हर्बर्ट और दांतो की मृत्यु के बाद रोबसपियर का जैकोबिन दल, कम्यून और जनरक्षा समिति पर एकाधिकार कायम हो गया। 5 अप्रैल, 1794 से लेकर 27 जुलाई तक अर्थात् लगभग 100 दिन तक रोबसपियर ने वास्तविक अधिनायक की भाँति शासन किया। वह एक निपुण ढोंगी था। एक प्रान्तीय वकील के रूप में उसने जीवन आरम्भ किया था। फिर उसने जैकोबिन दल में अपना प्रभाव बढ़ाया। वह अवसरवादी था और ठीक अवसर पर अपने शत्रुओं पर वार करता था।

पूर्ण सत्ता हाथ में आते ही रोबसपियर ने उन सभी लोगों को गिलोटिन पर चढ़ाना शुरू कर दिया जो उसके लिए अवांछनीय तथा खतरनाक थे अथवा हो सकते थे। इसके लिए उसने जूरी के सदस्य भी बदल दिये ताकि जूरी हत्याओं के सिलसिले में बाधक सिद्ध न हों। उसके अल्प शासनकाल में लगभग 1,400 व्यक्तियों को प्राण-दण्ड दिया गया। परन्तु यही बात उसके पतन का कारण बनी। कन्वेन्शन तथा जनरक्षा समिति के सदस्यों को भी अपने प्राणों का भय सताने लगा और उन लोगों ने महा आतंक के नेता रोबसपियर का अन्त करने का निश्चय कर लिया। 27 जुलाई, 1794 को उसे बन्दी बना लिया गया। कम्यून की भीड़ उसे कारागार से छुड़ाकर ले गई परन्तु रात्रि में सेना ने घमासान लड़ाई के बाद उसे और उसके साथियों को बन्दी बना लिया और कन्वेन्शन के आदेश से उसी रात्रि में उन सभी को गिलोटीन पर चढ़ा दिया गया। इस प्रकार, फ्रांस में आतंक के राज्य का अन्त हुआ।

1795 का संविधान—1795 ई. में कन्वेन्शन ने फ्रांस के लिए एक नया संविधान तैयार किया। इसका निर्माण भी लोकतन्त्र के सिद्धान्तों पर किया गया था। इसमें मानव अधिकारों के साथ-साथ मनुष्य के कर्त्तव्य पर भी प्रकाश डाला गया जो एक बिल्कुल नई बात थी। शासन का सर्वोच्च अधिकार एक 'डाइरेक्टरी' (संचालक-मण्डल) को सौंपा गया जिसमें पाँच सदस्यों की

अधिकरण के सामने भिजवा दिया परन्तु अधिकरण ने 'मारा' को मुक्त कर दिया। अब पेरिस की कम्यून ने जिरोंदीस्तों के विरुद्ध कार्यवाही की। उसकी विशाल भीड़ ने कन्वेन्शन भवन को घेर लिया और कन्वेन्शन भवन से माँग की कि जिरोंदीस्त नेताओं को निकाल दिया जाय। असहाय और विवश कन्वेन्शन को तीस जिरोंदीस्त नेताओं की गिरफ्तारी का प्रस्ताव पास करना पड़ा। परिणाम यह निकला कि फ्रांस के जिलों के लोगों ने सरकार के विरुद्ध हथियार उठा लिये। इस प्रकार, गृह-युद्ध का कार्यक्षेत्र व्यापक हो गया।

1793 का संविधान—गृह-युद्ध से कन्वेन्शन परेशानी में पड़ गया। उस पर पेरिस की कम्यून का प्रभाव कायम हो चुका था परन्तु फ्रांस के प्रान्तों को (जो उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए थे) यह दिखलाने के लिए कि उस पर कम्यून का कोई प्रभाव नहीं है, उसने जल्दी से एक नया संविधान बना डाला जो 1793 के संविधान के नाम से प्रसिद्ध हुआ। नये संविधान में प्रान्तों के अधिकारों तथा जनता के अधिकारों को सुरक्षित रखने की ऐसी व्यवस्था की गई जिससे भविष्य में पेरिस के लिए अपना वर्चस्व कायम करना असम्भव हो गया। नये संविधान में सार्वभौम मताधिकार की व्यवस्था की गई तथा शासन के विकेन्द्रीकरण को और अधिक बढ़ा दिया गया। व्यवस्थापिका की अवधि केवल एक वर्ष रखी गई और व्यवस्थापिका द्वारा पारित प्रत्येक कानून को जनमत के सामने रखने और जनमत की स्वीकृति के बाद लागू करने का प्रावधान रखा गया। इस संविधान से प्रान्तों का अविश्वास दूर हो गया और फ्रांस भयंकर गृह-युद्ध से बच गया।

अस्थायी सरकार की स्थापना—देश को विपत्तियों से मुक्त कराने के लिए कन्वेन्शन की देखरेख में एक अस्थायी सरकार की स्थापना की गई जो इतनी निरंकुश और अत्याचारी सिद्ध हुई कि बोर्बो राजाओं की सरकार भी उसके सामने कुछ न थी। अस्थायी सरकार में दो महत्त्वपूर्ण समितियाँ थीं। एक जनरक्षा समिति और दूसरी सामान्य सुरक्षा समिति। जनरक्षा समिति को प्रारम्भ में केवल वैदेशिक मामलों और सेना का प्रबन्ध सौंपा गया था परन्तु धीरे-धीरे वह शासन का सर्वोच्च शक्तिशाली अंग बन गई और इतने अधिक अत्याचार किये कि गिनती करना असम्भव है। परन्तु उसने फ्रांस की सेनाओं का पुनर्गठन किया और फ्रांसीसी सेनाएँ शत्रुओं को रोकने में कामयाब रहीं।

जनरक्षा समिति और सामान्य सुरक्षा समिति ने मिलकर फ्रांस के नगरों—लियोंस तथा बाँदे के विद्रोहों का क्रूरता के साथ दमन किया। पेरिस के दो सार्वजनिक चौकों में 'गिलोटीन' खड़े किये गये और वहाँ प्रतिदिन अनेकों लोगों का वध किया जाता रहा। 31 अक्टूबर, 1793 को इक्कीस जिरोंदीस्त नेताओं को भी गिलोटीन पर चढ़ाया गया। मदाम रोलां भी उनमें से एक थीं। इससे कुछ दिनों पहिले, 16 अक्टूबर को रानी को सूली पर चढ़ाया गया था।

आतंक का राज्य

कन्वेन्शन के शासन की शुरूआत के साथ ही राजधानी पेरिस और प्रान्तीय राजधानियों में प्रतिदिन लोगों को सूली पर चढ़ाया जाता रहा। उन लोगों में अधिकांश ऐसे थे जिन्होंने क्रान्ति का नेतृत्व किया था अथवा क्रान्ति को सफल बनाने में प्राणों की बाजी लगा दी थी। फिर भी, उस युग के लिए 'आतंक' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता था क्योंकि वह सब कुछ गणतन्त्र के

शत्रुओं को दण्ड देने के नाम पर हुआ था। आतंक का राज्य तो अब शुरू होने वाला था। इसमें व्यक्तिगत और राजनीतिक लाभ के लिए अपने ही साथियों को मौत के घाट उतारा गया।

10 अगस्त, 1792 के बाद में व्यावहारिक दृष्टि से फ्रांस में दो सरकारें थीं—एक, कम्यून अथवा पेरिस की सरकार और दूसरी कन्वेन्शन अथवा फ्रांस की सरकार। अब तक दोनों ने मिलकर काम किया था परन्तु अब दोनों में बिगाड़ उत्पन्न हो गया। कम्यून के नेता थे—हर्बर्ट और शोमेते। ये दोनों ही अत्यधिक उग्रवादी, बर्बर तथा अधार्मिक थे। एक तरह से पेरिस के वास्तविक शासक थे। उनके नेतृत्व में कम्यून ने कन्वेन्शन को विवश किया कि वह फ्रांस को ईसाइयत के प्रभाव से मुक्त करने का प्रयत्न करे और विवश कन्वेन्शन ने इसके लिए काफी प्रयास भी किया। अब ईश्वर के स्थान पर बुद्धि की पूजा की जाने लगी। कन्वेन्शन और जनरक्षा समिति ने अपनी इच्छा के विरुद्ध यह सब कुछ स्वीकार कर लिया परन्तु रोबसपियर इससे सन्तुष्ट न था।

रोबसपियर—रोबसपियर जनरक्षा समिति का सर्वाधिक प्रभावशाली सदस्य था। वह हर्बर्ट और दांतो दोनों गुटों का सफाया करना चाहता था। पहले हर्बर्ट और उसके साथियों पर धर्म-विरोधी कार्यों का आरोप लगाकर उन्हें बन्दी बना लिया गया और 24 मार्च, 1794 को उन सभी को गिलोटीन पर चढ़ा दिया गया। इसके बाद दांतो और उनके साथियों को मौत की सजा दी गई क्योंकि वे लोग अब रक्तपात को बन्द करके उदार नीति का प्रतिपादन करने लगे थे। हर्बर्ट और दांतो की मृत्यु के बाद रोबसपियर का जैकोबिन दल, कम्यून और जनरक्षा समिति पर एकाधिकार कायम हो गया। 5 अप्रैल, 1794 से लेकर 27 जुलाई तक अर्थात् लगभग 100 दिन तक रोबसपियर ने वास्तविक अधिनायक की भाँति शासन किया। वह एक निपुण ढोंगी था। एक प्रान्तीय वकील के रूप में उसने जीवन आरम्भ किया था। फिर उसने जैकोबिन दल में अपना प्रभाव बढ़ाया। वह अवसरवादी था और ठीक अवसर पर अपने शत्रुओं पर वार करता था।

पूर्ण सत्ता हाथ में आते ही रोबसपियर ने उन सभी लोगों को गिलोटिन पर चढ़ाना शुरू कर दिया जो उसके लिए अवांछनीय तथा खतरनाक थे अथवा हो सकते थे। इसके लिए उसने जूरी के सदस्य भी बदल दिये ताकि जूरी हत्याओं के सिलसिले में बाधक सिद्ध न हों। उसके अल्प शासनकाल में लगभग 1,400 व्यक्तियों को प्राण-दण्ड दिया गया। परन्तु यही बात उसके पतन का कारण बनी। कन्वेन्शन तथा जनरक्षा समिति के सदस्यों को भी अपने प्राणों का भय सताने लगा और उन लोगों ने महा आतंक के नेता रोबसपियर का अन्त करने का निश्चय कर लिया। 27 जुलाई, 1794 को उसे बन्दी बना लिया गया। कम्यून की भीड़ उसे कारागार से छुड़ाकर ले गई परन्तु रात्रि में सेना ने घमासान लड़ाई के बाद उसे और उसके साथियों को बन्दी बना लिया और कन्वेन्शन के आदेश से उसी रात्रि में उन सभी को गिलोटीन पर चढ़ा दिया गया। इस प्रकार, फ्रांस में आतंक के राज्य का अन्त हुआ।

1795 का संविधान—1795 ई. में कन्वेन्शन ने फ्रांस के लिए एक नया संविधान तैयार किया। इसका निर्माण भी लोकतन्त्र के सिद्धान्तों पर किया गया था। इसमें मानव अधिकारों के साथ-साथ मनुष्य के कर्त्तव्य पर भी प्रकाश डाला गया जो एक बिल्कुल नई बात थी। शासन का सर्वोच्च अधिकार एक 'डाइरेक्टरी' (संचालक-मण्डल) को सौंपा गया जिसमें पाँच सदस्यों की

अधिकरण के सामने भिजवा दिया परन्तु अधिकरण ने 'मारा' को मुक्त कर दिया। अब पेरिस की कम्यून ने जिरोंदीस्तों के विरुद्ध कार्यवाही की। उसकी विशाल भीड़ ने कन्वेन्शन भवन को घेर लिया और कन्वेन्शन भवन से माँग की कि जिरोंदीस्त नेताओं को निकाल दिया जाय। असहाय और विवश कन्वेन्शन को तीस जिरोंदीस्त नेताओं की गिरफ्तारी का प्रस्ताव पास करना पड़ा। परिणाम यह निकला कि फ्रांस के जिलों के लोगों ने सरकार के विरुद्ध हथियार उठा लिये। इस प्रकार, गृह-युद्ध का कार्यक्षेत्र व्यापक हो गया।

1793 का संविधान—गृह-युद्ध से कन्वेन्शन परेशानी में पड़ गया। उस पर पेरिस की कम्यून का प्रभाव कायम हो चुका था परन्तु फ्रांस के प्रान्तों को (जो उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए थे) यह दिखलाने के लिए कि उस पर कम्यून का कोई प्रभाव नहीं है, उसने जल्दी से एक नया संविधान बना डाला जो 1793 के संविधान के नाम से प्रसिद्ध हुआ। नये संविधान में प्रान्तों के अधिकारों तथा जनता के अधिकारों को सुरक्षित रखने की ऐसी व्यवस्था की गई जिससे भविष्य में पेरिस के लिए अपना वर्चस्व कायम करना असम्भव हो गया। नये संविधान में सार्वभौम मताधिकार की व्यवस्था की गई तथा शासन के विकेन्द्रीकरण को और अधिक बढ़ा दिया गया। व्यवस्थापिका की अवधि केवल एक वर्ष रखी गई और व्यवस्थापिका द्वारा पारित प्रत्येक कानून को जनमत के सामने रखने और जनमत की स्वीकृति के बाद लागू करने का प्रावधान रखा गया। इस संविधान से प्रान्तों का अविश्वास दूर हो गया और फ्रांस भयंकर गृह-युद्ध से बच गया।

अस्थायी सरकार की स्थापना—देश को विपत्तियों से मुक्त कराने के लिए कन्वेन्शन की देखरेख में एक अस्थायी सरकार की स्थापना की गई जो इतनी निरंकुश और अत्याचारी सिद्ध हुई कि बोबों राजाओं की सरकार भी उसके सामने कुछ न थी। अस्थायी सरकार में दो महत्त्वपूर्ण समितियाँ थीं। एक जनरक्षा समिति और दूसरी सामान्य सुरक्षा समिति। जनरक्षा समिति को प्रारम्भ में केवल वैदेशिक मामलों और सेना का प्रबन्ध सौंपा गया था परन्तु धीरे-धीरे वह शासन का सर्वोच्च शक्तिशाली अंग बन गई और इतने अधिक अत्याचार किये कि गिनती करना असम्भव है। परन्तु उसने फ्रांस की सेनाओं का पुनर्गठन किया और फ्रांसीसी सेनाएँ शत्रुओं को रोकने में कामयाब रहीं।

जनरक्षा समिति और सामान्य सुरक्षा समिति ने मिलकर फ्रांस के नगरों—लियोंस तथा बाँदे के विद्रोहों का क्रूरता के साथ दमन किया। पेरिस के दो सार्वजनिक चौकों में 'गिलोटीन' खड़े किये गये और वहाँ प्रतिदिन अनेकों लोगों का वध किया जाता रहा। 31 अक्टूबर, 1793 को इक्कीस जिरोंदीस्त नेताओं को भी गिलोटीन पर चढ़ाया गया। मदाम रोलां भी उनमें से एक थीं। इससे कुछ दिनों पहिले, 16 अक्टूबर को रानी को सूली पर चढ़ाया गया था।

आतंक का राज्य

कन्वेन्शन के शासन की शुरूआत के साथ ही राजधानी पेरिस और प्रान्तीय राजधानियों में प्रतिदिन लोगों को सूली पर चढ़ाया जाता रहा। उन लोगों में अधिकांश ऐसे थे जिन्होंने क्रान्ति का नेतृत्व किया था अथवा क्रान्ति को सफल बनाने में प्राणों की बाजी लगा दी थी। फिर भी, उस युग के लिए 'आतंक' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता था क्योंकि वह सब कुछ गणतन्त्र के

शत्रुओं को दण्ड देने के नाम पर हुआ था। आतंक का राज्य तो अब शुरू होने वाला था। इसमें व्यक्तिगत और राजनीतिक लाभ के लिए अपने ही साथियों को मौत के घाट उतारा गया।

10 अगस्त, 1792 के बाद में व्यावहारिक दृष्टि से फ्रांस में दो सरकारें थीं—एक, कम्यून अथवा पेरिस की सरकार और दूसरी कन्वेन्शन अथवा फ्रांस की सरकार। अब तक दोनों ने मिलकर काम किया था परन्तु अब दोनों में बिगाड़ उत्पन्न हो गया। कम्यून के नेता थे—हर्बर्ट और शोमेते। ये दोनों ही अत्यधिक उग्रवादी, बर्बर तथा अधार्मिक थे। एक तरह से पेरिस के वास्तविक शासक थे। उनके नेतृत्व में कम्यून ने कन्वेन्शन को विवश किया कि वह फ्रांस को ईसाइयत के प्रभाव से मुक्त करने का प्रयत्न करे और विवश कन्वेन्शन ने इसके लिए काफी प्रयास भी किया। अब ईश्वर के स्थान पर बुद्धि की पूजा की जाने लगी। कन्वेन्शन और जनरक्षा समिति ने अपनी इच्छा के विरुद्ध यह सब कुछ स्वीकार कर लिया परन्तु रोबसपियर इससे सन्तुष्ट न था।

रोबसपियर—रोबसपियर जनरक्षा समिति का सर्वाधिक प्रभावशाली सदस्य था। वह हर्बर्ट और दांतो दोनों गुटों का सफाया करना चाहता था। पहले हर्बर्ट और उसके साथियों पर धर्म-विरोधी कार्यों का आरोप लगाकर उन्हें बन्दी बना लिया गया और 24 मार्च, 1794 को उन सभी को गिलोटीन पर चढ़ा दिया गया। इसके बाद दांतो और उनके साथियों को मौत की सजा दी गई क्योंकि वे लोग अब रक्तपात को बन्द करके उदार नीति का प्रतिपादन करने लगे थे। हर्बर्ट और दांतो की मृत्यु के बाद रोबसपियर का जैकोबिन दल, कम्यून और जनरक्षा समिति पर एकाधिकार कायम हो गया। 5 अप्रैल, 1794 से लेकर 27 जुलाई तक अर्थात् लगभग 100 दिन तक रोबसपियर ने वास्तविक अधिनायक की भाँति शासन किया। वह एक निपुण ढोंगी था। एक प्रान्तीय वकील के रूप में उसने जीवन आरम्भ किया था। फिर उसने जैकोबिन दल में अपना प्रभाव बढ़ाया। वह अवसरवादी था और ठीक अवसर पर अपने शत्रुओं पर वार करता था।

पूर्ण सत्ता हाथ में आते ही रोबसपियर ने उन सभी लोगों को गिलोटिन पर चढ़ाना शुरू कर दिया जो उसके लिए अवांछनीय तथा खतरनाक थे अथवा हो सकते थे। इसके लिए उसने जूरी के सदस्य भी बदल दिये ताकि ज़ूरी हत्याओं के सिलसिले में बाधक सिद्ध न हों। उसके अल्प शासनकाल में लगभग 1,400 व्यक्तियों को प्राण-दण्ड दिया गया। परन्तु यही बात उसके पतन का कारण बनी। कन्वेन्शन तथा जनरक्षा समिति के सदस्यों को भी अपने प्राणों का भय सताने लगा और उन लोगों ने महा आतंक के नेता रोबसपियर का अन्त करने का निश्चय कर लिया। 27 जुलाई, 1794 को उसे बन्दी बना लिया गया। कम्यून की भीड़ उसे कारागार से छुड़ाकर ले गई परन्तु रात्रि में सेना ने घमासान लड़ाई के बाद उसे और उसके साथियों को बन्दी बना लिया और कन्वेन्शन के आदेश से उसी रात्रि में उन सभी को गिलोटीन पर चढ़ा दिया गया। इस प्रकार, फ्रांस में आतंक के राज्य का अन्त हुआ।

1795 का संविधान—1795 ई. में कन्वेन्शन ने फ्रांस के लिए एक नया संविधान तैयार किया। इसका निर्माण भी लोकतन्त्र के सिद्धान्तों पर किया गया था। इसमें मानव अधिकारों के साथ-साथ मनुष्य के कर्त्तव्य पर भी प्रकाश डाला गया जो एक बिल्कुल नई बात थी। शासन का सर्वोच्च अधिकार एक 'डाइरेक्टरी' (संचालक-मण्डल) को सौंपा गया जिसमें पाँच सदस्यों की

व्यवस्था थी। ये लोग पाँच वर्ष तक अपने पद पर सुरक्षित रह सकते थे, किन्तु प्रतिवर्ष उनमें से एक का हट जाना आवश्यक था। उसका निर्वाचन विधान मण्डल की ओर से होता था। कानून बनाने के लिए पहली बार एक की जगह दो सभायें रखी गईं। प्रथम में 500 सदस्य थे और द्वितीय में 250 सदस्य। प्रथम को कानूनों का प्रस्ताव रखने तथा पारित करने का और दूसरी को इन प्रस्तावों को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने का अधिकार दिया गया। अस्वीकृति का अधिकार केवल एक वर्ष की अवधि तक ही था। यह विधान नवम्बर, 1799 तक चला। 26 अक्टूबर, 1795 को कन्वेन्शन ने अपने को भंग कर दिया।

डाइरेक्टरी का शासन

डाइरेक्टरी अथवा संचालक-मण्डल ने 27 अक्टूबर, 1795 से 19 नवम्बर, 1799 तक शासन किया। कार्यपालिका के समस्त अधिकार पाँच व्यक्तियों के इसी संचालक-मण्डल में निहित थे। प्रारम्भ से ही इसकी असफलता के आसार दिखलाई देने लगे थे। संचालकों में 'कारनट' को छोड़कर सभी कम बुद्धि वाले बदनाम और स्वार्थी राजनीतिज्ञ थे। इसे जनता का समर्थन भी प्राप्त न था। यह प्रान्तीय दंगों को रोकने में असमर्थ रही। राजा के पक्ष में बढ़ते हुए समर्थन को भी न रोक सकी और न ईसाई पूजा पद्धति को रोक पाई। उसका शासन भ्रष्ट और कमजोर था और उसे अपने अस्तित्व के लिए सेना पर निर्भर रहना पड़ता था।

डाइरेक्टरी के शासन काल में जैकोबिन-क्लब को पूर्णतया बन्द कर दिया गया और 'कम्यून' तथा 'क्रान्तिकारी परिषद्' को समाप्त कर दिया गया। उसके समय विद्रोहों का ताँता लग गया, क्योंकि 1795 ई. में भीषण सर्दी पड़ी, व्यापार चौपट हो गया और सामाजिक कष्ट काफी बढ़ गया। अप्रैल, मई और अक्टूबर में भीषण विद्रोह हुए। अन्त में 'नेशनल गार्ड' और फिर जनरल बर्रास की फौज की मदद ली गई। बर्रास का सहायक युवक नेपोलियन बोनापार्ट था, जिसे पुरस्कार के रूप में देश की सेना का कमान मिला।

1795 के अक्टूबर में संचालक-मण्डल के विरोध में 'पैन्थियन' नामक एक सोसायटी का गठन हुआ। क्योंकि लोगों को स्पष्ट हो गया कि संचालक-मण्डल केवल धनी लोगों के अधिकारों की चिन्ता में लगा हुआ है। पैन्थियन सोसायटी के बहुत से सदस्य पुराने जैकोबिन थे। सोसाइटी की बैठकें 'टार्च' के प्रकाश में होती थीं और इसके विचारों का प्रकाशन 'ट्रिब्यून' नामक पत्रिका के माध्यम से किया जाता था। संचालक-मण्डल ने इस पर जोरदार प्रहार किया। फरवरी, 1796 में नेपोलियन बोनापार्ट को इस सोसायटी को समाप्त करने का काम सौंपा गया। उग्रवादियों ने शीघ्र ही एक गुप्त समिति कायम कर ली। इस समिति ने समानता के आदर्श के लिए जोरदार संघर्ष किया।

वैदेशिक मामलों और युद्ध संचालन में डाइरेक्टरी का शासन भाग्यशाली रहा। 1795 ई. के प्रारम्भ में ही स्पेन, प्रशा और हालैण्ड ने फ्रांस से सन्धि कर ली। बाद में पुर्तगाल, सैक्सनी और हेसेस नामक जर्मन राज्य और इटली के नेपल्स, पारमा और पोप के राज्यों ने भी सन्धि कर ली। अब स्थल पर केवल आस्ट्रिया और जल पर इंगलैण्ड ही फ्रांस के विरुद्ध संघर्षरत थे। नेपोलियन बोनापार्ट ने आश्चर्यजनक ढंग से आस्ट्रिया को पराजित करके सन्धि करने के लिए

विवश कर दिया। परन्तु इंगलैण्ड के विरुद्ध उसे भी सफलता न मिली। हाँ, उसे डाइरेक्टरी के शासन का अन्त करने और फ्रांस की शासन सत्ता अपने हाथ में लेने में अवश्य सफलता मिली। इसी के साथ क्रान्ति का मुख्य भाग समाप्त हो जाता है।

क्रान्ति का यूरोप पर प्रभाव

यूरोप के इतिहास में ही नहीं अपितु सारे संसार के इतिहास में इस क्रान्ति का एक विशिष्ट स्थान है। इस क्रान्ति ने सही अर्थों में मध्ययुगीन व्यवस्था का अन्त करके आधुनिक युग का सूत्रपात किया। इतिहासकार हेजन के शब्दों में, "फ्रांस की क्रान्ति ने राज्य के सम्बन्ध में एक नई धारणा को जन्म दिया, राजनीति तथा समाज के विषय में नए सिद्धान्त प्रतिपादित किए, जीवन का एक नया दृष्टिकोण सामने रखा और एक नई आशा तथा विश्वास उत्पन्न किया। इन चीजों से बहुसंख्यक जनता की कल्पना और विचार प्रज्ज्वलित हुए, उनमें एक अद्वितीय उत्साह का संचार हुआ तथा असीम आशाओं ने उन्हें अनुप्राणित किया।" इतिहासकार डेविस का मत है कि 1917 की रूसी क्रान्ति के पूर्व और कुछ अंशों में उसके बाद भी इस क्रान्ति ने संसार की अधिकांश महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं को प्रभावित किया है। क्रान्ति के प्रमुख परिणाम निम्नलिखित रहे—

(1) सामन्ती व्यवस्था का अन्त—मध्यकालीन समाज की सामन्ती व्यवस्था का अन्त करना फ्रांसीसी क्रान्ति की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है। सदियों तक करोड़ों व्यक्ति इस व्यवस्था के अन्तर्गत पिसते रहे। आर्थिक शोषण तो इस व्यवस्था की चारित्रिक विशेपता थी ही, लेकिन इसकी सबसे बड़ी बुराई यह थी कि इसके अन्तर्गत सामान्य व्यक्ति का कुछ भी महत्त्व न था। फ्रांस की क्रान्ति ने इस अपमानजनक व्यवस्था का अन्त कर दिया। उसने समानता के सिद्धान्त का गतिपादन करके सामान्य व्यक्तियों को उनके उपयुक्त स्थान पर प्रतिष्ठित किया। फ्रांस की क्रान्ति का आगे चलकर दूसरे देशों के लोगों पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि यूरोप के अन्य देशों में भी धीरे-धीरे सामन्ती व्यवस्था का अन्त हो गया।

(2) धर्म-निरपेक्ष राज्य का उदय—धर्म के क्षेत्र में उदारता और वाद में सहिष्णुता लाना इस क्रान्ति की एक अन्य महत्त्वपूर्ण देन है। क्रान्ति के फलस्वरूप यूरोपीय देशों में धार्मिक सहिष्णुता का प्रादुर्भाव हुआ और लोगों को धार्मिक उपासना की स्वतन्त्रता मिली। मध्यकालीन शासकों का हमेशा यही प्रयास रहता था कि उनके राज्य के सभी निवासी केवल उसी धर्म को मानें जिसमें स्वयं राजा विश्वास करता हो। अन्य धर्मावलम्बियों को कठोर से कठोर दण्ड दिये जाते थे। क्रान्ति ने धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करके मानवता की वहुत बड़ी सेवा की है।

(3) राष्ट्रीयता का विकास—फ्रांस की क्रान्ति ने एक ऐसी प्रगतिशील राष्ट्रीयता को जन्म दिया जिससे आधुनिक संसार आज भी अत्यधिक प्रभावित है। नागरिकों के हृदय में अपने देश की सुरक्षा के लिए राष्ट्रीयता की यह भावना केवल फ्रांस तक ही सीमित नहीं रही। जैसे-जैसे क्रान्ति का विस्तार होता गया, वैसे-वैसे यूरोप के अन्य देश भी इस भावना से प्रभावित और प्रेरित होने लगे। संसार के सभी पददलित और परतन्त्र लोगों में इस भावना का प्रसार हुआ और प्रत्येक देश में अपने राष्ट्र को स्वतन्त्र तथा उन्नत बनाने के लिए आन्दोलन उठ खड़े हुए।

(4) राजनीतिक देन—क्रान्ति ने राजाओं के 'दैवी सिद्धान्त' का अन्त कर लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। शासन की बागडोर केवल एक व्यक्ति के हाथ में न रहकर तथा सम्प्रभुता केवल राजा में ही केन्द्रित न होकर, राज्य की जनता के हाथ में हो, यह इस क्रान्ति ने प्रमाणित कर दिखाया। अब सर्वसाधारण प्रत्यक्ष रूप से देश की राजनीति में हिस्सा बँटाने लगा। इससे जनता में आत्मविश्वास की एक नयी भावना का संचार हुआ। राजनैतिक दलों का बड़े पैमाने पर उदय एवं विकास हुआ।

(5) व्यक्ति की महत्ता—मानव अधिकारों की घोषणा और स्वतन्त्रता एवं समानता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके फ्रांस की क्रान्ति ने व्यक्ति की महत्ता एवं गरिमा को स्वीकार किया। क्रान्ति के पूर्व साधारण व्यक्ति का कुछ भी महत्त्व नहीं था। समाज में केवल विशेषाधिकार-सम्पन्न लोगों का ही प्रभाव था। अब सर्वोच्च सत्ता जनता में निवास करने लगी। जनता के विचारों की अभिव्यक्ति ही शासन के स्वरूप का आधार बन गई। इस प्रकार, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का सिद्धान्त क्रान्ति की अमूल्य देन बन गया।

(6) समाजवाद का प्रारम्भ—फ्रांस की क्रान्ति ने समाजवादी व्यवस्था का मार्ग भी प्रशस्त किया। इसने अमीरों और निर्धनों को न्याय के सन्मुख समानता प्रदान की। सभी के लिए समान कानूनों की व्यवस्था की। यह ठीक है कि क्रान्ति ने श्रमिकों की स्थिति को सुधारने तथा पूँजीपतियों का सफाया करने में अधिक सक्रिय कदम नहीं उठाए, परन्तु सामन्त-प्रथा का अन्त, विशेषाधिकारों की समाप्ति तथा चर्च की शक्ति को समाप्त करके उसने समाजवादी व्यवस्था की पृष्ठभूमि अवश्य तैयार कर दी।

(7) स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व—फ्रांस की क्रान्ति ने मानव जाति को स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व का नारा प्रदान किया। स्वतन्त्रता मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार मान लिया गया। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टि से प्रत्येक नागरिक को पूर्ण स्वतन्त्रता का अधिकार दिया गया। इसी प्रकार, भाषण, लेखन, प्रेस तथा जान-माल की सुरक्षा आदि के अधिकार दिये गये। जीवन के सभी दृष्टिकोणों से मानव को समानता के समान अधिकार दिये गये। न्याय के सम्मुख समानता एवं सार्वजनिक पदों को योग्य व्यक्तियों के लिए खोलना समानता का ज्वलन्त उदाहरण है। परस्पर प्रेम, सहयोग एवं सहानुभूति ही बन्धुत्व है और इसी का विकास क्रान्ति का मुख्य ध्येय रहा था। इन्हीं के आधार पर आने वाले संसार में लोकतन्त्र की नींव मजबूत हो पायी।

प्रश्न

1. क्रान्ति के पूर्व फ्रांस की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का विश्लेषण कीजिये।
2. फ्रांस की क्रान्ति के लिए उत्तरदायी कारणों का उल्लेख कीजिये।
3. फ्रांस की क्रान्ति के परिणामों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये।
4. "फ्रांस की क्रान्ति ने समूचे संसार को प्रभावित किया।" इस कथन की पुष्टि कीजिये तथा विश्व इतिहास में इसका स्थान निर्धारित कीजिये।
5. फ्रांस की क्रान्ति के कारणों एवं परिणामों का संक्षेप में उल्लेख कीजिये।

अध्याय-9

नेपोलियन बोनापार्ट का उदय
(Rise of Napoleon Bonaparte)

प्रारम्भिक जीवन—इतिहासकार हेज के शब्दों में, "1799 से 1814 तक का यूरोपीय इतिहास फ्रांस का इतिहास है और इस काल का फ्रांसीसी इतिहास नेपोलियन बोनापार्ट की जीवनी है।" नेपोलियन का जन्म 15 अगस्त, 1769 को कोर्सिका द्वीप के एक निर्धन वकील कार्लो बोनापार्ट के घर में हुआ था। उसकी माता लेटीजिया बहुत ही सुन्दर और कठिन परिश्रम करने वाली महिला थी। नेपोलियन के चार भाई तथा तीन बहिनें थीं। दस वर्ष की आयु में नेपोलियन को विद्याध्ययन के लिए फ्रांस भेज दिया गया। वहाँ शुरू में उसने शैम्पेन क्षेत्र के ब्रिएन के सैनिक स्कूल में शिक्षा प्राप्त की। 1784 ई. अक्टूबर में वह पेरिस के सैनिक स्कूल में गया। अगले साल वह सेना में लेफ्टिनेंट बना दिया गया और उसे वेलेन्स शहर में नियुक्त किया गया। सन् 1786 के सितम्बर से 1788 ई. के जून तक वह कोर्सिका में छुट्टी पर रहा। इसके बाद वह 1789 के सितम्बर तक अपनी सैनिक टुकड़ी के साथ औक्सोन नगर में रहा। इसके बाद 1791 ई. के फरवरी तक वह पुनः अपनी मातृभूमि कोर्सिका में रहा। कोर्सिका में रहते हुए उसने स्थानीय दलगत राजनीति में सक्रिय भाग लिया। वह क्रान्ति-समर्थक एक दल का नेता बन बैठा। 1791 की फरवरी से जून तक वह पुनः औक्सोन में और कुछ दिन वेलेन्स में रहा। 1792 ई. में वह पुनः कोर्सिका चला गया।

1793 ई. की 16 सितम्बर को उसने 'तूलों के घेरे' के समय सेना की एक टुकड़ी का नेतृत्व किया। इन दिनों तूलों नगर में प्रतिक्रियावादी उपद्रव उठ खड़े हुए थे। राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन भी इसी नगर में हो रहा था। उत्तेजित भीड़ ने महासभा के सभास्थल को घेर लिया। तब नेपोलियन ने अपनी योग्यता व दिलेरी से उत्तेजित भीड़ को नियन्त्रित करके महासभा के सदस्यों को मृत्यु के मुख से बचाया। इससे रोबसपियर उससे काफी प्रसन्न हुआ। 1794 ई. के अप्रैल में वह 'आर्टिलरी का जनरल' (प्रधान तोपची) नियुक्त हुआ। रोबसपियर के पतन के बाद उसे गिरफ्तार कर लिया गया, लेकिन 20 अगस्त को उसे छोड़ दिया गया और पुनः पुराने पद पर नियुक्त कर दिया गया। 1795 ई. के मई मास में उसे 'व्रेण्डी के अभियान' पर जाने का आदेश मिला, लेकिन वह नहीं गया और पेरिस में ही जमा रहा। इस वर्ष कन्वेन्शन के भंग हो जाने के बाद जिन पाँच सदस्यों का संचालक-मण्डल (डाइरेक्टरी) बना था, उनसे नेपोलियन ने

अच्छी मित्रता कर ली। इसी वर्ष 5 अक्टूबर को राजतन्त्र के समर्थकों का विद्रोह उठ खड़ा हुआ। इस विद्रोह को दवाने में नेपोलियन ने सेनापति 'वरास' को महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया। पेरिस के इस विद्रोह को दवाने में नेपोलियन ने अपनी असली योग्यता का परिचय दिया। परिणामस्वरूप उसे आन्तरिक सेना का कमान (General of the Interior) मिला। सेनापति वरास के माध्यम से उसे 'जोसेफाइन वौहारनैंस' जैसी पत्नी भी मिल गई। नेपोलियन की उन्नति में उसकी पत्नी का बहुत वड़ा हाथ था। वह एक प्रभावशाली महिला थी और सरकारी पदों पर काम करने वाले बहुत से लोग उसके मित्र तथा शुभचिन्तक थे। नेपोलियन की योग्यता से प्रभावित होकर युद्ध-मन्त्री कार्नो ने उसे इटली अभियान का प्रधान सेनापति नियुक्त किया।

इटली अभियान—इस समय फ्रांस की स्थिति काफी सुधर गई थी। हालैण्ड को जीतकर फ्रांस ने वहाँ एक पिछलग्गू गणतन्त्र स्थापित कर दिया था। बेल्जियम तथा राइन नदी के किनारे के सभी जर्मन राज्यों को भी फ्रांस ने जीत लिया था। प्रशा, स्पेन और टस्कनी युद्ध से हट गये थे। अब केवल इंगलैण्ड और आस्ट्रिया ने ही क्रान्तिकारी फ्रांस के विरुद्ध युद्ध जारी रखा था। इटली के वहुत से क्षेत्र आस्ट्रिया के अधिकार में थे। इटली का पोप भी क्रान्ति का जबरदस्त शत्रु था और उसी के इशारे पर फ्रांस में कई धार्मिक उपद्रव भड़के थे। अतः फ्रांस के लिए इटली पर आक्रमण करना स्वाभाविक ही था।

बोनापार्ट का इटली अभियान सैनिक विशेषज्ञों की दृष्टि में युद्ध कला का अपने ढँग का एक अनूठा उदाहरण है और श्रेष्ठतम कोटि के रणकौशल का परिचायक है। नेपोलियन को सार्डिनिया और आस्ट्रिया की संयुक्त सेनाओं का मुकाबला करना पड़ा जिनकी संख्या उसके सैनिकों से लगभग दुगुनी थी। नेपोलियन के पास जो सैनिक थे उनके पास ठीक पोशाक भी न थी। अधिकारियों तक के पास जूते न थे। इसलिए नेपोलियन ने शत्रु सेनाओं को आपस में मिलने का अवसर न देकर उन्हें पृथक्-पृथक् करके परास्त करने का निश्चय किया। सर्वप्रथम उसने डीगों के स्थान पर आस्ट्रिया की सेना को परास्त करके उसे पूर्व की तरफ खदेड़ दिया। यहाँ से वह पश्चिम की तरफ मुड़ा और अचानक सार्डिनिया की सेना पर टूट पड़ा और मोल्डवी नामक स्थान पर उसे पराजित किया। इससे सार्डिनिया की राजधानी टूरिन को जाने वाले मार्ग पर नेपोलियन का अधिकार हो गया। भयभीत सार्डिनिया ने सन्धि करना ही उचित समझा। सन्धि के अनुसार सार्डिनिया ने सेवाय और नीस के प्रदेश फ्रांस को देना स्वीकार कर लिया। इसके वाद नेपोलियन ने अपना सारा ध्यान आस्ट्रियन सेना पर केन्द्रित कर दिया। सबसे पहले उसने आस्ट्रिया के इटालियन राज्य लोम्वार्डी को जीता। इस समय तक आस्ट्रिया की सेना आहदा नदी के उस पार चली गई थी। शत्रु सेना तक पहुँचने के लिए लोदी के पुल को पार करना जरूरी था। इस लम्वे पुल के दूसरे किनारे पर आस्ट्रिया का तोपखाना था। नेपोलियन ने भयंकर गोलावारी के उपरान्त भी पुल को पार करके शत्रु सेना को परास्त कर दिया। वास्तव में लोदी के पुल का युद्ध उसकी शूरवीरता का एक ज्वलन्त उदाहरण था। उस दिन से नेपोलियन अपने सैनिकों का आराध्य देव बन गया। इस युद्ध के फलस्वरूप मिलान प्रदेश पर उसका अधिकार हो गया। दूसरी तरफ, इस युद्ध में पराजित होने के बाद आस्ट्रिया की सेना ने मान्टुआ दुर्ग में आश्रय लिया। सामरिक दृष्टि से इसका वड़ा भारी महत्त्व था। नेपोलियन ने दुर्ग का घेरा डाल

दिया। आठ महीने से भी अधिक घेरा चलता रहा और इस बीच आस्ट्रिया ने घेरा तोड़ने के लिए चार बार सेनाएँ भेजीं परन्तु सभी अवसरों पर उन्हें परास्त होकर वापस लौटना पड़ा। 13-14 जनवरी, 1797 को रिवोली का प्रसिद्ध युद्ध लड़ा गया जिसमें आस्ट्रिया की सेना परास्त हुई और मान्टुआ ने आत्म-समर्पण कर दिया। इसके बाद नेपोलियन आस्ट्रिया की सेना को खदेड़ता हुआ लियोबेन नगर तक जा पहुँचा। यह नगर आस्ट्रिया की राजधानी वियना से केवल 100 मील की दूरी पर था। अतः आस्ट्रिया को सन्धि के लिए विवश होना पड़ा। 18 अप्रैल, 1797 को लियोबेन की विराम-सन्धि हो गई।

इस अभियान के समय नेपोलियन ने डाइरेक्टरी से पूछे बिना ही लड़ाई की, सन्धि की और राज्यों का निर्माण किया। एनकोना में पोप की सेना को हराने के बाद उसने पोप से धन वसूल किया, लूट का माल ले लिया और कुछ भूमि भी हथिया ली। लोम्बार्डी राज्य को 'सिसलपाइन' और जेनोआ को 'लाइगूरियन' गणतन्त्र में बदल दिया गया और दोनों को फ्रांसीसी ढँग के संविधान दे दिये गये। पेरिस के आदेश की अवहेलना करते हुए उसने 'नियपोलिटन अभियान' में भाग नहीं लिया।

17 अक्टूबर, 1797 को आस्ट्रिया ने कैम्पोफोर्मियो की सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। यह सन्धि नेपोलियन के इटालियन अभियान का चरमोत्कर्ष था। यह फ्रांसीसियों की बहुत बड़ी विजय थी। यूरोप की सबसे प्रतिक्रियावादी शक्ति ने फ्रांसीसी गणतन्त्र की असाधारण विजयों को मान्यता दे दी। इससे इटली में फ्रांस का स्थान सर्वोच्च हो गया। सन्धि के अनुसार आस्ट्रिया ने बेल्जियम और राइन नदी का पश्चिमी किनारा फ्रांस के लिए छोड़ दिया, लोम्बार्डी पर अपना अधिकार त्याग दिया और नेपोलियन द्वारा निर्मित सिसलपाइन गणराज्य (लोम्बार्डी, पारमा, मोडेना, वेनेशिया और पोप के राज्यों के कुछ भाग को मिलाकर बनाया गया था) को मान्यता दे दी। बदले में फ्रांस ने वेनिस का नगर तथा द्वीप—डाल्मेशिया और इस्ट्रिया—आस्ट्रिया को सौंप दिये।

प्रसिद्धि-लोलुप नेपोलियन ने इस बात की भी व्यवस्था कर ली थी कि फ्रांस के लोगों को उसकी विजयों की नियमित जानकारी मिलती रहे। अतः जब वह पेरिस वापिस लौटा तो जनता ने उसका वैसा ही स्वागत किया, जैसा प्राचीन रोम ने सीजर का किया था। फ्रांस का वायुमण्डल उसकी जय-जयकार से गूँज उठा। उसके पराक्रम की कई कहानियाँ प्रचलित हो गई जिनमें अतिशयोक्ति अधिक थी। इटली अभियान में नेपोलियन ने अपने शत्रुओं के विरुद्ध नये-नये तरीकों का प्रयोग किया और अपने शेष जीवन में भी उन्हीं उपायों से अनेक युद्ध जीते। वह शत्रु पर अचानक आक्रमण करता था। वह शत्रु की छोटी-छोटी टुकड़ियों के मुकाबले में अपनी समूची सेना की शक्ति झोंक देता था। यदि शत्रु जरा भी पीछे हटता तो वह तब तक उसका पीछा करता था जब तक कि वह हथियार न डाल दे अथवा उसे पूरी तरह से नष्ट न कर दिया जाय। वस्तुतः उसका इटली अभियान बहुत ही सफल रहा और वह सेना तथा जनता दोनों की उत्सुकता का केन्द्र बन गया।

मिस्र अभियान—अब फ्रांस को केवल इंगलैण्ड से लड़ना रह गया। फ्रांसीसी क्रान्ति के आरम्भ में इंगलैण्ड के बहुत से लोगों की सहानुभूति क्रान्ति के साथ थी। परन्तु जब क्रान्तिकारियों

ने हत्याओं एवं जुल्म का सिलसिला शुरू किया तो अधिकांश अँग्रेज क्रान्ति के विरोधी हो गये। 1793 ई. में जब फ्रांस ने महादेशीय युद्ध छेड़ दिया तो इंगलैण्ड भी अन्य देशों की सहायता के लिए युद्ध में कूद पड़ा। प्रारम्भिक असफलता के बाद फ्रांसीसी सेनाओं ने यूरोप के मित्र राष्ट्रों की सेनाओं को परास्त करके खदेड़ दिया और उन्हें सन्धि करने के लिए विवश कर दिया। अब केवल इंगलैण्ड मैदान में रह गया था।

डाइरेक्टरी ने नेपोलियन को इंगलैण्ड से लड़ने वाली फ्रांसीसी सेना का प्रधान सेनापति नियुक्त किया। नेपोलियन यह भली-भाँति जानता था कि इंगलैण्ड पर सीधा आक्रमण करने में कभी सफलता नहीं मिलेगी। अतः उसने मिस्र पर अधिकार करके इंगलैण्ड और भारत के मार्ग को नियन्त्रित करने का निश्चय किया। क्योंकि नेपोलियन का मत था कि इंगलैण्ड की शक्ति का मूल स्रोत भारत की अतुलित धन-सम्पदा है। उस समय में मिस्र अँग्रेजी साम्राज्य का भाग भी नहीं था। वह टर्की के सुल्तान के अधीन था। संचालक मण्डल ने नेपोलियन की मिस्र विजय योजना को स्वीकार कर लिया। वस्तुतः संचालक मण्डल नेपोलियन की लोकप्रियता से घबरा उठा था और उसने नेपोलियन को फ्रांस से दूर रखने में ही अपना कल्याण समझा।

1798 ई. की वसन्त ऋतु में नेपोलियन एक शक्तिशाली सेना के साथ जल-मार्ग के द्वारा मिस्र की ओर चल पड़ा। सर्वप्रथम उसने 'माल्टा' द्वीप पर अधिकार किया और फिर अलेक्जेण्ड्रिया के सुप्रसिद्ध बन्दरगाह पर अधिकार कर लिया। भाग्य की बात थी कि अँग्रेज जल-सेनानायक नेल्सन तीन दिन पहले ही उसकी तलाश में इसी बन्दरगाह से रवाना हो चुका था। यदि रास्ते में नेपोलियन की मुलाकात उससे हो गई होती तो शायद इतिहास का क्रम ही बदल जाता। 1 अगस्त, 1798 को 'अबौकिर बे' में नील नदी के निर्णायक युद्ध में नेल्सन ने नेपोलियन के जहाजी बेड़े को नष्ट कर दिया। केवल दो जहाज और दो 'फ्रिगेट' किसी प्रकार बच निकले। अँग्रेजों की इस विजय के फलस्वरूप नेपोलियन का फ्रांस से सम्पर्क टूट गया और पूरब में एक विस्तृत विजय का उसका स्वप्न समाप्त हो गया। परन्तु वह हताश होने वाला नहीं था। उसने सीरिया पर आक्रमण किया। प्रारम्भ में उसे कुछ सफलता मिली और जाफा नगर पर उसका अधिकार हो गया। इसके बाद उसकी स्थिति बिगड़ती गई। उसने 'एकरे' नगर का घेरा डाला परन्तु नगर को लेने में वह असफल रहा। उसकी सेना में महामारी का जोर बढ़ गया और गोला-बारूद भी समाप्त हो गया। 25 जुलाई, 1799 ई. को अबूकर की खाड़ी के युद्ध में उसने एक विशाल तुर्की सेना को पराजित किया। इस अभियान की यह उसकी अन्तिम विजय थी। 21 अगस्त, 1799 को अपनी सेना को उसके भाग्य के भरोसे छोड़कर, वह स्वयं कुछ चुने हुए साथियों के साथ गुप्त रूप से भाग निकला। बोनापार्ट का मिस्र से फ्रांस पहुँचना आसान न था, क्योंकि इंगलैण्ड का जहाजी बेड़ा समुद्रों में चक्कर काट रहा था और हवाएँ खिलाफ थीं। किसी प्रकार वह कोर्सिका द्वीप जा पहुँचा। यहाँ के लोगों ने उसका भव्य स्वागत किया। कोर्सिका से वह फ्रांस के समुद्री तट पर जा पहुँचा। यहाँ से उसने पेरिस के लिए प्रस्थान किया। समूचे मार्ग में लोगों ने उसका स्वागत-सत्कार किया। लोगों के उत्साह को देखकर नेपोलियन ने अपने एक साथी से कहा, "ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक व्यक्ति मेरा इन्तजार कर रहा था। यदि मैं तनिक पहले आता तो वह ठीक न होता और यदि मैं बाद में आता तो बहुत देर हो जाती। मैं ठीक समय पर आया हूँ।" उसका कथन सत्य सिद्ध हुआ।

सत्ता हस्तगत करने का षड्यन्त्र—डाइरेक्टरी को काम करते हुए चार वर्ष हो गए थे। इस समय वह बदनामी और अप्रियता की चरम सीमा पर थी। जनता उसकी भ्रष्टता, अयोग्यता एवं असफलता से ऊब चुकी थी और शासन में परिवर्तन चाहती थी। डाइरेक्टरी की अयोग्यता के कारण ही फ्रांस के विरुद्ध पुनः एक नया गुट बन गया था; जिसमें इंगलैण्ड, आस्ट्रिया और रूस सम्मिलित थे। इस गुट को काफी सफलता मिली और फ्रांसीसी फौजों को जर्मनी के बाहर राइन के किनारे तक खदेड़ दिया गया था। ऐसी स्थिति में नेपोलियन ने सत्ता हस्तगत करने के लिए अपना जाल फैलाया। उसने उन नेताओं से सम्पर्क कायम किया जो किसी-न-किसी वजह से मौजूदा संविधान में संशोधन चाहते थे। ऐसे लोगों में आबे साइस और बरास मुख्य थे। ये दोनों डाइरेक्टरी के सदस्य भी थे। नेपोलियन, साइस और बरास ने योजना बनाई कि किसी-न-किसी प्रकार से संचालकों को त्याग-पत्र देने के लिए विवश किया जाय। तब दोनों विधान-मण्डलों को विवश होकर संविधान में संशोधन करने के लिए एक समिति बनानी पड़ेगी। साइस और नेपोलियन इस समिति में घुस जायँ। फिर जैसी परिस्थिति उत्पन्न होगी उसी के अनुसार काम किया जायेगा। नेपोलियन के भाग्यवश 500 के विधानमण्डल का अध्यक्ष उसी का भाई लूसियन बोनापार्ट था।

योजना को तुरन्त अमल में लाया गया। साइस, बरास और ड्यूकोस—तीनों ने डाइरेक्टरी की सदस्यता से त्याग-पत्र दे दिया। जिन शेष दो सदस्यों ने त्याग-पत्र देने से मना किया उन्हें नजरबन्द कर दिया गया। 9 नवम्बर, 1799 को 'सेंट क्लाउड' नामक स्थान पर दोनों विधानमण्डलों का अधिवेशन शुरू हुआ। नेपोलियन ने दोनों सदनों को सम्बोधित किया परन्तु उसके भाषण का कोई प्रभाव पैदा नहीं हुआ। 500 की परिषद् में तो उस पर तड़ातड़ घूँसे पड़े और धक्के देकर बाहर निकाल दिया गया। किन्तु लूसियन ने नाटकीय ढँग से स्थिति को सम्भाल लिया। उसके आदेश से सैनिकों ने सभा-गृह में प्रवेश करके संशोधन-विरोधी सदस्यों को सभा-गृह से भगा दिया। बहुत से तो अपने आप भाग गये थे। सायंकाल को पुनः दोनों सदनों की बैठक हुई जिसमें एक प्रस्ताव पास करके संचालक-मण्डल को समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर तीन कोंसल (कॉन्सल) नियुक्त किये—सेनापति नेपोलियन बोनापार्ट, आबे साइस और ड्यूकोस। कुछ समितियाँ भी गठित की गईं। उनका मुख्य काम था कोंसलों को नया संविधान बनाने में सहयोग देना। उसके साथ ही सत्ता हस्तगत करने की योजना पूरी हो गई। 11 नवम्बर को नेपोलियन पेरिस लौट आया। पेरिस और पूरे फ्रांस ने बिना किसी विरोध के इस परिवर्तन को स्वीकार कर लिया। वस्तुस्थिति यह थी कि क्रान्ति की शुरूआत से लेकर अब तक, पूरे दस साल से जनता शान्ति और अनुशासन के लिए तरस रही थी। अशान्तियों, गड़बड़ियों और रक्तपात से लोग ऊब गये थे। क्रान्ति के गत दस वर्षों में न तो यातायात के लिए अच्छी सड़कों का निर्माण हो पाया था और न पुरानी सड़कों की मरम्मत की जा सकी। मार्ग भी सुरक्षित न रह गये थे और आये दिन राहजनी तथा डकैतियों के समाचार सुनने को मिल रहे थे। स्कूलों में शिक्षक नहीं थे और चिकित्सालयों में औषधियों तथा चिकित्सकों का अभाव था। सम्पूर्ण राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और जन-जीवन अस्त-व्यस्त हो चुका था। लोगों में यह धारणा घर कर चुकी थी कि कोई शक्तिशाली सेनानायक ही देश का उद्धार कर सकेगा। अतः जब नेपोलियन को प्रथम कोंसल नियुक्त किया गया तो जनता ने उसका विरोध नहीं किया।

कोंसल शासन व्यवस्था : सुधारों का दौर

कोंसल शासन के सामने अनेक समस्याएँ थीं परन्तु कुछ काम ऐसे थे जिनकी तरफ तुरन्त ध्यान देना आवश्यक था, वे थे—एक नए संविधान का निर्माण, आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था में सुधार और फ्रांस के शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध को जारी रखना तथा शत्रु-संघ को छिन्न-भिन्न करना।

संविधान का निर्माण—नेपोलियन ने सत्ता हस्तगत करने के बाद एक माह के भीतर ही नया संविधान बनवाकर उसे लागू भी करवा दिया। क्रान्ति के बाद यह चौथा संविधान था। इसके निर्माण में नेपोलियन का सर्वाधिक योगदान रहा था। संविधान का निर्माण इस ढँग से किया गया कि शासन के सर्वोच्च अधिकार नेपोलियन को प्राप्त हो जायँ। कार्यपालिका शक्ति तीन कोंसलों को सौंप दी गई। कोंमलों की कार्यावधि दस साल तय की गई। कोंसलों का निर्वाचन सीनेट नामक संस्था को सौंपा गया। परन्तु शुरू के तीनों कोंसलों का नाम पहिले से ही संविधान में रख दिया गया, ये थे—नेपोलियन-प्रथम कोंसल, केम्बेसरी-द्वितीय कोंसल और लीब्रन-तृतीय कोंसल। राज्य की अधिकांश शक्तियाँ प्रथम कोंसल में निहित कर दी गई।

नये संविधान में चार संस्थाओं की व्यवम्था की गई—राज्य परिपद, ट्रिब्यूनेट, व्यवस्थापिका और सीनेट। राज्य परिपद् का काम विधेयकों का प्रारूप तैयार करना था। ट्रिब्यूनेट उन विधेयकों पर वाद-विवाद कर सकती थी, परन्तु उसे वोट देने का अधिकार न था। व्यवस्थापिका में 300 सदस्यों का प्रावधान था। व्यवस्थापिका अपने सम्मुख रखे जाने वाले विधेयकों पर वोट दे सकती थी परन्तु उसे विधेयकों पर विवाद करने का अधिकार न था। गुप्त मतदान प्रणाली के आधार पर व्यवस्थापिका वोट देती थी। सीनेट को संविधान की रक्षा का दायित्व सौंपा गया। इसके अलावा सीनेट, कोंसलों, ट्रिब्यूनेट के सदस्यों तथा व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों को भी चुनती थी। किन्तु इस काम में वह पूरी तरह से स्वतन्त्र न थी। कुछ सूचियाँ पेचीदा ढँग से तैयार की जाती थीं और सीनेट को उन्हीं सूचियों में से चुनाव करना पड़ता था। इस संविधान में भी फ्रांस के नागरिकों को मतदान का अधिकार दिया गया परन्तु वह मात्र ढोंग था और उसका एक मात्र उद्देश्य जन-प्रभुत्व के ढकोसले को जीवित रखना था। अन्यथा, जनता का प्रभुत्व समाप्त हो चुका था। नेपोलियन फ्रांस का प्रभु बन चुका था। उसने अपने सुधारों के द्वारा अपने आपको इस योग्य भी प्रमाणित कर दिखाया था।

व्यवस्था की स्थापना—पिछले कई वर्षों से क्रान्ति और विदेशी युद्धों के परिणामस्वरूप फ्रांस का राष्ट्रीय जीवन अस्त-व्यस्त हो गया था। देश में शान्ति और सुव्यवस्था का अभाव था। पुरानी व्यवस्था का अन्त हो गया था। परन्तु उसके स्थान पर नयी व्यवस्था भली-भाँति नहीं जम पाई थी। अतः नेपोलियन का प्रथम कार्य संस्थाओं का नवीन संगठन और सामाजिक जीवन का पुनर्निर्माण था। इसके लिए नेपोलियन ने क्रान्ति की भावना एवं सिद्धान्तों का उपयोग किया। उसके सुधारों का ध्येय सामाजिक समानता स्थापित करना था। इस दृष्टि से उसने पुराने मतभेद, दलबन्दी और झगड़ों को भुलाकर सभी को समान स्थान दिया। किन्तु जो लोग उसकी इस नीति से सन्तुष्ट न हुए उनको उसने कठोरता एवं निर्दयता के साथ कुचल दिया। वह न तो जैकोबिन

था और न राजतन्त्र का समर्थक। उसके लिए इतना ही काफी था कि जो लोग फ्रांस में रहते हैं और आकर बसना चाहते हैं वे मौजूदा शासन-व्यवस्था के प्रति वफादार रहें। उसने सरकारी पदों के द्वार सभी के लिए समान शर्तों पर खोल दिये। भगोड़ों तथा विद्रोही पादरियों के विरुद्ध जो कानून पास किये गये थे उन्हें उसने काफी नरम बना दिया। क्रान्ति के समय फ्रांस छोड़कर भागने वाले कुलीनों और सामन्तों को फिर से फ्रांस में बसने के लिए आमन्त्रित किया गया। पादरियों से सिर्फ राज्य-भक्ति का वचन देने को कहा गया। उसने कैथोलिक पूजा की छूट भी दे दी। इस प्रकार, नेपोलियन ने फ्रांस की जनता को खुश करने के लिए चतुरता एवं दूरदर्शिता का सहारा लिया।

प्रशासनिक सुधार—नेपोलियन ने शासन-व्यवस्था में भी महत्त्वपूर्ण सुधार किये। राष्ट्रीय महासभा ने क्रान्ति की भावना में बहते हुए सम्पूर्ण फ्रांस को भिन्न-भिन्न डिपार्टमेण्टों (विभागों) में विभाजित कर दिया था तथा प्रत्येक डिपार्टमेण्ट का अधिकारी वहाँ की जनता द्वारा निर्वाचित किया जाता था। डाइरेक्टरी के शासनकाल में इस प्रथा को समाप्त कर दिया गया और सरकारी अधिकारियों की नियुक्ति की जाने लगी। नेपोलियन ने इसे ठोस रूप दिया। उसने सम्पूर्ण फ्रांस को विभागों (जिलों) में बाँट दिया। प्रत्येक विभाग का एक अधिकारी होता था जो 'प्रीफेक्ट' कहलाता था। जिलों को उपविभागों (एरोण्डिजमेण्ट) में बाँटा गया। उसका अधिकारी 'उप-प्रीफेक्ट' कहलाता था। प्रत्येक नगर अथवा कम्यून का प्रमुख 'मेयर' कहलाता था। नेपोलियन ने अधिकांश विभागों पर अपने सैनिक अधिकारियों को नियुक्त किया। ये सैनिक अधिकारी सिर्फ नेपोलियन के प्रति उत्तरदायी होते थे। इस प्रकार, स्थानीय प्रशासन पर नेपोलियन का पूरा अधिकार हो गया। स्थानीय नागरिक अपने स्थानीय मामलों का प्रबन्ध करने की सुविधा एवं स्वतन्त्रता से वंचित हो गये। राष्ट्रीय तथा स्थानीय शासन के सभी सूत्र पेरिस में केन्द्रित हो गये। देश में व्यवस्था और शान्ति की स्थापना के लिए यह परम आवश्यक भी था।

आर्थिक सुधार—फ्रांस की आर्थिक स्थिति क्रान्ति के पूर्व ही खराब हो चुकी थी और क्रान्ति की उथल-पुथल के कारण और भी अधिक बिगड़ गई थी। उद्योग-धन्धे चौपट हो रहे थे। राज्य के कर नियमित रूप से वसूल नहीं हो पाते थे जिससे राज्य की आय में भारी कमी आ गई थी। नेपोलियन ने आर्थिक दशा को सुधारने का प्रयास किया। सर्वप्रथम, उसने सरकारी कर-पद्धति में परिवर्तन किया। अब तक करों की वसूली स्थानीय संस्थाओं द्वारा की जाती थी। नेपोलियन ने राजकीय करों की वसूली के लिए सरकारी कर्मचारी नियुक्त किये। दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य था, व्यापार-वाणिज्य की स्थिति में सुधार लाना। 1800 ई. में 'बैंक ऑफ फ्रांस' की स्थापना की गई। स्वर्ण तथा चाँदी के सिक्कों का स्तर निर्धारित किया गया। प्रत्यक्ष करों को कम किया गया तथा अप्रत्यक्ष करों (जैसे शराब, नमक, तम्बाकू आदि पर) को बढ़ाया गया। पराजित देशों से फ्रांसीसी सेनाओं का खर्चा वसूल किया जाने लगा तथा युद्ध का हर्जाना भी लिया जाने लगा। व्यापार की उन्नति के लिए 'राष्ट्रीय उद्योग समिति' का गठन किया गया तथा खाद्य-सामग्री की सुव्यवस्थित वितरण-पद्धति के सम्बन्ध में कई नियम बनाये गये। दशमलव पद्धति को लागू किया गया तथा यातायात के साधनों को सुधारा गया। इन सबके परिणामस्वरूप फ्रांस की आर्थिक स्थिति काफी उन्नत हो गई।

पोप के साथ समझौता—यद्यपि धर्म के क्षेत्र में नेपोलियन स्वयं तटस्थ था परन्तु सार्वजनिक जीवन में वह धर्म के महत्त्व को समझता था और इसका प्रयोग अपनी राजनीतिक व्यवस्था को मजबूत बनाने में करना चाहता था। फ्रांस के अधिकांश निवासी रोमन कैथोलिक थे और क्रान्ति के पूर्व रोमन चर्च,फ्रांस के राजतन्त्र तथा कुलीनों का समर्थक था। क्रान्ति के समय में चर्च की सम्पत्ति तथा भूमि को जब्त कर लिया गया और पादरियों के विशेषाधिकार भी समाप्त कर दिये गये। पादरियों को सरकारी कोष से वेतन देने की व्यवस्था की गई तथा उन्हें 'पादरियों के संविधान' के प्रति शपथ लेने के लिए विवश किया गया। अधिकांश पादरियों ने शपथ लेने से इन्कार कर दिया और फ्रांस के कुछ क्षेत्रों में पादरियों के नेतृत्व में हजारों किसानों ने सरकार के विरुद्ध हथियार उठा लिये थे। काफी रक्तपात के बाद भी समस्या का सही समाधान नहीं हो पाया था। नेपोलियन ने कैथोलिकों का विश्वास जीतने का निश्चय किया। इसमें उसका उद्देश्य शुद्ध रूप से राजनैतिक था। वह राजतन्त्र के समर्थकों और पादरियों के गठबन्धन को समाप्त करना चाहता था ताकि उसकी स्वयं की सत्ता सुदृढ़ हो जाय। वह कैथोलिकों को सभी प्रकार की स्वतन्त्रता देने को तैयार था बशर्ते कि वे क्रान्ति द्वारा स्थापित व्यवस्था का विरोध करना छोड़ दें। स्वयं नेपोलियन को धर्म के प्रति अधिक अनुराग न था। वह कहा करता था, 'मैं मिस्र में मुसलमान हूँ और फ्रांस में कैथोलिक।" वह अन्य लोगों पर किसी धर्म विशेष को बलात् लादना व्यर्थ का प्रयास समझता था। इसलिए उसने एक समझदार राजनीतिज्ञ की हैसियत से पोप के साथ समझौता करने का निश्चय कर लिया। इस समझौते से क्रान्तिकाल में पारित बहुत से चर्च-विरोधी नियम समाप्त हो गये और चर्च तथा राज्य के मध्य निश्चित सम्बन्ध कायम हो गये जो एक लम्बी अवधि तक कायम रहे।

पोप के साथ सम्पन्न समझौता 'कान्कार्डेट' (Concordat) के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते के द्वारा पोप ने क्रान्तिकाल में चर्च की जब्त भूमियों पर से अपना अधिकार त्यागना स्वीकार कर लिया और बदले में नेपोलियन ने कैथोलिक धर्म को राज्य धर्म घोषित कर दिया। पादरियों के नाम प्रस्तुत करने का अधिकार सरकार को दिया गया परन्तु उनकी नियुक्ति का अधिकार पोप को सौंपा गया। पादरियों को वेतन राज्य-कोष से देने की व्यवस्था जारी रखी गई। पादरियों को फ्रांस के संविधान के प्रति भक्ति की शपथ लेने की व्यवस्था भी रखी गई। निर्वासित पादरियों को,जो क्रान्ति के समय फ्रांस छोड़कर भाग गये थे उन्हें फ्रांस वापस लौटने की अनुमति मिल गई तथा प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई। क्रान्ति के कलेण्डर को भी स्थगित कर दिया गया तथा प्राचीन अवकाश के दिन पुनः प्रचलित हो गये। केवल 14 जुलाई तथा 22 सितम्बर प्रजातन्त्र की स्थापना के दिवसों पर अवकाश रखा गया। क्रान्ति की शेष सभी छुट्टियों को बन्द कर दिया गया।

नेपोलियन की धार्मिक नीति से फ्रांस के अधिकांश लोग सन्तुष्ट हो गये। सभी को धार्मिक स्वतन्त्रता मिल गई थी, अतः वे नेपोलियन के समर्थक बन गये। पादरी लोग भी जो क्रान्ति के विरोधी थे, अब नेपोलियन के समर्थक बन गये। इस प्रकार, नेपोलियन ने विशुद्ध राजनीतिक लाभ के लिए धर्म का प्रयोग किया। उसका कहना था कि राज्य में एक धर्म होना चाहिए परन्तु उस पर सरकारी नियन्त्रण होना चाहिए। इस समझौते से फ्रांस के चर्च पर सरकार

का नियन्त्रण कायम हो गया। अब चर्च राज्य के अधीनस्थ एक संस्था बन गया। डेविड थाम्पसन की मान्यता है कि इसके धार्मिक कट्टरता का अन्त नहीं हुआ। चर्च के कट्टर विरोधी और धर्मपरायण पादरी अन्त तक इसका विरोध करते रहे। इसका मुख्य कारण यह था कि नेपोलियन के धार्मिक समझौते में विरोधी विचारों का मिलाजुला तत्त्व न था; वह विरोधी विचारों के बीच समझौता मात्र था।

शिक्षा सम्बन्धी सुधार—नेपोलियन ने देश में शिक्षा के प्रसार के लिए विशेष रूप से प्रयत्न किया। उसने शिक्षा के कार्य को तीन भागों में विभाजित किया—प्रारम्भिक, उच्च माध्यमिक और विश्वविद्यालय। प्रत्येक नगर में प्राथमिक और उच्च माध्यमिक विद्यालय स्थापित किये गये। शिक्षकों को राज्य की ओर से वेतन दिया जाने लगा। शिल्प और व्यवसाय के विद्यालय भी खोले गये। पेरिस विश्वविद्यालय का पुनर्गठन किया गया। इस विश्वविद्यालय के प्रमुख अधिकारियों तथा प्रोफेसरों की नियुक्ति नेपोलियन स्वयं करता था। देश के सभी उच्च विद्यालयों को इस विश्वविद्यालय के साथ सम्बन्धित किया गया। नेपोलियन ने निर्धन तथा योग्य छात्रों के लिए छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की तथा शोध-कार्यों के लिए एक पृथक् संस्थान भी स्थापित किया।

विधि-संहिता—नेपोलियन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य उसका नियम-संग्रह अथवा विधि-संहिता है। सेंट हेलीना में एक बार नेपोलियन ने कहा था, "मेरा वास्तविक गौरव मेरी 40 युद्धों की विजयों में नहीं है। मेरी विधि-संहिता ही ऐसी है जो कभी न मिट सकेगी और जो चिरस्थायी सिद्ध होगी।" वस्तुतः विधि-संहिता का महत्त्व उसकी सभी विजयों से अधिक है। उसके नियम-संग्रह सम्पूर्ण मानव समाज के लिए सर्वोत्तम उदार कार्य हैं। क्रान्ति से पूर्व फ्रांस के विविध प्रान्तों में भिन्न-भिन्न प्रकार के कानून प्रचलित थे और उनमें किसी प्रकार की समानता न थी। क्रान्ति काल में एक अन्तर्राज्यीय कानून व्यवस्था लागू करने का प्रयत्न किया गया था परन्तु विशेष सफलता न मिली। नेपोलियन ने इस अधूरे काम को पूरा करने का निश्चय किया।

क्रान्ति के पूर्व ही असंख्य कानून थे और क्रान्ति के साथ नये कानूनों की बाढ़ आ गई। इसलिए इस बात की आवश्यकता थी कि सभी कानूनों की पारस्परिक असंगतियों को दूर करके उन्हें क्रमबद्ध किया जाय और जनता के सामने स्पष्ट, युक्तिसंगत तथा तर्कपूर्ण ढँग से प्रस्तुत किया जाय जिससे न्याय के मामले में लोगों के दिलों में जो अब तक सन्देह और अनिश्चितता फैली हुई थी वह दूर हो जाय और प्रत्येक नागरिक को भी कानूनों की जानकारी हो जाय। इस संहिता को तैयार करने में नेपोलियन ने काफी रुचि ली। इसका ढाँचा सामाजिक समानता, धार्मिक सहिष्णुता, व्यक्तिगत सम्पत्ति और संयुक्त पारिवारिक जीवन के आधार पर खड़ा किया गया था। 'सिविल मैरेज' और तलाक की संस्थाओं को मान्यता देकर इस विधि संहिता ने यूरोप में इस बात को प्रचलित कर दिया कि बिना पादरियों की सहायता के भी समाज का काम चल सकता है। यह कानून के आधार पर एक धर्म-निरपेक्ष जीवन की परिकल्पना थी। नेपोलियन द्वारा निर्मित नियम विधानों की संख्या पाँच थी। ये इस प्रकार थे—(1) नागरिक नियम (सिविल कोड), (2) जायदाद सम्बन्धी नियम, (3) नागरिक नियम पद्धति, (4) फौजदारी नियम संग्रह और (5) व्यापारिक नियम संग्रह।

नेपोलियन की विधि-संहिता पर नेपोलियन के व्यक्तिगत विचारों का जवरदस्त प्रभाव पड़ा था। वह पारिवारिक अनुशासन को वहुत महत्त्व देता था। उसका मानना था कि पुत्र को पिता की वात और पत्नी को पति की बात अवश्य माननी चाहिए। वह फ्रांस में "कड़े पिताओं, आज्ञाकारी पुत्रों और बिना अधिकार वाली परतन्त्र स्त्रियों की कल्पना करता है।" विधि-संहिता में पत्नी और सन्तानों पर परिवार के स्वामी के अधिकार को अधिक दृढ़ बनाने का प्रयास किया गया। पत्नी को पूर्णतया पति के नियन्त्रण में रखा गया; तलाक पद्धति को वहुत कठिन वना दिया गया और परिवार के स्वामी को यह अधिकार मिला कि वह पारिवारिक सम्पत्ति को अपनी इच्छानुसार किसी को भी दे सके। उसकी यह व्यवस्था क्रान्तिकारी प्रवृत्ति के विरुद्ध परन्तु रोमन कानूनी व्यवस्था के अधिक नजदीक थी। इसका मुख्य कारण यह था कि उस समय फ्रांस में पारिवारिक अनुशासन छिन्न-भिन्न हो गया था और समाज में अनैतिकता बढ़ गयी थी जिसे रोकना वहुत जरूरी था। लेकिन विवाह पद्धति में सुधार करके नेपोलियन ने एक नये मार्ग का पथ-प्रदर्शन किया।

नेपोलियन की विधि-संहिता में व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धान्त को मान्यता दी गई और भूमि पर स्वामी के अधिकार को इतना ठोस वनाया गया था कि जितना पुरातन व्यवस्था में भी नहीं था। किसानों को भूमि छिन जाने का जो भय था वह हमेशा के लिए जाता रहा और इसलिए वे नेपोलियन के जबरदस्त समर्थक बन गये थे। विधि-संहिता में पूँजीवादी आर्थिक-व्यवस्था को भी पर्याप्त संरक्षण दिया गया और इसके लिए ठेका, ऋण, लीज (Lease) तथा स्टॉक कम्पनियों से सम्बन्धित अनेक धाराओं का निर्माण किया गया। इस विधि-संहिता से मजदूरों की बढ़ती हुई शक्ति पर अंकुश लगा दिया गया। ट्रेड-यूनियन वनाना कानूनी अपराध माना गया। मालिक-मजदूर के आपसी संघर्ष में अदालतों को यह कानूनी आदेश था कि वे मजदूर की अपेक्षा मालिक की वातों को अधिक महत्त्व दें। यह समानता के सिद्धान्त का उपहास था। इसलिए प्रायः यह कहा जाता है कि नेपोलियन की विधि-संहिता पूँजीवादी शोषण व्यवस्था की आधारशिला थी और वुर्जुआ क्रान्ति का चरम विकास थी। फ्रांस की क्रान्ति में मध्यम वर्ग का सर्वाधिक योग रहा था और क्रान्ति का सवसे अधिक लाभ भी इसी वर्ग को मिला था। नेपोलियन की विधि-संहिता ने इन लाभों को एकत्र करके उन्हें सदा-सर्वदा के लिए कानूनी आधार दे दिया। पामर के मतानुसार, "क्रान्ति से लाभ उठाने वाले अपने को सुरक्षित अनुभव करने लगे। फ्रांस कृपक-प्रजातन्त्र और बुर्जुआ-वर्ग का स्वर्ग वन गया था।" ऐतिहासिक दृष्टि से भी सामन्तवाद के वाद क्रमिक विकास की दूसरी मंजिल पूँजीवाद ही है। इतिहासकार हेज का मत है कि उसकी विधि-संहिता अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थी। नियमों की सरलता और कोमलता के कारण न केवल उनको फ्रांस में ही लागू किया गया अपितु यूरोपीय महाद्वीप के अधिकांश देशों में भी लागू किया गया और वोनापार्ट को 'नया जस्टीनियन' ठीक ही कहा गया है। एक अन्य इतिहासकार डेविड थाम्पसन ने लिखा है, "उसका सवसे वड़ा ध्येय फ्रांस का पुनर्निर्माण था जिसने नेपोलियन को अठारहवीं शताब्दी के प्रवुद्ध शासकों में सवसे महान् कहलाने का सवल अधिकार प्रदान कर दिया।" निस्संदेह, विधि-संहिता नेपोलियन की एक स्थायी कीर्ति है।

विदेश नीति—कोंसल वनते ही नेपोलियन को फ्रांस के नए शत्रु-संघ से निपटना पड़ा। इसमें इंगलैण्ड, आस्ट्रिया और रूस सम्मिलित थे। रूस की अपने मित्रों से अनवन हो गई थी

और वह संघ से अलग हो गया। इस समय आस्ट्रिया की एक सेना राइन के किनारे पर स्थित थी और दूसरी इटली में। हुआ यह था कि जब नेपोलियन मिस्र-अभियान पर गया हुआ था तो उस समय आस्ट्रियाई सेना ने फ्रांसीसी सेनापति मेसीना को परास्त करके जिनोआ में शरण लेने पर विवश कर दिया और बाद में उसने जिनोआ की घेराबन्दी कर दी। इस समय मेसीना की स्थिति दयनीय हो चुकी थी। नेपोलियन ने एक अत्यधिक जोखिमपूर्ण योजना बनाई। उसने आस्ट्रियाई सेनाओं तथा उनके देश के बीच में घुसकर पीछे से आक्रमण करने का निश्चय किया। इसके लिए उसे विशाल सेना सहित बर्फीले आल्प्स पर्वत को लाँघना पड़ा और यह काम केवल एक सप्ताह में पूरा कर लिया गया। सारा संसार उसके इस वीर कार्य से आश्चर्यचकित हो गया। 14 जून, 1800 के दिन उसने इटली स्थित आस्ट्रियाई सेना को पराजित किया। आस्ट्रियाई सेना को युद्ध-विराम-सन्धि के लिए विवश होना पड़ा और मिसिओं तक का उत्तरी इटली का सम्पूर्ण भू-भाग फ्रांस को सौंपना पड़ा। राइन के किनारे स्थित आस्ट्रियाई सेना से निपटने के लिए नेपोलियन ने अपने एक वीर सेनानायक मोरू को पहिले से ही भेज दिया था। 6 मास के उपरान्त जर्मनी में होहेन लिण्डन नामक स्थान पर लड़े गये युद्ध में मोरू ने आस्ट्रियन सेना को परास्त कर दिया। फलस्वरूप 9 फरवरी, 1801 को आस्ट्रिया ने लुनेविले की सन्धि कर ली। इसकी शर्तें केम्पोफोर्मियों की सन्धि के समान ही थीं।

अब केवल इंगलैण्ड शेष रह गया और उससे निपटना बहुत कठिन था। दोनों देशों के मध्य लम्बे समय तक संघर्ष चलता रहा और संघर्षकाल में इंगलैण्ड ने फ्रांसीसी बेड़े को कई बार परास्त किया तथा उसके मित्र राज्यों—स्पेन, हालैण्ड आदि के कुछ उपनिवेशों को भी जीत लिया। अन्त में दोनों पक्षों ने थककर मार्च, 1802 में आमिन्स की सन्धि कर ली। सन्धि के अनुसार इंगलैण्ड ने फ्रांसीसी गणतन्त्र को मान्यता दे दी। उसने फ्रांस के सब उपनिवेश लौटा दिये। लंका और ट्रिनिडाड के अलावा स्पेन और हालैण्ड के सभी उपनिवेश भी वापस कर दिये गये। इंगलैण्ड ने माल्टा और मिस्र से अपनी सेनाएँ हटा लेने का आश्वासन दिया। इस प्रकार, गत दस वर्षों के बाद यूरोप को युद्धों से मुक्ति मिली। परन्तु यह स्थायी शान्ति न थी। केवल एक वर्ष बाद ही संघर्ष पुनः शुरू हो गया।

वस्तुतः नेपोलियन ने सन्धि के तुरन्त बाद अगले संघर्ष की तैयारी प्रारम्भ कर दी थी। उसने फ्रांस के बन्दरगाहों तथा गोदियों को विकसित किया। नये जहाज बने और उन्हें मौरिशस और मदागास्कर की ओर भारत के रास्ते पर भेजा गया। उधर इंगलैण्ड भी पूरी तरह से चौकन्ना था। लार्ड कार्नवालिस तथा नेल्सन ने अगले संघर्ष की पूरी तैयारी करली थी। माल्टा के प्रश्न को लेकर दोनों पक्षों में पुनः संघर्ष शुरू हो गया जो पहले से भी अधिक भयानक सिद्ध हुआ और वाटरलू के युद्ध तक जारी रहा। सन्धि के अनुसार इंगलैण्ड को माल्टा द्वीप खाली करना था परन्तु अब इंगलैण्ड उसे छोड़ने को तैयार नहीं हुआ। 1803 ई. में दोनों देशों के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध समाप्त हो गया। इसके बाद युद्ध शुरू हो गया। परन्तु नेपोलियन को इंगलैण्ड के विरुद्ध सफलता न मिली। इसके विपरीत फ्रांस तथा स्पेन के जहाजी बेड़े को भारी क्षति उठानी पड़ी।

कादूदाल षड्यन्त्र—इस समय फ्रांस में राजतन्त्र के समर्थक पुनः सक्रिय हो उठे थे और उनमें से कुछ साहसी लोगों ने नेपोलियन को समाप्त करने का षड्यन्त्र रचा। मारेंगो के युद्ध के

थोड़े दिनों बाद ही नेपोलियन पर अचानक धावा बोल दिया गया। नेपोलियन के बहुत से सैनिक मारे गये परन्तु वह स्वयं बच गया। इसके कुछ समय बाद लन्दन में इससे भी खतरनाक षड्यन्त्र रचा गया। इसका ध्येय लुई सोलहवें के भाई आर्त्वा के काउण्ट को पुनः राजा बनाना था। इस षड्यन्त्र के मुख्य नेता थे—जार्ज कादूदाल और पीशेग्रू। कादूदाल और उसके साथियों को गिरफ्तार करके गोली से उड़ा दिया गया। पीशेग्रू कारावास में ही मर गया।

इस घटना से नेपोलियन के मन में सम्राट बनने की महत्त्वाकांक्षा जाग उठी। उसने पुनः ढोंग रचाया। सर्वप्रथम, ट्रिब्यूनेट में प्रजातन्त्र को समाप्त करने तथा नेपोलियन को सम्राट बनाने का प्रस्ताव रखा गया। इसके बाद सीनेट ने इस प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए उसे सम्राट घोषित कर दिया। सीनेट की घोषणा में कहा गया था कि, "यह परिवर्तन फ्रांसीसी जनता के हितों को ध्यान में रखकर किया गया है।" इसके बाद इस प्रस्ताव को जनमत के लिए जनता के सामने रखा गया। 35 लाख मतों के बहुमत से जनता ने नेपोलियन को सम्राट बनाना स्वीकार कर लिया क्योंकि फ्रांसीसियों को राजतन्त्र अब भी पसन्द था। परन्तु नेपोलियन ने पुरानी परम्परा के अनुसार पोप के हाथों से राजमुकुट नहीं पहना अपितु स्वयं अपने हाथों से अपने सिर पर रखा, यद्यपि पोप स्वयं उपस्थित था। उसका कहना था, "मुझे फ्रांस का राजमुकुट धरती पर पड़ा मिला और तलवार की नोंक से मैंने उसे उठा लिया।" इस प्रकार, फ्रांस में एक बार फिर से राजतन्त्र कायम हो गया। वह राजतन्त्र जिसको उखाड़ फेंकने के लिए महान् क्रान्ति हुई थी।

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि फ्रांस की जनता ने नेपोलियन को सम्राट बनाना क्यों स्वीकार किया ? फ्रांसीसी जनता ने जानबूझकर क्रान्ति द्वारा स्थापित गणराज्य का गला क्यों घोंट दिया ? इस स्थान पर विस्तार में जाना सम्भव नहीं है। केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि इसके लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी थे—(1) नेपोलियन द्वारा प्रदत्त सामाजिक समानता, (2) उसकी सफल धार्मिक नीति, (3) उसका योग्य शासन-प्रबन्ध, (4) उसकी शानदार विजयें, और (5) उसका स्वयं का प्रभावशाली व्यक्तित्व। 2 दिसम्बर, 1804 ई. को उसका राज्याभिषेक धूम-धाम के साथ सम्पन्न हुआ। इसके बाद का उसका शासनकाल 'प्रथम साम्राज्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सम्राट नेपोलियन (1804-14)

नेपोलियन पूरे दस वर्ष तक सम्राट बना रहा। इन दस वर्षों में उसे निरन्तर युद्ध लड़ने पड़े जिनमें से अधिकांश युद्धों में उसे विस्मयजनक सफलताएँ मिलीं। यद्यपि अन्तिम युद्ध की पराजय ने उसकी सभी सफलताओं पर पानी फेर दिया। फिर भी इन दस वर्षों की अवधि में सम्पूर्ण यूरोप का घटना-चक्र उसके इशारे पर घूमता रहा और वह यूरोपीय राजनीति का केन्द्र-बिन्दु बना रहा। इसीलिए इन दस वर्षों को इतिहास में 'नेपोलियन का युग' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। उसकी गिनती विश्व के तीन महान् विजेताओं—सिकन्दर, सीजर और शार्लमेन के साथ की जाने लगी।

यूरोप की प्रभुता का प्रयास—सम्राट बन जाने के उपरान्त नेपोलियन ने यूरोप की प्रभुता प्राप्त करने का प्रयास किया। फ्रांस की राज्य क्रान्ति ने यूरोप के सभी देशों को चिन्तित कर रखा

था और फ्रांस के विरुद्ध गुट बनाकर संघर्ष भी किया गया था। परन्तु नेपोलियन ने इंगलैण्ड के अलावा अन्य देशों को समय-समय पर पराजित करके शत्रुओं के गुट को तोड़ डाला था। अन्त में, इंगलैण्ड और फ्रांस में अमीन्स की सन्धि हो गई जिसकी चर्चा पहिले की जा चुकी है।

जब इंगलैण्ड ने आमीन्स की सन्धि के अनुसार माल्टा द्वीप खाली करने से इन्कार कर दिया तो नेपोलियन ने इंगलैण्ड के विरुद्ध पुनः युद्ध छेड़ दिया। इंगलैण्ड ने फ्रांस के विरुद्ध तीसरी बार गुट बनाया। इस तीसरे गुट में इंगलैण्ड, आस्ट्रिया, रूस और स्वीडन सम्मिलित थे। नेपोलियन ने जर्मनी में इंगलैण्ड के छोटे से राज्य हनोवर पर आक्रमण कर उसे जीत लिया। 1805 ई. में इंगलैण्ड और फ्रांस के मध्य सुप्रसिद्ध 'ट्राफलगर' का जल-युद्ध लड़ा गया, जिसमें अँग्रेज जल-सेनानायक नेल्सन ने फ्रांस तथा स्पेन के संयुक्त जहाजी बेड़े को नष्ट कर दिया। इस भयंकर युद्ध में नेल्सन भी मारा गया। नेपोलियन ने इस पराजय का बदला स्थल-युद्धों में लिया। नेपोलियन ने अपनी विशाल सेना को दो भागों में विभाजित किया। एक सेना को सीधे आस्ट्रिया पर आक्रमण करने का काम सौंपा गया। आस्ट्रिया का सेनानायक माक 80,000 सैनिकों के साथ 'उल्म' नामक स्थान पर डटा हुआ था। नेपोलियन की दूसरी सेना ने 500 मील का लम्बा चक्कर लगाकर (जर्मनी को पारकर उत्तर-दक्षिण की ओर से) आस्ट्रिया की सेना को पीछे से दबोच लिया। उल्म के इस युद्ध में बिना अधिक रक्तपात के आस्ट्रिया के 60,000 सैनिक और 30 जनरल बन्दी बना लिये गये और 120 तोपों पर अधिकार कर लिया गया। इस सफलता ने फ्रांसीसी सेना के लिए राजधानी वियना का मार्ग खोल दिया। तीन सप्ताह के बाद एक विजेता के रूप में नेपोलियन ने वियना में प्रवेश किया। आस्ट्रियन सम्राट पहिले ही राजधानी छोड़कर उत्तर की ओर चला गया था ताकि रूसी सेना से सम्पर्क कायम किया जा सके। 2 दिसम्बर, 1805 ई. को 'आस्टरलिज का युद्ध' लड़ा गया। जिसमें नेपोलियन नें आस्ट्रिया और रूस की संयुक्त सेनाओं को परास्त किया। विवश होकर आस्ट्रिया को पुनः फ्रांस से 'प्रेस बुर्ग की सन्धि' (26 दिसम्बर, 1805) करनी पड़ी। इस सन्धि से आस्ट्रिया को बहुत बड़ा अपमान सहन करना पड़ा। उसे फ्रांस को 'वेनेशिया' और 'डलमेशिया' तथा बवेरिया को 'टायरोल' और बैडेन को 'बरटेम्बर्ग' के कुछ क्षेत्र सौंपने पड़े।

आस्टरलिज के दूरगामी परिणाम निकले। अब नेपोलियन 'राजाओं का निर्माता' बन गया। 1806 ई. में उसने राजाओं की सृष्टि की। बवेरिया और बरटेम्बर्ग जो अब तक ठिकाने मात्र थे, उनके जागीरदारों को 'राजा' का पद दिया गया। नेपल्स के रिक्त सिंहासन पर उसने अपने भाई जोजफ को बैठाया। बटाविया (हालैण्ड) के गणतन्त्र को राजतन्त्र में बदल दिया गया और नेपोलियन ने अपने दूसरे भाई लुई को यहाँ का राजा बनाया। इसके बाद उसने जर्मनी का रूपान्तर किया। उसने अनेक छोटे-छोटे जर्मन राज्यों को समाप्त कर दिया और 'राइन राज्य संघ' का निर्माण किया जिसमें बवेरिया, बरटेम्बर्ग तथा जर्मनी के अन्य चौदह राज्य सम्मिलित थे। नये जर्मन संघ ने जर्मन सम्राट के प्रति अपनी भक्ति को त्यागकर नेपोलियन को अपना संरक्षक माना। इसके बाद 'पवित्र रोमन साम्राज्य' को समाप्त कर दिया गया। पवित्र रोमन साम्राज्य लगभग एक हजार वर्ष से चला आ रहा था और जर्मनी की बहुत-सी छोटी-छोटी रियासतों पर इसका वर्चस्व बना हुआ था। राइन राज्य संघ के निर्माण के बाद नेपोलियन ने आस्ट्रिया के सम्राट

अधीन फिनलैण्ड को हड़प ले और हो सके तो स्वीडन के बन्दरगाहों पर भी अपना अधिकार जमा ले। हालैण्ड के शासक लुई बोनापार्ट जो नेपोलियन का ही सगा भाई था, ने अपने राज्य के हित को देखते हुए इस नीति का विरोध किया। नेपोलियन ने उसे शासक पद से हटा दिया और हालैण्ड को फ्रांसीसी साम्राज्य में मिला लिया। पोप ने भी उसकी इस नीति का विरोध किया। नेपोलियन ने पोप का राज्य छीन लिया और उसे 'वेटिकन' में कैद कर दिया गया। पुर्तगाल ने इंगलैण्ड के साथ अपने पुराने मैत्री-सम्बन्धों को तोड़ने से इन्कार कर दिया। नेपोलियन ने स्पेन के साथ मिलकर पुर्तगाल पर आक्रमण किया और पुर्तगाल को जीतकर फ्रांसीसी साम्राज्य में मिला लिया गया। इस अवसर पर नेपोलियन ने कहा था, "ब्रगांजा के वंश का पतन इस बात का एक और सबूत है कि जो कोई भी अँग्रेजों का दामन पकड़ता है, उसका नाश अनिवार्य है।" इस प्रकार, महाद्वीपीय व्यवस्था के कारण नेपोलियन ने अपने सभी मित्रों को असन्तुष्ट कर दिया। प्रोफेसर मायर्स का मत है कि "इंगलैण्ड का ध्वंस करने की नेपोलियन की यह नीति एक आत्महत्या की नीति थी और इसके परिणामस्वरूप उसने अपने साम्राज्य को नष्ट कर दिया।" इस नीति की असफलता का मुख्य कारण इंगलैण्ड की नौ-शक्ति थी जिसे परास्त करने में नेपोलियन असमर्थ था।

पोप से शत्रुता—प्रथम कोंसल बनते ही नेपोलियन ने अपनी सत्ता को सुदृढ़ बनाने के सभी उपाय काम में लेने शुरू कर दिये थे। इनमें से एक काम था फ्रांस के लाखों कैथोलिकों की सहानुभूति और समर्थन प्राप्त करना। इसके लिए उसने पोप के साथ समझौता कर लिया। कई वर्षों तक यह समझौता कायम रहा। परन्तु महाद्वीपीय व्यवस्था ने इस समझौते में दरार पैदा कर दी। वस्तुतः पोप, फ्रांस और इंगलैण्ड के इस संघर्ष में अपने आपको तटस्थ रखना चाहता था जबकि फ्रांस और इंगलैण्ड दोनों ही यह चाहते थे कि जहाँ तक सम्भव हो सके यूरोप की कोई शक्ति तटस्थ न रहे। जब पोप ने महाद्वीपीय व्यवस्था का पालन करने से इन्कार कर दिया तो नेपोलियन ने पोप के राज्य को छीन लिया। प्रत्युत्तर में पोप ने नेपोलियन को ईसाई समाज से वहिष्कृत कर दिया और समस्त निष्ठावान् ईसाइयों से उसके विरुद्ध धर्मयुद्ध करने की अपील की। इस पर नेपोलियन ने पोप को बन्दी बना लिया और कई वर्ष तक पोप बन्दीवस्था में ही रहा। परिणामस्वरूप एक बार पुनः राजनीति में धर्म का पुट लग गया और यूरोप का कैथोलिक समाज नेपोलियन का शत्रु बन गया और गुप्त रूप से उसके पतन की तैयारियों में जुट गया।

स्पेन का राष्ट्रीय आन्दोलन—स्पेन का राजा नेपोलियन के घनिष्ठ मित्रों में से था। उसने नेपोलियन को उसके युद्धों में जन, धन और सामग्री से सहयोग दिया था। परन्तु साम्राज्य-लोलुप नेपोलियन स्पेन को हड़पना चाहता था। नेपोलियन की इस नीति के पीछे एक अन्य कारण भी था। स्पेन का राजवंश भी वोर्बा वंश की शाखा थी। अर्थात् वह फ्रांस के राजवंश की शाखा थी और नेपोलियन वोर्बा वंश को पूरी तरह से समाप्त करना चाहता था। इसलिए उसने स्पेन के वोर्बा राजवंश को भी समाप्त करने का निश्चय किया। परिस्थितियाँ भी उसके अनुकूल थीं। स्पेन का राजा चार्ल्स चतुर्थ एक अयोग्य व्यक्ति था, उसकी रानी अनैतिकता में डूबी हुई थी और शासन की वागडोर रानी के प्रेमी गोद्धा के हाथ में थी। युवराज फर्डीनेड भी भोग-विलासी था परन्तु वह राजा, रानी और गोद्धा के विरुद्ध था। राज-परिवार की आपसी फूट और जनता में

उसकी अलोकप्रियता ने नेपोलियन का काम आसान बना दिया। इसके बाद उसने अपने भाई जोसेफ बोनापार्ट को स्पेन का सम्राट बनाया। नेपोलियन के इस कार्य से स्पेन की जनता क्रोधित हो उठी और उसने नेपोलियन तथा उसके कठपुतले जोसेफ के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन का ध्वज फहरा दिया। 1808 ई. में स्पेन के लोगों ने बेलोन नामक स्थान पर फ्रांसीसी सेना को परास्त कर दिया। जोसेफ स्पेन छोड़कर भाग गया। स्पेन के राष्ट्रीय आन्दोलन ने इंगलैण्ड को यूरोप की धरती पर पैर टिकाने का स्वर्ण अवसर प्रदान कर दिया। उसने तत्काल क्रान्तिकारी स्पेनिश जनता की सहायता के लिए अपनी एक सेना स्पेन भेज दी। अगस्त, 1808 ई. में इंगलैण्ड के सेनापति आर्थर वेलेजली (जो बाद में ड्यूक ऑफ वेलिंगटन के नाम से प्रसिद्ध हुआ) ने विमरो के स्थान पर फ्रांसीसी सेना को पराजित किया और सम्पूर्ण पुर्तगाल को फ्रांसीसी आधिपत्य से स्वतन्त्र कराने में सफलता प्राप्त की। इस पर नेपोलियन स्वयं फ्रांस से स्पेन आया। उसने कई स्थानों पर स्पेनवासियों को पराजित किया और जोसेफ को पुनः स्पेन के सिंहासन पर बैठाया। इसके बाद उसने अँग्रेजी सेना से टक्कर लेने की सोची। परन्तु इसी समय आस्ट्रिया ने एक बार पुनः फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। अतः नेपोलियन सेना का उत्तरदायित्व मार्शल साट को सौंपकर स्वयं फ्रांस लौट गया। अँग्रेज सेनापति मूर ने कोरूना नामक स्थान पर मार्शल साट को बुरी तरह से पराजित किया। इसी समय वेलेजली ने टेलेवरा नामक स्थान पर एक अन्य फ्रांसीसी सेना को पराजित किया। इन घटनाओं से स्पेन के राष्ट्रीय आन्दोलन को और भी अधिक बल मिला। नेपोलियन ने जनरल मैसीना के नेतृत्व में एक नई सेना भेजी। परन्तु इसको भी वेलेजली के हाथों पराजित होना पड़ा। फिर भी, मैसीना मैदान में डटा रहा और वेलेजली उसे स्पेन से खदेड़ने में कामयाब न हो पाया। इस प्रकार, स्पेन को हड़पकर नेपोलियन ने एक भयंकर गलती की। उसने स्पेन जैसे मित्र को कट्टर शत्रु बना लिया और स्पेन के राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने के लिए उसे एक बहुत बड़ी सेना स्पेन में रखने के लिए विवश होना पड़ा। इससे उसके प्रबल एवं प्रमुख शत्रु इंगलैण्ड को यूरोपीय महाद्वीप में घुसने तथा स्थल-युद्धों में फ्रांसीसी सेनाओं को पराजित करने का अवसर मिल गया क्योंकि उसे स्पेनिश जनता का पूरा-पूरा सहयोग भी उपलब्ध हो गया था। इसलिए प्रायः यह कहा जाता है कि स्पेन नेपोलियन के लिए एक जहरीला फोड़ा सिद्ध हुआ। काफी समय बाद स्वयं नेपोलियन ने स्वीकार किया था कि "स्पेन का मामला ही मेरे नाश का मुख्य कारण था। मैं मानता हूँ कि स्पेन के सम्बन्ध में मैंने बहुत ही बुरे ढंग से आचरण किया।"

मास्को अभियान—नेपोलियन की महाद्वीपीय व्यवस्था ने रूस को भी फ्रांस का शत्रु बना दिया। इसके अलावा कुछ अन्य कारण भी थे जिनकी वजह से दोनों की मैत्री टूट गई। पहला कारण रूस के सामन्तों का फ्रांस के प्रति विरोध था। फ्रांसीसी क्रान्ति ने उस देश के सामन्तों को विशेषाधिकारों तथा जागीरों से वंचित करके दीन-हीन बना दिया था। इससे रूसी सामन्तों को बड़ी ठेस पहुँची थी और वे अपने राजा पर फ्रांस-विरोधी नीति अपनाने पर निरन्तर जोर डालते रहे। महाद्वीपीय व्यवस्था के कारण रूसी सामन्तों को भी इंगलैण्ड से आमोद-प्रमोद तथा भोग-विलासिता का सामान प्राप्त करने में अब बहुत अधिक कठिनाई आ रही थी। दूसरा कारण, रूस का जार अलेक्जेण्डर था। उसे नेपोलियन की मैत्री से जो कुछ लाभ मिलना था, वह मिल

चुका था। उसने फिनलैण्ड और डेन्यूब का क्षेत्र ले लिया था। अब और अधिक लाभ की आशा न थी। क्योंकि नेपोलियन ने रूस को कुस्तुनतुनिया न देने का फैसला कर लिया था। अलेक्जेण्डर को यह भय भी था कि कहीं नेपोलियन पोलैण्ड के राज्य का पुनरुद्धार न करे। इस स्थिति में उसे भी पौलण्ड के अपने प्रदेशों से हाथ धोना पड़ सकता था। परन्तु तनाव का मुख्य कारण महाद्वीपीय व्यवस्था ही थी। जर्मनी में इस व्यवस्था को सख्ती के साथ लागू करने की दृष्टि से नेपोलियन ने ओल्डेनवुर्ग की डची को अपने अधिकार में ले लिया था। यहाँ का शासक जार अलेक्जेण्डर का वहनोई था। अतः जार का रुष्ट होना स्वाभाविक ही था। इसके बाद नेपोलियन ने जार को भी सख्ती के साथ महाद्वीपीय व्यवस्था का पालन करवाने को कहा। परन्तु जार ने न केवल असन्तोषजनक उत्तर ही भिजवाया अपितु उसने तटस्थ-देशों के जहाजों को रूसी बन्दरगाहों में आने के लिए कुछ सुविधाएँ भी दे दीं जिससे नेपोलियन क्रोधित हो उठा और उसने रूस पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया।

रूस के बारे में यह विख्यात था कि वहाँ छोटी सेनाएँ परास्त हो जाती हैं और वड़ी सेनाएँ भूखों मर जाती हैं। नेपोलियन इस सत्य से भली-भाँति परिचित था। उसने एक विशाल सेना तैयार की जिसमें लगभग 6 लाख सैनिक थे। इतनी बड़ी सेना के लिए आवश्यक सामान भी पर्याप्त मात्रा में साथ ले लिया गया। मई, 1812 में जब सव तैयारियाँ पूरी हो गईं तो 24 जून को अभियान शुरू हुआ। अपनी परम्परागत शैली के अनुसार रूसी सेना पीछे हटती गई। पीछे हटते समय रूसी लोग अपने खेतों एवं खलिहानों को जलाते गये ताकि शत्रु को अन्न और घास भी न मिल सके। 14 सितम्बर को नेपोलियन मास्को पहुँच गया और 22 अक्टूबर तक वहीं रहा। अब तव उसको अधिक कठिनाई अथवा प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा था। परन्तु अव रूस की कड़कड़ाती सर्दी ने उसके सैनिकों को मौत के घाट उतारना शुरू कर दिया। घास के अभाव में सैकड़ों घोड़े मरने लगे। मास्को से वापस रवाना होते ही रूसियों ने फ्रांसीसियों पर पीछे से जोरदार आक्रमण कर दिया। हजारों सैनिक रोज मरने लगे, जो बचे थे उनको भरपेट भोजन नसीब नहीं हो रहा था। इस प्रकार, उसे बहुत-सी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं और नेपोलियन अपनी विशाल सेना के केवल बीस हजार सैनिकों के साथ वापस आ सका। अर्थात् उसके पाँच लाख अस्सी हजार सैनिक मारे गये और किसी प्रकार का लाभ भी न हुआ। रूस के हाथों नेपोलियन की दुर्दशा की कहानी सुनकर दूसरे देशों में भी जोश पैदा हो गया और उन्होंने नेपोलियन के विरुद्ध पुनः हथियार उठा लिये।

लिपजिग का युद्ध—मास्को अभियान के तुरन्त वाद यूरोप की कुछ शक्तियों ने चौथी वार फ्रांस के विरुद्ध गुट बनाया। इंगलैण्ड, आस्ट्रिया, प्रशिया और रूस इस गुट के प्रमुख सदस्य थे। इंगलैण्ड के सेनापति ड्यूक ऑफ वेलिंगटन ने स्पेन में फ्रांसीसी सेनाओं को पराजित कर राजधानी मेड्रिड पर अधिकार कर लिया। जोसेफ वोनापार्ट फिर स्पेन छोड़कर भाग गया। उधर अक्टूवर, 1813 ई. में रूस, आस्ट्रिया और प्रशिया ने मिलकर लिपजिग (लाइपजिग) के युद्ध में नेपोलियन को बुरी तरह से पराजित करके राइन नदी के उस पार खदेड़ दिया। चार दिन तक चलने वाला यह युद्ध इतिहास में 'राष्ट्रों का युद्ध' नाम से प्रसिद्ध है। इसके बाद भी गुट के सदस्यों ने नेपोलियन को समझौते के लिए आमन्त्रित किया था, परन्तु नेपोलियन ने उनके प्रस्ताव को

स्वीकार नहीं किया। तब रूस और प्रशिया की सेनाएँ पेरिस में घुस गईं। नेपोलियन को बन्दी बना लिया गया। उसे सिंहासन से हटा दिया गया और एल्बा द्वीप में रहने के लिए भेज दिया गया। उसकी 'सम्राट' पदवी को कायम रखा गया और एल्बा द्वीप का स्वतन्त्र शासन भी उसे सौंप दिया गया। इस प्रकार, नेपोलियन को पहली बार भयंकर पराजय एवं अपमान का मजा चखना पड़ा।

वाटरलू का युद्ध—नेपोलियन की पराजय के बाद मित्र राष्ट्रों ने बोर्बो वंश के लुई अठारहवें को फ्रांस के सिंहासन पर बैठाया और फ्रांस के साथ अस्थायी सन्धि कर ली। विस्तृत सन्धि का काम वियना काँग्रेस को सौंप दिया गया जिसमें यूरोप के सभी प्रमुख देशों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। परन्तु फरवरी, 1815 ई. में नेपोलियन गुप्त रूप से एल्बा द्वीप से भागकर फ्रांस पहुँच गया। सैनिकों और पेरिस की जनता ने उसका शानदार स्वागत किया। लुई अठारहवाँ जल्दी से फ्रांस छोड़कर बेल्जियम भाग गया। नेपोलियन पुनः फ्रांस का सम्राट बन गया। मित्र राष्ट्रों ने तत्काल उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। वेलिंगटन अपनी सेना के साथ प्रशियन सेनापति ब्लूचर से मिलने के लिए चल पड़ा। आस्ट्रियन सेना भी राइन की तरफ बढ़ने लगी। नेपोलियन ने अपने शत्रुओं को आपस में मिलने से पहिले ही अलग-अलग पराजित करने की योजना बनाई। सर्वप्रथम उसने ब्लूचर को बुरी तरह से पराजित किया। उधर उसके सेनापति 'ने' (Ney) ने वेलिंगटन को रोकने का असफल प्रयास किया। अन्त में, 18 जून, 1815 के दिन वाटरलू के मैदान पर नेपोलियन और वेलिंगटन के मध्य घमासान युद्ध हुआ। दोपहर के बाद वेलिंगटन की सेना पस्त होने लगी परन्तु ठीक समय पर प्रशियन सेनापति ब्लूचर अपनी सेना सहित युद्ध मैदान पर जा पहुँचा जिससे युद्ध का पासा ही पलट गया। अब नेपोलियन की सेना के पैर उखड़ गये और वह परास्त हो गई। नेपोलियन वहाँ से पेरिस भाग गया। परन्तु इस बार पेरिस की जनता ने उसका साथ नहीं दिया। नेपोलियन ने अमेरिका भागने की योजना बनाई परन्तु वह अँग्रेजों के हाथों में पड़ गया। अँग्रेजों ने उसे सेण्ट हेलेना के द्वीप में बन्दी बनाकर रखा। 6 वर्ष बाद, 1821 ई. में आधुनिक संसार के इस महान् विजेता तथा रणकुशल सेनानायक की मृत्यु हो गई। उसी के साथ फ्रांस की क्रान्ति का अध्याय भी समाप्त हो गया।

पतन के कारण

उत्थान के बाद पतन प्रकृति का शाश्वत नियम है। नेपोलियन बोनापार्ट एक सामान्य सैनिक से फ्रांस का सम्राट बन गया परन्तु वाटरलू के मैदान में उसे 'सम्राट पद तथा साम्राज्य' दोनों से हाथ धोना पड़ा और एक बन्दी की हैसियत से अपने जीवन के शेष वर्ष बिताने पड़े। जिन नाटकीय परिस्थितियों में उसका पतन हुआ, वे गहन अध्ययन का विषय है। संक्षेप में, उसके पतन के लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी थे—

1. नेपोलियन की महत्त्वाकांक्षा—नेपोलियन एक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था। वह सम्पूर्ण यूरोप को अपने अधिकार में करना चाहता था। इसके लिए उसे लगभग चालीस युद्ध लड़ने पड़े और अधिकांश में उसे सफलता मिली। इन सफलताओं में उसके सेनानायकों एवं सैनिकों का योगदान भी रहा। परन्तु सभी सफलताओं का सारा श्रेय वह स्वयं लेने का प्रयास करता था

जिससे उसके कई विश्वस्त सेनानायक भी उससे रुष्ट रहने लगे। दूसरी बात यह कि नेपोलियन ने यह नहीं सोचा कि प्रत्येक युद्ध उसके लिए एक नया शत्रु उत्पन्न कर रहा है।

2. शारीरिक शक्तियों का कमजोर पड़ना—निःसन्देह नेपोलियन एक शूरवीर सेनानायक था और युद्धों में उसने अपनी असाधारण सैनिक योग्यता का प्रदर्शन किया। परन्तु आखिर वह भी मनुष्य ही तो था। नित्य प्रति उसकी उम्र ढलती जाती थी। वह अधिक मोटा तथा विलासप्रिय हो गया था। परिणामस्वरूप परिश्रम एवं काम करने की उसकी शक्ति दिन-प्रतिदिन कम होती जा रही थी। आस्ट्रिया की राजकुमारी के साथ विवाह करने के बाद वह प्रशासनिक कार्यों के प्रति उदासीन रहने लग गया। जो नेपोलियन दिन-रात काम करने तथा अपने मन्त्रियों एवं सलाहकारों के साथ घण्टों मन्त्रणा करने का अभ्यस्त था, वह अब प्रशासनिक कार्यों के लिए कुछ घण्टे भी नहीं दे पा रहा था।

3. चारित्रिक दुर्बलताएँ—नेपोलियन में बहुत-सी चारित्रिक कमजोरियाँ थीं। वह क्रोधी स्वभाव का व्यक्ति था और जल्दी ही आवेश में आ जाता था। इसी कारण उसने विजित देशों के प्रति कभी उदार व्यवहार नहीं किया और अपने शत्रुओं की संख्या में वृद्धि करता गया। प्रोफेसर जे. होलैण्ड ने लिखा है कि नेपोलियन का स्वभाव जिद्दी बन गया था, जो उसके पतन का कारण बना। वह समझता था कि मैं जो सोचता हूँ—वह ठीक है। सम्राट बनने के बाद उसने अपने योग्य सलाहकारों की राय लेना भी बन्द कर दिया। वह स्वयं के अतिरिक्त, अन्य किसी की भी उन्नति देखने को उत्सुक नहीं था। अतः उसका पतन स्वाभाविक ही था। केवल समय का इन्तजार था। वाटरलू के मैदान में समय ने उसका साथ छोड़ दिया।

4. भाई-भतीजावाद—प्रारम्भ में नेपोलियन ने सरकारी पदों को योग्य व्यक्तियों के लिए खोल दिया था। परन्तु सम्राट बनने के बाद वह भी भाई-भतीजावाद के चक्कर में फँस गया। उसने अपने एक भाई लुई को हालैण्ड का राजा बनाया। दूसरे भाई जेरोम को वेस्टफेलिया का राजा बनाया तो तीसरे भाई जोसफ को स्पेन का सिंहासन दिया। उसकी माता 'राजमाता' की पदवी से विभूषित की गई। उसने अपने सौतेले पुत्र यूजेन को उत्तरी इटली का वायसराय नियुक्त किया। अपनी बहिनों को भी पर्याप्त मान-सम्मान दिलवाया। एलिस को लुक्का की राजकुमारी बनवा दिया और एक अन्य बहिन कैरोलिन का विवाह अपने सेनापति मुरा के साथ कर दिया और मुरा को नेपिल्स का राजा बना दिया। इस प्रकार, उसने अपने परिवार के लगभग समस्त सदस्यों को उजागर कर दिया। क्रान्ति ने जिस निरंकुश राजतन्त्र और सामन्तवाद के विरुद्ध संघर्ष करके उसे उखाड़ फेंका था, नेपोलियन ने नये रूप से उसी निरंकुश राजतन्त्र और सामन्तवाद का निर्माण किया। इससे जनता का रुष्ट होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि नेपोलियन की पूरी सतर्कता के बाद भी सामन्ती व्यवस्था के मूलभूत दोष उसकी शासन-व्यवस्था में भी घुस ही गये।

5. नेपोलियन का अधिनायकवाद : जनप्रतिनिधित्व का अभाव—ज्यों-ज्यों नेपोलियन की स्थिति सुदृढ़ होती गई उसमें निरंकुशता घर करती गई जिसका अन्तिम सोपान था—"अधिनायकवाद"। निरंकुशता से जनता में भय और आतंक तो उत्पन्न किया जा सकता है; परन्तु निष्ठा और समर्थन प्राप्त नहीं किया जा सकता। फ्रांस के बाहर उसने मनमाने ढँग से पुराने राजवंशों तथा राज्यों का विघटन कर नये राज्यों का निर्माण किया। फ्रांस के अन्दर उसने

स्थानीय शासन-संस्थाओं में निर्वाचन पद्धति को समाप्त कर दिया और निर्वाचित अधिकारियों के स्थान पर अपने विश्वस्त अधिकारियों को नियुक्त किया जो केवल उसी के प्रति उत्तरदायी होते थे। इससे स्थानीय नागरिक अपने स्थानीय मामलों का प्रबन्ध करने की सुविधा एवं स्वतन्त्रता से वंचित हो गये। कुछ इतिहासकारों ने शायद इसी आधार पर उसके केन्द्रीय शासन को अत्याचारपूर्ण बताया है। फ्रांस की जनता को यह बात खटकने लगी थी। वास्तव में उसकी शासन-व्यवस्था में जनप्रतिनिधित्व का अभाव था। नेपोलियन ने जनता को केवल सामाजिक समानता प्रदान की। लोकमत एवं स्थानीय स्वशासन के अभाव में उसके साम्राज्य की नींव खोखली होती चली गई।

6. सैनिक दुर्बलताएँ—नेपोलियन का साम्राज्य उसके व्यक्तित्व एवं उसकी सैनिक शक्ति पर आधारित था। जब तक उसके व्यक्तित्व में प्रतिभा विद्यमान रही, चमत्कार बना रहा, तब तक फ्रांसीसी और दूसरे लोग भी उससे दबे रहे। परन्तु प्रतिभा एवं चमत्कार के लोप होते ही लोगों ने उसका साथ छोड़ दिया। यही बात उसकी सैनिक शक्ति पर लागू होती है। शक्ति पर आधारित साम्राज्य भी तभी तक फलता-फूलता है, जब तक शक्ति मौजूद रहती है। शक्ति के नष्ट होते ही साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता है। शुरू में नेपोलियन की सेना के सामने एक आदर्श था। वह स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व के लिए लड़ रही थी।

परन्तु जब नेपोलियन ने इन आदर्शों की अवहेलना करनी शुरू कर दी तो उसकी सेना का क्रान्तिकारी जोश भी समाप्त हो गया। अब उसमें और एक निरंकुश शासक की सेना में कोई अन्तर नहीं रह गया। इसी प्रकार, शुरू में उसकी सेना राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत थी और दूसरे देशों के लोग भी अपने को निरंकुश शासन से मुक्त करवाने के लिए उसकी सेना की ओर आशा लगाये बैठे रहते थे। परन्तु जब नेपोलियन ने अपनी सेनाओं को दूसरे देशों में रखना शुरू कर दिया और अपनी सेना का व्यय भी उनसे वसूल करने लगा तो वे नेपोलियन के विरुद्ध हो गये। इसी प्रकार, जब नेपोलियन ने दूसरे देशों के निवासियों को भी अपनी सेना में भर्ती करना शुरू कर दिया तो उसकी सेना का राष्ट्रीय स्वरूप समाप्त हो गया।

शुरू-शुरू में नेपोलियन को जो सफलताएँ मिलीं उसका एक कारण उसके नये अस्त्र-शस्त्र तथा रणनीति थी। धीरे-धीरे दूसरे देशों ने भी इन तरीकों को अपना लिया। इस प्रकार, उसकी सैनिक श्रेष्ठता का अन्त हो गया। फिर नेपोलियन ने इतने अधिक युद्ध लड़े थे कि उसके अधिकांश योग्य एवं युवा सैनिक वीरगति को प्राप्त हो चुके थे। वाटरलू के मैदान पर जिन सैनिकों के साथ नेपोलियन अपने भाग्य को आजमा रहा था, उनकी औसत आयु 15-16 वर्ष की थी। उसकी सैनिक निर्बलता ही अन्त में उसके पतन का एक महत्त्वपूर्ण कारण सिद्ध हुई।

7. नौ-शक्ति की दुर्बलता—नेपोलियन के पतन का एक प्रमुख कारण फ्रांस की नौ-शक्ति की दुर्बलता था। उसने स्थल युद्धों में यूरोप के सभी देशों को पराजित करने में सफलता प्राप्त की परन्तु वह इंगलैण्ड को पराजित करने में असफल रहा। इंगलैण्ड ही उसका प्रमुख एवं प्रबल शत्रु था और वही नेपोलियन के विरुद्ध बार-बार गुटों का निर्माण करता रहा और गुट में सम्मिलित होने वाले देशों को सैनिक साज-सामान से मदद करता रहा। इंगलैण्ड को अपनी श्रेष्ठ नौ-शक्ति के कारण अपनी सुरक्षा का भय नहीं था। उसके जहाजी बेड़े को परास्त करना आसान काम नहीं

था। नेपोलियन को दो वार इंगलैण्ड के जहाजी वेड़े के हाथों पराजय का मुँह देखना पड़ा। फ्रांस की नौ-सैनिक शक्ति की दुर्वलता के कारण ही नेपोलियन की महाद्वीपीय व्यवस्था असफल रही थी। यह तथ्य उसके पतन का एक प्रमुख कारण प्रमाणित हुआ।

8. महाद्वीपीय व्यवस्था—इसकी विस्तृत चर्चा पीछे की जा चुकी है। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि महाद्वीपीय नीति के परिणाम नेपोलियन तथा यूरोप के लिए आत्म-घातक सिद्ध हुए। इंगलैण्ड की सख्त समुद्री नाकेबन्दी ने यूरोपीय देशों का उनके उपनिवेशों से सम्बन्ध काट दिया जिसके परिणामस्वरूप चीजों के भावों में जवरदस्त वृद्धि हो गई और लोगों का असन्तोष बढ़ने लगा। जिस किसी ने इस नीति का विरोध किया, नेपोलियन ने उसके विरुद्ध सख्त कार्यवाही की। उसने अपने भाई लुई को हालैण्ड के सिंहासन से हटा दिया। पोप का राज्य छीनकर उसे 'वेटिकन' में कैद कर दिया गया। पुर्तगाल को जीतकर फ्रांसीसी साम्राज्य में मिला लिया गया। रूस के विरुद्ध अभियान किया गया। इस प्रकार, उसकी महाद्वीपीय व्यवस्था के कारण उसके सभी मित्र असन्तुष्ट हो गये और वे उसके पतन की कामना करने लगे।

9. पोप से शत्रुता—जव पोप ने महाद्वीपीय व्यवस्था का पालन करने से इन्कार कर दिया तो नेपोलियन ने पोप का राज्य छीन लिया और पोप को 'वेटिकन' में बन्दी वनाकर रखा गया। प्रत्युत्तर में पोप ने नेपोलियन को ईसाई समाज से बहिष्कृत कर दिया और समस्त निष्ठावान ईसाइयों से उसके विरुद्ध धर्मयुद्ध करने की अपील की। परिणामस्वरूप यूरोप का कैथोलिक समाज नेपोलियन का शत्रु बन गया।

10. स्पेन का राष्ट्रीय आन्दोलन—स्पेन का राजा नेपोलियन का घनिष्ठ मित्र था और उसने नेपोलियन को जन, धन और सामग्री से भरपूर सहायता भी दी थी। परन्तु जव साम्राज्य-लोलुप नेपोलियन ने उसे सिंहासनच्युत करके अपने भाई जोसेफ को स्पेन का राजा बना दिया तो स्पेन की जनता उसके विरुद्ध उठ खड़ी हुई। स्पेन के राष्ट्रीय आन्दोलन ने इंगलैण्ड को यूरोप की धरती पर पैर टिकाने का अवसर प्रदान कर दिया। स्पेन के राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने के लिए नेपोलियन को एक वहुत वड़ी सेना स्पेन में रखनी पड़ी। फिर भी, उसे सफलता नहीं मिली। स्पेन का आन्दोलन उसके लिए एक नासूर सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार, प्रशिया और पुर्तगाल में भी नेपोलियन के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन उठ खड़े हुए। ये आन्दोलन भी उसके पतन में भागीदार बने।

11. फ्रांस की आर्थिक स्थिति का विगड़ना—इसमें कोई सन्देह नहीं कि नेपोलियन के आर्थिक-सुधारों एवं विजित देशों से प्राप्त धन-सम्पदा ने फ्रांस की आर्थिक स्थिति को काफी सुधार दिया था। परन्तु लगातार युद्धों एवं महाद्वीपीय व्यवस्था ने फ्रांस की आर्थिक स्थिति को पुनः डगमगा दिया। नेपोलियन के राजसी ठाठ ने भी राजकीय कोष को क्षति पहुँचाई और विवश होकर सरकार को जनता पर अनेक कर लगाने पड़े। इससे जन-असन्तोष में वृद्धि हुई। केटलवी ने लिखा है, "आर्थिक और सामाजिक चक्र में निष्पेपित फ्रांस की जनता इतनी क्षुब्ध और अधीर हो गई थी कि चारों तरफ विद्रोह की भावनाएँ जागृत हो उठीं। युद्ध के व्यय की पूर्ति के लिए जनता पर अनेक कर लगाये गये जिनके परिणामस्वरूप उसमें असन्तोष एवं विद्रोह की भावना और अधिक वलवती हुई।"

नेपोलियन की देन

नेपोलियन बोनापार्ट फ्रांसीसी क्रान्ति की अमूल्य देन था। उसने अपने जीवन के उदाहरण से यह सिद्ध कर दिया कि प्रखर मानसिक बुद्धि, राजनीति, व्यवहार, रण-कौशल तथा शासन-कला केवल कुलीन वर्ग में उत्पन्न व्यक्तियों की बपौती नहीं है। वास्तव में वह सीमित अर्थ में क्रान्ति का शिशु था। फ्रांस और यूरोप को उसने महत्त्वपूर्ण देन दी है। उसने फ्रांस के साम्राज्य का विस्तार किया। एक ऐसा साम्राज्य जिसकी समता किसी भी फ्रांसीसी सम्राट का साम्राज्य नहीं कर सकता। उसने अपनी प्रतिभा और योग्यता के द्वारा पेरिस को यूरोपीय राजनीति का केन्द्र बना दिया और उसका यह महत्त्व बहुत दिनों तक कायम रहा। पेरिस को यूरोप का कला-केन्द्र बनाकर उसने फ्रांसीसियों की सौन्दर्य एवं अहंकार की भावनाओं को तृप्त करने का प्रयत्न किया। फ्रांसीसियों के लिए उनकी योग्यता एवं प्रतिभा के अनुसार जीवनवृत्तियों के द्वार खोल दिये तथा सभी व्यक्तियों को धर्म की उपासना की स्वतन्त्रता प्रदान की। नेपोलियन भली-भाँति जानता था कि फ्रांस के लोगों को सामाजिक समानता अधिक प्रिय थी। अतः उसने क्रान्ति द्वारा प्रदत्त सामाजिक एवं आर्थिक लाभों को कायम रखा। क्रान्तिकाल में भूमि-व्यवस्था में जो परिवर्तन किये गये थे उसको भी उसने बनाये रखा। साथ ही जो सामन्त फ्रांस छोड़कर भाग गये थे उन्हें भी पुनः आमन्त्रित किया।

नेपोलियन जितना बड़ा विजेता था उतना ही बड़ा कुशल प्रशासक भी था। यह ठीक है कि उसने एक ऐसे शासन की स्थापना की जो निरंकुशता में फ्रांस की पुरातन व्यवस्था से किसी प्रकार कम न था। फिर भी, उसकी शासन-व्यवस्था में एक विशेषता थी। वह जनकल्याण का हमेशा ध्यान रखता था। उसने ऐसे सुधारों को कार्यान्वित किया जिनसे फ्रांसीसी जनता का जीवन सुखी और समृद्ध हो सके। अपनी तरफ से उसने फ्रांसीसियों को स्वच्छ शासन प्रदान करने का प्रयत्न किया। भ्रष्टाचार को दूर किया। योग्य व्यक्तियों के लिए सरकारी पदों को उन्मुक्त रखा तथा प्रशासन-व्यवस्था को दलबन्दी से मुक्त रखा। यह नेपोलियन की फ्रांस को बहुत बड़ी देन थी।

नेपोलियन ने फ्रांस की पुरातन-शिक्षा-पद्धति में सुधार करके उसे प्रोत्साहन दिया तथा पेरिस के विश्वविद्यालय को यूरोप के श्रेष्ठ विश्वविद्यालयों की पंक्ति में ला खड़ा किया। उसकी विधि-संहिता एक बहुत बड़ी देन मानी जाती है। इस प्रकार, फ्रांस के प्रति उसकी सेवाएँ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थीं।

यूरोप ही नहीं, अपितु सारा संसार भी कुछ बातों के लिए नेपोलियन का ऋणी है। उसने फ्रांस की क्रान्ति के अग्रदूत का काम किया। नेपोलियन ने क्रान्ति के सिद्धान्तों को यूरोप में फैलाया और यूरोप के माध्यम से शेष संसार उनसे परिचित हुआ। कहा जाता है कि आधुनिक स्वेज नहर की योजना सर्वप्रथम उसी ने बनाई थी। मिस्र की प्राचीन सभ्यता का पता लगाने का श्रेय भी उसी के एक सैनिक अधिकारी को दिया जाता है।

यूरोप में जहाँ-जहाँ भी नेपोलियन पहुँचा, उसने स्वतन्त्रता, समानता तथा बन्धुत्व का प्रचार किया। विजित क्षेत्रों को निरंकुश एवं सामन्ती प्रथा से मुक्त किया और अपने द्वारा निर्मित

विधि-संहिता को लागू करके न्याय प्रदान किया। उन सभी क्षेत्रों में उसने दास-प्रथा तथा अर्द्ध-दास-प्रथा का उन्मूलन किया तथा धर्म के नाम पर की जाने वाली ज्यादतियों को बन्द किया। उसने यूरोप के इन क्षेत्रों में सामाजिक समानता तथा प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों का प्रचार किया। नेपोलियन के शत्रु देश भी उसकी इन बातों को अपनाने लगे। किन्तु यूरोप को नेपोलियन की सबसे बड़ी देन है—राष्ट्रीयता की भावना का विकास। इस भावना को उसने दो तरह से उत्पन्न किया। पोलैण्ड आदि देशों में उसने जानबूझकर राष्ट्रीयता की भावना को उभाड़ा। लेकिन स्पेन तथा जर्मनी में उसने अपनी निरंकुश सत्ता को आरोपित कर वहाँ के निवासियों में राष्ट्रीयता की भावना का विकास किया। इटली और जर्मनी में उसने अनजाने ही एकीकरण के आन्दोलन के बीज बो दिये। जर्मनी में उसने पवित्र रोमन साम्राज्य का अन्त करके तथा सैकड़ों जर्मन राज्यों को पड़ोस के बड़े जर्मन राज्यों में मिलाकर एकीकरण की पृष्ठभूमि का निर्माण किया। इसी प्रकार, उसने इटली के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त किया। वस्तुतः उसे 'आधुनिक यूरोप का निर्माता' कहा जा सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि नेपोलियन क्रान्ति का ही शिशु था। कम-से-कम बाहरी स्वरूप में उसने फ्रांस के गणतन्त्र को कायम रखा था। क्रान्ति के समय की भारी उथल-पुथल के फलस्वरूप ही वह फ्रांस के राजनीतिक रंगमंच पर आया था। वह भी अच्छी तरह से जानता था कि जनतान्त्रिक पद्धति की विशेषताओं और सैनिक अभियानों की सफलता के कारण ही पूरा यूरोप फ्रांस के सामने थरथरा गया था। बोनापार्ट क्रान्ति के इस पहलू को कायम रखना चाहता था। लोगों की राजनीतिक स्वतन्त्रता भले ही चली जाय, किन्तु सामाजिक समानता परमावश्यक थी। फलतः नयी व्यवस्था में योग्यता के अलावा उन्नति का दूसरा मार्ग न था। परन्तु साम्राज्य को कायम करके वह क्रान्ति के सिद्धान्तों से बहुत दूर चला गया। यही बात उसके पतन का कारण बनी। उसके गौरवमय जीवन का अन्त हो गया।

प्रश्न

1. नेपोलियन के उदय के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों एवं घटनाओं का संक्षेप में उल्लेख कीजिये।
2. प्रथम कौंसल के रूप में नेपोलियन के सुधारों की समीक्षा कीजिये
3. नेपोलियन के पतन के कारणों का उल्लेख कीजिये।
4. "नेपोलियन क्रान्ति का शिशु था।" इस कथन की पुष्टि कीजिये।
5. "नेपोलियन की देन" पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिये।

अध्याय-10

1848 की फ्रांसीसी क्रान्ति
(French Revolution of 1848)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—1789 ई. में फ्रांसीसी जनता ने सदियों से चले आ रहे बुर्बों वंश के निरंकुश शासन का अन्त करके फ्रांस में प्रथम गणतन्त्र की स्थापना की। परन्तु 1808 ई. में नेपोलियन बोनापार्ट ने गणतन्त्र का गला घोट कर अपने आपको सम्राट घोषित कर दिया। नेपोलियन बोनापार्ट के पतन के बाद मित्र राष्ट्रों का वियना में एक सम्मेलन बुलाया गया। वियना सम्मेलन ने फ्रांस में पुनः बुर्बों वंश के निरंकुश शासन की घोषणा की और तदनुसार लुई सोलहवें के भाई लुई अठारहवें को फ्रांस के सिंहासन पर बैठाया गया।

15 सितम्बर, 1824 को लुई अठारहवें की मृत्यु के बाद उसका भाई काउण्ट आर्तुआ, चार्ल्स दशम के नाम से फ्रांस के सिंहासन पर बैठा। वह क्रान्ति का कट्टर विरोधी एवं राजा के दैवी-अधिकारों का प्रबल समर्थक था। उसके संकेत पर प्रधानमन्त्री विलेल उत्साह के साथ प्रतिक्रियावादी नीति का अवलम्बन करने लगा।

1830 की क्रान्ति—सरकार की प्रतिक्रियावादी नीति के फलस्वरूप लोगों में असन्तोष बढ़ने लगा। 1827 में निम्न सदन के लिए नये चुनाव कराये गये जिसमें सरकार विरोधी दलों को बहुमत प्राप्त हो गया। प्रधानमन्त्री विलेल को त्याग-पत्र देना पड़ा। उसके स्थान पर विकाम्टे-डि-मार्टिगनेक को प्रधानमन्त्री बनाया गया। परन्तु वह सरकार-विरोधी असन्तोष को कम करने में असफल रहा। तब प्रिन्स जूल्स-डि-पोलिगनेक को प्रधानमन्त्री बनाया गया। विरोधी दलों ने तत्काल ही पोलिगनेक के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित कर दिया। सम्राट चार्ल्स दशम ने सदन को भंग कर जुलाई, 1830 में नये चुनाव कराये। चुनाव के बाद सदन में सरकार विरोधियों की संख्या और भी बढ़ गई।

सरकार विरोधियों का प्रभाव नष्ट करने के लिए 25 जुलाई, 1830 को चार्ल्स दशम ने अध्यादेश जारी किये जिनके अन्तर्गत—(1) समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता को समाप्त कर दिया गया, (2) नवनिर्वाचित सदन को भंग कर दिया गया, (3) निर्वाचन कानून में ऐसा संशोधन किया गया कि लगभग 75 प्रतिशत व्यक्ति मताधिकार से वंचित हो गये, और (4) नये कानून के अन्तर्गत सितम्बर में नये चुनाव कराने की घोषणा की गई। इन अध्यादेशों से जन-असन्तोष अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। 26 जुलाई, 1830 को रात-भर पेरिस नगर क्रान्ति के नारों एवं

स्वाधीनता की जय-जयकार से गूँजता रहा। 27 जुलाई को सैनिकों एवं क्रान्तिकारियों में सशस्त्र संघर्ष शुरू हो गया। ऐसी परिस्थिति में 30 जुलाई को चार्ल्स दशम अध्यादेशों को वापस लेने के लिए तैयार हो गया, लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी। 31 जुलाई को चार्ल्स ने अपने पौत्र ड्यूक ऑफ बोद्रो के पक्ष में सिंहासन त्याग दिया और स्वयं इंगलैण्ड भाग गया। परन्तु जन नेताओं को बुर्बों वंश और उसके उत्तराधिकारी ड्यूक ऑफ बोद्रो में बिल्कुल विश्वास नहीं था। उन्होंने राजवंश की छोटी शाखा आर्लियाँ के ड्यूक लुई फिलिप को नया शासक चुना। 17 अगस्त, 1830 को सदन ने उसे विधिवत् "फ्रांसीसी जनता का राजा" घोषित किया। इस प्रकार, फ्रांस में बुर्बों वंश की सत्ता समाप्त हो गई।

लुई फिलिप और 1848 की क्रान्ति

लुई का व्यक्तित्व—लुई फिलिप एक वैधानिक शासक की स्थिति एवं उसकी मर्यादाओं को भली-भाँति जानता था। फ्रांस में निरंकुश शासन के प्रति जो घृणा व्याप्त थी, उससे भी वह सुपरिचित था। अतः वह लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों के आधार पर शासन करना चाहता था। वह साधारण ढँग से रहता था। बगल में छाता दबाये पैदल ही पेरिस की सड़कों पर घूमने निकल जाता था। सभी प्रकार के लोगों से वह निःसंकोच मिलता था और कभी-कभी मजदूरों के साथ बैठकर शराब भी पी लेता था। इन दिखावटी कार्यों से आरम्भ में उसकी लोकप्रियता बहुत बढ़ी। किन्तु वह अवसरवादी था। कुछ समय बाद यह स्पष्ट होने लगा कि उसके इस दिखावटीपन के पीछे सत्ता की भूख छिपी हुई थी। वह न तो उदारवादी था और न प्रतिक्रियावादी। उसमें सम्राट की महानता न होकर एक व्यापारी की नम्रता थी। उसने अपने शासनकाल में सभी पक्षों को सन्तुष्ट करने का प्रयास किया। किन्तु फिर भी उसकी कुछ कठिनाइयाँ और गृह तथा विदेश नीति की दुर्बलताएँ, अन्त में उसके पतन और 1848 की क्रान्ति का कारण बन गईं।

लुई फिलिप की कठिनाइयाँ—संवैधानिक दृष्टि से लुई के अधिकार कमजोर थे, क्योंकि उसका निर्वाचन जनता द्वारा नहीं हुआ था बल्कि निम्न सदन (Chamber of Deputies) द्वारा हुआ था। निम्न सदन द्वारा राजा चुनने का अधिकार भी संदिग्ध था क्योंकि चार्ल्स दशम ने निम्न सदन को भंग कर दिया था। इसके अतिरिक्त अनेक राजनैतिक दल उसके विरोधी थे। ड्यूक ऑफ बोर्दो के समर्थक भी उसके विरोधी थे। गणतन्त्रवादी भी उसके प्रबल विरोधी थे। लुई फिलिप ने फ्रांस को धर्म-निरपेक्ष राज्य बनाना स्वीकार कर लिया था। इससे कैथोलिक लोग भी उससे नाराज हो गये। फ्रांस में केवल संविधानवादी उसके समर्थक थे।

लुई फिलिप की मध्यममार्गी नीति—लुई के समर्थकों में दो विचारधाराओं के लोग सम्मिलित थे। एक तो प्रगतिवादी थे, जो क्रान्ति के बाद कुछ और सुधार करने तथा उग्र विदेश नीति अपनाने के समर्थक थे। दूसरी तरफ रूढ़िवादी थे, जो यह मानते थे कि मौजूदा व्यवस्था में और किसी सुधार की आवश्यकता नहीं है। लुई ने प्रगतिवादी और रूढ़िवादी दोनों विचारधाराओं के मध्य "न्याय संगत मध्यममार्गी नीति" (Policy of the just mean) का अवलम्बन किया, जिसे "स्वर्णिम मध्यममार्गी नीति" (The Golden mean) भी कहा जाता है। वस्तुतः उसने सभी पक्षों को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया। गणतन्त्रवादियों को प्रसन्न करने

के लिए उसने बुर्बों राजवंश के सफेद झण्डे के स्थान पर क्रान्ति के प्रतीक तिरंगे झण्डे को राष्ट्रीय ध्वज बनाया। बोनापार्टिस्टों को सन्तुष्ट करने के लिए उसने नेपोलियन के अवशेषों को पेरिस के एक भव्य मन्दिर में स्थापित किया। कट्टर राजसत्तावादियों को प्रसन्न करने के लिए उसने उच्च-मध्यम वर्ग को शासन में अधिक-से-अधिक महत्त्व दिया। जन-साधारण को सन्तुष्ट करने के लिए उसने स्वतन्त्रताओं पर लगे सभी प्रकार के प्रतिबन्ध हटा लिये। 25 वर्ष के उन सभी व्यक्तियों को जो 200 फ्रैंक प्रतिवर्ष कर देते थे, मताधिकार प्रदान किया गया।

यद्यपि लुई फिलिप ने अपनी मध्यममार्गी नीति द्वारा सभी पक्षों को सन्तुष्ट करने का प्रयास किया, किन्तु फ्रांस का कोई भी दल उससे सन्तुष्ट नहीं हुआ।

लुई फिलिप की गृह नीति—यद्यपि लुई फिलिप केवल वैध राजसत्तावादियों एवं उच्च-मध्यम वर्ग के समर्थन पर निर्भर था, किन्तु वह अपनी इच्छानुसार अपना मन्त्रिमण्डल बदलता रहा। कभी वह प्रगतिवादी दल का मन्त्रिमण्डल बनाता तो कभी रूढ़िवादी दल का। यदि किसी कारणवश कोई मन्त्रिमण्डल उसकी नीति से सहमत नहीं होता तो वह उसे बर्खास्त कर देता। इस प्रकार, धीरे-धीरे वह स्पष्ट रूप से स्वेच्छाचारी बनता गया। वह स्वयं को केवल वैधानिक शासक नहीं बनाना चाहता था, अपितु वह स्वयं शासन करना चाहता था। यही बात उसके पतन का कारण बनी।

अगस्त, 1830 में ड्यूक डी ब्रोगली (Duke de Brogile) के नेतृत्व में मन्त्रिमण्डल बना। अक्टूबर, 1830 में पेरिस में दंगा हो गया क्योंकि जनता पुराने मन्त्रियों को दण्ड देने तथा हॉलैण्ड के विरुद्ध बेल्जियम की सहायता करने की माँग कर रही थी। मन्त्रिमण्डल दंगाइयों के विरुद्ध दमनकारी नीति अपनाना चाहता था किन्तु लुई फिलिप इसके लिए तैयार नहीं हुआ। अतः ब्रोगली ने त्याग-पत्र दे दिया। उसके स्थान पर नवम्बर, 1830 में क्रान्तिकारी लफायेत (Laffitte) के नेतृत्व में प्रगतिवादी मन्त्रिमण्डल बनाया गया, किन्तु बेल्जियम सम्बन्धी नीति पर मतभेद हो जाने के कारण उससे भी त्याग-पत्र दे दिया। मार्च, 1831 में केसीमीर पेरियर (Casimir Perier) का रूढ़िवादी मन्त्रिमण्डल बना, जिसने गणतन्त्रवादियों के प्रति दमनकारी नीति अपनायी। अक्टूबर, 1832 में केसीमीर की मृत्यु हो गई और मार्शल सूल का मन्त्रिमण्डल बना। इसने भी गणतन्त्रवादियों का दमन जारी रखा। किन्तु गणतन्त्रवादियों की गुप्त समितियाँ कार्य करती रहीं। मजदूरों में असन्तोष के कारण दंगा हो गया। हिंसा को रोकने के लिए दमनकारी नीति अपनाई गई। सितम्बर, 1835 में विरोधी दलों का दमन करने के लिए कठोर नियम बनाये गये जिससे गणतन्त्रवादियों की शक्ति चकनाचूर हो गई। परन्तु इस दमनकारी नीति के कारण मन्त्रिमण्डल में फूट पड़ गई तथा कुछ कठोर मन्त्रियों ने अपना पृथक् दल बना लिया। लुई फिलिप ने इसे संरक्षण दिया क्योंकि वह मन्त्रिमण्डल की बढ़ती हुई शक्ति से चिन्तित हो चुका था। मन्त्रियों की आपसी फूट के कारण मार्शल सूल ने त्याग-पत्र दे दिया (फरवरी, 1836 में)। अब थीयर्स (Thiers) ने नया मन्त्रिमण्डल बनाया। थीयर्स ने सम्राट के अधिकारों को सीमित करना चाहता था ताकि मन्त्रिमण्डल को स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने का अवसर मिल सके। दूसरी तरफ लुई फिलिप स्वयं शासक बनना चाहता था। थीयर्स स्पेन को सहायता देना चाहता था, किन्तु फिलिप

इसके पक्ष में नहीं था। अतः सितम्बर, 1836 में थीयर्स ने त्याग-पत्र दे दिया। अब लुई फिलिप ने अपने मित्र मोल (Mole) को प्रधानमन्त्री बनाया जिसका निम्न सदन में बहुमत नहीं था। उसने सभी पक्षों के प्रति समझौतावादी नीति अपनाई, जिसके फलस्वरूप 1839 तक देश में शान्ति बनी रही। विदेश नीति के क्षेत्र में वह शान्तिपूर्ण नीति का समर्थक था परन्तु जनता गौरवपूर्ण नीति चाहती थी। अतः निम्न सदन में उसकी नीति का कड़ा विरोध होने लगा। इस पर जनवरी, 1839 में निम्न सदन को भंग कर नये चुनाव कराये गये जिसमें मोल पराजित हुआ। उसकी पराजय अप्रत्यक्ष रूप से लुई फिलिप की पराजय थी। परन्तु लुई फिलिप ने अपनी बिगड़ती हुई स्थिति को सम्भाल लिया। उसने मई, 1839 में मार्शल सूल को दुबारा प्रधानमन्त्री बनाया, परन्तु वह अधिक समय तक काम न कर सका और फरवरी, 1840 में त्याग-पत्र दे दिया। मार्च, 1840 में थीयर्स को दुबारा प्रधानमन्त्री नियुक्त किया गया, किन्तु मिस्र के मेहमत अली को समर्थन देने के प्रश्न पर जनता उससे नाराज हो गई और लुई ने भी उसकी नीति को समर्थन नहीं दिया। फलतः अक्टूबर, 1840 में थीयर्स ने त्याग-पत्र दे दिया। इसके बाद मार्शल सूल को तीसरी बार प्रधानमन्त्री बनाया गया, किन्तु मन्त्रिमण्डल का वास्तविक नेता गिवजो (Guizot) था, जो 1848 में लुई फिलिप के पतन तक अपने पद पर कार्य करता रहा।

यद्यपि लुई फिलिप ने अपनी आन्तरिक नीति में औद्योगिक और सामाजिक सुधारों की ओर विशेष ध्यान दिया, परन्तु इससे मजदूरों, किसानों और निर्धनों को कोई लाभ नहीं मिला। मजदूरों ने अपने छोटे-छोटे संघ बनाकर आन्दोलन शुरू कर दिये। समाजवादी नेता लुई ब्लां ने जनतन्त्रीय आधार पर सरकार का पुनर्गठन करने तथा राष्ट्रीयकरण करने पर बल दिया। लुई ने इस प्रकार की माँगों पर कोई ध्यान नहीं दिया। अतः जन-असन्तोष बढ़ता गया। लुई फिलिप ने भाषण, लेखन व समाचार-पत्रों पर कठोर प्रतिवन्ध लगा दिया तथा सरकार की आलोचना करने वालों को कठोर दण्ड दिया जाने लगा। उसकी दमनकारी नीति से क्षुब्ध विद्रोहियों ने उसे 6 बार मार डालने के भी असफल प्रयास किये किन्तु सैन्य शक्ति के बल पर विद्रोहियों का दमन कर दिया गया।

लुई फिलिप की विदेश नीति—लुई फिलिप ने युद्ध से बचने के लिए शान्तिपूर्ण एवं समझौतावादी नीति अपनाई। इंग्लैण्ड के साथ "मित्रतापूर्ण सहयोग" उसकी विदेश नीति का महत्त्वपूर्ण अंग था, क्योंकि रूस और आस्ट्रिया को फ्रांस के नये राजतन्त्र में विश्वास नहीं था। इसके विपरीत फ्रांसीसी जनता गौरवपूर्ण एवं क्रियाशील विदेश नीति चाहती थी। लुई ने बेल्जियम, पोलैण्ड, इटली, मिस्र, स्पेन और स्विट्जरलैण्ड के प्रति जो नीति अपनाई, उससे फ्रांस की जनता अत्यधिक रुष्ट हो गई।

1. बेल्जियम का मामला—बेल्जियम पर हॉलैण्ड का अधिकार था। अक्टूबर, 1830 में बेल्जियम में क्रान्ति हो गई। लन्दन में पाँच बड़े राज्यों—रूस, प्रशा, आस्ट्रिया, ब्रिटेन और फ्रांस का एक सम्मेलन हुआ जिसमें बेल्जियम की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया गया। परन्तु जब लुई फिलिप के द्वितीय पुत्र को बेल्जियम का नया शासक चुना गया तो इंगलैण्ड ने इसका विरोध किया। तब इंगलैण्ड की महारानी विक्टोरिया के चाचा लियोपोल्ड को शासक चुना गया। फ्रांस

की जनता को इससे गहरा धक्का लगा। 1839 में फ्रांस और इंगलैण्ड की संयुक्त कार्यवाही के कारण हॉलैण्ड को झुकना पड़ा तथा उसने बेल्जियम की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया।

2. पोलैण्ड और इटली की क्रान्तियाँ—लुई फिलिप के शासन काल में पोलैण्ड में क्रान्ति हो गई। फ्रांस की जनता पोल क्रान्तिकारियों को सहायता देने के पक्ष में थी। किन्तु लुई फिलिप रूस को अपना शत्रु बनाना नहीं चाहता था। अतः उसने पोलैण्ड को कोई सहायता नहीं दी। रूस ने सैन्य शक्ति के सहारे पोल क्रान्ति को कुचल दिया।

इसी प्रकार, इटली की क्रान्ति के समय भी लुई फिलिप ने जन-इच्छा के विरुद्ध इटली को कोई सहायता नहीं दी। क्योंकि इटली को सहायता देकर वह आस्ट्रिया से युद्ध लड़ने को तैयार नहीं था। लुई की इस दब्बू नीति से जनता उसके विरुद्ध हो गई।

3. मिस्र का मामला—नवम्बर, 1831 में मिस्र के पाशा मेहमत अली के पुत्र इब्राहीम ने तुर्की के प्रदेशों दमिश्क तथा सीरिया पर आक्रमण कर दिया तथा तुर्की की सेनाओं को परास्त करता हुआ तुर्की की राजधानी कुस्तुनतुनिया की ओर बढ़ने लगा। सुल्तान ने यूरोपीय राष्ट्रों से सहायता की प्रार्थना की। इंगलैण्ड एवं फ्रांस इस समय बेल्जियम में उलझे हुए थे। रूस ने तत्काल सुल्तान की सहायता के लिए अपनी सेनाएँ भेज दीं। इंगलैण्ड और फ्रांस को तुर्की में रूसी हस्तक्षेप पसन्द नहीं आया और दोनों देशों ने तुर्की के सुल्तान पर दवाव डालकर दोनों पक्षों में सन्धि करवा दी। सन्धि के अनुसार मेहमत अली को दमिश्क, सीरिया और फिलिस्तीन मिल गये।

सुल्तान ने दबाव में आकर दमिश्क, सीरिया आदि क्षेत्र मेहमत अली को दे दिये थे, परन्तु वह इन क्षेत्रों को पुनः प्राप्त करना चाहता था। अतः अप्रैल, 1839 में सुल्तान ने सीरिया पर आक्रमण कर दिया, परन्तु उसे परास्त होना पड़ा। जुलाई, 1839 में उसकी मृत्यु हो गई और उसका सोलह वर्षीय पुत्र अब्दुल मजीद सुल्तान बना जिससे तुर्की की स्थिति और भी दयनीय हो गई। इधर रूस मेहमत अली की बढ़ती हुई शक्ति से चिन्तित था। उसने इंगलैण्ड के साथ मिलकर उसकी शक्ति को रोकने का निश्चय किया। दूसरी तरफ, फ्रांस की जनता मेहमत अली को सहायता देने के पक्ष में थी। 1840 में रूस, प्रशा, आस्ट्रिया और इंगलैण्ड ने मिलकर लन्दन में एक समझौता किया जिसके अनुसार मेहमत अली को तुर्की के साथ समझौता करने हेतु बाध्य किया। इस महत्त्वपूर्ण सम्मेलन में फ्रांस को आमन्त्रित नहीं किया गया। इस घटना से फ्रांसीसी जनता क्रुद्ध हो उठी। जनता ने इसे राष्ट्रीय अपमान समझा और इसके लिए लुई फिलिप की दब्बू नीति को उत्तरदायी ठहराया गया।

4. स्विट्जरलैण्ड का गृह-युद्ध—वियना कांग्रेस ने 22 केण्टानों (जिलों) का एक शिथिल संघ बनाकर स्विट्जरलैण्ड का निर्माण किया था। इनमें 7 केण्टन कैथोलिक थे और 15 प्रोटेस्टेन्ट थे। 1845 में कैथोलिक केण्टनों ने "सौदरबन्द" नामक एक संघ बनाया और प्रोटेस्टेन्ट केण्टनों के विरुद्ध संघर्ष छोड़ दिया। आस्ट्रिया, प्रशा और रूस कैथोलिकों को सहयोग देने की सोचने लगे। फ्रांस भी उनके साथ सहमत हो गया। परन्तु इंगलैण्ड ने प्रोटेस्टेन्टों का साथ दिया और अपनी कूटनीति से बड़ी शक्तियों को कैथोलिकों को सहायता नहीं करने दी। लुई फिलिप द्वारा प्रतिक्रियावादी केण्टनों को सहायता देना फ्रांस के उदारवादियों को पसन्द नहीं आया।

इस प्रकार, लुई फिलिप की असफल एवं दुर्बल विदेश-नीति के कारण अन्तर्राष्ट्रीय जगत में फ्रांस की प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा। फ्रांस की जनता इसे सहन न कर सकी। जनता के मस्तिष्क में यह धारणा दृढ़ हो गई कि इसका मूल कारण लुई फिलिप की दुर्बलताएँ एवं अयोग्यता है।

फरवरी, 1848 की क्रान्ति और लुई फिलिप का पतन—लुई फिलिप की आन्तरिक एवं विदेश-नीति के विरुद्ध समूचे फ्रांस में असन्तोष बढ़ता जा रहा था। ऐसे में 1846-47 में खराब मौसम के कारण फसलें नष्ट हो गईं जिससे अनाज की कीमतें बढ़ गईं। दूसरी तरफ उद्योगों में मन्दी आ गई और बेरोजगारी बढ़ने लगी। इस आर्थिक संकट में सुधारवादियों ने सुधारों की माँग की। परन्तु लुई फिलिप ने सुधारों की माँग को ठुकरा दिया। इससे विरोधी दल उत्तेजित हो उठे। उन्होंने जनता के हस्ताक्षरों से युक्त सुधारों के लिये माँग-पत्र सरकार के पास भेजने का निश्चय किया। हस्ताक्षरों के लिए अधिक-से-अधिक लोगों को एक स्थान पर एकत्र करने के लिए देश में स्थान-स्थान पर "सहभोज" आयोजित किये जाने लगे जिन्हें "सुधार सहभोज" कहा जाता था। इस प्रकार के आयोजनों में जोशीले भाषण होते थे तथा सरकार की जोरदार आलोचना की जाती थी।

22 फरवरी,1848 को पेरिस में एक विशाल 'सुधार सहभोज' आयोजित करने का निश्चय किया गया परन्तु सरकार ने उस पर रोक लगा दी। जनता सुधारों की माँग के साथ-साथ मन्त्रिमण्डल के प्रमुख गिवजो को बरखास्त करने की माँग करने लगी। दूसरे दिन सरकार ने शान्ति स्थापना के लिए नेशनल गार्ड (रक्षक दल) को बुला लिया, परन्तु अधिकांश सैनिक जनता के साथ मिल गये। इससे लुई फिलिप घबरा गया। उसने गिवजों को बरखास्त कर दिया और सुधारों का आश्वासन दिया। 23 फरवरी को प्रदर्शनकारियों की भीड़ विदेश-मन्त्रालय जा पहुँची। किसी व्यक्ति ने रक्षक दल पर गोली चला दी। प्रत्युत्तर में रक्षक-दल ने भी गोली चलाना आरम्भ कर दिया जिससे लगभग 20 व्यक्ति मारे गये तथा 50 से अधिक घायल हो गये। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए गणतन्त्रवादियों ने जनता को क्रान्ति के लिए भड़काया। 24 फरवरी को जनता विद्रोही हो उठी और पेरिस की गलियों तथा सड़कों पर मोर्चाबन्दी कर ली। सम्पूर्ण पेरिस में सशस्त्र संघर्ष आरम्भ हो गया तथा विद्रोही "गणतन्त्र जिन्दाबाद" के नारे लगाने लगे। क्रान्तिकारियों की एक उत्तेजित भीड़ ने राजमहल को घेर लिया तथा सेना ने लुई फिलिप की रक्षा करने में अपनी असमर्थता प्रकट की। लुई घबरा गया तथा वह अपने पौत्र काउण्ट डि पेरिस को राजा बनाने की घोषणा कर अपनी पत्नी सहित भेष बदल कर इंगलैण्ड चला गया। उसके पलायन के साथ ही राजतन्त्र का अन्त हो गया। फ्रांस में क्रान्ति सफल रही।

1848 की क्रान्ति के कारण

1848 की फ्रांसीसी क्रान्ति के मुख्य कारण लुई फिलिप की प्रतिक्रियावादी आन्तरिक एवं दब्बू विदेश-नीति तथा गिवजों की दमनकारी नीति थे, जिनका हम वर्णन कर चुके हैं। अन्य कारण निम्नलिखित थे—

1. मध्यम वर्ग की प्रधानता—लुई फिलिप ने सिंहासन पर बैठने के बाद जो नया संविधान प्रदान किया था उसमें उन्हीं लोगों को मताधिकार दिया गया था जो एक निश्चित मात्रा में वार्षिक

कर अदा करते हों। परिणामस्वरूप निम्न सदन में मध्यम वर्ग के लोगों का ही वर्चस्व बना रहा। आम आदमी के लिए सदन में पहुँचना लगभग असम्भव था। मध्यम वर्ग ने अपने हितों का ही ध्यान रखा और जन साधारण के हितों की उपेक्षा की। इससे आम आदमी को कोई लाभ नहीं मिला और वे लुई फिलिप को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। अवसर मिलते ही वे एकजुट हो गये और उसकी सत्ता को उखाड़ फेंका।

2. समाजवाद का उदय—ज्यों-ज्यों फ्रांस में औद्योगिक एवं व्यावसायिक क्रान्ति का विस्तार होता गया त्यों-त्यों वर्ग-संघर्ष भी बढ़ता गया और समाजवाद का उदय हुआ। समाजवादी नेता लुई ब्लांक (ब्लां) ने मजदूरों को अपनी ट्रेड यूनियन स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित किया। उसने प्रभावशाली तरीके से मजदूरों के हितों का प्रतिपादन भी किया। मजदूरों ने अपने वेतन बढ़ाने तथा अन्य सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए सरकार से माँग की। परन्तु लुई फिलिप ने हमेशा पूँजीपतियों का पक्ष लेकर मजदूरों तथा अन्य समाजवादियों को अपना विरोधी बना दिया। फरवरी, 1848 की क्रान्ति में मजदूरों ने बढ़-चढ़ कर भाग लिया।

3. लुई फिलिप की निर्बल संवैधानिक स्थिति—संवैधानिक दृष्टि से लुई फिलिप की स्थिति काफी कमजोर थी। वह फ्रांस-सम्राट न होकर फ्रांसीसी जनता का राजा था। जिस निम्न सदन ने उसको राजा चुना था, उसे चार्ल्स दशम ने पहले ही भंग कर दिया था। उस निम्न सदन के 430 सदस्यों में से केवल 219 ने ही उसके पक्ष में मत दिया था। अर्थात् निम्न सदन के लगभग आधे सदस्य उसके विरोधी थे।

4. लुई फिलिप की दमनकारी नीति—वैसे तो अधिकांश राजनैतिक दल लुई फिलिप की नीतियों से असन्तुष्ट होकर उसके विरोधी बन गये थे, परन्तु गणतन्त्रवादी तो उसकी सत्ता को ही उखाड़ फेंकना चाहते थे। अतः लुई ने भी गणतन्त्रवादियों के प्रति दमनकारी नीति अपनाई। चारों तरफ गुप्तचरों का जाल बिछा दिया गया। भाषण, लेखन व समाचार-पत्रों पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिया गया तथा सरकार की आलोचना करने वालों को कठोर दण्ड दिया जाने लगा। इससे लुई फिलिप के विरुद्ध असन्तोष बढ़ता ही गया और उसे खत्म करने के लिए 6 बार प्रयास किया गया।

क्रान्ति के परिणाम

1. आर्लियाँ वंश का अन्त—1830 की क्रान्ति ने फ्रांस के बुर्बों वंश का अन्त करके, उसकी छोटी शाखा आर्लियाँ के लुई फिलिप को सिंहासन प्रदान किया था। 1848 की क्रान्ति ने आर्लियाँ के "काउण्ट डि पेरिस" (जिसे लुई फिलिप अपना उत्तराधिकारी घोषित कर भाग गया था) को ठुकरा कर उसकी सत्ता का अन्त कर दिया।

2. द्वितीय गणराज्य की घोषणा—लुई फिलिप के पलायन के बाद निम्न सदन ने काउण्ट डि पेरिस को नया राजा बनाना स्वीकार कर लिया परन्तु गणतन्त्रवादियों और समाजवादियों ने निम्न सदन को घेर लिया और उसे राजतन्त्र को समाप्त करने को बाध्य कर दिया। वे गणतन्त्र की स्थापना के लिए दृढ़ संकल्प थे। निम्न सदन ने एक "अस्थायी सरकार" की स्थापना की घोषणा की जिसमें क्रान्तिकारी नेता लामार्तीन, समाजवादी नेताओं—लुई ब्लां और अल्बर्ट को

भी सम्मिलित किया गया। अस्थायी सरकार ने 24 फरवरी, 1848 को गणतन्त्र की घोषणा कर दी। इस प्रकार, फ्रांस में एक बार पुनः राजतन्त्र के स्थान पर गणतन्त्र स्थापित हो गया।

3. मताधिकार का विस्तार—क्रान्ति के बाद जो नया संविधान लागू किया गया उसके अन्तर्गत मताधिकार का विस्तार किया गया जिससे लाखों लोगों को मत देने का अधिकार मिला। इससे मध्यम वर्ग के प्रभाव में थोड़ी कमी आ गई।

क्रान्ति का स्वरूप और उसका महत्त्व

फ्रांस की 1848 की क्रान्ति एक आकस्मिक घटना थी, अर्थात् क्रान्ति की कोई योजना नहीं थी। क्रान्तिकारी तो केवल सुधारों की माँग कर रहे थे। किन्तु क्रान्ति के तीसरे दिन क्रान्ति का स्वरूप गणतन्त्रीय हो गया। लुई फिलिप के वैधानिक राजतन्त्र के स्थान पर गणतन्त्र की स्थापना कर दी गई। गणतन्त्रवादियों को विवश हो कर समाजवादियों को 'अस्थाई सरकार' में सम्मिलित करने के अलावा उनकी कुछ माँगों को भी पूरा करना पड़ा। फिर भी दोनों में तनाव एवं मतभेद बना रहा। जून के विद्रोह में समाजवादी परास्त हुए क्योंकि किसानों तथा मध्यम वर्ग के लोगों ने गणतन्त्रवादियों का साथ दिया। इसके साथ ही क्रान्ति का तीसरा चरण समाप्त हुआ। चतुर्थ एवं अन्तिम चरण में बोनापार्टिस्टों की विजय हुई तथा लुई नेपोलियन तृतीय गणतन्त्र का राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ। उसने अपने चाचा नेपोलियन बोनापार्ट के पदचिन्हों पर चलते हुए 1852 में द्वितीय गणतन्त्र का अन्त करके अपना साम्राज्य स्थापित किया।

1848 की क्रान्ति फ्रांस के राजनैतिक इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस क्रान्ति ने मताधिकार का विस्तार करके मध्यम वर्ग से सत्ता छीन कर समाज को सौंप दी। इस क्रान्ति ने जनतन्त्र के विकास में भी अभूतपूर्व योगदान दिया। 25 फरवरी, 1848 को अस्थायी सरकार ने एक विज्ञप्ति जारी की जिसमें कहा गया कि प्रत्येक नागरिक को रोजगार उपलब्ध करने का अधिकार होगा। अतः यह क्रान्ति मजदूरों और कारीगरों के लिए भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। 1848 की क्रान्ति से फ्रांस में वैधानिक राजतन्त्र का प्रयोग असफल हो गया। ग्राण्ट और टेम्परले ने लिखा है कि, "लुई फिलिप के असफल शासन ने यह सिद्ध कर दिया कि फ्रांस के लिए ब्रिटेन के ढँग का संवैधानिक राजतन्त्र उपयुक्त नहीं है।" इस क्रान्ति का सर्वाधिक महत्त्व तो इस बात में है कि इसने यूरोप के अनेक राज्यों में क्रान्तिकारी एवं उदारवादी आन्दोलनों को प्रोत्साहित किया।

1848 की क्रान्ति का यूरोप पर प्रभाव

जिस प्रकार 1830 की फ्रांसीसी क्रान्ति ने यूरोप के अनेक राज्यों को प्रभावित किया था, उसी प्रकार 1848 की क्रान्ति ने भी यूरोप के छोटे-बड़े अनेक राज्यों को प्रभावित किया। मध्य यूरोप तो इससे इतना अधिक प्रभावित हुआ कि वियना कांग्रेस ने जो यूरोपीय व्यवस्था का ढाँचा तैयार किया था, उसकी नींवें हिलने लगीं। यद्यपि 1848 के आरम्भ में निकट भविष्य में क्रान्ति की कोई सम्भावना नहीं थी, तथापि यूरोप के अनेक देशों में ऐसी विस्फोटक स्थिति का निर्माण हो चुका था जिसके परिणामस्वरूप क्रान्ति की ज्वाला धधक सकती थी। जनता प्रतिक्रियावादी

शासन का अन्त करने हेतु तैयार बैठी थी। फ्रांस की क्रान्ति ने उन्हें प्रोत्साहित कर दिया तथा एक देश में क्रान्ति की प्रगति ने दूसरे देश की क्रान्तिकारी गतिविधियों को प्रभावित किया। परन्तु यह कहना उचित नहीं होगा कि 1848 में यूरोप के अन्य राज्यों में क्रान्ति का कारण फ्रांस की ही क्रान्ति थी। डेविड थाम्पसन का मत है कि इन क्रान्तियों को वास्तविक प्रेरणा इटली से मिली जहाँ 1848 की फ्रांसीसी क्रान्ति के पहले ही उदारवादी आन्दोलन आरम्भ हो चुके थे। इसके विपरीत चार्ल्स पाउथस और डा. ए. डब्ल्यू. वार्ड फ्रांस की क्रान्ति को प्रेरक मानते हैं। एलिसन फिलिप्स का मत है कि, "फ्रांस की क्रान्ति की ज्वाला मानों एक संकेत थी, जिसे प्राप्त कर क्रान्तिकारी आन्दोलन, जिसकी काफी पहले से तैयारी हो चुकी थी, एक साथ भड़क उठे। सम्भव है इस संकेत के न मिलने पर यह विस्फोटक एक साथ न होकर अलग-अलग होता।"

आस्ट्रिया में क्रान्ति—आस्ट्रिया प्रतिक्रियावादियों का मुख्य गढ़ था। फ्रांसीसी क्रान्ति की सूचना मिलते ही आस्ट्रिया की राजधानी वियना के राजनैतिक क्षेत्र तथा विश्वविद्यालय के शिक्षकों एवं विद्यार्थियों में उत्तेजना फैल गई। 12 मार्च, 1848 को विश्वविद्यालय में जोरदार प्रदर्शन हुआ तथा दो शिक्षकों ने, जनता की ओर से सुधारों हेतु सम्राट को प्रार्थना-पत्र दिया। 13 मार्च को विद्यार्थियों और मजदूरों का एक विशाल जुलूस निकला, लेकिन सेना ने उस पर गोली चला दी। फिर भी, भीड़ ने आगे बढ़ कर राजमहल को घेर लिया तथा चांसलर मेटरनिख के त्याग-पत्र की माँग की। 14 मार्च को मेटरनिंख ने त्याग-पत्र दे दिया तथा आस्ट्रिया से भाग खड़ा हुआ। इस घटना का समूचे यूरोप पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। मेटरनिख के पलायन के बाद सम्राट फर्डीनेण्ड प्रथम ने आन्दोलनकारियों को शान्त करने के लिए नवीन संविधान प्रदान किया तथा जनता को अनेक अधिकार दिये। किन्तु जनता नये संविधान से सन्तुष्ट नहीं हुई तथा 15 मई को विद्यार्थियों और मजदूरों की भीड़ ने मन्त्रिमण्डल के सभा कक्ष को घेर लिया और सरकार को संविधान में आवश्यक संशोधन करने का वचन देने हेतु बाध्य किया। सम्राट को जनता के आगे झुकना पड़ा। किन्तु अब सम्राट का धैर्य समाप्त हो चुका था। 17 मई को वह राजधानी से भाग खड़ा हुआ और इंसबुक (Iunsbruck) नामक नगर में शरण ली। 26 मई को आन्दोलनकारियों ने लोकतन्त्र स्थापित कर लिया तथा नया संविधान बनाने के लिए वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनी हुई राष्ट्रीय सभा का अधिवेशन शुरू हुआ। राष्ट्रीय सभा के अधिकांश सदस्य वैधानिक राजतन्त्र के पक्ष में थे। अतः सम्राट को वापस बुलाया गया तथा राष्ट्रीय सभा संविधान निर्माण में लग गई। इसी बीच साम्राज्य के अन्य भागों में भी क्रान्ति भड़क उठी जिससे वियना में भी क्रान्तिकारी पुनः उठ खड़े हुए। विद्रोहियों ने युद्ध-मन्त्री की हत्या कर दी। स्थिति की नाजुकता को देखते हुए सम्राट पुनः भाग खड़ा हुआ, किन्तु जाते-जाते उसने सेना को आदेश दिया कि विद्रोहियों को गोली से उड़ा दे। सेना अभी भी सम्राट के प्रति वफादार थी। उसने वियना पर आक्रमण कर दिया तथा आन्दोलन को कुचल दिया। इस प्रकार आस्ट्रिया में क्रान्ति विफल हो गई। सम्राट पुनः लौट आया तथा जनता को प्रसन्न करने के लिए संविधान प्रदान किया।

हंगरी में क्रान्ति—13 मार्च को वियना-क्रान्ति की सूचना मिलते ही हंगरी में भी क्रान्ति की ज्वाला भड़क उठी। उस समय हंगरी आस्ट्रियन साम्राज्य का अंग था। हंगरी की जनता

सामन्तों के अत्याचारों से तंग आ चुकी थी। अतः 15 मार्च, 1848 को लोकप्रिय नेता क्रोसथ के प्रभाव से हंगरी के सदन ने "मार्च कानून" पारित किया। इसके अन्तर्गत हंगरी में कुलीनतन्त्रीय शासन के स्थान पर लोकतन्त्रीय संविधान एवं शासन-व्यवस्था लागू की गई। यद्यपि आस्ट्रिया का सम्राट अब भी हंगरी का सम्राट था तथापि अब हंगरी आस्ट्रियन सरकार की अधीनता से मुक्त हो गया। ग्राण्ट एवं टेम्परले के अनुसार वियना और बुडापेस्ट (हंगरी की राजधानी) की घटनाओं में काफी अन्तर था। वियना में एक उदारवादी आन्दोलन को सफलता मिली थी जबकि बुडापेस्ट में मेग्योर राष्ट्रीयता की विजय हुई थी। क्योंकि हंगरी में जो अब शासन स्थापित हुआ था वह कट्टर जर्मन विरोधी तथा हेप्सबर्ग विरोधी राष्ट्रीय शासन था।

हंगरी के नवस्थापित शासन में मेग्यारों (हंगरी के मूल निवासी) की प्रधानता थी। अतः हंगरी में आवाद विभिन्न अन्य जातियों के लोगों ने भी मेग्यारों के समान स्वशासन के अधिकार की माँग की। इस प्रकार, हंगरी में विभिन्न जातियों में आपसी फूट उत्पन्न हो गई तथा उनके आपसी मतभेद निरन्तर बढ़ते गये। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए आस्ट्रिया ने मेग्यारों के विरुद्ध अन्य लोगों को सहायता दी। इस पर हंगरी ने आस्ट्रिया से अपना सम्वन्ध विच्छेद कर गणतन्त्र की घोषणा कर दी। प्रत्युत्तर में आस्ट्रिया ने हंगरी पर आक्रमण कर दिया। युद्ध में हंगरी पराजित हुआ तथा वह पुनः आस्ट्रिया के अधीन आ गया।

बोहेमिया में क्रान्ति—हंगरी की क्रान्ति से प्रभावित होकर बोहेमिया के कुछ व्यक्तियों ने 11 मार्च, 1848 को कुछ उदारवादी माँगें रखीं, जिनमें स्वायत्तता की माँग प्रमुख थी। आस्ट्रिया के सम्राट ने उनकी सभी माँगें स्वीकार कर लीं, किन्तु आगे चलकर बोहेमिया के जर्मन और चेक नेताओं में गम्भीर मतभेद उत्पन्न हो गये। अल्पसंख्यक जर्मन लोगों ने सुधारों का जोरदार विरोध किया। जून, 1848 में प्राग (Prague) में एक अखिल स्लाव सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य जर्मन सभा के विरुद्ध स्लाव लोगों की स्वायत्तता की माँग करना था। सम्मेलन के प्रतिनिधियों ने जनसमूह को उत्तेजित कर आस्ट्रियन सेनापति के मकान पर हमला करवा दिया। आस्ट्रियन सेना ने निर्दयता के साथ विद्रोह का दमन कर दिया। बोहेमिया में किये गये शासन सुधारों को रद्द कर दिया गया तथा विद्रोहियों को कठोर दण्ड दिया गया।

इटली में क्रान्ति—फरवरी 1848 की फ्रांसीसी क्रान्ति के पूर्व ही इटली के आठ राज्यों में से एक नेपिल्स में विद्रोह हो चुका था तथा जनवरी, 1848 में वहाँ के शासक फर्डिनेण्ड को एक उदार संविधान प्रदान करना पड़ा। मेटरनिख के पलायन की सूचना मिलते ही इटली में राष्ट्रीयता की भावना प्रवल हो उठी। सर्वप्रथम, 18 मार्च को मिलान में विद्रोह हो गया तथा पाँच दिन तक विद्रोहियों और आस्ट्रिया की सेना के बीच झड़पें होती रहीं। अन्त में, 22 मार्च को जनरल रेडिस्की को मिलान छोड़ कर भागना पड़ा। 22 मार्च को वेनिश में भी विद्रोह हो गया और आस्ट्रिया के अधिकारियों को वहाँ से भागना पड़ा। वेनिश के लोगों ने वेनिश में गणतन्त्र स्थापित कर लिया।

23 मार्च को लोम्वार्डी और वेनेशिया ने भी आस्ट्रिया के विरुद्ध विद्रोह कर दिया तथा आस्ट्रिया की सेना को पराजित कर अपने राज्यों को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। इस घटना से प्रोत्साहित होकर इटली के अन्य राज्यों में भी आन्दोलन शुरू हो गये। ऐसा प्रतीत होता था मानों

इटली की स्वतन्त्रता की घड़ी आ पहुँची है। किन्तु जनरल रेडेत्स्की ने विद्रोहियों को परास्त कर दिया। 6 अगस्त, 1848 को रेडेत्स्की ने मिलान पर भी अधिकार कर लिया। इस प्रकार, लोम्बार्डी और वेनेशिया पर पुनः आस्ट्रिया का अधिकार हो गया। इटली के आन्दोलन को कुचल दिया गया। छोटे-छोटे राज्यों ने जो संविधान स्वीकृत किये थे, वे वापस ले लिये गये। सार्डिनिया के राजा विक्टर इमेनुअल पर भी आस्ट्रिया ने दबाव डाला, परन्तु उसने उदार संविधान वापस लेने से इन्कार कर दिया। अतः इटली की समस्त जनता अब उसे अपना नेता समझने लगी।

जर्मनी में क्रान्ति—1848 की फ्रांसीसी क्रान्ति ने जर्मनी के छोटे राज्यों को भी प्रभावित किया। बेडेन, बर्टमबर्ग, बवेरिया, हेलीकेसल आदि छोटे-छोटे राज्यों में निरंकुश शासन के विरुद्ध आन्दोलन उठ खड़े हुए। बवेरिया के शासक लुडविग ने अपने पुत्र मेक्समिलियन के पक्ष में सिंहासन त्याग दिया तथा उसने अपने पिता द्वारा स्वीकृत उदार संविधान के अनुसार शासन चलाने का वचन दिया। हेलीकेसल, बर्टमबर्ग, हेनोवर, सेक्सनी आदि छोटे राज्यों के शासकों ने भी उदार मन्त्रिमण्डलों की नियुक्ति की तथा राजनैतिक अधिकार, प्रेस की स्वतन्त्रता, वैधानिक शासन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को स्वीकार किया। मेटरनिख के पतन की सूचना मिलते ही 15 मार्च को प्रशा की राजधानी बर्लिन की जनता ने भी विद्रोह कर दिया। परन्तु प्रशा के सम्राट ने लोकतन्त्रात्मक प्रवृत्तियों का विरोध किया। उससे प्रेरणा ग्रहण कर छोटे राज्यों के शासक भी जन-विरोधी हो गये। परिणामस्वरूप छोटे राज्यों में पुनः आन्दोलन छिड़ गये, किन्तु प्रशा की सेना ने आन्दोलनों को कुचल दिया। परन्तु प्रशा के सम्राट को बर्लिन के क्रान्तिकारियों के समक्ष झुकना पड़ा। उसने आस्ट्रिया को पृथक् रखते हुए जर्मनी के शासकों का एक संघ बनाया, जिसमें 28 शासक सम्मिलित हुए। किन्तु आस्ट्रिया को यह पसन्द न आया और उसने प्रशा के शासक को युद्ध की धमकी देते हुए संघ को भंग करने को कहा। चूँकि प्रशा व्यर्थ में ही युद्ध का खतरा नहीं उठाना चाहता था, अतः 3 अप्रैल, 1849 को प्रशा के शासक ने नवनिर्मित संघ को भंग कर दिया। इतना ही नहीं, आस्ट्रिया ने वियना कांग्रेस द्वारा स्थापित संघ को पुनः प्रतिष्ठित करवा दिया।

रोम में क्रान्ति—राम अपने आप में एक अलग राज्य था और पोप उसका शासक था। 1846 में पायस नवम् नया पोप निर्वाचित हुआ। वह बड़ा ही उदार था तथा शासन-सुधार में विश्वास रखता था। उसने सभी राजनैतिक बन्दियों को रिहा कर जनता को संविधान प्रदान किया। किन्तु जब सार्डिनिया ने आस्ट्रिया के विरुद्ध इटली में युद्ध छेड़ दिया तो पोप ने इस राष्ट्रीय युद्ध में सम्मिलित होने से मना कर दिया। इससे रोमवासी भड़क उठे और वे पोप को राष्ट्रीयता का शत्रु समझने लगे। फलतः रोम में विद्रोह हो गया। रोम की यह क्रान्ति बड़ी भीषण रही। 5 नवम्बर, 1848 को पोप के एक मन्त्री की हत्या कर दी गई। पोप भाग कर नेपिल्स चला गया तथा रोम में गणतन्त्र की स्थापना कर दी गई। किन्तु फ्रांस का नया राष्ट्रपति नेपोलियन तृतीय, जो रोमन कैथोलिक चर्च का समर्थक था, इस कार्यवाही को सहन नहीं कर सका। उसने पोप के पक्ष में रोम में अपनी सेना भेज दी। गणतन्त्रीय सेना परास्त हो गई। गणतन्त्र का अन्त कर दिया गया और रोम में पुनः पोप का शासन स्थापित कर दिया गया।

डेनमार्क और हॉलैण्ड में क्रान्ति—1848 में यूरोप में चल रही क्रान्ति की लहर से डेनमार्क और हॉलैण्ड भी अछूते न रह सके। फरवरी, 1848 की फ्रांसीसी क्रान्ति की सफलता के समाचार मिलते ही डेनमार्क के उदारवादियों ने निरंकुश शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। 21 मार्च को डेनमार्क के शासक फ्रेडरिक सप्तम को क्रान्तिकारियों की माँगों को स्वीकार करना पड़ा। संविधान सभा के चुनाव कराये गये तथा सभा द्वारा निर्मित संविधान जून, 1849 में लागू कर दिया गया।

हॉलैण्ड के शासक विलियम द्वितीय ने स्वयं ही उदारवादी आन्दोलन का नेतृत्व किया तथा अक्टूबर, 1848 में नया संविधान स्वीकार किया गया, जिसके अनुसार दो सदनों की एक व्यवस्थापिका सभा (स्टेट्स-जनरल) की व्यवस्था की गई तथा उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल की स्थापना की गई। जनता को शासन-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हो गये।

इंगलैण्ड पर क्रान्ति का प्रभाव—1848 की क्रान्ति से कुछ अंशों में इंगलैण्ड भी प्रभावित हुआ। इंगलैण्ड में 1832 के सुधारों का लाभ केवल मध्यम वर्ग को प्राप्त हुआ था, किन्तु निम्न वर्ग और विशेषकर मजदूरों को राजनैतिक अधिकारों से वंचित रखा गया। इसीलिए 1838-39 में इंगलैण्ड में "चार्टिस्ट आन्दोलन" आरम्भ हुआ। चार्टिस्ट नेताओं ने 1839 और 1842 में संसद के समक्ष अपनी 6 माँगें प्रस्तुत कीं, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। 1848 की फ्रांसीसी क्रान्ति से चार्टिस्टों को नया प्रोत्साहन मिला। 10 अप्रैल, 1848 को लन्दन में एक विशाल आम सभा करने तथा एक बड़े जुलूस के बाद संसद को प्रार्थना-पत्र देने की योजना बनाई गई। चार्टिस्टों ने 50 लाख व्यक्तियों का एक हस्ताक्षरयुक्त प्रार्थना-पत्र तैयार किया। सरकार ने आम सभा पर रोक लगा दी तथा जुलूस को रोकने के लिए पुलिस व सेना की व्यवस्था की गई। परिणामस्वरूप जुलूस तो नहीं निकल सका, किन्तु चार्टिस्टों का प्रार्थना-पत्र संसद में विचारार्थ प्रस्तुत किया गया। प्रार्थना-पत्र को देखने से पता चला कि उसमें अधिकतर हस्ताक्षर जाली थे। इससे चार्टिस्ट बदनाम हो गये तथा उनका आन्दोलन सदा के लिए समाप्त हो गया। फिर भी, चार्टिस्ट आन्दोलन निरर्थक नहीं रहा, क्योंकि आगे चलकर धीरे-धीरे चार्टिस्टों की सभी माँगें स्वीकार कर ली गईं।

आयरलैण्ड में आन्दोलन—आयरलैण्ड पर इंगलैण्ड का अधिकार था। वहाँ भूमि-सुधार आन्दोलन चल रहा था तथा 1846-47 के अकाल ने आन्दोलन की गति को बल प्रदान किया। स्मिथ ओ' ब्रायन के नेतृत्व में "युवक आयरलैण्ड" नामक दल दिन-प्रतिदिन प्रभावशाली होता जा रहा था। 1848 की फ्रांसीसी क्रान्ति से प्रभावित होकर "युवक आयरलैण्ड" ने इंगलैण्ड के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह कर दिया परन्तु इंगलैण्ड की सरकार ने उसका कठोरतापूर्वक दमन कर दिया।

निष्कर्ष—इस प्रकार 1848 में सम्पूर्ण यूरोप क्रान्तियों से गूँज उठा। 1 मार्च से जून, 1848 तक यूरोप के अधिकांश राज्यों में क्रान्तिकारियों को सफलता भी मिली, किन्तु जून मास के बाद क्रान्तिकारियों के विरुद्ध दमन-चक्र आरम्भ हो गया और अन्त में प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ विजयी हुईं। कुल मिलाकर क्रान्तियों के जो परिणाम निकले वे निराशाजनक ही रहे।

क्रान्तियों की असफलता के कारण

1848 की क्रान्तियों के फलस्वरूप सम्पूर्ण यूरोप हिल उठा था। निरंकुश शासन व्यवस्था तथा विशेषाधिकारयुक्त वर्ग पर भीषण प्रहार किये गये जिससे उसके अस्तित्व को खतरा उत्पन्न

हो गया, किन्तु लगभग सभी राज्यों में क्रान्तियाँ असफल रहीं। इस असफलता के मुख्य कारण निम्नलिखित थे—

1. क्रान्तिकारियों के उद्देश्यों में भिन्नता—यद्यपि सभी क्रान्तिकारियों का एक उद्देश्य वियना कांग्रेस की व्यवस्था को समाप्त करना था, तथापि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में उनके उद्देश्य भिन्न थे। फ्रांस में उनका उद्देश्य 1789 की क्रान्ति की उपलब्धियों की पुनर्स्थापना तथा राजतन्त्रीय व्यवस्था को समाप्त करना था। इटली व जर्मनी में उनका उद्देश्य मेटरनिख पद्धति के अन्तर्गत स्थापित हेप्सबर्ग वंश की प्रभुसत्ता का अन्त करना था। इसके अलावा वे इटली एवं जर्मनी का एकीकरण भी चाहते थे। हंगरी में क्रान्ति के फलस्वरूप आन्तरिक संघर्ष आरम्भ हो गया तथा राष्ट्रवादी एवं उदारवादी परस्पर संघर्ष पर उतर आये जिसके कारण आस्ट्रिया को उन दोनों का दमन करने में सफलता मिल गई। आस्ट्रिया में उनका उद्देश्य वैधानिक एवं उदार शासन स्थापित करना था। उद्देश्यों के साथ-साथ उनके कार्यक्रमों तथा कार्यविधि के सम्बन्ध में भी तीव्र मतभेद थे। फलतः क्रान्ति असफल रही।

2. क्रान्तियों का नगरों तक सीमित रहना—यूरोप में क्रान्ति का प्रारम्भ मुख्य रूप से नगरों में हुआ था तथा नगरों में ही इन क्रान्तियों का प्रसार हुआ। ग्रामीण जनता पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसका कारण यह था कि ग्रामीण जनता अपने परम्परागत रीति-रिवाजों में अधिक विश्वास करती थी तथा अपने जमींदारों, पादरियों एवं सरकारी अधिकारियों का पूर्ववत् आदर करती रही और राजसत्ता का समर्थन करती रही। नगरों के क्रान्तिकारियों को ग्रामीण जनता का सहयोग एवं समर्थन प्राप्त न होने से क्रान्ति का असफल होना स्वाभाविक ही था।

3. क्रान्तिकारियों में एकता का अभाव—यद्यपि यूरोप के विभिन्न राज्यों में उदारवादी दल संगठित थे तथापि दल के नेताओं में पारस्परिक एकता का अभाव था। जब नेताओं में ही एकता का अभाव था तब उनके अनुयायियों में तो एकता का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। मजदूर वर्ग एवं मध्यम वर्ग के लोगों में विचारों की भिन्नता के साथ-साथ कार्यप्रणाली में भी अन्तर होने के कारण उनमें आपसी फूट थी। जब मजदूरों ने अपने हितों की सुरक्षा के लिए अधिक उपद्रव करना आरम्भ कर दिया तो मध्यम वर्ग क्रान्ति के उद्देश्यों का ही बलिदान करने को तत्पर हो गया। इस पारस्परिक फूट का निरंकुश शासकों ने पूरा-पूरा लाभ उठाया।

4. क्रान्तिकारियों की अनुभवहीनता—क्रान्तिकारियों के अधिकांश नेता बुद्धिजीवी वर्ग के केवल आदर्शवादी लोग थे। उन्होंने क्रान्ति के आदर्शों तथा राष्ट्रीयता की भावना के जोशीले भाषणों से जनता को उत्तेजित तो कर दिया परन्तु व्यावहारिक ज्ञान न होने के कारण क्रान्ति का सफल संचालन न कर पाये। उनकी अनुभवहीनता के कारण क्रान्ति का सफल होना सम्भव नहीं था। इसके अतिरिक्त 1848 के अन्त में यूरोप के अनेक राज्यों में प्लेग की बीमारी फैल जाने से प्रतिदिन सैकड़ों लोग मौत के मुँह में जाने लगे। नगरों का जीवन अस्त-व्यस्त हो गया तथा जनता का ध्यान केवल इस महामारी पर केन्द्रित हो गया और क्रान्ति के प्रति उत्साह कम हो गया। ऐसी स्थिति में निरंकुश शासकों के लिए क्रान्ति का दमन करना बहुत ही सरल हो गया।

5. विभिन्न जातियों में द्वेष की भावना—क्रान्ति की विफलता का एक प्रमुख कारण विभिन्न जातियों में विद्यमान द्वेष की भावना थी। वोहेमिया के शासक ने जब क्रान्तिकारियों की सभी माँगें स्वीकार कर लीं तो वहाँ की जर्मन और चेक जातियों में मतभेद उत्पन्न हो गये। स्लाव जाति के लोगों ने जर्मन लोगों के विरुद्ध अखिल स्लाव सम्मेलन आयोजित किया। इस फूट का लाभ उठाकर सम्राट ने वहाँ पुनः निरंकुश शासन की स्थापना कर दी। हंगरी में जब उदारवादी शासन में मेग्योर जाति की प्रधानता हो गई तो वहाँ की रूमानियन, क्रीट तथा सर्वियन जातियों ने इस शासन का विरोध किया। इस फूट का लाभ उठाते हुए आस्ट्रिया ने मेग्यारों के विरुद्ध अन्य जातियों को मदद दी और अन्त में हंगरी पर आक्रमण कर पुनः उसे अपना अधीनस्थ वना दिया।

6. सैन्य शक्ति का अभाव—उपर्युक्त मूलभूत कारणों के अलावा कुछ गौण कारण भी थे। क्रान्तिकारी नेताओं के पास शस्त्र नहीं थे जिससे कि वे दमन का डट कर मुकावला कर सकें तथा सेना पर भी उनका कोई प्रभाव नहीं था। मेटरनिख के पतन के वाद भी सेना सम्राट के प्रति वफादार बनी रही। पोप द्वारा कैथोलिक सिद्धान्तों की घोषणा करने से कैथोलिक लोग क्रान्ति के विरुद्ध हो गये तथा नेपोलियन ने पोप के पक्ष में सेना भेज कर रोम के गणतन्त्र का अन्त कर दिया।

क्रान्तियों के परिणाम

1. उदार संविधानवादी विचारधारा का विकास—यद्यपि 1848 की क्रान्तियों को सफलता नहीं मिली, तथापि वे सर्वथा निष्फल नहीं रहीं। क्रान्ति का दमन हो जाने के वाद विकास की गति कुछ समय के लिए रुक गई, किन्तु प्रगतिशील विचारधाराओं को सदैव के लिए नहीं दवाया जा सका। क्रान्तिकाल में किये गये कुछ सुधार तो उसी प्रकार बने रहे। आस्ट्रिया के साम्राज्य में दास-प्रथा जो क्रान्तिकाल में समाप्त कर दी गई थी, पुनर्जीवित नहीं हुई। कुछ राज्यों में वैधानिक शासन, कुछ अंशों में बना रहा। स्विट्जरलैण्ड में जो गणतन्त्र स्थापित हुआ, वह स्थायी हो गया। इस प्रकार 1850 के बाद यूरोप में उदार संविधानवादी विचारधारा किसी-न-किसी रूप में जीवित रही।

2. सैनिकवादी भावना का उदय—क्रान्ति के परिणामस्वरूप इटली और जर्मनी में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो उठी। क्रान्ति के वाद राष्ट्रवादियों को यह विश्वास हो गया था कि उदार और जनतन्त्रीय उपायों से वे अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। अतः उन्होंने अब सैनिकवादी साधनों का सहारा लिया। विस्मार्क ने इस प्रसंग में कहा था कि, "हमारे समय की बड़ी-बड़ी समस्याएँ व्याख्यानों या वहुमत के प्रस्तावों द्वारा नहीं सुलझ सकतीं वरन् रक्तपात एवं शस्त्र-प्रयोग से सुलझती हैं।" फ्रांस में भी 1850 के बाद गणतन्त्र का पतन हो गया और नेपोलियन तृतीय ने सैनिक शक्ति के आधार पर राजतन्त्रीय शासन स्थापित किया। इस प्रकार 1848 के बाद राजनैतिक दृष्टिकोण में परिवर्तन आया तथा सैनिकवादी भावनाओं का उदय हुआ।

3. सामाजिक परिवर्तन—क्रान्तियों के फलस्वरूप यूरोप के सामाजिक जीवन में भी कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आये। क्रान्तिकाल में अनेक राज्यों में सामन्तवाद को समाप्त कर दिया गया

था, जो क्रान्ति के बाद पुनर्जीवित नहीं हो सका। इससे किसानों को कुलीनों से मुक्ति प्राप्त हो गई तथा उन्हें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। आर्थिक परिवर्तनों के कारण अब राजनैतिक तथा आर्थिक विचारों में सामंजस्य स्थापित किया गया। शिक्षा, रीति-रिवाज आदि धार्मिक बन्धनों से मुक्त हो गये। इस प्रकार 1848 की क्रान्तियों ने यूरोप के लिये वह कार्य किया जो 1789 की क्रान्ति ने फ्रांस के लिये किया था। इतना होने पर भी मजदूरों की दशा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। परिणामस्वरूप इस समय से मजदूर-वर्ग और मध्यम-वर्ग के बीच संघर्ष उत्पन्न हो गया।

4. प्राचीन मान्यताओं का अन्त—इन क्रान्तियों ने प्राचीन मान्यताओं को समाप्त कर दिया। क्रान्तिकारियों ने शासकों की प्रभुसत्ता के स्थान पर लोकप्रिय प्रभुसत्ता, राज्य के स्थान पर राष्ट्रों तथा आनुवांशिकता के स्थान पर बौद्धिकता को प्रधानता दी। इन विचारों ने सभी राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं को प्रभावित किया। अब प्रत्येक मान्यता को तर्क की कसौटी पर कसा जाने लगा तथा परम्परागत मान्यताओं को चुनौती दी जाने लगी। वस्तुतः 1848 की क्रान्तियों के पश्चात् यूरोप ने अपने अतीत से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था।

5. जनसत्ता का महत्त्व बढ़ा—1848 की क्रान्तियों ने जन-समूह के महत्त्व को प्रकट कर दिया जिससे अब 'जन समूह युग' आरम्भ हो गया। 1848 के पहले आन्दोलन का रूप व्यक्तिगत होता था। क्रान्तिकारी नेता आन्दोलन के लिये जनता को भड़काते थे तथा उनमें नेतृत्व के लिये होड़ लग जाती थी। किन्तु 1848 के बाद धीरे-धीरे उसका स्वरूप सामूहिक हो गया। अन्याय के विरुद्ध खड़ा होने के लिए जनता ने किसी नेता की प्रतीक्षा किये बिना ही स्वयं आन्दोलन करना आरम्भ कर दिया। अब यह स्पष्ट हो गया कि राजनैतिक आन्दोलनों की कुंजी जनता के पास है। इस जन-समूह में राष्ट्रीयता की भावना शनैःशनैः दृढ़ होती गई जिसके परिणामस्वरूप आगे चलकर जर्मनी और इटली के एकीकरण सम्भव हो पाये।

इस प्रकार 1848 की फ्रांसीसी क्रान्ति ने समस्त यूरोप को प्रत्येक क्षेत्र में प्रभावित किया। इस क्रान्ति के परिणाम अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। निरंकुश शासकों की नींवें हिल गईं तथा संवैधानिक स्वतन्त्रता के विचारों का प्राबल्य बढ़ता गया। 1848 की क्रान्तियों ने यूरोप में मूलभूत परिवर्तन कर दिये। प्राचीन मान्यताएँ समाप्त होकर नई मान्यताओं का मार्ग प्रशस्त हुआ।

प्रश्न

1. फ्रांस में 1848 की क्रान्ति के लिये उत्तरदायी परिस्थितियों का विश्लेषण कीजिये तथा लुई फिलिप की भूमिका पर प्रकाश डालिये।
2. 1848 की फ्रांसीसी क्रान्ति के स्वरूप और उसके महत्त्व की समीक्षा कीजिये।
3. 1848 की फ्रांसीसी क्रान्ति ने यूरोप को किस प्रकार से प्रभावित किया ? यूरोप के विभिन्न देशों में इस क्रान्ति की प्रतिक्रिया का उल्लेख कीजिये।
4. 1848 की क्रान्तियों की असफलता के मुख्य कारणों का उल्लेख कीजिये।
5. 1848 की क्रान्तियों के परिणामों की समीक्षा कीजिये।

अध्याय-11

इटली का एकीकरण
(Unification of Italy)

1815 ई. में इटली की स्थिति—नेपोलियन के आक्रमणों से इटली में एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। वहाँ संगठित एवं एकरूप शासन स्थापित होने के फलस्वरूप इटली के लोगों में राष्ट्रीय एकता एवं स्वतन्त्रता की भावना जागृत हो उठी थी। किन्तु 1815 की वियना व्यवस्था से इटली पुनः छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया। इटली के उत्तर-पश्चिम में सार्डीनिया-पीडमाण्ट का राज्य था जहाँ सेवाय वंश का शासन था। उसके उत्तर-पूर्व में लोम्बार्डी और वेनेशिया के प्रदेश थे जिन पर आस्ट्रिया का आधिपत्य था। परमा, मोडेना और टस्कनी के यद्यपि स्वतन्त्र राज्य थे किन्तु उन पर आस्ट्रिया का प्रभाव था। मध्य में पोप का अपना स्वतन्त्र राज्य था। दक्षिण में नेपिल्स और सिसली थे जहाँ बूर्बो वंश के फर्डीनिण्ड प्रथम का शासन था। यह नयी व्यवस्था पूर्णतः निरंकुश, प्रतिक्रियावादी एवं भ्रष्ट थी। इटली की इस दयनीय स्थिति का चित्रण करते हुए मेजिनी ने कहा था कि हमारा कोई एक झण्डा नहीं है; हमारा कोई एक राजनैतिक नाम नहीं है और न यूरोपीय राष्ट्रों में हमारा कोई स्थान है। मेजिनी ने यह भी कहा कि हम आठ राज्यों में विभाजित हैं जो सभी एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। इन आठ राज्यों की भिन्न-भिन्न मुद्राएँ हमको एक-दूसरे से अलग करके हमें अजनबी बना देती हैं। मेटरनिख ने भी कहा था कि यहाँ का एक प्रान्त दूसरे प्रान्त के विरुद्ध है; एक नगर दूसरे नगर के विरुद्ध है; एक वंश दूसरे वंश के विरुद्ध है तथा एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के विरुद्ध है।

इटली के लोग भी क्रान्तिजनित विचारधारा से प्रभावित थे। नेपोलियन महान् के समय से उनमें राष्ट्रीय एकता की भावना जागृत हो चुकी थी। अतः वे निरंकुश, स्वेच्छाचारी, प्रतिक्रियावादी और अत्याचारपूर्ण शासन को सहन करने को तैयार नहीं थे। अतः इटली के देशभक्त अपने देश को स्वतन्त्र एवं संगठित करने के प्रयत्न करने लगे। इटली के लेखकों एवं साहित्यकारों ने भी राष्ट्रीयता की भावनाओं को उत्तेजित करने में योगदान दिया।

एकीकरण के मार्ग में बाधाएँ—19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इटली के एकीकरण में अनेक बाधाएँ थीं। इटली के उत्तरी भाग में आस्ट्रिया का प्रबल प्रभुत्व था। परमा, मोडेना तथा टस्कनी में आस्ट्रिया के हेप्सबर्ग वंश के सम्बन्धी तथा मित्र शासन करते थे। नेपिल्स और सिसली में बूर्बो वंश का शासन था। ये सभी छोटे-छोटे राज्य भी आस्ट्रिया के प्रभाव के अन्तर्गत थे।

आस्ट्रिया का चान्सलर मेटरनिख राष्ट्रीयता और उदारवाद का कट्टर शत्रु था। प्रतिक्रियावादी विदेशी प्रभुत्व इटली के एकीकरण के मार्ग में कठिनाई थी। मध्य इटली में पोप का राज्य भी शक्तिशाली था। पोप का राज्य मध्य में होने से वह उत्तरी और दक्षिणी इटली को दो अगल-अलग टुकड़ों में विभाजित करता था, जिससे इटली के एकीकरण में एक बड़ी बाधा थी। पोप का राज्य एक धार्मिक बाधा के रूप में भी था। पोप के राज्य को यदि इटली में मिलाने का प्रयत्न किया जाता तो यूरोप की समस्त रोमन कैथोलिक जनता के नाराज होने का भय था। अतः पोप के राज्य को यूरोप के प्रमुख राज्यों का समर्थन प्राप्त था। इसके अतिरिक्त इटली के अलग-अलग राज्यों की अलग-अलग परम्पराएँ थीं। उनका पारस्परिक द्वेष अत्यधिक तीव्र था तथा उनमें राष्ट्रीय चेतना का अभाव था। सम्पूर्ण इटली में प्रान्तीयवाद के कारण फूट फैली हुई थी। इटली के विभिन्न राजवंशों में एकता के लिए त्याग करने की भावना नहीं थी। वे अपने निरंकुश शासन को बनाये रखने के स्वार्थ के समक्ष राष्ट्रीय एकता को तुच्छ समझते थे। इन बाधाओं के कारण इटली के एकीकरण का भविष्य धूमिल दिखाई दे रहा था।

एकीकरण के प्रयास—उपर्युक्त बाधाओं के बावजूद इटली के कुछ देशभक्तों ने मिलकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए संघर्ष आरम्भ कर दिया। इसके लिये इटली में अनेक गुप्त संस्थाओं की स्थापना हुई, जिनमें **कार्बोनरी संस्था** प्रमुख थी। कार्बोनरी संस्था का प्रमुख केन्द्र नेपिल्स में था तथा इसकी शाखाएँ समस्त इटली में फैली हुई थीं। इस संस्था के दो प्रमुख राजनैतिक उद्देश्य थे—विदेशियों को इटली से बाहर निकालना तथा वैधानिक स्वतन्त्रता की स्थापना करना। कार्बोनरी संस्था में सभी वर्ग के लोग थे तथा इसी के नेतृत्व में 1831 तक इटली का स्वाधीनता संग्राम चलता रहा।

सन् 1820-21 का विद्रोह—स्पेन की क्रान्ति से प्रेरित होकर 1820 में कार्बोनरी संस्था के नेताओं ने नेपिल्स में विद्रोह कर दिया और इस प्रकार इटली में गुप्त संस्थाओं द्वारा आयोजित क्रान्तिकारी आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। 1821 में पीडमाण्ट के देशभक्तों ने विद्रोह कर दिया। नेपिल्स और पीडमाण्ट के विद्रोहियों ने अपने शासकों को खदेड़ दिया। किन्तु आस्ट्रिया का चान्सलर मेटरनिख इस उदारवाद की लहर को कब सहन करने वाला था ? उसने तुरन्त हस्तक्षेप कर विद्रोह का दमन कर दिया तथा दोनों राज्यों के राजसिंहासनों पर पुनः निरंकुश शासकों को बैठा दिया। यद्यपि विद्रोह को कुचल दिया गया किन्तु जन-असन्तोष कम नहीं हुआ तथा विद्रोहाग्नि पूरी तरह से बुझी नहीं।

सन् 1830 का विद्रोह—यद्यपि नेपिल्स एवं पीडमाण्ट में पुनः निरंकुश एवं प्रतिक्रियावादी शासन आरम्भ हो गया किन्तु क्रान्तिकारी गुप्त रूप से अपनी तैयारियाँ कर रहे थे। 1830 में फ्रांस में क्रान्ति हो गयी तथा इस क्रान्ति की अग्नि तीव्र गति से यूरोप में फैल गई। इस क्रान्ति के प्रभाव से पोप के राज्य, परमा और मोडेना में विद्रोह हो गया। इटली के क्रान्तिकारियों को फ्रांस से सहायता मिलने की आशा थी, किन्तु फ्रांस की ओर से उन्हें कोई सहायता प्राप्त नहीं हुई। इस बार फिर आस्ट्रिया की फौजों ने हस्तक्षेप करके विद्रोहियों को कुचल दिया तथा सभी राज्यों में पुराने शासक फिर से सिंहासनारूढ़ कर दिये गये। क्रान्ति की लहर एक बार फिर रोक

दी गई। राष्ट्रीयता एवं उदारवाद की पुनः पराजय हुई क्योंकि आस्ट्रिया की संगठित शक्ति के समक्ष विद्रोहियों की असंगठित शक्ति नहीं टिक सकी।

यद्यपि 1820 और 1830 में इटली की एकता स्थापित करने के सभी प्रयत्न असफल सिद्ध हो चुके थे तथापि इटली के देशभक्त नेताओं को यह ज्ञात हो गया कि जब तक आस्ट्रिया के आधिपत्य का अन्त नहीं हो जाता, तब तक इटली अपनी स्वतन्त्रता और एकता स्थापित नहीं कर सकता। अतः अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त करने के लिए उन्होंने यह आवश्यक समझा कि विदेशी सत्ता का शीघ्रातिशीघ्र अन्त किया जाय। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए केवल कार्बोनरी संस्था ही पर्याप्त नहीं है।

मेजिनी (1820-72) का उदय—इस अनुभव के बाद इटली के देशभक्त अधिक सचेत होकर और अधिक सूझ-बूझ से तैयारियाँ करने लगे। इसी समय इटली के राजनैतिक रंगमंच पर ज्यूसप मेजिनी (Gidseppe Maizini) का प्रादुर्भाव हुआ जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन में एक नयी जान फूँक दी। मेजिनी, जिनोआ के एक चिकित्साशास्त्री का पुत्र था। बचपन से ही उसमें देशभक्ति की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी तथा उसके मन में इटली को स्वतन्त्र कराने की प्रबल भावना थी। 1820 की क्रान्ति के पहले वह कार्बोनरी संस्था का सदस्य था तथा 1830 के विद्रोह में भाग लिया था। विद्रोह के दमन के बाद उसे कैद कर लिया गया तथा लगभग एक वर्ष तक वह जेल में रहा। कारावास से मुक्त होने पर उसे देश से निर्वासित कर दिया गया। 1831 में वह फ्रांस के मार्सेल्स नगर में पहुँचा और वहीं पर 1831 में उसने 'युवा इटली' (Young Italy) नामक संस्था की स्थापना की। इस संस्था ने शीघ्र ही कार्बोनरी संस्था का स्थान ग्रहण कर लिया। इस संस्था की सदस्यता के लिए 40 वर्ष से कम उम्र का कोई भी नवयुवक प्रवेश के लिये योग्य था। इसका ध्येय युवकों को शिक्षित और अनुशासित बनाकर देश सेवा के लिये तैयार करना था। मेजिनी का विश्वास था कि इटली के युवकों में, देश-गौरव और प्रेम की भावना भरकर उन्हें स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये संगठित किया जाना चाहिए। उसने कहा था कि, "यदि समाज में क्रान्ति लाना हो तो क्रान्ति का नेतृत्व युवकों के हाथ में दे दो। नवयुवकों में एक गुप्त शक्ति है तथा जनता पर उनकी आवाज का असर जादू के समान होता है।" मेजिनी ने 'युवा इटली' के माध्यम से इटली की जनता को तीन नारे दिये—परमात्मा में विश्वास रखो, सभी भाइयों को एक साथ मिलाएँ तथा इटली को मुक्त करें।

मेजिनी के उद्देश्य स्पष्ट थे तथा इटली के एकीकरण का चित्र जितना स्पष्ट और निश्चित उसके दिमाग में था सम्भवतः किसी और के दिमाग में नहीं था। उसने अपने देशवासियों को इटली के एकीकरण का चित्र समझाने के लिए इतनी लगन से काम किया मानो वह किसी धर्म का प्रचार कर रहा हो। युवा इटली ने अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शिक्षा, साहित्यिक प्रचार तथा यदि आवश्यक हो तो सशस्त्र क्रान्ति का सहारा लिया। मेजिनी की लेखनी ने इटली की जनता में जनजीवन का संचार कर दिया। मेजिनी के पास शीघ्र ही देशभक्त नवयुवक एकत्रित हो गये। इस प्रकार इटली के एकीकरण को जन-आन्दोलन में परिवर्तित करने का श्रेय युवा इटली को ही है। उसने राष्ट्र-गौरव की भावना, बलिदान करने का साहस, राष्ट्रीय एकता की चेतना तथा दृढ़ विश्वास उत्पन्न किया। मेजिनी के प्रयत्नों के फलस्वरूप युवा इटली की, जगह-जगह शाखाएँ

खुलने लगीं। 1833 के आरम्भ में युवा इटली के सदस्यों की संख्या 60 हजार हो गयी। युवा इटली के माध्यम से राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए इटली में एक शक्तिशाली जनमत का निर्माण हो गया।

उदार राजतन्त्रवादी और संघवादी—युवा इटली के अतिरिक्त कुछ अन्य देशभक्त भी इटली की स्वतन्त्रता के लिए कार्य कर रहे थे। कुछ देशभक्त उदारवादी राजतन्त्र के माध्यम से इटली को स्वतन्त्र करना चाहते थे। वे पीडमाण्ट-सार्डीनिया के शासक चार्ल्स एल्बर्ट के नेतृत्व में इटली को विदेशी सत्ता से मुक्त करना चाहते थे। यद्यपि पहले पीडमाण्ट-सार्डीनिया का राज्य भी प्रतिक्रियावादी था। किन्तु शनैः-शनैः चार्ल्स एल्बर्ट के समय नीति में परिवर्तन आ गया तथा उसने अपने राज्य में अनेक सुधार किये। इटली के राष्ट्रवादियों का यह विश्वास था कि इटली के स्वाधीनता संघर्ष का नेतृत्व पीडमाण्ट का शासक ही करेगा। वे आर्थिक कार्यक्रम और सार्वजनिक शिक्षा में सुधार लाकर इटली के एकीकरण को प्राप्त करना चाहते थे। कुछ देशभक्त पोप की सत्ता में विश्वास करते थे। क्योंकि जब 1846 में पायस नवम् पोप बना तो उसने अपनी उदार और दयालु प्रवृत्ति को प्रदर्शित किया तथा उसने अनेक प्रशासनिक सुधार भी किये, जिससे उसकी लोकप्रियता बढ़ गई। जो लोग पोप के नेतृत्व में विश्वास रखते थे, वे पोप की अध्यक्षता में इटली के विभिन्न राज्यों का एक संघ बनाना चाहते थे। इस प्रकार मध्यममार्गी विचारधारा पर आधारित, इटली के एकीकरण की एक नई योजना भी जनमत के समक्ष प्रस्तुत की गई।

सन् 1848 का विद्रोह और युद्ध—1848 में फ्रांस में पुनः क्रान्ति हो गयी, जिससे प्रेरित होकर यूरोप के विभिन्न राज्यों में क्रान्ति का शंखनाद गूँज उठा। जनवरी, 1848 में नेपिल्स और सिसली में सुधारवादियों ने विद्रोह कर दिया तथा संविधान की माँग की गई। इस क्रान्ति से विवश होकर नेपिल्स के राजा फर्डीनेण्ड द्वितीय को उदारवादी संविधान स्वीकार करना पड़ा। तत्पश्चात् पीडमाण्ट, टस्कनी और पोप के राज्यों में भी संवैधानिक शासन की माँग ने जोर पकड़ लिया तथा मार्च, 1848 में तीनों राज्यों को भी संविधान प्रदान करना पड़ा। अब आस्ट्रिया के अधीन लोम्बार्डी और वेनेशिया को छोड़कर लगभग सारे इटली में संवैधानिक राजतन्त्र स्थापित हो गये।

मार्च, 1848 में वियना में क्रान्ति हो गई, जिसके फलस्वरूप मेटरनिख को वियना छोड़कर इंगलैण्ड भाग जाना पड़ा। मेटरनिख के पलायन की सूचना मिलते ही एक-एक करके इटली के सारे राज्यों में आस्ट्रिया-विरोधी आन्दोलन उठ खड़े हुए। मिलान में विद्रोह के फलस्वरूप वहाँ के वायसराय को भागना पड़ा। वेनिस में भी आस्ट्रिया के शासन का अन्त होकर गणतन्त्र की स्थापना हुई। उसी समय इटली की समस्त जनता एक स्वर में, पीडमाण्ट-सार्डीनिया के शासन के नेतृत्व में आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की माँग करने लगी। 23 मार्च को सार्डिनिया के शासक चार्ल्स एल्बर्ट ने इटलीवासियों की ओर से आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। परमा, मोडेना, टस्कनी, नेपिल्स राज्यों के शासकों और पोप ने भी सार्डीनिया की ओर से युद्ध में भाग लिया। आस्ट्रिया की सेना जगह-जगह पराजित होने लगी और ऐसा प्रतीत होने लगा मानो इटली से आस्ट्रिया का प्रभाव अब सदा के लिये समाप्त हो जायेगा। इस युद्ध के सम्बन्ध में केटलबी ने लिखा है, "इटली के स्वाधीनता संग्राम का एक नया दौर आरम्भ हुआ। अब तक इटली का

संघर्ष विद्रोहों तथा आन्दोलनों तक ही सीमित था, किन्तु अब उसने राष्ट्रीय युद्ध का रूप धारण कर लिया।" पीडमाण्ट के शासक ने घोषणा की कि, "सभी का केवल एक ही कर्त्तव्य है कि आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध छेड़ दे।" इस घोषणा के साथ ही सारा इटली उसके झण्डे के नीचे आ गया। किन्तु इटली की यह एकता क्षणिक सिद्ध हुई। पोप सर्वप्रथम पीछे हट गया। नेपिल्स के शासक फर्डीनेण्ड द्वितीय ने भी पीठ फेर ली तथा टस्कनी भी सहायता देने से मुकर गया। ऐसी परिस्थिति में चार्ल्स एल्बर्ट अकेला रह गया, अतः वह आस्ट्रिया के विरुद्ध सफल नहीं हो सका। जुलाई, 1848 में उसे आस्ट्रिया से समझौता करना पड़ा। लोम्बार्डी और वेनेशिया पर पुनः आस्ट्रिया का अधिकार हो गया। आस्ट्रिया ने इटली पर पुनः अपनी प्रधानता स्थापित करली तथा पीडमाण्ट को छोड़कर सभी स्थानों पर पुनः निरंकुश शासन स्थापित हो गया।

चार्ल्स एल्बर्ट की इस असफलता से राजतन्त्रवादियों की योजनाएँ विफल हो गयीं। अतः अब उग्र गणतन्त्रवादियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया। मेजिनी ने घोषणा की कि, "राजाओं का युद्ध समाप्त हो गया है, अब जनता का संघर्ष आरम्भ होना चाहिये।" इस प्रकार मेजिनी के नेतृत्व में पोप की राजधानी रोम में विद्रोह हो गया। पोप भाग खड़ा हुआ तथा फरवरी, 1849 में रोम में गणतन्त्र की स्थापना हो गई। फ्लोरेन्स तथा टस्कनी में भी गणतन्त्र स्थापित हो गया। गणतन्त्रवादी प्रवृत्तियों के प्रबल होने से राजतन्त्रवादियों ने चार्ल्स एल्बर्ट पर पुनः युद्ध आरम्भ करने हेतु दबाव डाला। अतः उसने आस्ट्रिया के साथ हुए समझौते को खत्म कर आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। किन्तु 23 मार्च, 1849 को नोवारा नामक स्थान पर वह बुरी तरह से परास्त हुआ। अतः उसने अपने पुत्र विक्टर इमेनुअल द्वितीय (Victor Emmanuel II) के पक्ष में सिंहासन त्याग दिया। विक्टर इमेनुअल को विवश होकर आस्ट्रिया से सन्धि करनी पड़ी।

नोवारा की पराजय के बाद इटली में सर्वत्र प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। नेपिल्स और सिसली में फर्डीनेण्ड ने पुनः अपनी शक्ति प्राप्त कर ली। टस्कनी में लियोपोल्ड वापस आ गया। वेनिस पर आस्ट्रिया का पुनः अधिकार हो गया। रोम में लुई नेपोलियन ने सेना भेजकर पोप को पुनः गद्दी पर बैठा दिया। मेजिनी स्विट्जरलैण्ड भाग गया तथा एक अन्य देशभक्त गेरीवाल्डी भागकर पीडमाण्ट चला गया। आस्ट्रिया ने परमा, मोडेना, टस्कनी आदि के शासकों को पुनः उनके सिंहासनों पर बैठा दिया तथा उन्होंने जो संविधान स्वीकार किये थे, वे रद्द कर दिये। पीडमाण्ट व रोम को छोड़कर सम्पूर्ण इटली पर आस्ट्रिया का प्रभाव पुनः स्थापित हो गया। इटली के स्वाधीनता संग्राम का प्रथम चरण समाप्त हुआ जिसमें देशभक्तों को केवल असफलता ही हाथ लगी, किन्तु इस असफलता के बावजूद उनके कुछ अच्छे परिणाम भी निकले। इस संघर्ष के बाद क्रान्तिकारियों को स्वतन्त्रता संग्राम का नेतृत्व करने के लिए पीडमाण्ट का राज्य मिल गया। चार्ल्स एल्बर्ट ने आस्ट्रिया का विरोध करके जनता को उदार संविधान प्रदान करके अपनी जनता का हृदय जीत लिया था। विक्टर इमेनुअल द्वितीय ने भी तिरंगे झण्डे को ऊँचा उठाये रखने का आश्वासन दिया, जिससे देशभक्तों को उसके नेतृत्व में पूर्ण विश्वास उत्पन्न हो गया। इस प्रकार पीडमाण्ट-सार्डीनिया का राज्य इटली के एकीकरण से सम्बन्धित सभी गतिविधियों का केन्द्र बन गया।

विक्टर इमेनुअल द्वितीय (1849-70) — मार्च, 1849 में जब विक्टर इमेनुअल पीडमाण्ट-सार्डीनिया का शासक बना, उस समय सार्डीनिया की सेना आस्ट्रिया से परास्त हो चुकी थी, अतः विक्टर इमेनुअल को आस्ट्रिया से सन्धि करनी पड़ी। अगस्त, 1849 में सार्डीनिया व आस्ट्रिया के बीच सन्धि पर हस्ताक्षर हुए, किन्तु सार्डीनिया की संसद ने उसे अस्वीकार कर दिया। अतः विक्टर इमेनुअल ने संसद को भंग कर दिया। विक्टर इमेनुअल को यह विश्वास था कि मध्यममार्गी उदार नीति को अपनाकर सार्डीनिया के नेतृत्व में इटली का एकीकरण किया जा सकता है। उसने इस हेतु प्रयत्न भी प्रारम्भ कर दिये। वह अपने गुणों के कारण जनता में लोकप्रिय हो गया। पीडमाण्ट की जनता उसे 'ईमानदार राजा' कहने लगी। सभी देशभक्तों को यह विश्वास हो गया कि पीडमाण्ट के द्वारा ही इटली का उद्धार होगा। अतः इटली के निर्वासित सभी देशभक्त पीडमाण्ट की राजधानी की ओर आकर्षित होने लगे। इधर विक्टर इमेनुअल को भाग्यवश 1852 में काउण्ट कैवूर (Cavour) जैसा योग्य प्रधानमन्त्री मिल गया, जिसकी गणना 19वीं शताब्दी के महान् कूटनीतिज्ञों में की जाती है।

काउण्ट कैवूर (1810-1861) — काउण्ट कैवूर का जन्म 1810 में ट्यूरिन (सार्डीनिया) के एक कुलीन परिवार में हुआ था। सैनिक शिक्षा प्राप्त कर वह सेना में इंजीनियर के रूप में भर्ती हुआ। किन्तु अपने उदार विचारों के कारण 1831 में उसे सैनिक सेवा से त्यागपत्र देना पड़ा। इसके बाद वह 15 वर्ष तक अपनी जमींदारी सम्भालता रहा। इसी काल में उसने फ्रांस, जर्मनी, इंगलैण्ड आदि की यात्राएँ कर राजनीति का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इंगलैण्ड में रहकर उसने वहाँ की संसदीय प्रणाली का अध्ययन किया जो उसे बहुत पसन्द आयी और अपने देश में भी इसी प्रकार की व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया।

1846 में कैवूर ने कृषि की उन्नति के लिए एक समिति बनायी। आगे चलकर इस समिति का कार्यालय राजनैतिक वाद-विवादों का केन्द्र बन गया। 1837 में उसने 'इल रिसर्जिमेण्टो' (IL Risergimento) नामक उदारवादी समाचार-पत्र निकाला तथा इसके माध्यम से अपने देश के एकीकरण और सुधारों के लिए प्रचार करना आरम्भ कर दिया। 1848 में वह पीडमाण्ट-सार्डीनिया की प्रथम संसद का सदस्य चुना गया। देश में बार-बार चुनाव हुए, किन्तु कैवूर हर बार निर्वाचित होता रहा। उसकी योग्यता के कारण 1850 में उसे वित्त एवं उद्योग मन्त्री नियुक्त किया गया। 1852 में डी' एजेग्लिओ (D' Azeglio) के मन्त्रिमण्डल द्वारा त्याग-पत्र देने पर विक्टर इमेनुअल ने उसे प्रधानमन्त्री बनाया। कैवूर का यह निश्चित मत था कि इटली की स्वाधीनता और एकता के कार्यों के लिए पीडमाण्ट का सेवाय राजवंश ही देश का नेतृत्व कर सकता है। वह पीडमाण्ट को एक आदर्श राज्य का रूप देना चाहता था ताकि इटली के अन्य राज्य उसे अपना नेता मान लें।

कैवूर के राजनैतिक विचार एवं उद्देश्य—कैवूर भी मेजिनी के समान सच्चा देशभक्त था तथा उसका लक्ष्य भी वही था जो मेजिनी का था। किन्तु इटली का एकीकरण किस प्रकार किया जाय तथा उस एकीकृत इटली का स्वरूप क्या हो, इस सम्बन्ध में उसके विचार मेजिनी के गणतन्त्र से भिन्न थे। मेजिनी कल्पनाशील था जबकि कैवूर व्यावहारिक था। कैवूर राजतन्त्र का प्रबल समर्थक था और उसे मेजिनी के गणतन्त्रीय विचारों एवं क्रान्तिकारी साधनों के प्रति कोई

सहानुभूति नहीं थी। कैवूर अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु तलवारबाजी के पैंतरों के स्थान पर राजनैतिक दाँव-पेच और कूटनीति में अधिक विश्वास रखता था। वह इटली की समस्या को अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बना देना चाहता था। वह आस्ट्रिया को इटली से बाहर धकेलने के लिए यूरोप की किसी महाशक्ति से सहानुभूति प्राप्त करना चाहता था। इस सम्बन्ध में भी उसका दृढ़ विश्वास था कि आस्ट्रिया के विरुद्ध यदि कोई देश इटली को सहायता दे सकता है तो वह केवल फ्रांस ही है। उसने कहा भी था कि, "हम चाहें या न चाहें, किन्तु हमारा भाग्य फ्रांस पर निर्भर करता है।" वह इस तथ्य से भली-भाँति परिचित था कि यदि पीडमाण्ट-सार्डीनिया को इटली के स्वाधीनता संग्राम में नेतृत्व करना है तो उसे आर्थिक एवं सैनिक दृष्टि से सुदृढ़ बनाना होगा तथा जनता का विश्वास प्राप्त करने हेतु पीडमाण्ट का शासन उदार होना चाहिए। इटली का एक अन्य देशभक्त गेरीबाल्डी भी था जो मूलतः कुशल सैनिक था। केटलबी ने लिखा है कि, "वह कैवूर के महान् मस्तिष्क का कार्य था जिसने मेजिनी की प्रेरणा को कूटनीतिक शक्ति के रूप में गतिमान बनाया तथा गेरीबाल्डी की तलवार का एक राष्ट्रीय शस्त्र के रूप में प्रयोग किया।" कैवूर अपनी कूटनीति से अपनी योजना को एक के बाद एक पूरी करता गया तथा आस्ट्रिया के चारों ओर ऐसा जाल बिछाया कि आस्ट्रिया इस कूटनीतिक जाल में फँसे बिना न रह सका और इटली का एकीकरण रुक नहीं सका। वस्तुतः कैवूर के बिना मेजिनी का आदर्शवाद तथा गेरीबाल्डी का सैनिकवाद निरर्थक सिद्ध होता। कैवूर ने अपनी कूटनीति में इन दोनों का उचित सामंजस्य स्थापित किया।

कैवूर की आन्तरिक नीति—कैवूर ने इंगलैण्ड की संसदीय प्रणाली के आधार पर पीडमाण्ट-सार्डीनिया को भी पूर्णतः वैधानिक राज्य बनाने का प्रयत्न किया। उसने स्वशासी संस्थाओं को प्रोत्साहन दिया जिससे कि स्वतन्त्र राजनैतिक जीवन का विकास हो सके। कैवूर ने पीडमाण्ट-सार्डीनिया की कानून-व्यवस्था पर भी ध्यान दिया तथा आठ वर्षों में विधि सम्बन्धी सुधारों को पूर्ण कर दिया। वह जानता था कि इटली के स्वाधीनता संग्राम में पीडमाण्ट को इटली के अन्य राज्यों के सहयोग की आवश्यकता होगी। इटली के अन्य राज्यों के शासकों से सहयोग प्राप्त करना कठिन था, अतः उसने इन राज्यों के प्रगतिशील विचारों के लोगों का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उसने इटली की उन सभी संस्थाओं से निकट सम्पर्क स्थापित किया जो इटली की स्वाधीनता के लिए उत्सुक थीं। कैवूर के प्रयत्नों से पीडमाण्ट को मेजिनी जैसे गणतन्त्रवादियों, गेरीबाल्डी जैसे क्रान्तिकारियों, कार्बोनरी जैसी गुप्त संस्थाओं तथा युवा इटली जैसी अनुशासित संस्थाओं का सहयोग प्राप्त हुआ।

कैवूर ने राज्य की आर्थिक उन्नति के उद्देश्य से उद्योग, व्यापार और कृषि के विकास के लिए अथक प्रयत्न किया। उसने मुक्त व्यापार की नीति के आधार पर पड़ोसी राज्यों से व्यापारिक सन्धियाँ कीं, जिससे जीवन की आवश्यक वस्तुएँ सरलता से उपलब्ध होने लगीं। उसने कारखानों को सरकारी सहायता दी तथा रेलों, सड़कों और नहरों का विकास किया। नये बैंक स्थापित किये गये तथा सरकारी समितियाँ स्थापित की गईं। कृषि के लिए ऋण आदि का प्रबन्ध किया गया। बंजर भूमि को खेती योग्य बनाया गया। राज्य की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिये वित्त विभाग में भी सुधार किये गये। कुछ नये कर लगाकर राज्य की आय में वृद्धि की गई। सेना के

संगठन में सुधार किये तथा सीमावर्ती क्षेत्रों में किलेबन्दी की गई। शिक्षा की उन्नति के लिए अनेक कदम उठाये गये। उसने गिरजाघरों की भूमि पर कर लगाया। चर्च के प्रभाव और उनके विशेषाधिकारों को कम करने का प्रयत्न किया। कैथोलिक, इटली की एकता के विरुद्ध थे, अतः उन्हें राज्य से निकाल दिया गया और चर्च के मठों को समाप्त कर दिया गया।

कैवूर की इस आन्तरिक नीति के परिणामस्वरूप पीडमाण्ट एक समृद्ध, सुदृढ़ एवं सशक्त राज्य बन गया। इटली के सभी लोग पीडमाण्ट की प्रशंसा करने लगे। यद्यपि उसके आन्तरिक सुधारों के आधार पर ही उसे प्रगतिशील एवं योग्य मन्त्री होने का श्रेय प्राप्त हो जाता, किन्तु इटली के एकीकरण सम्बन्धी कार्यों तथा उसकी विदेश-नीति की सफलता के कारण उसके आन्तरिक सुधारों की ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता है।

कैवूर की विदेश-नीति—इटली के एकीकरण के लिए, आस्ट्रिया के प्रभुत्व से मुक्त होना तथा पीडमाण्ट के शासन की अध्यक्षता में उसे संगठित करना, कैवूर की विदेश-नीति का मूल उद्देश्य था। कैवूर, मेजिनी तथा कुछ अन्य लोगों के इस विचार से सहमत नहीं था कि अकेला इटली बिना किसी बाह्य सहायता के, आस्ट्रिया को इटली से बाहर धकेल देगा। कैवूर का निश्चित मत था कि, किसी यूरोपीय महाशक्ति की सहायता के बिना आस्ट्रिया के प्रभाव से मुक्त होना सम्भव नहीं है। इसलिए वह कोई शक्तिशाली मित्र की खोज करना चाहता था तथा इसके साथ ही वह इटली के प्रश्न पर यूरोपीय राज्यों की सहानुभूति भी प्राप्त करना चाहता था। यद्यपि इस नीति को कार्यान्वित करना अत्यन्त कठिन कार्य था, तथापि कैवूर ने कठिनाइयों का बड़ी दृढ़ता से सामना किया तथा अपने लक्ष्य के लिए डटा रहा। सर्वप्रथम उसका प्रयास यह रहा कि इटली की समस्या को अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का रूप दे दिया जाय ताकि यूरोपीय महाशक्तियों की सहानुभूति प्राप्त की जा सके और तत्पश्चात् उनसे मित्रता की जा सके। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कैवूर ने विदेश-नीति के क्षेत्र में निम्नलिखित कार्य किये।

क्रीमिया का युद्ध और कैवूर—कैवूर इस बात को भली-भाँति जानता था कि फ्रांस और इंगलैण्ड ही इटली के एकीकरण में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। इसलिए उसने फ्रांस और इंगलैण्ड के प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में इटली के देशभक्तों के लेख प्रकाशित करवाये जिससे दोनों देशों की इटली के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो गयी। दूसरा अवसर उसे उस समय मिला जब आस्ट्रिया ने, इटली में स्थित लोम्बार्डी और वेनेशिया के निर्वासित क्रान्तिकारियों की सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया। कैवूर ने इसका विरोध किया तथा उसने सम्पत्ति को वापस दिलाने का प्रयत्न किया। यद्यपि उसे अपने प्रयत्नों में सफलता तो नहीं मिली, किन्तु फ्रांस और इंगलैण्ड ने कैवूर के इस कार्य का समर्थन किया। इंगलैण्ड और फ्रांस की सहानुभूति प्राप्त करने का अवसर क्रीमिया युद्ध ने भी प्रदान किया। इंगलैण्ड और फ्रांस 1854 से रूस के विरुद्ध टर्की के पक्ष में इस युद्ध में संलग्न थे। कैवूर यूरोप के राजनैतिक मंच पर इंगलैण्ड और फ्रांस के मित्र के रूप में आना चाहता था। अतः बिना किसी शर्त के क्रीमिया के युद्ध में इंगलैण्ड और फ्रांस की सहायता के लिए 18 हजार पीडमाण्टी सैनिक भेज दिये। उस समय इटली के उदारवादियों ने कैवूर की इस नीति का विरोध किया, क्योंकि अप्रत्यक्ष रूप से उसने निरंकुश टर्की की सहायता की थी। किन्तु विक्टर इमेनुअल ने इस नीति का अनुमोदन किया। वस्तुतः क्रीमिया युद्ध में रूस के विरुद्ध फ्रांस और इंगलैण्ड को सहायता देना कैवूर की महान् कूटनीतिज्ञता एवं दूरदर्शिता थी।

युद्ध की समाप्ति के पश्चात् यूरोपीय महाशक्तियों का पेरिस में सम्मेलन हुआ। कैवूर को भी इंगलैण्ड, फ्रांस, आस्ट्रिया तथा रूस के प्रतिनिधियों के साथ सम्मेलन में भाग लेने का अवसर प्राप्त हुआ। यद्यपि पीडमाण्ट को आमन्त्रित करने का आस्ट्रिया ने विरोध किया, किन्तु इंगलैण्ड और फ्रांस ने उसके विरोध के बावजूद सार्डीनिया को सम्मेलन में आमन्त्रित किया। सार्डीनिया की ओर से कैवूर ने सम्मेलन में भाग लिया। उसने सम्मेलन में इटली की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का चित्र प्रस्तुत किया तथा इसके लिए आस्ट्रिया को उत्तरदायी ठहराया गया। ब्रिटिश विदेश मन्त्री ने कैवूर के भाषण का समर्थन किया। आस्ट्रिया की उपस्थिति में ही यूरोप के राजनीतिज्ञों ने इटली के प्रश्न पर विचार किया। कैवूर ने इटली के प्रति, आस्ट्रिया की नीति की कटु आलोचना करते हुए यूरोप के राजनीतिज्ञों को वस्तुस्थिति से अवगत करा दिया। अपनी कूटनीति से उसने न केवल इंगलैण्ड और फ्रांस की सहानुभूति प्राप्त की, वरन् सम्मेलन में आये सभी अन्य राष्ट्रों का ध्यान भी इटली की समस्या की ओर आकर्षित किया। कैवूर ने इटली के प्रश्न को एक यूरोपीय प्रश्न बना दिया। पेरिस-सम्मेलन में कैवूर की यह महान् विजय थी, जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण इटली में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ गई।

पेरिस-सम्मेलन में कैवूर के भाषणों से आस्ट्रिया को गहरा आघात लगा, फलस्वरूप उसने इटली के प्रति समझौतावादी नीति अपनायी। लोम्बार्डी और वेनेशिया में अपने शासन की कठोरता में कमी कर दी तथा निर्वासित क्रान्तिकारियों की सम्पत्ति को जब्त करने के आदेश वापस ले लिए। सम्राट ने अपने भाई मेक्समिलियन को जो उदारवादी था, लोम्बार्डी, वेनेशिया का गवर्नर नियुक्त किया। किन्तु इससे इटली के देशभक्तों का विरोध कम नहीं हुआ, क्योंकि वे यह नहीं चाहते थे कि आस्ट्रिया अपनी इटली-सम्बन्धी नीति में सुधार करे, बल्कि वे तो चाहते थे कि आस्ट्रिया इटली से निकल जाय।

प्लोम्बियर्स का समझौता—कैवूर इस तथ्य से भी परिचित था कि इंगलैण्ड की सहानुभूति इटली के प्रति अवश्य है, किन्तु वह इटली को आस्ट्रिया के विरुद्ध कोई सक्रिय सहायता देने के लिए तैयार नहीं था, क्योंकि इंगलैण्ड वियना काँग्रेस की व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहता था। अतः कैवूर ने फ्रांस के सम्राट नेपोलियन तृतीय को अपनी ओर मिलाने के प्रयत्न कर दिये। उसे नेपोलियन से सहायता प्राप्त होने की आशा भी थी, क्योंकि नेपोलियन की नसों में इटालियन परिवार का रक्त बह रहा था, वह इटली के विद्रोहों में सक्रिय भाग ले चुका था और वह वियना व्यवस्था के भी विरुद्ध था। जून, 1858 में नेपोलियन तृतीय सार्डीनिया की सीमा के निकट स्थित प्लोम्बियर्स में छुट्टियाँ व्यतीत करने के लिए ठहरा हुआ था। कैवूर बिना किसी औपचारिक निमन्त्रण के प्लोम्बियर्स पहुँच गया। 21 जुलाई, 1858 को कैवूर ने उसके साथ गुप्त मन्त्रणा की, जिसके फलस्वरूप फ्रांस और सार्डीनिया के बीच एक गुप्त समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार निम्नलिखित बातें तय हुईं—

(1) नेपोलियन ने वचन दिया कि सार्डीनिया और आस्ट्रिया के बीच युद्ध होने पर फ्रांस सार्डीनिया को सैनिक सहायता देगा। इस सैनिक सहायता के बदले में सार्डीनिया फ्रांस को सेवाय और नीस देगा।

(2) आस्ट्रिया को निकाल देने के बाद लोम्बार्डी, वेनेशिया और कुछ अन्य भाग सार्डीनिया के राज्य में मिला लिये जायेंगे। अम्ब्रिया और टस्कनी को मिलाकर एक नया राज्य बनाया जायेगा

तथा नेपोलियन के चचेरे भाई जेरोम बोनापार्ट को वहाँ का शासक बनाया जायेगा। नेपिल्स व सिसली के राज्य तथा पोप के राज्य को पूर्ववत् रखा जायेगा। इस प्रकार इटली को चार राज्यों में विभाजित कर उसका एक संघ बनाने की योजना बनायी गई।

(3) विक्टर इमेनुअल की पुत्री का विवाह जेरोम बोनापार्ट के साथ होना निश्चित हुआ।

यद्यपि कैवूर यह नहीं चाहता था कि इटली के चार टुकड़े हो जाएँ, किन्तु आस्ट्रिया के विरुद्ध फ्रांस की सहायता को आवश्यक समझते हुए उसने इन शर्तों को स्वीकार कर लिया था। नेपोलियन भी इटली की स्वाधीनता तो चाहता था किन्तु वह इटली का एकीकरण नहीं चाहता था। विक्टर इमेनुअल अपनी पुत्री का विवाह जेरोम बोनापार्ट से करना नहीं चाहता था, किन्तु कैवूर के समझाने पर वह तैयार हो गया।

आस्ट्रिया से युद्ध—प्लोम्बियर्स में यह भी तय किया गया था कि आस्ट्रिया को भड़काकर इस प्रकार युद्ध आरम्भ किया जाय कि आस्ट्रिया आक्रामक लगे तथा सार्डीनिया आत्म-रक्षा के लिए लड़ने वाला प्रतीत हो। कैवूर ने प्लोम्बियर्स से लौटते ही युद्ध की तैयारी आरम्भ कर दी। पीडमाण्ट के समाचार-पत्रों में आस्ट्रिया की कटु आलोचना की जाने लगी। इधर कैवूर ने इटली स्थित आस्ट्रिया के मस्स और फर्रारा में विद्रोह करवा दिया, जिससे स्थिति तनावपूर्ण हो गयी और ऐसा प्रतीत होने लगा कि सार्डीनिया और आस्ट्रिया के बीच युद्ध अवश्यम्भावी है। अतः ब्रिटेन ने सार्डीनिया और आस्ट्रिया के बीच समझौता कराने हेतु यूरोपीय काँग्रेस आमन्त्रित करने का सुझाव रखा। आस्ट्रिया ने इस प्रस्ताव को इस शर्त पर स्वीकार किया कि काँग्रेस अधिवेशन से पूर्व सार्डीनिया का निःशस्त्रीकरण हो जाना चाहिए। सार्डीनिया का कहना था कि पहले आस्ट्रिया की सेना अपनी सीमा में चली जाय। अतः ब्रिटेन का प्रस्ताव असफल रहा। 23 अप्रैल, 1859 को आस्ट्रिया ने सार्डीनिया को अल्टीमेटम भेजा कि तीन दिन के भीतर निःशस्त्रीकरण कर दे अन्यथा उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया जायेगा। इससे कैवूर खुशी से उछल पड़ा क्योंकि जो वह चाहता था वही हुआ। आस्ट्रिया ने आक्रामक नीति अपनायी, जबकि सार्डीनिया अपनी आत्म-रक्षा के लिए तैयार हो गया। कैवूर ने आस्ट्रिया के अल्टीमेटम को ठुकरा दिया। 29 अप्रैल, 1859 को आस्ट्रिया ने सार्डीनिया पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में विक्टर इमेनुअल ने स्वयं अपनी सेना की कमान सम्भाली। 3 मई को नेपोलियन तृतीय ने भी आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। फ्रांस और सार्डीनिया की संयुक्त सेना ने 4 जून को मेजेण्टा में तथा 24 जून को सालफरीनो में आस्ट्रिया की सेनाओं को पराजित किया। लोम्बार्डी पर सार्डीनिया का अधिकार हो गया। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था कि अब वेनेशिया पर भी इटली का अधिकार हो जायेगा तथा इटली पर आस्ट्रिया का प्रभुत्व समाप्त हो जायेगा। किन्तु नेपोलियन तृतीय ने सार्डीनिया से बिना पूछे युद्ध बन्द करने का निश्चय कर लिया।

विलाफ्रेंका की सन्धि—आस्ट्रिया की पराजय से इटली के सभी राज्यों की जनता सार्डीनिया से सम्बद्ध होने के लिए उत्तेजित हो उठी तथा एक शक्तिशाली राज्य के रूप में इटली के उदय होने के लक्षण दिखाई देने लगे। इससे नेपोलियन चौकन्ना हो गया। वह नहीं चाहता था कि फ्रांस की दक्षिणी-पूर्वी सीमा पर एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना हो जिससे फ्रांस को खतरा उत्पन्न हो जाय। इधर नेपोलियन को युद्ध में काफी हानि उठानी पड़ी थी और यदि यह

युद्ध कुछ समय और चलता तो उसे अधिक हानि की सम्भावना थी। दूसरी ओर उसे प्रशा के आक्रमण का भी भय था क्योंकि प्रशा की सेना युद्ध के लिए तैयार खड़ी थी। इसके अतिरिक्त फ्रांस के रोमन कैथोलिक युद्ध जारी रखने के पक्ष में नहीं थे, क्योंकि उन्हें इस बात का भय था कि आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध जारी रखने से पोप की स्थिति खतरे में पड़ जायेगी। इन सभी कारणों से नेपोलियन तृतीय ने 11 जुलाई, 1859 को विलाफ्रेंका नामक स्थान पर आस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस जोसेफ से भेंट कर युद्ध-विराम की शर्तें तय कर लीं। इस सन्धि के अनुसार लोम्बार्डी का प्रान्त (माण्टुआ तथा पेश्चीरा को छोड़कर) फ्रांस को हस्तान्तरित कर दिया गया तथा फ्रांस ने उसे सार्डीनिया को दे दिया। वेनेशिया पर आस्ट्रिया का अधिकार पूर्ववत् बना रहा। परमा, मोडेना और टस्कनी में वहाँ के शासकों को पुनः उनकी गद्दियाँ वापस कर दी गयीं।

विलाफ्रेंका की सन्धि के समाचार से इटलीवासियों को गहरा आघात लगा। इटली के देशभक्तों ने नेपोलियन की घोर निन्दा की। उनका कहना था कि विजय के अन्तिम क्षणों में अपने मित्र सार्डीनिया को बिना पूछे ही युद्ध को बीच में रोक देना विश्वासघात था। कैवूर तो इससे आग-बबूला हो उठा था। उसने विक्टर इमेनुअल को सलाह दी कि वह इस सन्धि को अस्वीकार करते हुए अकेले ही आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध जारी रखे। किन्तु विक्टर इमेनुअल आवेश में शीघ्र ही कोई निर्णय करना नहीं चाहता था, अतः उसने कैवूर की सलाह को मानने से इन्कार कर दिया। क्रोधित होकर कैवूर ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। यद्यपि विक्टर इमेनुअल को भी नेपोलियन की नीति से उतनी ही निराशा हुई थी जितनी कैवूर को, किन्तु अकेले सार्डीनिया के लिए शक्तिशाली आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध जारी रखना व्यावहारिक दृष्टि से उचित नहीं था। इसके अतिरिक्त उसने यह भी देखा कि लोम्बार्डी से आस्ट्रिया का प्रभाव समाप्त हो जाने से वियना व्यवस्था भंग होनी आरम्भ हो गयी थी और जब यूरोपीय शक्तियों ने लोम्बार्डी पर इटली के अधिकार को मान्यता दे दी है तो एक प्रकार से वेनेशिया पर भी इटली का नैतिक अधिकार स्वीकार कर लिया गया है। अतः परिस्थितियों को देखते हुए विक्टर इमेनुअल ने आस्ट्रिया और फ्रांस के साथ मिलकर 10 नवम्बर, 1859 को **ज्यूरिक की सन्धि** पर हस्ताक्षर कर दिये जिसके द्वारा विलाफ्रेंका की सन्धि की पुष्टि की गई। नेपोलियन तृतीय ने प्लोम्बियर्स के समझौते की शर्तों के पालन पर जोर नहीं दिया और केवल युद्ध का खर्चा लेकर ही सन्तोष कर लिया। अब लोम्बार्डी पर सार्डीनिया का विधिवत् अधिकार हो गया और इस प्रकार इटली के एकीकरण का प्रथम चरण भी पूरा हो गया।

मध्य इटली में एकीकरण की लहर—सार्डीनिया-आस्ट्रिया युद्ध में सार्डीनिया की विजय से मध्य इटली के विभिन्न राज्यों में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो गई। मध्य इटली की जनता ने परमा, मोडेना और टस्कनी के शासकों को निकाल दिया। बोलाग्ना तथा रोमाग्ना से पोप के प्रतिनिधियों को हटा दिया गया। इन सभी स्थानों पर देशभक्तों ने अपनी अस्थायी सरकारें स्थापित कर लीं तथा उन्होंने सार्डीनिया के साथ सम्मिलित होने का निर्णय लिया। ब्रिटेन ने मध्य इटली के राज्यों का समर्थन किया और कहा कि मध्य इटली की जनता को अपने शासक चुनने का उतना ही अधिकार है जितना कि इंगलैण्ड, फ्रांस और बेल्जियम की जनता को है। आस्ट्रिया और प्रशा चाहते थे कि ज्यूरिक की सन्धि के अनुसार मध्य इटली में पुराने शासकों को गद्दी पर

बैठाया जाये। नेपोलियन नहीं चाहता था कि मध्य इटली के राज्य पीडमाण्ट-सार्डीनिया के साथ मिले।

इसी बीच जनवरी, 1860 में कैवूर पुनः पीडमाण्ट का प्रधानमन्त्री बन गया। कैवूर जानता था कि नेपोलियन की सहमति के बिना मध्य इटली के राज्यों का सार्डीनिया के साथ मिलना कठिन है। अतः उसने नेपोलियन से बातचीत की तथा यह तय किया गया कि यदि वह (नेपोलियन) मध्य इटली के राज्यों को पीडमाण्ट में सम्मिलित होने देगा तो उसके बदले में सेवाय और नीस फ्रांस को दे दिये जायेंगे। मार्च, 1860 में मध्य इटली के राज्यों में जनमत संग्रह कराया गया। परमा, मोडेना, टस्कनी, बोलोग्ना और पिआकेंजा ने भारी बहुमत से पीडमाण्ट के साथ मिलने का निर्णय किया। मध्य इटली के राज्य पीडमाण्ट में सम्मिलित कर लिये गये तथा सेवाय और नीस फ्रांस को सौंप दिये गये। लोम्बार्डी पर पहले ही सार्डीनिया का अधिकार हो चुका था। इस प्रकार कैवूर की इस नीति के फलस्वरूप सार्डीनिया का एक छोटा राज्य, एक वर्ष में विशाल राज्य में परिवर्तित हो गया। फ्रांस को सेवाय और नीस प्राप्त हो जाने से फ्रांस की चिर-प्रतीक्षित अभिलाषा पूर्ण हो गई। किन्तु गेरीबाल्डी ने इसका यह कहकर विरोध किया कि, "उसने (कैवूर ने) मेरी मातृभूमि निजा (नीस) को बेच दिया और मुझे विदेशी बना दिया है।" इधर नेपोलियन को इंगलैण्ड की मित्रता से भी हाथ धोना पड़ा, क्योंकि सेवाय और नीस का फ्रांस में मिल जाना उसे अच्छा नहीं लगा।

नेपिल्स और सिसली में विद्रोह—कैवूर के प्रयत्नों से इटली का उत्तरी और मध्य भाग तो एक राजसत्ता के अधीन आ गये थे तथा संयुक्त इटली के लिए दृढ़ आधार तैयार हो गया था, किन्तु अभी तक आधा इटली बाकी था। वेनेशिया, रोम, नेपिल्स और सिसली के राज्य अभी बाहर थे। विलाफ्रेंका की सन्धि के बाद कैवूर ने कहा था, "यूरोपीय शक्तियों ने मुझे कूटनीति के द्वारा उत्तर की ओर से इटली का एकीकरण नहीं करने दिया। अब मुझे क्रान्ति का सहारा लेकर दक्षिण की ओर से इटली का एकीकरण करना होगा।" 1860 के अन्त में कैवूर ने दक्षिणी इटली की ओर ध्यान दिया।

1821 से 1860 तक नेपिल्स का इतिहास अत्याचारपूर्ण निरंकुशता का इतिहास है। वहाँ तीन बार विद्रोह हो चुका था तथा वहाँ के शासक फ्रांसिस द्वितीय ने कुछ सुधार करने का प्रयत्न किया, किन्तु इससे जनता का असन्तोष कम नहीं हुआ। इसी प्रकार सिसली में भी क्रान्तिकारियों का प्रचार-कार्य तेजी से चल रहा था। मेजिनी ने भी विद्रोह को प्रोत्साहन दिया तथा उसके समर्थक क्रिस्पी (Crispy) ने विद्रोह की योजना तैयार की, किन्तु नेपिल्स और सिसली में क्रान्ति पैदा करने तथा उसे सफल बनाने का श्रेय गेरीबाल्डी को दिया जा सकता है।

गेरीबाल्डी (1807-1882) – गेरीबाल्डी का जन्म 1807 में नीस नगर में हुआ था। उसके पिता एक व्यापारी जहाज के अधिकारी थे। अतः वह युवक होने पर तटीय व्यापार में लग गया और उसे अपने समुद्री जीवन में भूमध्य सागर का अच्छा ज्ञान हो गया। इन्हीं यात्राओं के दौरान उसका इटली के देशभक्तों से परिचय हुआ, जिससे उसके मन में देश की स्वतन्त्रता की ऐसी लगन लगी कि वह अपने देश के लिये सर्वस्व बलिदान करने को तैयार हो गया। कुछ समय पश्चात् वह मेजिनी के सम्पर्क में आया और उसके आदर्शों से प्रभावित होकर वह युवा इटली

का सदस्य बन गया। 1833 में उसने मेजिनी के सहयोग से इटली में गणतन्त्र स्थापित करने के षड्यन्त्र में भाग लिया, किन्तु षड्यन्त्र का भण्डाफोड़ हो जाने से उसे कैद कर लिया गया। उसे देशद्रोह के अपराध में मृत्यु-दण्ड की सजा सुनाई गई, किन्तु वह इटली से भाग निकला और दक्षिणी अमेरिका पहुँच गया। 1848 तक वह दक्षिणी अमेरिका में रहा और अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्रामों में भाग लेता रहा। उसके साथी लाल कमीज पहनते थे। अतः उसका दल 'लाल कुर्ती दल' कहलाया। 1848 की क्रान्ति की सूचना प्राप्त होते ही वह पुनः इटली लौट आया तथा उसने चार्ल्स एल्बर्ट के नेतृत्व में आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया। किन्तु 25 जुलाई, 1848 को सार्डीनिया पराजित हुआ तथा चार्ल्स एल्बर्ट को आस्ट्रिया से सन्धि करनी पड़ी। इसी बीच रोम में क्रान्ति हो गयी थी तथा मेजिनी के नेतृत्व में रोमन गणराज्य की स्थापना हो चुकी थी। गेरीबाल्डी, मेजिनी की सहायतार्थ रोम आ पहुँचा। जब फ्रांस ने रोम की रक्षार्थ, रोमन गणराज्य पर हमला किया तब गेरीबाल्डी ने फ्रांसीसी सेनाओं के विरुद्ध रोम की रक्षा करने का दृढ़ता से प्रयत्न किया, किन्तु वह सफल नहीं हो सका और किसी प्रकार बचकर टस्कनी आ पहुँचा। टस्कनी से उसे पीडमाण्ट आना पड़ा तथा यहाँ से वह पुनः अमेरिका चला गया। अमेरिका में वह 6 वर्ष रहा तथा वहाँ काफी धन कमाकर 1854 में पुनः इटली लौट आया। इटली वापिस आकर वह सार्डीनिया के निकट केप्रीरा (Caprera) नामक टापू खरीदकर एक स्वतन्त्र कृषक के रूप में रहने लगा। 1856 में उसकी कैवूर से भेंट हुई तथा इस भेंट में वह कैवूर के विचारों से प्रभावित हुआ और 1857 में उसने सार्डीनिया के शासक को अपनी सेवाएँ अर्पित कर दीं। गेरीबाल्डी के जीवन की यह सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी, क्योंकि गणतन्त्रवादी गेरीबाल्डी अब वैध राजसत्तावाद का समर्थक बन गया। उसी के कारण सार्डीनिया के गणतन्त्रवादियों एवं राजसत्तावादियों में समझौता हो गया और उन्होंने अपने मतभेदों को भुलाकर अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु संयुक्त रूप से कार्य किया। केटलबी ने लिखा है कि, "यदि यह समझौता नहीं होता और दोनों के मतभेद बने रहते तो वे एक दूसरे को नष्ट करने का प्रयत्न करते और इटली की एकता का प्रयत्न विफल हो जाता।" इटली के एकीकरण में गेरीबाल्डी का वास्तविक कार्य 1860 में आरम्भ होता है।

सिसली का विद्रोह—1860 के प्रारम्भ में, मेजिनी के प्रोत्साहन के कारण सिसली की जनता ने अपने निरंकुश शासक के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। विद्रोहियों ने गेरीबाल्डी से सहायता की माँग की। गेरीबाल्डी ने इस शर्त पर सहायता देना स्वीकार किया कि विद्रोह सार्डीनिया के पक्ष में हो। यद्यपि कैवूर की सहानुभूति गेरीबाल्डी के साथ थी, किन्तु वह खुले रूप से गेरीबाल्डी की सहायता नहीं कर सकता था, क्योंकि प्रथम तो ऐसा करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध था तथा दूसरा गेरीबाल्डी को सहायता देने से नेपिल्स और सार्डीनिया के बीच युद्ध छिड़ जाता और सम्भवतः यूरोपीय राज्य उसमें हस्तक्षेप करने लगते। ऐसी परिस्थिति में कैवूर ने दुहरी नीति अपनाई। बाहरी तौर पर तो वह अपनी तटस्थता का प्रदर्शन करता रहा, किन्तु गुप्त रूप से गेरीबाल्डी व सिसली के देशभक्तों को सहायता पहुँचाता रहा। 5 मई, 1860 को गेरीबाल्डी ने अपने एक हजार लाल कुर्ती वाले स्वयंसेवकों को लेकर सिसली की ओर प्रस्थान किया। 11 मई को वह सिसली पहुँच गया तथा 15 मई को केल्टाफीमी (Calatafimi) नामक स्थान पर नेपिल्स की सेनाओं को परास्त किया। 27 मई को उसने पेनारेमो पर अधिकार कर लिया

तथा जून के अन्त तक सिसली पर गेरावाल्डी का अधिकार हो गया। गेरीबाल्डी ने अपने आपको सिसली का अधिनायक घोषित कर दिया।

नेपिल्स पर अधिकार—सिसली पर अधिकार करने के बाद गेरीवाल्डी ने 19 अगस्त, 1860 को नेपिल्स के मुख्य भाग रेगियो-डि-केलेब्रिया पर आक्रमण कर दिया। 21 अगस्त को उसने रेगियो पर सरलता से अधिकार कर लिया। रेगियो से गेरीबाल्डी नेपिल्स की ओर बढ़ा। नेपिल्स के शासक फ्रांसिस ने सभी राज्यों से सहायता की माँग की, किन्तु उसे कहीं से सहायता नहीं मिली। अतः 6 सितम्बर को फ्रांसिस वहाँ से भाग खड़ा हुआ तथा नेपिल्स के पूरे राज्य पर गेरीवाल्डी का अधिकार हो गया। नेपिल्स की जनता ने उसका भव्य स्वागत किया। गेरीबाल्डी ने अपने आपको नेपिल्स का अधिनायक घोषित किया। तत्पश्चात् उसने रोम पर अधिकार करने की योजना बनायी। उसने यह पहले ही घोषणा कर दी थी कि वह सिसली और नेपिल्स को तभी इटली राज्य में शामिल करेगा, जब वह रोम की विजय करके विक्टर इमेनुअल को इटली का सम्राट घोषित कर देगा।

गेरीबाल्डी की सफलता से उत्पन्न कठिनाइयाँ—गेरीबाल्डी अपनी विजयों से प्रोत्साहित होकर रोम पर आक्रमण करने की योजना बना रहा था। इससे अन्तर्राष्ट्रीय कठिनाई उत्पन्न होने की सम्भावना थी, क्योंकि रोम की सुरक्षा के लिए फ्रांसीसी सैनिक वहाँ तैनात थे। अतः रोम पर आक्रमण करने से फ्रांसीसी सैनिकों से युद्ध होना अनिवार्य था और ऐसी स्थिति में नेपोलियन का हस्तक्षेप स्वाभाविक था। गेरीबाल्डी वेनेशिया पर भी आक्रमण कर सकता था। ऐसी स्थिति में आस्ट्रिया से युद्ध अनिवार्य था। फ्रांस और आस्ट्रिया दोनों की सेनाओं से युद्ध करना सार्डीनिया के लिए सम्भव नहीं था। इसके अतिरिक्त गेरीबाल्डी, मेजिनी का अनुयायी था, अतः कैवूर को आशंका थी कि गेरीवाल्डी अपने विजित प्रदेशों में कहीं गणतन्त्र स्थापित न कर दे। ऐसा होने से सार्डीनिया के नेतृत्व में इटली के एकीकरण का स्वप्न भंग हो जायेगा। कैवूर के समक्ष यह समस्या थी कि इन कठिनाइयों से कैसे निपटा जाय। किन्तु उसने गेरीवाल्डी को विफल बनाने का उपाय खोज निकाला। उसने यह निश्चय किया कि गेरीवाल्डी के आगे बढ़ने से पूर्व ही पोप के राज्य पर सार्डीनिया की सेनाओं द्वारा आक्रमण कर दिया जाय, किन्तु इससे फ्रांस के साथ युद्ध होने का खतरा था। अतः कैवूर ने नेपोलियन से बातचीत की तथा उसे समझाया कि गेरीबाल्डी की प्रगति को रोकने के लिए पोप के राज्य में सेना भेजना आवश्यक है। नेपोलियन इस समय पोप से अप्रसन्न था, क्योंकि पोप ने फ्रांस की सैनिक सहायता से मुक्त होने के लिए अपनी अलग से सेना गठित कर ली थी, जिसका सेनापति नेपोलियन का व्यक्तिगत शत्रु था। नेपोलियन ने कैवूर को स्वीकृति प्रदान कर दी।

पोप के राज्य पर अभियान—नेपोलियन की ओर से आश्वासन मिलने के बाद 11 सितम्बर, 1860 को सार्डीनिया की सेनाओं ने पोप के राज्य पर आक्रमण कर दिया। 29 सितम्बर को आम्विया और मार्चेस पर सार्डीनिया का अधिकार हो गया। इधर गेरीबाल्डी भी रोम की ओर आगे बढ़ रहा था, किन्तु रास्ते में नेपिल्स के शासक फ्रांसिस की सेनाओं ने उसका रास्ता रोक लिया, जिससे वह कई दिन तक आगे नहीं बढ़ सका। उधर इटली की संसद के निर्णयानुसार नेपिल्स, सिसली व पोप के जीते हुए प्रदेशों में जनमत संग्रह कराया गया तथा

अक्टूबर, 1860 के अन्त तक सभी क्षेत्रों की जनता ने उत्तरी इटली के राज्य में सम्मिलित होने का निर्णय किया। इससे कैवूर की स्थिति मजबूत हो गई। दूसरी ओर गेरीबाल्डी को यह विश्वास हो गया कि इटली की सेना के विना वह सफल नहीं हो सकता। इसी समय विक्टर इमेनुअल स्वयं अपनी सेना लेकर नेपिल्स की ओर वढ़ा तथा टिआनो नामक स्थान पर उसकी गेरीबाल्डी से भेंट हुई। गेरीवाल्डी ने उसका इटली के शासक के रूप में अभिनन्दन किया तथा 27 अक्टूबर, 1860 को गेरीवाल्डी ने अपनी सेना तथा समस्त अधिकार विक्टर इमेनुअल को समर्पित कर दिये। 7 नवम्बर, 1860 को विक्टर इमेनुअल ने गेरीवाल्डी के साथ नेपिल्स में प्रवेश किया। तत्पश्चात् गेरीबाल्डी अपने केप्रीरा टापू में चला गया।

गेरीबाल्डी को देशसेवा के लिए पुरस्कारस्वरूप सम्मान एवं उपाधियाँ देने का प्रस्ताव हुआ, किन्तु उसने आदरपूर्वक किसी भी प्रकार का सम्मान या उपाधि लेने से इन्कार कर दिया। उसने कहा कि, "देशसेवा स्वयं एक पुरस्कार है, मुझे कोई दूसरी चीज नहीं चाहिए।" गेरीवाल्डी अपने केप्रीरा टापू में जाकर वहीं खेती करने लगा।

फरवरी, 1861 में ट्यूरीन में इटली की प्रथम संसद की वैठक हुई, जिसमें रोम और वेनेशिया को छोड़कर समस्त इटली के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। विक्टर इमेनुअल को विधिवत् इटली का शासक स्वीकार किया गया। संसद ने कैवूर का यह भी प्रस्ताव स्वीकार किया कि रोम इटली की राजधानी होनी चाहिये। इसके कुछ ही समय वाद 6 जून, 1861 को कैवूर की मृत्यु हो गयी। वह महान् देशभक्त इटली का पूर्ण एकीकरण देखने के लिए जीवित न रह सका, क्योंकि रोम और वेनेशिया के बिना इटली का एकीकरण अपूर्ण था। वास्तव में कैवूर ने महान् कार्य किये। एक राष्ट्र के रूप में इटली, कैवूर की ही देन है। यद्यपि इटली की मुक्ति के लिए मेजिनी, गेरीबाल्डी आदि देशभक्तों ने भी प्रयत्न किये किन्तु कैवूर की देन सबसे भिन्न थी। उसने एकीकरण के प्रश्न को दलगत राजनीति से अलग रखा। मेजिनी में भावनाओं को उत्तेजित करने की अपूर्व क्षमता थी। वह निर्जीव आत्मा में भी प्राण फूँक सकता था। गेरीबाल्डी एक कुशल सेनापति तथा निःस्वार्थ देशभक्त था। किन्तु कैवूर इन दोनों से भिन्न कुशल कूटनीतिज्ञ तथा व्यावहारिक था। इसलिए वह सफल भी रहा।

इटली का पूर्ण एकीकरण—रोम और वेनेशिया को छोड़कर इटली का एकीकरण पूर्ण हो चुका था। कैवूर की मृत्यु से इटली के नये राज्य को वड़ा आघात लगा। विक्टर इमेनुअल को प्रतिवर्ष एक नया प्रधानमन्त्री नियुक्त करना पड़ता, क्योंकि किसी भी प्रधानमन्त्री को अधिक समय तक संसद का समर्थन प्राप्त नहीं रहता। इसके अतिरिक्त इटली के कुछ क्षेत्रों के लोग पीडमाण्ट-सार्डीनिया की प्रधानता से द्वेष रखते थे तथा इटली के निर्वासित शासक अपनी सत्ता पुनः ग्रहण करने हेतु षड्यन्त्र कर रहे थे। ऐसी परिस्थितियों में विक्टर इमेनुअल ने बड़े धैर्य से काम लिया।

प्रशा का चान्सलर बिस्मार्क आस्ट्रिया को जर्मनी से निकालना चाहता था। इटली के राजनीतिज्ञ इस स्थिति का लाभ उठाकर वेनेशिया प्राप्त करना चाहते थे। विस्मार्क इटली से मित्रता करना चाहता था। अतः 8 अप्रैल, 1866 को इटली और प्रशा के बीच सन्धि हुई, जिसके अनुसार प्रशा और आस्ट्रिया के युद्ध में प्रशा को इटली सैनिक सहायता देगा तथा इसके बदले में इटली को वेनेशिया दिलवा दिया जायेगा। 14 जून, 1866 को प्रशा व आस्ट्रिया के बीच युद्ध

आरम्भ हो गया तथा इटली ने भी आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। समुद्री युद्ध में आस्ट्रिया की सेना ने इटली की सेनाओं को परास्त कर दिया, किन्तु सेडोवा में प्रशा की सेना ने आस्ट्रिया को पूर्ण रूप से पराजित कर दिया। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया से प्राग की सन्धि की जिसके द्वारा वेनेशिया इटली को दिलवा दिया। 7 नवम्बर, 1866 को विक्टर इमेनुअल ने वेनिस में प्रवेश किया।

इसके 4 वर्ष बाद जर्मनी का एकीकरण पूर्ण करने के लिए बिस्मार्क को फ्रांस से युद्ध करना अनिवार्य हो गया। इस अवसर पर नेपोलियन तृतीय ने प्रशा के विरुद्ध इटली और आस्ट्रिया से मित्रता का प्रस्ताव किया किन्तु विक्टर इमेनुअल ने तटस्थता की नीति अपनाई। 1870 में फ्रांस और प्रशा के बीच युद्ध आरम्भ हो गया। अतः नेपोलियन को रोम से अपनी सेना बुलानी पड़ी। सीडान के युद्ध में नेपोलियन को अपने 83 हजार सैनिकों के साथ प्रशा के समक्ष आत्मसमर्पण करना पड़ा। इसकी सूचना मिलते ही विक्टर इमेनुअल ने अपने सेनापति केडोर्ना (Cadorna) के नेतृत्व में 60 हजार सैनिक रोम पर आक्रमण करने के लिए भेज दिये। 29 सितम्बर, 1870 को रोम पर इटली का अधिकार हो गया। रोम में जनमत संग्रह कराया गया, जिसमें रोम के नागरिकों ने इटली में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप रोम को इटली में मिला लिया गया तथा उसे संयुक्त इटली की राजधानी बनाया गया। 2 जून, 1871 को एक भव्य जुलूस के साथ विक्टर इमेनुअल ने रोम में प्रवेश किया। इस प्रकार एक दीर्घकालीन संघर्ष के बाद मेजिनो के नैतिक बल, गेरीबाल्डी की तलवार, कैवूर की कूटनीति, विक्टर इमेनुअल की समझदारी तथा व्यावहारिक बुद्धि एवं असंख्य देशभक्तों के बलिदान से इटली के एकीकरण का महायज्ञ पूरा हुआ।

पोप की स्थिति—एकीकरण के बाद समस्या यह उत्पन्न हुई कि इटली राज्य और पोप के बीच क्या सम्बन्ध हो ? रोम अब संयुक्त इटली की राजधानी थी तथा पोप भी वहीं रहता था। अतः एक ही नगर में दो सत्ताएँ थीं जिनके पारस्परिक सम्बन्धों की समस्या थी। 1871 में इटली की संसद ने इस समस्या को हल कर दिया। संसद ने एक कानून 'लॉ ऑफ पेपल गारण्टीज' (Law of Papel Guarantees) पारित किया। इस कानून के अनुसार पोप का निवास स्थान और उसके चारों ओर का कुछ क्षेत्र पोप को दे दिया गया। इस क्षेत्र पर पोप की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की गई। पोप की स्थिति एक स्वतन्त्र शासक के समान रखी गई। इस क्षेत्र में इटली का कोई कानून नहीं होता था तथा इटली राज्य का कोई कर्मचारी इस क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता था। पोप अन्य देशों में अपने राजदूत भेज सकता था तथा अन्य देशों के राजदूत पोप के यहाँ रह सकते थे।

इस प्रकार, 1815 में वियना काँग्रेस ने जिसे भौगोलिक अभिव्यक्ति मात्र कहा था, वह अब एक स्वतन्त्र राष्ट्र बन गया, जो वियना काँग्रेस की व्यवस्था पर गहरा आघात था।

प्रश्न

1. इटली का एकीकरण कहाँ तक विदेशी सहायता-सैनिक अथवा कूटनीतिक से सम्भव हुआ ?
2. इटली एकीकरण में जिन तत्त्वों ने सहायता दी, उनका वर्णन कीजिये।
3. इटली के एकीकरण में मेजिनी, कैबूर तथा गेरीबाल्डी के योगदान का मूल्यांकन कीजिये।
4. इटली के एकीकरण में कैबूर के योगदान का मूल्यांकन कीजिये।

अध्याय-12

जर्मनी का एकीकरण
(Unification of Germany)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—18वीं सदी के अन्त में जर्मनी 300 से अधिक छोटी-छोटी रियासतों में बँटा हुआ था। यद्यपि नेपोलियन ने जर्मनी की शक्ति को नष्ट करना चाहा, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उसने जर्मनी के एकीकरण की पृष्ठभूमि तैयार करदी। नेपोलियन बोनापार्ट ने जर्मनी के 300 से अधिक स्वतन्त्र राज्यों के स्थान पर 39 राज्यों का एक संघ बनाकर जर्मनी की राष्ट्रीय एकता का मार्ग प्रशस्त किया, जिसके परिणामस्वरूप जर्मनी में एकता की भावना उत्पन्न हुई। वस्तुतः नेपोलियन के कार्यों के द्वारा जर्मनी के राज्यों में स्वतन्त्रता की भावना का विकास हुआ था।

वियना कॉंग्रेस ने 39 राज्यों का एक विशाल परिसंघ (Confederation) बनाया। आस्ट्रिया का सम्राट इस परिसंघ का अध्यक्ष बना। इस परिसंघ की एक राष्ट्रसभा या डायट (Diet) बनायी गई, जिसमें जर्मन रियासतों के शासकों द्वारा मनोनीत प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। यद्यपि इस राष्ट्रसभा को बहुत-से अधिकार दिये गये थे, किन्तु इस पर आस्ट्रिया का पूर्ण प्रभाव तथा आस्ट्रिया और प्रशा की पारस्परिक ईर्ष्या के कारण यह कोई निर्णायक कार्यवाही नहीं कर सकती थी। इसके अतिरिक्त जर्मनी के विभिन्न राज्य अपने अधिकारों में कमी भी नहीं होने देना चाहते थे। वस्तुतः 1815 से 1850 तक जर्मनी में आस्ट्रिया की ही प्रधानता रही।

1815 से 1862 तक जर्मनी के एकीकरण के मार्ग में अनेक बाधाएँ उत्पन्न होती गईं। अतः इस अवधि में, जर्मनी एकीकरण के मार्ग की ओर अत्यन्त ही मन्द गति से बढ़ा। 1862 में बिस्मार्क प्रशा का चान्सलर बना जिसके कुशल नेतृत्व में जर्मनी, एकीकरण के मार्ग की ओर बड़ी ही तीव्र गति से बढ़ा तथा उसी के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण पूरा हुआ। अतः जर्मनी के एकीकरण के अध्ययन को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम तो बिस्मार्क के पहले, जबकि एकीकरण की गति बड़ी मन्द रही तथा द्वितीय बिस्मार्क के चान्सलर बनने के बाद जबकि एकीकरण की गति तीव्र हो गयी।

बिस्मार्क के पूर्व एकीकरण की मन्दगति—फ्रांस की क्रान्ति के फलस्वरूप जर्मनी में राष्ट्रीयता एवं उदारवाद की विचारधारा फैल रही थी किन्तु उसकी गति अत्यन्त ही मन्द थी। प्रोफेसर लिप्सन ने इस मन्द गति के निम्नलिखित कारण बताये हैं—

(1) मानसिक थकान—नेपोलियन के युद्धों के कारण जर्मनी की जनता और सैनिक शान्ति स्थापना के इच्छुक थे, क्योंकि दीर्घकालीन युद्धों के कारण सैनिक और जनता न केवल शारीरिक थकान ही महसूस कर रही थी बल्कि मानसिक थकान भी अनुभव कर रही थी। मानसिक थकान को दूर करने के लिए वे विश्राम चाहते थे। ऐसी परिस्थितियों में राष्ट्रीयता एवं उदारवाद की विचारधारा तीव्र गति से विकसित न हो सकी।

(2) सुधारवादियों में मतभेद—जर्मनी में जो भी सुधारवादी थे उनमें मतैक्य का अभाव था। वे जर्मनी में सुधारों के लिए अनेक प्रकार की योजनाएँ बनाते थे, किन्तु अपने कार्यक्रम के सम्बन्ध में वे एकमत नहीं थे। कुछ सुधारवादी दल आस्ट्रिया के परम्परागत गौरव की अवहेलना करना ही नहीं चाहते थे तो कुछ प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी की शक्ति को संगठित करना चाहते थे। कुछ सुधारवादी जर्मनी के सभी राज्यों को हटाकर एक गणराज्य की स्थापना का स्वप्न देख रहे थे। इसके अतिरिक्त जर्मनी के राजनैतिक दलों के नेताओं में अनुभव का भी अभाव था। जर्मनी की जनता में भी समान रूप से राष्ट्रीय जागृति विकसित नहीं हो पायी थी, इसलिये जर्मनी की सम्पूर्ण जनता संयुक्त जर्मनी की आवश्यकता ही अनुभव नहीं कर रही थी। केवल शिक्षित वर्ग और कुछ उच्च कुल के लोगों में ही राष्ट्रीयता की भावना विद्यमान थी। जर्मनी के विभिन्न राज्य भी अपनी-अपनी डफली से अपना-अपना अलग राग अलापते थे। कुछ राज्य प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के एकीकरण के पक्ष में थे तो कुछ राज्य सामन्तवादी विचारों के प्रबल पोषक थे। जर्मनी की आन्तरिक समस्या बड़ी विकट थी। कुछ राजनैतिक दल फ्रांसीसी क्रान्ति से प्रभावित थे तो कुछ क्रान्तिकारी विचारों के घोर शत्रु थे। इन परिस्थितियों के कारण जर्मनी में राष्ट्रीय एकीकरण की भावना का विकास अत्यन्त ही मन्द रहा।

(3) प्रतिक्रियावादी शासन—वियना काँग्रेस के निर्णय द्वारा जर्मनी पर आस्ट्रिया का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित किया गया था। अतः मेटरनिख ने जो आस्ट्रिया का चान्सलर था, नवीन विचारधारा को कुचलने का निश्चय कर लिया था। उसने जर्मनी को पूर्ण नियन्त्रण में रखने के लिये घोर प्रतिक्रियावादी नीति का अवलम्बन किया। उसने कार्ल्सबाद के आदेशों के द्वारा जर्मनी में पूर्ण रूप से प्रतिक्रियावादी व्यवस्था स्थापित कर दी। इन आदेशों के अनुसार प्रत्येक राज्य से शासक का एक विशेष प्रतिनिधि प्रत्येक विश्वविद्यालय में नियुक्त किया जाता था, जो इस बात का ध्यान रखता था कि वहाँ सरकार की इच्छानुसार कार्य-सम्पादन हो रहा है या नहीं ? वह शिक्षकों और छात्रों पर कठोर निगाह रखता था। उदार एवं राष्ट्रीय विचारों के शिक्षकों को पदच्युत करने की व्यवस्था की गई। गुप्त समितियों तथा समाचार-पत्रों पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये गये। इसके अतिरिक्त एक जाँच आयोग स्थापित किया गया जो क्रान्तकारी समितियों का पता लगाता था। प्रशा भी इस काम में मेटरनिख की नीतियों का समर्थक बना रहा तथा जर्मनी के छोटे-छोटे राज्य भी मेटरनिख की इच्छानुसार शासन चलाते रहे। 1848 तक मेटरनिख के प्रभाव के कारण जर्मनी में प्रगतिशील विचारों को विकसित होने का अवसर ही नहीं मिला। फ्रांस की 1830 की क्रान्ति के फलस्वरूप जर्मनी की कुछ रियासतों में क्रान्ति का प्रसार हुआ, किन्तु आस्ट्रिया, प्रशा और रूस

के सम्मिलित प्रयासों से क्रान्तिकारियों को कुचलकर पुनः प्रतिक्रियावादी सत्ता स्थापित करदी गई। तत्पश्चात् 1833 से 1847 के बीच जर्मनी में कोई सुधारवादी आन्दोलन नहीं हुआ।

(4) **आस्ट्रिया और प्रशा का द्वेष**—आस्ट्रिया और प्रशा में पारस्परिक द्वेष भी था। इन दोनों में पारस्परिक द्वेष इस बात को लेकर था कि जर्मनी का नेतृत्व किसके हाथ में रहे। आस्ट्रिया, जर्मनी का नेतृत्व इसलिए करना चाहता था कि जर्मनी में राष्ट्रीय भावनाओं को कुचला जा सके, क्योंकि उसे भय था कि यदि जर्मनी, राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के आधार पर एक हो गया तो यह महामारी आस्ट्रिया के साम्राज्य में भी फैल जायेगी। इसलिए मेटरनिख चाहता था कि जर्मनी को इतना कमजोर रखा जाय कि वहाँ उदारवाद की विचारधारा उत्पन्न न हो और यह तभी सम्भव था जबकि जर्मनी के राज्यों को विभाजित रखा जाय। अतः मेटरनिख का यही प्रयत्न रहा कि जर्मनी के विभिन्न राज्य विभाजित रहें। इसके विपरीत प्रशा चाहता था कि राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के आधार पर जर्मनी को संगठित किया जाय और इस संगठित जर्मनी का नेतृत्व प्रशा करे।

एकीकरण की विचारधारा के प्रसार के कारण

उपर्युक्त कारणों से जर्मनी के एकीकरण की गति धीमी रही किन्तु इस काम में कुछ ऐसी प्रवृत्तियों का विकास भी हो गया था, जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को गतिशील बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। राष्ट्रीयता और एकीकरण की विचारधारा के प्रसार में निम्नलिखित तत्त्व प्रमुख रूप से सहायक रहे—

(1) **बौद्धिक जागृति**—जर्मनी के साहित्यकारों और लेखकों ने जर्मन राष्ट्रीयता की भावनाओं को जागृत किया। जर्मनी के कवियों, दार्शनिकों तथा इतिहासकारों ने जर्मनी के प्राचीन गौरव पर प्रकाश डालकर राष्ट्रीय एकता की भावना को गति प्रदान की। फिक्टे ने अपने 'एड्रेसेज टू द जर्मन पीपुल' (Addresses to the German People) के द्वारा जर्मन जाति को प्रभावित किया। हीगल ने 'शक्ति पर आधारित राज्य' पर अपने विचार प्रकट किये। डालमेन, राके, बोमर आदि इतिहासकारों ने प्राचीन इतिहास की छानबीन करके जर्मन इतिहास को एक नये रूप में प्रस्तुत किया। हेनरिक हाइन व अर्नड्ट जैसे कवियों ने राष्ट्रीयता के गीत गाकर जनता में ज़ोश भरा। बर्लिन, बॉन, लिप्जिग तथा कुछ अन्य विश्वविद्यालय राष्ट्रीय जागृति के प्रमुख केन्द्र बन गये। इससे जर्मन जनता की राष्ट्रीय भावना को नवीन प्रेरणा प्राप्त हुई।

(2) **आर्थिक क्षेत्र में सहयोग**—जर्मनी के सभी राज्यों की चुँगी चौकियाँ अलग-अलग थीं और व्यापारियों को जगह-जगह चुँगी देनी पड़ती थी। इससे वाणिज्य और व्यापार में बड़ी असुविधा होती थी। यद्यपि प्रशा ने 1819 में श्वासबर्ग के छोटे-से राज्य से सीमा-शुल्क सम्बन्धी सन्धि की थी तथा ऐसी ही सन्धि के लिए अन्य राज्यों को भी प्रोत्साहित किया था, किन्तु उनके पारस्परिक मतभेदों के कारण 1834 से पूर्व प्रशा का कोई प्रयत्न सफल नहीं हुआ। धीरे-धीरे उनके मतभेद समाप्त हो गये तथा 1834 में 18 जर्मन राज्यों को मिलाकर 'जालवरिन' (Zollverein) नामक एक आर्थिक संघ की स्थापना की गई। यह आर्थिक संघ भी प्रशा के नेतृत्व में स्थापित हुआ था। इस संघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों ने यह निश्चय किया कि संघ के सदस्य-राज्य माल का स्वतन्त्र व्यापार करेंगे तथा एक-दूसरे के माल पर चुँगी नहीं लेंगे। 1850 तक सम्पूर्ण जर्मनी के राज्य इस आर्थिक संघ में सम्मिलित हो गये। आरम्भ में मेटरनिख

ने इस संघ के परिणामों को नहीं समझा। किन्तु जब उसे इस बात का आभास होने लगा कि इस आर्थिक सहयोग से जर्मनी की एकता का मार्ग प्रशस्त हो रहा है, तब उसने इस आर्थिक संघ का विरोध किया, किन्तु उसे कोई सफलता नहीं मिली।

जर्मनी के एकीकरण के इतिहास में जालवरिन की स्थापना एक महत्त्वपूर्ण कदम था। आर्थिक दृष्टि से जर्मनी एक हो गया। अव एक राज्य के लोग दूसरे राज्य में आने-जाने लगे तथा देशभक्तों के विचारों का आदान-प्रदान होने से राष्ट्रीयता की भावना को वल मिला। जालवरिन की स्थापना से अब प्रशा, जर्मन राज्यों का नेता बन गया। प्रसिद्ध विद्वान् फाइफ (Fyffe) ने लिखा है कि, "इस संघ को यद्यपि किसी प्रकार का राजनैतिक रूप नहीं दिया गया था, किन्तु परस्पर आर्थिक हितों की रक्षा के लिए इसमें राजनैतिक एकता का बीजारोपण हो चुका था।" इसी प्रकार केटलब्री ने लिखा है कि, "जालवरिन की स्थापना ने भविष्य में प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के राजनैतिक एकीकरण का मार्ग तैयार कर दिया।" वस्तुतः 'जर्मनीकरण' (Germanisation) की ओर यह प्रथम कदम था जिससे व्यापारिक हितों की आधारशिलाओं पर राष्ट्रीयता का भव्य महल खड़ा किया गया। अब प्रशा भी जर्मनी के संगठन का कार्य सम्पन्न करने में सक्षम हो गया था।

(3) 1848 की क्रान्ति का प्रभाव—1848 की फ्रांसीसी क्रान्ति तथा वियना से मेटरनिख के पलायन की सूचना प्राप्त होते ही जर्मनी की विभिन्न रियासतों में विद्रोह उठ खड़े हुए तथा इन राज्यों में राष्ट्रीयता के समर्थकों ने निरंकुश एवं प्रतिक्रियावादी शासकों के विरुद्ध संघर्ष आरम्भ कर दिया। प्रारम्भ में विद्रोहियों को सफलता मिली। अधिकांश जर्मन राज्यों में वैध राजसत्ता स्थापित हो गयी तथा उदार मन्त्रिमण्डलों की नियुक्तियाँ हुईं। वैधानिक शासन एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को मान्यता प्राप्त हुई। प्रशा में विद्रोह का स्वरूप अधिक उग्र था। प्रशा के शासक फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ को भी उदार संविधान स्वीकार करना पड़ा। किन्तु कुछ समय बाद फ्रेडरिक विलियम ने पुनः निरंकुशता की नीति अपनाई।

1848 के आरम्भ में जर्मनी के राष्ट्रवादियों ने जर्मनी का एक संघ बनाने के उद्देश्य से एक राष्ट्रीय संसद आमन्त्रित की, जिसका अधिवेशन फ्रेंकफर्ट में हुआ। इस संसद में जर्मनी के राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए तथा जर्मन संघ का संविधान तैयार करने लगे। वस्तुतः यह राष्ट्रीय संसद जर्मन एकता की प्रतीक थी तथा जर्मन जनता के स्वप्न को साकार कर सकती थी। किन्तु इस संसद के समक्ष अनेक कठिनाइयाँ एवं समस्याएँ भी थीं। संघ की रूपरेखा तथा उसके अधिकारों के विषय में विभिन्न राज्यों में मतभेद थे, अतः संविधान बनाने में काफी समय लग गया; इस बीच ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, जर्मनी में क्रान्ति का प्रभाव कम होता गया। 1848 तक आस्ट्रिया व प्रशा क्रान्ति को कुचलने में सफल हो गये। आस्ट्रिया ने इस राष्ट्रीय संसद के कार्यों में वाधाएँ उपस्थित करना प्रारम्भ कर दिया। फिर भी मार्च, 1849 में राष्ट्रीय संसद ने संघ का संविधान तैयार कर लिया तथा प्रशा के सम्राट को जर्मनी का सम्राट बनाने का निर्णय लिया। किन्तु आल्मुल्स नामक स्थान पर आस्ट्रियन सम्राट ने प्रशा के सम्राट से मुलाकात की और उसको जर्मन संघ का राजमुकुट स्वीकार न करने की चेतावनी दी। फलस्वरूप 3 अप्रैल, 1849 को विलियम चतुर्थ ने नवीन जर्मन संघ का राजमुकुट अस्वीकार कर दिया। उसके वाद संसद इस दिशा में कोई प्रभावी कार्य नहीं कर सकी। इसके बाद प्रशा के मन्त्री जोसफ वान रेडोविस्स ने,

हेनोवर तथा सेक्सनी के साथ मिलकर प्रशा के नेतृत्व में संघ बनाने की योजना तैयार की, किन्तु आस्ट्रिया के हस्तक्षेप के कारण यह योजना भी कार्यान्वित न हो सकी। इस प्रकार, 1848 की क्रान्ति के फलस्वरूप जो राष्ट्रीयता की लहर उत्पन्न हुई थी उसका दमन कर दिया गया।

(4) जर्मनी में औद्योगिक विकास—1834 में जालवरिन की स्थापना से जर्मनी के व्यापार और उद्योग के विकास का मार्ग खुल गया। 1850 से 1860 के मध्य जर्मनी का तीव्र गति से औद्योगीकरण हुआ। इस काल में प्रशा के रूर (**Ruhr**) क्षेत्र में कोयला एवं लोहा मिल जाने से कोयले और लोहे के उत्पादन में वृद्धि हुई। सूती कपड़े के उद्योग में मशीनों का प्रयोग बढ़ने से अनेक स्थानों पर सूती कपड़े की मिलें स्थापित हुईं। रेलों का विस्तार हुआ तथा 1850 तक जर्मनी के सभी प्रमुख नगरों को रेलों द्वारा जोड़ दिया गया। इस प्रकार, 1860 तक जर्मनी की गणना यूरोप के औद्योगिक राज्यों में की जाने लगी। इस औद्योगिक प्रगति के फलस्वरूप प्रशा की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो गयी। इस औद्योगीकरण का जर्मनी के राजनैतिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ा। औद्योगिक विकास के फलस्वरूप जर्मनी में एक नये पूँजीपति वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। धीरे-धीरे इस वर्ग ने जर्मनी की राजनीति में सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ कर दिया और यह वर्ग बहुत ही प्रभावशाली हो गया। जर्मनी के पूँजीपति अपने आर्थिक हितों के कारण संयुक्त जर्मनी के समर्थक थे। पूँजीपति वर्ग का सहयोग प्राप्त हो जाने से एकीकरण आन्दोलन को नयी गति प्राप्त हो गयी।

इस प्रकार, 1860 तक आते-आते जर्मनी को स्वाधीन कर उसे एकता के सूत्र में बाँधने के प्रयासों ने जोर पकड़ लिया था। किन्तु प्रशा के सम्राट एवं मन्त्री इतने साहसी नहीं थे कि आस्ट्रिया के विरुद्ध खड़े हो सकें। 1861 में परिस्थितियाँ बदल गईं। फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ की मृत्यु हो गयी तथा उसका भाई विलियम प्रथम प्रशा का सम्राट बना। विलियम प्रथम का दृढ़ विश्वास था कि जर्मनी का एकीकरण प्रशा के नेतृत्व में ही हो सकता है। 1862 में उसने बिस्मार्क को अपना चांसलर बनाया। इसके बाद एकीकरण की प्रगति में तीव्रता आ गई।

विलियम प्रथम (1861-1888) – प्रशा का नया सम्राट विलियम प्रथम सैनिक गुणों से युक्त एवं व्यवहारकुशल व्यक्ति था। उसका दृढ़ विश्वास था कि प्रशा का भविष्य उसकी सैन्य-शक्ति पर निर्भर करता है। यद्यपि वह उदारवाद का प्रबल शत्रु था, किन्तु प्रशा के हितों में वह उदारवादियों से भी सहयोग करने को तैयार था। वॉन सिबेल के मतानुसार, "उसमें ऐसी अनोखी प्रतिभा थी जिससे वह तुरन्त समझ लेता था कि कौनसी चीज प्राप्य है और कौनसी अप्राप्य ? उसके विचार एवं लक्ष्य स्पष्ट थे। उसमें योग्य व्यक्तियों को परखने की भी शक्ति थी।" अतः वह इस बात को अच्छी तरह जानता था कि जब तक आस्ट्रिया को जर्मन संघ से नहीं निकाल दिया जाता, तब तक जर्मनी का एकीकरण सम्भव नहीं हो सकता। आस्ट्रिया को जर्मनी से निकालने का एकमात्र तरीका यह था कि उसे युद्ध में पराजित किया जाय और उसे युद्ध में पराजित करने के लिए प्रशा की सैनिक शक्ति प्रबल होनी चाहिए। इसलिए उसने प्रशा की सैनिक शक्ति को बढ़ाने का निश्चय किया।

अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विलियम प्रथम ने प्रशा की सैन्य-शक्ति को दुगुना करने की योजना बनायी। उसकी योजना थी कि शान्तिकाल में प्रशा की सेना दो लाख तथा युद्धकाल

में लगभग $4\frac{1}{2}$ लाख होनी चाहिए। उसके युद्ध-मन्त्री वॉन रून (Von Roon) तथा प्रधान सेनापति वॉन माल्टके (Von Moltakle) दोनों ने विलियम प्रथम की इस योजना का समर्थन किया। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए अतिरिक्त धनराशि की आवश्यकता थी और उसके लिए प्रशा के निम्न सदन (Landtog) की स्वीकृति की आवश्यकता थी। निम्न सदन में उदारवादियों का बहुमत था जो इन सैनिक सुधारों को प्रतिक्रियावादी समझता था। संसद ने इस योजना में कुछ संशोधन करने का प्रस्ताव रखा, किन्तु युद्ध-मन्त्री वॉन रून किसी प्रकार का संशोधन स्वीकार करने को तैयार नहीं था। अतः संसद ने बजट पास करने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार सम्राट और संसद के बीच झगड़ा उत्पन्न हो गया। मार्च, 1862 में सम्राट ने संसद को भंग कर नये चुनाव कराये। किन्तु नये चुनावों में पुनः उदारवादियों को बहुमत प्राप्त हो गया। इसलिए सैनिक-व्यय की स्वीकृति नहीं मिल सकी। सम्राट द्वारा नियुक्त अनुदार मन्त्रिमण्डल ने भी त्याग-पत्र दे दिया। ऐसे समय में वॉन रून ने सम्राट को सलाह दी कि वह बिस्मार्क को अपना चान्सलर (प्रधानमन्त्री) नियुक्त करे जो इस समय फ्रांस में प्रशा का राजदूत था। इस समय बिस्मार्क ही ऐसा व्यक्ति था जो संसद के विरुद्ध सम्राट का साथ देने की योग्यता रखता था। अतः सम्राट ने तार देकर बिस्मार्क को बर्लिन बुलाया। 23 सितम्बर, 1862 को सम्राट ने उसे अपना चान्सलर नियुक्त किया। इस अवसर पर बिस्मार्क ने सम्राट को आश्वासन दिया कि, "श्रीमान के साथ नष्ट हो जाऊँगा, किन्तु संसद के साथ संघर्ष में आपका साथ नहीं छोडूँगा।"

बिस्मार्क का उदय—बिस्मार्क का जन्म 1 अप्रैल, 1851 को ब्रेडनबर्ग के एक कुलीन परिवार में हुआ था। उसकी शिक्षा गर्टिजन और बर्लिन विश्वविद्यालयों में हुई। किन्तु उसने कोई विशेष प्रतिभा का परिचय नहीं दिया। शिक्षा समाप्त कर उसने प्रशा के न्याय विभाग में नौकरी कर ली। किन्तु 1839 में उसने इस नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया तथा अगले 8 वर्ष उसने अपनी जागीर के प्रबन्ध करने तथा उसमें सुधार करने में व्यतीत किये। इस काल में उसने कृषि सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया, विदेशों की यात्रा की तथा राजनीति में भाग लेना आरम्भ किया। इसी समय उसका सम्बन्ध ट्रीगलाफ (Triegloff) नामक एक समिति से हो गया जिसका सम्बन्ध बर्लिन के अनुदार दल से था। इसी समय से वह रूढ़िवादी तथा निरंकुश शासन का समर्थक बन गया। 1847 में उसने राजनीति में प्रवेश किया। उस वर्ष सम्राट ने उदारवादियों की माँग पर 'संयुक्त प्रशियन डायट' आमन्त्रित की तथा बिस्मार्क उसका सदस्य निर्वाचित हुआ था। इस सभा में उसने उदारवाद और क्रान्ति का विरोध किया था। 1847 से 1851 तक प्रशा के इतिहास में अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुईं। इसी अवधि में 1848 की क्रान्ति हुई, प्रशा के शासक ने फ्रैंकफर्ट संसद द्वारा प्रस्तावित राजमुकुट को अस्वीकार किया तथा जर्मन संघ बनाने का प्रयत्न किया जो असफल रहा। इसी काल में वह राष्ट्रीय असेम्बली एवं संविधान सभा का सदस्य रहा। यहाँ उसने उदारवादियों एवं क्रान्तिकारियों की कटु आलोचना की तथा निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन किया। इस प्रकार, 1851 तक बिस्मार्क राजतन्त्र के कट्टर समर्थक और लोकतन्त्र के शत्रु के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था।

1851 में प्रशा के सम्राट ने बिस्मार्क को फ्रेंकफर्ट की सभा में प्रशा का प्रतिनिधि नियुक्त किया तथा वहाँ वह आठ वर्ष तक प्रशा का प्रतिनिधित्व करता रहा। यहाँ पर उसके आस्ट्रिया

सम्बन्धी विचारों में परिवर्तन आया। पहले वह आस्ट्रिया से सहयोग कर क्रान्ति का दमन करने का समर्थक रहा था। किन्तु अब उसे ज्ञात हुआ कि आस्ट्रिया व प्रशा का सहयोग सम्भव नहीं है; क्योंकि आस्ट्रिया, प्रशा को बराबरी का स्थान देने को तैयार नहीं था। आस्ट्रिया जर्मनी की छोटी-छोटी रियासतों को अपने पक्ष में रखकर जर्मन संघ पर अपना प्रभाव बनाये रखना चाहता था। अतः वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि आस्ट्रिया को पराजित किये बिना प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण सम्भव नहीं है। उसने फ्रेंकफर्ट की सभा में आस्ट्रिया के प्रभाव को रोकने का हर सम्भव प्रयत्न किया। जनवरी, 1859 में बिस्मार्क को राजदूत बनाकर रूस भेजा गया। रूस में उसने जार अलेक्जेण्डर द्वितीय से व्यक्तिगत मित्रता स्थापित की। क्रीमिया युद्ध के समय प्रशा में रूस के विरुद्ध युद्ध घोषित करने की माँग की गई, किन्तु बिस्मार्क के कारण प्रशा तटस्थ रहा। इस कारण भविष्य में प्रशा और रूस की मित्रता का मार्ग प्रशस्त हो गया। मार्च, 1862 में बिस्मार्क को फ्रांस में राजदूत बनाया गया। फ्रांस में उसे नेपोलियन तृतीय एवं उसके मन्त्रियों से मिलने एवं उनकी नीतियों को समझने का अवसर मिला। इसी बीच वह लन्दन भी गया जहाँ वह पामर्स्टन तथा डिजरैली से मिला। सितम्बर, 1862 में प्रशा के सम्राट ने उसे तार भेजकर बर्लिन बुला लिया तथा 22 सितम्बर, 1862 को उसे प्रशा का चान्सलर नियुक्त किया।

बिस्मार्क की रक्त और लोहे की नीति—बिस्मार्क प्रशा की सैन्य-शक्ति के आधार पर, प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण करना चाहता था। चान्सलर बनने के बाद उसका एकमात्र लक्ष्य आस्ट्रिया को पराजित कर जर्मनी के एकीकरण के मार्ग को निष्कंटक बनाना था। इसलिए उसने प्रशा की सैन्य-शक्ति के पुनर्गठन का कार्य जारी रखा। इस कार्य के सम्बन्ध में सम्राट विलियम प्रथम और संसद के मध्य झगड़ा छिड़ चुका था। बिस्मार्क ने संसद के विरोधी पक्ष से समझौता करने का प्रयास किया, किन्तु संसद अपनी जिद पर अड़ी हुई थी। बजट सम्बन्धी एक समिति में, 1862 में ही उसने उदारवादियों के सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए अपनी नीति को इस प्रकार स्पष्ट किया, "जर्मनी का ध्यान प्रशा के उदारवाद की ओर नहीं है वरन् उसकी शक्ति पर लगा हुआ है। प्रशा को अनुकूल अवसर आने तक अपनी शक्ति को सुरक्षित रखना है। हम पहले कई बार इस प्रकार के अवसर खो चुके हैं। हमारे समय की महान् समस्याएँ भाषणों और बहुमत के प्रस्तावों द्वारा नहीं बल्कि 'रक्त और लोहे' के द्वारा ही सुलझ सकती हैं; 1848-49 में हमने यही सबसे बड़ी भूल की थी।" बिस्मार्क के इस नीति सम्बन्धी स्पष्टीकरण का अर्थ यह था कि प्रशा के भविष्य का निर्माण सेना द्वारा होगा, न कि संसद द्वारा। जर्मन साम्राज्य भाषणों अथवा बहुमत के प्रस्तावों पर खड़ा नहीं हो सकता बल्कि तलवार का प्रयोग कर रक्त की सुदृढ़ नींव पर ही खड़ा किया जा सकता है। उस समय उदारवादियों ने तथा उसके विरोधियों ने बिस्मार्क की इस नीति की कटु आलोचना की। किन्तु बिस्मार्क जानता था कि यदि उसकी जर्मनी-एकीकरण की नीति सफल हो गई तो जर्मन जनता उसकी अनुदारता को भूल जायेगी।

अब बिस्मार्क और संसद के बीच भी लड़ाई ठन गई। निम्न सदन से बजट स्वीकार कराना बहुत ही कठिन कार्य था। बिस्मार्क ने इसका रास्ता भी खोज लिया। उसने निम्न सदन की अवहेलना करके उच्च सदन से बजट पास करवा लिया तथा सैनिक सुधारों के लिए आवश्यक धनराशि प्राप्त कर ली। 1862 से 1866 तक वह इसी प्रकार उच्च सदन में बजट पास करवाता

रहा। यद्यपि बिस्मार्क का यह कार्य असंवैधानिक था, किन्तु राष्ट्रहितों को सर्वोपरि मानते हुए उसने विधान की कोई परवाह नहीं की। 1863 में उसने कहा था, "प्रशा के राजतन्त्र का लक्ष्य अभी प्राप्त नहीं हुआ है, इसलिए वह अभी संसदीय शासन पद्धति के अन्तर्गत एक खिलौना बनने के लिए तैयार नहीं है।" बिस्मार्क अपने आपको केवल सम्राट के प्रति उत्तरदायी समझता था। यद्यपि स्वयं सम्राट भी कभी-कभी उसकी स्वेच्छाचारी नीति से घबरा उठता था, किन्तु बिस्मार्क उसको समझा कर अपनी कार्यवाही पर स्वीकृति प्राप्त कर लेता था।

यद्यपि बिस्मार्क को अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अनेक आन्तरिक एवं बाह्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, किन्तु वह बड़े ही धैर्य, साहस और लगन के साथ आगे बढ़ता गया। उसने प्रशा की सेना का पुनर्गठन कर उसे यूरोप में सर्वश्रेष्ठ बना दिया। तत्पश्चात् उसने अपनी कूटनीति द्वारा आस्ट्रिया को निर्बल बनाने का प्रयास किया। उस समय की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बिस्मार्क के अनुकूल थी। क्रीमिया युद्ध के कारण आस्ट्रिया व रूस के सम्बन्ध बिगड़ चुके थे। 1859 में इटली के युद्ध के कारण आस्ट्रिया व फ्रांस के भी सम्वन्ध बिगड़ चुके थे। इंगलैण्ड इस समय यूरोपीय मामलों में अधिक रुचि नहीं ले रहा था। अतः आस्ट्रिया को किसी भी महान् शक्ति से सहायता नहीं मिल सकती थी।

बिस्मार्क द्वारा विदेशों से मित्रता—बिस्मार्क ने प्रशा को सर्वश्रेष्ठ सैनिक-शक्ति में परिवर्तित कर अब जर्मनी के एकीकरण की तैयारी आरम्भ कर दी। वह चाहता था कि ऐसी एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति उत्पन्न कर दी जाय कि यदि प्रशा का आस्ट्रिया के साथ युद्ध हो तो कोई भी राष्ट्र आस्ट्रिया की सहायता न करे। इसके लिए उसने रूस, फ्रांस और इटली को अपना मित्र बना लिया।

बिस्मार्क, रूस के जार **अलेक्जेण्डर** द्वितीय का व्यक्तिगत मित्र था और जनवरी, 1863 में पोलैण्ड विद्रोह के समय यह मित्रता और भी अधिक दृढ़ हो गयी। 1863 में पोलैण्ड ने रूस के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, तब इंगलैण्ड, फ्रांस और आस्ट्रिया ने पोलैण्ड के प्रति सहानुभूति प्रकट की। प्रशा की जनता की भी सहानुभूति पोलैण्ड के साथ थी किन्तु बिस्मार्क ने प्रशा के हितों को ध्यान में रखते हुए, अन्य यूरोपीय राज्यों का साथ नहीं दिया तथा रूस की पोलैण्ड सम्बन्धी नीति का समर्थन किया। उसने अपने एक विशेष राजदूत को रूस भेजा जिसने रूस के साथ सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार दोनों ने अपनी-अपनी सीमाओं पर सैनिक तैनात कर दिये ताकि अपने राज्य से कोई पोल विद्रोहियों की सहायता के लिए न जा सके। प्रशा ने यह आश्वासन दिया कि किसी पोल विद्रोही को अपने राज्य में शरण नहीं देगा। यद्यपि प्रशा की संसद ने इस नीति की कटु आलोचना की, किन्तु बिस्मार्क ने यह स्पष्ट कह दिया कि युद्ध एवं सन्धि करने का परमाधिकार (Prerogative) सम्राट का है तथा संसद उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकती। वस्तुतः प्रशा के सहयोग से रूस को बड़ा ही बल मिला। यदि बिस्मार्क अन्य यूरोपीय राज्यों का साथ देता तो रूस को अनिवार्य रूप से झुकना पड़ता। इस घटना से रूस, प्रशा का मित्र बन गया तथा रूस व प्रशा की मैत्री बिस्मार्क की नीति का आधारस्तम्भ थी।

इसी वीच बिस्मार्क ने फ्रांस से भी अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। फ्रांस का सम्राट नेपोलियन तृतीय भी आन्तरिक रूप से आस्ट्रिया का विरोधी था। बिस्मार्क ने इसका

लाभ उठाते हुए नेपोलियन से कहा कि यदि फ्रांस, आस्ट्रिया व प्रशा के युद्ध में तटस्थ रहता है तो उसे राइन तट की ओर या बेल्जियम की ओर कुछ प्रदेश दे दिये जायेंगे। यद्यपि बिस्मार्क ने इन प्रदेशों के लिए कोई निश्चित या स्पष्ट आश्वासन नहीं दिया था, फिर भी बिस्मार्क की वातों से नेपोलियन को यह आभास हुआ था। नेपोलियन तृतीय ने प्रशा और आस्ट्रिया के युद्ध में तटस्थ रहने का आश्वासन दिया। फ्रांस से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने के लिए उसने फ्रांस के साथ एक व्यापारिक सन्धि भी कर ली।

बिस्मार्क ने इटली से भी मित्रता की। इटली भी आस्ट्रिया को निकालना चाहता था, क्योंकि आस्ट्रिया का प्रभाव बने रहने पर इटली का एकीकरण सम्भव नहीं था। अतः बिस्मार्क के प्रयत्नों से 8 अप्रैल, 1866 को इटली और प्रशा के बीच एक सन्धि हुई, जिसके अनुसार आस्ट्रिया व प्रशा के युद्ध में इटली प्रशा को सैनिक सहायता देगा तथा इसके बदले में इटली को वेनेशिया दिलवा दिया जायेगा। इस प्रकार, बिस्मार्क ने इटली को भी अपना मित्र बना लिया।

बिस्मार्क ने अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति को अपने पक्ष में करने के बाद अब जर्मनी के एकीकरण की दिशा में आगे कदम बढ़ाया। जर्मनी का एकीकरण बिस्मार्क की 'रक्त और लोह' नीति का परिणाम था। इस नीति का अनुसरण उसने तीन युद्धों में किया। प्रथम 1864 में डेनमार्क के साथ, दूसरा 1866 में आस्ट्रिया के साथ तथा तीसरा 1870 में फ्रांस के साथ। इन तीनों युद्धों के द्वारा उसने जर्मनी का एकीकरण पूर्ण किया।

श्लेसविग-हालस्टीन समस्या और डेनमार्क से युद्ध—श्लेसविग तथा हालस्टीन की दोनों डचियों का प्रश्न यूरोपीय राज्यों के लिए एक समस्या बना हुआ था। ये दोनों डचियाँ डेनमार्क और जर्मनी के बीच में स्थित थीं। श्लेसविग में आधे लोग जर्मन जाति के थे तथा आधे लोग डेन जाति के थे। हालस्टीन की लगभग सम्पूर्ण जनता जर्मन जाति की थी। इन डचियों पर डेनमार्क के शासक का अधिकार था, किन्तु ये दोनों डेनमार्क से पृथक् थीं तथा उनका शासन प्रबन्ध भी डेनमार्क से पृथक् था। डेनमार्क की जनता और शासक इन डचियों को डेनमार्क के राज्य में मिलाना चाहते थे, किन्तु डचियों की जर्मन जनता चाहती थी कि इन डचियों को जर्मन संघ में सम्मिलित कर लिया जाय।

1852 में लन्दन में इन डचियों के विषय में एक समझौता किया गया जिसके अनुसार इन डचियों पर डेनमार्क के शासक का अधिकार मान लिया गया, किन्तु इन डचियों को डेनमार्क के राज्य में न मिलाने का आदेश दिया गया। 1863 में पोलैण्ड के विद्रोह का लाभ उठाकर फ्रेडरिक सप्तम ने मार्च, 1863 में पुनः एक नया संविधान लागू कर दिया, जिससे श्लेसविग को डेनमार्क राज्य का एक अंग मान लिया गया तथा हालस्टीन को भी कुछ सीमा तक डेनमार्क से सम्बद्ध कर दिया गया। इस प्रकार डेनमार्क के शासक ने लन्दन समझौते का उल्लंघन किया तथा श्लेसविग और हालस्टीन के परम्परागत सम्बन्धों को भी विच्छेद कर दिया। नवम्बर, 1863 में डेनमार्क के शासक फ्रेडरिक सप्तम की मृत्यु हो गयी तथा क्रिश्चियन नवम् गद्दी पर बैठा। उसने भी डेनमार्क की जनता को सन्तुष्ट करने के लिए 1863 के विधान की पुष्टि कर दी। डेनमार्क के शासक ने इसकी विधिवत् घोषणा भी कर दी। इस घोषणा से जर्मनी के सभी भागों में डेनमार्क

के विरुद्ध आक्रोश उत्पन्न हो गया। जर्मन डायट ने डेनमार्क से माँग की कि वह 1863 के विधान को वापस ले ले, किन्तु डेनमार्क ने इसे अस्वीकार कर दिया। इस पर जर्मन डायट ने श्लेसविग में सेना भेजने का निर्णय लिया। किन्तु बिस्मार्क वहाँ सेना भेजने के लिए तैयार नहीं हुआ। वह तो एक तीर से दो शिकार करना चाहता था। इन दोनों डचियों की भौगोलिक स्थिति, सामरिक दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण थी। अतः बिस्मार्क उस पर अधिकार करना चाहता था। किन्तु वह जानता था कि यदि प्रशा अकेला इन डचियों को प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा तो उसे अन्य यूरोपीय राज्यों के विरोध का सामना करना पड़ेगा। अतः उसने आस्ट्रिया के सहयोग से श्लेसविग और हालस्टीन के मामले में हस्तक्षेप करने का निर्णय लिया। 16 जनवरी, 1864 को आस्ट्रिया व प्रशा के बीच एक समझौता हो गया। इस सन्धि के पश्चात् आस्ट्रिया व प्रशा दोनों ने मिलकर डेनमार्क के शासक को अल्टीमेटम दिया कि वह 48 घण्टे के अन्दर नवम्बर, 1863 के संविधान को समाप्त कर दे। डेनमार्क को इंगलैण्ड से सहायता मिलने की आशा थी, अतः उसने अल्टीमेटम की कोई परवाह नहीं की। वस्तुतः यह बिस्मार्क की चाल थी जिससे युद्ध अनिवार्य हो गया।

अब आस्ट्रिया व प्रशा की सम्मिलित सेनाओं ने फरवरी, 1864 में डेनमार्क पर हमला कर दिया। 15 दिन के अन्दर डेनमार्क को श्लेसविग खाली करना पड़ा। तत्पश्चात् दोनों राज्यों की सेनाएँ डेनमार्क के राज्य में प्रविष्ट हुईं। डेनमार्क को किसी ओर से सहायता नहीं मिल सकी, अतः उसने विवश होकर 1 अगस्त, 1864 को समझौता कर लिया तथा युद्ध बन्द हो गया। 27 अक्टूबर, 1864 को आस्ट्रिया, प्रशा और डेनमार्क के बीच वियना की सन्धि हो गयी, जिसके अनुसार डेनमार्क ने श्लेसविग, हालस्टीन तथा लायनबुर्ग पर से अपना अधिकार त्याग दिया तथा उन्हें आस्ट्रिया व प्रशा को हस्तान्तरित कर दिया।

इन डचियों को प्राप्त करने के बाद उनके भविष्य के बारे में आस्ट्रिया व प्रशा के बीच मतभेद उत्पन्न हो गये। आस्ट्रिया चाहता था कि दोनों डचियों पर ड्यूक ऑफ आगस्टनबर्ग का अधिकार रहे, किन्तु बिस्मार्क इन दोनों पर प्रशा का अधिकार चाहता था। अन्त में, आस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस जोसेफ तथा प्रशा के सम्राट विलियम प्रथम ने 14 अगस्त, 1865 को गेस्टाइन नामक स्थान पर एक समझौता कर लिया। इस सन्धि के अनुसार—

(1) श्लेसविग पर प्रशा का अधिकार मान लिया गया।

(2) हालस्टीन पर आस्ट्रिया का अधिकार मान लिया गया।

(3) कील के बन्दरगाह पर आस्ट्रिया व प्रशा का संयुक्त अधिकार रहा, किन्तु प्रशा को वहाँ किलेबन्दी करने तथा समुद्र तक नहर खोदने का भी अधिकार दिया गया।

(4) लायनबुर्ग को प्रशा ने खरीद लिया तथा उसकी कीमत आस्ट्रिया को अदा कर दी।

लाज तथा हार्न के शब्दों में—"गेस्टाइन का समझौता बिस्मार्क की महान् कूटनीतिक विजय थी। यह समझौता आल्मुत्स में प्रशा का जो अपमान हुआ था, उसका प्रतिरोध था।" इस समझौते द्वारा स्पष्ट रूप से प्रशा को लाभ हुआ तथा आस्ट्रिया के हितों को आघात पहुँचा। इस समझौते के बाद बिस्मार्क ने कहा था, "मुझे विश्वास नहीं था कि ऐसा भी कोई आस्ट्रियन राजनीतिज्ञ होगा जो इस प्रकार के समझौते पर हस्ताक्षर कर सके।" बिस्मार्क यह भी जानता था

कि यह समझौता अस्थायी है। जैसा कि उसने कहा था कि इस समझौते द्वारा हमने दरार को कागज से ढँक दिया है। बिस्मार्क जानता था कि आस्ट्रिया से युद्ध अनिवार्य है। अतः गेस्टाइन के समझौते के बाद उसने फ्रांस का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया।

आस्ट्रिया से युद्ध—गेस्टाइन के समझौते के बाद आस्ट्रिया व प्रशा के सम्बन्ध बिगड़ते गये। बिस्मार्क तो आस्ट्रिया से युद्ध करने का अवसर ढूँढ ही रहा था, क्योंकि जर्मनी के एकीकरण के लिए आस्ट्रिया से युद्ध अनिवार्य था। अतः बिस्मार्क ने श्लेसविग और हालस्टीन की समस्या को इस तरह उलझा दिया कि युद्ध अनिवार्य हो गया। बिस्मार्क चाहता था कि प्रशा और आस्ट्रिया के युद्ध में आस्ट्रिया को किसी यूरोपीय शक्ति की सहायता न मिल सके। उसने पोलैण्ड में रूस का समर्थन करके रूस को अपना मित्र बना लिया था। वैसे स्वयं बिस्मार्क रूस के जार का व्यक्तिगत मित्र था। अतः रूस की ओर से वह निश्चिन्त था। इंगलैण्ड की ओर से हस्तक्षेप की सम्भावना नहीं थी, क्योंकि वह अपनी आन्तरिक समस्याओं में उलझा हुआ था। बिस्मार्क फ्रांस से भी तटस्थता का आश्वासन प्राप्त कर चुका था। बियारित्ज नामक स्थान पर बिस्मार्क और नेपोलियन तृतीय की भेंट हुई थी, जिसमें नेपोलियन ने स्वीकार कर लिया था कि यदि आस्ट्रिया व प्रशा का युद्ध होगा तो फ्रांस तटस्थ रहेगा। इसके बदले में बिस्मार्क ने फ्रांस को बेल्जियम अथवा राइन के क्षेत्र के कुछ प्रदेश दिलाने की इच्छा व्यक्त की, किन्तु निश्चित आश्वासन नहीं दिया था। फ्रांस से तटस्थता का आश्वासन प्राप्त कर बिस्मार्क ने इटली से मित्रता करने का प्रयत्न किया। 8 अप्रैल, 1866 को इटली व प्रशा के बीच सन्धि हो गई जिसके अनुसार यदि तीन माह के अन्दर प्रशा व आस्ट्रिया का युद्ध होता है तो इटली, प्रशा का साथ देगा। इसके बदले में बिस्मार्क इटली को वेनेशिया दिलवा देगा।

इस प्रकार सारी तैयारियाँ करने के बाद बिस्मार्क, आस्ट्रिया से युद्ध करने का बहाना ढूँढने लगा। इधर आस्ट्रिया कील में ड्यूक ऑफ आगस्टनबर्ग के पक्ष में चल रहे आन्दोलन को प्रोत्साहित कर रहा था। अतः प्रशा ने आस्ट्रिया को एक कड़ा विरोध-पत्र भेजा कि आन्दोलन को तुरन्त समाप्त कर दे। इस पर आस्ट्रिया ने लिखा कि 1864 की प्रशा व आस्ट्रिया की सन्धि को समाप्त समझा जाय। अतः दोनों के बीच वही स्थिति पैदा हो गई जो डेनमार्क-युद्ध के पूर्व थी। दोनों ओर युद्ध की तैयारियाँ आरम्भ हो गयीं तथा दोनों के बीच युद्ध निकट आता जा रहा था। नेपोलियन ने श्लेसविग और हालस्टीन की समस्या सुलझाने के लिए यूरोपीय राज्यों का एक सम्मेलन आमन्त्रित करने का प्रस्ताव किया। रूस एवं ब्रिटेन इसके लिए तैयार हो गए तथा बिस्मार्क ने भी अपनी स्वीकृति दे दी। किन्तु आस्ट्रिया ने सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए ऐसी शर्त रखी कि जिसको स्वीकार करने पर सम्मेलन आमन्त्रित करने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता था। विवश होकर नेपोलियन ने सम्मेलन आमन्त्रित करने का प्रस्ताव वापिस ले लिया। इस प्रकार युद्ध रोकने के सभी प्रयत्न विफल हो गये। बिस्मार्क खुशी से चिल्ला उठा, "अब तो युद्ध होगा, राजा चिरंजीवी हो।"

1 जून, 1866 को आस्ट्रिया ने जर्मनी के संघीय डायट को आमन्त्रित किया तथा श्लेसविग और हालस्टीन पर निर्णय करने को कहा। आस्ट्रिया के संकेत पर संघीय डायट ने निर्णय दिया कि श्लेसविग, हालस्टीन और लायनबुर्ग, ड्यूक ऑफ आगस्टनबर्ग को दे दिये जायँ। बिस्मार्क

ने इसका विरोध करते हुए कहा कि आस्ट्रिया द्वारा गेस्टाइन का समझौता भंग किये जाने से प्रशा भी इससे मुक्त है। तत्पश्चात् 6 जून को प्रशा ने हालस्टीन पर आक्रमण कर दिया। आस्ट्रिया की सेना बिना संघर्ष के पीछे हट गयी। 11 जून को आस्ट्रिया ने संघीय डायट में प्रस्ताव रखा कि संघ, प्रशा के विरुद्ध सेना भेजने का आदेश दे, क्योंकि प्रशा ने एक-दूसरे सदस्य (आस्ट्रिया) के विरुद्ध सेना भेजी है। बिस्मार्क के विरोध के बावजूद 14 जून को आस्ट्रिया का प्रस्ताव पास हो गया। बिस्मार्क ने संघीय डायट के इस निर्णय को अवैध ठहराते हुए जर्मन परिसंघ को समाप्त करने की माँग की और आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा भी कर दी।

आस्ट्रिया व प्रशा का युद्ध केवल सात सप्ताह तक चला। इसलिए इस युद्ध को 'सात सप्ताह का युद्ध' कहते हैं। 3 जुलाई को युद्ध का प्रमुख व निर्णायक संघर्ष सेडोवा (Sadowa) नामक स्थान पर हुआ। इस दिन दोपहर के दो बजे तक आस्ट्रिया की जीत निश्चित दिखाई दे रही थी, किन्तु इसी समय प्रशा का राजकुमार अपनी सेना लेकर आ धमका तथा आस्ट्रिया की सेना पर टूट पड़ा। $3\frac{1}{2}$ बजे युद्ध का फैसला हो गया। प्रशा की शानदार विजय हुई तथा आस्ट्रिया की निर्णायक पराजय। इस युद्ध में जर्मनी के बवेरिया, व्यूटेम्बर्ग, सैक्सनी, हनोवर, हेसकैसल, बेडन आदि राज्यों ने आस्ट्रिया का साथ दिया था, किन्तु तीन दिन के भीतर ही प्रशा की फौजों ने इन सभी राज्यों पर अपना अधिकार कर लिया।

युद्ध में पराजित आस्ट्रिया की हालत इतनी खराब हो गई कि प्रशा का सम्राट तो आस्ट्रिया की राजधानी वियनः पर अधिकार करना चाहता था। किन्तु बिस्मार्क ने कहा, "युद्ध का निर्णय हो गया, अब हमें पुनः आस्ट्रिया की पुरानी मित्रता प्राप्त करनी है।" बिस्मार्क जानता था कि आस्ट्रिया के साथ उदारतापूर्ण सन्धि करना ही प्रशा के हित में था। बिस्मार्क का लक्ष्य आस्ट्रिया को जर्मनी से निकालना था न कि आस्ट्रिया को जीतना। बिस्मार्क यह भी जानता था कि यदि वियना पर अधिकार कर लिया गया तो इससे आस्ट्रिया का घोर अपमान होगा, जिसे वह कभी नहीं भूल सकेगा। इसके अतिरिक्त अन्य यूरोपीय राज्यों के भी हस्तक्षेप की सम्भावना थी, जिससे जर्मनी के एकीकरण का मार्ग अवरुद्ध हो जायेगा।

प्राग की सन्धि—26 जुलाई को नेपोलियन द्वारा स्वीकृत शर्तों के आधार पर प्रशा व आस्ट्रिया के बीच निकोल्सनबर्ग की अस्थाई सन्धि हो गयी, किन्तु इससे फ्रांस को कुछ नहीं मिला। नेपोलियन ने बिस्मार्क से राइन अथवा बेल्जियम के क्षेत्र में कुछ प्रदेशों की माँग की, किन्तु बिस्मार्क ने कुछ भी देने से इन्कार कर दिया। वस्तुतः बिस्मार्क के कूटनीतिक चातुर्य के समक्ष नेपोलियन पूर्णतः पराजित हुआ।

निकोल्सनबर्ग की अस्थायी सन्धि के बाद 23 अगस्त, 1866 को प्राग की स्थायी सन्धि हुई। इस सन्धि में निम्नलिखित बातें तय की गईं—

(1) वियना काँग्रेस द्वारा निर्मित जर्मन परिसंघ समाप्त कर दिया गया तथा आस्ट्रिया ने जर्मनी से अलग रहना स्वीकार कर लिया। आस्ट्रिया को 30 लाख पौण्ड युद्ध का हर्जाना देना पड़ा।

(2) श्लेसविग, हालस्टीन, हेसकेसल, नासा (Nassau), हेस डार्म्सटिट (Hess Darmstedt) का उत्तरी भाग तथा फ्रेंकफर्ट नगर प्रशा में सम्मिलित कर लिये गये।

(3) आस्ट्रिया ने स्वीकार कर लिया कि मेन नदी के उत्तर में स्थित राज्यों का एक नया संघ उत्तरी जर्मन परिसंघ, प्रशा के नेतृत्व में बनाया जा सकता है। इस नये संघ में आस्ट्रिया का कोई स्थान नहीं था।

(4) मेन नदी के दक्षिण में स्थित राज्यों—वुर्टमवर्ग, ववेरिया और वादेन की स्वतन्त्रता को मान्यता प्रदान की गई तथा उन्हें अपनी इच्छानुसार अलग संघ वनाने का भी अधिकार प्रदान किया गया।

(5) वेनेशिया इटली को दे दिया गया।

प्राग की सन्धि द्वारा जर्मनी में आस्ट्रिया का नेतृत्व सदा के लिए समाप्त हो गया तथा प्रशा के नेतृत्व में उत्तरी जर्मन संघ की स्थापना हुई। अब प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के एकीकरण का मार्ग स्पष्ट हो गया। इस सन्धि के पश्चात् प्रशा को यूरोप का शक्तिशाली राष्ट्र तथा विस्मार्क को यूरोप का सवसे शक्तिशाली राजनीतिज्ञ समझा जाने लगा। इससे आस्ट्रिया की प्रतिष्ठा को गहरा आघात लगा तथा उसके साम्राज्य पर भी उसका प्रभाव पड़ा। विस्मार्क की इस सफलता के कारण अब उसके विरोधियों का प्रभाव कम हो गया तथा बिस्मार्क की स्थिति सुदृढ़ हो गयी। जुलाई, 1866 को प्रशा की डायट के चुनाव में उन लोगों को वहुत कम मत प्राप्त हुए, जिन्होंने युद्ध का विरोध किया था।

उत्तरी जर्मन संघ का निर्माण—विस्मार्क सभी जर्मन राज्यों को मिलाकर जर्मन संघ का निर्माण करना चाहता था। किन्तु इस समय विस्मार्क के लिए ऐसा करना सम्भव नहीं था, क्योंकि दक्षिण जर्मनी के राज्यों की इच्छा के विरुद्ध उन्हें संघ में सम्मिलित नहीं किया जा सकता था। अतः विस्मार्क ने शेष 21 राज्यों को मिलाकर प्रशा के नेतृत्व में उत्तरी जर्मन संघ का-निर्माण किया। 1867 में इस नये जर्मन राज्य संघ का संविधान वनाया गया। संघ के लिए दो संसदीय संसद की व्यवस्था की गई। प्रथम, लोकसभा या राइचस्टेग (Reichstag) थी, जिसके सदस्य वयस्क मताधिकार द्वारा निर्वाचित होते थे तथा दूसरी, संघीय परिषद् या बुन्देस्राट (Bundesrath) थी, जिसमें विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे। संघीय परिषद् में 43 सदस्य थे, जिनमें 17 सदस्य प्रशा के थे। प्रशा का शासक वंशानुगत क्रम से संघ का अध्यक्ष नियुक्त हुआ तथा यह भी निश्चित किया गया कि संघ का प्रथम चान्सलर प्रशा का प्रधानमन्त्री बिस्मार्क ही हो। चान्सलर संघीय परिषद् का अध्यक्ष होता था किन्तु संसद के प्रति उत्तरदायी नहीं था। चान्सलर अपनी सहायता के लिए मन्त्रियों की नियुक्ति करता था। संघ के अन्तर्गत सभी राज्यों को अपने आन्तरिक शासन का अधिकार पूर्ववत् बना रहा।

इस राज्य संघ के निर्माण से उत्तरी जर्मनी का एकीकरण पूर्ण हो गया। किन्तु जर्मनी का एकीकरण पूर्ण होने के लिए दक्षिण जर्मनी के राज्यों का इस नये संघ में सम्मिलित होना आवश्यक था। अतः इस कार्य को पूरा करने के लिए बिस्मार्क को पुनः युद्ध लड़ना पड़ा।

फ्रांस और प्रशा का युद्ध—प्राग की सन्धि के पश्चात् फ्रांस और प्रशा के सम्बन्ध निरन्तर बिगड़ते गये। आस्ट्रिया और प्रशा के युद्ध में नेपोलियन तृतीय इसलिए तटस्थ रहा था कि प्रथम

तो उसे बेल्जियम अथवा राइन के क्षेत्र में कुछ प्रदेश प्राप्त होने की आशा थी, दूसरा उसको विश्वास था कि आस्ट्रिया व प्रशा का संघर्ष इतना लम्बा होगा कि दोनों पक्ष उसे पंच बनाने को तैयार हो जायेंगे। किन्तु बिस्मार्क इस तथ्य से भलीभाँति परिचित था कि जब तक फ्रांस की शक्ति बनी रहेगी तब तक दक्षिणी जर्मन राज्यों को जर्मन संघ में सम्मिलित करना सम्भव नहीं होगा। बिस्मार्क ने अपने संस्मरणों में लिखा था कि, "जर्मनी का एकीकरण पूर्ण करने के लिए फ्रांस और प्रशा का युद्ध अनिवार्य रूप से होगा।"

वस्तुतः सेडोवा के युद्ध के बाद फ्रांस और प्रशा के सम्बन्धों में निरन्तर तनाव आता गया। फ्रांस और प्रशा के बिगड़ते हुए सम्बन्धों के निम्नलिखित कारण थे—

(1) प्रशा की विजय से फ्रांस के राजनीतिज्ञों को ऐसा प्रतीत हुआ कि इससे न केवल फ्रांस की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को आघात पहुँचा है वरन् अब फ्रांस की सुरक्षा को भी खतरा उत्पन्न हो गया है। इसलिए फ्रांस के राजनीतिज्ञ सेडोवा का प्रतिशोध लेने की माँग कर रहे थे। फ्रांस की यह नीति थी कि जर्मनी सदैव निर्बल रहे तथा जर्मन राज्यों में परस्पर झगड़ा चलता रहे ताकि जर्मनी का संगठन न हो सके। किन्तु आस्ट्रिया की पराजय के बाद प्रशा यूरोप की महान् शक्ति बन गया। इस स्थिति को फ्रांस सहन करने को तैयार नहीं था।

(2) वियारित्ज में नेपोलियन और बिस्मार्क की भेंट के बाद नेपोलियन को आशा थी कि फ्रांस की सीमा का विस्तार राइन नदी तक हो जायेगा। युद्ध की समाप्ति के बाद नेपोलियन ने इसके लिए प्रयत्न भी किया, किन्तु बिस्मार्क ने अपने दिये हुए आश्वासन की उपेक्षा की, जिससे नेपोलियन क्रुद्ध हो उठा। उसकी समस्त आशाओं पर पानी फिर गया तथा उसकी प्रतिष्ठा गिर गई। ऐसी स्थिति में वह प्रशा को सबक सिखाना चाहता था।

(3) अमेरिका में चल रहे गृह-युद्ध का लाभ उठाकर फ्रांस ने मेक्सिको में हस्तक्षेप किया। वह मेक्सिको में प्रजातन्त्र को समाप्त कर वहाँ अपना राज्य स्थापित करना चाहता था, किन्तु वह असफल रहा। मेक्सिको के शासक मेक्समिलियन की हत्या का उत्तरदायित्व भी फ्रांस पर डाला गया। इससे फ्रांस की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा गिर गई। अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने के लिए नेपोलियन के समक्ष युद्ध के अतिरिक्त कोई मार्ग ही नहीं था।

(4) नेपोलियन तृतीय ने 1867 में हालैण्ड के शासक से लक्सेमबर्ग खरीदना चाहा। हालैण्ड का शासक इसके लिए तैयार भी हो गया, किन्तु बिस्मार्क के हस्तक्षेप के कारण नेपोलियन को लक्सेमबर्ग भी प्राप्त नहीं हो सका। बिस्मार्क की इस कुटिल नीति के कारण फ्रांस की जनता क्षुब्ध हो उठी थी।

(5) क्रीमिया युद्ध के कारण रूस व फ्रांस की शत्रुता थी। पोलैण्ड के विद्रोह में प्रशा ने रूस की नीति का समर्थन कर रूस की मित्रता प्राप्त कर ली। इससे फ्रांस में खलबली मच गई। इधर बिस्मार्क ने अपनी कुशल कूटनीति द्वारा इटली को भी अपने पक्ष में मिला लिया। उसने इटली को वेनेशिया दिलवा कर फ्रांस से पृथक् कर दिया। इससे फ्रांस और भी अधिक घबरा उठा। अब युद्ध के अतिरिक्त उसके समक्ष कोई अन्य उपाय नहीं रह गया था।

(6) इधर जर्मनी के लोग भी फ्रांस से नाराज थे। जर्मन लोगों का यह कहना था कि वास्तव में फ्रांस ही जर्मनी के एकीकरण में बाधक है। इधर फ्रांस को भी जर्मनी के विरुद्ध शिकायतें थीं। दोनों राज्यों के समाचार-पत्रों ने एक-दूसरे के प्रति जहर उगलना शुरू कर दिया, जिससे दोनों राज्यों में उत्तेजना बढ़ने लगी तथा युद्ध की आशंका को बल प्राप्त हुआ।

(7) दक्षिण जर्मनी के चार राज्य बवेरिया, वुर्टमवर्ग, वेडेन तथा हेस्से अब भी जर्मन संघ की उपेक्षा कर रहे थे। इन राज्यों पर फ्रांस का प्रभाव था। नेपोलियन इन राज्यों को जन-संघर्ष के विरुद्ध भड़का रहा था। बिस्मार्क इन राज्यों को जर्मन संघ में मिलाकर जर्मनी का एकीकरण पूर्ण करना चाहता था। अतः बिस्मार्क इन राज्यों को जीतने के लिए कटिबद्ध था।

(8) फ्रांस और प्रशा के तनावपूर्ण सम्बन्धों के मध्य स्पेन के उत्तराधिकार का प्रश्न उत्पन्न हुआ, जिससे दोनों राज्यों के सम्बन्ध अत्यधिक बिगड़ गये और युद्ध आरम्भ हो गया। 1868 में स्पेन में क्रान्ति हुई तथा महारानी इजाबेला द्वितीय को स्पेन से निर्वासित कर दिया गया। इसके पश्चात् स्पेन के सिंहासन के लिए प्रशा के शासक के सम्बन्धी राजकुमार लियोपॉल्ड को शासक बनाने के लिए आमन्त्रित किया गया। आरम्भ में तो लियोपॉल्ड कुछ हिचकिचाया, परन्तु बाद में अपनी स्वीकृति दे दी। लियोपॉल्ड का नाम प्रस्तावित कराने में बिस्मार्क का हाथ था। 3 जुलाई, 1870 को इसकी सूचना पेरिस पहुँची तो फ्रांस में बड़ी उत्तेजना उत्पन्न हो गयी। नेपोलियन एवं फ्रांस के राजनीतिज्ञों की यह निश्चित धारणा थी कि लियोपॉल्ड को स्पेन की गद्दी प्राप्त हो जाने से प्रशा की शक्ति में और अधिक वृद्धि हो जायेगी जिससे फ्रांस की सुरक्षा ही खतरे में पड़ जायेगी। फ्रांस के मन्त्रियों ने स्पष्ट घोषणा की कि फ्रांस, लियोपॉल्ड को कभी भी स्पेन का शासक स्वीकार नहीं करेगा। फ्रांस के विदेश मन्त्री ग्रेमा (Duke de Gramont) ने अपना एक दूत प्रशा के सम्राट विलियम के पास भेजा, जिसने फ्रांस की सरकार का विरोध प्रकट किया। सम्राट ने लियोपॉल्ड को सलाह दी कि वह स्पेन के सिंहासन के लिए अपनी स्वीकृति वापस ले ले और इसके साथ ही लियोपॉल्ड के पिता ने घोषणा की कि उसका पुत्र स्पेन के सिंहासन का प्रत्याशी नहीं रहा है। 12 जुलाई, 1870 को लियोपॉल्ड ने अपनी स्वीकृति वापस ले ली। ऐसी स्थिति में समस्या यहीं समाप्त हो जानी चाहिए थी किन्तु नेपोलियन, उसका विदेश मन्त्री ग्रेमा तथा कुछ अन्य व्यक्ति इससे सन्तुष्ट नहीं हुए क्योंकि वे फ्रांस की कूटनीतिक पराजय के अपमान का बदला लेना चाहते थे। अतः फ्रांस की ओर से बेनेदिती (Bendetti) को सम्राट विलियम के पास भेज कर माँग की गई कि भविष्य में भी लियोपॉल्ड या उसके राजवंश के किसी व्यक्ति को स्पेन के उत्तराधिकार के लिए वह समर्थन नहीं देगा। बेनेदिती ने सम्राट से एम्स नगर में बातचीत की। सम्राट ने कहा कि लियोपॉल्ड ने स्पेन के सिंहासन के लिए अपनी स्वीकृति वापिस ले ली, इसके आगे वह कुछ नहीं कहना चाहता। इस बातचीत का विवरण तार द्वारा बिस्मार्क के पास भेजा गया। 13 जुलाई, 1870 की रात को यह तार बिस्मार्क को मिला। बिस्मार्क बहुत ही निराश था, क्योंकि स्पेन का नियन्त्रण प्राप्त करने की उसकी योजना सम्राट विलियम की कायरता के कारण असफल हो गयी थी। किन्तु एम्स के तार को पढ़कर उसने एक युक्ति खोज निकाली। बिस्मार्क ने उस तार की 'संक्षिप्त इबारत' प्रकाशित करवा दी (14 जुलाई, 1870)। तार के प्रकाशित होने का वही प्रभाव पड़ा जिसकी कि बिस्मार्क को आशा थी। तार के संक्षिप्त रूप को पढ़कर

फ्रांसीसियों ने सोचा कि सम्राट विलियम ने फ्रांसीसी राजदूत बेनेदिती का अपमान किया है तथा दूसरी ओर जर्मनी के लोगों ने सोचा कि फ्रांसीसी राजदूत ने जर्मन सम्राट का अपमान किया है। पेरिस में प्रशा के विरुद्ध युद्ध की माँग की जाने लगी। यद्यपि ब्रिटेन ने दोनों राज्यों में समझौता कराने का प्रयत्न किया, किन्तु वह असफल रहा। 15 जुलाई, 1870 को फ्रांस ने प्रशा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

फ्रांस अभी युद्ध के लिए पूर्ण तैयार नहीं था जबकि प्रशा की सेना पूर्ण रूप से तैयार थी। फ्रांस को विश्वास था कि दक्षिणी जर्मनी के राज्य प्रशा का साथ नहीं देंगे, किन्तु दक्षिणी जर्मनी के राज्यों ने उत्साह से प्रशा का साथ दिया। इससे जर्मनी की सैनिक-शक्ति में वृद्धि हो गयी। फ्रांस ने आस्ट्रिया व इटली की सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया किन्तु असफल रहा। उसे अकेले ही संगठित जर्मनी का सामना करना पड़ा। जर्मनी की सेनाओं ने तीन ओर से फ्रांस पर आक्रमण किया। अगस्त, 1870 के आरम्भ में बोसेनबर्ग में फ्रांसीसी सेना पराजित हुई तथा जर्मनी की सेना एल्सेस प्रान्त तक पहुँच गई। तत्पश्चात् ग्रेवलार के युद्ध में पुनः फ्रांसीसी सेना पराजित हुई (18 अगस्त, 1870) तथा प्रशा की सेना आगे बढ़ती गई। सितम्बर, 1870 को फ्रांसीसी सेना सीडान में घिर गयी तथा नेपोलियन को अपने 83 हजार सैनिकों सहित आत्म-समर्पण करना पड़ा। इसकी सूचना प्राप्त होते ही पेरिस में क्रान्ति हो गयी तथा 4 सितम्बर, 1870 में फ्रांस में गणतन्त्र की स्थापना की गई तथा एक "राष्ट्रीय सुरक्षा सरकार" संगठित की गई, जिसने युद्ध जारी रखने का निश्चय किया। जर्मन सेनाएँ आगे बढ़ती गईं और पेरिस तक पहुँच गईं। अतः फ्रांस ने युद्ध स्थगित कर सन्धि की बातचीत आरम्भ कर दी।

जर्मन साम्राज्य की स्थापना—बिस्मार्क तो सन्धि होने के पूर्व ही एकीकरण के महायज्ञ को पूर्ण करना चाहता था। दक्षिण जर्मनी के चारों राज्य पहले ही जर्मन संघ में सम्मिलित हो चुके थे। अतः बिस्मार्क ने 18 जनवरी, 1871 को वर्साय के प्रसिद्ध शीशमहल में एक भव्य दरबार का आयोजन किया, जिसमें जर्मन राज्यों के सभी शासक तथा उनके सेनानायक उपस्थित हुए। इस भव्य दरबार में एक सुसज्जित ऊँचे मंच पर प्रशा के सम्राट विलियम को बैठाया गया। दरबार में सम्राट विलियम को एकीकृत जर्मन साम्राज्य का सम्राट घोषित किया गया तथा बिस्मार्क ने "जर्मनी के सम्राट" विलियम प्रथम का राज्याभिषेक किया। इस प्रकार जर्मनी का राष्ट्रीय एकीकरण पूर्ण हुआ।

फ्रेंकफर्ट की सन्धि—28 जनवरी, 1871 को पेरिस के पतन के साथ ही फ्रांस-प्रशा युद्ध समाप्त हो गया। 26 फरवरी को फ्रांस और प्रशा के बीच शान्ति-सन्धि की प्रारम्भिक शर्तों पर हस्ताक्षर हुए तथा 10 मई, 1871 को फ्रेंकफर्ट में दोनों देशों के प्रतिनिधियों ने सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इस सन्धि के अनुसार—

(1) फ्रांस को मेज (Metz) तथा स्ट्रासबर्ग सहित एल्सस एवं लारेन का भाग जर्मनी को देना पड़ा। केवल बेलफोर्ट का किला फ्रांस के अधिकार में रह गया।

(2) फ्रांस को युद्ध-हर्जाने के रूप में 70 करोड़ पौण्ड जर्मनी को देना स्वीकार करना पड़ा। पूरी रकम का भुगतान होने तक जर्मनी की सेना का फ्रांस में रहना भी निश्चित किया गया।

अप्रैल,1871 में जर्मनी के नये विधान की घोषणा की गई, जिसके अनुसार दक्षिणी जर्मनी के समस्त राज्य जर्मन संघ में सम्मिलित कर लिये गये। इस प्रकार प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का राजनैतिक एकीकरण पूर्ण हुआ। बिस्मार्क को इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये तीन युद्ध लड़ने पड़े। जर्मनी के इस एकीकरण के लिये क्रान्तिकारियों के अतिरिक्त लेखकों, विचारकों, इतिहासकारों एवं दार्शनिकों ने अपनी सामर्थ्य के अनुसार कार्य किया। इस एकीकरण से बिस्मार्क न केवल जर्मनी का वरन् यूरोप का सर्वाधिक प्रभावशाली राजनीतिज्ञ बन गया। अतः यूरोप के इतिहास में 1871 से 1890 तक के काल को "बिस्मार्क युग" की संज्ञा दी जाती है।

हार्नशा ने लिखा है कि, "संसार के इतिहास में बहुत कम घटनाएँ ऐसी हुई हैं जिनके तात्कालिक परिणाम इतने महत्त्वपूर्ण हुए हों जितने सेडान युद्ध में फ्रांस की पराजय के हुए।"

फ्रांस और प्रशा के युद्ध का परिणाम—फ्रांस और प्रशा के युद्ध का मुख्य परिणाम तो जर्मनी का एकीकरण है। दक्षिण जर्मनी के राज्यों का जर्मन संघ में विलय हो जाने से एक शक्तिशाली जर्मन साम्राज्य की स्थापना हुई। एल्सस और लारेन लोहे व कोयले के प्रमुख केन्द्र थे जो अब जर्मनी के अधिकार में आ गए। फ्रांस में द्वितीय साम्राज्य का अन्त हो गया तथा तृतीय गणराज्य की स्थापना हुई। फ्रेंकफर्ट की सन्धि फ्रांस के लिए अत्यन्त ही अपमानजनक थी, फलतः वहाँ गृह-युद्ध आरम्भ हो गया। इसके अतिरिक्त फ्रांस-प्रशा युद्ध के कारण इटली का एकीकरण पूरा हो गया। नेपोलियन के पतन के कुछ ही दिनों पहले रोम से फ्रांसीसी सेना बुला ली गई। इटली ने इस स्थिति का लाभ उठाकर रोम पर अधिकार कर लिया तथा उसे इटली की राजधानी घोषित कर दिया। इस युद्ध से लाभ उठाकर रूस ने काले सागर पर अधिकार कर लिया।

इटली एवं जर्मनी के एकीकरण का तुलनात्मक अध्ययन—इटली और जर्मनी का एकीकरण कई अर्थों में समान था। दोनों देश राजनीतिक दृष्टि से बिखरे हुए थे। प्रत्येक देश में छोटे-छोटे अनेक राज्य थे, जो पारस्परिक संघर्षों के कारण निर्बल होते जा रहे थे। किन्तु फ्रांस की क्रान्ति और नेपोलियन की विजयों के कारण दोनों देशों में राष्ट्रीयता की भावना का संचार हुआ था। वियना काँग्रेस के निर्णयों से दोनों देशों की स्थिति समान हो गयी, क्योंकि दोनों को अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित कर प्राचीन राजतन्त्र स्थापित कर दिया गया तथा दोनों राष्ट्रों पर आस्ट्रिया की प्रधानता स्थापित हो गयी थी। दोनों देशों की राष्ट्रीय भावनाओं को मेटरनिख ने कुचलने का प्रयास किया था। अतःदोनों ही देशों को समान रूप से आस्ट्रिया की प्रतिक्रियावादी नीति का सामना करना पड़ा था। इस प्रतिक्रियावादी नीति के कारण न केवल राष्ट्रीय भावनाओं का दमन हुआ, वरन् उनका विकास भी कई वर्षों तक रुका रहा। किन्तु दोनों देशों के लेखकों, कवियों, विचारकों एवं इतिहासकारों ने राष्ट्रीय भावना को जागृत करने में अभूतपूर्व योगदान दिया। फलस्वरूप 1848 तक आते-आते दोनों ही देशों में राष्ट्रीयता की भावना अत्यधिक प्रबल हो गयी थी।

जहाँ दोनों देशों के एकीकरण में समानता दिखाई देती है वहाँ दोनों देशों की समस्याओं में हमें अन्तर दिखाई पड़ता है। इटली के एकीकरण की समस्या जर्मनी से कुछ अधिक जटिल थी। जहाँ इटली में अलग-अलग राज्य थे वहाँ जर्मनी में एक शिथिल संघ का निर्माण पहले ही हो चुका था। इटली में आस्ट्रिया का शासन भी था तथा पोप का भी अलग राज्य था। जर्मनी में जालवरिन नामक चुँगियों का संघ तथा व्यवस्थापिका सभा की व्यवस्थाएँ मौजूद थीं, जबकि

इटली में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी। पोप का राज्य इटली के एकीकरण में बड़ा बाधक था, क्योंकि पोप कैथोलिकों का धर्मगुरु था तथा उसके राज्य में हस्तक्षेप करना खतरे से खाली नहीं था। जर्मनी में ऐसी कोई समस्या नहीं थी। जर्मनी में प्रशा एक शक्तिशाली राज्य था तथा इस महान् शक्ति में छोटी-छोटी शक्तियों का समावेश किया गया था। किन्तु इटली के राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व सार्डीनिया-पीडमाण्ट जैसी छोटी शक्ति ने किया था। अतः इटली के अन्य राज्यों द्वारा सार्डिनिया-पीडमाण्ट का नेतृत्व स्वीकार करना अत्यन्त ही कठिन था। ऐसी छोटी शक्ति द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन का सफलतापूर्वक संचालन करना, उसकी उच्चकोटि की प्रवृत्ति को प्रमाणित करता है। इसके विपरीत जालवरिन की स्थापना के कारण जर्मनी की रियासतें प्रशा को अपना नेता मान चुकी थीं। इटली में गुप्त समितियों ने कई वर्षों तक राष्ट्रीय आन्दोलन में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था, जबकि जर्मनी में गुप्त समितियों का स्थान नगण्य था। इटली का एकीकरण किसी विदेशी शक्ति की सहायता के बिना सम्भव नहीं था, क्योंकि इटली में ऐसा कोई शक्तिशाली राज्य नहीं था जो आस्ट्रिया को इटली से बाहर निकाल सके। इटली ने फ्रांस की सहायता से ही आस्ट्रिया को पराजित किया तथा प्रशा के कारण उसे वेनेशिया प्राप्त हुआ था। किन्तु जर्मनी का एकीकरण बिना किसी विदेशी सहायता के, केवल प्रशा की शक्ति द्वारा ही सम्पन्न हुआ।

इसके अतिरिक्त बिस्मार्क तथा कैवूर दो महान् निर्माता थे, जिनके विचारों और कार्यक्रमों में अन्तर था। बिस्मार्क राजसत्ता तथा निरंकुश शासन प्रणाली का कट्टर समर्थक था जबकि कैवूर वैध राजसत्तावादी शासन प्रणाली तथा प्रजातन्त्रीय व्यवस्था का समर्थक था। कैवूर इंगलैण्ड की शासन प्रणाली को अपना आदर्श मान कर उसी से प्रेरणा प्राप्त करता था, जबकि बिस्मार्क इंगलैण्ड की शासन-प्रणाली को दुर्भाग्यपूर्ण मानता था। कैवूर ने विदेशी सहायता, सहयोग और सहानुभूति को इटली के एकीकरण का आधार माना, जबकि बिस्मार्क ने प्रशा की सैनिक शक्ति को प्रधानता देते हुए अपनी कूटनीति का प्रयोग कर लक्ष्य की प्राप्ति की। कैवूर ने इटली के एकीकरण में जन-सहयोग को बड़ा महत्त्व दिया, जबकि बिस्मार्क ने जन-सहयोग को कोई महत्त्व न देकर उग्र नीति में विश्वास किया। इटली का एकीकरण मेजिनी, गेरीबाल्डी, कैवूर तथा विक्टर इमेनुअल के सम्मिलित प्रयासों तथा देशभक्त जनता के उत्साह एवं बलिदान से सम्पन्न हुआ था। किन्तु जर्मनी का एकीकरण केवल बिस्मार्क की "रक्त एवं लोह" की नीति द्वारा सम्पन्न हुआ। हार्नशा ने ठीक ही लिखा है कि जो दार्शनिक वाद-विवादों एवं संसदीय मतों से प्राप्त नहीं किया जा सका, उसे बिस्मार्क ने अपनी "रक्त और लौह" की नीति द्वारा सम्पादित कर दिया।

प्रश्न

1. सन् 1848 से पहले जर्मनी के एकीकरण नहीं होने के कारणों का वर्णन कीजिये।
2. जर्मनी के एकीकरण में बिस्मार्क के योगदान का मूल्यांकन कीजिये।
3. 1870-71 में फ्रांस तथा प्रशा के युद्ध के कारणों एवं परिणामों की विवेचना कीजिये।
4. जर्मनी के एकीकरण के विभिन्न चरणों का उल्लेख कीजिये।
5. बिस्मार्क ने किस तरह "रक्त और लौह" की नीति द्वारा जर्मन एकीकरण को पूरा किया।

अध्याय-13

पूर्वी समस्या

(क्रीमिया युद्ध से बर्लिन व्यवस्था के विशेष सन्दर्भ में)

(Eastern Question with special reference to Crimean War and Berlin Settlement)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—पूर्वी समस्या का अभिप्राय उन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से है, जो यूरोप में तुर्की साम्राज्य के पतन से उत्पन्न हुई थीं। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक तुर्क साम्राज्य (ओटोमन साम्राज्य) बहुत अधिक विस्तृत एवं शक्तिशाली था। लगभग सम्पूर्ण बाल्कन क्षेत्र (बोस्निया, सर्बिया, यूनान, रूमानिया, बल्गेरिया आदि) तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत थे। परन्तु इस क्षेत्र के निवासी धर्म, भाषा और रक्त आदि में तुर्कों से सर्वथा भिन्न थे और तुर्कों ने इन लोगों को अपने साम्राज्य में आत्मसात् करने का कोई प्रयास नहीं किया, उल्टे उनका शोषण करते रहे। 18वीं सदी के प्रारम्भ से ही तुर्क साम्राज्य की निर्बलता के लक्षण प्रकट होने लगे। 1815 के बाद तो उसकी शक्ति तेजी से क्षीण होती गई, क्योंकि साम्राज्य के अधीन कुछ देश स्वाधीन होने के लिए उतावले हो उठे थे। ऐसी परिस्थितियों में तुर्क साम्राज्य का विघटन अवश्यम्भावी हो गया था। अतः समस्या यह थी कि तुर्क साम्राज्य के पतन के बाद उसका स्थान कौन ग्रहण करे ? साम्राज्य के स्थान पर अनेक छोटे-छोटे राज्य हों अथवा तुर्क साम्राज्य को विघटित होने से रोका जाय ? इन्हीं समस्याओं को "पूर्वी समस्या" कहा गया है।

पूर्वी समस्या भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट हुई। प्रारम्भ में आस्ट्रिया ने तुर्की की पतनोन्मुख स्थिति से लाभ उठाना चाहा। बाद में यह समस्या रूस और तुर्की की प्रतिद्वन्द्विता के रूप में प्रकट हुई। इसके बाद इंगलैण्ड, फ्रांस और आस्ट्रिया भी इस समस्या से जुड़ते चले गये। इस प्रकार यह एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन गई। इस समस्या को समझने के लिए यूरोपीय महाशक्तियों के हितों और उनकी नीतियों का उल्लेख करना समीचीन होगा।

यूरोपीय शक्तियों के स्वार्थ

रूस—पूर्वी समस्या में रूस की विशेष रुचि थी। वह कुस्तुनतुनिया पर अधिकार करना चाहता था। यदि ऐसा सम्भव न हो तो तुर्की के सुल्तान पर रूस का प्रभुत्व कायम किया जाय

ताकि सुल्तान रूस के आदेशानुसार कार्य करे। रूस की इस नीति का एक मुख्य कारण यह था कि उसके पास ऐसा कोई समुद्री तट नहीं था जो व्यापार-वाणिज्य के लिए बारह महीने खुला रहे। दूसरा कारण, रूस अपनी जलशक्ति में वृद्धि करना चाहता था। इसलिए वह काला सागर तथा उसके जलडमरूओं पर अपना नियन्त्रण स्थापित करने को उत्सुक था। तीसरा कारण, रूस ग्रीक चर्च को मानने वाला था, किन्तु इस चर्च के पवित्र स्थान तुर्की के अधिकार में थे, अतः रूस इन पवित्र स्थानों को अपने संरक्षण में लेना चाहता था। एक कारण यह भी था कि बाल्कन प्रायद्वीप में स्लाव जाति के लोग अधिक थे तथा बाल्कन रूस का पड़ोसी क्षेत्र भी था, इसलिए धर्म, भाषा और जाति की एकरूपता के कारण दोनों के निवासियों का सांस्कृतिक सम्बन्ध भी था। इन सभी कारणों से रूस ने तुर्की के निर्बल सुल्तान से लाभ उठाकर, अनेक सुविधाएँ प्राप्त कर ली थीं। 18वीं सदी के अन्त तक रूस तुर्की सीमा की ओर निरन्तर बढ़ता रहा और तुर्की साम्राज्य को कमजोर बनाने में योगदान करता रहा।

इंगलैण्ड—पूर्वी समस्या में इंगलैण्ड की रुचि के मुख्य रूप से दो कारण थे। पहला, इंगलैण्ड को इस बात का भय था कि तुर्क साम्राज्य पर रूस का प्रभुत्व हो जाने से उसके एशियाई साम्राज्य की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो जायेगा। इस भय के कारण इंगलैण्ड ने तुर्क साम्राज्य को बनाये रखने की नीति अपनाई। वह चाहता था कि तुर्की सुल्तान अपने साम्राज्य को यथावत् बनाये रखे तथा रूस को आगे बढ़ने से रोके। दूसरा, इंगलैण्ड अपने व्यापारिक हितों के कारण भी तुर्की साम्राज्य को बनाये रखना चाहता था, क्योंकि तुर्क साम्राज्य पर किसी अन्य शक्ति का प्रभुत्व हो जाने से इंगलैण्ड को अपने व्यापारिक हितों को हानि पहुँचने की आशंका थी।

आस्ट्रिया—पूर्वी समस्या में सबसे अधिक रुचि रखने वाला देश आस्ट्रिया था। आस्ट्रिया चारों ओर से भूमि से घिरा हुआ था। अतः उसे समुद्र तक पहुँचाने का मार्ग चाहिए था जो उसे तुर्की में से हो कर ही मिल सकता था। इससे न केवल उसे व्यापारिक लाभ था अपितु साम्राज्य विस्तार में भी आसानी हो जाती। आस्ट्रिया का मुख्य व्यापार डेन्यूब नदी से होता था। इसलिए आस्ट्रिया नहीं चाहता था कि डेन्यूब के मुहाने पर काला सागर पर रूस का प्रभाव स्थापित हो। उधर बाल्कन में सर्बिया के राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने में आस्ट्रिया अपना हित समझता था, क्योंकि यदि सर्बिया की जाति अपने आन्दोलन में सफल हो जाती है तो आस्ट्रिया में रहने वाली स्लाव जातियाँ भी उससे प्रभावित होकर आस्ट्रिया के विरुद्ध विद्रोह कर सकती हैं। चूँकि रूस सर्वस्लाव आन्दोलन को गुप्त रूप से प्रोत्साहित कर रहा था अतः आस्ट्रिया की यह नीति थी कि रूस को इस क्षेत्र में आगे बढ़ने से रोका जाय तथा सर्बिया के राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचल दिया जाय।

फ्रांस—पूर्वी समस्या में फ्रांस की रुचि का कारण राजनीति से अधिक धार्मिक एवं व्यापारिक था। तुर्की फ्रांस का पुराना मित्र था, इसलिए फ्रांस को तुर्की साम्राज्य में विशेष व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त थीं। फ्रांस की धार्मिक रुचि यह थी कि वह बहुत पहले से ही तुर्क साम्राज्य में आबाद रोमन कैथोलिकों का संरक्षक था।

जर्मनी—पूर्वी समस्या में जर्मनी की एकमात्र रुचि यह थी कि वह इस क्षेत्र में रेल लाइन बनाना चाहता था ताकि उसके व्यापार-वाणिज्य का विस्तार हो सके। (नोट : उसकी यह रुचि बर्लिन व्यवस्था के वाद विकसित हुई थी।)

वस्तुतः यूरोपीय महाशक्तियों के पारस्परिक स्वार्थों तथा तुर्की साम्राज्य की पतनोन्मुख स्थिति के कारण ही पूर्वी समस्या उत्पन्न हुई थी। इस समस्या को एक "गठिया रोग" की संज्ञा दी जाती है,जो कभी टाँगों को तो कभी हाथों को अशक्त करता रहता है। जॉन मार्ले ने कहा है, "परस्पर विरोधी जातियों, धर्मों एवं स्वार्थों से उत्पन्न जटिल,असाध्य एवं परिवर्तनशील समस्या को ही पूर्वी समस्या के नाम से जाना जाता है।"

क्रीमिया युद्ध के पूर्व की घटनाएँ

सर्बिया का विद्रोह—वियना कांग्रेस के पूर्व ही बाल्कन प्रायद्वीप में स्वतन्त्रता संघर्ष शुरू हो चुका था। तुर्की साम्राज्य के विरुद्ध सर्वप्रथम 1804 में सर्बिया ने विद्रोह किया था। विद्रोह का नेतृत्व कारा जॉर्ज ने किया। 1815 में मिलोश ओब्रिनोविच के नेतृत्व में सर्बों ने पुनः विद्रोह कर दिया। विवश होकर तुर्की ने ओब्रिनोविच को राजा मानते हुए सर्बिया को स्वायत्त शासन के कुछ अधिकार दे दिये,किन्तु सर्बिया पर सुल्तान की सम्प्रभुता कायम रही। इससे भी जब स्थिति में कुछ सुधार नहीं आया तब रूस के दवाव से बाध्य होकर 1826 में सर्बिया को पूर्ण आन्तरिक स्वायत्तता प्रदान कर दी गई। 1830 तक सर्बिया अपने आन्तरिक शासन में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गया। तुर्की का प्रभुत्व नाममात्र का रह गया। इस प्रकार 19वीं सदी में सर्बिया के विद्रोह से तुर्की साम्राज्य का विघटन आरम्भ हो गया।

यूनान का स्वतन्त्रता संग्राम—18वीं शताब्दी के अन्त में यूनान में कुछ राष्ट्रवादी साहित्यकार हुए जिनके राजनैतिक विचार तथा साहित्यिक प्रेरणा के कारण यूनानियों को अपनी पराधीनता अखरने लगी और वे तुर्की के दमनकारी शासन से मुक्त होने का स्वप्न देखने लगे। यूनान में क्रान्तिकारी युद्ध समितियों का गठन किया गया। इनमें "हिटेरिया फिल्के" नामक संस्था अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थी। इसका उद्देश्य तुर्की को यूरोप से निकाल कर कुस्तुनतुनिया में पुनः यूनानी साम्राज्य स्थापित करना था।

अप्रैल,1821 में मोरिया तथा एजियन सागर के कुछ द्वीपों में विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी जिसने समूचे यूनान को अपनी लपेट में ले लिया। विद्रोहियों ने सैकड़ों मुसलमानों को मौत के घाट उतार दिया और कई बार सैनिक झड़पों में तुर्क सेनाओं को परास्त कर खदेड़ दिया। ऐसी स्थिति में तुर्की के सुल्तान ने मिस्र के शासक मेहमत अली से सहायता माँगी। मिस्री सेना ने वर्वरता के साथ यूनानियों के विद्रोह को कुचल दिया। मुसलमानों की हत्याओं के प्रतिशोध में अनेक स्थानों पर यूनानियों का कत्ले-आम किया गया।

6 जुलाई, 1827 को रूस, फ्रांस और इंगलैण्ड में एक सन्धि हुई जिसके अनुसार तुर्की के सुल्तान को कहा गया कि वह अपने अधीन यूनान को स्वायत्तता प्रदान कर दे। परन्तु सुल्तान ने तीन शक्तियों के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। अतः मित्र राष्ट्रों का संयुक्त जंगी वेड़ा सक्रिय हो गया। 20 सितम्वर,1827 को यूनानियों ने तुर्की की नौ-सैनिक टकड़ी पर आक्रमण कर उसे नष्ट

कर दिया। इसके प्रत्युत्तर हेतु मेहमत अली का पुत्र इब्राहीम (जो यूनान में मिस्त्री सेना का संचालन कर रहा था) अपना जहाजी बेड़ा लेकर नेवेरिनों की खाड़ी से बाहर निकला। इस पर इंगलैण्ड, फ्रांस और रूस के संयुक्त बेड़े ने नेवेरिनों की खाड़ी में प्रवेश किया। 20 अक्टूबर, 1827 को नेवेरिनों के युद्ध में तुर्की के तमाम जहाज नष्ट कर दिये गये। परन्तु इस घटना के तत्काल बाद इंगलैण्ड और फ्रांस युद्ध से अलग हो गये। अब रूस को अकेले ही आगे बढ़ने का अवसर मिल गया। रूस की सेना बाल्कन पर्वत माला को पार कर एड्रियानोपल पर अधिकार करके कुस्तुनतुनिया की ओर बढ़ी। विवश होकर तुर्की को 14 सितम्बर, 1829 को रूस के साथ एड्रियानोपल की सन्धि करनी पड़ी। इस सन्धि के अनुसार तुर्की के प्रभुत्व के अन्तर्गत यूनान के राज्य का निर्माण करना था। परन्तु यूनानी पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते थे। अतः उन्होंने इस समझौते को ठुकरा दिया। महाशक्तियों के स्वार्थों ने इस समस्या को और भी अधिक उलझा दिया। अन्त में, इंगलैण्ड के प्रयत्नों से सितम्बर, 1833 में फ्रांस, रूस और इंगलैण्ड में एक नया समझौता हुआ जिसके अनुसार यूनान को पूर्ण स्वतन्त्र राज्य स्वीकार किया गया तथा बवेरिया के राजा के दूसरे पुत्र राजकुमार आटो को यूनान का राजा बनाने का निर्णय किया गया। इस प्रकार यूनान तुर्की के प्रभाव से मुक्त हो गया।

क्रीमिया का युद्ध

कारण—1853 ई. तक पूर्वी समस्या अपेक्षाकृत शान्त रही परन्तु महाशक्तियाँ तुर्की में अपना-अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए कूटनीतिक दाँव-पेच लगाती रहीं। परिणामस्वरूप 1854 में इतिहास प्रसिद्ध क्रीमिया का युद्ध भड़क उठा। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित थे—

1. ईसाई तीर्थ स्थानों का प्रश्न—फिलिस्तीन में स्थित जेरूसलम के पवित्र स्थान तुर्की साम्राज्य में थे। इन पवित्र स्थानों में सदियों से ग्रीक चर्च के संन्यासी रहते चले आ रहे थे। 1535 ई. में तुर्की के सुल्तान ने इन पवित्र स्थानों की देखभाल करने का कार्य कैथोलिक संन्यासियों को सौंप दिया तथा फ्रांस को तुर्की में रहने वाले रोमन ईसाइयों का संरक्षक मान लिया। 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद फ्रांस ने इन पवित्र स्थानों में रुचि लेना बन्द कर दिया। फलतः इन पवित्र स्थानों पर ग्रीक संन्यासियों का अधिकार हो गया। रूस ग्रीक (यूनानी) संन्यासियों का संरक्षक माना जाता था।

1848 की फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद नेपोलियन तृतीय फ्रांस का राष्ट्रपति बन गया। वह अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए फ्रांस के कैथोलिकों को प्रसन्न करना चाहता था। अतः 1850 में उसने तुर्की के सुल्तान से माँग की कि कैथोलिक संन्यासियों के प्राचीन अधिकार उन्हें वापिस लौटाये जायें। इस पर रूस के जार (सम्राट) ने तुर्की के सुल्तान को यथास्थिति बनाये रखने को कहा। तुर्की के सुल्तान ने व्यावहारिक रूप से फ्रांस की माँग को स्वीकार कर लिया। इससे रूस नाराज हो गया।

2. तुर्की द्वारा रूसी प्रस्ताव को ठुकराना—मार्च, 1853 में रूस के जार ने तुर्की के सुल्तान से माँग की कि तुर्क साम्राज्य के समस्त यूनानी चर्च के मानने वाले ईसाइयों पर, वह रूस का संरक्षण स्वीकार करे। इंगलैण्ड और फ्रांस को यह प्रस्ताव स्वीकार्य नहीं था। अतः तुर्की के सुल्तान ने रूस के प्रस्ताव को अनुचित बताते हुए ठुकरा दिया।

3. रूसी राजदूत का तुर्की से पलायन—जनवरी, 1853 में रूस के जार ने इंगलैण्ड के सामने तुर्की साम्राज्य का आपस में बँटवारा करने का प्रस्ताव रखा। परन्तु इंगलैण्ड को रूस का यह खतरनाक प्रस्ताव पसन्द नहीं आया। इधर तुर्की के सुल्तान ने कुस्तुनतुनिया में स्थित ब्रिटिश और फ्रांसीसी राजदूतों की सलाह पर यूनानी चर्च के अनुयायियों पर रूसी संरक्षण की माँग को ठुकरा दिया था। इससे कुस्तुनतुनिया में स्थित रूसी राजदूत मेनशिकाफ अत्यन्त ही क्रोधित हो उठा तथा सुल्तान के इस निर्णय के विरोध में 22 मई, 1853 को रूसी दूतावास के अन्य कर्मचारियों के साथ स्वदेश लौट गया।

4. रूसी सेनाओं का तुर्की साम्राज्य में प्रवेश—31 मई, 1853 को रूस के जार ने तुर्की के सुल्तान को चेतावनी दी कि वह रूस की माँगें स्वीकार कर ले अन्यथा रूस मोल्दाविया तथा वालेशिया (तुर्क प्रान्त) पर अधिकार कर लेगा। रूस की इस धमकी से इंगलैण्ड और फ्रांस चौकन्ने हो गये तथा दोनों ने अपने जहाजी बेड़ों को बेसिका की खाड़ी में पहुँचने का आदेश दे दिया। इससे प्रोत्साहित होकर तुर्की सुल्तान ने रूस की माँगों को पुनः ठुकरा दिया। अतः 21 जुलाई, 1853 को रूसी सेना ने मोल्दाविया तथा वालेशिया पर अधिकार कर लिया। इससे स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गई।

5. वियना नोट—युद्ध को रोकने के लिए आस्ट्रिया की पहल पर इंगलैण्ड, फ्रांस, प्रशा तथा आस्ट्रिया के नेताओं का वियना में सम्मेलन हुआ और एक नोट तैयार किया गया जिसे 'वियना नोट' कहा जाता है। इस नोट में तुर्की के सुल्तान की स्वतन्त्रता को स्वीकार करते हुए तुर्क साम्राज्य में रहने वाले यूनानी ईसाइयों की सुरक्षा का अधिकार रूस को प्रदान किया गया। परन्तु तुर्की के सुल्तान ने 'वियना नोट' को अस्वीकार कर दिया। परिणामस्वरूप रूस और तुर्की के बीच युद्ध अवश्यम्भावी हो गया।

युद्ध का प्रथम चरण—तुर्की के सुल्तान को इंगलैण्ड व फ्रांस से सहायता मिलने की आशा थी। अतः 5 अक्टूबर, 1853 को उसने रूस को चेतावनी दी कि वह 15 दिन के अन्दर मोल्दाविया और वालेशिया को खाली कर दे। रूस ने चेतावनी का कोई उत्तर नहीं दिया। अतः 23 अक्टूबर, 1853 को तुर्की ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

30 अक्टूबर, 1853 को रूस ने सिनोय की खाड़ी में स्थित तुर्की के जहाजी बेड़े पर आक्रमण कर उसे नष्ट कर दिया। इस घटना को 'सिनोय का हत्याकाण्ड' कहा जाता है। इस घटना से इंगलैण्ड और फ्रांस चिन्तित हो उठे। उन्हें लगा कि यदि रूस को नहीं रोका गया तो तुर्की का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा जो उनके राष्ट्रीय हितों के लिए हानिकारक सिद्ध होगा। अतः इंगलैण्ड और फ्रांस का संयुक्त जहाजी बेड़ा काला सागर जा पहुँचा। इस बीच नेपोलियन तृतीय ने युद्ध को रोकने के लिए प्रयास किया परन्तु वह असफल रहा। 27 फरवरी, 1854 को इंगलैण्ड व फ्रांस ने संयुक्त रूप से रूस को चेतावनी दी कि वह 30 अप्रैल तक मोल्दाविया व वालेशिया खाली कर दे। रूस ने इस चेतावनी को ठुकरा दिया। इस पर 28 मार्च, 1854 को इंगलैण्ड व फ्रांस ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

मार्च-अप्रैल, 1854 में रूस को सिलिस्ट्रिया में तुर्क सेनाओं के साथ कड़ा संघर्ष करना पड़ा। मई के अन्त तक इंगलैण्ड तथा फ्रांस की सेनाएँ भी तुर्कों की सहायता के लिए पहुँच गई।

इसी समय आस्ट्रिया ने भी रूस को अपनी सेनाएँ हटा लेने की चेतावनी देते हुए रूसी सीमा पर अपनी सेनाएँ तैनात कर दीं ताकि रूस पर पीछे से आक्रमण किया जा सके। ऐसी परिस्थिति में रूस को विवश होकर डेन्यूब प्रदेशों (मोल्दाविया-वालेशिया) से अपनी सेना हटानी पड़ी। रूसी सेना के हटते ही आस्ट्रिया ने तुर्की से बातचीत करके युद्धकाल तक मोल्दाविया और वालेशिया में अपनी सेना तैनात कर दी। आस्ट्रिया की यह 'शत्रुतापूर्ण तटस्थता' की नीति आगे चल कर रूस की पराजय का प्रमुख कारण बनी।

रूसी सेना के डेन्यूब प्रदेश से हट जाने से इंगलैण्ड और फ्रांस का प्रारम्भिक उद्देश्य पूरा हो गया था। परन्तु वे रूस की शक्ति क्षीण कर उसे पंगु बना देना चाहते थे ताकि भविष्य में रूस उन्हें परेशान न कर सके। अतः जुलाई, 1854 में मित्र राष्ट्रों (इंगलैण्ड, फ्रांस, प्रशा, तुर्की आदि) ने रूस के समक्ष निम्नलिखित चार प्रस्ताव रखे—

1. मोल्दाविया तथा वालेशिया पर रूस के संरक्षण अधिकारों को समाप्त कर दिया जाय।
2. डेन्यूब नदी में यूरोप के सभी राज्यों को व्यापार करने की सुविधाएँ प्राप्त हों।
3. तुर्की की यूनानी जनता पर रूस अपने संरक्षण के अधिकार को त्याग दे।
4. तुर्की को यूरोपीय राज्य मण्डल में शामिल कर लिया जाय।

युद्ध का द्वितीय चरण : क्रीमिया पर आक्रमण—रूस ने मित्र राष्ट्रों के प्रस्तावों को ठुकरा दिया। इस पर इंगलैण्ड और फ्रांस ने रूस की सामुद्रिक शक्ति के प्रमुख केन्द्र क्रीमिया पर आक्रमण करने का निश्चय किया। क्रीमिया के सिबास्टोपोल पर रूस का सामुद्रिक शस्त्रागार था। 14 सितम्बर, 1854 को ब्रिटिश एवं फ्रेंच सेनाएँ सिबास्टोपोल के उत्तर में यूपेटोरिया की खाड़ी में जा पहुँची। 20 सितम्बर को दोनों पक्षों में एल्मा का युद्ध लड़ा गया जिसमें रूसी सेना पराजित हुई। इससे सिबास्टोपोल पर आक्रमण करने का मार्ग खुल गया। 17 अक्टूबर से सिबास्टोपोल का घेरा आरम्भ किया गया। क्रीमिया युद्ध में सबसे बड़ी लड़ाई सिबास्टोपोल के लिए ही हुई थी। यह घेरा लगभग 11 महीने तक चलता रहा तथा युद्ध में दोनों पक्षों के लगभग 5 लाख लोग मारे गये।

जनवरी, 1855 के अन्त में सार्डिनिया के प्रधानमन्त्री कैबूर ने मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में भाग लेने का निश्चय करते हुए 18 हजार सैनिक क्रीमिया भेज दिये जिससे मित्र राष्ट्रों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। इसी बीच मार्च, 1855 में रूस के जार निकोलस प्रथम की मृत्यु हो गई तथा अलेक्जेण्डर द्वितीय रूस का नया जार बना।

युद्ध का अन्तिम चरण—सितम्बर, 1855 में मित्र राष्ट्रों की सेनाओं ने मालाकाफ पर अधिकार कर लिया। अब सिबास्टोपोल को बचाना असम्भव हो गया। 9 सितम्बर, 1855 को रूसी सेना ने अपने गोला-बारूद में आग लगादी। इसके बाद सिबास्टोपोल पर मित्र राष्ट्रों ने अधिकार कर लिया। सिबास्टोपोल के पतन के बाद भी कुछ दिनों तक युद्ध जारी रहा। 28 नवम्बर को रूसी सेनाओं ने तुर्की के महत्त्वपूर्ण दुर्ग कार्स पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् रूस सन्धि करने को तैयार हो गया।

पेरिस की सन्धि—25 फरवरी, 1856 को इंगलैण्ड, फ्रांस, आस्ट्रिया, तुर्की, रूस और सार्डिनिया-पीडमाण्ट के प्रतिनिधि सन्धि की शर्तों पर विचार-विमर्श करने के लिए पेरिस में एकत्र हुए। सन्धि के लिए आस्ट्रिया ने मध्यस्थता की। 30 मार्च, 1856 को सभी देशों ने एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये जिसे "पेरिस की सन्धि" कहा जाता है। इस सन्धि की मुख्य शर्तें निम्नलिखित थी–

1. तुर्की को यूरोप की संयुक्त व्यवस्था में सम्मिलित कर लिया गया जिससे उसकी गणना यूरोप के बड़े राज्यों में होने लगी। सभी राष्ट्रों ने तुर्की की स्वतन्त्रता व प्रादेशिक अखण्डता को बनाये रखने की गारण्टी दी।
2. तुर्की के सुल्तान ने अपनी ईसाई प्रजा के हितों को ध्यान में रखते हुए उनकी स्थिति में सुधार करने का पुनः आश्वासन दिया। इसके बदले में यूरोपीय राष्ट्रों ने उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना स्वीकार किया।
3. काला सागर को तटस्थ क्षेत्र मान लिया गया, जहाँ किसी भी राष्ट्र के युद्ध पोतों का प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया। यह भी तय किया गया कि वहाँ रूस और तुर्की अपने सैनिक अड्डे स्थापित नहीं करेंगे।
4. रूस और तुर्की ने एक-दूसरे के जीते हुए क्षेत्र वापस कर दिये। कार्स पर पुनः तुर्की और क्रीमिया पर रूस का अधिकार मान लिया गया। मोल्दाविया तथा वालेशिया पर रूस का संरक्षण समाप्त हो गया।
5. तुर्की के प्रभुत्व में सर्विया की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली गई तथा यूरोपीय राज्यों ने उसकी स्वतन्त्रता की गारण्टी दी।
6. डेन्यूव नदी में सभी राज्यों को व्यापार करने का अधिकार दिया गया।
7. तुर्की साम्राज्य में रहने वाले ईसाइयों की सुरक्षा के अधिकार से रूस को वंचित कर दिया गया।

क्रीमिया युद्ध का महत्त्व

क्रीमिया युद्ध के महत्त्व के बारे में इतिहासकार एक मत नहीं हैं। सर राबर्ट मोरियर के अनुसार यह युद्ध आधुनिक युग का सबसे निरर्थक युद्ध था। थीयर्स के अनुसार यह युद्ध कुछ अभागे साधुओं को पूजा-गृह की चाबियाँ दिलवाने के लिए लड़ा गया था। किन्तु उनके सम्बन्ध में कोई उचित व्यवस्था न हो सकी और व्यर्थ में सहस्रों सैनिकों का बलिदान हो गया। डेविड थाम्प्सन ने लिखा है कि, "1855 में तीन बड़े राज्यों के बीच युद्ध होना पुरानी व्यवस्था के अन्तर्गत शान्ति बनाये रखने के प्रयत्नों की प्रथम विफलता थी।" ग्राण्ट एवं टेम्परले ने लिखा है कि, "विज्ञान के आधुनिक साधनों के बिना लड़ा जाने वाला यह अन्तिम युद्ध था। उसके उद्देश्यों एवं कूटनीतिक प्रणाली पर मध्य युग की स्पष्ट छाप थी, क्योंकि उसके कारणों में क्रूसेड के काल के समान आर्थिक समस्याएँ भी एक कारण बन गई थी।"

वस्तुतः क्रीमिया युद्ध यूरोपीय इतिहास का संक्रान्ति काल था। इसके पूर्व लगभग 40 वर्षों तक यूरोप में शान्ति रही थी। किन्तु उसके बाद 15 वर्षों में यूरोपीय राष्ट्रों के मध्य चार बड़े युद्ध हुए। इसका मुख्य कारण यह था कि क्रीमिया के युद्ध के बाद यूरोपीय राज्यों में पारस्परिक

सम्बन्धों का दृष्टिकोण ही बदल गया। क्रीमिया युद्ध की विजय के बाद नेपोलियन तृतीय एवं फ्रांस की प्रतिष्ठा बढ़ गयी तथा नेपोलियन तृतीय राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के आधार पर यूरोपीय व्यवस्था का पुनर्निमाण करने का प्रयत्न करने लगा। इधर आस्ट्रिया वियना-व्यवस्था के आधार पर यूरोप में अपनी प्रधानता बनाये रखने का प्रयत्न करता रहा। किन्तु क्रीमिया युद्ध के प्रति उसकी नीति के कारण यूरोपीय राज्यों में उसके प्रति अविश्वास उत्पन्न हो गया। क्रीमिया युद्ध के कारण रूस की विदेश नीति में परिवर्तन आया। रूस ने मध्य यूरोपीय समस्याओं में अधिक सक्रिय भाग लेना बन्द कर दिया। इंगलैण्ड ने भी यूरोप की राजनीति में अनावश्यक हस्तक्षेप बन्द कर दिया। अब यूरोपीय रंगमंच पर बिस्मार्क, कैबूर, गोर्शकोव जैसे राजनीतिज्ञों का उदय हुआ, जिन्हें वियना-व्यवस्था के प्रति कोई लगाव नहीं था।

पेरिस की सन्धि द्वारा पूर्वी समस्या का समाधान करने का प्रयत्न किया गया किन्तु यह इतनी जटिल थी कि यूरोपीय राज्य इस पर एकमत नहीं हो सकते थे। क्रीमिया युद्ध का एक उद्देश्य रूस को निर्बल बनाना था। पेरिस की सन्धि द्वारा उसकी प्रगति पर कुछ समय के लिए रोक अवश्य लगा दी गई थी किन्तु उसकी महत्त्वाकांक्षा पर रोक नहीं लगाई जा सकी। 1870 में रूस ने काला सागर सम्बन्धी शर्तों को अस्वीकार कर दिया तथा 1878 में उसने बेसरबिया पर पुनः अधिकार कर लिया। रूस की एशियायी विस्तार की नवीन नीति से भारतीय ब्रिटिश साम्राज्य को नया खतरा उत्पन्न हो गया। हेजन ने पेरिस की सन्धि की आलोचना करते हुए लिखा है कि पूर्वी समस्या को हल करने में यह युद्ध पूर्ण रूप से असफल रहा। साउथगेट ने भी लिखा है कि पेरिस की सन्धि द्वारा पूर्वी समस्या का जो हल निकाला गया वह न तो उचित ही था और न पर्याप्त। पेरिस सन्धि की इस घोषणा से कि यूरोपीय राज्य तुर्की के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप नहीं करेंगे, तुर्की साम्राज्य की ईसाई जनता को बड़ी निराशा हुई। उन्होंने अपनी रक्षा के लिए अपनी तैयारियाँ शुरू कर दीं। परिणामस्वरूप पूर्वी समस्या और अधिक उलझ गई। ए.जे.पी. टेलर ने लिखा है कि, "क्रीमिया के युद्ध से पवित्र मैत्री (Holy Alliance) की प्राचीन व्यवस्था नष्ट हो गई किन्तु उसके स्थान पर कोई नवीन व्यवस्था स्थापित नहीं की गई, न तो ब्रिटेन के उदारवादी आदर्शों के आधार पर ही कोई व्यवस्था स्थापित हो सकी और न ही नेपोलियन तृतीय की क्रान्तिकारी कल्पनाएँ ही साकार हो सकीं, बल्कि यूरोप में ऐसी अराजकता आरम्भ हो गयी, जो पूर्वी समस्या से सम्बन्धित दूसरे संघर्ष तक चलती रही।"

1856 से 1874 तक पूर्वी समस्या

रूमानिया का निर्माण—पेरिस की सन्धि के अनुसार मोल्दाविया तथा वालेशिया के प्रदेशों को तुर्की की अधीनता में आन्तरिक स्वतन्त्रता देने का निश्चय किया गया था। इन दोनों प्रदेशों के निवासी एक ही जाति के थे तथा एक ही भाषा बोलते थे। वे दोनों प्रदेशों को मिला कर स्वतन्त्र रुमानिया का राज्य बनाना चाहते थे। तुर्की की देखरेख में दोनों प्रदेशों की प्रतिनिधि सभाओं के चुनाव कराये गये। चुनाव के बाद अक्टूबर, 1857 में दोनों सभाओं ने तुर्की की प्रभुसत्ता के अन्तर्गत एक संयुक्त राज्य बनाने का निर्णय लिया। 1859 के आरम्भ में दोनों प्रदेशों की राष्ट्रीय सभाओं ने कर्नल एलेक्जेण्डर कूजा को दोनों प्रदेशों का शासक निर्वाचित कर लिया। यद्यपि इससे यूरोपीय राज्यों में उत्तेजना फैल गयी, किन्तु अन्त में विवश होकर उन्हें जनमत का

सम्मान करते हुए रूमानिया के नवगठित राज्य को मान्यता देनी पड़ी। दिसम्बर, 1861 में रूमानिया के नये राज्य की विधिवत् घोषणा कर दी गई। कर्नल कूज़ा रूमानिया में संवैधानिक शासन की स्थापना के पक्ष में नहीं था, अतः 1866 में उसे गद्दी से उतार दिया गया और प्रिन्स चार्ल्स को राजा चुना गया जिसने रूमानिया में संवैधानिक शासन की स्थापना की।

सर्बिया को आन्तरिक स्वतन्त्रता—यद्यपि 1829 में सर्बिया को आन्तरिक स्वशासन मिल गया था, परन्तु यहाँ कुछ स्थानों पर तुर्की की सेनाएँ बनी रहीं जिससे सर्बिया संतुष्ट नहीं था। 1853 में सर्बिया कुस्तुनतुनिया के धार्मिक प्रभुत्व से मुक्त हो गया तथा अपना पृथक् चर्च स्थापित कर लिया। 1867 में सर्बिया ने अपने क्षेत्रों से तुर्की सेनाओं को हटाने की माँग की। महाशक्तियों के हस्तक्षेप के परिणामस्वरूप तुर्की को अपनी सेनाएँ हटाने के लिए विवश होना पड़ा। इस प्रकार सर्बिया को आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई।

सर्वस्लाव आन्दोलन—क्रीमिया युद्ध के बाल्कन प्रायद्वीप की स्लाव जातियों में सर्वस्लाववाद की विचारधारा का प्रचार आरम्भ हुआ। इस क्षेत्र के स्लाव लोग रूस, पोलैण्ड और आस्ट्रिया के स्लाव लोगों के साथ अपनी जातीय एकता का अनुभव करने लगे। 1867 में मास्को में एक विराट सर्वस्लाव सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में एक केन्द्रीय सर्वस्लाव समिति बनाई गई जिसका मुख्यालय मास्को रखा गया। पुस्तकों एवं छोटी पुस्तिकाओं द्वारा सर्वस्लाववाद का प्रचार किया जाने लगा। सर्बिया, बोस्निया, बल्गेरिया और माण्टीनीग्रो में सर्वस्लाववादियों की गुप्त समितियों का जाल बिछ गया। परिणाम यह हुआ कि तुर्की के विरुद्ध स्लाव लोगों में असन्तोष बढ़ता गया।

तुर्की की दमनकारी नीति—यद्यपि पेरिस की सन्धि में तुर्की के सुल्तान ने अपनी ईसाई प्रजा की दशा सुधारने का वचन दिया था, किन्तु सन्धि के बाद भी उसकी दमनकारी नीति में कोई परिवर्तन नहीं आया। बल्कि उसके अत्याचारों में वृद्धि हो गई। 1860 में उसने सीरिया में ईसाइयों का कत्लेआम करवाया तथा 1859 में क्रीट में ईसाइयों को मौत के घाट उतारा गया। बोस्निया एवं हर्जीगोविना के किसानों पर भी अत्याचार किये गये। इस प्रकार के अमानुषिक अत्याचारों से समस्त यूरोप काँप उठा। चारों तरफ असन्तोष बढ़ता जा रहा था। फिर भी, अपने राजनीतिक स्वार्थों के खातिर महाशक्तियाँ तमाशा देखती रहीं।

सर्वस्लाव आन्दोलन और विद्रोह की लहर—तुर्की की दमनकारी नीति से लोगों में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो गई। बाल्कन प्रदेश में तुर्क अधिकारियों के विरुद्ध षड्यन्त्र रचे जाने लगे और सर्वस्लाव आन्दोलन ने गति पकड़ी। इस आन्दोलन को रूस का समर्थन प्राप्त था। सभी स्लावों को एक सूत्र में बाँधने का अर्थ था—तुर्की साम्राज्य का विघटन।

क्रीमिया युद्ध के बाद पूर्व में रूसी-विस्तार के मार्ग में कई अड़चनें उत्पन्न हो गई थीं। अतः रूस ने जाति और धर्म के सहारे इस क्षेत्र पर अप्रत्यक्ष रूप से अपना प्रभाव स्थापित करने की नीति अपनाई। इसलिए सर्वस्लाव आन्दोलन को प्रोत्साहित करना रूस की बाल्कन नीति का प्रमुख आधार हो गया। रूस की ओर से सर्वस्लाव समिति के लिए पत्रिकाएँ प्रकाशित की जाती थीं और बाल्कन क्षेत्रों में उन्हें मुफ्त बाँटा जाता था। स्लाव विद्यार्थियों को मास्को विश्वविद्यालय

में विशेष सुविधाएँ दी जाती थी। वहाँ उन्हें सर्वस्लाव आन्दोलन के उद्देश्य बताये जाते थे। कुस्तुनतुनिया में स्थित रूसी दूतावास तथा बाल्कन राज्यों में फैले हुए रूसी वाणिज्य दूतावास इन आन्दोलनों के केन्द्र थे।

बाल्कन प्रायद्वीपों में रूस अपनी स्थिति मजबूत करने में लगा हुआ था। 1870 में फ्रैंको-प्रशियन युद्ध का लाभ उठा कर रूस ने पेरिस सन्धि की काला सागर सम्बन्धी शर्तों को अस्वीकार कर दिया। सिबास्टोपोल में उसने पुनः किलेबन्दी करना आरम्भ कर दिया तथा काला सागर के तट पर अपनी नौ-सेना को पुनर्गठित करना शुरू कर दिया। दूसरी ओर आस्ट्रिया और प्रशा के युद्ध के बाद जब आस्ट्रिया को जर्मनी से निष्कासित कर दिया गया तो उसे अपनी शक्ति के विस्तार के लिए बाल्कन प्रायद्वीप ही पसन्द आया। इस प्रकार, बाल्कन प्रायद्वीप में रूस और आस्ट्रिया के एक ही उद्देश्य थे कि तुर्की के मूल्य पर अपने-अपने राज्य का विस्तार करना। फलतः बाल्कन प्रायद्वीप में रूस और आस्ट्रिया का संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया।

1875 से पूर्वी समस्या

बोस्निया व हर्जीगोविना का विद्रोह—जब तुर्कों का अत्याचार बढ़ता गया तो बोस्निया और हर्जीगोविना की ईसाई जनता ने जुलाई, 1875 में विद्रोह कर दिया। सुल्तान ने विद्रोह का दमन करने के लिए सेना भेजी परन्तु विद्रोहियों ने उसे परास्त करके खदेड़ दिया। सर्बिया, माण्टीनीग्रो व डालमेशिया के लोग विद्रोहियों के समर्थन में आ जुटे। यूरोप की बड़ी शक्तियों ने दोनों पक्षों का समझौता कराने का प्रयास किया परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। इस पर जून, 1876 में विद्रोहियों ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया।

एण्ड्रासी नोट—तुर्की के सुल्तान से सुधार योजना को स्वीकार कराने तथा युद्ध को समाप्त कराने के उद्देश्य से आस्ट्रिया के विदेशमन्त्री एण्ड्रासी ने रूस व जर्मनी के सहयोग से एक प्रस्ताव तैयार किया जो एण्ड्रासी नोट के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें ईसाइयों को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करने, किसानों की दशा सुधारने, कर वसूली के लिए ठेकेदारी प्रथा समाप्त करने, स्थानीय करों का उपयोग स्थानीय कार्यों के लिए करने तथा इन सुधारों को कार्यान्वित करने के लिए एक आयोग नियुक्त करने जिसमें ईसाइयों को पचास प्रतिशत प्रतिनिधित्व देने की माँग थी। सुल्तान ने स्थानीय करों के उपयोग की शर्त को छोड़कर शेष शर्तें स्वीकार कर लीं। परन्तु विद्रोहियों को सुल्तान के आश्वासनों में विश्वास नहीं था। वे ठोस गारण्टी चाहते थे। इस प्रकार, एण्ड्रासी नोट युद्ध बन्द कराने में असफल रहा।

बर्लिन का ज्ञापन—इसके बाद रूस और आस्ट्रिया के विदेशमन्त्रियों ने जर्मनी के साथ मिल कर एक नया प्रस्ताव तैयार किया जिसे 'बर्लिन का ज्ञापन' कहते हैं। इस ज्ञापन में दो माह के लिए युद्ध-विराम करने तथा दोनों पक्षों में समझौता कराने के लिए कुछ शर्तें रखी गई। ज्ञापन में यह चेतावनी भी दी गई कि यदि दो महीने में समझौता नहीं हो पाया तो बड़ी शक्तियों को कठोर कदम उठाने के लिए विवश होना पड़ेगा। फ्रांस और इटली ने ज्ञापन को समर्थन दे दिया। परन्तु इंगलैण्ड ने ज्ञापन को ठुकरा दिया। इंगलैण्ड की अस्वीकृति से तुर्की प्रोत्साहित हुआ तथा उसने यूरोपीय राज्यों के विरोध की परवाह नहीं की।

बल्गेरिया हत्याकाण्ड—मई, 1876 में बल्गेरिया के विद्रोहियों ने कुछ तुर्क अधिकारियों को मौत के घाट उतार दिया। प्रत्युत्तर में 18 हजार तुर्क सैनिकों को बल्गेरिया भेजा गया जिन्होंने 60 गाँवों को जलाकर राख कर दिया। 12 हजार से अधिक पुरुष, स्त्री और बच्चों को निर्दयता के साथ मौत के घाट उतार दिया गया। इससे सारे यूरोप में खलबली मच गई। परन्तु इंगलैण्ड ने इन अत्याचारों के प्रति उपेक्षा दिखाई क्योंकि वह ब्रिटिश साम्राज्य के हितों की दृष्टि से तुर्की साम्राज्य को बनाये रखना चाहता था।

सर्बिया और माण्टीनीग्रो का विद्रोह—बर्लिन ज्ञापन की असफलता से क्षुब्ध सर्बिया ने 30 जून, 1876 को तथा माण्टीनीग्रो ने 1 जुलाई, 1876 को तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। अगस्त, 1876 में सर्बिया को कई स्थानों पर पराजय का सामना करना पड़ा। इससे रूस का धैर्य समाप्त होने लगा। 31 अक्टूबर, 1876 को रूस ने तुर्की को 48 घण्टे का अल्टीमेटम दिया, जिसमें 6 सप्ताह के लिए युद्ध-विराम की माँग की गई। तुर्की ने रूस की माँग को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार सर्बिया विनाश से बच गया और यूरोप के राजनीतिज्ञों को बाल्कन समस्या को हल करने का एक और अवसर मिल गया।

कुस्तुनतुनिया का सम्मेलन—बाल्कन समस्या को हल करने के लिए 23 दिसम्बर, 1876 को कुस्तुनतुनिया में बड़ी शक्तियों का सम्मेलन शुरू हुआ। यूरोपीय प्रतिनिधियों ने तुर्की से माँग की कि सर्बिया, रूमानिया और माण्टीनीग्रो को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाय तथा बल्गेरिया, बोस्निया एवं हर्जेगोविना को तुर्क साम्राज्य के अधीन अर्द्धस्वतन्त्र मान लिया जाय। किन्तु तुर्की के सुल्तान ने इन माँगों को अस्वीकार कर दिया। 20 जनवरी, 1877 को कुस्तुनतुनिया सम्मेलन असफल ही समाप्त हो गया।

रूस व आस्ट्रिया का समझौता—कुस्तुनतुनिया सम्मेलन के पूर्व ही रूस ने अनुभव कर लिया था कि तुर्की के विरुद्ध युद्ध लड़ना पड़ेगा। अतः सम्मेलन के दौरान ही रूस ने आस्ट्रिया के तटस्थ रहने का आश्वासन प्राप्त करने के लिए समझौता वार्ता आरम्भ कर दी थी। 15 जनवरी, 1877 को दोनों के मध्य बुडापेस्ट की सन्धि हो गई जिसके अनुसार रूस ने आस्ट्रिया को बोस्निया और हर्जेगोविना पर अधिकार करने की स्वीकृति प्रदान कर दी तथा सर्बिया और माण्टीनीग्रो को दोनों के बीच तटस्थ राज्य मान लिया गया। रूस ने यह भी वचन दिया कि तुर्की की पराजय के बाद वह किसी बड़े स्लाव राज्य का निर्माण नहीं करेगा। इसके बदले में आस्ट्रिया ने भावी रूस-तुर्की युद्ध के दौरान तटस्थ रहने का वचन दिया।

लन्दन प्रोटोकल—मार्च, 1877 में रूस और इंगलैण्ड ने तुर्की के सुल्तान के लिए एक प्रोटोकल तैयार किया जिसे "लन्दन प्रोटोकल" कहा जाता है। कुछ अन्य राज्यों ने भी इसे स्वीकृति दे दी। इसमें सुल्तान से सुधारों को तुरन्त लागू करने को कहा गया और यह चेतावनी भी दी गई कि यदि अपेक्षित सुधार नहीं किये गये तो ईसाइयों के हितों की रक्षा के लिए उन्हें उचित कदम उठाने का अधिकार होगा। 9 अप्रैल, 1877 को तुर्की ने 'लन्दन प्रोटोकल' को ठुकरा दिया।

बर्लिन व्यवस्था की पृष्ठभूमि

रूस-तुर्की युद्ध—तुर्की के व्यवहार से क्षुब्ध होकर 24 अप्रैल, 1877 को रूस ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। मई, 1877 में रूमानिया ने तथा 12 जून, 1877 को माण्टीनीग्रो

ने भी तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 22 जून को रूस की सेना डेन्यूब नदी को पार कर बाल्कन पहाड़ियों की ओर बढ़ने लगी। तुर्क सेनाएँ उसकी प्रगति को रोकने में विफल रहीं। परन्तु तुर्क सेनापति उस्मान पाशा ने प्लेवना में रूस की सेना को रोक दिया। उसने पाँच महीने तक प्लेवना के किले की रक्षा की। अन्त में 10 दिसम्बर को प्लेवना का पतन हो गया। 20 जनवरी, 1878 को रूसी सेना एड्रियानोपाल तक पहुँच गई, जहाँ से कुस्तुनतुनिया केवल 160 मील दूर था। 31 जनवरी, 1878 को तुर्की ने रूस की शर्तों पर युद्ध-विराम की घोषणा कर दी। रूस की विजय से चिन्तित इंगलैण्ड ने रूस को चेतावनी दी कि यदि उसने तुर्की से ऐसी कोई सन्धि की जो 1856 और 1871 की सन्धियों द्वारा स्थापित व्यवस्था के विरुद्ध हो तो यूरोपीय शक्तियों की सहमति के बिना उसे मान्यता नहीं दी जायेगी।

सेन स्टीफेनों की सन्धि—3 मार्च, 1878 को सेन स्टीफेनों नामक स्थान पर रूस एवं तुर्की ने सन्धि की शर्तों पर हस्ताक्षर कर दिये। सन्धि की मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं—

1. तुर्की ने सर्बिया, माण्टीनीग्रो और रूमानिया की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया। इसके साथ ही सर्बिया को दक्षिण की ओर के कुछ प्रदेश और माण्टीनीग्रो को उत्तर-पूर्व की ओर के कुछ प्रदेश दे दिये गये।
2. बल्गेरिया को स्वायत्त राज्य के रूप में मान्यता दी गई तथा उसे अपने राज्य के लिए ईसाई गवर्नर निर्वाचित करने का अधिकार दिया गया। साथ ही उसकी सीमाएँ डेन्यूब से एजियन सागर तक और काला सागर से अल्बानिया तक मान ली गई। इस प्रकार, वृहत् बल्गेरिया राज्य का निर्माण किया गया।
3. तुर्की के सुल्तान ने बोस्निया तथा हर्जीगोविना में कुस्तुनतुनिया सम्मेलन में प्रस्तावित सुधारों को, रूस और आस्ट्रिया के संरक्षण में तुरन्त कार्यान्वित करने का वचन दिया।
4. तुर्की के सुल्तान ने अन्य ईसाई प्रान्तों में क्रीट के समान व्यवस्था स्थापित करने का वचन दिया।
5. रूस ने तुर्की से 1 अरब 41 करोड़ रूबल की राशि हर्जाने के रूप में माँगी। तुर्की इतनी बड़ी राशि नहीं दे सकता था। अतः उसने रूस को इसके बदले में दोब्रूजा, अर्दहान, कार्स, कार्टुम, बायजिद तथा कुछ अन्य भू-भाग दे दिये।

सेन स्टीफेनों की सन्धि रूस की महान् सफलता थी। इस सन्धि के द्वारा जहाँ बाल्कन में तुर्की का प्रभाव नाम मात्र का रह गया, वहीं रूस का प्रभाव सर्वोपरि हो गया। सर्बिया, रूमानिया और माण्टीनीग्रो तो पहले से ही रूस के समर्थक थे और अब नवीन बल्गेरिया पर भी उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इस प्रकार रूस ने युद्ध की विजय को कूटनीति द्वारा स्थायित्व प्रदान करने का प्रयत्न किया तथा क्रीमिया युद्ध एवं 1856 की पेरिस की सन्धि द्वारा हुए राष्ट्रीय अपमान को धो डाला।

यूरोपीय राज्यों की प्रतिक्रिया—ज्यों ही सेन स्टीफनों की सन्धि की शर्तें यूरोपीय समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुईं त्यों ही इंगलैण्ड और आस्ट्रिया में खलबली मच गई। आस्ट्रिया बाल्कन प्रदेशों की ओर गिद्ध दृष्टि से देख रहा था, किन्तु सेन स्टीफ़नों की सन्धि के बाद उसे ऐसा लगा मानों उस क्षेत्र में उसके लिए कछ रह ही नहीं गया। उसने वृहत बल्गेरिया राज्य के

निर्माण को बुडापेस्ट की सन्धि का उल्लंघन बताया तथा यूरोपीय राज्यों के सम्मेलन में सन्धि पर पुनर्विचार करने की माँग की। इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री डिजरैली ने कहा कि स्टीफेनों की सन्धि ने यूरोप में आटोमन साम्राज्य को समाप्त कर दिया है। काला सागर अब रूस की झील बन जायेगा। उसने इस सन्धि को पेरिस की सन्धि (1856 ई.) के विरुद्ध एक चुनौती माना तथा यूरोपीय राज्यों के सम्मेलन में इस पर पुनर्विचार करने की माँग की। रूस और बल्गेरिया को छोड़ कर कोई भी देश इस सन्धि से सन्तुष्ट नहीं था। रूमानिया, सर्विया, माण्टीनीग्रो और यूनान, वृहत् बल्गेरिया के निर्माण को देखकर जल रहे थे। यूनान तो इतना क्रोधित हुआ कि उसने थेसेली पर आक्रमण कर दिया।

रूस सन्धि पर पुनर्विचार करने के लिए किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के लिए सहमत नहीं था, क्योंकि वह इस प्रकार की कार्यवाही को अपमानजनक समझता था। रूस ने इंगलैण्ड को कूटनीति द्वारा अलग-थलग करने के लिए आस्ट्रिया से समझौता करने का प्रयत्न किया किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। 17अप्रैल, 1878 को डिजरैली ने 7000 भारतीय सैनिकों को माल्टा भेजने का आदेश दिया। इससे रूस को यह विश्वास हो गया कि यदि समझौता नहीं हुआ तो इंगलैण्ड रूस के विरुद्ध युद्ध आरम्भ कर देगा। चूँकि रूस, इंगलैण्ड के विरुद्ध युद्ध करने की स्थिति में नहीं था, अतः उसने इंगलैण्ड के साथ समझौता करना ही उचित समझा। 30 मई, 1878 को लन्दन में स्थित रूसी राजदूत शूवालॉव तथा इंगलैण्ड के विदेशमन्त्री लार्ड सेलिसबरी के बीच मुख्य प्रश्नों पर समझौता हो गया। रूस ने सेन स्टीफेनों की सन्धि पर पुनर्विचार की बात को मान लिया। सम्मेलन आमन्त्रित करने का दायित्व बिस्मार्क को सौंपा गया।

बर्लिन व्यवस्था

बर्लिन कांग्रेस—सेन स्टीफेनों की सन्धि पर पुनर्विचार करने के लिए यूरोपीय शक्तियों का सम्मेलन 30 जून, 1878 को बर्लिन में आरम्भ हुआ। इसमें इंगलैण्ड, फ्रांस, आस्ट्रिया, रूस, इटली, तुर्की, जर्मनी आदि ने भाग लिया। बिस्मार्क को सम्मेलन का अध्यक्ष चुना गया। उसने "ईमानदार दलाल" के रूप में काम करने का आश्वासन दिया। बल्गेरिया के विभाजन के प्रश्न पर रूस और इंगलैण्ड में गतिरोध उत्पन्न हो गया। किन्तु बिस्मार्क ने बड़ी ही चतुराई के साथ दोनों पक्षों का समाधान कर दिया। सेन स्टीफेनों की सन्धि की शर्तों पर विचार करने के बाद जो निर्णय लिये गये उन्हें 'बर्लिन की सन्धि' के रूप में स्वीकार किया गया। यही 'बर्लिन व्यवस्था' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सन्धि पर 13 जुलाई, 1878 को हस्ताक्षर किये गये।

बर्लिन व्यवस्था की मुख्य बातें—बर्लिन की सन्धि (बर्लिन व्यवस्था) के अनुसार पूर्वी समस्या के सम्बन्ध में निम्नलिखित व्यवस्थायें की गई—

1. वृहत् बल्गेरिया को विभाजित कर दिया गया। प्रथम, बल्गेरिया का राज्य जिसे तुर्की की अधीनता के अन्तर्गत स्वतन्त्र मान लिया गया। इसका क्षेत्रफल सेन स्टीफेनों की सन्धि द्वारा निर्धारित क्षेत्र का लगभग एक तिहाई रह गया।
2. वृहत् बल्गेरिया के दक्षिणी भाग अर्थात् पूर्वी रूमेलिया को उससे पृथक् करके पुनः तुर्की के अधीन कर दिया गया। किन्तु उसके लिए तुर्की को यूरोपीय राज्यों द्वारा स्वीकृत ईसाई गवर्नर नियुक्त करने का वचन देना पड़ा।

3. यद्यपि बोस्निया व हर्जीगोविना पर तुर्की का प्रभुत्व बना रहा, परन्तु उनका प्रशासकीय नियन्त्रण अनिश्चित काल के लिए आस्ट्रिया को सौंप दिया गया। आस्ट्रिया को सर्बिया तथा माण्टीनीग्रो के बीच स्थित नोवी बाज़ार के संजक में अपनी सेना रखने का अधिकार प्राप्त हो गया।
4. सर्बिया तथा माण्टीनीग्रो को पूर्णतः स्वाधीन राज्यों की मान्यता प्रदान की गई।
5. रूमानिया की भी स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली गई, किन्तु उसे बेसरेबिया का प्रदेश रूस को देना पड़ा। उसके बदले में उसे दोब्रूजा का क्षेत्र, जो सेन स्टीफेनों की सन्धि द्वारा रूस को मिला था, प्राप्त हुआ।
6. अर्दहान, बार्टुम और कार्स पर रूस का अधिकार मान लिया गया किन्तु उसे बायजिद तुर्की को वापस लेना पड़ा।
7. इंगलैण्ड को साइप्रस पर अधिकार करने तथा उसका प्रशासन चलाने का अधिकार दे दिया गया। साइप्रस प्राप्त हो जाने से इंगलैण्ड, रूस की गतिविधियों एवं स्वेज नहर पर निगरानी रख सकता था।
8. तुर्की को अल्बानिया तथा मेसीडोनिया के क्षेत्र पुनः प्राप्त हो गये। कुल मिलाकर 30 हज़ार वर्ग मील का क्षेत्र तुर्की को वापस मिल गया। किन्तु तुर्की सुल्तान को अपनी ईसाई प्रजा की दशा सुधारने का वचन देना पड़ा।

बर्लिन कांग्रेस के समक्ष फ्रांस ने ट्यूनिस, इटली ने अल्बानिया व ट्रिपोली तथा यूनान ने क्रीट, एपीरस, थेसेली एवं मेसीडोनिया पर अपने दावे प्रस्तुत किये किन्तु कांग्रेस ने उनकी माँगों को अस्वीकार कर दिया। कांग्रेस में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह रही कि जर्मनी ने किसी प्रदेश पर दावा नहीं किया। इसके बदले में उसे तुर्की की कृतज्ञतापूर्ण मैत्री का लाभ हुआ।

बर्लिन व्यवस्था की समीक्षा

विश्व राजनीति के आधुनिक इतिहास में 'बर्लिन व्यवस्था' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पूर्वी समस्या जैसी जटिल गुत्थी को सुलझाने की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण कदम था। किन्तु अनेक कारणों से बर्लिन कांग्रेस अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त नहीं कर सकी। इतिहासकार ए.जे.पी. टेलर के मतानुसार बर्लिन कांग्रेस निर्णायकों के दावे कि बर्लिन की सन्धि द्वारा पूर्वी समस्या का सन्तोषजनक समाधान किया गया तथा यूरोपीय राज्यों के बीच होने वाले अवश्यम्भावी युद्ध को रोका गया, तथ्यहीन थे। वे लिखते हैं कि सम्भावना तो कांग्रेस के पहले ही उस समय समाप्त हो गई थी, जबकि रूसी सेनाएँ कुस्तुनतुनिया पर अधिकार करने में हिचकिचा रही थीं। वस्तुतः व्यावहारिक दृष्टि से बर्लिन कांग्रेस के निर्णयों का बहुत ही कम प्रभाव पड़ा। बर्लिन कांग्रेस का मूल उद्देश्य बाल्कन क्षेत्र में रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकना, पूर्वी समस्या का सन्तोषजनक समाधान करना, तुर्की साम्राज्य को एक स्वतन्त्र एवं शक्तिशाली सत्ता के रूप में पुनः प्रतिष्ठित करना तथा बाल्कन क्षेत्र में रूस, आस्ट्रिया और इंगलैण्ड के हितों में सन्तुलन स्थापित करना था। बर्लिन कांग्रेस के निर्णयों से बाल्कन क्षेत्र में रूस के प्रभाव को समाप्त कर दिया गया तथा तुर्की साम्राज्य जो सेन स्टीफेनों की सन्धि द्वारा मृतप्रायः हो चुका था, को नवजीवन प्रदान किया गया।

बर्लिन कांग्रेस से लौटकर इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री लार्ड बीकन्सफील्ड (डिजरैली) ने बड़े गर्व से कहा था कि, "मैं सम्मान सहित शान्ति लाया हूँ।" यद्यपि बर्लिन कांग्रेस में इंगलैण्ड को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई थी तथा रूस की कूटनीतिक पराजय हुई थी, किन्तु इंगलैण्ड मध्य एशिया व अफगानिस्तान में रूस की गतिविधियों पर अंकुश नहीं लगा सका। कुछ आलोचकों ने इंगलैण्ड पर यह आरोप लगाया है कि उसने बाल्कन क्षेत्र के ईसाइयों को, जिन्हें रूस ने सेन स्टीफोनों की सन्धि द्वारा मुक्त कराया था, इंगलैण्ड ने उन्हें पुनः तुर्की साम्राज्य की दासता में धकेल दिया। इंगलैण्ड ने रूस की प्रगति को तो रोक दिया परन्तु आस्ट्रिया को बोस्निया व हर्जीगोविना के क्षेत्र, जिन पर सर्बिया अपना अधिकार समझता था, दिलवाकर एक नवीन समस्या को जन्म दे दिया। स्लाव समस्या के कारण इस क्षेत्र में अशान्ति उत्पन्न हो गई जो आस्ट्रिया के पतन के बाद ही समाप्त हो सकी। बर्लिन कांग्रेस के निर्णायकों ने बाल्कन क्षेत्र में अनेक स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना करके तथा स्वयं उसके कुछ भू-भागों पर अधिकार करके तुर्की साम्राज्य के विघटन पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगा दी।

बर्लिन कांग्रेस में रूस को महान् अपमानजनक कूटनीतिक पराजय का मुँह देखना पड़ा। उसने अपार जन, धन और सैनिकों का बलिदान करके सेन स्टीफेनों की सन्धि द्वारा जो लाभ प्राप्त किया था, वह उससे छीन लिया गया। ऐसा प्रतीत होने लगा मानों रूस ने आस्ट्रिया व इंगलैण्ड के हितों के लिये युद्ध लड़ा था। बर्लिन कांग्रेस ने रूस की प्रतिष्ठा को ध्वस्त कर दिया, जिससे सर्वस्लाववादी विचारधारा को भी ठेस पहुँची। एक तरफ यदि रूस की पराजय हुई तो दूसरी ओर आस्ट्रिया को भी पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी। एण्ड्रासी तुर्की की अखण्डता को सुरक्षित करना चाहता था किन्तु तुर्की के पतन को रोकना सम्भव नहीं था। आस्ट्रिया को बोस्निया व हर्जीगोविना पर प्रशासनिक अधिकार प्रदान किया गया, किन्तु उससे उसको पूर्वी समस्या में अधिकाधिक उलझना पड़ा और सर्विया के साथ उसके सम्बन्धों में निरन्तर तनाव बढ़ता चला गया।

बाल्कन राज्यों की समस्या का समाधान भी बर्लिन व्यवस्था द्वारा नहीं हो सका। बाल्कन क्षेत्र का प्रत्येक राज्य इस व्यवस्था से असन्तुष्ट था। डेविड थाम्सन ने लिखा है कि, "बर्लिन कांग्रेस के निर्णयों का विशेष परिणाम यह निकला कि प्रत्येक राज्य पहले की अपेक्षा अधिक असन्तुष्ट और चिन्तित हो गया।" वृहत् बल्गेरिया का विभाजन सर्वथा अस्वाभाविक था, क्योंकि बल्गेरिया व पूर्वी रूमेलिया के लोग एक ही जाति और एक ही भाषा बोलने वाले थे। अतः उनके विभाजन से बल्गार जाति की एकता एवं राष्ट्रीयता की भावना को ठेस पहुँची। वे इस विभाजन को अधिक समय तक स्वीकार नहीं कर सकते थे। अतः 1885 में बर्लिन सन्धि के विरुद्ध दोनों राज्यों का एकीकरण हो गया, जिससे यूरोप में गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गई।

मेसीडोनिया को पुनः तुर्की के अधिकार में देना भी भारी भूल थी। यहाँ की ईसाई जनता तुर्क अधिकारियों के अत्याचारों के कारण कभी सुखी जीवन व्यतीत नहीं कर सकी और कुछ ही समय बाद उन्होंने तुर्की के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अन्त में उसी के कारण 1912 का बाल्कन युद्ध हुआ। रूमानिया से बेसरेबिया का उपजाऊ क्षेत्र लेकर दोब्रुजा का अनुपजाऊ क्षेत्र देकर उसके साथ भी न्यायोचित व्यवहार नहीं किया गया। रूमानिया के नेता रूस की कृतघ्नता को

कभी नहीं भुला सके तथा यूरोपीय शक्तियों से उसका विश्वास उठ गया । बर्लिन व्यवस्था द्वारा दक्षिण स्लाव राज्यों को भी बड़ी निराशा हुई क्योंकि इससे स्लाव एकता खण्डित हो गयी, जिसके कारण बाल्कन क्षेत्र में नयी समस्याएँ उत्पन्न हो गयीं । यूनान की थेसेली, क्रीट और एपीरस को सम्मिलित करने की माँग को अस्वीकार कर देने से वहाँ की ईसाई जनता को भी भारी निराशा हुई । कुछ वर्षों बाद क्रीट में यूनान के साथ विलय को लेकर आन्दोलन आरम्भ हो गया । इस प्रकार, बर्लिन कांग्रेस ने बाल्कन राज्यों की भावना की अवहेलना की, जिससे समस्या सुलझने की बजाय अधिक उलझ गई ।

वस्तुतः बर्लिन कांग्रेस में आस्ट्रिया, इंगलैण्ड आदि राज्यों ने अपने स्वार्थों को सिद्ध करने के लिये पूर्वी यूरोप का मनमाने ढँग से विभाजन किया जिसका यूरोप के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर गहरा प्रभाव पड़ा । प्रोफेसर गूच ने लिखा है कि, "उच्च राजनीति के क्षेत्र में बर्लिन कांग्रेस का विशेष परिणाम यह था कि रूस, जर्मनी से विमुख हो गया ।" बर्लिन कांग्रेस में जर्मनी ने आस्ट्रिया का समर्थन किया जिससे रूस व आस्ट्रिया के सम्बन्ध बिगड़ गये । रूस और इंगलैण्ड के सम्बन्धों में भी तनाव आ गया । बर्लिन कांग्रेस के पश्चात् बिस्मार्क की नीति के कारण यूरोप में गुटबन्दी आरम्भ हो गयी जिससे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ गया । बर्लिन कांग्रेस के निर्णयों में ही भविष्य में लड़े जाने वाले प्रथम विश्व युद्ध के बीज विद्यमान थे ।

बर्लिन की सन्धि की आलोचना करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जिन परिस्थितियों में यह सन्धि सम्पन्न हुई थी, उसमें कुछ दोषों का होना स्वाभाविक था । बर्लिन की सन्धि अत्यन्त विस्फोटक स्थिति का सामना करने तथा बड़ी शक्तियों के बीच शान्ति बनाये रखने के लिए तैयार की गई थी । इस उद्देश्य को उसने पूरा किया । लगभग एक पीढ़ी तक बड़े राज्यों के बीच कोई युद्ध नहीं हुआ । कांग्रेस के निर्णायकों ने बाल्कन क्षेत्र की जनता के हितों की उपेक्षा की तथा बल्गेरिया की व्यवस्था भी दोषपूर्ण थी, किन्तु इन निर्णयों के लिए बर्लिन कांग्रेस के निर्णायकों पर अदूरदर्शिता अथवा द्वेष का आरोप लगाना ठीक नहीं है, क्योंकि उस समय राजनीतिज्ञों में राष्ट्रीयता की भावना की कल्पना करने की आशा नहीं की जा सकती थी ।

प्रश्न

1. क्रीमिया के युद्ध में विभिन्न राष्ट्रों ने किन-किन कारणों से भाग लिया और उसके क्या परिणाम हुए ?
2. 1856 से 1878 के मध्य पूर्वी समस्या का इतिहास लिखिये ।
3. बर्लिन की सन्धि की शर्तों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये । इस सन्धि ने किस सीमा तक पूर्वी समस्या को सुलझाने में सहायता दी ?

अध्याय-14

प्रथम महायुद्ध
(First World War)
(1914-1918)

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में लड़े गये प्रथम महायुद्ध को किसी एक कारण का परिणाम नहीं माना जा सकता। इसके लिए बहुत से कारण जिम्मेदार थे, जिन्हें ऊपर से नहीं देखा जा सकता।

महायुद्ध के कारण

(1) दो गुटों का निर्माण—बिस्मार्क की कूटनीति के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में फ्रांस बिल्कुल अकेला पड़ गया था। जर्मनी एक ओर तो 'त्रिगुट-सन्धि' (Triple Alliance) के द्वारा आस्ट्रिया-हंगरी तथा इटली के साथ मैत्री-सूत्र में बँधा था और दूसरी ओर जर्मनी ने आस्ट्रिया से छिपाकर रूस के साथ 'री-इन्श्योरेन्स सन्धि' (Reinsurance Treaty) के द्वारा समझौता कर लिया था। 1890 ई. में जर्मनी ने फ्रांस को अकेला कर देने और रूस को अपनी ओर मिला लेने की नीति को छोड़ दिया। इससे फ्रांस और रूस को एक-दूसरे के निकट आने और मैत्री-सूत्र में बँध जाने का अवसर प्राप्त हुआ। कैसर विलियम द्वितीय की साम्राज्यवादी नीति ने ग्रेट-ब्रिटेन को भी जर्मनी से दूर धकेल दिया। इसके अलावा औद्योगिक उत्पादन और वाणिज्य में भी जर्मनी, इंगलैण्ड का सबसे प्रबल प्रतिद्वन्द्वी बन चुका था। अत: इंगलैण्ड ने फ्रांस की ओर अपनी दृष्टि फेरी और 1904 ई. में दोनों देशों के मध्य सन्धि हो गई जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इन दोनों की मैत्री ने इंगलैण्ड और रूस की सन्धि का मार्ग साफ कर दिया। इस प्रकार, जर्मनी द्वारा निर्मित 'त्रिगुट' (Triple Alliance) के मुकाबले में इंगलैण्ड, फ्रांस और रूस का त्रिगुट (Triple Entente) अस्तित्व में आ गया। ट्रिपल एलायंस और ट्रिपल आंतात एक-दूसरे के इतने विरुद्ध हो गये थे कि इन्हें खतरे से बचाना दुष्कर काम सिद्ध हुआ। प्रथम महायुद्ध के विशेषज्ञ प्रोफेसर एस.बी. फे. के अनुसार प्रथम विश्व युद्ध का मुख्य कारण गुप्त सन्धियाँ थीं, जो 'फ्रैंको-प्रशन युद्ध' के बाद शुरू हुई थीं। इन सन्धियों ने यूरोप को दो परस्पर विरोधी गुटों में विभाजित कर दिया। प्रथम महायुद्ध इन्हीं दो गुटों की शक्ति का प्रदर्शन मात्र था, जो शक्ति आजमाने के लिए उत्सुक थे।

बाल्कन राजनीति में जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी को सहायता देने के लिए वचनबद्ध था, अन्यथा उसे अपने विश्वासी मित्र को खोने का डर था। रूस सर्बिया के हितों की रक्षा के लिए वचनबद्ध था। यद्यपि फ्रांस का बाल्कन राजनीति में कोई स्वार्थ नहीं था, परन्तु वह अपने मित्र रूस की सहायता के लिए वचनबद्ध था, अन्यथा द्वैध आंतात का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता। त्रिगुट आंतात को बनाये रखने के लिए इंगलैण्ड भी चुपचाप नहीं बैठ सकता था। अवसर मिलते ही उसे फ्रांस और रूस की सहायता करनी ही थी।

यह ठीक है कि 1870 से 1914 ई. के मध्य की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति प्रथम विश्व युद्ध के लिए उत्तरदायी थी, फिर भी यह कहना अतिशयोक्ति होगी कि गुप्त-सन्धि-व्यवस्था युद्ध का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण था। यदि त्रिगुट सन्धि और त्रिगुट आंतात की शर्तों को प्रकाशित कर दिया जाता तो वातावरण में सुधार हो सकता था क्योंकि अपने मूल रूप में ये सन्धियाँ सुरक्षात्मक थीं। परन्तु जैसा कि ली बेन्स ले लिखा है कि "ये आंतात-सन्धियाँ और प्रति-सन्धियाँ अपने मूल रूप में सुरक्षात्मक थीं परन्तु अन्ततोगत्वा इन्होंने युद्ध के अनुकूल वातावरण का निर्माण किया।"

(2) शस्त्रीकरण के लिए होड़ (Armament Race) – महायुद्ध का एक प्रमुख कारण शस्त्रीकरण के लिए होड़ थी। 1870 ई. में जर्मनी के हाथों पराजित होने के बाद से ही फ्रांस ने बड़े पैमाने पर अपनी सैनिक शक्ति को मजबूत बनाने का प्रयास शुरू कर दिया जिससे जर्मनी पर बुरा प्रभाव पड़ा और उसने भी अपनी सैन्यशक्ति का विकास जारी रखा। वैसे दोनों ही देश अपनी सुरक्षा के लिए अपनी सैन्यशक्ति को मजबूत बना रहे थे परन्तु दोनों एक-दूसरे की सैन्यवृद्धि को शंका की दृष्टि से देखते थे। इस प्रवृत्ति ने यूरोप के अन्य देशों को भी प्रभावित किया और वे भी शस्त्रीकरण की ओर अग्रसर हुए। जब कैसर विलियम द्वितीय ने जर्मन नौ-सेना के विकास की तरफ विशेष ध्यान दिया तो इंगलैण्ड भी इस प्रतिस्पर्द्धा में सम्मिलित हो गया। परिणाम यह निकला कि यूरोप का वातावरण विपाक्त हो गया। चारों ओर सन्देह, भय तथा घृणा का वातावरण फैल गया। प्रत्येक देश अपनी सैन्यवृद्धि को राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का सवाल मान बैठा और ऐसी स्थिति में सैनिक अधिकारियों को अपनी-अपनी सरकारों पर हावी होने का अवसर मिल गया। इस मानसिक स्थिति को ही "सैनिकवाद" कहा जाता है। शेविल ने ठीक ही लिखा है कि "दिनों-दिन बढ़ते हुए युद्ध के उपकरणों के कारण आशंका और उसके तनाव का बढ़ना अनिवार्य हो गया, जिसके कारण वह विश्वास नष्ट हो गया, जो पड़ौसियों के सौम्य-सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार के लिए आवश्यक होता है।"

(3) राष्ट्रीयता—महायुद्ध का एक मौलिक कारण 'राष्ट्रीयता' था। फ्रांसीसी क्रान्ति ने जिस राष्ट्रीयता की भावना को जन्म दिया था, वह भावना अब अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। यह ठीक है कि इस भावना ने जर्मनी तथा इटली के एकीकरण में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया था; परन्तु अब यही भावना पड़ौसी देशों के बीच घृणा की भावना पैदा करने लग गई थी। विशाल जर्मनी, विशाल फ्रांस, महान् स्लाव राष्ट्र आदि शब्द राष्ट्रीयता रूपी रोग से ग्रस्त थे। राष्ट्रीयता के इस रोग ने यूरोप के लिए अनेक समस्याएँ पैदा कर दी थीं। फ्रांस अपने उन प्रान्तों (आल्सेस-लोरेन) को फिर से लेने की आशा रखता था जो कि उसने 1870 में खो दिये थे। इन प्रान्तों की अधिकांश आबादी फ्रेंच थी और फ्रांस उसे परतन्त्रता की बेड़ियों से मुक्त करवाना चाहता था।

आस्ट्रिया-हंगरी का विशाल साम्राज्य विभिन्न राष्ट्रीयताओं का संगम था। उसके साम्राज्य में आवाद पोल, चेक, सर्व, वल्गार आदि जातियाँ अपने राष्ट्रीय राज्यों में मिलना चाहती थीं अथवा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम करना चाहती थीं। राष्ट्रीयता ने 'ऑटोमन-साम्राज्य' को टुकड़े-टुकड़े कर दिया और इन टुकड़ों में भी आपसी प्रतिस्पर्द्धा चल रही थी। इसी राष्ट्रीयता के नाम पर वाल्कन-युद्ध लड़े गये जिन्होंने प्रथम महायुद्ध का मार्ग प्रशस्त किया था। सर्विया में तुर्क प्रभुत्व की समाप्ति के वाद सर्विया आस्ट्रिया के स्लाव प्रदेशों को अपने राज्य में सम्मिलित करने हेतु प्रोत्साहित कर रहा था और आस्ट्रिया के राजनीतिज्ञ अपने साम्राज्य के विनाश को रोकने के प्रयत्न में लगे हुए थे। इस प्रकार, राष्ट्रीयता ने सम्पूर्ण यूरोप में ऐसी समस्याएँ उत्पन्न कर दीं जिनका निवारण युद्ध के माध्यम से ही सम्भव हो सकता था। इतिहासकार शेपीरों ने ठीक ही लिखा है, "राष्ट्रीयता की अन्ध भावना ने मानव जाति की शान्ति को हानि पहुँचाने के आसार स्पष्ट कर दिये।"

(4) साम्राज्यवाद—पारकर टी. मून ने नया साम्राज्यवाद जिसे आर्थिक साम्राज्यवाद भी कहा जाता है, को प्रथम महायुद्ध का एक प्रमुख कारण माना है। उन्नीसवीं सदी जहाँ राष्ट्रीय आन्दोलनों से परिपूर्ण रही थी, वहाँ औद्योगिक विकास की जननी भी रही थी। औद्योगिक क्रान्ति ने यूरोपीय राष्ट्रों को समृद्धिशाली बनने की महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित किया। इस प्रेरणा को कार्यान्वित करने के लिए उन्हें पिछड़े हुए देशों पर अधिकार अथवा संरक्षण चाहिए था क्योंकि इसके विना कच्चा माल प्राप्त करना और तैयार माल को खपाना असम्भव था। कच्चे माल और मण्डियों के लिए जो खींचातानी शुरू हुई, उसे "नियो मर्केण्टिलिज्म" (Neo-Mercantilism) भी कहा जाता है। इसके अलावा, सैनिक सुरक्षा, अतिरिक्त आवादी को वसाने का साधन और पिछड़े लोगों को सभ्य वनाने की वात साम्राज्यवाद के विकास के मूल कारण थे।

साम्राज्यवाद की इस दौड़ में ग्रेट-ब्रिटेन सवसे आगे रहा। कनाडा, आस्ट्रेलिया, भारत, न्यूजीलैण्ड, अफ्रीका एवं एशिया के अन्य कई देशों पर उसका राजनीतिक प्रभुत्व कायम हो चुका था। उसके साम्राज्य में सूर्य कभी अस्त नहीं होता था और अपनी नौ-शक्ति की श्रेष्ठता के कारण समुद्र की लहरों पर उसका अवाध्य नियन्त्रण था। फ्रांस ने भी अफ्रीका तथा एशिया में अपने साम्राज्य का काफी विस्तार कर लिया था। रूस ने सम्पूर्ण उत्तरी एशिया पर अपना अधिकार जमा लिया था और निकट-पूर्व तथा मध्य-पूर्व में भी अपने पैर पसार रहा था। यूरोप के अन्य छोटे राष्ट्रों—हालैण्ड, वेल्जियम, स्पेन, पुर्तगाल आदि ने भी अपने से कई गुने अधिक क्षेत्रफल वाले प्रदेशों पर प्रभुत्व जमा रखा था। साम्राज्यवाद की इस दौड़ में जर्मनी और इटली सवसे अन्त में सम्मिलित हुए। अत: उन्हें अफ्रीका में कुछ प्रदेशों तथा छोटे-छोटे द्वीपों के अतिरिक्त और अधिक भूभाग प्राप्त न हो सका। इसीलिए जर्मनी को अन्य साम्राज्यवादी देशों, विशेपकर इंगलैण्ड तथा फ्रांस से जलन होने लगी। इसका एक कारण और भी था। जर्मनी ने अव तक औद्योगिक विकास, कृषि, व्यापार तथा वैज्ञानिक खोज आदि में भारी उन्नति कर ली थी और उसका उत्पादन काफी तेजी से वढ़ रहा था। इसको खपाने के लिए उसके पास आवश्यक उपनिवेश नहीं थे। इसके लिए पुराने साम्राज्यवादी देशों के उपनिवेश हड़पना अथवा उन उपनिवेशों में अपना प्रभाव स्थापित करना आवश्यक था। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर जर्मनी ने वर्लिन-वगदाद रेलमार्ग की

योजना बनाई जिससे संघर्ष और बढ़ गया। वस्तुतः साम्राज्यवाद ने यूरोपीय शक्तियों के मध्य तनाव और वैमनस्य को बढ़ावा देकर प्रथम महायुद्ध का मार्ग प्रशस्त करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

(5) अन्य कारण—प्रथम महायुद्ध के मौलिक कारणों में एक कारण समाचार-पत्रों द्वारा लोकमत को उकसाने का था। ऐसा लगभग सभी देशों के समाचार-पत्रों ने किया। उन्होंने राष्ट्रीय भावनाओं को उत्तेजित किया और दूसरे देशों की नीतियों के बारे में गलत प्रचार किया। इतना ही नहीं, समाचार-पत्रों ने शान्ति कायम करने वाली बातों को दबाने का भी काम किया। आर्क ड्यूक फर्डिनैण्ड की हत्या के बाद आस्ट्रिया और सर्बिया में जो जबरदस्त तनाव पैदा हो गया था उसमें अखबारों की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रही थी।

इतिहासकार शेपीरों के अनुसार प्रजातन्त्र की भिन्नता और निरंकुश शासकों की उपस्थिति भी इस महायुद्ध का एक कारण बन गई। रूस, जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी तथा तुर्की में निरंकुश शासक थे। इन शासकों की परिवर्तनशील नीतियों के कारण सम्पूर्ण यूरोप की शान्ति खतरे में थी। उनका मानना है कि यदि इन राज्यों में निरंकुश शासन-व्यवस्था नहीं होती तो शायद महायुद्ध इतना जल्दी घटित नहीं होता।

ऊपर वर्णित सभी कारणों ने मिलकर उस सौहार्द्र और सौजन्य की जड़ों को खोखला कर दिया जिसे सभ्यता एवं संस्कृति के अनेक साधनों—धर्म, व्यापार-वाणिज्य, कला और विज्ञान ने मिलकर बढ़ाया था, जो मानव समाज की समृद्धि के लिए अत्यावश्यक था। इसके स्थान पर आशंका और भय, द्वेष और वैमनस्य का विकास हुआ। जब कुछ स्वार्थी और आक्रामक व्यक्ति राज्य-शक्ति और आतंक के सहारे उन्नति करने में कामयाब हो गये तो लोगों में यह धारणा पुनः पुष्ट होने लग गई कि संघर्ष जीवन का एक प्राकृतिक नियम है और अपने विकास के लिए यह जरूरी है। अर्थात् भौतिक उन्नति के लिए मानव धर्म को भुला दिया गया और हर सम्भव उपाय से स्वार्थ-सिद्धि का प्रयत्न किया जाने लगा।

तत्कालीन कारण—28 जून, 1914 ई. के दिन सम्पूर्ण संसार आस्ट्रिया के युवराज आर्क ड्यूक फर्डिनैण्ड तथा उसकी पत्नी की हत्या के समाचार से विचलित हो उठा था। युवराज और उनकी पत्नी को, बोस्निया की राजधानी सोराजोवो की सड़क पर कत्ल कर दिया गया। इस हत्या का उद्देश्य राजनीतिक था। हत्या के अपराधी दो बोस्नियन थे जिन्हें आस्ट्रिया की स्लाव-नीति पसन्द नहीं थी। आस्ट्रिया का दृढ़ विश्वास था कि यह हत्या सर्बियन सरकार की सहायता से की गई है और उसे इस हत्या के षड्यन्त्र की पूरी जानकारी थी। युद्धोपरान्त की गई जाँच से इतना तो स्पष्ट हो गया कि सर्बिया के कुछ उच्च अधिकारियों को हत्या के षड्यन्त्र की जानकारी थी परन्तु इसमें सर्बिया सरकार का किसी प्रकार का सहयोग नहीं था। आस्ट्रिया ने सर्बिया को भयंकर दण्ड देने और सम्भव हो सके तो उसका अस्तित्व ही मिटा देने का निश्चय कर लिया। आस्ट्रिया को यह भी मालूम था कि 1908 की भाँति इस बार भी रूस सर्बिया की सहायता के लिए तैयार रहेगा। अतः आस्ट्रिया ने रूस के विरुद्ध जर्मन सहयोग का ठोस आश्वासन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। 5 जुलाई, 1914 ई. को कैसर विलियम द्वितीय ने आस्ट्रिया को आने वाली हर परिस्थिति में पूर्ण सैनिक समर्थन देने का आश्वासन दे दिया।

जर्मनी द्वारा अपने प्रत्येक कार्य का समर्थन प्राप्त हो जाने पर आस्ट्रिया ने आगे की घटनाओं को युद्ध की स्थिति तक धकेलने का निश्चय कर दिया। 23 जुलाई को आस्ट्रिया ने सर्विया को अल्टीमेटम पत्र भेजा। इस पत्र की भाषा तथा शैली इतनी कड़वी और शर्तें इतनी कठोर थीं कि कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र जिसे अपनी स्वतन्त्रता तथा आत्माभिमान से प्यार हो, कदापि स्वीकार नहीं कर सकता था। आस्ट्रिया ने सर्विया को सोराजोवो हत्याकाण्ड के लिए उत्तरदायी ठहराया। पत्र में कई शर्तें भी थीं। सर्विया को आस्ट्रिया के विरुद्ध किये जाने वाले प्रचार को तत्काल समाप्त करने को कहा गया। हत्या की जाँच आस्ट्रियन अधिकारियों द्वारा करवाने और दोषी अधिकारियों को आस्ट्रिया के सुपुर्द करने की माँग की गई। इस पत्र का उत्तर 48 घण्टों में माँगा गया। सर्विया ने अधिकांश शर्तों पर अपनी स्वीकृति दे दी परन्तु दो शर्तें जिनके मानने से उसकी सत्ता और सम्मान को ठेस पहुँचती थी, को मानने से इन्कार कर दिया। इन शर्तों के सम्बन्ध में सर्विया ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का निर्णय स्वीकार करना मन्जूर कर लिया। परन्तु आस्ट्रिया इसके लिए तैयार नहीं था।

आस्ट्रिया को जर्मनी का समर्थन प्राप्त था तो सर्विया को रूस का। परन्तु न तो जर्मनी और न ही रूस इस समय युद्ध छेड़ने के पक्ष में थे। अतः जर्मनी और रूस दोनों ने सर्विया के उत्तर को सन्तोषजनक मान लिया। परन्तु आस्ट्रिया अपनी बात पर अड़ गया। उसे केवल कूटनीतिक विजय से ही सन्तोष न था। अतः उसने अपनी सेनाओं को सर्विया की सीमा की तरफ लामबन्दी (Mobilization) की आज्ञा दे दी। इस पर रूस के जार ने आस्ट्रिया को चेतावनी दी कि अगर सर्विया पर आक्रमण किया गया तो रूस आस्ट्रिया के विरुद्ध प्रयाण करेगा। इंगलैण्ड के मन्त्री एडवर्ड में ने स्थिति की नाजुकता को देखते हुए तथा युद्ध को रोकने की दृष्टि से एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की माँग की। परन्तु जर्मनी ने इस माँग को ठुकरा दिया। कैसर विलियम ने स्पष्ट कह दिया कि आस्ट्रो-सर्ब समस्या दो राष्ट्रों का आपसी मामला है अर्थात् विलियम का अभिप्राय था कि आस्ट्रिया सर्विया को समाप्त कर दे और जर्मनी आस्ट्रिया की कार्यवाही पर निगरानी रखे और रूस अथवा किसी अन्य शक्ति के बीच में आने पर उसे रोकने का प्रयास करे। विलियम की घोषणा से रूस का जार उत्तेजित हो उठा और उसने रूसी सेनाओं को लामबन्दी के आदेश दे दिये। अब जर्मनी भयभीत हो गया क्योंकि उसे विश्वास हो गया कि रूसी हस्तक्षेप से आस्ट्रो-सर्ब संघर्ष स्थानीय न रहकर यूरोपीय बन जायेगा। अतः उसने आस्ट्रिया को रूस से समझौता करने तथा इंगलैण्ड के प्रस्ताव को मान लेने की राय दी, परन्तु आस्ट्रिया युद्ध करने पर तुला हुआ था। 28 जुलाई, 1914 ई. को आस्ट्रिया ने सर्विया के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया।

आस्ट्रिया की युद्ध-घोषणा ने जार को भी उत्तेजित कर दिया। उसने सेनाओं की प्रयाण आज्ञा पर हस्ताक्षर कर दिये। इसका अर्थ था आस्ट्रिया से युद्ध। इसलिए विवश होकर जर्मनी को युद्ध की तैयारी करनी पड़ी। 31 जुलाई को कैसर विलियम ने रूस को प्रयाण आदेश वापस लेने के लिए चेतावनी पत्र भेजा। इसके साथ ही उसने फ्रांस से पूछा कि जर्मनी और रूस के मध्य युद्ध छिड़ने पर फ्रांस का क्या रुख रहेगा ? रूस ने जर्मनी की चेतावनी का कोई जवाब नहीं दिया। तब 1 अगस्त को जर्मनी ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। फ्रांस ने जर्मनी को उत्तर भिजवाया कि जर्मनी और रूस के मध्य युद्ध शुरू होने पर वह अपने हितों के अनुकूल

कदम उठायेगा। जर्मनी को फ्रांस का यह उत्तर सन्तोषप्रद नहीं लगा और उसने 3 अगस्त को फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार, आस्ट्रो-सर्व संघर्ष यूरोपीय संघर्ष में परिवर्तित हो गया।

युद्ध में सम्मिलित शक्तियों को अब इंगलैण्ड के अगले कदम की प्रतीक्षा थी। एडवर्ड ग्रे अपने मित्रों (फ्रांस तथा रूस) का पक्ष लेकर तत्काल जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करना चाहता था परन्तु इंगलैण्ड की संसद जल्दबाजी में कोई कदम उठाना नहीं चाहती थी। परन्तु जर्मनी के अगले कदम ने संसद को एडवर्ड ग्रे की राय मानने के लिए मजबूर कर दिया। हुआ यह कि फ्रांस पर आक्रमण करने के लिए जर्मनी को बेल्जियम होकर अपनी सेनाएँ भेजनी थीं। जर्मनी ने बेल्जियम से जर्मन फौजों के आने-जाने के लिए रास्ता माँगा। बेल्जियम ने जर्मनी की माँग को ठुकरा दिया। इस पर जर्मनी ने बेल्जियम पर आक्रमण कर दिया। 1839 ई. की सन्धि के द्वारा इंगलैण्ड ने बेल्जियम की स्वतन्त्रता तथा तटस्थता की गारण्टी दे रखी थी। अतः बेल्जियम पर जर्मनी के आक्रमण ने इंगलैण्ड को उत्तेजित कर दिया और कुछ कूटनीतिक चेतावनियों के बाद 4 अगस्त की मध्य रात्रि को इंगलैण्ड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया।

कुछ दिनों बाद इंगलैण्ड, फ्रांस और रूस ने एक नई सन्धि की। इस सन्धि के द्वारा यह निर्णय किया गया कि उनमें से कोई भी जर्मनी तथा जर्मनी के साथियों के साथ कोई पृथक् सन्धि नहीं करेगा। इसके बाद इटली को प्रलोभन देकर अपने पक्ष में मिलाने का प्रयत्न किया गया और मित्र राष्टों को इसमें सफलता मिली। इटली ने त्रिगुट से सम्बन्ध विच्छेद करके जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। परन्तु तुर्की, मोण्टीनीग्रो और बल्गेरिया ने जर्मनी का साथ दिया। यूरोप का यह युद्ध एशिया में भी फैल गया। 23 अगस्त, 1914 को जापान ने इंगलैण्ड के साथ मित्रता निभाते हुए जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। युद्ध के अन्तिम दिनों में संयुक्त राज्य अमेरिका भी जर्मनी के विरुद्ध मित्र राष्ट्रों के साथ शामिल हो गया।

युद्ध का उत्तरदायित्व

युद्ध के प्रारम्भ होने के तत्काल बाद से युद्ध के उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा गया है। युद्ध में सम्मिलित राष्ट्रों ने भी अपने-अपने दृष्टिकोण और ढँग से युद्ध के उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में सरकारी कागजात प्रकाशित करवाये जिनमें अपने को निर्दोष सिद्ध करते हुए दूसरों को दोषी सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया था। युद्धोपरान्त सम्पन्न वर्साय की सन्धि की धारा 231 के अन्तर्गत युद्ध का सम्पूर्ण दोष जर्मनी के सिर मढ़ दिया गया और तभी से विद्वानों में यह विवाद चल पड़ा है कि क्या सचमुच सिर्फ जर्मनी ही इस युद्ध के लिए उत्तरदायी था ? इस विवाद का सही समाधान आज तक भी नहीं हो पाया है। इसे ठीक से समझने के लिए प्रमुख देशों के उत्तरदायित्व पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

आस्ट्रिया—आस्ट्रिया को इस युद्ध के लिए सबसे पहले उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। परन्तु इसके लिए हमें निम्नलिखित बिन्दुओं को ध्यान में रखना होगा—(1) सर्विया के प्रति आस्ट्रिया की आक्रामक नीति, (2) सर्विया की आस्ट्रिया विरोधी नीति, (3) आस्ट्रिया की अपनी आन्तरिक कमजोरियाँ। आस्ट्रिया-हंगरी का विशाल साम्राज्य एक बहुजातीय राज्य था। उसके

साम्राज्य में आबाद विभिन्न जातियाँ उसकी प्रभुसत्ता से स्वतन्त्र होने के लिए प्रयत्नशील थीं और राष्ट्रीयता के इस युग में अधिक समय के लिए उन्हें दबाये रखना दुष्कर कार्य था। सर्बिया एक नवोदित राष्ट्र था। अपने आस-पास के स्लाव प्रदेशों को अपने राज्य में सम्मिलित करना चाहता था। इसका अर्थ था बाल्कन प्रदेश से आस्ट्रिया के प्रभाव को समाप्त करना। अतः युवराज की हत्या के फलस्वरूप जब आस्ट्रिया को मौका मिला तो उसने झंझट पैदा करने वाले इस छोटे से राष्ट्र सर्बिया को सबक सिखाने का निश्चय कर लिया। उसने सर्बिया के सामने कठोर शर्तें रखीं और यद्यपि यूरोप के सभी देशों ने सर्बिया के उत्तर को सन्तोषजनक माना परन्तु आस्ट्रिया अड़ा रहा। वस्तुतः आस्ट्रिया का विश्वास था कि जर्मनी के समर्थन के कारण रूस सर्बिया की मदद नहीं करेगा और यदि रूस ने प्रयत्न भी किया तो जर्मनी उसे रोके रहेगा। इस प्रकार आस्ट्रो-सर्बियन संघर्ष अधिक व्यापक नहीं होगा। परन्तु उसका अनुमान गलत निकला। रूस ने तत्काल कार्यवाही कर दी। अतः आस्ट्रिया पर सर्बिया पर हमला करने और रूस को उत्तेजित करने का दायित्व आ जाता है। उसके आक्रमण ने विश्व युद्ध का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

सर्बिया—महायुद्ध के लिए सर्बिया भी दोषी माना जा सकता है। बाद में की गई जाँच से स्पष्ट हो गया था कि सर्बिया के उच्चाधिकारियों को युवराज की हत्या करने के षड्यन्त्र की पहले से जानकारी थी और उन्होंने अपराधियों को पकड़ कर इस जघन्य कृत्य को रोकने का प्रयत्न नहीं किया। उल्टे उन्हें प्रोत्साहित किया गया। इसलिए युवराज की हत्या के लिए सर्बिया की सरकार अप्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार थी। हत्या के बाद जब आस्ट्रियन सरकार ने उसे अपराधियों को पकड़ने तथा सजा देने को कहा तो सर्बिया ने तत्काल कार्यवाही करना स्वीकार कर लिया था क्योंकि उस समय तक उसे रूस की तरफ से स्पष्ट आश्वासन या सैनिक समर्थन का वचन नहीं मिल पाया था। परन्तु जब आस्ट्रिया ने सर्बिया के सामने अपमानजनक शर्तें प्रस्तुत कीं तो उसने उन्हें मानने से इन्कार कर दिया। यद्यपि इन शर्तों के सम्बन्ध में उसने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का निर्णय मानना स्वीकार कर लिया था। इस दृष्टि से उसका उत्तर सन्तोषजनक था। फिर भी, युद्ध की सामग्री प्रस्तुत करने के दोष से सर्बिया को मुक्त नहीं किया जा सकता।

रूस—विश्वयुद्ध का उत्तरदायित्व रूस पर भी आता है। आस्ट्रिया और रूस दोनों ही देश बाल्कन प्रायद्वीप में अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे। सेन स्टीफेनो की सन्धि बाल्कन क्षेत्र में रूसी सफलता की चरम सीमा थी परन्तु आस्ट्रिया ने इंगलैण्ड, जर्मनी आदि के साथ मिलकर बर्लिन काँग्रेस के द्वारा रूस की व्यवस्था को न केवल तोड़ा-मरोड़ा ही अपितु रूस को अपमानित भी किया। इसके बाद रूस ने सर्बिया को समर्थन देना शुरू कर दिया। इसका एक कारण यह भी था कि सर्बिया विशाल स्लाव राष्ट्र का निर्माण करने का आकांक्षी था और बाल्कन क्षेत्र में आस्ट्रियन प्रदेशों की अधिकांश जनता स्लाव थी। यदि सर्बिया सफल हो जाता है तो उसका अर्थ होगा—आस्ट्रियन प्रभुत्व की समाप्ति। ऐसी स्थिति में आस्ट्रिया और रूस में संघर्ष होना स्वाभाविक था। परन्तु युवराज की हत्या के बाद रूस ही पहली महान् शक्ति थी जिसने अपनी सेना को तैयार रहने के आदेश जारी किये। पहले उसने आस्ट्रिया के विरुद्ध और बाद में आस्ट्रिया-जर्मनी दोनों के विरुद्ध लामबन्दी के आदेश जारी किये। उसकी यह कार्यवाही ही उसका प्रमुख दोष मानी जाती है, क्योंकि अभी तक यह निश्चित नहीं था कि जर्मनी आस्ट्रिया

की सहायता करेगा ही ! रूस की सैनिक तैयारी ने स्थिति को अचानक बदल दिया, क्योंकि जर्मनी को पक्का विश्वास था कि रूस के युद्ध में कूदते ही फ्रांस उसकी सहायता को आ पहुँचेगा। इस प्रकार, रूस पर यह दोष मढ़ा जाता है कि उसने युवराज की हत्या से उत्पन्न स्थिति का समाधान कूटनीतिक क्षेत्र से सैनिक क्षेत्र के हाथ में सौंप दिया। विद्वानों का मानना है कि यदि रूस ने जल्दबाजी न की होती तो कूटनीतिक वार्तालाप के द्वारा समस्या का उचित हल ढूँढा जा सकता था।

जर्मनी—प्रथम महायुद्ध को शुरू करने के लिए जर्मनी को सबसे अधिक जिम्मेदार ठहराया जाता है। कैसर विलियम द्वितीय की विदेश नीति तथा सैन्य वृद्धि से सभी राष्ट्र पहले से ही चिन्तित थे। उसके स्थान पर यदि कोई सन्तुलित विचार वाला शासक होता तो यह महायुद्ध रोका जा सकता था। उसका सबसे बड़ा दोष आस्ट्रिया को बिना शर्त सहायता का वचन देना था। दूसरा दोष सैनिक अधिकारियों के परामर्श को अधिक महत्त्व देना था। तीसरा दोष इंगलैण्ड और फ्रांस के सम्भावित कदम पर विचार किये बिना अपनी कार्यवाहियों की योजना बनाना था। जर्मन अधिकारियों के अनुमान भी काफी गलत सिद्ध हुए। उनका विश्वास था कि जर्मनी की प्रचण्ड शक्ति से टकराने का साहस रूस कदापि नहीं करेगा। रूस के युद्ध में कूद पड़ने की स्थिति में भी जर्मन अधिकारियों को रूस के मित्रों, विशेषकर इंगलैण्ड के युद्ध में सम्मिलित होने की आशा नहीं थी। अतः युद्ध को शुरू करने तथा उसे व्यापक बनाने का दोष जर्मनी का रहा, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु यह मानना न्यायोचित नहीं होगा कि जर्मनी ने पहले से बेल्जियम और फ्रांस को हड़पने की योजना बना रखी थी। वस्तुस्थिति यह रही कि युद्ध के शुरू होने के पहले तक जर्मनी के नागरिक, अधिकारी और स्वयं कैसर विलियम द्वितीय युद्ध टालने के लिए प्रयत्नशील रहे थे। परन्तु जब सारा मामला सैनिक अधिकारियों के हाथ में चला गया तो उन्होंने आस्ट्रो-सर्बियन संघर्ष को विश्वव्यापी बनाने में अधिक विलम्ब नहीं किया। कई विद्वानों का मानना है कि सैनिक अधिकारियों के गुप्त सुझावों के कारण ही आस्ट्रिया ने सर्बिया के सन्तोषजनक उत्तर को ठुकरा कर युद्ध घोषित किया था।

फ्रांस—फ्रांस को महायुद्ध का दोषी इसलिए माना जाता है कि उसने आँख मूँदकर अपने मित्र रूस का साथ दिया। वस्तुस्थिति यह थी कि फ्रांस अपने राष्ट्रीय अपमान को अभी तक भूला नहीं था। उसमें अभी तक जर्मनी से बदला लेने की भावना बनी हुई थी। परन्तु फ्रांस अपने उस मित्र को जिसे उसने वर्षों की साधना तथा द्रव्य व्यय करके प्राप्त किया था, किसी भी कीमत पर खोना नहीं चाहता था। क्योंकि अगर वह रूस का समर्थन नहीं करता तो वह यूरोप में अकेला पड़ जाता। इसलिए जर्मनी द्वारा रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करते ही फ्रांस ने अपनी आन्तरिक सैनिक तैयारी शुरू कर दी। उसकी इस तैयारी से चिढ़कर जर्मनी ने उसके विरुद्ध भी युद्ध की घोषणा कर दी। यदि फ्रांस रूस का समर्थन नहीं करता तो आस्ट्रो-सर्ब संघर्ष ज्यादा से ज्यादा रूस और जर्मनी तक ही व्यापक हो पाता; विश्वयुद्ध की नौबत नहीं आती।

इंगलैण्ड—जर्मन इतिहासकारों ने इंगलैण्ड पर भी आरोप लगाये हैं। उनका मानना है कि रूस को उभाड़ने तथा फ्रांस को रूस की सहायता करने के लिए प्रोत्साहित करने में इंगलैण्ड

का बहुत बड़ा हाथ था। इस पर भी इंगलैण्ड ने अपनी असली नियत किसी पर प्रकट न की और सभी को अन्धेरे में रखा। उनका यह भी मानना है कि इंगलैण्ड जर्मनी की औपनिवेशिक और नौ-शक्ति की होड़ तथा बर्लिन-बगदाद रेलमार्ग योजना से चिढ़ा हुआ था और पर्दे के पीछे रहकर वह जर्मनी को चारों तरफ से घेर कर उसका विनाश करना चाहता था। कुछ अन्य इतिहासकारों का यह भी मानना है कि इंगलैण्ड ने युद्ध-घोषणा के पूर्व ही फ्रांस को सैनिक सहायता का वचन दे दिया था और इसीलिए फ्रांस रूस की सहायतार्थ तत्काल तैयार हो गया था। सत्य जो भी रहा हो, उपलब्ध साक्ष्यों से इतना तो स्पष्ट है कि इंगलैण्ड ने अन्तिम समय तक युद्ध को रोकने तथा आस्ट्रिया और रूस में सीधी बातचीत सम्पन्न कराने के लिए अथक प्रयत्न किया था। इससे अधिक भला वह कर भी क्या सकता था ?

इस प्रकार, विश्वयुद्ध का उत्तरदायित्व सभी प्रमुख शक्तियों पर आ जाता है। किसी एक ही देश पर सम्पूर्ण दायित्व थोपना न्यायोचित नहीं है। प्रत्येक देश को इससे कुछ न कुछ लाभ की आशा थी और पिछले कई वर्षों से वे ऐसे काम करते आ रहे थे जिनके परिणामस्वरूप उन्हें महायुद्ध में सम्मिलित होने के लिए विवश हो जाना पड़ा। परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इस युद्ध के लिए जर्मनी अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक उत्तरदायी था।

महायुद्ध की घटनाएँ

प्रथम विश्वयुद्ध इतना लम्बा और व्यापक रहा कि इस पुस्तक में इसका विस्तृत उल्लेख करना सम्भव नहीं है। हाँ, हम इस युद्ध की कुछ प्रमुख घटनाओं का अध्ययन अवश्य कर सकते हैं।

जर्मनी ने जिस समय रूस और फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की थी, उस समय उसकी योजना थी—फ्रांस को यथाशीघ्र पराजित करके रूस से निपटना। क्योंकि रूस एक विशाल देश था और उससे निपटने के लिए विशाल पैमाने पर कार्यवाही करने की आवश्यकता थी। उस समय जर्मनी को इंगलैण्ड की तटस्थता की आशा थी। अतः उसने बाल्कन युद्ध क्षेत्र को आस्ट्रिया के भरोसे छोड़ दिया और फ्रांस पर टूट पड़ा। फ्रांस पर आक्रमण करने के लिए बेल्जियम ने जर्मन सेनाओं को रास्ता देने से मना कर दिया तो जर्मन फौजें बलपूर्वक उसकी सीमा में घुस गईं। इसी घटना ने इंगलैण्ड को भी युद्ध में सम्मिलित कर दिया।

जर्मनी ने केवल एक मास में फ्रांस को जीतने की योजना बनाई थी परन्तु बेल्जियम की सेना ने उसकी योजना पर पानी फेर दिया। बेल्जियम की सेना ने बड़ी बहादुरी के साथ जर्मन फौजों का सामना किया और 24 अगस्त तक उन्हें फ्रांस की ओर नहीं बढ़ने दिया। इससे फ्रांस और इंगलैण्ड को युद्ध की तैयारी का थोड़ा समय मिल गया। 16 अगस्त तक इंगलैण्ड के 1,10,000 सैनिक फ्रांस पहुँच चुके थे। परन्तु मान्स के युद्ध में जर्मन फौजों ने इंगलैण्ड और फ्रांस की संयुक्त सेना को बुरी तरह से पराजित किया। अब पेरिस केवल 25 मील दूर रह गया था और सभी को आशा थी कि जर्मन फौजें बहुत जल्दी पेरिस पर अपना अधिकार जमा लेंगी। परन्तु "मार्ने चमत्कार" ने जर्मनी की आशा को धूमिल कर दिया। 9 सितम्बर को अँग्रेजों की एक सेना ने मार्ने नदी को पार करके जर्मन सेना को बुरी तरह से पराजित करके एन (Aine) नदी

तक पीछे खदेड़ दिया। इस प्रकार, पेरिस खतरे से बच गया। जर्मन सेना एन नदी पर खाइयाँ खोदकर डट गई। मित्र राष्ट्रों ने भी वैसा ही किया। उन्होंने भी खाइयाँ खोदकर मोर्चाबन्दी कर ली। शीघ्र ही दोनों पक्षों की खाइयों की पंक्तियाँ स्विट्ज़रलैण्ड की उत्तरी सीमा से लेकर बेल्जियम के उत्तरी किनारे तक फैल गईं और कई महीनों तक दोनों पक्ष खाइयों की यह लड़ाई लड़ते रहे। 1918 ई. तक किसी भी पक्ष को कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली और इस प्रकार युद्ध का पश्चिमी मोर्चा अपेक्षाकृत शान्त बना रहा।

परन्तु बेल्जियम में प्रारम्भिक प्रतिरोध के बाद जर्मन सेना को पर्याप्त सफलता मिली। उसने सम्पूर्ण बेल्जियम को रौंद डाला। 10 अक्टूबर को जर्मन सेना ने एण्टवर्प पर अधिकार कर लिया। इसके बाद उसने केले के बन्दरगाह को लेने की योजना बनाई क्योंकि यह बन्दरगाह इंगलिश चैनल के नजदीक था और यहाँ से इंगलैण्ड पर आक्रमण करने की सुविधा थी। परन्तु एंग्लो-फ्रेंच सेनाओं ने सेर नदी के तट की सख्त नाकेबन्दी के द्वारा जर्मनी को अपनी योजना छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया। इसी बीच, जर्मनी की एक अन्य सेना ने फ्रांस पर आक्रमण किया और फ्रांसीसी किलेबन्दी को नष्ट करके उत्तरी-पूर्वी फ्रांस के एक बहुत बड़े भाग पर अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रदेश में फ्रांस की कच्चे लोहे तथा कोयले की खानें थीं। जर्मनी ने अब वर्दून, रैन्स तथा सेर नदी पर अपनी मोर्चाबन्दी जमा ली।

पूर्वी मोर्चा—युद्ध शुरू होते ही रूसी सेनाओं ने तेजी के साथ प्रयाण करके पूर्वी प्रशा पर आक्रमण कर दिया। आरम्भ में रूसी सेना को कुछ सफलता मिली परन्तु 26 अगस्त को प्रसिद्ध जर्मन सेनानायक हिण्डेनबर्ग ने टेननबर्ग के युद्ध में रूसियों को बुरी तरह से पराजित किया और रूसी सेना को भागकर अपने ही सीमान्तों में जाना पड़ा। इस युद्ध में रूस के लगभग 80,000 सैनिक मारे गये। इसके उपरान्त, रूस की एक अन्य सेना ने आस्ट्रिया पर आक्रमण किया और गेलेशिया के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इसके बाद, कोर्पोथियन के दर्रे पर भी रूसियों का अधिकार कायम हो गया। यहाँ से रूस की योजना हंगरी पर आक्रमण करने की थी। परन्तु जर्मन सेनापति मेकेन्सन ने रूसियों को पराजित करके गेलेशिया से भगा दिया। इसके पश्चात् आस्ट्रो-जर्मन सेनाओं ने वारसा पर आक्रमण किया और रूसियों को पराजित होना पड़ा। थोड़े ही समय में जर्मन सेना ने पोलैण्ड के कई प्रमुख नगरों पर अधिकार कर लिया और रूस के कूरलैण्ड, लिवोनिया, एस्थोनिया आदि प्रदेशों पर भी अधिकार जमा लिया।

नवम्बर 1914 में तुर्की भी मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध जर्मनी का पक्ष लेकर युद्ध में सम्मिलित हो गया। इस पर अँग्रेजों ने मिस्र के खदीव को राजच्युत कर दिया और मिस्र को तुर्की से पृथक् कर दिया। अँग्रेजों ने अपनी कूटनीति तथा प्रलोभन के द्वारा अरबों को तुर्की के विरुद्ध भड़का दिया। डार्डेनेलीज के जल संजकों पर तुर्की का अधिकार था और उसने रूस तथा अन्य मित्र राष्ट्रों का यातायात बन्द कर दिया जिससे रूस अकेला पड़ गया और मित्र राष्ट्र उसे सहायता न पहुँचा सके। एंग्लो-फ्रेंच सेना ने डार्डेनेलीज पर अधिकार करने की योजना बनाई परन्तु इसमें मित्र राष्ट्रों को भारी क्षति उठानी पड़ी। उनके हजारों सैनिक मारे गये। वस्तुतः इस मार्ग से तुर्की पर आक्रमण करना भयंकर भूल थी जिसका परिणाम उनको भुगतना पड़ा।

का वीरतापूर्वक सामना किया परन्तु उसे परास्त होना पड़ा। 6 दिसम्बर तक उसकी राजधानी बुखारेस्ट पर जर्मन सेनाओं का अधिकार हो गया। रूमानिया की विजय से धुरी राष्ट्रों के अधिकार में रूमानिया के गेहूँ तथा तेल के प्रचुर साधन प्राप्त हो गये।

सामुद्रिक लड़ाई—यद्यपि स्थल युद्ध में मित्र राष्ट्रों को कई बार अपमानित होना पड़ा परन्तु समुद्र पर इंगलैण्ड की नौ-सेना ने अपना प्राधान्य अक्षुण्ण रखा। जर्मन नौ-सेना ने जटलैण्ड के पास अवरोध को तोड़ने का प्रयत्न किया। 31 मई को एडमिरल बीटी ने जर्मन जहाजों पर आक्रमण किया। युद्ध अनिर्णायक रहा परन्तु इंगलैण्ड के तीन जहाज डूब गये। उसके स्थान पर जान जेलिको को नियुक्त किया गया। इस बार जर्मन जहाजों को ऐसा सबक सिखाया गया कि भविष्य में उन्होंने अपने अड्डों से निकल कर ब्रिटिश नौ-सेना का मुकाबला करने का साहस नहीं किया। ब्रिटिश नौ-सेना तथा जापानी नौ-सेना के कारण जर्मनी को अपने सम्पूर्ण उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा। इंगलैण्ड ने जर्मनी तथा उसके साथियों की इतनी सख्त तटबन्दी की कि उपनिवेशों के साथ उनका सम्पर्क ही टूट गया।

1917 की घटनाएँ

पश्चिमी मोर्चा—1917 के प्रारम्भ में जर्मन सेनाओं ने अपनी रक्षापंक्ति को सीमित बनाकर हिण्डेनबर्ग रक्षापंक्ति का निर्माण किया। एंग्लो-फ्रेंच सेनाओं ने इस रक्षापंक्ति को तोड़ने का अथक प्रयत्न किया परन्तु लगभग 3 लाख सैनिकों को खोकर भी उन्हें केवल तीन हजार गज भूमि का टुकड़ा ही प्राप्त हो सका। यद्यपि इस मोर्चे पर ब्रिटिश टैंकों ने कुछ समय के लिये जर्मन फौजों को विचलित कर दिया था परन्तु जर्मन सेना अपने मोर्चे पर डटी रही।

इटालियन मोर्चा—जर्मनी का एक मुख्य उद्देश्य अपने विश्वासघातक मित्र इटली को बुरी तरह से पराजित करने का था। सर्बिया और रूमानिया पर धुरी राष्ट्रों का अधिकार हो चुका था। अतः अब इटली पर जबरदस्त प्रहार किया गया। इटली की सेना दुश्मन की इस मार का मुकाबला न कर सकी और परास्त होकर उसे अपने कई ठिकानों से पीछे हटना पड़ा। पियाव (Piave) नदी पर इटली की दृढ़ रक्षापंक्ति तथा समय पर एंग्लो-फ्रेंच सेनाओं की सहायता से इटली की सुरक्षा हो गई और दुश्मन को पीछे धकेल दिया गया।

रूस की राज्य क्रान्ति—इस साल की प्रमुख घटना थी, रूस की राज्य क्रान्ति। शताब्दियों से चले आ रहे निरंकुश जारों का शासन समाप्त कर दिया गया और रूस में जनतान्त्रिक शासन-व्यवस्था कायम कर दी गई। यह मार्च, 1917 में घटित हुआ। नई सरकार ने युद्ध को जारी रखा परन्तु लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक दल युद्ध को बन्द करके रोटी-रोजी की समस्या को हल करना चाहता था। अतः क्रान्ति के बाद रूस में गृह-कलह का सूत्रपात हो गया जिसमें लेनिन और उसके दल को सफलता मिली। 7 नवम्बर, 1917 को जनतान्त्रिक सरकार का तख्ता पलट दिया गया और लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक सरकार की स्थापना की गई जिसने दिसम्बर, 1917 में जर्मनी के साथ ब्रेस्टलिटोवस्क की सन्धि करली। इस प्रकार, रूस प्रथम महायुद्ध से अलग हो गया, यद्यपि इसके लिए उसे काफी बड़ी कीमत चुकानी पड़ी। मित्र राष्ट्रों के लिए यह सन्धि एक भयंकर आघात थी। इससे उनकी शक्ति कमजोर हो गई जबकि जर्मनी के हौंसले बढ़ गये।

जर्मनी के दुर्भाग्य का यही अन्त नहीं था। इसी समय उसके साम्राज्य में आन्तरिक विद्रोह भी उठने लग गये। सर्वप्रथम यूक्रेनिया के लोगों ने विद्रोह का झण्डा फहराया। इसके बाद फिनलैण्ड में भी गृह-युद्ध शुरू हो गया। उधर मित्र राष्ट्रों के सर्वोच्च सेनापति फ्रांच ने अपनी सेनाओं का पुनर्संगठन किया और बाल्कन प्रायद्वीप में अपनी गतिविधियाँ बढ़ा दीं। जर्मनी और आस्ट्रिया बाल्कन में सैनिक सहायता न पहुँचा सके और अकेले बल्गेरिया को मित्र राष्ट्रों का सामना करना पड़ा। वह अधिक समय तक मैदान में न टिक सका और 29 सितम्बर, 1918 को बल्गेरिया ने आत्मसमर्पण कर दिया। मध्यपूर्व में अरबों ने विद्रोह करके तुर्की की शक्ति को कमजोर बना दिया। मित्र राष्ट्रों ने अरबों की सहायता से सीरिया, मेसोपोटामिया आदि प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया। जर्मनी अपने साथी तुर्की को किसी प्रकार की सहायता न पहुँचा सका और विवश होकर 31 अक्टूबर, 1918 को तुर्की को मित्र राष्ट्रों के सामने आत्मसमर्पण करना पड़ा।

अब जर्मनी केवल आस्ट्रिया की सहायता पर निर्भर था। परन्तु आस्ट्रिया की आन्तरिक स्थिति भी काफी नाजुक हो चुकी थी। उसके साम्राज्य की विभिन्न जातियाँ अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष की तैयारी कर रही थीं और उनमें से कुछ को मित्र राष्ट्रों का सहयोग एवं समर्थन भी मिलना शुरू हो गया था। इधर इटली ने आस्ट्रिया पर जबरदस्त आक्रमण कर रखा था और इटालियन सेनाओं ने ट्रेण्ट तथा ट्रिस्ट पर अधिकार जमा लिया था। इस प्रकार आस्ट्रिया की स्वयं की स्थिति डगमगा रही थी और उसकी लड़खड़ाती स्थिति को सम्भालना जर्मनी की सीमा के बाहर था। परिणामस्वरूप 3 नवम्बर, 1918 को आस्ट्रिया ने भी मित्र राष्ट्रों के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। 11 नवम्बर को आस्ट्रियन सम्राट ने सिंहासन त्याग दिया।

अब केवल जर्मनी बच गया। उसे सम्पूर्ण विश्व के सम्मुख अकेले लड़ना था और अकेले जर्मनी के लिए इस महान् चुनौती का सामना करना असम्भव था। अतः 9 नवम्बर, 1918 को जर्मन सम्राट कैसर विलियम द्वितीय ने भी राजसिंहासन त्याग दिया। 10 नवम्बर को जर्मनी में राजतन्त्र का अन्त हो गया और साम्यवादी नेता फ्रेडरिक के नेतृत्व में जर्मन जनतन्त्र की स्थापना की घोषणा की गई। जर्मनी में राजतन्त्र की समाप्ति के बाद मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी को युद्ध बन्द करने का आदेश दिया। युद्ध-विराम के लिए मित्र राष्ट्रों की तरफ से निम्न शर्तें प्रस्तुत की गई थीं—

(1) जर्मन सेनाएँ जीते हुए प्रदेशों तथा आल्सेस-लोरेन के प्रदेशों को दो सप्ताह में खाली कर देंगी।

(2) जर्मन सेनाएँ राइन के पश्चिमी तट को खाली करके पूर्व की तरफ जर्मन सीमा में चली जायेंगी।

(3) आस्ट्रिया, रूस तथा तुर्की में स्थित जर्मन फौजों को तत्काल हटा लिया जायेगा।

(4) जर्मनी के अधिकार में मित्र राष्ट्रों की जो युद्ध-सामग्री है, उसे यथाशीघ्र वापस लौटा दिया जाय।

पराजित जर्मनी के सामने मित्र राष्ट्रों की शर्तें स्वीकार करने के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं था। अतः 11 नवम्बर, 1918 के दिन उसने युद्ध-विराम सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। इसी के साथ प्रथम महायुद्ध का अन्त हुआ।

महायुद्ध के परिणाम

चार वर्षों तक लड़े गये इस प्रथम विश्व युद्ध के परिणाम कितने घातक रहे, इसकी सहज कल्पना नहीं की जा सकती। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक सभी पक्षों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा।

राजनीतिक परिणाम

1. निरंकुश राजतंत्रों का अन्त—प्रथम विश्व युद्ध के परिणामस्वरूप यूरोप के अनेक प्रमुख निरंकुश राजतंत्रों एवं राजवंशों का अन्त हो गया। जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी, रूस, तुर्की एवं बल्गेरिया के राजतंत्रों का अन्त हो गया। इसके साथ ही जर्मनी के होहेनज़ोलर्न, आस्ट्रिया-हंगरी के हैप्सबर्ग, रूस के रोमनॉव और तुर्की के उस्मानिया राजवंशों का भी अन्त हो गया। राजवंशों के पतन के साथ ही उन पर आश्रित सामन्त प्रथा का भी अन्त हो गया।

2. लघु राज्यों का उदय—1914 के पूर्व यूरोप में विशाल साम्राज्यों का दबदबा था और छोटे-छोटे राज्य इन विशाल साम्राज्यों के अंगमात्र थे। महायुद्ध के बाद यूरोप लघु राज्यों का महाद्वीप बन गया। इनमें मुख्य थे—आस्ट्रिया, हंगरी, तुर्की, चेकोस्लोवाकिया, लिथुआनिया, एस्थोनिया, लेटेविया, पोलैण्ड आदि। संक्षेप में, पूर्वी और मध्य यूरोप की जनता विशाल साम्राज्यों की अधीनता से मुक्त हो चुकी थी।

3. लोकतंत्र का विकास—प्रथम महायुद्ध के दौरान इंगलैण्ड, अमेरिका आदि मित्र राष्ट्रों ने घोषणा की थी कि वे लोकतंत्र की रक्षा के लिए युद्ध लड़ रहे हैं। इस युद्ध के बाद समस्त पराजित देशों एवं नवनिर्मित राज्यों में लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था कायम की गई। युद्ध के दौरान ही रूस में क्रान्ति हो गई और जारशाही का अन्त हो गया। जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय सिंहासन त्याग कर नीदरलैण्ड भाग गया और जर्मनी में गणतन्त्र की स्थापना की गई। आस्ट्रिया के सम्राट चार्ल्स को सिंहासन से च्युत कर दिया गया। तुर्की के सुल्तान के साथ भी यही हुआ। वहाँ मुस्तफा कमाल पाशा ने गणतन्त्रात्मक सरकार की स्थापना की। चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, हंगरी, लिथुआनिया, एस्थोनिया, लेटेविया आदि में भी जनतंत्रात्मक शासन की स्थापना हुई। इस प्रकार, प्रथम विश्व युद्ध के बाद यूरोप में लोकतन्त्र का प्रसार हुआ।

4. राष्ट्रीयता का विकास—नये यूरोप के राजनीतिक जीवन की आधारशिला थी—राष्ट्रीयता। युद्ध की समाप्ति के बाद नवीन राज्यों की स्थापना राष्ट्रीयता के सिद्धान्त पर की गई। इसी सिद्धान्त के आधार पर चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, लिथुआनिया, एस्थोनिया, लेटेविया, हंगरी, फिनलैण्ड नामक नये राज्यों का निर्माण हुआ। राष्ट्रीयता की भावना के कारण ही प्रत्येक बड़े देश ने अपने लिए अधिकाधिक उपनिवेशों की स्थापना आरम्भ की थी। एशिया के पिछड़े देशों में राष्ट्रीयता की लहर आई और वहाँ के लोगों ने भी स्वतन्त्र होने के लिए आन्दोलन तेज कर दिये।

5. अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास—राष्ट्रीयता की भावना के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को अत्यधिक महत्त्व दिया गया। कुछ विद्वानों के अनुसार उन्नीसवीं सदी राष्ट्रीयता की थी और बीसवीं सदी अन्तर्राष्ट्रीयता की है। युद्ध की समाप्ति के बाद अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने तथा विश्व में शान्ति एवं सहयोग बनाये रखने के लिए राष्ट्र संघ की स्थापना की गई। इस संस्था की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण रचनात्मक कदम था।

6. नवीनवादों का उदय—उन्नीसवीं सदी के अन्त तक यूरोप के अनेक देशों में 'समाजवाद' की लहर पहुँच चुकी थी। 1917 में रूस में बोल्शेविक क्रान्ति हुई जिसके परिणामस्वरूप "साम्यवाद" का प्रभाव बढ़ने लगा। शान्ति समझौतों से असन्तुष्ट देशों—इटली में फासिस्टवाद, जर्मनी में नात्सीवाद और जापान में सैनिकवाद का उदय हुआ। इस प्रकार, युद्ध के बाद अनेक वादों का प्रादुर्भाव हुआ जिनके कारण विश्व में शीघ्र ही पुनः तनाव का वातावरण बन गया।

7. साम्यवादी शासनतंत्र का उदय—यह ठीक है कि रूस में साम्यवादी शासन की स्थापना विश्व युद्ध के दौरान ही हो गई थी। परन्तु राष्ट्रों तथा उनके द्वारा समर्थित अनेक जारकालीन रूसी सेनानायकों ने साम्यवादी शासन को समाप्त करने का अथक प्रयास किया था। परन्तु लेनिन के नेतृत्व में साम्यवादी सफल रहे और रूस में एक सुदृढ़ साम्यवादी शासन व्यवस्था का उदय हुआ जिसने विश्व राजनीति को अत्यधिक प्रभावित किया।

8. संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रभाव में वृद्धि—प्रथम महायुद्ध ने संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रभाव में अत्यधिक वृद्धि की और वह यूरोपीय देशों का साहूकार बन गया। यूरोप के विभिन्न राष्ट्रों पर उसका एक खरब बीस अरब डॉलर का कर्जा था। युद्ध के दौरान और उसके बाद के काल में अमेरिका का विदेशी व्यापार दिन-दूना और रात-चौगुना हो गया। जर्मनी का व्यापार-वाणिज्य चौपट हो गया था। इंगलैण्ड को अब जर्मनी से भी अधिक भयंकर एवं शक्ति-सम्पन्न प्रतिद्वन्द्वी मिला जिसने शीघ्र ही सम्पूर्ण यूरोप के व्यापार-वाणिज्य को अपने नियंत्रण में ले लिया।

9. साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन—महायुद्ध के परिणामस्वरूप फ्रांस में आत्मविश्वास की नई भावना का सृजन हुआ। अल्सेस तथा लोरेन की पुनः प्राप्ति से यूरोप में उसके राज्य की सीमाओं का विस्तार हुआ। मैण्डेट व्यवस्था के अन्तर्गत सीरिया, लेबनान, कैमरून्स और टोगोलैण्ड आदि के मिल जाने से उसके प्रभाव में वृद्धि हुई। इटली का एड्रियाटिक सागर पर नियंत्रण कायम हो गया। ग्रेट ब्रिटेन के संरक्षण में रखे गये तुर्की एवं जर्मन उपनिवेशों से उसके औपनिवेशिक साम्राज्य का भी विकास हुआ। राष्ट्रसंघ की मैण्डेट व्यवस्था से बेल्जियम, दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और जापान—सभी देशों की औपनिवेशिक सत्ता का विकास हुआ। इसीलिए कहा जाता है कि महायुद्ध से साम्राज्यवाद को नया प्रोत्साहन मिला। जापान और इटली के साम्राज्य इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

10. शस्त्रीकरण की होड़—वर्साय सन्धि के अन्तर्गत निःशस्त्रीकरण वह योजना थी जिसे जर्मनी सहित अन्य धुरी राष्ट्रों को पूर्ण रूप से शक्तिहीन रखने के लिए प्रयुक्त किया गया था।

इसी के अन्तर्गत यह सुझाव भी दिया गया था कि मित्र राष्ट्र भी इस प्रयोग को उस सीमा तक लागू करें जिससे सुरक्षा की सम्भावना स्थापित हो सके। परन्तु भिन्न-भिन्न राष्ट्रों द्वारा जो रुख अपनाया गया उससे निःशस्त्रीकरण की बजाय शस्त्रीकरण की भावना को ही बल मिला। परिणाम यह निकला कि प्रतिवर्ष उनका युद्ध सम्बन्धी बजट बढ़ने लगा और बहुत से देशों में बेरोजगारी की समस्या के समाधान के नाम पर अत्याधुनिक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण किया जाने लगा। शस्त्रीकरण की इस होड़ ने द्वितीय महायुद्ध का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

आर्थिक परिणाम—

1. धन-सम्पदा की हानि—प्रथम विश्व युद्ध के कारण हुई धन-सम्पदा की हानि का अनुमान लगाना कठिन है। कुछ सर्वेक्षणों के अनुसार लगभग 10 खरब रुपया तो प्रत्यक्ष रूप से ही खर्च हुआ। अमेरिकन फेडरल रिजर्व बोर्ड ने अनुमान लगाया था कि युद्ध में सम्मिलित राष्ट्रों का संयुक्त व्यय 31 मई, 1918 तक 35,000 मिलियन पौंड हो चुका था। हर तरफ आर्थिक असन्तुलन पैदा हो गया जिसके परिणामस्वरूप नैतिक और राजनीतिक उथल-पुथल होने लगी। युद्ध काल में पोलैण्ड की खानें बर्बाद कर दी गईं, फसल नष्ट हो गई, रेल मार्ग छिन्न-भिन्न कर दिये गये और मशीनों को तोड़-फोड़ दिया गया। फ्रांस का भी यही हाल हुआ, जमीन वियाबान हो गई, कारखाने, मकान आदि ध्वस्त हो गये। जर्मनी को रूसी सेना ने रौंद डाला, फिर भी पोलैण्ड और फ्रांस की तुलना में उसको कम क्षति उठानी पड़ी। युद्ध विराम के बाद पुनर्वास की समस्या आ खड़ी हुई। संक्षेप में, आर्थिक क्षति से विश्व का आर्थिक संगठन ही डगमगा गया।

2. युद्ध ऋणों की समस्या—प्रथम विश्व युद्ध को जारी रखने के लिए दोनों पक्षों के प्रमुख राज्यों को बड़े पैमाने पर सार्वजनिक ऋण लेने पड़े। 1914 ई. में दोनों पक्षों के देशों पर लगभग 8 हजार करोड़ सार्वजनिक ऋण था। 1918 ई. तक यह बढ़कर 40 हजार करोड़ हो गया। सम्पत्ति का विनाश अलग था। युद्ध के बाद इन ऋणों को चुकाना कठिन हो गया। अधिकांश देशों ने अमेरिका तथा इंगलैण्ड से ऋण लिये थे। स्वयं इंगलैण्ड ने अमेरिका से कर्ज ले रखा था। इंगलैण्ड, फ्रांस आदि देश इन ऋणों को रद्द कराने के पक्ष में थे। परन्तु अमेरिका इसके लिए तैयार नहीं था। इससे एक नई समस्या उत्पन्न हो गई और जब मित्र राष्ट्रों (अमेरिका के अलावा) ने युद्ध कालीन ऋणों को जर्मनी से प्राप्त होने वाली क्षतिपूर्ति से जोड़ दिया तो समस्या और भी अधिक गम्भीर हो गई।

3. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को क्षति—युद्धकाल में दोनों पक्षों को जो आर्थिक क्षति उठानी पड़ी उसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। अब प्रत्येक देश के सामने पुनर्निर्माण, पुनर्वास एवं बेरोजगारी की विकराल समस्याएँ आ खड़ी हुईं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक देश ने कम-से-कम आयात करने और अधिक से अधिक निर्यात करने की नीति अपनाई और तटकरों में भारी वृद्धि की। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को काफी धक्का लगा।

4. मुद्रा स्फीति—महायुद्ध के दौरान दोनों पक्षों का खरबों रुपया खर्च हुआ। यह खर्च किसी उत्पादक कार्य में न लगकर विनाश में लगा। इसके साथ ही युद्धकाल में अनेक देशों के औद्योगिक क्षेत्रों एवं प्रतिष्ठानों, संचार एवं यातायात के साधनों को भी भारी क्षति पहुँची। परिणाम यह निकला कि अधिकांश देशों को सार्वजनिक कर्ज लेना पड़ा। कर्ज के चुकारे के लिए कई

देशों ने अन्धाधुन्ध कागजी मुद्रा जारी कर दी। जिससे वस्तुओं के भाव आसमान को छूने लगे। मुद्रास्फीति ने सम्पूर्ण यूरोप को एक प्रकार के आर्थिक संकट में डाल दिया, जिसे दूर करने के लिए अनेक उपायों का सहारा लेना पड़ा।

5. श्रमिकों की स्थिति में सुधार—महायुद्ध के दौरान लाखों श्रमिकों को भी सेना में भर्ती किया गया था और उनमें से अधिकांश वीरगति को प्राप्त हुए। परन्तु इससे प्रत्येक युद्धरत देश में श्रमिकों की भारी कमी हो गई और उनकी माँग बढ़ गई। इस स्थिति में श्रमिकों को अपने महत्त्व की नई अनुभूति हुई और उन्होंने मिल-मालिकों तथा पूँजीपतियों के अत्याचारों एवं शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने का निश्चय किया। रूस में साम्यवादी शासन की स्थापना ने उन्हें नैतिक बल प्रदान किया। पश्चिमी देशों की सरकारों को भी विवश होकर राजनीतिक व्यवस्था में मजदूरों के महत्त्व को स्वीकार करना पड़ा। अब श्रमिकों की स्थिति को सुधारने का कार्य जोर-शोर के साथ शुरू किया गया। फ्रांस और जर्मनी में मजदूरों से प्रतिदिन आठ घण्टे से अधिक काम न लेने का नियम बना दिया गया। कई देशों में बीमारी, आकस्मिक दुर्घटना और वृद्धावस्था के लिए बीमा-व्यवस्था को मान्यता दे दी गई। श्रमिकों के हितों एवं अधिकारों की रक्षा के लिए ट्रेड-यूनियनें स्थापित की गईं। राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत श्रमिकों की स्थिति को सुधारने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन की स्थापना की गई। उपर्युक्त परिवर्तनों ने मजदूरों को जागरूक बना दिया और धीरे-धीरे मजदूर आन्दोलन अधिक ज़ोर पकड़ता गया।

6. कृषकों की सुरक्षा—विश्व युद्ध के परिणामस्वरूप जहाँ श्रमिकों की स्थिति में सुधार हुआ, वहीं किसानों की स्थिति में भी महत्त्वपूर्ण सुधार आया। फ्रांस, जर्मनी, रूस आदि देशों में किसानों को भूमि बाँट दी गई और उन्हें भूमि का मालिक बना दिया गया। पुरानी सामन्ती व्यवस्था का अन्त कर दिया गया। इससे किसानों की आर्थिक स्थिति में काफी सुधार आ गया और अब वे जीवनोपयोगी वस्तुओं को खरीदने में समर्थ हो गये।

7. बेरोजगारी की समस्या—युद्ध के दौरान अनेक कारखाने, उद्योग-धन्धे आदि नष्ट हो गये। युद्ध की समाप्ति के बाद लगभग सभी देशों (धुरी राष्ट्रों में शान्ति समझौतों के अन्तर्गत) में बड़े पैमाने पर सैनिकों की छँटनी की गई। उपर्युक्त दोनों कारकों के मिश्रित परिणामस्वरूप बहुत से देशों में बेरोजगारी की विकराल समस्या उठ खड़ी हुई। इटली, जर्मनी आदि में फासिस्ट दलों ने इसका भरपूर लाभ उठाया। इस समस्या के समाधान के लिए कुछ देशों ने शस्त्रीकरण का मार्ग पकड़ा जिससे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में वृद्धि होती गई।

सामाजिक परिणाम—

1. जनहानि—प्रथम विश्व युद्ध मानव इतिहास की एक भयंकर त्रासदी थी। यह अब तक लड़े गये सभी युद्धों में सर्वाधिक भयंकर एवं विनाशकारी सिद्ध हुआ। इसमें 36 राष्ट्रों के साढ़े छः करोड़ सैनिकों ने भाग लिया। इस युद्ध में एक करोड़ तीस लाख सैनिक मारे गये और दो करोड़ बीस लाख घायल हुए। सैनिकों के अलावा लाखों नागरिकों को भी अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। विश्व-इतिहास में इससे भीषण नर-संहार पहले कभी घटित नहीं हुआ था। युद्ध के तुरन्त बाद कई देशों में महामारी का प्रकोप हुआ जिसमें लगभग 40 लाख लोग मारे गये। कई यूरोपीय देशों में तो पुरुषों की कमी हो गयी जिससे जनशक्ति की भारी क्षति हुई।

2. अल्पसंख्यकों की समस्या—पेरिस शान्ति सम्मेलन में आत्म-निर्णय के अधिकार को मानते हुए बहुत-से अल्पसंख्यकों को नवीन राज्यों में समाविष्ट कर दिया गया, फिर भी, लगभग 17 करोड़ अल्पसंख्यक बच गये। पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया, यूनान, तुर्की, युगोस्लाविया आदि देशों में लाखों लोग ऐसे थे जो राष्ट्रीयता की दृष्टि से उन देशों के नहीं थे। इन लोगों के हितों की रक्षा का दायित्व राष्ट्रसंघ को सौंपा गया। राष्ट्रसंघ ने इन राज्यों के साथ अलग-अलग सन्धियाँ कीं, परन्तु इससे अल्पसंख्यक जातियों की समस्या का कोई स्थायी समाधान नहीं हो सका। बाद में हिटलर जैसे अधिनायक ने इस समस्या की आड़ में चेकोस्लोवाकिया और आस्ट्रिया को हड़प लिया।

3. स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन—महायुद्ध के दौरान स्त्रियों ने कार्यालयों, दुकानों, उद्योग-धन्धों आदि में लगन के साथ काम करके पुरुषों की कमी का अहसास नहीं होने दिया। उन्होंने युद्ध क्षेत्र में घायल सैनिकों की सेवा का महत्त्वपूर्ण काम भी किया। इससे स्त्रियों में राजनीतिक चेतना एवं आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ और अब वे राजनीतिक अधिकारों की माँग करने लगीं। परिणामस्वरूप 1918 ई. में इंगलैण्ड में 30 वर्ष से अधिक आयु की स्त्रियों को मताधिकार मिला। इससे पूर्व 1917 ई. में रूस में स्त्रियों को मताधिकार मिल चुका था। 1920 ई. में जर्मनी में भी स्त्रियों को मताधिकार मिल गया। धीरे-धीरे अन्य देशों में भी उन्हें मताधिकार मिल गया और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के साथ उनकी समानता को स्वीकार किया जाने लगा।

4. सांस्कृतिक हानि—सांस्कृतिक दृष्टि से प्रथम विश्व-युद्ध विनाशकारी रहा। लाखों नवयुवकों को महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों को छोड़कर सेना में भर्ती होना पड़ा। शिक्षा के सरकारी व्यय में भारी कमी की गई जिससे बहुत-सी शिक्षण संस्थाएँ बन्द हो गईं। बहुत-से विद्वान् और वैज्ञानिक युद्ध में मारे गये। बहुत-सी ऐतिहासिक इमारतें और कलाकृतियाँ नष्ट हो गईं। स्पष्ट है कि युद्ध के परिणामस्वरूप सांस्कृतिक विकास को भारी धक्का लगा।

5. वैज्ञानिक प्रगति—प्रथम विश्व युद्ध में परम्परागत अस्त्र-शस्त्रों के अलावा वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत नवीन यन्त्रों का उपयोग किया गया। पहली बार टैंकों, हवाई जहाजों, पनडुब्बियों और जहरीली गैसों का प्रयोग किया गया। इससे बचाव के लिए भी आविष्कार किये गये। घायलों की तत्काल चिकित्सा के बारे में भी नई-नई औषधियों तथा उपायों की खोज की गई। इन सभी से वैज्ञानिक प्रगति को बल मिला।

इस प्रकार प्रथम महायुद्ध के परिणामस्वरूप संसार की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक अवस्था पर भारी प्रभाव पड़ा। इसके परिणामस्वरूप विजेता और पराजित—दोनों पक्षों को भारी हानि उठानी पड़ी। फिर भी, भविष्य की सुरक्षा के लिए कोई ठोस उपाय नहीं किया गया। केवल बीस वर्षों के अन्तराल के बाद ही संसार को इससे भी अधिक विनाशकारी द्वितीय विश्व युद्ध का सामना करना पड़ा।

प्रश्न

1. प्रथम विश्व युद्ध के कारणों का उल्लेख कीजिये। क्या इसे टाला जा सकता था ?
2. प्रथम विश्व युद्ध के लिए विभिन्न राष्ट्रों के उत्तरदायित्व की समीक्षा कीजिये।
3. प्रथम महायुद्ध के परिणामों की समीक्षा कीजिये।
4. प्रथम महायुद्ध के कारणों एवं परिणामों का संक्षेप में वर्णन कीजिये।

अध्याय-15

बोल्शेविक क्रान्ति
(Bolshevik Revolution)

भूमिका—1789 की फ्रेंच क्रान्ति के बाद विश्व इतिहास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति है। जहाँ फ्रेंच क्रान्ति ने स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व की भावना का सन्देश दिया, वहाँ बोल्शेविक क्रान्ति ने सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में भी समानता का सन्देश दिया। इसके अतिरिक्त इस क्रान्ति ने मानव जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित किया। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान यह क्रान्ति ऐसी परिस्थितियों में हुई जबकि रूसी सेनाएँ जर्मनी के हाथों निरन्तर पराजित होती जा रही थीं। फिर भी, यह कहना कि महायुद्ध की पराजयों के कारण ही क्रान्ति का सूत्रपात हुआ, उचित नहीं होगा। हाँ, यह सही है कि महायुद्ध ने क्रान्ति की प्रक्रिया को तीव्र बना दिया था।

क्रीमिया युद्ध और रूस-जापान युद्ध में रूस की सैनिक पराजय के बाद जार के निरंकुश राजतन्त्र को प्रबल आन्तरिक विरोध का सामना करना पड़ा तथा विरोधियों को सन्तुष्ट करने के लिए सुधारों की योजना भी कार्यान्वित करनी पड़ी थी; किन्तु सुधारवादियों को इनसे सन्तोष नहीं हुआ और 1905 में क्रान्ति हो गई। 1905 की रूसी क्रान्ति में 1917 की क्रान्ति के सभी लक्षण प्रकट हो गये थे और क्रान्तिकारियों को कुछ सफलता भी मिली, परन्तु उनके पारस्परिक मतभेदों के कारण जार निकोलस ने स्टॉलिपिन की सहायता से फिर अपना प्रतिक्रियावादी शासन स्थापित कर लिया था और महायुद्ध के आरम्भ तक निर्जीव ड्यूमा के अतिरिक्त क्रान्ति का कोई चिह्न बाकी नहीं रहा था। यह जार की सफलता थी, परन्तु क्रान्ति की आग बुझी नहीं थी। क्रान्तिकारी अवसर की ताक में थे। दूसरी तरफ, जार निकोलस द्वितीय ने अपने शासन के अन्तर्गत समृद्ध हो रहे भ्रष्टाचार एवं विघटनकारी प्रवृत्तियों को रोकने का कोई प्रयास नहीं किया। महायुद्ध के आरम्भिक काल में देशभक्ति के जोश के सामने क्रान्ति का जोश थोड़े समय के लिए दब अवश्य गया, क्योंकि बहुत से रूसी नेताओं का मानना था कि इस समय निरंकुश जर्मनी-आस्ट्रिया हंगरी के विरुद्ध उदारवादी इंगलैण्ड तथा फ्रांस के साथ रूस का सम्मिलित होना, स्वयं रूसियों के लिए भी लाभदायक रहेगा। किन्तु जार का अयोग्य एवं भ्रष्ट शासन देशवासियों की राष्ट्रीय भावना का लाभ न उठा सका और 1917 की क्रान्ति ने रूस की निरंकुश जारशाही को समाप्त कर दिया और रूस को एक साम्यवादी देश बना दिया।

1917 में रूस में दो क्रान्तियाँ हुईं—पहली, मार्च 1917 तथा दूसरी, नवम्बर 1917 में। लिप्सन का मत है कि क्रान्ति तो एक ही थी, किन्तु इसके अध्याय दो थे। क्रान्ति का राजनीतिक अध्याय "मार्च की क्रान्ति" कहलाया जिसमें निरंकुश जार को सिंहासन छोड़ना पड़ा। क्रान्ति का दूसरा अध्याय "नवम्बर की क्रान्ति" कहलाया, जिसे "वोल्शेविक क्रान्ति" भी कहते हैं और जिसके फलस्वरूप रूस में किसान-मजदूर जनतन्त्र का उदय हुआ।

क्रान्ति के कारण

1917 ई. की वोल्शेविक क्रान्ति के कुछ मौलिक कारण तो उसके पूर्व की एक शताब्दी के इतिहास के गर्भ में छिपे थे और कुछ तात्कालिक परिस्थितियों ने रूस में व्याप्त असन्तोष का एकाएक विस्फोट कर दिया था। क्रान्ति के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—

1. जारशाही की निरंकुशता—रूस में जार का निरंकुश शासन था। जार अलेक्जेण्डर प्रथम के समय से ही रूस के जार स्वेच्छाचारी शासन एवं सम्राट के दैवी सिद्धान्त में विश्वास करते थे। शासन की सम्पूर्ण शक्ति सम्राट में निहित थी। जार अलेक्जेण्डर द्वितीय ने कुछ उदारवादी नीति का अवलम्बन किया था, किन्तु उसके उदारवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई, जिसके परिणामस्वरूप वह पुनः प्रतिक्रियावादी बन गया। अन्त में किसी आतंकवादी ने उसकी हत्या कर दी। उसके उत्तराधिकारी अलेक्जेण्डर तृतीय ने अपने पिता की हत्या के बाद अनुभव किया कि स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासन के द्वारा ही सम्राट की सत्ता सुरक्षित रह सकती है। अलेक्जेण्डर तृतीय के पश्चात् निकोलस द्वितीय ने भी कठोर एवं दमनकारी नीति का सहारा लिया। उसी के शासनकाल में 1905 की क्रान्ति हुई तथा उसे ड्यूमा (संसद) के निर्वाचन की घोषणा करनी पड़ी। किन्तु ड्यूमा के हाथ में कोई वास्तविक शक्ति नहीं थी। वह सम्राट के प्रति उत्तरदायी थी तथा उसका एकमात्र कार्य सम्राट को सलाह देना था। सम्राट स्वयं अपने कर्मचारियों की नियुक्ति करता था और वही उन्हें पदमुक्त कर सकता था। सम्राट को अधिकार था कि वह ड्यूमा की सलाह को स्वीकार करे या ठुकरा दे। सम्राट ही जल और थल सेना का सेनापति होता था। रूस के नागरिकों को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं थी। समाचार-पत्रों पर कठोर प्रतिबन्ध लगे हुए थे। ऐसे जन विरोधी शासन के नीचे जनता कराह रही थी। क्रीमिया युद्ध और रूस-जापान युद्ध में रूस की अपमानजनक पराजय से रूस की प्रतिष्ठा को भारी आघात पहुँचा था। प्रथम विश्व-युद्ध में भी रूस को भारी क्षति उठानी पड़ रही थी और इन पराजयों के परिणामस्वरूप रूस के अयोग्य व भ्रष्ट शासन का पर्दाफाश हो गया। जनता स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासन की विरोधी हो गयी। जनता का यह असन्तोष अन्त में क्रान्ति का कारण बना।

2. सामाजिक असमानता—1789 के पूर्व जिस प्रकार फ्रांस में सामाजिक असमानता की स्थिति थी, ठीक वैसी ही इस समय रूस में विद्यमान थी। रूसी समाज को दो भागों में विभाजित किया जा सकता था। प्रथम तो, अधिकारयुक्त वर्ग और दूसरा, अधिकारविहीन वर्ग। अधिकारयुक्त वर्ग में सम्राट का कृपापात्र कुलीन वर्ग था जो सम्राट की स्वेच्छाचारिता एवं निरंकुशता को आवश्यक मानता था। यह वर्ग सम्पन्न व्यक्तियों का था तथा शासन के सभी

महत्त्वपूर्ण पदों पर और अधिकांश भूमि पर इसी वर्ग का अधिकार था। अधिकारविहीन वर्ग में किसान और मजदूर थे जिनकी स्थिति दयनीय थी।

3. किसानों की दयनीय स्थिति—19वीं शताब्दी के अन्तिम दशक तक यूरोप के प्रमुख राज्यों में औद्योगिक विकास हो चुका था, किन्तु रूस अभी तक पिछड़ा हुआ कृषि प्रधान देश था, जहाँ किसानों की बड़ी दयनीय स्थिति थी। कृपकदासों की मुक्ति के बाद भी किसानों की दशा में कोई सुधार नहीं हुआ था, क्योंकि इसके बाद भी लगभग एक-तिहाई किमान भूमिहीन बने रहे। जिन किसानों को भूमि प्राप्त हुई थी वहाँ पैदावार कम होती थी तथा उन पर अनेकों कर लगे हुए थे। फलतः अधिकांश किसानों को गरीबी का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। जिन किसानों के पास भूमि नहीं थी उन्हें जमींदारों की भूमि पर काम करना पड़ता था और जमींदार मनमाने ढँग से उनका शोषण करते थे। इसके अतिरिक्त किसानों पर अनेक प्रतिवन्ध लगे हुए थे। कोई भी किसान पुलिस की अनुमति के बिना गाँव छोड़कर कहीं नहीं जा सकता था। किसानों में दरिद्रता निरन्तर वढ़ती जा रही थी अतः उनमें शासन के विरुद्ध असन्तोष बढ़ता रहा। 1905 में अनेक स्थानों पर किसानों के दंगे हुए। किसानों ने जमींदारों की भूमि पर अधिकार कर लिया तथा उनके मकानों को जला दिया। 1905 के बाद किसानों की स्थिति सुधारने का प्रयत्न किया गया किन्तु भूमिहीनों की समस्या का समाधान नहीं हुआ। ड्यूमा में 'केडेट' दल ने भूमि का विसम्पत्तिकरण करने का सुझाव दिया, किन्तु शासन ने इस सुझाव को अस्वीकृत कर दिया। अतः किसानों के पास शासन के विरुद्ध उठ खड़े होने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं था। कुछ समय तक तो जार की दमनकारी नीति के भय के कारण उनमें विद्रोह करने का साहस नहीं हुआ, किन्तु युद्ध में रूस की दयनीय स्थिति का लाभ उठाते हुए उन्होंने विद्रोह कर दिया।

4. मजदूर वर्ग में असन्तोष—रूस में जार अलेक्जेण्डर के समय से व्यावसायिक क्रान्ति होने के कारण अनेक कल-कारखाने स्थापित हुए। इन कारखानों में काम करने के लिए लाखों मजदूर गाँव छोड़कर शहरों में आ बसे थे तथा उनकी संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही थी। ये मजदूर अधिकांशतः भूमिहीन किसान थे, अतः कारखानों के मालिकों ने उनकी असहाय एवं दयनीय स्थिति का लाभ उठाया और उन्हें कम-से-कम मजदूरी देकर अधिक से अधिक काम लिया। मजदूरी इतनी कम थी कि उनका जीवन-निर्वाह भी नहीं हो पाता था और फिर उन्हें रहने के लिए गन्दी बस्तियों में तंग कोठरियाँ दीं, जहाँ साधारण व्यक्ति का तो दम घुटने लग जाय। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए वे अपने मालिकों से कुछ भी नहीं कह सकते थे और न 'मजदूर संघ' ही बना सकते थे। शासन सदैव उद्योगपतियों का पक्ष लेता था। अतः समाजवादी दल ने मजदूरों को पूँजीपतियों के विरुद्ध संगठित होने की प्रेरणा दी। मजदूर इस दल से अत्यधिक प्रभावित हुए तथा वे संघर्ष के लिए तैयार हो गये। 1902-3 से ही मजदूरों की हड़तालें आरम्भ हो गयीं। 1905 की क्रान्ति के समय तो उन्होंने सेण्ट पीटर्सबर्ग में समानान्तर सरकार बना डाली। 1905 के बाद सरकार ने मजदूरों की स्थिति में सुधार करने का प्रयत्न किया, किन्तु मजदूरों में असन्तोष समाप्त नहीं हो सका। वस्तुतः मजदूरों पर समाजवादी दल का अत्यधिक प्रभाव था और मजदूरों का आन्दोलन जो प्रारम्भ में आर्थिक सुधारों के लिये था, वह अब राजनैतिक सुधारों

की माँग में परिवर्तित हो गया। मजदूर, रूस में जारशाही की निरंकुशता एवं पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त कर 'सर्वहारा वर्ग' का शासन स्थापित करना चाहते थे।

5. जार की रूसीकरण की नीति—रूस में अनेक अल्पसंख्यक जातियाँ रहती थीं और रूसी साम्राज्य के अधीन वे पराधीनता का अनुभव करती थीं। 1863 में पोलैण्ड ने रूसी शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। सम्राट अलेक्जेण्डर द्वितीय ने इस विद्रोह का दमन करने के लिए कठोर एवं दमनकारी नीति अपनायी और विद्रोह का दमन कर दिया। विद्रोह का दमन करने के पश्चात् सम्राट ने पोलैण्ड में रूसीकरण की नीति अपनाई, जिससे उनकी राष्ट्रीय भावना का दमन करने का प्रयत्न किया गया। शिक्षा का माध्यम रूसी भाषा कर दिया गया तथा सभी उच्च पदों पर रूसी अधिकारियों की नियुक्ति की गई। इसी प्रकार अर्मेनियनों का भी दमन किया गया। यहूदियों की सामूहिक हत्या की गई। इस प्रकार रूस के प्रशासन ने ज्यों-ज्यों इन अल्पसंख्यक जातियों की राष्ट्रीय भावनाओं का दमन करने का प्रयास किया, उनके हृदय में राष्ट्रीयता की भावना उतनी ही उग्र होती गयी और रूसी प्रशासन के विरुद्ध असन्तोष बढ़ने लगा और 19वीं शताब्दी के अन्त में कुछ अल्पसंख्यक जातियों ने विद्रोह कर दिया। 1905 में जार्जिया, पोलैण्ड और बाल्टिक सागर में भयानक विद्रोह हुए। जार निकोलस द्वितीय ने जिस प्रकार इन विद्रोहों को कुचलने के लिए इन पर अमानुषिक अत्याचार किये, उससे उनका विद्रोही बनना स्वाभाविक ही था। जार की रूसीकरण की नीति ने सभी अल्पसंख्यक (गैर रूसी) जातियों को शासन विरोधी बना दिया और इन्होंने जार के विरुद्ध आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया।

6. जार निकोलस की अयोग्यता—जार निकोलस द्वितीय आकर्षक व्यक्तित्व एवं मिलनसार स्वभाव का शासक था, किन्तु उसकी बौद्धिक क्षमता सीमित थी। कोई भी व्यक्ति उसे सरलता से प्रभावित कर सकता था। उस पर उसकी पत्नी, महारानी अलेक्जेण्ड्रा का बहुत अधिक प्रभाव था। महारानी अलेक्जेण्ड्रा स्वयं निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासन में विश्वास रखती थी और साथ ही वह एक महत्त्वाकांक्षिणी स्त्री थी। सम्राट में दृढ़ता का अभाव एवं चारित्रिक दुर्बलताएँ थीं। चारित्रिक दुर्बलता और अस्थिरता के कारण स्वेच्छाचारी शासक के रूप में उसकी सफलता आरम्भ से ही संदिग्ध थी। जार निकोलस द्वितीय के राज्यकाल के अन्तिम वर्षों में सम्राट और महारानी पर रासपुटिन नामक एक कुख्यात साधु का प्रभाव हो गया, जिसके परिणामस्वरूप प्रशासन में रासपुटिन का प्रभाव सर्वोपरि हो गया। अब दरबार में रासपुटिन के विरोधियों का एक दल तैयार होने लगा, जिसने दिसम्बर, 1916 में रासपुटिन की हत्या कर दी। यदि जार निकोलस द्वितीय में थोड़ी-बहुत भी शासन करने की योग्यता होती तो वह राजदरबार एवं शासन की व्यवस्था पर नियन्त्रण प्राप्त कर सकता था, जिससे सम्भव है 1917 की क्रान्ति या तो होती ही नहीं या कुछ समय के लिए टल जाती, किन्तु निकोलस द्वितीय ने अपनी मूर्खता से क्रान्ति को अनिवार्य बना दिया।

7. रूस में बौद्धिक क्रान्ति—फ्रांस की भाँति रूस में भी 1917 की क्रान्ति से पूर्व एक बौद्धिक क्रान्ति हुई थी। रूस में पश्चिमी यूरोप के उदारवादी विचारों का प्रवेश होने लग गया था। जार ने इन विचारों के आगमन पर रोक लगाने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। रूस का मध्यम वर्ग पश्चिमी विचारों से अत्यधिक प्रभावित हुआ। टॉल्सटाय, तुर्गनेव

तथा दोस्तोविस्की के उपन्यासों ने रूस की शिक्षित जनता को बहुत प्रभावित किया। इसी प्रकार मार्क्स, मैक्सिम गोर्की और बाकुनिन के समाजवादी विचारों ने रूसी समाज में भारी बौद्धिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। रूस की इस बौद्धिक क्रान्ति ने 1917 की राजनैतिक क्रान्ति को प्रोत्साहन दिया।

8. समाजवाद का विकास—1860 के बाद, किसानों की दयनीय स्थिति से प्रभावित होकर कुछ बुद्धिजीवियों ने समाजवादी विचारधारा को आधार बनाकर एक आन्दोलन आरम्भ किया। इस आन्दोलन के समर्थकों को 'नारोदनिकी' कहा जाता था। वे चाहते थे कि किसानों को भूमि का स्वामी स्वीकार किया जाय। कुछ नारोदनिकी लोगों ने आतंकवादी उपायों से अपने उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयत्न किया। 1883 में रूस में मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव बढ़ने लगा। कुछ समय बाद समाजवादी दो दलों में विभाजित हो गये—एक, क्रान्तिकारी समाजवादी दल और दूसरा, समाजवादी लोकतन्त्र दल। 1903 में समाजवादी लोकतन्त्र दल भी दो भागों में विभाजित हो गया—बोल्शेविक और मेन्शेविक। बोल्शेविक दल का नेता लेनिन था, जो रूस में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र स्थापित करना चाहता था। मेन्शेविक दल मजदूर वर्ग के साथ-साथ अन्य वर्गों के सहयोग से रूस में जनतन्त्र स्थापित करना चाहता था। सम्राट ने समाजवादी विचारों के प्रसार को रोकने के लिए अनेक समाजवादी नेताओं को बन्दी बनाया, किन्तु किसानों और मजदूरों में बढ़ते हुए असन्तोष के कारण रूस में समाजवादी विचारों का बड़ी तीव्र गति से प्रसार हुआ। समाजवादी विचारधारा ने क्रान्ति को अवश्यम्भावी बना दिया।

9. रूसी नौकरशाही की अयोग्यता—पीटर महान् (1683-1721) ने शासन के संचालन के लिए विशाल नौकरशाही का निर्माण किया था। नौकरशाही के उच्च पदाधिकारी कुलीन वर्ग के व्यक्ति थे जो स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासन में विश्वास करते थे। जनता के प्रति उनकी कोई सहानुभूति नहीं थी। निकोलस द्वितीय में योग्य व्यक्तियों के चुनाव करने की क्षमता नहीं थी। अतः उसके समय में कई अयोग्य व्यक्तियों को शासन की नीति को प्रभावित करने का अवसर मिल गया। वे अयोग्य व्यक्ति मनमाने ढंग से शासन करते थे तथा जनता का शोषण करते थे। रूसी नौकरशाही के उच्च पदों पर जर्मन पदाधिकारी भी नियुक्त थे, जिन्हें रूसी जनता के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। नौकरशाही न केवल अयोग्य ही थी वरन् पूर्णतः भ्रष्ट भी थी। प्रथम विश्व युद्ध में इस भ्रष्ट नौकरशाही ने सेना की आवश्यकताओं को भी पूरा नहीं किया। रसद तथा युद्ध सामग्री के अभाव में रूसी सैनिक बेमौत मारे जाने लगे। युद्ध के लिए एकत्र की जाने वाली धनराशि का भी वे दुरुपयोग करने लगे। फलस्वरूप युद्ध में रूसी सेना को भारी क्षति उठानी पड़ी और रूस की प्रतिष्ठा को भारी आघात पहुँचा। इससे जनता के असन्तोष में बहुत वृद्धि हुई तथा सर्वत्र क्रान्ति के चिह्न दिखाई देने लगे।

मार्च में क्रान्ति का प्रारम्भ—अगस्त, 1914 में रूस ने विश्व युद्ध में प्रवेश किया। प्रारम्भ में रूस की सेनाओं को सफलता मिली, किन्तु कुछ ही समय बाद जर्मनी के विरुद्ध रूस की सेनाएँ पराजित होने लगीं। सेना को पर्याप्त युद्ध सामग्री नहीं मिल पा रही थी। क्योंकि रूस के कारखाने पर्याप्त युद्ध सामग्री का उत्पादन नहीं कर सकते थे। अतः युद्ध सामग्री के लिए विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता था। विदेशों से आये हुए हथियार भी बन्दरगाहों पर पड़े रहते थे और उन्हें मोर्चे पर नहीं भेजा जा रहा था। यातायात का समुचित विकास न होने के कारण भी समय पर रसद पहुँचाने

में कठिनाई हो रही थी। रूसी सरकार ने प्रारम्भिक तीन वर्षों में लगभग 15 लाख सैनिक मोर्चे पर भेज दिये, जिससे खेतों में काम करने वालों की कमी हो गयी और कृषि उत्पादन कम हो गया। अतः सेना एवं नागरिकों के लिए खाद्य सामग्री की कमी हो गयी। दैनिक जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के भावों में इतनी अधिक वृद्धि हो गयी कि लोगों का निर्वाह होना भी कठिन हो गया। इससे किसानों और मजदूरों में उत्तेजना बढ़ने लगी। युद्ध क्षेत्र से वापिस भेजे गये निराश और क्रुद्ध सैनिकों ने भी उनका साथ दिया। जार पर उसकी पत्नी का प्रभाव था और वह जर्मन थी, अतः रूस के प्रति उसकी कोई सहानुभूति नहीं थी। फलस्वरूप उस समय यह अफवाह फैली कि जार अपनी पत्नी के प्रभाव में आकर जर्मनी से सन्धि करना चाहता है। इससे सर्वत्र उत्तेजना फैल गयी। शासन में अनुचित हस्तक्षेप करने वाले 'पवित्र साधु' रासपुटिन की, दिसम्बर 1916 में हत्या कर दी गई। इस हत्या से स्पष्ट हो गया कि राज दरबार में भी एकता का अभाव है। इसके बाद भी जार निकोलस द्वितीय की नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और उसका अयोग्य शासन पूर्ववत् गलतियाँ करता रहा।

एक ओर तो सेनाओं की निरन्तर हार से जनता क्रुद्ध थी, दूसरी ओर अनाज, ईधन, कपड़े आदि की कमी होने लगी, जिससे इन वस्तुओं के भाव अत्यधिक बढ़ गये। जनता का यह विश्वास था कि देश में इन वस्तुओं की कमी नहीं है वरन् पूँजीपतियों ने इन वस्तुओं का भारी स्टॉक कर रखा है। जनता ने शासन की अयोग्यता और भ्रष्टाचार को इस स्थिति के लिए उत्तरदायी ठहराया। ऐसी स्थिति में रूस में अचानक क्रान्ति हो गयी जिसकी कल्पना नहीं की गई थी और जिसके लिये क्रान्तिकारी दल भी तैयार नहीं था। क्रान्ति का तात्कालिक कारण रोटी की कमी थी। 8 मार्च, 1917 को मजदूरों ने भूख से व्याकुल होकर पेट्रोग्राड में हड़ताल कर दी। मजदूरों की भीड़ ने सड़कों पर 'रोटी' के नारे लगाना आरम्भ कर दिया तथा लूटमार आरम्भ कर दी। दूसरे दिन भी उग्र प्रदर्शन होते रहे। वे 'रोटी दो' के साथ-साथ 'अत्याचारी शासन का नाश हो' के नारे भी लगाने लगे। 10 मार्च को पेट्रोग्राड के सभी कारखानों में हड़ताल हो गयी। मजदूरों ने पुलिस के हथियार छीन लिये। सम्राट ने उनका दमन करने के लिये सेना भेजी, किन्तु सेना ने भी आन्दोलनकारियों का साथ दिया। सर्वत्र क्रान्ति के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। सम्राट ने क्रोधित होकर 12 मार्च को ड्यूमा को भंग कर दिया तथा सैनिक टुकड़ियों को आदेश दिया कि उपद्रवकारियों पर गोली चला दी जाय, किन्तु सैनिकों ने गोली चलाने से इन्कार कर दिया और उपद्रवकारियों से जा मिले। हड़ताली मजदूरों और सैनिकों ने मिलकर 'सैनिकों एवं मजदूरों के प्रतिनिधियों की क्रान्तिकारी सोवियत' बना ली तथा शासन की वास्तविक शक्ति अपने हाथ में ले ली। 14 मार्च को क्रान्तिकारी परिषद् एवं ड्यूमा के सदस्यों की एक समिति ने मिलकर एक अस्थायी सरकार का निर्माण कर लिया जिसका अध्यक्ष प्रिन्स ल्वॉव (Prince Lvov) था। अस्थायी सरकार के मन्त्री बड़े योग्य थे। क्रान्तिकारी समाजवादी दल का नेता केरेन्स्की न्याय मन्त्री था, अक्टूबरिस्ट दल का नेता गुचकाव युद्ध मन्त्री था और संवैधानिक लोकतन्त्रीय दल का नेता मिल्यूकॉव विदेश मन्त्री था। 15 मार्च को निकोलस द्वितीय ने अपने भाई माइकेल के पक्ष में सिंहासन त्याग दिया, किन्तु अस्थायी सरकार के सदस्य राजतन्त्र बनाये रखने अथवा गणतन्त्र की स्थापना के बारे में एकमत न हो सके। अतः माइकेल ने भी सिंहासन अस्वीकार कर दिया।

इस प्रकार मार्च, 1917 की क्रान्ति के फलस्वरूप रूस के निरंकुश सम्राटों के शासन का अन्त हो गया। पेट्रोग्राड की क्रान्ति को सम्पूर्ण देश ने स्वीकार कर लिया।

अस्थायी सरकार के कार्य—अस्थायी सरकार संवैधानिक तरीकों में विश्वास करती थी अतः उसने निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कार्य किये—

(1) भाषा और प्रेस की स्वतन्त्रता घोषित कर दी। जनता अपनी इच्छानुसार विभिन्न संघों का निर्माण कर सकती थी, भाषण दे सकती थी तथा समाचार-पत्रों का प्रकाशन कर सकती थी।

(2) राजनैतिक बन्दियों को मुक्त कर दिया। जिन राजनैतिक बन्दियों को निर्वासित कर दिया था, उन्हें पुनः देश में आने की अनुमति प्रदान कर दी गयी।

(3) यहूदियों के विरुद्ध जितने कानून बनाये गये थे, उन्हें रद्द कर दिया गया।

(4) पोलैण्ड को स्वायत्त शासन का वचन दिया गया तथा फिनलैण्ड के वैध अधिकारों को मान्यता दे दी गई।

(5) देश का नया संविधान बनाने के लिये एक नवीन संविधान सभा की स्थापना की घोषणा की गयी।

इस प्रकार अस्थायी सरकार ने लोकतन्त्रवादी सिद्धान्तों के आधार पर अपना कार्य आरम्भ किया। किन्तु अस्थायी सरकार को अनेक जटिल परिस्थितियों का सामना करना पड़ा—

(1) अस्थायी सरकार को एक ओर असफल युद्ध को संचालित करना था और दूसरी ओर आन्तरिक व्यवस्था स्थापित करनी थी। अस्थायी सरकार मित्र राष्ट्रों के सहयोग से युद्ध जारी रखना चाहती थी। किन्तु मजदूरों और सैनिकों की सोवियत चाहती थी कि युद्ध बन्द कर दिया जाय, भूमिपतियों की भूमि बिना मुआवजा के ग्रहण करके किसानों में वितरित कर दी जाय और सभी महत्त्वपूर्ण उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय।

(2) जब विदेश मन्त्री मिल्यूकॉव ने मित्रराष्ट्रों को सूचित किया कि रूस की सरकार युद्ध को जारी रखेगी तब पेट्रोग्राड की सोवियत ने इसका विरोध किया। फलतः विदेश मन्त्री को त्यागपत्र देना पड़ा और इसके साथ ही गुचकाव ने भी अपना त्यागपत्र दे दिया। ल्वॉव की पुनर्गठित सरकार में केरेन्स्की को युद्ध मन्त्री बनाया गया।

(3) पेट्रोग्राड की सोवियत तथा उसके नेता अस्थायी सरकार में विश्वास नहीं रखते थे। अतः उन्होंने गाँव-गाँव में स्वतन्त्र सोवियतों का निर्माण कर लिया था। अस्थायी सरकार और सोवियतों में तीव्र मतभेद था।

जून, 1917 में पेट्रोग्राड की सोवियत ने 'अखिल रूसी सोवियत काँग्रेस' का सम्मेलन आयोजित किया। जिसमें बोल्शेविक और मेन्शेविक दल के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। यहाँ पर 300 सदस्यों की अखिल रूसी सोवियत कार्यकारिणी समिति गठित की गई तथा वास्तविक कार्यकारिणी शक्ति 20 सदस्यों की एक प्रेसीडियम को दी गई। इस समय लेनिन ने बोल्शेविक एवं मेन्शेविक दल को सलाह दी कि वे ल्वॉव की सरकार को समाप्त करके अपना खुद का मन्त्रिमण्डल गठित करें। 1 जुलाई को इसके लिए मजदूरों का प्रदर्शन आयोजित किया गया,

मजदूरों ने 'युद्ध बन्द करो', 'पूँजीवादी मन्त्रियों को हटाओ', 'सभी अधिकार सोवियत को दो' के नारे लगाये। 3 जुलाई को एक बड़ा विद्रोह हुआ, किन्तु उसे दबा दिया गया। सरकार को ऐसा लगा कि विद्रोह को भड़काने में बोल्शेविकों का हाथ था, अतः बोल्शेविकों को कैद करने की आज्ञा दे दी। लेनिन को रूस छोड़कर भागना पड़ा।

केरेन्स्की का सत्ता प्राप्त करना—सोवियत और सरकार के बीच मतभेद बढ़ते गये। राजनीतिक सुधारों से किसी को कोई सन्तोष नहीं मिला। अस्थायी ल्वॉव की सरकार रोटी की समस्या हल नहीं कर सकी। युद्ध बन्द करके स्थायी शान्ति स्थापित करने में भी इसे सफलता नहीं मिली। फलस्वरूप ल्वॉव सरकार का पतन हो गया। केडेट दल के पतन के पश्चात् मेन्शेविक दल के हाथ में सत्ता आ गयी। इस दल का नेता केरेन्स्की था। वह क्रान्ति तथा रक्तपात का विरोधी था। वह युद्ध को यथाशीघ्र सम्मानपूर्वक स्थिति में समाप्त करना चाहता था। किन्तु बोल्शेविक दल उसका निरन्तर विरोध करता रहा। इधर समाजवादियों में पारस्परिक मतभेद बढ़ने लगे। इसी समय केरेन्स्की और प्रधान सेनापति कार्नीलाव के बीच भी मतभेद बढ़ने लगे। उधर जर्मनी निरन्तर आगे बढ़ता जा रहा था। 3 सितम्बर को जर्मनी ने रीगा पर अधिकार कर लिया। इस स्थिति का लाभ उठाकर कार्नीलाव ने सेना की सहायता से सत्ता हथियाने का प्रयत्न किया। किन्तु केरेन्स्की ने बोल्शेविकों की सहायता से कार्नीलाव के प्रयत्न को विफल कर दिया। इससे बोल्शेविकों को अपना प्रभाव बढ़ाने का अच्छा अवसर मिल गया।

लेनिन

ब्लादिमीर इलिच उल्यानोव जो लेनिन के नाम से विश्वप्रसिद्ध हुआ, बोल्शेविक दल का प्रमुख संस्थापक था। लेनिन का जन्म 1870 ई. में सिम्बिर्स्क नामक स्थान पर एक साधारण राजकर्मचारी के घर में हुआ था। लेनिन के बड़े भाई को जार अलेक्जेण्डर द्वितीय की हत्या के प्रयत्न करने के आरोप में मृत्यु दण्ड दिया गया था। इस प्रकार बचपन से ही उस पर क्रान्तिकारी विचारों का प्रभाव था। कजान विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण करते हुए वह मार्क्सवादी विचारों का कट्टर समर्थक बन गया था। अपनी क्रान्तिकारी गतिविधियों के कारण उसे विश्वविद्यालय से निष्कासित कर दिया गया। 1892-93 ई. में उसने सेण्ट पीटर्सबर्ग में वकालत आरम्भ की तथा साथ ही मार्क्सवादी विचारों का गहन अध्ययन और उनका प्रचार करता रहा। इस काल में वह प्लेखानोव के विचारों से भी अधिक प्रभावित हुआ। 1895 ई. में उसे क्रान्तिकारी गतिविधियों के कारण गिरफ्तार कर लिया गया तथा उसे साइबेरिया में निर्वासित कर दिया गया। साइबेरिया से मुक्त होने के बाद उसने जेनेवा से 'इस्करा' और 'जार्या' नामक समाचार-पत्रों के सम्पादन में सक्रिय सहयोग दिया। इन समाचार-पत्रों के माध्यम से रूस में मार्क्सवादी विचारों का प्रचार होने लगा।

1903 ई. में जनतन्त्रीय समाजवादी दल का दो भागों में विभाजन हो गया। एक दल मेन्शेविकों का था और दूसरा बोल्शेविकों का। बोल्शेविक दल का प्रधान नेता लेनिन था। लेनिन की यह दृढ़ मान्यता थी कि रूस में साम्यवाद की स्थापना क्रान्तिकारी उपायों से ही हो सकती है। लेनिन चाहता था कि दल चाहे छोटा हो किन्तु वह सुसंगठित हो और उसमें केवल ऐसे लोग

ही सम्मिलित किये जायँ जो सर्वहारा वर्ग की हिंसात्मक क्रान्ति में विश्वास करते हों। मेन्शेविकों की मान्यता थी कि दल बड़ा होना चाहिये और उसमें क्रान्तिकारियों के अतिरिक्त क्रान्ति से सहानुभूति रखने वाले भी सम्मिलित किये जायें। 1905 ई. में मेन्शेविकों का प्रभाव अधिक था और उनके पास प्रचार के साधन भी अधिक थे। फिर भी लेनिन हतोत्साहित नहीं हुआ। 1905 ई. की क्रान्ति में मेन्शेविकों और बोल्शेविकों ने पारस्परिक सहयोग की भावना से कार्य किया, किन्तु उनका सहयोग स्थायी नहीं रह सका।

फरवरी, 1917 ई. की क्रान्ति के समय लेनिन देश से बाहर था। क्रान्ति के आरम्भ में मेन्शेविकों को अपना प्रभाव एवं शक्ति बढ़ाने का अच्छा अवसर मिल गया। बोल्शेविकों को क्रान्ति से कोई लाभ नहीं हुआ। फिर भी बोल्शेविकों ने 'प्रावदा' नामक समाचार-पत्र के माध्यम से अपने दल की नीतियों और कार्यक्रम का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। उसने अस्थायी सरकार को 'पूँजीपतियों और भू-स्वामियों की सरकार' कहना आरम्भ किया तथा सोवियत के सैनिकों और मजदूरों का गणतन्त्र स्थापित करने की सलाह दी। 3 अप्रैल, 1917 को जर्मनी के सहयोग से लेनिन पेट्रोग्राड पहुँचा और अपने सहयोगियों से तत्कालीन स्थिति पर विचार-विमर्श किया। उसका विचार था कि क्रान्ति का प्रथम चरण, जिसमें शक्ति बुर्जुआ वर्ग के हाथ में पहुँच चुकी थी, समाप्त हो रहा है, अतः अब शक्ति मजदूरों एवं कृषकों के अथवा सर्वहारा वर्ग के हाथों में पहुँचाने की तैयारी करनी चाहिये। वस्तुतः लेनिन 'मध्यम-वर्गीय क्रान्ति' को 'समाजवादी क्रान्ति' में परिणत करना चाहता था। लेकिन उस समय सभी रूसियों को लेनिन के विचार बड़े उग्र और अव्यावहारिक लग रहे थे। अप्रैल, 1917 ई. के अन्त में अखिल रूसी बोल्शेविक सम्मेलन में भी लेनिन ने अपने विचार प्रस्तुत किये। सम्मेलन में अस्थायी सरकार की बुर्जुआ वर्ग और भूस्वामियों की प्रतिक्रान्ति के साथ सहयोग करने की नीति की आलोचना की गई तथा शहरों व गाँवों के सर्वहारा वर्ग मजदूरों और सैनिकों के सोवियत के हाथ में सत्ता हस्तान्तरित कराने की तैयारी करने का आह्वान किया गया। इस सम्मेलन में 'सोवियत को सम्पूर्ण शक्ति का केन्द्र' बनाने का निर्णय करके बोल्शेविक क्रान्ति की योजना को एक निश्चित वैधानिक स्वरूप प्रदान किया गया। मई, 1917 ई. में ट्राटस्की, जो इस समय अमेरिका में था, पेट्रोग्राड पहुँचा और थोड़े ही समय में वह रूस का प्रभावशाली नेता बन गया। उसका एक पृथक् दल था, जो मेन्शेविकों और बोल्शेविकों से भिन्न था। ट्राटस्की ने बोल्शेविकों के साथ सहयोग करने के विषय में लेनिन से बातचीत की। जून में 'अखिल रूसी सोवियत सम्मेलन' में सभी समाजवादी दलों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में भी बोल्शेविक दल ने राज्य की सम्पूर्ण शक्ति मजदूरों, सैनिकों और किसानों के प्रतिनिधियों की सोवियत को हस्तान्तरित करने का प्रस्ताव रखा। किन्तु क्रान्तिकारी समाजवादी दल तथा मेन्शेविकों के विरोध के कारण यह प्रस्ताव पारित नहीं हो सका।

जून, 1917 के बाद बोल्शेविकों का प्रभाव बढ़ने लगा। 3 जुलाई के विद्रोह के बाद अस्थायी सरकार ने बोल्शेविक नेताओं को गिरफ्तार करना आरम्भ कर दिया। लेनिन को रूस छोड़कर फिनलैण्ड जाना पड़ा। इसी समय ट्राटस्की ने बोल्शेविक दल से मिलने का निश्चय किया, जिससे बोल्शेविकों की शक्ति और भी बढ़ गई। इधर गेलीशिया में रूसी सेना की

आक्रामक कार्यवाई की असफलता के समाचार मिले, जिससे जनसाधारण का विरोध बढ़ गया। वोल्शेविकों ने युद्ध विरोधी प्रचार करके अस्थायी सरकार को वदनाम किया तथा युद्ध भूमि से लौटे निराश एवं क्रुद्ध सैनिकों की सहानुभूति अर्जित करने का प्रयास किया। इधर केरेन्स्की की सरकार भी आन्तरिक स्थिति में सुधार नहीं कर सकी। देश में खाद्यान्नों एवं औद्योगिक उत्पादन में कमी होती जा रही थी, किसानों के उपद्रव बढ़ते जा रहे थे तथा युद्ध क्षेत्र में रूसी सेनाएँ निरन्तर पराजित होती जा रही थीं। ऐसी स्थिति में कार्नीलाव ने सेना की सहायता से सत्ता हथियाने का प्रयास किया। किन्तु केरेन्स्की ने बोल्शेविकों की सहायता से कार्नीलाव के प्रयत्न को विफल कर दिया। अव वोल्शेविकों को अपनी शक्ति बढ़ाने का अच्छा अवसर मिल गया। सितम्बर में ट्राटस्की, पेट्रोग्राड सोवियत का प्रधान बन गया और मास्को की सोवियत में भी वोल्शेविकों का अधिकार हो गया। 12-13 सितम्बर को लेनिन ने फिनलैण्ड से वोल्शेविक कार्यकारिणी को गुप्त पत्र लिखा, जिसमें कहा गया कि अव सशस्त्र क्रान्ति द्वारा सत्ता हस्तगत करने का समय आ गया है।

बोल्शेविक क्रान्ति—लेनिन के आदेशानुसार बोल्शेविक कार्यकारिणी ने 23 अक्टूबर को सशस्त्र क्रान्ति द्वारा सत्ता हथियाने का निर्णय ले लिया। बोल्शेविकों के प्रचार के फलस्वरूप सेना ने युद्ध करने से इन्कार कर दिया तथा किसानों ने जमींदारों की भूमि पर अधिकार करना आरम्भ कर दिया। मजदूरों ने भी अपने काम के घण्टों में कमी करना तथा वेतन बढ़ाने की माँग को लेकर हड़ताल कर दी। इससे देश में अराजकता फैल गयी। 5 नवम्बर को केरेन्स्की ने सभी वोल्शेविकों को कैद करने की आज्ञा दे दी। किन्तु इस समय तक वोल्शेविक नेता क्रान्ति की तैयारी पूरी कर चुके थे। 6 नवम्बर की रात्रि को वोल्शेविक स्वयंसेवकों ने, जिन्हें लाल रक्षक (Red Guards) कहा जाता था तथा नियमित सैनिक टुकड़ियों ने पेट्रोग्राड के समस्त सरकारी भवनों, टेलीफोन केन्द्र, रेलवे स्टेशन आदि प्रमुख स्थानों पर अधिकार कर लिया। 7 नवम्बर को प्रातः केरेन्स्की देश छोड़कर भाग गया। अस्थायी सरकार के सभी मन्त्रियों को बन्दी बना लिया गया। इस प्रकार बिना रक्त की एक बूँद गिराये रूस की राजधानी पर वोल्शेविक दल का अधिकार हो गया। मार्च, 1917 ई. की क्रान्ति ने जारशाही के निरंकुश शासन का अन्त कर मध्य वर्ग के शासन की स्थापना की। 8 नवम्बर, 1917 को नई सरकार का प्रथम मन्त्रि-मण्डल गठित किया गया। लेनिन को मन्त्रि-परिषद् का अध्यक्ष बनाया गया और ट्राटस्की विदेश मन्त्री वन गया। नई सरकार ने सर्वप्रथम संविधान सभा के चुनाव कराने की घोषणा की। 15 नवम्बर को देश की सोवियत सभा के लिये चुनाव हुए, किन्तु बोल्शिविक दल को वहुमत प्राप्त नहीं हो सका। अतः लेनिन ने इस सभा को 'प्रतिक्रियावादी सभा' कहकर इसे भंग कर दिया तथा देश में पूर्णतया सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र स्थापित कर दिया।

रूस का युद्ध से अलग होना—सत्ता ग्रहण करने के कुछ ही दिन बाद बोल्शेविक सरकार ने सभी राज्यों से युद्ध बन्द करने की अपील की, किन्तु मित्र राष्ट्रों ने इस प्रस्ताव की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। अतः रूस ने केन्द्रीय राज्यों से पृथक् सन्धि करने का निश्चय किया, क्योंकि देश में आन्तरिक व्यवस्था स्थापित करने तथा विकास की योजनाएँ कार्यान्वित करने के लिए शान्ति आवश्यक थी। दिसम्बर, 1917 में युद्ध विराम हुआ और कुछ ही समय बाद ब्रेस्टलिटोवस्क

में सन्धिवार्ता आरम्भ हुई जिसमें जर्मनी, आस्ट्रिया, बल्गेरिया, तुर्की और रूस के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। रूस किसी भी शर्त पर शान्ति चाहता था, अतः उसे जर्मनी की सभी शर्तें स्वीकार करनी पड़ीं। 3 मार्च, 1918 को ब्रेस्टलिटोवस्क की सन्धि हो गयी। इस सन्धि के अनुसार—

(1) रूस ने एस्टोनिया, लिथोनिया, लिटेविया, फिनलैंड और आलैण्ड से अपने अधिकार त्याग दिये तथा केन्द्रीय शक्तियों को वहाँ जनता की इच्छानुसार नवीन व्यवस्था स्थापित करने का अधिकार दिया गया।

(2) रूस ने अर्दहान, कार्स तथा बाटुम के प्रदेश तुर्की को दे दिये।

(3) पोलैण्ड, लिथुआनिया और कोरलैण्ड से रूस ने अपने अधिकार त्याग दिये। रूस ने यूक्रेन से भी अपनी सेनाएँ हटा लीं। यूक्रेन सरकार एवं केन्द्रीय शक्तियों के बीच की गई सन्धियों को मान्यता दे दी।

(4) रूस ने यह वचन दिया कि खाली किये क्षेत्र में वह बोल्शेविक विचारधारा का प्रचार नहीं करेगा।

(5) रूस ने जर्मनी को तीन करोड़ पौण्ड युद्ध का हर्जाना देने का वचन दिया।

इस सन्धि के अनुसार रूस को अपने विशाल क्षेत्र तथा लगभग साढ़े छः करोड़ जनसंख्या से वंचित होना पड़ा। इस दृष्टि से यह सन्धि रूस के लिए बहुत अपमानजनक थी, किन्तु इस सन्धि के सम्पन्न हो जाने से रूस विश्वयुद्ध से अलग हो गया जिससे बोल्शेविक सरकार को देश की आन्तरिक समस्याओं की ओर ध्यान देने का अवसर मिल गया। बोल्शेविक सरकार ने निम्नलिखित कार्यक्रम अपनाया—

(1) राज्य में बड़े पैमाने पर राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन करना।

(2) सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र उस समय तक बनाये रखना जब तक कि देश की सम्पूर्ण जनता साम्यवादी शासन में भाग लेने के योग्य न हो जाय।

(3) सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति का विश्व में प्रचार करना।

गृहयुद्ध और विदेशी हस्तक्षेप

गृहयुद्ध के कारण—बोल्शेविक दल ने जिस प्रकार सत्ता ग्रहण की और उसे बनाये रखने में जिन कठोर और निर्मम उपायों को अपनाया था, उससे देश के कुछ भागों और जनता के विभिन्न वर्गों में असन्तोष और रोष उत्पन्न हो गया था। बोल्शेविकों के विरोधियों में तीन प्रकार के लोग थे—(1) वे लोग, जिनकी भूमि छीन ली गई थी अर्थात् जारशाही के पुराने अधिकारी और सामन्त लोग। यह वर्ग क्रान्ति को विफल कर जार के शासन को पुनः स्थापित करना चाहता था। (2) वे लोग, जो फ्रांस और अमेरिका के नमूने का लोकतन्त्र स्थापित करना चाहते थे। (3) मेन्शेविक दल के लोग जो समाज के आर्थिक संगठन को क्रान्तिकारी उपायों द्वारा बदलने के विरोधी थे।

इसके अलावा कुछ अन्य कारण भी उत्तरदायी थे। राजनीतिक क्षेत्र में बोल्शेविकों ने लोकतन्त्र की नीति का खुलेआम उल्लंघन करते हुए संविधान सभा को भंग कर दिया था। सैनिक

क्षेत्र में सेना के कई अधिकारियों को ब्रेस्टलिटोवस्क की सन्धि पसन्द न आई। इन लोगों ने दक्षिण में अपनी तथाकथित स्वयंसेवक सेना का संगठन किया और दोन तथा कज्जाकों के साथ गठबन्धन कर सोवियत शासन का विरोध करना शुरू कर दिया। कुछ राष्ट्रीय समूहों, जैसे कि उक्रइनियों, जार्जियनों, काल्मिलों आदि ने संकट की बेला में अपने स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना का स्वप्न देखा और सोवियत शासन के विरोधी बन गये। बोल्शेविकों द्वारा रूस के प्रभावशाली आर्थोडक्स चर्च को वन्द करके उसकी सम्पत्ति को जब्त करने से धर्माचार्यों का वर्ग भी क्रान्ति विरोधी बन गया था। इन सभी के विरुद्ध सोवियत सरकार को तीन वर्ष (1917-20) तक घोर संघर्ष करना पड़ा और समूचा देश गृह-युद्ध की ज्वाला में धधकने लगा।

मित्र राष्ट्रों का हस्तक्षेप—मित्र राष्ट्रों ने सोवियत सरकार के विरोधियों को सहायता देकर गृह-युद्ध को और भी अधिक गम्भीर बना दिया। मित्र राष्ट्रों की नाराजगी के मुख्य कारण थे—(1) रूस ने उनसे विचार-विमर्श किये बिना ही जर्मनी से सन्धि कर ली थी। इससे जर्मनी पूर्वी मोर्चे के युद्ध से निश्चिंत हो गया और उसने अपनी समस्त शक्ति पश्चिमी मोर्चे पर लगा दी। मित्र राष्ट्र रूस में पुनः मध्यवर्गीय सरकार स्थापित करना चाहते थे ताकि जर्मनी के विरुद्ध पूर्वी मोर्चा पुनः खोला ज़ा सके। (2) बोल्शेविक सरकार ने उन समस्त ऋणों को चुकाना अस्वीकार कर दिया जो जार के शासनकाल में रूसी सरकार ने मित्र राष्ट्रों से लिये थे। इससे मित्र राष्ट्रों में बोल्शेविक सरकार के विरुद्ध रोष उत्पन्न हो गया। (3) बोल्शेविक सरकार ने गुप्त सन्धियों को अस्वीकार करके उन्हें प्रकाशित करवा दिया। इससे मित्र राष्ट्रों का नग्न रूप प्रकट हो गया और समूचे संसार में उनकी बड़ी बदनामी हुई। (4) बोल्शेविकों ने समूचे संसार में क्रान्ति का प्रसार करने का स्वप्न देखा और दुनिया भर के मजदूरों को संगठित होकर पूँजीवादी सरकारों को उलटने का उपदेश देना शुरू कर दिया। इससे पश्चिम के पूँजीवादी देशों का रुष्ट होना स्वाभाविक ही था। अतः उन्होंने बोल्शेविकों के पतन की इच्छा से उनके विरोधियों को सहायता दी।

मित्र राष्ट्रों ने रूस की सोवियत सरकार को मान्यता नहीं दी। उन्होंने रूस की आर्थिक नाकेबन्दी कर दी और क्रान्ति विरोधियों की अस्त्र-शस्त्र तथा धन से सहायता करने लगे। मित्र राष्ट्रों की सहायता से क्रान्ति-विरोधियों ने कई क्षेत्रों में सोवियत सरकार के विरुद्ध "श्वेत सरकार" स्थापित कर ली। हजारों चैक और स्लोवाक, जो पहले आस्ट्रिया की सेना को छोड़कर रूस से जा मिले थे, अब बोल्शेविकों के विरुद्ध मित्र राष्ट्रों का साथ देने लगे। इसी समय मित्र राष्ट्रों ने रूस पर आक्रमण भी कर दिया। फ्रांस ने आडेसाल, अमेरिका ने अर्केन्जिल तथा ब्लाडीवास्टक को नियन्त्रण में ले लिया। जापान ने पूर्वी साइबेरिया पर अधिकार कर लिया। ब्रिटेन ने बाकू पर अधिकार कर लिया।

लाल सेना का गठन—इस प्रकार, सोवियत सरकार को एक ही साथ भयंकर गृह-युद्ध और विदेशी हस्तक्षेप का सामना करना पड़ा। प्रारम्भ में ऐसा प्रतीत हो रहा था कि बोल्शेविक सरकार आन्तरिक विद्रोह और बाह्य शत्रुओं की संयुक्त शक्ति का सामना नहीं कर सकेगी। परन्तु लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक निराश नहीं हुए। ट्राटस्की ने तुरन्त ही "लाल सेना" का संगठन किया और विदेशी आक्रमण का डटकर मुकाबला किया। विदेशी सेनाओं के पाँव उखड़

गये और बोल्शेविकों को उन पर निर्णायक विजय मिली। परिणामस्वरूप, मित्र राष्ट्रों ने धीरे-धीरे अपने सैनिक दल वापस बुला लिये।

ज़ार-ज़रीना की हत्या—इस संघर्ष के दौरान बोल्शेविक सरकार ने जार तथा उसकी पत्नी एवं परिवार के अन्य सदस्यों को पेट्रोग्राड से हटाकर यूराल प्रदेश के इक्टेरिनवर्ग नामक स्थान पर भेज दिया था। किन्तु जब विरोधी श्वेत सेनाएँ उस क्षेत्र में आगे बढ़ने लगीं तब 16 जुलाई, 1918 को बोल्शेविकों ने जार और जरीना को गोली से उड़ा दिया। इस जघन्य कृत्य से बोल्शेविकों को काफी बदनामी उठानी पड़ी।

आन्तरिक विद्रोह का दमन—विदेशी सेनाओं को खदेड़ने के साथ ही साथ बोल्शेविकों ने आन्तरिक विद्रोह का दमन करना भी शुरू कर दिया। सर्वप्रथम, जनरल क्रास्नोव की कज्जाक सेना का पूरी तरह से सफाया कर दिया गया। फिर एडमिरल कोल्चाक को बुरी तरह से पराजित किया गया। जनरल डेनिकिन को भी भारी पराजय का सामना करना पड़ा। 1919 के अन्त तक यूडेरिख की सेना का भी सफाया कर दिया गया। 1920 के आरम्भ तक लाल सेना ने गृह-युद्ध में निर्णायक विजय प्राप्त कर ली। इससे रूस में बोल्शेविक शासन के पैर मजबूती से जम गये।

आन्तरिक विद्रोह को कुचलने के लिए बोल्शेविकों ने "चेका" नामक एक गुप्त क्रान्तिकारी न्यायालय की स्थापना की, जिसे किसी भी व्यक्ति को कैद करने तथा मृत्यु-दण्ड देने का अधिकार था। 'चेका' ने हजारों प्रतिक्रान्तिकारियों को पकड़कर गोली से उड़ा दिया और एक प्रकार से आतंक का राज्य स्थापित कर दिया। इससे भयभीत होकर लोगों ने बोल्शेविक सरकार को समर्थन देना ही उचित समझा।

बोल्शेविकों की सफलता के कारण—गृह-युद्ध तथा विदेशी आक्रमण से रूस को सुरक्षित रखना, बोल्शेविकों की एक महान् सफलता थी। उनकी सफलता के लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी थे—

(1) बोल्शेविक पार्टी गरीब किसानों एवं मजदूरों का प्रतिनिधित्व करती थी। रूस में इन्हीं दो वर्गों का बहुमत था। किसान लोग भली-भाँति जानते थे कि बोल्शेविक क्रान्ति की सफलता में ही उनके हित सुरक्षित रह पायेंगे। उनकी सफलता का अर्थ था रूस में सामन्त प्रथा का अन्त और भूमि पर किसानों का अधिकार। इसीलिए कृषक वर्ग ने हर क्षेत्र में बोल्शेविक सरकार को पूरा-पूरा समर्थन एवं सहयोग प्रदान किया।

(2) क्रान्ति के विरोधियों में आपसी एकता का अभाव था। उनमें बहुत अधिक मतभेद विद्यमान थे। परिणामस्वरूप वे संगठित तथा सम्मिलित रूप से बोल्शेविकों का सामना करने में असमर्थ रहे। क्रान्ति विरोधियों के पास योग्य नेता का भी अभाव था।

(3) बोल्शेविक सरकार के विरुद्ध मित्र राष्ट्रों ने आधे-अधूरे मन से हस्तक्षेप किया था। वे विश्व युद्ध के कारण काफी थक गये थे और इसलिए क्रान्ति-विरोधियों को पर्याप्त सहायता न पहुँचा सके। प्रारम्भिक हस्तक्षेप के बाद मित्र राष्ट्रों ने शीघ्र ही अपनी सेनाओं को हटा लिया। इससे क्रान्ति विरोधियों का उत्साह ठण्डा पड़ गया। इसके अलावा अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन का मानना था कि रूसियों को अपना भाग्य स्वयं तय करने का अधिकार है।

(4) रूस की जनता युद्ध के कष्टों से तंग आ चुकी थी। युद्ध के लम्बा हो जाने से जनता में भुखमरी, बेरोजगारी और निर्धनता छा गई थी। ऐसी स्थिति में क्रान्ति-विरोधियों ने युद्ध को जारी रखने की घोषणा कर दी थी। इसके विपरीत बोल्शेविकों ने युद्ध को बन्द करके रोटी-रोजी की समस्या को हल करने की घोषणा करके जनता का समर्थन एवं विश्वास अर्जित कर लिया। इसी कारण इस संघर्ष में अन्ततः बोल्शेविकों की विजय हुई।

(5) इस संघर्ष में बोल्शेविक शासन को विजयी बनाने में लाल सेना का योगदान भी अभूतपूर्व रहा। अनेक प्रकार की कठिनाइयों एवं साधनों की कमी के उपरान्त भी लाल सैनिकों ने बहादुरी एवं साहस के साथ अपने से श्रेष्ठ प्रशिक्षित सैनिकों से लोहा लिया और सफलता प्राप्त की।

(6) इस क्रान्ति के सिद्धान्त बन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत थे। वे किसी विशेष देश के लिए नहीं थे। बोल्शेविक जिस व्यवस्था की स्थापना करना चाहते थे उसमें अखिल विश्व के किसानों एवं मजदूरों का हित निहित था। अतएव इस क्रान्ति को दुनियाँ भर के मजदूरों एवं किसानों का नैतिक समर्थन एवं सहयोग प्राप्त था।

क्रान्ति के परिणाम

बोल्शेविक क्रान्ति के परिणामस्वरूप रूस के राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए; साथ ही इस क्रान्ति ने विश्व के अनेक देशों को भी प्रभावित किया। संक्षेप में, क्रान्ति के प्रमुख परिणाम निम्नलिखित हुए—

राजनीतिक परिणाम

1. राजतन्त्र के स्थान पर साम्यवादी शासन—इस क्रान्ति के फलस्वरूप रूस में विगत तीन शताब्दियों से चले आ रहे रोमनोव राजवंश और राजतन्त्र का अन्त हो गया। रूस के अन्तिम जार निकोलस द्वितीय एवं उसके परिवार के अनेक सदस्यों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। राजतन्त्र के स्थान पर रूस में साम्यवादी शासन व्यवस्था की स्थापना हुई।

2. रूस का युद्ध से पृथक् होना—सत्ता हाथ में आते ही बोल्शेविकों ने सभी राष्ट्रों से युद्ध बन्द करने की अपील की। जब मित्र राष्ट्रों ने इस अपील पर कोई ध्यान नहीं दिया तो लेनिन ने मित्र राष्ट्रों से पूछे बिना ही जर्मनी के साथ ब्रेस्टलिटोवस्क की सन्धि करके रूस को युद्ध से पृथक् कर दिया। रूसवासियों के लिए युद्ध समाप्त हो गया और अब वे अपनी आर्थिक समस्याओं के समाधान में जुट गये।

3. मित्र राष्ट्रों की नाराजगी—जब लेनिन ने मित्र राष्ट्रों से पूछे बिना ही जर्मनी के साथ सन्धि कर ली तो उनका नाराज होना स्वाभाविक ही था। क्योंकि पूर्वी मोर्चे से निश्चित होकर जर्मनी को अपनी सम्पूर्ण शक्ति का मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध पश्चिमी मोर्चे पर उपयोग करने का अवसर मिल गया। यदि इस नाजुक समय पर अमेरिका उनकी तरफ से युद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ होता तो मित्र राष्ट्रों को जीता हुआ युद्ध खो देना पड़ता। बोल्शेविकों के इस कार्य ने मित्र राष्ट्रों को सोवियत सरकार का विरोधी बना दिया और उन्होंने भी उसका तख्ता पलटने में कोई कसर बाकी न रखी।

4. रूस का विश्वशक्ति के रूप में उदय—क्रान्ति के बाद साम्यवादी शासन के अन्तर्गत रूस ने इतनी अधिक उन्नति कर ली कि वह विश्व की एक प्रमुख शक्ति बन गया। तात्कालीन इतिहासकार पियर्स ने कहा था कि सोवियत रूस आधुनिक विश्व में एक सर्वाधिक शक्तिशाली व सबसे महान् राष्ट्र बनने लगा है।

5. राष्ट्रीयता का विकास—जारकालीन रूस में राष्ट्रीय भावना का विशेष विकास नहीं हो पाया था। परन्तु इस क्रान्ति के उपरान्त रूसियों में राष्ट्रीय भावना उग्र रूप में प्रसारित हुई। प्रत्येक रूसी अपने राष्ट्र के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग करने में अपना गौरव समझने लगा। इसी राष्ट्रीय भावना के कारण दूसरे विश्व युद्ध में रूसियों ने जर्मनी से कड़ा मुकाबला किया और पूर्वी मोर्चे पर अन्त में उसे बुरी तरह से पराजित किया।

6. साम्यवाद का प्रसार—आधुनिक विश्व में साम्यवाद का प्रादुर्भाव एवं प्रसार इस क्रान्ति की देन है। इस क्रान्ति के द्वारा ही कार्ल मार्क्स के विचार प्रसारित हो रहे हैं। यद्यपि रूस में साम्यवाद का प्रभुत्व लगभग समाप्त हो गया है, फिर भी अनेक देशों में आज भी साम्यवाद एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक ताकत है और पश्चिम के देश इस साम्यवाद से भयभीत हैं।

7. पराधीन राष्ट्रों में नवचेतना का संचार—1917 की रूसी क्रान्ति ने एशिया और अफ्रीका के पराधीन देशों को अत्यधिक प्रभावित किया। क्रान्ति ने पराधीन देशों के लोगों में राष्ट्रीयता का संचार कर उन्हें साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा दी और ऐसे संघर्षों को सोवियत संघ ने अपना नैतिक समर्थन दिया। इससे प्रोत्साहित होकर अनेक पराधीन देशों के लोगों ने अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन को और भी तेज कर दिया। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को भी इस क्रान्ति ने प्रोत्साहित किया।

8. यूरोप में तानाशाही शक्तियों का उदय—पश्चिम के पूँजीवादी देशों ने साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को कुचलने का हर सम्भव प्रयास किया। दूसरी तरफ, सोवियत सरकार ने भी पूँजीवादी ताकतों का डटकर मुकाबला किया। पूँजीवाद और साम्यवाद के इस संघर्ष ने तानाशाही शक्तियों को पनपने का अवसर प्रदान कर दिया। मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली में फासिस्टवाद और हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी में नाजीवाद का उदय हुआ। प्रारम्भ में स्थानीय पूँजीवादी एवं प्रतिक्रियावादी ताकतों ने साम्यवाद से भयभीत होकर तानाशाहों को सहयोग एवं समर्थन दिया। बाद में पश्चिमी देशों ने साम्यवाद को रोकने की दृष्टि से तानाशाहों के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाई जिससे तानाशाहों की शक्ति एवं हौसला बढ़ता गया और संसार को दूसरे महायुद्ध का सामना करना पड़ा।

सामाजिक परिणाम

1. समानता की भावना का उदय—सामाजिक असमानता इस क्रान्ति का एक मुख्य कारण थी। क्रान्ति के बाद रूस में एक नये समाज का उदय हुआ जो समानता की भावना पर आधारित था। पुरानी सामाजिक व्यवस्था समाप्त हो गई। पूँजीपति, भूमिपति, धर्माचार्य आदि तत्त्वों का उन्मूलन कर दिया गया। शासन सत्ता पर श्रमिकों एवं कृषक वर्ग का प्रभुत्व कायम हो गया। जारकालीन असमानता के सभी अवशेषों को नष्ट कर दिया गया।

2. शिक्षा का विकास—क्रान्ति के बाद शिक्षा के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व विकास हुआ। जारकालीन शासन व्यवस्था में शिक्षा प्राप्ति का अधिकार एवं सुविधाएँ कुछ ही परिवारों तक सीमित थी। क्रान्ति के बाद सरकार ने शिक्षा का काम अपने हाथ में ले लिया और निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था को लागू किया गया। परिणामस्वरूप 1930 तक रूस की नव्वे प्रतिशत जनता शिक्षित हो गई।

3. स्त्रियों की स्थिति में सुधार—क्रान्ति के फलस्वरूप रूस की स्त्रियों की स्थिति में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। अब उनका कार्यक्षेत्र घर की चारदिवारी तक ही सीमित न रहा। वे कारखानों, सरकारी कार्यालयों और सेना में भी काम करने लगीं। आर्थिक दृष्टि से वे आत्मनिर्भर बन गईं और राजनीतिक क्षेत्र में वे पुरुषों के समान ही सक्रिय भाग लेने लगीं। रूसी स्त्रियों की स्थिति में जो सुधार आया उसका प्रभाव एशिया और अफ्रीका की स्त्रियों पर विशेष रूप से पड़ा और वे भी राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय हुईं।

आर्थिक परिणाम

1. सामन्तों एवं पूँजीपतियों का सफाया—1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद सरकारी अध्यादेशों के अन्तर्गत पूँजीपतियों से उनके कारखाने छीन लिये गये और उनका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। पूँजीपतियों के स्थान पर अब श्रमिकों की प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। इसी प्रकार, रूसी सामन्त प्रथा का भी सफाया कर दिया गया। उनकी जागीरें छीन ली गईं और भूमि को भूमिहीन किसानों में वितरित कर दिया गया। सामन्तों एवं पूँजीपतियों के सफाये से किसानों एवं मजदूरों के शोषण का अन्त हो गया क्योंकि क्रान्ति ने सभी प्रकार के विशेषाधिकारों को भी समाप्त कर दिया था।

2. रोटी की समस्या का समाधान—1917 की क्रान्ति का सूत्रपात रोटी की समस्या को लेकर हुआ था। इसके समाधान की दिशा में पहला कदम रूस को महायुद्ध से अलग करने की दिशा में उठाया गया। इसके बाद सामन्तों से भूमि छीनकर उस भूमि को भूमिहीन किसानों में बाँट दिया गया। युद्ध के दौरान धनसम्पन्न लोगों तथा मुनाफाखोरों ने बहुत बड़ी मात्रा में खाद्य सामग्री का स्टॉक जमा कर रखा था। बोल्शेविक सरकार ने इस प्रकार से जमा खाद्य-सामग्री को जब्त करके निर्धन मजदूरों में बाँट दिया। इसका परिणाम यह निकला कि खाद्य वस्तुओं के भावों में काफी गिरावट आ गई और लोगों को अब भोजन की व्यवस्था की चिन्ता से राहत मिल गई।

3. रूस का औद्योगिक विकास—1917 की क्रान्ति के पूर्व औद्योगिक विकास की दृष्टि से यूरोपीय राज्यों की तुलना में रूस काफी पिछड़ा हुआ देश था। परन्तु क्रान्ति के बाद रूस ने इस क्षेत्र में आश्चर्यजनक उन्नति की। बड़े-बड़े बिजलीघरों और कल-कारखानों को स्थापित किया गया। परिणामस्वरूप उत्पादन की मात्रा इतनी अधिक हो गई कि रूस अपनी घरेलू आवश्यकताओं को पूरी करने के बाद उत्पादित माल का निर्यात करने की स्थिति में आ गया। वह आत्मनिर्भर औद्योगिक राष्ट्र बन गया।

4. पंचवर्षीय योजनाएँ—लेनिन के आर्थिक सुधारों से रूसियों को राहत तो मिली परन्तु वे अधिक उन्नति नहीं कर पाये थे। उसके बाद स्टालिन ने रूस का आर्थिक नक्शा ही बदल

दिया । उसने अपने समय में दो पंचवर्षीय योजनाएँ चालू कीं । उनमें रूस को आशातीत सफलता मिली । परिणाम यह निकला कि रूस विकसित राष्ट्रों की पंक्ति में आ खड़ा हुआ ।

5. वर्ग-संघर्ष की समाप्ति—औद्योगिक विकास के साथ ही वर्ग-संघर्ष भी बढ़ता जाता है । अर्थात् उद्योगपति श्रमिकों का अधिक से अधिक शोषण करने की सोचता है और श्रमिक वर्ग अधिक से अधिक पारिश्रमिक तथा सुविधाओं की माँग करता है । इस प्रकार, दोनों में संघर्ष बढ़ता ही जाता है । परन्तु क्रान्ति के बाद उद्योगपतियों और पूँजीपतियों का सफाया हो जाने से वर्ग-संघर्ष का भी अन्त हो गया । कारखानों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और राष्ट्रीय सरकार "सर्वहारा वर्ग" की सरकार थी ।

6. श्रमिकों के जीवन स्तर में सुधार—1917 की क्रान्ति के पूर्व रूस का श्रमिक वर्ग अत्यधिक दयनीय स्थिति में जीवन यापन करता था । शासन एवं समाज में उसकी कोई मान-मर्यादा एवं प्रतिष्ठा नहीं थी । उसे बहुत कम मजदूरी मिलती थी और गन्दी बस्तियों में जानवरों की भाँति जीवन बिताना पड़ता था । परन्तु क्रान्ति के पश्चात् धीरे-धीरे उसे अपने विकास के लिए आवश्यक साधन उपलब्ध होने लगे जिससे उसका जीवन स्तर भी उन्नत हो गया । राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति ने श्रमिक वर्ग की मान-मर्यादा एवं प्रतिष्ठा को भी बढ़ा दिया ।

क्रान्ति का महत्त्व और प्रभाव

1917 ई. में रूस में दो क्रान्तियाँ हुईं । पहली थी मार्च की क्रान्ति, जिसने जार के निरंकुश शासन के स्थान पर उदारवादी सिद्धान्तों के आधार पर प्रजातन्त्र की स्थापना की । किन्तु यह प्रजातान्त्रिक प्रयोग सफल नहीं हो पाया और नवम्बर में दूसरी क्रान्ति हुई जिसे 'बोल्शेविक क्रान्ति' कहा जाता है । इस बोल्शेविक क्रान्ति ने रूस में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र स्थापित किया । बोल्शेविक क्रान्ति को मानव जाति के इतिहास में एक युगान्तकारी घटना माना जाता है ।

बोल्शेविक क्रान्ति के फलस्वरूप विश्व में पहली बार मार्क्सवादी सिद्धान्तों पर आधारित शासन व्यवस्था कायम की गई, जिसने रूस की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन किया । सामन्तों, उद्योगपतियों और पूँजीपतियों को समाप्त कर दिया गया, उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया गया और किसानों को उनकी आवश्यकतानुसार भूमि प्रदान की गई । रूस के आर्थोडक्स चर्च, जो कि प्रतिक्रिया का गढ़ था, को बन्द करके उसकी सम्पत्ति को जब्त कर लिया गया । जनता के अधिकारों का घोषणा-पत्र प्रकाशित किया गया जिसमें जातीय उत्पीड़न के अन्त, रूस की सभी जातियों की समानता, सर्वसत्ता, आत्मनिर्णय के अधिकार और सभी जातीय व धार्मिक विशेषाधिकारों व प्रतिबन्धों को समाप्त करने की घोषणा भी थी । बोल्शेविक शासन ने निजी लाभ की भावना को समाप्त कर दिया तथा उच्च वर्ग द्वारा निम्न वर्ग के लोगों के शोषण का अन्त कर दिया । इन परिवर्तनों एवं सुधारों के फलस्वरूप रूस की प्रगति का मार्ग प्रशस्त हो गया और आगे चलकर रूस एक विश्वशक्ति के रूप में सामने आया ।

लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक दल का जो निरंकुश शासन (जिसे सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व कहते हैं) स्थापित हुआ, उसके प्रभाव से कई देशों में निरंकुश सरकारों की स्थापना हुई । विश्व के कई देशों में साम्यवादी दलों की स्थापना हुई, जिन्हें रूस से निर्देशन एवं अनुदान

प्राप्त होता रहता था, हालाँकि यह आश्चर्य की बात है कि लेनिन के सभी प्रमुख अनुयायी "साम्यवादी आन्दोलन" के पक्ष में नहीं थे।

रूस की बोल्शेविक क्रान्ति की सफलता से पराधीन राष्ट्रों में साम्राज्यवाद विरोधी भावनाएँ तीव्र होती गईं। एशिया और अफ्रीका के पराधीन देशों के लोगों ने अपने अधिकारों एवं स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए अपने राष्ट्रीय आन्दोलन तेज कर दिये। सोवियत सरकार ने इस प्रकार के आन्दोलनों को हमेशा नैतिक समर्थन दिया।

बोल्शेविक क्रान्ति ने किसानों और मजदूरों की प्रतिष्ठा में वृद्धि की और उनके जीवन को उन्नत एवं सुखप्रद बनाने का पूरा-पूरा प्रयास किया। फलस्वरूप, दुनियाँ भर के मजदूरों में साम्यवादी विचारधारा लोकप्रिय होने लगी जिससे पश्चिम के पूँजीवादी देश भयभीत हो गये। साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने की दृष्टि से अब उन्होंने अपने-अपने देशों के मजदूरों की स्थिति को सुधारने के लिए कई कदम उठाये और राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन' की स्थापना की। इस संगठन के द्वारा संगठित मजदूरों की माँगों को सन्तुष्ट करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक समस्याओं को हल करने का प्रयास किया गया। अन्त में, इस क्रान्ति ने एक ऐसे समाज और सरकार की घोषणा की, जिसका आधार और स्वरूप बिल्कुल नया था। विश्व के अनेक देशों में ऐसे नये समाज की स्थापना के प्रयास आरम्भ हुए और समाजवाद बीसवीं शताब्दी के लोकतन्त्र का मुख्य आधार बन गया। यहाँ तक कि तानाशाह और सेनानायक भी अपनी शासन व्यवस्था को समाजवाद के साथ जोड़ने लगे।

किन्तु इस क्रान्ति से क्रान्तिकारी नेताओं की सभी आकांक्षाएँ पूरी नहीं हो पाईं। लेनिन को आशा थी कि रूस की क्रान्ति के पश्चात् पश्चिमी यूरोप में भी क्रान्ति भड़क उठेगी तथा सम्पूर्ण यूरोप में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित हो जायेगा। इस ध्येय की पूर्ति के लिए 1919 में "कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल" की स्थापना भी की गई। परन्तु पश्चिम के पूँजीवादी देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के विरुद्ध ऊँची-ऊँची दीवारें खड़ी कर दीं, ताकि उनके देशों में "साम्यवाद के रोगाणुओं" का प्रवेश न हो सके। स्वयं बोल्शेविकों द्वारा शुद्ध साम्यवादी सिद्धान्तों के आधार पर राजनीतिक एवं आर्थिक ढाँचा तैयार करने का प्रयोग भी सफल नहीं हुआ। फलतः परिस्थितियों के अनुसार उन्हें अपने सिद्धान्तों में परिवर्तन करना पड़ा।

प्रश्न

1. 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के कारणों एवं परिणामों की विवेचना कीजिये।
2. "रूस में राज्य क्रान्ति बिना महायुद्ध के भी होकर रहती।" इस कथन की समीक्षा कीजिये।
3. बोल्शेविक क्रान्ति में लेनिन की भूमिका का उल्लेख कीजिये।
4. बोल्शेविक क्रान्ति के महत्त्व एवं प्रभाव का मूल्यांकन कीजिये।

अध्याय-16

वर्साय व्यवस्था
(Versailles Settlement)

पेरिस शान्ति सम्मेलन—11 नवम्बर, 1918 को जर्मनी ने युद्ध-विराम सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये और इसी के साथ प्रथम विश्व युद्ध समाप्त हो गया। इसके बाद, पराजित राष्ट्रों के साथ स्थायी समझौते करने के लिए विजयी राष्ट्रों ने पेरिस में शान्ति सम्मेलन आमंत्रित करने का निश्चय किया। सम्मेलन में भाग लेने के लिए 32 राज्यों को आमन्त्रित किया गया। पराजित राज्यों को आमंत्रित नहीं किया गया। फ्रांस के प्रधानमंत्री क्लीमेंशो के विरोध के कारण नवोदित सोवियत रूस को भी आमंत्रित नहीं किया गया। शान्ति सम्मेलन का पहला पूर्ण अधिवेशन 18 जनवरी, 1919 को प्रारम्भ हुआ। क्लीमेंशो को इसका अध्यक्ष चुना गया।

सम्मेलन के कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए दस व्यक्तियों की एक "सर्वोच्च शान्ति परिषद्" गठित की गई। परन्तु कुछ दिनों बाद मार्च, 1919 में यह निर्णय लिया गया कि भविष्य में सन्धियों से सम्बन्धित सभी कार्य "चार व्यक्तियों" की परिषद् करेगी। ये चार व्यक्ति थे—अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन, फ्रांस के प्रधानमंत्री क्लीमेंशो, ब्रिटेन के प्रधानमंत्री लॉयड जॉर्ज और इटली के प्रधानमंत्री ओरलैण्डो। ओरलैण्डो अँग्रेज़ी भाषा से अनभिज्ञ था और कुछ दिनों के बाद उसकी विल्सन से झड़प हो गई और वह स्वदेश लौट गया। इस प्रकार, सम्पूर्ण दायित्व "तीन महान् लोगों" पर आ गया। इन तीन व्यक्तियों ने ही अपनी गोपनीय बैठकों में महत्त्वपूर्ण विषयों पर निर्णय लिए और युद्धोत्तर विश्व का पुनर्निर्माण किया।

शान्ति सम्मेलन के मूल आधार

पराजित राष्ट्रों के साथ किस आधार पर सन्धियाँ की जायँ ? इस प्रश्न पर सम्मेलन में उपस्थित राजनीतिज्ञों के विचारों में भारी मतभेद था। राष्ट्रपति विल्सन आदर्शवादी आधार का समर्थक था। इंगलैण्ड और फ्रांस के राजनीतिज्ञ राजनीतिक यथार्थवाद को आधार बनाना चाहते थे। जापान और इटली जैसे राष्ट्रों की रुचि गुप्त सन्धियों के आधार पर शान्ति-सन्धियाँ करने की थी। बहुत-से राजनीतिज्ञों पर साम्यवादी रूस का आतंक छाया हुआ था। इस प्रकार, शान्ति-निर्माताओं के निर्णयों को प्रभावित करने वाले बहुत-से आधार थे, जिनमें निम्नलिखित मुख्य थे—

1. विल्सन के सिद्धान्त : चौदह सूत्र—युद्धोपरान्त विश्व में अमेरिका सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न राष्ट्र था। अतः शान्ति समझौतों की रचना में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान होना

स्वाभाविक ही था। युद्धकाल में राष्ट्रपति विल्सन ने बार-बार अपने भाषणों के माध्यम से उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिनके आधार पर युद्ध के बाद शान्ति की व्यवस्था (वर्साय व्यवस्था सहित) की जानी चाहिए। उन्होंने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन "चौदह सूत्रों", "चार सिद्धान्तों", "चार लक्ष्यों" एवं "पाँच व्याख्याओं" के माध्यम से किया।

चौदह सूत्र—8 जनवरी, 1918 को अमेरिकी काँग्रेस के समक्ष भाषण करते हुए राष्ट्रपति विल्सन ने अपने सुप्रसिद्ध "चौदह सूत्रों" का प्रतिपादन किया। ये सूत्र निम्नलिखित थे—

(i) खुले ढँग से खुली शान्ति की जाय। गुप्त कूटनीतिक वार्ताओं के आधार पर शान्ति का समझौता न किया जाय।

(ii) युद्ध और शान्ति, दोनों में ही सभी राष्ट्रों को प्रादेशिक जलीय सीमाओं से परे के समुद्रों में आवागमन की पूर्ण स्वतन्त्रता हो।

(iii) सभी प्रकार के आर्थिक प्रतिबन्धों को हटाकर सभी राष्ट्रों में व्यापारिक परिस्थितियों की समानता को स्थापित किया जाय।

(iv) केवल घरेलू सुरक्षा के लिए आवश्यक अस्त्र-शस्त्रों के अतिरिक्त अन्य अस्त्र-शस्त्रों में कमी की जाय जिससे राष्ट्रों के मध्य हथियार-बन्दी की प्रतिस्पर्धा बन्द हो।

(v) जनता की इच्छा और हितों का पूरा ध्यान रखते हुए उपनिवेश सम्बन्धी समस्याओं का उचित एवं निष्पक्ष निर्णय किया जाय।

(vi) रूसी प्रदेशों को खाली कर दिया जाय और राजनीतिक विकास तथा राष्ट्रीय नीति के निर्धारण की उसकी स्वाधीनता को मान्यता दी जाय।

(vii) बेल्जियम के तटस्थीकरण और उसकी प्रभुसत्ता को स्वीकार किया जाय।

(viii) सम्पूर्ण फ्रांसीसी प्रदेश को स्वतन्त्र कर दिया जाय। उसके वे क्षेत्र जिन पर विदेशियों का अधिकार है, उसे लौटा दिये जायें।

(ix) राष्ट्रीयता के स्पष्ट मान्य सिद्धान्त के आधार पर इटली की सीमाओं का पुनर्निर्माण किया जाय।

(x) आस्ट्रिया-हंगरी की विविध जातियों को इस बात का खुला अवसर दिया जाय कि वे स्वायत्त शासन का विकास कर सकें।

(xi) रूमानिया, सर्बिया और माण्टीनीग्रो से विदेशी फौजें हटाली जायँ। उनके जिन प्रदेशों पर अधिकार कर लिया गया है, वे उन्हें लौटा दिये जायँ। सर्बिया को समुद्र तट तक पहुँचने की सुविधा दी जाय।

(xii) तुर्की साम्राज्य को अपने वास्तविक भू-भाग पर बने रहने दिया जाय, परन्तु तुर्की के शासन में रहने वाली अन्य जातियों के स्वतन्त्र राष्ट्रीय विकास का समुचित प्रबन्ध किया जाय। दर्रे दानियाल और बासफोरस जलडमरूमध्य अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के अनुसार सभी देशों के जहाजों और व्यापार के लिए खोल दिये जायँ।

(xiii) एक ऐसे स्वतन्त्र पोल राज्य का निर्माण किया जाय जिसमें पोल जाति के सभी लोग यथा सम्भव सम्मिलित हो सकें। इस राज्य को समुद्र तक पहुँचने का सुरक्षित मार्ग दिया जाय।

(xiv) सभी राष्ट्रों का एक सामान्य संगठन कायम किया जाय जिसके द्वारा बिना किसी भेदभाव के सभी छोटे-बड़े राज्यों को राजनीतिक स्वाधीनता और प्रादेशिक अखण्डता का पारस्परिक आश्वासन प्राप्त हो।

विल्सन ने अपने इन सूत्रों को युद्धरत जर्मनी को भी भिजवाया परन्तु एक लम्बे समय तक उसकी ओर से कोई उत्तर नहीं मिला। संक्षेप में, विल्सन ने शान्ति व्यवस्था के सम्बन्ध में चार प्रमुख बातों पर ज़ोर दिया—लोकतन्त्र, राष्ट्रीयता, आत्म-निर्णय, और राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों का पालन।

2. गुप्त सन्धियाँ—शान्ति सम्मेलन का दूसरा महत्त्वपूर्ण आधार वे गुप्त सन्धियाँ थीं जो युद्धकाल में मित्र राष्ट्रों ने इटली, जापान, चीन, रूमानिया और रूस के साथ की थीं और जिनका उद्देश्य उन राज्यों को अपनी ओर से युद्ध में सम्मिलित करना अथवा युद्ध में उनका सक्रिय सहयोग प्राप्त करना था। इसके अलावा कुछ सन्धियाँ ऐसी भी थीं जिनके द्वारा मित्र राष्ट्रों ने अन्तिम समझौतों के साथ एक-दूसरे की साम्राज्यवादी लिप्सा को पूरा करने में सहयोग देने का आश्वासन दिया था। अब ये राष्ट्र इन गुप्त समझौतों को पूरा करने के लिए आतुर थे।

3. रूस की बोल्शेविक क्रान्ति—1917 की महान् बोल्शेविक क्रान्ति ने भी शान्ति सम्मेलन के निर्णयों को प्रभावित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। पश्चिम की पूँजीवादी व्यवस्था का मानना था कि यदि साम्यवाद को रूसी सीमा तक सीमित न रखा जा सका तो कुछ ही वर्षों में सम्पूर्ण यूरोप उसके प्रभाव में आ जायेगा। इस भय के कारण ही साम्यवादी रूस को शान्ति सम्मेलन में आमंत्रित नहीं किया गया और न ही लूट का कोई हिस्सा दिया गया। उल्टे उसे कमजोर बनाने का प्रयास किया गया, ब्रेस्टलिटोवस्क की सन्धि के द्वारा जर्मनी ने जिन रूसी क्षेत्रों को प्राप्त किया था, वे क्षेत्र रूस को वापस नहीं लौटाये गये और वहाँ छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की गई।

4. बड़ी शक्तियों के राष्ट्रीय हित—बड़ी शक्तियों के राष्ट्रीय हितों ने शान्ति समझौतों को सर्वाधिक प्रभावित किया। उदाहरणार्थ—अमेरिका, यूरोप तथा एशिया में अपने व्यापारिक हितों को सुरक्षित रखना चाहता था। इसके लिए इंगलैण्ड की नौ-शक्ति को कमज़ोर बनाना, चीन में जापानी साम्राज्यवाद को रोकना तथा यूरोप में पंच पद प्राप्त करना जरूरी था। इंगलैण्ड का हित सामुद्रिक शक्ति एवं व्यापारिक प्रतिस्पर्धी के रूप में जर्मनी को समाप्त करना, शक्ति-सन्तुलन को बनाये रखना, यूरोप में फ्रांस को अधिक शक्तिशाली न बनने देना और अधिक से अधिक उपनिवेशों को हस्तगत करके अपने साम्राज्य तथा प्रभाव में वृद्धि करना था। फ्रांस के राष्ट्रीय हित थे—यूरोप में फ्रांस को सर्वोच्च बनाना, जर्मनी को अपंग बना देना, राइन नदी के बायें किनारे तक का क्षेत्र प्राप्त करना, आल्सेस-लॉरेन के साथ-साथ रूहर घाटी पर अधिकार जमाना, और जर्मनी-आस्ट्रिया के भावी एकीकरण को रोकना। इटली की राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाएँ भी काफी बढ़ी-चढ़ी थीं। वह इटालियन भाषा-भाषी सभी क्षेत्रों को प्राप्त करना चाहता था। वास्तव में

वर्साय व्यवस्था तथा अन्य शान्ति समझौतों को तैयार करते समय बड़ी शक्तियों के उपर्युक्त राष्ट्रीय हितों का काफी ध्यान रखा गया था।

5. राष्ट्रीयता का प्रश्न—प्रथम महायुद्ध के परिणामस्वरूप चार विशाल साम्राज्यों का पतन हो गया। अब उन साम्राज्यों की दासता में जकड़े हुए लोग अपने स्वयं के राष्ट्रीय राज्यों की माँग करने लगे जिससे राष्ट्रीयता का प्रश्न अपने आप महत्त्वपूर्ण बनता चला गया। विल्सन के सिद्धान्तों से इस माँग को बल मिला और शान्ति सम्मेलन के निर्णायकों को भी उनकी माँग स्वीकार करनी पड़ी और पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, लिथुआनिया, लेटविया, एस्टोनिया आदि राज्यों का निर्माण किया गया।

6. ब्रेस्टलिटोवस्क की सन्धि—रूस की साम्यवादी सरकार ने अपने देश को युद्ध से पृथक् रखने की दृष्टि से जर्मनी से सन्धि की याचना की और 5 मार्च, 1918 को जर्मनी ने अपनी शर्तों के साथ ब्रेस्टलिटोवस्क की सन्धि कर ली। यह एक प्रकार से आरोपित, काफी कठोर और अपमानजनक सन्धि थी। इससे मित्र राष्ट्रों को स्पष्ट हो गया कि विजयी जर्मनी पराजित राष्ट्रों के साथ कैसा व्यवहार करेगा और उन्हें भी पराजित जर्मनी के साथ वैसा ही कठोर व्यवहार करना चाहिए जैसा कि उसने रूस के साथ किया।

शान्ति समझौते—पराजित देशों के साथ शान्ति समझौते करने में मित्र राष्ट्रों को पाँच वर्ष लग गये। सर्वप्रथम, 28 जून, 1919 को जर्मनी के साथ वर्साय की सन्धि सम्पन्न की गई। तत्पश्चात् 10 सितम्बर, 1919 को आस्ट्रिया के साथ सेण्ट-जर्मेन की सन्धि, 27 नवम्बर, 1919 को बल्गेरिया के साथ न्यूइली की सन्धि, 4 जून, 1920 को हंगरी के साथ ट्रियनों की सन्धि और 10 अगस्त, 1920 को तुर्की के साथ सेव्रे की सन्धि की गई। तुर्की ने इसके विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया तब 23 जुलाई, 1923 को उसके साथ लोसान की नई सन्धि की गई। वर्साय की सन्धि से लेकर बाद में की गयी उपर्युक्त सन्धियाँ अपने संयुक्त रूप में "शान्ति समझौता" कहलाती हैं।

वर्साय की सन्धि (वर्साय व्यवस्था)

7 मई, 1919 को फ्रांस के प्रधानमन्त्री क्लीमेंशो के नेतृत्व में मित्र राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने जर्मन प्रतिनिधि मण्डल को वर्साय सन्धि का प्रारूप सौंप दिया। जर्मन प्रतिनिधि मण्डल अपने विदेश मन्त्री वॉन ब्रोकडोर्फ-रान्जाओं के नेतृत्व में 30 अप्रैल को वर्साय पहुँचा था। जर्मन प्रतिनिधियों को "ट्रायनन पैलेस होटल" में ठहराया गया और इस होटल को कांटेदार तारों से घेर दिया गया था। जर्मन प्रतिनिधियों को किसी भी देश के प्रतिनिधि अथवा पत्रकार से सम्पर्क स्थापित करने से मना कर दिया गया। एक प्रकार से उन्हें नजरबन्द कैदियों की भाँति रखा गया। सन्धि के प्रारूप को देखकर जर्मन प्रतिनिधियों को भारी निराशा हुई। क्योंकि वे इस विश्वास के साथ आये थे कि सन्धि की शर्तें आमने-सामने के वार्तालाप के बाद ही तय होंगी। जर्मन प्रतिनिधियों को कहा गया कि वे तीन सप्ताह के भीतर सन्धि प्रस्तावों पर अपना लिखित वक्तव्य दे दें। सन्धि की शर्तों ने समस्त जर्मन जनता को विचलित कर दिया। जर्मनी के राष्ट्रपति ने इन शर्तों को असह्य, घातक एवं पूर्ति के अयोग्य बताया। इस पर ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री लॉयड जार्ज ने धमकी भरे स्वर में कहा, "जर्मन लोग कहते हैं कि वे सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे। जर्मनी

के राजनीतिज्ञ भी यही बात करते हैं। लेकिन हम लोग कहते हैं कि—महानुभावो ! आपको इस पर हस्ताक्षर करना ही है। अगर आप वर्साय में ऐसा नहीं करते हैं तो आपको बर्लिन में करना ही होगा।" यह स्पष्टतः भावी आक्रमण की चेतावनी थी।

29 मई को जर्मन प्रतिनिधि मण्डल ने वर्साय प्रारूप से सम्बन्धित अपनी आलोचना मित्र राष्ट्रों को प्रस्तुत कर दी। मित्र राष्ट्रों ने प्रारूप में मामूली संशोधन स्वीकार कर लिये और सन्धि का प्रारूप वापस लौटा दिया और यह धमकी भी दी गई कि यदि जर्मनी ने पाँच दिन के अन्दर सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किये तो पुनः युद्ध छेड़ दिया जायेगा। जर्मनी की तत्कालीन शिडमान सरकार ने सन्धि को अस्वीकार करते हुए त्याग-पत्र दे दिया। अन्त में गुस्टावबौर ने नई सरकार बनाई और सन्धि को स्वीकार किया। 28 जून, 1919 को नई सरकार के प्रतिनिधियों ने वर्साय के शीशमहल में सन्धि पर हस्ताक्षर किये। हस्ताक्षर करने के बाद एक जर्मन प्रतिनिधि ने कहा, "हमारे प्रति फैलाई गई उग्र घृणा की भावना से हम आज सुपरिचित हैं। मेरा देश दबाव के कारण आत्म-समर्पण कर रहा है, किन्तु वह यह कभी नहीं भूलेगा कि यह अन्यायपूर्ण सन्धि है।"

वर्साय की सन्धि में 15 भाग, 439 धाराएँ और लगभग 80,000 शब्द थे। इस सन्धि-पत्र में जर्मनी के साथ की गई व्यवस्थाओं के अतिरिक्त राष्ट्रसंघ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का संविधान तथा उससे सम्बन्धित व्यवस्थाएँ भी सम्मिलित थीं।

राष्ट्रसंघ सम्बन्धी प्रसंविदा—राष्ट्रसंघ का निर्माण पेरिस शान्ति सम्मेलन की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी और वर्साय सन्धि का एक अभिन्न अंग था। वर्साय सन्धि के प्रथम भाग का सम्बन्ध राष्ट्रसंघ के गठन से ही है। इसका विवरण आगे दिया गया है।

प्रादेशिक व्यवस्था—वर्साय सन्धि की प्रादेशिक व्यवस्था के अनुसार—

1. आल्सेस-लोरेन के प्रदेश जर्मनी से छीनकर पुनः फ्रांस को दे दिये गये।
2. जर्मन आक्रमण से बेल्जियम को जो क्षति पहुँची थी, उसकी पूर्ति के लिये मार्सनेट, यूपेन और मालमेडी के जर्मन गाँव बेल्जियम को सौंप दिये गये।
3. उत्तरी जर्मनी के श्लेसविग प्रान्त में जनमत संग्रह करवाया गया और उसके आधार पर उत्तरी श्लेसविग डेन्मार्क को दे दिया गया। दक्षिणी श्लेसविग जर्मनी के पास ही रखा गया।
4. जर्मनी के सार प्रदेश पर राजनैतिक सर्वोच्च सत्ता तो जर्मनी की ही मानी गई परन्तु उसकी शासन-व्यवस्था राष्ट्रसंघ के एक आयोग को सौंपी गई। 15 वर्ष बाद, उस क्षेत्र के भाग्य का निर्णय जनमत संग्रह द्वारा करने की व्यवस्था की गई। सार प्रदेश की कोयला खानों पर फ्रांस का स्वामित्व स्वीकार किया गया। यह व्यवस्था भी की गई कि यदि 15 वर्ष बाद सार की जनता जनमत संग्रह द्वारा जर्मनी के साथ मिलने की इच्छा व्यक्त करे तो जर्मनी, फ्रांस को निश्चित मूल्य देकर इन कोयला खानों को पुनः खरीद ले।
5. जर्मनी को पूर्वी सीमा पर सबसे अधिक हानि उठानी पड़ी। उसे पश्चिमी प्रशा, पोजन तथा साइलेशिया का एक बड़ा भाग पोलैण्ड को सौंपना पड़ा। इस व्यवस्था से नवनिर्मित पोलैण्ड को बाल्टिक सागर तक एक गलियारा मिल गया परन्तु इससे पूर्वी प्रशा का जर्मन क्षेत्र शेष जर्मनी से अलग-थलग पड़ गया।

6. जर्मनी के डेन्जिग बन्दरगाह तथा नगर एवं उसके आसपास का 700 वर्गमील का क्षेत्र राष्ट्रसंघ के नियन्त्रण में रखा गया और डेन्जिग को एक स्वतन्त्र नगर बना दिया गया। एक अन्य सन्धि के द्वारा उसे पोलैण्ड के साथ एक चुँगी संघ में शामिल कर दिया गया और इस क्षेत्र के वैदेशिक सम्बन्ध पोलैण्ड को सौंप दिये गये।
7. जर्मनी के मेमल बन्दरगाह और उसके आसपास का क्षेत्र लुथिआनिया को दे दिया गया।
8. दक्षिण में जर्मनी को अपना एक छोटा-सा क्षेत्र चेकोस्लोवाकिया को सौंपना पड़ा।
9. राइनलैण्ड प्रदेश में आगामी 15 वर्षों तक मित्र राष्ट्रों की सेना रखने का फैसला किया गया।
10. राइन नदी के बायें तट का तथा 50 किलोमीटर तक दायें तट का पूरी तरह से निःशस्त्रीकरण कर दिया गया। जर्मनी को अपने इस क्षेत्र में किसी भी प्रकार की किलेबन्दी करने से मना कर दिया गया। ऐसा फ्रांस की सुरक्षा के आधार पर किया गया।

    वर्साय की इस प्रादेशिक व्यवस्था के परिणामस्वरूप जर्मनी को यूरोप में 25,000 वर्गमील का क्षेत्र तथा लगभग 70 लाख नागरिकों से हाथ धोना पड़ा। इसके अलावा उसे 65 प्रतिशत कच्चे लोहे, 45 प्रतिशत कोयले, 72 प्रतिशत जस्ते और 57 प्रतिशत रांगे के बहुमूल्यवान भण्डारों से हाथ धोना पड़ा।

11. जर्मनी का समस्त औपनिवेशिक साम्राज्य छीनकर राष्ट्रसंघ के नियन्त्रण में रख दिया गया। राष्ट्रसंघ ने जर्मन उपनिवेशों को अधिदेश पद्धति (मैंडेट सिस्टम) के अन्तर्गत इंगलैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम, दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और जापान को सौंप दिया। इसके अलावा चीन के शाण्टुंग क्षेत्र में जर्मनी के सभी अधिकार जापान को सौंप दिये गये। इस प्रकार, जर्मनी को 90 लाख वर्गमील की भूमि तथा एक करोड़ तीस लाख की जनसंख्या वाले उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा जिससे उसकी आर्थिक स्थिति पूरी तरह से लड़खड़ा गई।

सैनिक व्यवस्था—फ्रांस की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए वर्साय व्यवस्था में जर्मनी की सैनिक शक्ति को पंगु बनाने का प्रयास किया गया। मुख्य व्यवस्था इस प्रकार की गई—

1. जर्मनी को अनिवार्य सैनिक सेवा समाप्त करने को कहा गया। यह व्यवस्था की गई कि 31 मार्च, 1920 के बाद कम से कम 12 वर्ष के लिए जर्मनी अपनी स्थल सेना में एक लाख से अधिक सैनिक नहीं रख सकेगा। यह शर्त भी रखी गई कि जर्मन सैन्य अधिकारियों को कम से कम 25 वर्ष तक और सैनिकों को 12 वर्ष तक सैनिक सेवा में रहना पड़ेगा। यह व्यवस्था भी की गई कि जर्मनी एक वर्ष की अवधि में 5 प्रतिशत से अधिक सैनिकों को नहीं हटायेगा। ऐसा करने का उद्देश्य जर्मनी द्वारा अधिक से अधिक लोगों को सैनिक प्रशिक्षण देने से रोकना था।
2. जर्मनी के प्रधान सैनिक कार्यालय को बन्द कर दिया गया और उसकी पुनर्स्थापना पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इसके साथ ही जर्मनी में अस्त्र-शस्त्र, गोला-बारूद तथा अन्य युद्ध-सामग्री का उत्पादन सीमित कर दिया गया।

3. सभी प्रकार के टैंकों, भारी तोपों, सैनिक गाड़ियों तथा लड़ाकू वायुयानों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। जर्मनी की वायुसेना को पूर्णतः समाप्त कर दिया गया।
4. जर्मनी की नौसैनिक शक्ति को भी सीमित कर दिया गया। जर्मनी को अब 10 हजार टन के 6 युद्ध पोतों, 5 क्रूजरों, 12 विध्वंसक पोतों और 12 तारपीडो नौकाओं से अधिक रखने की मनाही कर दी गई। जर्मनी को पनडुब्बी रखने का निषेध कर दिया गया और मौजूदा पनडुब्बियाँ मित्र राष्ट्रों को सौंपने अथवा उन्हें नष्ट करने को कहा गया। नौ-सेना के सैनिकों तथा अधिकारियों की संख्या 15,000 तक सीमित कर दी गई। नये लड़ाकू जहाज बनाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। हेलिगोलैण्ड बन्दरगाह की किलेबन्दी पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। जर्मनी को बाल्टिक तथा उत्तरी समुद्र तट पर किलेबन्दी करने से भी मना कर दिया गया।
5. राइन नदी के बायें पर तथा दायें किनारे से 50 किलोमीटर भीतर तक के क्षेत्र का असैनिकीकरण कर दिया गया। इस क्षेत्र में स्थायी अथवा अस्थायी तौर पर सेना रखने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इस क्षेत्र में किलेबन्दी का भी निषेध किया गया।
6. वर्साय सन्धि की निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी धाराओं का जर्मनी पालन कर रहा है अथवा नहीं, इसकी जाँच के लिए मित्र राष्ट्रीय आयोगों की स्थापना की गई। इन आयोगों को व्यापक अधिकार दिये गये तथा इनकी व्यवस्था जर्मनी के व्यय पर की गई।

संक्षेप में, जर्मनी की सैनिक शक्ति को कुचल कर उसे कमजोर बनाने में मित्र राष्ट्रों ने कोई कसर बाकी नहीं रखी। इस सन्दर्भ में ई.एच. कार ने लिखा है कि, "जर्मनी का जिस कठोरतापूर्वक और सम्पूर्ण रूप से निःशस्त्रीकरण किया गया, उतना और किसी देश का कभी नहीं किया गया था। इसका उल्लेख लिखित रूप में प्राप्त आधुनिक इतिहास में नहीं मिलता।"

आर्थिक व्यवस्था—वर्साय व्यवस्था के अन्तर्गत जो आर्थिक व्यवस्था की गई, उसकी मुख्य बातें इस प्रकार थीं—

1. क्षतिपूर्ति का स्वरूप और कुल वसूल की जाने वाली धनराशि का अन्तिम निर्णय का काम एक "क्षतिपूर्ति आयोग" को सौंपा गया और उसे 1 मई, 1921 तक अपनी रिपोर्ट देने को कहा गया। आयोग को वार्षिक किश्तों की राशि तथा अदायगी का ढँग तय करने को भी कहा गया।
2. आयोग की रिपोर्ट आने से पहले जर्मनी को 5 अरब डालर मूल्य का सोना, जहाज, अमानत, माल आदि मित्र राष्ट्रों को अदा करने के लिए कहा गया।
3. आयोग के माँग करने पर जर्मनी को पाँच वर्षों तक मित्र राष्ट्रों को 20 लाख टन वजन तक जहाज बना कर प्रतिवर्ष देने पड़ेंगे और यदि जर्मनी ऐसा नहीं कर पाता है तो आयोग को अपनी इच्छानुसार कार्यवाही करने का अधिकार होगा।
4. जर्मनी 1600 अथवा इससे अधिक टन भार ढोने की क्षमता वाले सभी व्यापारिक जहाज मित्रराष्ट्रों को सौंप दे।

5. क्षतिपूर्ति के अन्तर्गत जर्मनी फ्रांस को 70 लाख टन कोयला प्रतिवर्ष के हिसाब से दस वर्ष तक देगा। इसी प्रकार, बेल्जियम को 80 लाख टन प्रतिवर्ष के हिसाब से और इटली को 45 लाख टन प्रतिवर्ष देगा। इस कोयले की कीमत सम्बन्धित राष्ट्र अदा करेंगे। कोयले कीमत को जर्मनी से मिलने वाली क्षतिपूर्ति की राशि में से कम कर दी जायेगी। यह भी व्यवस्था की गई कि जर्मनी आगामी तीस वर्षों में फ्रांस को 30,000 टन अमोनिया सल्फेट; 35,000 टन वेल्जोल और 50,000 टन कोलतार देगा। इनका मूल्य भी क्षतिपूर्ति की राशि में से कम कर दिया जायेगा।
6. युद्धकाल में मित्रराष्ट्रों के जो क्षेत्र क्षतिग्रस्त हुए, उनके पुनर्निमाण के लिए जर्मनी ने आवश्यक मात्रा में मशीनें, औजार, पत्थर, ईंटें, लकड़ी का सामान, स्टील, सीमेन्ट, चूना आदि देने का वचन दिया। फ्रांस और बेल्जियम को भारी संख्या में पशुधन—गाय, बैल, भेड़ें, बकरियाँ, घोड़े आदि देना भी स्वीकार किया।
7. जर्मन उपनिवेशों तथा मित्रराष्ट्रों में जर्मनी की जो सरकारी पूँजी थी, उसे जब्त करने की व्यवस्था की गई। मोरक्को, मिस्र और चीन में जर्मनी को जो व्यापारिक विशेषाधिकार मिले हुए थे वे सब समाप्त कर दिये गये।
8. जर्मनी को अपने पनडुब्बी-बेतार के तार मित्र राष्ट्रों को सौंपने के लिए विवश किया गया।
9. स्विट्ज़रलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया, जो चारों ओर स्थल से घिरे हुए हैं को समुद्र तट तक पहुँचने की सुविधा देने की दृष्टि से जर्मनी की एल्ब, ओडर, नीमन और डेन्यूब नदियों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। इस प्रकार जर्मनी की विख्यात कील नहर को भी सभी देशों के जहाजों के लिए खोल दिया गया। चेकोस्लोवाकिया को जर्मनी के बन्दरगाहों हैम्बर्ग और स्टैडिन को उपयोग में लाने की सुविधा दी गई।
10. युद्धकाल में बेल्जियम ने मित्रराष्ट्रों से जो कर्ज लिया था, उस कर्ज का भार जर्मनी पर डाल दिया गया और उसे उस कर्ज के बराबर धनराशि बेल्जियम को चुकाने को कहा गया।
11. 1870-71 के फ्रांस-प्रशा युद्ध तथा प्रथम विश्व युद्ध में जर्मन अधिकारी फ्रांस तथा बेल्जियम से जो विजयोपहार, अभिलेख, ऐतिहासिक स्मारिकाएँ या कलाकृतियाँ ले गये थे—वे सब लौटाने को कहा गया।

कानूनी व्यवस्था—भूतपूर्व जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय को सार्वजनिक तौर पर अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता तथा सन्धियों की पवित्रता का उल्लंघन करने का दोषी ठहराया गया तथा उस पर मुकदमा चलाने के लिए पाँच न्यायाधीशों की एक विशेष अदालत कायम की गई। परन्तु नीदरलैण्ड की सरकार ने अपने राजनैतिक शरणार्थी (विलियम द्वितीय) को सौंपने से इन्कार कर दिया, इसलिए उसके विरुद्ध मुकदमा नहीं चलाया जा सका। परन्तु लगभग 100 जर्मनों पर सैनिक न्यायालयों में मुकदमा चलाया गया। सुनवाई के बाद केवल 12 जर्मन अधिकारियों को दोषी पाया गया और उन्हें साधारण सजाएँ दी गईं।

अन्य व्यवस्थाएँ—युद्धकाल में जर्मनी और रूस के मध्य सम्पन्न ब्रेस्टलिटोवस्क की सन्धि को अमान्य ठहराया गया। बेल्जियम, पोलैण्ड, यूगोस्लाविया और चेकोस्लोवाकिया की

स्वतन्त्रता को मान्यता दी गई। जर्मनी को कहा गया कि वह अपनी सेनाओं को अपनी नई सीमाओं के अन्तर्गत रखे। सन्धि की शर्तों को पूरा कराने के लिए राइन के पश्चिम स्थित जर्मन क्षेत्र में मित्रराष्ट्रों की सेना को नियुक्त करने की व्यवस्था की गई। यह व्यवस्था 15 वर्षों के लिए थी परन्तु मित्रराष्ट्रों ने जून, 1930 तक अपनी सेनाएँ हटा लीं।

वर्साय व्यवस्था का जर्मनी पर प्रभाव—वर्साय व्यवस्था ने जर्मनी को राजनीतिक, आर्थिक एवं सैनिक दृष्टि से पंगु राष्ट्र बना दिया। लैंगसम ने लिखा है कि, "इससे यूरोप में जर्मन प्रदेश का आठवाँ भाग और लगभग 70 लाख जनसंख्या कम हो गई; उसके सारे उपनिवेश, 15 प्रतिशत कृषि भूमि, 12 प्रतिशत मवेशी और 10 प्रतिशत कारखाने छिन गये। उसके व्यापारिक जहाज 57 लाख टन से घट कर 5 लाख टन रह गये। इंगलैण्ड से टक्कर लेने की क्षमता रखने वाली उसकी नौ-सेना बिल्कुल नष्ट हो गई और स्थल सेना भी एक लाख सैनिकों तक सीमित कर दी गई। उसे अपने कोयले के 2/5वें भाग से, लोहे के 2/3रे भाग से, जस्ते के 7/10 वें भाग से तथा सीसे के आधे से अधिक भाग से वंचित होना पड़ा। वर्साय की प्रादेशिक व्यवस्थाओं ने उसके उद्योग-धन्धों और व्यापार को विनष्ट कर दिया। उपनिवेशों के छिन जाने से उसे रबड़ एवं तेल की भारी कमी का सामना करना पड़ा। क्षतिपूर्ति के लिए उसने कोरे चेक पर हस्ताक्षर कर दिये।" वर्साय सन्धि से होने वाले इस महाविनाश को जर्मन जनता कभी न भुला सकी।

वर्साय सन्धि की आलोचना

वर्साय की सन्धि का अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग अर्थ है। एक ओर मित्रराष्ट्रों के पक्षधर इसमें लोकतन्त्र, राष्ट्रीय आत्म-निर्णय, न्याय, कानून का शासन और सैनिकवाद के विरुद्ध सुरक्षा की विजय समझते थे, वहीं दूसरी ओर कुछ लोग इसे प्रतिशोध की प्रवृत्ति, आर्थिक अवास्तविकता और राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों पर जुल्म का प्रतीक मानते थे। वस्तुतः यह सन्धि आदर्शवादिता और नैतिकता—दोनों का सम्मिश्रण थी और इसके साथ इसमें पुरानी शक्ति-प्रतिद्वन्द्विता (Power Politics) का भी पुट था। इस सन्धि से जिन लोगों को लाभ हुआ उन्होंने इसमें राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के स्वप्न को साकार होते देखा और जिन्हें क्षति पहुँची, उन्होंने इसे दुःखपूर्ण एवं आरोपित सन्धि कहा।

लॉयड जॉर्ज ने ब्रिटिश संसद में कहा था कि, "प्रस्तावित सन्धि को जर्मनी के साथ किसी प्रकार का अन्याय नहीं कहा जा सकता। इस सन्धि पर केवल वही अन्याय का आरोप लगा सकता है जो जर्मनी के युद्ध कार्यों को भी न्यायसंगत ही समझता हो।" गैथोर्न हार्डी ने तो यहाँ तक कहा है कि, "ऐसे आदर्श स्वरूप की शान्ति सन्धि आज तक कभी नहीं की गई।" इसके विपरीत अनेक विद्वान वर्साय सन्धि की कटु आलोचना करते हैं। लार्ड फिलिप स्नोडेन के अनुसार, "यह सन्धि लुटेरों, साम्राज्यवादियों और सैन्यवादियों को सन्तुष्ट कर देगी, परन्तु जो यह आशा लगा रहे थे कि युद्ध का अन्त होने पर शान्ति का राज हो जायेगा, उनकी आशाओं पर तो इसने पाला डाल दिया। यह एक शान्ति सन्धि नहीं है, वरन् दूसरे युद्ध की घोषणा है। यह लोकतन्त्र के प्रति और युद्ध के शहीदों के प्रति विश्वासघात है।" पं. जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, "मित्र

राष्ट्र घृणा और प्रतिशोध की भावना से भरे हुए थे और वे पौण्ड भर मांस (Pound of Flesh) ही नहीं चाहते थे अपितु जर्मनी के अधमरे शरीर से खून की आखरी बूँद तक ले लेना चाहते थे।"

वस्तुतः वर्साय सन्धि में अनेक दोष थे और सन्धि के निर्माता भी उससे अधिक सन्तुष्ट नहीं थे। दक्षिण अफ्रीका के प्रधानमन्त्री जनरल स्मट्स ने तो स्पष्ट कहा था कि, "मैंने सन्धि पर इसलिए हस्ताक्षर किया है कि मैं युद्ध की स्थिति का अन्त देखना चाहता हूँ।" राष्ट्रपति विल्सन ने भी स्वीकार किया कि यूरोप के मौजूदा उत्तेजित वातावरण में एक अच्छी सन्धि करना असम्भव था। वर्साय सन्धि पर लगाये गये प्रमुख आरोप इस प्रकार हैं—

1. अपमानजनक एवं कठोर शर्तें—वर्साय सन्धि की शर्तें अत्यधिक कठोर एवं अपमानजनक थीं और उनकी पूर्ति होना असम्भव था। सन्धि-निर्माताओं का मूल उद्देश्य जर्मनी को सदैव के लिए पंगु बनाकर उसे एक सबक सिखाना था। लॉयड जॉर्ज ने स्पष्ट कहा था कि, "इस सन्धि की धाराएँ युद्ध में मृत शहीदों के खून से लिखी गई हैं। जिन लोगों ने इस युद्ध को शुरू किया था उन्हें दुबारा ऐसा न करने की शिक्षा अवश्य देनी है।" इससे साफ जाहिर है कि सन्धि की शर्तें प्रतिशोध की भावना से प्रेरित हो कर बनाई गई थीं। जर्मनी पर हर्जाने की विशाल धनराशि थोप दी गई जिसे वह अदा नहीं कर सकता था। उसे अपमानजनक ढँग से निःशस्त्र किया गया जबकि मित्र राष्ट्र सशस्त्र बने रहे। उसके समस्त उपनिवेश छीन लिये गये। यूरोप में भी उसका बहुत बड़ा भू-भाग छीन लिया गया। 15 वर्ष के लिए उसका सार का प्रदेश भी ले लिया गया और युद्ध का सारा दोष उसके मत्थे थोप कर उसका प्रबल राष्ट्रीय अपमान किया गया। इसी प्रसंग में चर्चिल ने कहा था कि, "इतिहास इस लेन-देन को पागलपन की संज्ञा प्रदान करेगा।" ऐसी अपमानजनक एवं कठोर शर्तें दुनिया का कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र अधिक समय तक सहन नहीं कर सकता था और इससे मुक्त होने का एक ही रास्ता था, वह था भावी युद्ध में सफलता प्राप्त करना। इस प्रकार, वर्साय की सन्धि ने द्वितीय विश्व युद्ध के बीज बो दिये थे।

2. एक पक्षीय समझौता—वर्साय की सन्धि का एक प्रमुख दोष यह था कि इसकी शर्तें एक-पक्षीय थीं। सन्धि की शर्तें केवल मित्रराष्ट्रों द्वारा तैयार की गई थीं और जर्मन प्रतिनिधियों से विचार-विमर्श नहीं किया गया। उन्हें केवल हस्ताक्षर करने अथवा युद्ध को पुनः छेड़ने की धमकी भरा आदेश दिया गया था। जर्मनी पर जो शर्तें लादी गईं उन शर्तों से मित्रराष्ट्रों को मुक्त रखा गया, जैसे कि—निःशस्त्रीकरण। इसी प्रकार, युद्धकाल में दोनों पक्षों द्वारा क्रूर कृत्य किये गये परन्तु अभियोग केवल जर्मन लोगों पर ही चलाये गये। जर्मनी के समस्त उपनिवेश छीन लिये गये परन्तु मित्रराष्ट्रों के पास उपनिवेश बने रहे। इस सम्बन्ध में एडम्स गिबन्स ने लिखा है कि, "पारस्परिकता के अभाव में यह एक शक्ति की शान्ति थी।"

3. आरोपित सन्धि—वर्साय की सन्धि को एक आरोपित सन्धि कहा जाता है। यह सन्धि मित्रराष्ट्रों द्वारा जर्मनी पर बलात् थोपी गई थी। यह एक प्रकार का आदेश था जिस पर हस्ताक्षर के अतिरिक्त जर्मनी के पास और कोई विकल्प नहीं था। सन्धि पर विचार-विमर्श करना तो दूर रहा, हस्ताक्षर करवाने के लिए भी जर्मन प्रतिनिधियों को अपराधियों की भाँति पहरे में

लाया-ले जाया गया। इस सार्वजनिक अपमान से पीड़ित जर्मन जनता वर्साय सन्धि को प्रारम्भ से ही आरोपित सन्धि मानती रही और नैतिक दृष्टि से इसका पालन करने के लिए अपने आपको बाध्य अनुभव नहीं किया। इस सन्दर्भ में ई.एच. कार ने लिखा है, "इन अनावश्यक अपमानों के, जिनका औचित्य केवल यही हो सकता है कि युद्ध की तीव्र कटुता अब भी अवशिष्ट थी, जर्मनी में व अन्यत्र व्यापक मनोवैज्ञानिक परिणाम हुए।" लार्ड ब्राइस ने भी ब्रिटिश संसद में कहा था कि, "शान्ति केवल सन्तोष से ही हो सकती है, किन्तु इन सन्धियों के परिणाम राष्ट्रों को असन्तुष्ट बनाया है। फलस्वरूप इनके स्वाभाविक परिणाम क्रान्तियाँ और युद्ध होंगे।"

4. राजनीतिज्ञों की शान्ति—वर्साय की सन्धि द्वारा स्थापित शान्ति की चर्चा करते हुए जनरल स्मट्स ने कहा था कि यह सन्धि राजनीतिज्ञों की शान्ति थी, जनसाधारण की नहीं। इस सन्धि में नवीन जीवन का आश्वासन, महान मानवीय आदर्शों, नवीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था तथा न्यायसंगत एवं श्रेष्ठ विश्व के निमित्त जन-आकांक्षाओं की पूर्ति का उल्लेख नहीं था। इसमें ऐसी प्रादेशिक व्यवस्थाएँ थीं जिनमें संशोधन की सख्त आवश्यकता थी। इसमें ऐसी क्षतिपूर्तियों का समावेश किया गया जिन्हें यूरोप के औद्योगिक पुनरुत्थान को गम्भीर हानि पहुँचाये बिना पूरा करना सम्भव नहीं था। इससे जनसाधारण को वास्तविक शान्ति उपलब्ध नहीं हो पाई। सन्धि के द्वारा स्थापित आर्थिक व्यवस्था को चर्चिल ने, "मूर्खतापूर्ण" कहा। मार्शल फौच ने तो भविष्यवाणी कर दी थी कि, "वर्साय की सन्धि शान्ति-सन्धि नहीं बल्कि बीस वर्षों के लिए एक युद्ध-विराम की सन्धि है।" उनकी भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई।

5. कमजोर राजनीतिक व्यवस्था—वर्साय सन्धि के परिणामस्वरूप यूरोप में जो एक नवीन राजनीतिक व्यवस्था अस्तित्व में आई, वह काफी कमजोर सिद्ध हुई। आत्म-निर्णय के आधार पर अनेक छोटे-छोटे नवीन राष्ट्रों का निर्माण किया गया। परन्तु इन राष्ट्रों के पास अपनी स्वतन्त्रता को बनाये रखने अथवा अपनी आन्तरिक समस्याओं को हल करने योग्य साधन तथा सामर्थ्य नहीं था। आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया, एस्थोनिया, लटेविया, लिथुआनिया आदि राष्ट्र शुरू से ही अनेक प्रकार की समस्याओं से घिरे रहे। हंगरी, बल्गेरिया, रूमानिया आदि देश काफी निर्बल हो चुके थे। इन छोटे राष्ट्रों के दोनों तरफ दो बड़े असन्तुष्ट देश जर्मनी और रूस थे। चूँकि छोटे राष्ट्रों के पास इन बड़े राष्ट्रों का मुकाबला करने की शक्ति नहीं थी, अतः अवसर मिलते ही इन बड़े राष्ट्रों ने उन्हें हड़पने अथवा उन पर हावी होने के प्रयत्न शुरू करके वर्साय व्यवस्था को मृतप्राय बना दिया।

6. विश्वासघाती सन्धि—जर्मनी का कहना था कि उसने विल्सन के चौदह सूत्रों को आधार मानकर आत्मसमर्पण किया था। परन्तु वर्साय सन्धि में इनका उल्लंघन करके जर्मनी के साथ जबरदस्त विश्वासघात किया गया। विल्सन ने इस चौदह-सूत्री योजना के आधार पर शत्रु राष्ट्रों से सन्धि करने की अपील की थी। परन्तु जब तक जर्मनी को अपनी पराजय का पूर्ण विश्वास नहीं हो गया तब तक उसने विल्सन की अपील पर ध्यान ही नहीं दिया। चौदह सूत्रों के प्रति जर्मनी का रुख प्ररम्भ से ही नकारात्मक रहा और प्रत्यक्ष प्रमाण रूस के साथ की गई ब्रेस्टलिटोवस्क की सन्धि और रूमानिया के साथ की गई सन्धि है। इन सन्धियों ने मित्रराष्ट्रों को क्रोधित कर

दिया था और उन्होंने यह तय कर लिया था कि अपने हितों के लाभ की दृष्टि से चौदह सूत्रों में आवश्यक संशोधन किये जायेंगे। अतः जब जर्मनी ने चौदह सूत्रों को स्वीकार किया तब तक चौदह विन्दुओं का कायाकल्प हो चुका था।

सामान्य समीक्षा—वर्साय की सन्धि प्रमुख प्रजातान्त्रिक राष्ट्रों के चुने हुए प्रतिनिधियों का काम था और उन्होंने जहाँ तक सम्भव हो सका अपने उत्तरदायित्व को निभाने का प्रयत्न किया। उनके कार्यों की आलोचना करने के पूर्व हमें उन परिस्थितियों को विस्मृत नहीं करना चाहिए जिनके अन्तर्गत उन्हें कार्य करना पड़ा था। यहीं पर हमारे सामने एक प्रश्न भी उठ खड़ा होता है कि क्या 1919 में निर्धारित की जाने वाली किसी भी स्वरूप और चरित्र वाली सन्धि के द्वारा एक स्थायी शान्ति की व्यवस्था की आशा की जा सकती थी ?

किसी भी प्रसंग में यह अवश्य याद रखना चाहिए कि 1919 को संसार अन्तर्राष्ट्रीय घृणा से ग्रस्त था, ऐसी घृणा जिससे संसार अभी तक अनभिज्ञ था क्योंकि इससे पूर्व विश्वव्यापी पैमाने पर इतना विनाशकारी महायुद्ध नहीं लड़ा गया था। इस विनाश ने मानव समाज की सम्पूर्ण बौद्धिक प्रतिभा को अपने जाल में फँसा लिया था और वह युद्ध को आहूत करने वालों के सर्वनाश के लिए तैयार हो चुकी थी। इस नाते शान्ति सन्धियों को दोषी नहीं ठहरा सकते।

परन्तु दूसरे पक्ष के लोग वर्साय सन्धि का दूसरा ही चित्र प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि शान्ति समझौते अस्थायी आश्वासनों से परिपूर्ण थे। वे यत्र-तत्र बिखरे आदर्शवाद और प्रभावकारी भौतिकवाद के मिश्रित रूप के प्रतीक थे। लॉन्सिग के शब्दों में, "शर्तें अधिक कड़ी और अपमानजनक थीं और उनमें से अधिकांश शर्तें ऐसी थीं जिन्हें कार्यान्वित किया जाना, मेरी दृष्टि में असम्भव था।" इसी प्रकार, कीन्स ने क्षतिपूर्ति की कठोर शर्तों के कारण ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल से अपना त्याग-पत्र देते हुए इसे, "नृशंसतापूर्ण प्रतिशोधात्मक शान्ति" की संज्ञा दी। सन्धियों पर हस्ताक्षर करने के बाद जनरल स्मट्स ने कहा था कि, "मैंने सन्धि पर इस कारण हस्ताक्षर नहीं किये कि मैं उसे समस्याओं का एक सन्तोषजनक समाधान मानता हूँ, पर इस कारण कि युद्ध को किसी न किसी प्रकार समाप्त कर देना आवश्यक हो गया था। हमने अब तक उस वास्तविक शान्ति को प्राप्त नहीं किया है जिसकी ओर हमारे नागरिक टकटकी लगाये देख रहे हैं।"

शान्ति सन्धियों पर कई दोषों का आरोप लगाया गया है। एक तो यह कि शान्ति व्यवस्था में उन कई आश्वासनों और सिद्धान्तों, जिनको ठीक ढँग से व्यवहार में नहीं लाया जा सकता था, को सम्मिलित करके बुद्धिमानी का काम नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ, सैद्धान्तिक दृष्टि से जनता के आत्म-निर्णय के अधिकार की प्रशंसा की जा सकती है परन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में इस सिद्धान्त ने जितनी समस्याओं का समाधान किया उससे कहीं अधिक नूतन समस्याओं को जन्म भी दिया और ये समस्याएँ प्रतिशोध लेने वाले राष्ट्रों के नारे बन गईं। इसी प्रकार, शान्ति व्यवस्था में मित्र राष्ट्रों ने अपने ऊपर जो प्रतिबन्ध लगाये थे और जिनको निभाना कठिन था, उन्हें सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए था, जैसा कि निःशस्त्रीकरण। आर्थिक धाराओं की कठोरता की चर्चा हम कई बार कर चुके हैं। इन सबसे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि केवल धमकी के द्वारा किसी देश पर कोई भी सन्धि कारगर सिद्ध नहीं हो सकती।

क्या वर्साय व्यवस्था द्वितीय विश्व युद्ध का कारण थी ?

जर्मन जनता के लिए वर्साय व्यवस्था एक राष्ट्रीय अभिशाप थी। इस प्रकार की कठोर एवं अपमानजनक व्यवस्था को कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र एक लम्बे समय तक बर्दाश्त नहीं कर सकता था। अतः यह स्वाभाविक ही था कि जर्मनी अपने अपमान को धोने के लिए पुनः युद्ध की तैयारी करे। जर्मनी की कैथोलिक सेन्टर पार्टी के एर्जबर्गर ने विराम सन्धि के समय कहा था कि, "जर्मन जाति कष्ट सहेगी, परन्तु मरेगी नहीं।" मित्रराष्ट्रों के अनेक नेता भी इस सत्य से सुपरिचित थे। फ्रांस के क्लीमेंशो ने 1919 में ही कहा था, "6 महीने में, एक साल में, पाँच साल में, जब वे चाहेंगे हम पर पुनः आक्रमण करेंगे।" इसी प्रकार, मार्शल फौच ने कहा था कि, "वर्साय की सन्धि, सन्धि नहीं अपितु 20 वर्षों के लिए एक विराम-सन्धि है।" दोनों नेताओं की भविष्यवाणियाँ सत्य सिद्ध हुईं। जर्मनी को जैसे-जैसे अवसर मिलता गया, वह वर्साय सन्धि की शर्तों का अतिक्रमण करता गया। परिणाम यह निकला कि कुछ ही वर्षों बाद यूरोप का राजनीतिक वातावरण इतना अधिक अशान्त एवं तनावपूर्ण हो गया कि संसार को प्रथम महायुद्ध से भी भयंकर दूसरे महायुद्ध की ज्वाला में झुलसना पड़ा।

यह सही है कि वर्साय की अन्यायमूलक, प्रतिशोधात्मक और विश्वासघातक आरोपित सन्धि द्वितीय विश्व युद्ध के लिए उत्तरदायी थी। परन्तु इसके लिए मित्रराष्ट्रों को भी उतना ही उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिए, जिन्होंने इस सन्धि की शर्तों का कठोरता के साथ पालन करवाने में कोई विशेष रुचि नहीं ली। इतना ही नहीं, अपितु उनकी सहमति से सन्धि की शर्तों में संशोधन भी किये गये और उनके देखते-देखते वर्साय व्यवस्था को पंगु भी बना दिया गया। उदाहरणार्थ, 1926 में जर्मनी को राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्रदान करने की दृष्टि से सन्धि के प्रथम भाग में संशोधन किया गया। क्षतिपूर्ति की राशि में समय-समय पर कमी की जाती रही और अन्त में 1932 में लोसान सम्मेलन द्वारा इस अध्याय को ही समाप्त कर दिया गया। सन्धि के लिए जिन गारण्टियों की व्यवस्था की गई थी, उन्हें भी 1930 में समाप्त कर दिया गया और 1935-36 में हिटलर ने निःशस्त्रीकरण के प्रतिबन्धों को भी समाप्त कर दिया और 1936 में उसने राइन प्रदेश के असैनिकीकरण सम्बन्धी उपबन्धों को तोड़कर इस प्रदेश में जर्मन सेनाएँ भेज दीं। इसके बाद हिटलर वर्साय सन्धि की अन्य व्यवस्थाओं को भी पंगु बनाता गया। आस्ट्रिया को जर्मन साम्राज्य में मिला लिया गया और चेकोस्लोवाकिया को हड़प लिया गया। परन्तु मित्रराष्ट्र चुपचाप देखते रहे और केवल विरोध-पत्र भिजवाते रहे। इससे हिटलर का हौसला बढ़ता गया। अन्त में जब हिटलर ने वर्साय व्यवस्था के एक अन्य क्षेत्र—पोलिस गलियारा और डेन्जिग के मामले में भी आक्रामक कार्यवाही करने का प्रयास किया तो द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। इससे स्पष्ट है कि यदि मित्र राष्ट्रों ने शुरू से ही हिटलर के विरुद्ध सख्त कदम उठाया होता तो वह वर्साय की धाराओं को तोड़ने का साहस नहीं जुटा पाता। फिर भी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्साय की सन्धि में दूसरे विश्व युद्ध के कीटाणु निहित थे।

वर्साय की सन्धि और विल्सन के चौदह सूत्र

जर्मनी ने विल्सल के चौदह सूत्रों के आधार पर आत्मसमर्पण किया था। वर्साय की सन्धि में उपर्युक्त सूत्रों का पालन हुआ या नहीं ? इस पर विद्वानों में गहरा मतभेद है और किसी सर्वमान्य निर्णय पर पहुँचना बहुत ही कठिन है। जर्मनी तथा पश्चिम के कुछ विचारकों का मत है कि वर्साय सन्धि में विल्सन के सभी सूत्रों को उठा कर ताक पर रख दिया गया। इसके विपरीत लॉयड जॉर्ज ने कहा था कि सन्धि में ऐसी कोई बात नहीं है जो युद्ध समाप्ति के पूर्व मित्रराष्ट्रों द्वारा की गई घोषणाओं के प्रतिकूल हो। प्रोफेसर गैथोर्न हार्डी का मत है कि जर्मनी के इस आरोप का कि वर्साय की सन्धि में विल्सन के सूत्रों का परित्याग कर दिया गया, बलपूर्वक खण्डन करना चाहिए। इस सन्धि में चौदह सूत्रों का अधिकतम पालन किया गया। इसी प्रकार, डॉ. सेटन वाटसन ने भी प्रमाणित किया है कि वर्साय सन्धि में केवल इटली की सीमान्त वाली नौवीं शर्त को छोड़ कर चौदह सूत्रों की शेष सभी शर्तों का पालन हुआ है। ब्रिटिश विदेश विभाग के सदस्य हेरोल्ड निकलसन, जिसने शान्ति समझौतों के निर्माण में भाग लिया था, का मत है कि चौदह सूत्रों में से चार का ही पालन किया गया और अन्यों को लागू नहीं किया गया। पालन की जाने वाली शर्तें थीं—सातवीं, आठवीं, दसवीं और ग्यारहवीं। जे.एल. कारविन के मतानुसार, "चौदह-सूत्र चौदह-निराशाएँ बन गये हैं, यद्यपि शोक की बात यह है कि अमेरिका की सहमति के बिना इतनी दुःखदायी तथा भविष्य के लिए दुर्भाग्यशाली सन्धियों के स्वप्न नहीं लिये जा सकते थे।" प्रोफेसर लैंगसम ने बीच का रास्ता अपनाते हुए लिखा है कि विल्सन के 14 सूत्रों में से पाँच (7, 8, 11, 13 और 14) का पालन हुआ, चार (5, 6, 9 और 10) का पालन इस तरह से किया गया कि उससे मित्रराष्ट्रों को लाभ पहुँये और पाँच (1, 2, 3, 4, और 12) की अवहेलना की गई।

जो लोग यह मानते हैं कि वर्साय सन्धि में चौदह-सूत्रों का उल्लंघन नहीं हुआ, न ही जर्मनी के साथ किसी प्रकार का विश्वासघात किया गया, वे अपने मत के समर्थन में निम्न तर्क देते हैं—

1. विल्सन के 14 सूत्रों में से केवल 5, 7, 8 और 13 का ही जर्मनी से सम्बन्ध था और वर्साय सन्धि में इन चारों का पालन किया गया।
2. विल्सन के सूत्र उनके राजनीतिक भाषणों के अंश मात्र थे, उनके पीछे कानूनी आधार नहीं था। इसके अलावा, उनके सूत्र इतने अधिक अस्पष्ट थे कि उनके कई अर्थ लगाये जा सकते थे। उदाहरणार्थ, निःशस्त्रीकरण को ही लें। विल्सन का कहना था कि राष्ट्रीय अस्त्र-शस्त्रों को "घरेलू सुरक्षा के अनुरूप निम्नतम बिन्दु" तक कम कर दिया जाय। परन्तु इसकी स्पष्ट व्याख्या करना बहुत ही कठिन काम था।
3. विल्सन के सूत्रों का सम्बन्ध किसी एक देश अथवा सन्धि तक सीमित नहीं था। उनका उद्देश्य विश्व में एक नई व्यवस्था स्थापित करने से था।
4. विल्सन के सूत्र परस्पर-विरोधी थे। अतः उनका पालन करना असम्भव था। उदाहरणार्थ—विल्सन के सूत्रों में आत्म-निर्णय के सिद्धान्त पर जोर दिया गया था, परन्तु दूसरी तरफ जर्मनी और आस्ट्रिया के मिलन पर रोक लगा दी गई। यह आत्म-निर्णय के विरुद्ध बात थी।

5. विल्सन के 14 सूत्रों को जर्मनी ने तत्काल स्वीकार नहीं किया था। यदि जर्मनी ने तत्काल आत्मसमर्पण कर दिया होता तो वह न्याय प्राप्त करने का आंशिक पात्र हो सकता था। परन्तु उसने ऐसा नहीं किया था।
6. यह भी याद रखना चाहिए कि मित्रराष्ट्रों ने विल्सन के सभी सूत्रों को कभी स्वीकृति प्रदान न की थी। इंगलैण्ड और फ्रांस ने तो स्पष्ट रूप से संशोधन प्रस्तुत कर दिये थे। यहाँ एक बात ध्यान रखने योग्य है कि विल्सन एक मित्रराष्ट्र का शासनाध्यक्ष मात्र था और सन्धि के आधारभूत सिद्धान्तों को तय करने का अन्तिम अधिकार सभी प्रमुख मित्रराष्ट्रों में निहित था। अतः केवल विल्सन के सूत्रों पर अन्तिम निर्णय का सवाल ही नहीं उठता।
7. शान्ति-निर्माताओं को एक-दो विजेताओं को ही नहीं अपितु 27 विजेता राष्ट्रों को सन्तुष्ट करना था और उन सभी के राष्ट्रीय स्वार्थ एक-जैसे नहीं थे। इसके विपरीत जर्मनी को केवल अपने हितों की चिन्ता थी और जब उन हितों पर कुठाराघात हुआ तो उसने वर्साय सन्धि पर नाना प्रकार के आरोप लगाने शुरू कर दिये। इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि वर्साय की सन्धि का दोष कहाँ था ?

इस प्रकार, वर्साय सन्धि पर विल्सन का प्रभाव एक अत्यन्त ही विवादास्पद विषय है और इस पर किसी सर्वमान्य निष्कर्ष पर पहुँचना अत्यन्त कठिन है। विल्सन के सिद्धान्तों का पालन हुआ अथवा नहीं, यह कहना कठिन हो सकता है, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसके आदर्शों और सिद्धान्तों का वर्साय व्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ा।

प्रश्न

1. वर्साय सन्धि के मूल आधारों की विवेचना कीजिये।
2. वर्साय व्यवस्था का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये।
3. "वर्साय की सन्धि एक आरोपित सन्धि थी।" इस कथन की पुष्टि कीजिये।
4. "वर्साय की सन्धि में दूसरे महायुद्ध के बीज विद्यमान थे।" इस कथन की समीक्षा कीजिये।
5. वर्साय की सन्धि में विल्सन के चौदह सूत्रों का किस सीमा तक पालन किया गया ?

के लिए जमींदारों और पूँजीपतियों द्वारा समर्थित और सहायता पाने वाला आन्दोलन था। इटली में फासीवाद के उदय एवं उत्कर्ष के निम्नलिखित कारण थे—

(1) जनता का असन्तोष—पेरिस के शान्ति सम्मेलन के बाद इटली ने स्वयं को असन्तुष्ट राज्यों की श्रेणी में पाया। लन्दन की गुप्त सन्धि में जो प्रदेश उसे देने को कहा गया था, पेरिस सम्मेलन में उनमें से अधिकांश उसे प्रदान नहीं किये गये। इटली को इस बात से विशेष दुःख हुआ कि फ्रांस को 60 लाख आबादी वाली 2 लाख 53 हजार वर्ग मील भूमि मिली और ब्रिटेन को 90 लाख से अधिक आबादी वाली 9 लाख 90 हजार वर्ग मील भूमि मिली जबकि उनके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर जर्मनी के विरुद्ध युद्ध करने वाले इटली को केवल 15 लाख 72 हजार आबादी वाली 8 हजार 9 सौ वर्ग मील भूमि ही प्राप्त हुई। फ्यूम के न मिलने से तो जनता में अत्यधिक असन्तोष था। जनता ने इटली की कमजोर स्थिति के लिये सरकार को उत्तरदायी ठहराया । फासिस्ट दल ने जनता में यह प्रचार करना आरम्भ कर दिया कि सरकार की अयोग्यता के कारण हमें फ्यूम नगर को छोड़ना पड़ा है। फासिस्ट दल के इस प्रचार से युद्ध में भाग लेने वाले सैनिक भी फासिस्ट दल में सम्मिलित हो गये। इससे फासिस्ट दल की शक्ति में वृद्धि हो गई तथा जनतन्त्रीय सरकार बदनाम हो गई। इस प्रकार संसदीय शासन के स्थापन पर शक्तिशाली तानाशाही शासन स्थापित होने का मार्ग प्रशस्त हो गया।

(2) आर्थिक असन्तोष—विश्वयुद्ध के कारण इटली को अपार जन-धन की हानि उठानी पड़ी। उसने अपनी सेना तथा युद्ध सामग्री पर बहुत व्यय किया था। इससे उसका राष्ट्रीय ऋण बहुत बढ़ गया तथा देश के उद्योग एवं व्यापार अव्यवस्थित हो गये। मुद्रा का मूल्य गिरने लगा और बेरोजगारों की फौज खड़ी हो गयी। बाजारों की कमी के कारण विदेशी व्यापार भी बहुत कम हो गया था। इटली की जनसंख्या में वृद्धि हो रही थी, किन्तु विदेशी राज्यों के प्रतिबन्धों के कारण वे दूसरे राज्यों में जाकर बस नहीं सकते थे। इटली ने ये सभी कठिनाइयाँ इसलिए मोल ली थीं कि युद्ध के पश्चात् उसे लाभ भी होगा। किन्तु जब युद्ध के बाद इटली को कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ तो ये आर्थिक कठिनाइयाँ जनता को बुरी तरह अखरने लगीं। आर्थिक असन्तोष ने सम्पूर्ण देश में अशान्ति और अव्यवस्था फैला दी। इटलीवासी अपनी इन कठिनाइयों का कारण जनतन्त्रीय सरकार को मानते थे और अब वे एक शक्तिशाली शासन व्यवस्था की कामना करने लगे।

(3) राष्ट्रीयता पर आघात—प्रथम महायुद्ध के बाद इटली को राष्ट्रीय अपमान सहन करना पड़ा। अतः इटली के लोग जनतन्त्रीय सरकार के स्थान पर एक ऐसी सरकार को देखना चाहते थे जो उनकी राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति कर सके। एक विशाल औपनिवेशक साम्राज्य खड़ा कर सके। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में इटली को सम्मानजनक स्थान दिलवा सके। फासिस्ट दल और उसका नेता मुसोलिनी इटलीवासियों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति का धुंआधार प्रचार कर रहा था। ऐसी स्थिति में फासिस्ट दल को जनता का समर्थन मिलना स्वाभाविक ही था।

(4) हीगल के सिद्धान्तों का प्रचार—हीगल का जन्म जर्मनी में हुआ था तथा वह बहुत ही उग्र विचारों वाला व्यक्ति था। वह राज्य को ईश्वर का रूप मानता था, जो कभी गलती नहीं

कर सकता था। हीगल के अनुसार नागरिक और राज्यों के अधिकारों में कभी संघर्ष नहीं हो सकता,क्योंकि नागरिकों के वे ही अधिकार हैं जो राज्य प्रदान करता है। नागरिक राज्य के आदर्शों का पालन करके ही उन्नति कर सकता है। हीगल के इन सिद्धान्तों का जेण्टिल तथा प्रोजोलीन नामक दो विद्वान् इटली में खूब प्रचार कर रहे थे। हीगल के सिद्धान्तों में और फासिस्ट दल के सिद्धान्तों में काफी समानता थी। अतः फासिस्ट दल को बड़ा प्रोत्साहन मिला।

(5) साम्यवाद का प्रभाव—इटली में असन्तोष और निराशा का वातावरण छाया हुआ था। ऐसे असन्तोषपूर्ण वातावरण में मार्क्सवाद और संघवाद के उदय से किसानों तथा मजदूरों में उग्र राष्ट्रीयता की भावना का प्रादुर्भाव हुआ और इटली में साम्यवाद जोर पकड़ने लगा। जगह-जगह हड़तालें और तोड़-फोड़ की घटनाएँ होने लगीं। देश में कई समाजवादी दल स्थापित हो गये। किन्तु जनता में तात्कालिक समाजवादी सरकार से प्रबल असंतोष था। दुकानदार सरकार से इसलिए नाराज थे कि समाजवादी सरकार मूल्य निश्चित नहीं कर रही थी और कर बढ़ा रही थी। जमींदारों को कृषक संघों से तथा भूमि के वितरण से अनेक आशंकाएँ थीं। मिल मालिक मजदूरों की हड़तालों से तथा मजदूरों की बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत थे। पूँजीपति सरकार से इसलिए नाराज थे कि वह उनकी वैयक्तिक सम्पत्ति की रक्षा करने में असमर्थ थी तथा वे साम्यवाद के बढ़ते हुई प्रभाव से भयभीत थे। फासिस्ट दल उस समय जनता को अन्धकार में आशा की किरण तथा ऐसा साधन प्रतीत होता था जो उस समय की अराजकता का अन्त कर सकता था और साम्यवाद के प्रभाव को समाप्त करके एक सुदृढ़ शासन की स्थापना कर सकता था। फासिस्ट दल साम्यवाद का कट्टर विरोधी होने के कारण उसको जमींदारों और पूँजीपतियों ने मुक्त हस्त से आर्थिक सहायता दी। इस प्रकार प्रत्येक वर्ग के लोग फासिस्ट दल में सम्मिलित होने लगे।

(6) राजनैतिक दलों की आपसी फूट—इटली में अनेक राजनैतिक दल थे। आनुपातिक निर्वाचन प्रणाली के कारण प्रायः प्रत्येक दल के प्रतिनिधि लोकसभा में पहुँच जाते थे, किन्तु किसी भी दल को इतना बहुमत प्राप्त नहीं होता था कि वह स्वतन्त्र रूप से अपना मन्त्रिमण्डल बना सके। अतः मिले-जुले दलों का मन्त्रिमण्डल बनाया जाता था। मन्त्रिमण्डल के सदस्य देश की समस्याओं के सम्बन्ध में विचार न करके केवल जोड़-तोड़ की राजनीति अपना कर किसी तरह सत्ता अपने हाथों में रखने का प्रयास किया करते थे। सत्ता हथियाने के प्रयासों में वे आपस में लड़ा करते थे। इन राजनैतिक दलों की पारस्परिक फूट के कारण वे संयुक्त रूप से उग्रवादियों का विरोध नहीं कर सकते थे।

(7) सरकार की अकर्मण्यता—एक ओर इटली में इस प्रकार की अराजकता फैल रही थी और दूसरी ओर सरकार सर्वथा निष्क्रिय होकर बैठी थी। जनता की सामूहिक निर्धनता के कारण समाजवादी दल की बहुत ही उन्नति हुई। 1919 के निर्वाचन में इसको चेम्बर ऑफ डेपूटीज में एक तिहाई स्थान प्राप्त हुए। उन्होंने गाँव-गाँव में अपनी शाखाएँ स्थापित करलीं। उन्होंने किसानों और मजदूरों को जमींदारों से जमीन छीन कर उसको छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटने के लिए प्रोत्साहित किया। 1920 तक मजदूरों ने 100 कारखानों पर अधिकार कर लिया और उन्हें वे स्वयं चलाने लगे। इस प्रकार समाजवादियों का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया था। फलस्वरूप 192[illegible] में जियालिटी ने प्रधानमन्त्री पद से [illegible]

में साम्यवादियों तथा फासिस्टवादियों का संघर्ष बहुत बढ़ गया। सरकार ने इस बढ़ते हुए संघर्ष को रोकने का कोई प्रयास नहीं किया तथा इससे सम्बन्धित अपराधियों को दण्डित करने का प्रयास नहीं किया। इससे फासिस्ट दल को शक्तिसम्पन्न होने का अवसर मिल गया। जियालिटी का अनुमान था कि समाजवादी और फासिस्टवादी आपस में संघर्ष करके नष्ट हो जायेंगे तथा उसे पुनः सत्ता प्राप्त करने का अवसर मिल जायेगा। किन्तु जियालिटी का अनुमान गलत सिद्ध हुआ। मुसोलिनी के कुशल नेतृत्व में फासिस्टवादियों ने समाजवादियों पर विजय प्राप्त करली और अन्त में मुसोलिनी ने शासन की समस्त सत्ता अपने हाथ में ले ली।

इन परिस्थितियों में फासिस्ट दल उत्तरोत्तर प्रगति करता गया। फासिस्ट दल का जन्मदाता मुसोलिनी था। देश के सभी वर्गों ने अपनी परम्परागत संस्थाओं की रक्षा करने के लिये, शक्तिशाली सरकार की स्थापना के लिये तथा देश को विनाश से बचाने के लिए एक संगठन स्थापित किया, जिसके सदस्य फेसियो (Fascio) कहलाते थे। आरम्भ में यह दल शक्तिशाली नहीं था, किन्तु धीरे-धीरे देश की परिस्थितियों ने उसे प्रोत्साहित किया। भाग्यवश उसे मुसोलिनी जैसा एक कुशल नेता मिल गया। फलस्वरूप इटली में फासीवाद का जन्म हुआ, जिसने इटली के शासन का स्वरूप ही बदल दिया।

मुसोलिनी का उदय—मुसोलिनी का जन्म 1883 में रोमानिया नामक गाँव में एक लोहार परिवार में हुआ था। उसका पूरा नाम वेनिटो मुसोलिनी था। वह बचपन से ही अपने पिता के उग्र विचारों से बहुत अधिक प्रभावित हुआ। वह शिक्षा प्राप्त कर एक छोटी-सी पाठशाला में अध्यापक हो गया। उसने अपने जीवन-निर्वाह के लिए अनेक कार्य किये। उसने सीमेण्ट के बोरे ढोने, लोहे की छड़ों को मोड़ने तथा खेतों में फावड़े से पत्थर हटाने का कार्य किया। तत्पश्चात् वह इटली में पत्रकारिता का कार्य करने लगा। इटली सरकार ने उसकी गतिविधियाँ देखकर उसके पीछे गुप्तचर लगा दिये। अतः मुसोलिनी वहाँ से स्विट्जरलैण्ड चला गया। वहाँ उसने मजदूर संघों की स्थापना के लिये बहुत कार्य किया। वहाँ के समाजवादी समाचार-पत्रों में उसने क्रान्तिकारी लेख लिखने आरम्भ कर दिये। उसके उग्र विचारों से स्विट्जरलैण्ड की सरकार घबरा गई और उसे स्विट्जरलैण्ड से निकाल दिया गया। इसके बाद वह पुनः इटली लौट आया। 1911 में ट्रिपोली युद्ध के समय उसने सरकार का विरोध किया। अतः उसे बन्दी बना लिया गया किन्तु कुछ ही दिनों पश्चात् उसे मुक्त कर दिया गया। 1912 में वह 'अवन्ति' (Avanti) नामक समाजवादी पत्रिका का सम्पादक हो गया। इस समय उसके विचारों में मार्क्सवाद और संघवाद का मिश्रण था। 1914 में प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ हो गया। इस समय अधिकांश समाजवादी तटस्थता की नीति के समर्थक थे। अतः मुसोलिनी भी तटस्थता की नीति का समर्थक था। किन्तु शीघ्र ही उसने अपने इन विचारों का परित्याग कर दिया और युद्ध में शामिल होने का प्रचार करने लगा। उसका कहना था कि इटली को मित्र राष्ट्रों का पक्ष लेकर युद्ध में शामिल हो जाना चाहिए। उसके इन विचारों के कारण उसे समाजवादी पत्रिका 'अवन्ति' के सम्पादक-पद से हटा दिया गया। तत्पश्चात् उसने अपने विचारों का प्रचार करने के लिए 'पोपोलो डी इटेलिया' (Popolo d' Italia) नामक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ कर दिया। 1915 में वह सेना में भर्ती हो गया, किन्तु युद्ध में घायल हो जाने के बाद उसे फौज से छुट्टी दे दी गई। ठीक होने पर वह पुनः अपनी

पत्रिका का सम्पादन करने लगा। 1917 में रूस की बोल्शेविक क्रान्ति से इटली के साम्यवादी भी प्रभावित हुए और वे भी इटली में इस प्रकार की क्रान्ति करना चाहते थे, किन्तु मुसोलिनी ने साम्यवाद के विरोध में तीव्र प्रचार करना आरम्भ कर दिया।

फासिस्ट दल—युद्ध की समाप्ति पर 1919 में मुसोलिनी ने एक सम्मेलन बुलाया जिसमें अवकाश प्राप्त सैनिकों को निमन्त्रित किया गया। इसके अतिरिक्त उन सभी लोगों को भी निमन्त्रित किया गया जो इटली की समस्याओं को हल करने के इच्छुक हों। इस सम्मेलन में मार्च, 1919 में एक नवीन फासिस्ट दल का निर्माण किया गया। इस दल ने अपने आपको अर्द्धसैनिकों की तरह संगठित किया। मुसोलिनी का कहना था कि "फासिस्ट लोग न पार्टी हैं, न पार्टी बन सकते हैं और न पार्टी बनाना चाहते हैं।" वास्तव में फासिस्ट 'पार्टी-विरोधी आन्दोलन' है। इससे इस दल का खूब प्रचार हुआ। इस दल में अवकाश प्राप्त सैनिक, मजदूर, समाजवादी विद्यार्थी, जमींदार, पूँजीपति और मध्यम वर्ग के लोग सम्मिलित हो गये। इस दल के स्वयंसेवक काली कमीज पहनते थे, अस्त्र-शस्त्र धारण करते थे और अनुशासनप्रिय थे। उनका अपना अलग झण्डा था। मुसोलिनी दल का प्रधान कमाण्डर था जिसे डूस (Duce) कहा जाता था। उसके ओजस्वी भाषण से जनता अत्यधिक प्रभावित होती थी। उसने अपनी घोषणा में निम्नलिखित कार्यक्रम प्रस्तुत किया—

(1) हथियार बनाने वाले कारखानों का राष्ट्रीयकरण किया जाय।

(2) कुछ उद्योगों पर मजदूरों का नियन्त्रण स्थापित किया जाय।

(3) मजदूरों से 8 घण्टे से अधिक काम न लिया जाय।

(4) युद्ध काल में पूँजीपतियों ने जो मुनाफा कमाया है उसका 85 प्रतिशत जब्त कर लिया जाय।

(5) चर्च की सम्पत्ति जब्त करली जाय।

(6) देश का नया संविधान बनाने के लिए संविधान सभा गठित की जाय तथा वयस्क मताधिकार को स्वीकार किया जाय।

(7) इटली राष्ट्रसंघ की सदस्यता ग्रहण करे। फ्यूम तथा डलमेशिया पर इटली का अधिकार स्वीकार कराया जाय।

इस घोषणा-पत्र का जनता में खूब प्रचार हुआ और इससे फासिस्ट दल के सदस्यों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। 1921 में इसके सदस्यों की संख्या तीन लाख हो गयी। इसके बाद मुसोलिनी ने देश में एक आन्दोलन चलवाया जिसका उद्देश्य आतंकपूर्ण साधनों से विरोधी दलों को समाप्त करना था। इसके फलस्वरूप फासिस्ट दल ने समाजवादियों और साम्यवादियों की सभाओं पर आक्रमण किये तथा उनके कार्यालयों पर अधिकार कर लिया। सरकार फासिस्टवादियों की इस कार्यवाही को रोकने में असमर्थ रही। फलस्वरूप मुसोलिनी का हौंसला बढ़ गया।

अक्टूबर, 1922 में नेपिल्स में फासिस्ट दल का सम्मेलन हुआ जिसमें लगभग 40 हजार सवयंसेवकों ने काली कमीज धारण करके और अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर भाग लिया। इस

सम्मेलन में मुसोलिनी ने घोषणा की कि यदि उसकी निम्नलिखित माँगों को स्वीकार नहीं किया गया तो 27 अक्टूबर,1922 को वह अपने स्वयंसेवकों की सहायता से रोम पर चढ़ाई कर देगा—

(1) मन्त्रिमण्डल में फासिस्ट दल के पाँच सदस्यों को सम्मिलित किया जाय।

(2) नये चुनाव शीघ्र कराने की घोषणा की जाय।

(3) सरकार विदेश-नीति में दृढ़ता का पालन करे।

सरकार ने मुसोलिनी की इन माँगों को अस्वीकार कर दिया। अतः 27 अक्टूबर, 1922 को फासिस्ट दल के 50 हजार स्वयंसेवकों ने रोम पर चढ़ाई कर दी तथा रेल्वे स्टेशन, डाक घर तथा अन्य सरकारी भवनों पर अधिकार कर लिया। सरकार ने राजा से माँग की कि देश में 'मार्शल लॉ' लागू कर दिया जाय। किन्तु राजा ने सरकार के इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। राजा का अनुमान था कि यदि मुसोलिनी को मन्त्रिमण्डल में शामिल कर लिया जाय तो वह कानून का अनुयायी हो जायेगा। 30 अक्टूबर को मुसोलिनी बिना किसी विरोध के रोम में प्रविष्ट हो गया और बड़ी ही सरलता से रोम पर अधिकार कर लिया।

फासिस्ट शासन की स्थापना—रोम पहुँच कर मुसोलिनी ने सम्राट् विक्टरइमेनुअल तृतीय से माँग की कि वह शासन सत्ता उसे सौंप दे। सम्राट् के आदेश पर मन्त्रिमण्डल ने त्याग-पत्र दे दिया तथा मुसोलिनी को मन्त्रिमण्डल बनाने का अधिकार दे दिया। 31 अक्टूबर, 1922 को मुसोलिनी ने अपना मन्त्रिमण्डल बनाया। उस समय अधिकांश जनता तात्कालिक शासन प्रणाली से असन्तुष्ट थी अतः जनता ने इस परिवर्तन को सहर्ष स्वीकार कर लिया। अब मुसोलिनी को इटली का सर्वेसर्वा बनने का अवसर मिल गया। सत्ता प्राप्त करने के बाद मुसोलिनी ने शासन को पुनर्गठित करने के लिए निम्नलिखित कार्य किये—

(1) उसने संसद् को भयभीत कर शासन की समस्त शक्ति अपने हाथ में ले ली और सभी महत्त्वपूर्ण पदों से अपने विरोधियों को हटाकर अपने विश्वासपात्र व्यक्तियों को नियुक्त कर दिया। 1923 में उसने एक नया निर्वाचन कानून पास कराया जिसके अनुसार जिस दल को निर्वाचन में बहुमत प्राप्त हो उसे चेम्बर ऑफ डेपूटीज में दो-तिहाई स्थान प्रदान कर दिये जायँ ताकि बहुमत-प्राप्त दल शासन का संचालन अच्छी तरह से कर सके। शेष एक-तिहाई स्थान अन्य दलों में बाँट दिये जायँ। इस नये कानून के अनुसार अप्रैल, 1924 में नया चुनाव कराया गया, जिसमें फासिस्ट दल को बहुमत प्राप्त हुआ। समाजवादी नेता मेटीओटी ने सरकार पर चुनाव कानून को भंग करने का आरोप लगाया तथा नये निर्वाचन की माँग की। किन्तु इस घटना के तीन दिन पश्चात् मेटीओटी का वध कर दिया गया। 1925 के प्रारम्भ में मुसोलिनी के हाथ में पूर्ण सत्ता आ गयी और अब उसने विरोधी दलों को कुचलने का प्रयास किया।

(2) 1926 में इटली के समस्त विरोधी दलों को अवैध घोषित कर दिया गया। इसी वर्ष मन्त्रिमण्डल प्रणाली का अन्त कर दिया गया तथा यह निश्चय किया गया कि प्रधानमन्त्री संसद् के प्रति उत्तरदायी न होकर सम्राट के प्रति उत्तरदायी होगा। इस समय सम्राट के हाथ में कोई वास्तविक सत्ता नहीं थी।

(3) राजद्रोहियों को गिरफ्तार करने के लिए पुलिस को व्यापक अधिकार दिये गये। बन्दी बनाये गये व्यक्तियों को अनिश्चित काल तक जेल में बन्द रखा जा सकता था। इस नियम के अनुसार विरोधी दल के नेताओं को बन्दी बनाकर जेलों में ठूँस दिया गया। बहुत से नेता अपने प्राणों की रक्षा हेतु विदेशों में भाग गये।

(4) समाचार-पत्रों पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये गये तथा अनेक समाचार-पत्रों का प्रकाशन बन्द कर दिया गया।

(5) विद्यालयों में फासिस्ट सिद्धान्तों की शिक्षा देना अनिवार्य कर दिया गया।

(6) राजनैतिक अपराधियों पर मुकदमा चलाने के लिए विशेष न्यायालय स्थापित किये गये।

मुसोलिनी इटली का तानाशाह—मुसोलिनी आरम्भ से ही जनतन्त्र का विरोधी था। उसके अनुसार राज्य सर्वोपरि है, समस्त वस्तुएँ राज्य में निहित हैं और राज्य से बाहर कुछ भी नहीं है। वह राज्य को साध्य और व्यक्ति को साधन मानता था। अतः वह राज्य के समक्ष व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार नहीं करता था। इसके लिए उसने शासन-संचालन के लिए निम्नलिखित अंगों की व्यवस्था की—

(1) मन्त्रिमण्डल—इसका गठन मन्त्रिमण्डल की भाँति ही किया गया था। मुसोलिनी ने अपने विश्वासपात्र समर्थकों को ही इसमें स्थान दिया था।

(2) फासिस्ट दल की महा परिषद्—यह फासिस्ट दल की एक समिति थी जिसमें दल के प्रमुख 25 व्यक्ति इसके सदस्य थे। मुसोलिनी इसका नेता था।

(3) संसद्—संसद् के दो भवनों की व्यवस्था की गई—प्रथम, सीनेट तथा दूसरा, चेम्बर ऑफ डेपूटीज। सीनेट के सदस्यों की नियुक्ति स्वयं मुसोलिनी करता था तथा इसके सदस्य जीवन भर के लिए बनाये जाते थे। चेम्बर ऑफ डेपूटीज के सदस्यों की नियुक्ति मन्त्रिमण्डल तथा फासिस्ट दल की महापरिषद् द्वारा होती थी।

इस प्रकार शासन की सम्पूर्ण शक्ति अब मुसोलिनी के हाथों में केन्द्रित हो गयी। इटली की जनतन्त्रीय सरकार जिन कार्यों को करने में असफल रही थी, उन्हें पूरा करने का मुसोलिनी आश्वासन दे रहा था। अतः मुसोलिनी को जनता का भी समर्थन प्राप्त था।

फासीवाद के सिद्धान्त—फासीवाद सर्वसत्तात्मक राज्य का समर्थक था अर्थात्-एक दल और एक नेता में विश्वास करता था। इसीलिए मुसोलिनी ने शासन की समस्त शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित कर ली थी। राजनैतिक, सैनिक तथा आर्थिक सत्ता पर उसका पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो गया था। फासीवाद व्यक्तिवाद का भी विरोधी था। मुसोलिनी का कहना था कि राज्य का मुख्य उद्देश्य राष्ट्र को शक्तिशाली बनाना है न कि व्यक्ति के कल्याण के लिए प्रयास करना। राज्य में रहकर व्यक्ति राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करे। राज्य के बाहर उसके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता। राज्य में व्यक्ति को उतनी ही स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए जितनी राज्य की सुविधा में बाधा न पड़े। राज्य के हित के लिए व्यक्ति का बलिदान किया जा सकता है।

फासीवाद जनतन्त्र को पश्चिमी यूरोप के धनी देशों के आमोद-प्रमोद का एक साधन मानता था। अतः वह जनतन्त्र का विरोधी था। राज्य में जनमत को कोई स्थान नहीं था, केवल नेता का आदेश ही सर्वोपरि माना जाता था। इसीलिए मुसोलिनी ने लोकतन्त्रात्मक निर्वाचनों का अन्त कर दिया, समाचार-पत्रों पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये तथा देश में गुप्तचरों का जाल बिछा दिया। फासीवाद, साम्यवाद का भी विरोधी है। साम्यवाद के अनुसार मानव जाति के इतिहास का निर्माण आर्थिक आधार पर हुआ है, किन्तु फासीवाद का मत है कि इतिहास के निर्णय में राजनैतिक घटनाओं का भी महत्त्व है। साम्यवाद वर्ग-संघर्ष को स्वीकार करता है, जबकि फासीवाद वर्ग-संघर्ष के स्थान पर सभी वर्गों के सहयोग पर जोर देता है। फासीवाद शान्ति का विरोधी है। उसके अनुसार शान्ति की बातें करना कायरता का द्योतक है तथा इससे बलिदान की भावना समाप्त हो जाती है। युद्ध मनुष्य की शक्ति का परिचायक है। युद्ध से साहस, शक्ति एवं बलिदान की भावना जागृत होती है, अतः युद्ध आवश्यक है। मुसोलिनी नागरिकों को आगे बढ़ने तथा प्रत्येक संकट का सामना करने की शिक्षा देता था। फासीवाद तर्क में विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार राज्य जो भी कहे वह ठीक है। जनता का एकमात्र कर्त्तव्य अपने नेता की आज्ञा मानना है।

फासीवाद स्वतन्त्र व्यापार का विरोधी है। उसका कहना है कि आर्थिक व्यवस्था में सरकार का हस्तक्षेप आवश्यक है। वह देश के हित के लिए पूँजीवादी-वर्ग तथा मजदूर-वर्ग दोनों को आवश्यक मानता है। वह यह नहीं चाहता था कि पूँजीपति मजदूरों का शोषण करे। मजदूरों व पूँजीपतियों पर सरकार का नियन्त्रण रहना चाहिये। फासीवाद मजदूरों के हड़ताल करने तथा पूँजीपतियों के कारखाने बन्द करने के अधिकार को मान्यता नहीं देता। देश के हित में निजी उद्योग आवश्यक हैं। सरकार उन्हीं निजी उद्योगों में हस्तक्षेप करती है, जहाँ व्यवस्था अपर्याप्त होती है। मजदूरों की साप्ताहिक छुट्टी, अवैतनिक अवकाश, बीमा तथा मनोरंजन आदि के अधिकार को मान्यता देता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर 1926 में इटली में सिण्डीकेटों की स्थापना की गई। इसमें छः पूँजीपतियों के, छः मजदूरों के प्रतिनिधि होते थे और एक स्वतन्त्र व्यक्ति होता था। ये सिण्डीकेट राष्ट्रव्यापी थे। उन पर निगम मन्त्री का नियन्त्रण होता था। इस व्यवस्था का उद्देश्य मजदूरों तथा मालिकों के संघर्ष का अन्त करना था। मजदूरों व मालिकों के झगड़ों के माध्यम के लिए विशेष प्रकार की अदालतें स्थापित की गईं, जिनका निर्णय दोनों पक्षों को मानना पड़ता था। इस प्रकार फासीवाद के आर्थिक सिद्धान्त कुछ अंशों तक सिण्डीकालिज्म (Syndicalism) और गिल्ड समाजवाद (Guild Socialism) के निकट हैं, किन्तु यह वर्ग-संघर्ष में विश्वास नहीं करता। ब्रून ने लिखा है कि "शासनतन्त्र के क्षेत्र में फासिस्टों की मौलिक देन 'निगम राज्य' थे।"

फासिस्ट युवक संगठन—मुसोलिनी और उसके दल ने युवकों को अपना समर्थक बनाने के लिए फासिस्ट युवक संगठन की स्थापना की और प्राथमिक एवं माध्यमिक स्कूलों में फासिस्टवादी सिद्धान्तों की शिक्षा देना अनिवार्य कर दिया ताकि बच्चों को प्रारम्भ से ही फासिस्टवादी सिद्धान्तों का ज्ञान हो जाय और आगे चलकर वे युवक कट्टर फासिस्टवादी बन सकें। आठ वर्ष से कम आयु के लड़कों के लिये प्रि-बालिला (Pre-Ballila) और आठ से चौदह वर्ष की आयु के लड़कों के लिये बालिला (Ballila) नामक संस्थाओं का संगठन किया

गया। इन संस्थाओं में लड़कों को बालचरों की भाँति प्रशिक्षित किया जाता था और उन्हें निर्भीक एवं साहसी बनाने का प्रयास किया जाता था। चौदह से अठारह वर्ष की आयु के लड़कों के लिये अवानगार्डिया (Avanguardia) नामक संस्था की स्थापना की गई थी। उपर्युक्त तीन श्रेणियों के पश्चात् युवकों को युवक फासिस्ट (Giavoni Fascist) नामक संस्था में तीन वर्ष का प्रशिक्षण लेना पड़ता था और तत्पश्चात् उन्हें फासिस्ट नागरिक सेना (Fascist Militia) में भर्ती कर लिया जाता था। प्रारम्भ में तो जो व्यक्ति फासिस्टवादी सिद्धान्तों में आस्था रखता था, वह दल का सदस्य बन सकता था। किन्तु आगे चलकर यह नियम बना दिया गया कि उक्त प्रशिक्षण प्राप्त किये बिना कोई भी व्यक्ति फासिस्ट दल का सदस्य नहीं बन सकता। लड़कियों के लिए भी प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई। बाहर वर्ष से कम आयु की लड़कियों के लिए "पिकोले इटालियाने' (Pctcolc Italianc) और इससे अधिक आयु की युवतियों के लिये 'युवती इटालियाने' (Giovani Italiane) नामक संस्थाओं की स्थापना की गई। इन संस्थाओं में लड़कियों को फासिस्टवादी सिद्धान्त एवं राष्ट्र प्रेम की शिक्षा और व्यायाम द्वारा शरीर के विकास का प्रशिक्षण दिया जाता था।

पोप पायस 11वें ने सरकार के इस कार्य की कटु आलोचना की थी। उसका कहना था कि बच्चों को इस प्रकार की शिक्षा देकर उन्हें राज्य को देवता मानने की शिक्षा दी जाती है, जो ईसाई धर्म के विरुद्ध है।

इटली में फासीवाद की स्थापना का यूरोप पर प्रभाव—इटली में फासीवाद की स्थापना से यूरोप के अन्य देशों में प्रजातन्त्र-विरोधी भावना फैलने लगी तथा जर्मनी और स्पेन में अधिनायकवाद की स्थापना हुई। विश्व में शान्ति-विरोधी वातावरण उत्पन्न हुआ। राष्ट्रसंघ शान्ति के पक्ष में था, अतः फासीवाद राष्ट्रसंघ का विरोधी था। फासीवाद ने राष्ट्रसंघ के सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त को आघात पहुँचाया। विश्व की साम्यवाद-विरोधी लहर में तीव्रता आ गयी। साम्यवाद के भय से ही प्रेरित होकर इटली में फासीवाद की स्थापना हुई थी। फासिस्टों ने इटली में सत्ता ग्रहण करने के पश्चात् रूस और उसके अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन के विरुद्ध विष-वमन करना आरम्भ कर दिया। फलतः ब्रिटेन और फ्रांस ने जो पूँजीवादी राष्ट्र होने के कारण साम्यवाद के कट्टर शत्रु थे, इटली व जर्मनी के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाई। ब्रिटेन और फ्रांस राष्ट्रसंघ के अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के बड़े भारी समर्थक थे किन्तु यह सोचकर कि इटली और जर्मनी साम्यवाद को नष्ट कर देंगे, ऊपर से उनकी अनुचित्र कार्यवाहियों के प्रति अप्रसन्नता का झूठा प्रदर्शन करते रहे, जबकि अन्दर ही अन्दर इन दोनों राष्ट्रों को प्रसन्न रखने के लिए उन्हें हर कार्य में स्वतन्त्रता प्रदान कर दी। इटली ने जब स्पेन के गृह-युद्ध में जनतन्त्र-विरोधी फ्रैंकों की सशस्त्र सहायता की और अबीसीनिया का अपहरण किया, तब दोनों देश केवल तमाशा देखते रहे और उन्होंने शान्ति-विरोधी शक्तियों को बल पहुँचाया। जर्मनी ने जब सूडेटनलैंड की माँग की तब तो इन पश्चिमी देशों की तुष्टिकरण की नीति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी और म्यूनिक समझौते में सूडेटनलैंड पर जर्मनी का आधिपत्य सहर्ष स्वीकार कर लिया। इस तुष्टिकरण की नीति के परिणाम विश्वशान्ति के लिये घातक सिद्ध हुए।

मुसोलिनी की गृह-नीति—अपने फासीवादी सिद्धान्तों के आधार पर मुसोलिनी ने निम्नलिखित गृहनीति अपनायी—

(1) मुसोलिनी द्वारा सत्ता ग्रहण करने के समय देश की आर्थिक स्थिति अत्यन्त ही दयनीय थी। बजट में करोड़ों रुपयों का घाटा चल रहा था तथा मुद्रा का मूल्य गिरता जा रहा था। मुसोलिनी ने व्यय में कमी की तथा कुछ नये कर लगाकर बजट को संतुलित किया।

(2) देश में व्याप्त बेरोजगारी को दूर करने के लिए मुसोलिनी ने सार्वजनिक निर्माण-कार्यों को प्रोत्साहन दिया। इससे अनेक बेरोजगारों को रोजगार मिल गया।

(3) मुसोलिनी ने कृषि की उन्नति की ओर ध्यान दिया। श्रेष्ठ किस्म की खाद और औजारों का आविष्कार किया गया, किसानों को वैज्ञानिक ढँग से खेती करने का तरीका बताया गया और बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाया गया। इससे कृषि उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई।

(4) मुसोलिनी ने इटली के औद्योगिक विकास की ओर भी ध्यान दिया। विद्युत उत्पादन में वृद्धि करके कोयले की कमी को पूरा किया गया। देश में अनेक नये कारखाने खोलकर देश को स्वावलम्बी बनाने का प्रयास किया।

(5) देश में जनतन्त्र को पूर्णतः समाप्त कर दिया। विरोधी दलों को अवैध घोषित किया तथा अपने विरोधियों को बन्दी बनाकर अनिश्चित काल के लिए जेल में ठूँस दिया। समाचार-पत्रों पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये गये, जिससे अनेक समाचार-पत्रों का प्रकाशन बन्द हो गया। निर्वाचन कानून में परिवर्तन किया गया और नये कानून के अन्तर्गत कराये गए चुनाव द्वारा चेम्बर ऑफ डेपूटीज में फासिस्ट दल का एकाधिकार स्थापित हो गया। अब चेम्बर ऑफ डेपूटीज का कार्य मुसोलिनी के प्रस्तावों का समर्थन करना ही रह गया था।

(6) शिक्षा संस्थानों में फासिस्टवादी सिद्धान्तों की शिक्षा देना अनिवार्य कर दिया। गैर-फासिस्ट शिक्षकों को पदच्युत कर उनके स्थान पर फासिस्ट शिक्षकों को नियुक्त किया गया। सैनिक-शिक्षा पर अत्यधिक बल दिया गया। वस्तुतः शिक्षा का उद्देश्य युवकों को प्रशिक्षित-सैनिक बनाना था।

(7) मुसोलिनी ने पोप के साथ भी समझौता किया। पोप और राज्य के बीच इटली के एकीकरण के समय से ही संघर्ष चल रहा था, क्योंकि पोप के समस्त प्रदेश छीन लिए गए थे। अतः पोप राज्य-विरोधी हो गया और उसने इटली की कैथोलिक जनता को राज्य से सम्बन्ध विच्छेद करने का आदेश दिया। इससे राज्य को यह भय उत्पन्न हुआ कि कहीं यूरोप के कैथोलिक राज्य संयुक्त रूप से इटली सरकार के विरुद्ध हस्तक्षेप न करदें। मुसोलिनी की धर्म में श्रद्धा न होते हुए भी उसने पोप से समझौता करना ही उचित समझा। अतः 11 फरवरी, 1929 को पोप के साथ समझौता कर लिया जिसे 'लेटरन समझौता (Lateran Accord) कहते हैं। इस समझौते के अनुसार पोप ने रोम नगर से अपना अधिकार त्याग दिया तथा मुसोलिनी ने पोप को वेटिकन नगर का सार्वभौम राजा स्वीकार कर लिया और इटली सरकार ने पोप को 10 करोड़ डॉलर वार्षिक देना स्वीकार किया। पोप को विदेश से सम्बन्ध रखने, अपना रेडियो स्टेशन चलाने तथा डाक-टिकट प्रसारित करने का अधिकार मिल गया। कैथोलिक धर्म को इटली का राज्य-धर्म

स्वीकार कर लिया। शिक्षा संस्थानों में धार्मिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। धार्मिक विवादों को कानूनी विवादों के समान मान्यता प्रदान कर दी गई। चर्च के पादरियों को नियुक्त करने का अधिकार पोप को दिया गया, किन्तु नियुक्ति से पूर्व इटली सरकार की अनुमति आवश्यक थी। क्योंकि पोप ऐसे किसी व्यक्ति को नियुक्त कर सकता था जो फासिस्टवादी सिद्धान्तों के विरुद्ध हो। चर्च के सभी पदाधिकारियों को वेतन देने का दायित्व सरकार का ठहराया गया।

इस प्रकार मुसोलिनी ने देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित की और इटली के आर्थिक विकास द्वारा देश को स्वावलम्बी बनाने का प्रयास किया। मुसोलिनी की विवेकशील गृह-नीति के फलस्वरूप इटली की जनता उसकी समर्थक बन गयी। जनता का समर्थन प्राप्त कर मुसोलिनी ने सशक्त विदेश-नीति अपनायी।

मुसोलिनी की विदेश-नीति—पेरिस शान्ति सम्मेलन में इटली की उपेक्षा की गई। इटली फ्यूम पर अधिकार करना चाहता था, किन्तु वह उसे प्राप्त नहीं हुआ। 1920 में उसे अल्बानिया से अपनी सेना हटानी पड़ी। स्पा सम्मेलन में इटली के लिये क्षतिपूर्ति की रकम केवल 10 प्रतिशत निश्चित की गई। अगस्त, 1920 में सेर्वे की संधि हुई, किन्तु इससे भी इटली को कुछ प्राप्त नहीं हुआ। 12 नवम्बर, 1920 को रेपोलों की सन्धि द्वारा फ्यूम को स्वतन्त्र नगर घोषित कर दिया गया। रेपालों की सन्धि इटली का राष्ट्रीय अपमान था। इससे इटली में चारों ओर असन्तोष व्याप्त था। मुसोलिनी उस असन्तोष की लहर के कारण ही शक्ति-सम्पन्न हुआ था। अतः मुसोलिनी ने उग्र विदेश नीति का अनुसरण किया, जिसका लक्ष्य इटली को अन्तर्राष्ट्रीय जगत में गौरवपूर्ण स्थान दिलाना, भूमध्यसागर को इटली की झील बनाना, अफ्रीका में विशाल साम्राज्य स्थापित करना तथा वर्साय सन्धि में संशोधन करना था।

(1) भूमध्य सागर पर प्रभुत्व का प्रयास—पेरिस के शान्ति सम्मेलन में इटली ने भूमध्यसागर के पूर्वी भाग में स्थित रोहड्स तथा डाडेक्नीज द्वीप समूहों को प्राप्त करने का प्रयास किया था, किन्तु वहाँ इटली की माँग को अस्वीकृत कर दिया गया था और सेर्वे की सन्धि द्वारा इन द्वीप समूहों पर से इटली को अपने दावे का परित्याग करना पड़ा था। मुसोलिनी भूमध्यसागर में पूरी प्रभुसत्ता स्थापित कर उसे 'रोमन झील' के रूप में परिवर्तित करना चाहता था। फलतः 24 जुलाई, 1923 को ल्युसेन (लोसाने) की सन्धि हुई, जिसके द्वारा सेर्वे की सन्धि में संशोधन किया गया तथा इटली को रोहड्स और डाडेक्नीज द्वीप समूह प्रदान किये गये। यह मुसोलिनी की विदेश-नीति की प्रथम सफलता थी। इन द्वीप समूहों में उसने सुदृढ़ किलेबन्दी की और एक अच्छा नौ-सैनिक अड्डा तैयार कर लिया।

(2) कोर्फ्यू काण्ड—अल्बानिया और यूनान की सीमा निर्धारण के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग नियुक्त किया गया था। 23 अगस्त, 1923 को यूनान की सीमा पर झगड़ा हो गया और गोली चल गयी, जिससे एक इटालियन सैनिक अधिकारी तथा चार अन्य इटालियन मारे गये। मुसोलिनी ने यूनान को 24 घण्टे का अल्टीमेटम दिया कि वह इटालियन अधिकारियों की सहायता से मामले की जाँच करे, पाँच दिन के अन्दर दोषी व्यक्तियों को मृत्यु-दण्ड दिया जाय, यूनानी झण्डा इटली के झण्डे के समक्ष झुकाया जाय और पाँच करोड़ लीरा इटली को क्षतिपूर्ति के रूप

में दिया जाय। यूनान ने इन माँगों को अस्वीकार कर दिया तथा मामले को राष्ट्रसंघ में प्रस्तुत किया। किन्तु मुसोलिनी ने राष्ट्रसंघ की उपेक्षा करते हुए 31 अगस्त, 1923 को यूनान के कोर्फ्यू टापू पर बमवर्षा करके उस पर अधिकार कर लिया। जब इटली ने इस मामले में राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप का विरोध किया तो मामला राजदूतों के सम्मेलन को सौंप दिया गया। इस सम्मेलन ने यूनान को मामले की जाँच करके दोषी अपराधियों को दण्ड देने को कहा। सम्मेलन ने यूनान को क्षमा याचना एवं पाँच करोड़ लीरा क्षतिपूर्ति देने को भी कहा और इटली को कोर्फ्यू से अपनी सेनाएँ हटाने को कहा। मुसोलिनी ने इन निर्णयों को स्वीकार करने में आनाकानी की, किन्तु ब्रिटेन द्वारा इटली को चेतावनी देने पर उसने इन निर्णयों को स्वीकार कर लिया और 27 सितम्बर को टापू खाली कर दिया। राष्ट्रसंघ की उपेक्षा ने तथा विशाल क्षतिपूर्ति की प्राप्ति ने मुसोलिनी को इटली में लोकप्रिय बना दिया।

(3) फ्यूम की प्राप्ति—पेरिस के शान्ति सम्मेलन में फ्यूम बन्दरगाह तथा यूनान के प्रश्न पर इटली व यूगोस्लाविया के बीच घोर मतभेद उत्पन्न हो गया था। मित्र राष्ट्रों के प्रयत्नों से 1920 में रेपोलों की सन्धि हुई, जिसके द्वारा फ्यूम को एक स्वतन्त्र बन्दरगाह घोषित कर दिया गया। मुसोलिनी ने 27 जनवरी, 1924 को यूगोस्लाविया के साथ रोम की सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार फ्यूम का नगर तो इटली को प्राप्त हो गया तथा एक छोटी नदी द्वारा पृथक् होने वाला फ्यूम का उपनगर वारोस बन्दरगाह तथा सूशाक की बस्ती यूगोस्लाविया को प्राप्त हुई। इस प्रकार मुसोलिनी ने फ्यूम का प्रश्न हल करके बहुत ही लोकप्रियता प्राप्त की।

(4) अल्बानिया पर प्रभुत्व—मुसोलिनी एड्रियाटिक सागर पर पूरा अधिकार स्थापित करना चाहता था, किन्तु इसके लिए ओट्रेण्डो के जलडमरुओं पर नियन्त्रण प्राप्त करना आवश्यक था। अतः 27 नवम्बर, 1926 को अल्बानिया की राजधानी टिराना में एक सन्धि हुई, जिसके द्वारा अल्बानिया ने यह स्वीकार कर लिया कि वह दूसरे देशों के साथ इटली को हानि पहुँचाने वाला कोई राजनैतिक या सैनिक समझौता नहीं करेगा। 1927 में इटालियन सैनिक अधिकारियों द्वारा अल्बानिया की सेना का पुनर्गठन किया गया तथा इटली ने अल्बानिया के साथ 20 वर्ष का एक रक्षात्मक समझौता कर लिया जिससे अल्बानिया इटली का संरक्षित राज्य बन गया। मुसोलिनी धीरे-धीरे अल्बानिया में अपना प्रभुत्व बढ़ाता रहा और अन्त में 1939 में उसने इस पर आक्रमण करके उसे अपने साम्राज्य का अंग बना लिया।

(5) टैंजियर संकट—मोरक्को के टैंजियर बन्दरगाह में अन्तर्राष्ट्रीय शासन था। अक्टूबर, 1927 में इस शासन में संशोधन करने के प्रश्न पर विचार करने के लिए यहाँ फ्रांस व स्पेन के प्रतिनिधि एकत्र हुए। इसी समय तीन इटालियन युद्धपोत भी वहाँ पहुँच गये और रोम से घोषणा की गई कि भूमध्यसागर की एक शक्ति के रूप में टैंजियर के विषय में इटली को भी गहरी दिलचस्पी है। रोम में हुई घोषणा के फलस्वरूप इटली को भी इस सम्मेलन में आमन्त्रित किया गया और 1928 में टैंजियर के सम्बन्ध में हुए नये समझौते में इटली को इस नगर के प्रशासन में अधिक अधिकार प्रदान किये गए। इस प्रकार अब इटली महाशक्तियों की पंक्ति में आ गया। यह मुसोलिनी की भारी कूटनीतिक विजय थी। 1930 में लन्दन के नौसैनिक सम्मेलन में इटली ने भूमध्यसागर में फ्रांस के समान नौ-सेना रखने के अधिकार की माँग की।

(6) **रूस से मित्रता**—मुसोलिनी ने अब भूमध्यसागर में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने का प्रयास आरम्भ कर दिया। वह अपना पक्ष सबल बनाने के लिए यूरोप में एक शक्तिशाली मित्र प्राप्त करना चाहता था। यूरोप के अधिकांश देश यथास्थिति के समर्थक एवं शान्ति समझौते के संशोधन के विरोधी थे। केवल आस्ट्रिया, हंगरी और बल्गेरिया ही ऐसे राज्य थे जो सन्धि में संशोधन चाहते थे। यद्यपि जर्मनी भी सन्धि में संशोधन चाहता था, किन्तु उसकी दशा अत्यन्त ही कमजोर थी। आस्ट्रिया, हंगरी और बल्गेरिया, इटली से घनिष्ठता स्थापित करने लगे। किन्तु ये सभी छोटे राज्य थे। बड़े राष्ट्रों में केवल रूस बचा था जो सन्धि में संशोधन का पक्षपाती था। अतः मुसोलिनी ने फरवरी, 1924 में रूस की साम्यवादी सरकार को मान्यता प्रदान करके उसके साथ व्यापारिक सन्धि करली। इटली अब रूस को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाने का प्रयत्न करने लगा। इसके बाद मुसोलिनी ने अप्रैल, 1927 में हंगरी के साथ, 23 दिसम्बर, 1928 को यूनान के साथ और 6 फरवरी, 1930 को आस्ट्रिया के साथ मित्रता की सन्धियाँ की।

(7) **हिटलर का उत्कर्ष एवं फ्रांस-ब्रिटेन से सहयोग**—1933 के आरम्भ में जर्मनी में हिटलर सत्तारूढ़ हुआ जिससे समस्त विश्व में एक राजनैतिक क्रान्ति हुई। मुसोलिनी भी हिटलर के उत्थान से भयभीत हुआ, क्योंकि हिटलर आस्ट्रिया को जर्मन साम्राज्य में मिलाना चाहता था, किन्तु मुसोलिनी चाहता था कि आस्ट्रिया पर इटली का प्रभाव बना रहे। यदि आस्ट्रिया का जर्मनी में विलय हो जाता है तो दक्षिणी टाइरोल को जो वर्साय सन्धि द्वारा इटली को प्राप्त हुआ था, खतरा पैदा हो सकता था। अतः जर्मनी में हुई नाजी क्रान्ति के फलस्वरूप इटली की विदेश-नीति में भी परिवर्तन आया। एक तरफ तो उसने इंगलैण्ड और फ्रांस के साथ मैत्रीपूर्ण सहयोग की नीति को अपनाया और दूसरी तरफ उसने आस्ट्रिया के साथ समझौता कर उसकी स्वतन्त्रता को बनाये रखने का प्रयास किया। मुसोलिनी अपनी तरफ से आस्ट्रिया के नाजी विरोधियों को हर प्रकार की सहायता देने लगा। जुलाई, 1934 में हिटलर ने आस्ट्रिया में राजनैतिक विद्रोह कराकर आस्ट्रिया के विलय की योजना बनाई, किन्तु मुसोलिनी ने आस्ट्रिया की सीमा पर अपनी सेना तैनात करके घोषणा की कि यदि जर्मनी ने आस्ट्रिया को अपने साम्राज्य में मिलाने का प्रयत्न किया तो इसका अर्थ होगा इटली के साथ युद्ध। इससे हिटलर भयभीत हो गया और उसने घोषणा की कि इस घटना में जर्मनी का कोई हाथ नहीं था। इस प्रकार मुसोलिनी ने हिटलर की 'आस्ट्रिया विलय' की योजना पर पानी फेर दिया। युद्ध के बाद यूगोस्लाविया के दावों का समर्थन करने के कारण फ्रांस और इटली के सम्बन्ध निरन्तर बिगड़ते जा रहे थे, किन्तु आस्ट्रिया पर हिटलर की गिद्ध-दृष्टि एक ऐसा खतरा था, जिससे दोनों ही देश अब समझौता करना ही श्रेयस्कर समझते थे। अतः 7 जनवरी, 1935 को फ्रांस और इटली के बीच एक समझौता हो गया। इस समझौते के अनुसार—

(1) फ्रांस ने अफ्रीका में सुमालीलैण्ड तथा लीबिया के पास का कुछ क्षेत्र इटली को दे दिया।

(2) समझौते में यह निर्णय लिया गया कि यदि जर्मनी अपना शस्त्रीकरण करेगा तो दोनों देश मिलकर इस सम्बन्ध में विचार करेंगे।

इस अवसर पर फ्रांस का विदेश मन्त्री लावल रोम आया था और मुसोलिनी से व्यक्तिगत रूप से बातचीत की थी। ऐसा विश्वास किया जाता है कि लावल ने मुसोलिनी को यह आश्वासन दिया था कि अबीसीनिया में फ्रांस का कोई हित नहीं है। इस प्रकार फ्रांस ने परोक्ष रूप से इटली को अबीसीनिया पर अधिकार करने की छूट दे दी। मार्च, 1935 में हिटलर ने वर्साय सन्धि का उल्लंघन करते हुए जर्मनी के शस्त्रीकरण की घोषणा कर दी। अतः स्विट्ज़रलैंड के स्ट्रेसा नामक स्थान पर मित्रराष्ट्रों का सम्मेलन हुआ; जिसमें फ्रांस, इटली, इंगलैण्ड आदि देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया और जर्मनी के इस कार्य की निन्दा की। राष्ट्रसंघ ने भी स्ट्रेसा सम्मेलन की रिपोर्ट का अनुमोदन कर दिया। स्ट्रेसा में उन्होंने हिटलर के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा कायम किया। वस्तुतः स्ट्रेसा सम्मेलन के प्रतिनिधियों में एकता नहीं थी। एक ओर हिटलर के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाया जा रहा था और दूसरी ओर संयुक्त मोर्चे का एक सदस्य इंगलैण्ड जर्मनी के साथ ही नौ-सेना सम्बन्धी समझौता करने के लिए वार्ता कर रहा था।

(8) **अबीसीनिया पर आक्रमण**—1930-32 की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी के कारण इटली की आर्थिक स्थिति भी बिगड़ती जा रही थी तथा 1934 तक लगभग ढाई लाख लोग बेकार हो गये थे। अतः जनता का इस आर्थिक समस्या से ध्यान दूसरी ओर बँटाना आवश्यक था। इसके लिए उसने अफ्रीका के एकमात्र स्वतन्त्र, किन्तु निर्बल देश, अबीसीनिया को चुना। 1896 में इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण कर उसे अपने साम्राज्य से मिलाने का प्रयत्न किया था, किन्तु अडोवा के युद्ध में इटली को बुरी तरह पराजित होना पड़ा था। मुसोलिनी अडोवा की पराजय का प्रतिशोध लेना चाहता था। इरिट्रिया, लीबिया और सोमालीलैण्ड में इटली का प्रभुत्व पहले ही स्थापित हो चुका था और अब यदि अबीसीनिया भी उनमें सम्मिलित हो जाता है तो अफ्रीका में इटली का विशाल साम्राज्य स्थापित हो सकता था। अबीसीनिया में तरह-तरह के खनिज पदार्थ उपलब्ध थे जिससे इटली का औद्योगिक विकास हो सकता था। इसके अतिरिक्त इटली की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। अतः बढ़ती हुई आबादी को बसाने के लिए उसे अतिरिक्त क्षेत्र की आवश्यकता थी और इसके लिए अबीसीनिया एक अच्छा प्रदेश था। अतः मुसोलिनी उस पर आक्रमण करने की सोचने लगा।

मुसोलिनी की इस इच्छा में सबसे बड़ा बाधक फ्रांस था, किन्तु हिटलर के उत्कर्ष के कारण अब दोनों में मित्रता हो चुकी थी। 1931 में जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया और इस अवसर पर राष्ट्रसंघ का खोखलापन प्रकट हो चुका था, जिससे मुसोलिनी का हौंसला बढ़ गया। उधर हिटलर ने वर्साय सन्धि को अमान्य घोषित करते हुए उसकी धाराओं को तोड़ना आरम्भ कर दिया था, किन्तु उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जा सकी थी। इन परिस्थितियों से मुसोलिनी को प्रेरणा मिली और उसने अबीसीनिया पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया।

5 दिसम्बर, 1934 को इटालियन सोमालीलैण्ड और अबीसीनिया की अनिश्चित सीमा पर वालवाल (Walwal) नामक स्थान पर हुए एक सैनिक झगड़े में तीस इटालियन मारे गये। मुसोलिनी के लिए यह स्वर्ण अवसर था। उसने अबीसीनिया से 'क्षमा याचना करने और क्षतिपूर्ति' की माँग की। किन्तु अबीसीनिया ने यह मामला मध्यस्थ को सौंपने पर बल दिया और 14 दिसम्बर को उसने राष्ट्रसंघ में इटली के आक्रमण की शिकायत की। राष्ट्रसंघ ने कुछ समय तक

इस पर कोई कार्यवाही नहीं की, क्योंकि राष्ट्रसंघ का एक प्रभावशाली सदस्य फ्रांस जर्मनी के विरुद्ध, इटली को अपना मित्र बनाने को उत्सुक था। 3 जनवरी, 1935 को कौंसिल की बैठक में अबीसीनिया ने यह प्रश्न पुनः उठाया और इटली इस मामले को पंच निर्णय के लिए सौंपने को तैयार हो गया। 3 सितम्बर, 1935 को इन पंचों के कमीशन ने निर्णय दिया कि वालवाल की घटना के लिए इटली और अबीसीनिया दोनों उत्तरदायी नहीं है। जब कौंसिल की बैठक में पंचों के कमीशन की रिपोर्ट पर विचार हो रहा था तब इटली के प्रतिनिधि ने अबीसीनिया पर विश्वासघात और सन्धि भंग करने का आरोप लगाया और कहा कि 'हम इन असभ्यों के साथ बैठना भी पसन्द नहीं करते।' यह कहते हुए इटली के प्रतिनिधि ने कौंसिल की बैठक का परित्याग कर दिया। 4 सितम्बर, 1935 को कौंसिल ने उक्त रिपोर्ट के साथ इस प्रश्न पर विचार समाप्त कर दिया। किन्तु मुसोलिनी अबीसीनिया पर अधिकार करने पर तुला हुआ था, 'चाहे यह कार्य जेनेवा की सहायता से हो, उसकी बिना सहायता के हो अथवा उसका विरोध करके हो।'

मुसोलिनी ने अबीसीनिया की सीमा पर सेनाएँ एकत्र करना आरम्भ कर दिया। इस पर अबीसीनिया ने पुनः राष्ट्रसंघ में शिकायत की। इस पर कौंसिल ने इस विवाद को हल करने के लिए पाँच देशों (ब्रिटेन, फ्रांस, पोलैण्ड, स्पेन और टर्की) की एक समिति नियुक्त की। इसने इटली को सन्तुष्ट करने के लिए अबीसीनिया में इटली के विशेष आर्थिक अधिकार को मानते हुए अबीसीनिया के कुछ प्रदेश इटली को देने का प्रस्ताव किया। किन्तु मुसोलिनी ने कहा, "यदि सम्पूर्ण अबीसीनिया भी मुझे चाँदी की थाली में भेंट किया जाय तो मैं उसे अस्वीकार कर दूँगा, क्योंकि मैंने इसे शक्ति से लेने का निर्णय कर लिया है।" इसी बीच मुसोलिनी ने अबीसीनिया की सीमा पर भारी मात्रा में सेनाएँ एकत्र कर लीं। अतः 29 सितम्बर को अबीसीनिया के सम्राट हेलीसिलेसी ने आत्म-रक्षा के लिए लामबन्दी की आज्ञा दे दी। इस पर मुसोलिनी ने कहा कि अबीसीनिया ने इटली पर हमला कर दिया है अतः हम भी अपनी आत्मरक्षा के लिए युद्ध करेंगे और 1 अक्टूबर, 1935 को अपनी सेनाओं को अबीसीनिया पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी।

6 अक्टूबर, 1935 को इटली की सेनाओं ने अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। 7 अक्टूबर को कौंसिल की एक समिति ने इटली पर युद्ध आरम्भ करने का उत्तरदायित्व डाला। 9 अक्टूबर से 11 अक्टूबर तक राष्ट्रसंघ के लगभग 50 सदस्य इस समस्या पर विचार करते रहे। अन्त में कौंसिल के प्रस्ताव पर इटली को आक्रामक घोषित किया गया तथा इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने के लिए 18 व्यक्तियों की एक समिति गठित कर दी। इस समिति ने ऐसी वस्तुओं की एक सूची तैयार की जिन्हें इटली में भेजने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस सूची में जानबूझ कर तेल को सम्मिलित नहीं किया गया, जिससे इटली को बराबर तेल प्राप्त होता रहा। इन प्रतिबन्धों को तुरन्त लागू करने की बात कही गई थी किन्तु ये प्रतिबन्ध 18 नवम्बर से लगाये गये। वस्तुतः फ्रांस की सहानुभूति इटली के साथ थी अतः इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध पूर्ण शक्ति के साथ नहीं लगाये गये।

ब्रिटेन और फ्रांस दोनों ही मुसोलिनी के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपना रहे थे। सितम्बर, 1935 में फ्रांस के विदेश-मन्त्री लावल तथा ब्रिटेन के विदेश-मन्त्री सेमुअल होर ने यह गुप्त समझौता किया कि यदि राष्ट्रसंघ इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगायेगा तो वे सिद्धान्त रूप

से इसका समर्थन करते हुए भी इटली के लिए स्वेज नहर वन्द करने का तथा सैनिक कार्यवाही का विरोध करेंगे। नवम्बर-दिसम्बर, 1935 में जव संघ तेल भेजने पर प्रतिबन्ध लगाने के प्रश्न पर विचार कर रहा था तव इन दोनों राजनीतिज्ञों ने पेरिस में 7 दिसम्वर, 1935 को एक गुप्त समझौता किया, जिसमें कहा गया कि अवीसीनिया के प्रश्न पर इटली से युद्ध मोल लेना उचित नहीं है, अतः इटली को तेल भेजने के प्रतिबन्ध को लागू करने की कार्यवाही में विलम्व करना चाहिए। इस समझौते में यह भी कहा गया कि अवीसीनिया को कहा जाय कि वह इटली को इरिट्रिया व सोमालीलैण्ड के पास का कुछ प्रदेश दे दे, दक्षिणी अवीसीनिया को इटली के आर्थिक विस्तार एवं बस्ती के लिए सुरक्षित रखा जाय और इसके वदले में इटली, अवीसीनिया को समुद्र तट तक निकास के लिए लाल सागर पर एक बन्दरगाह दे दे। होर-लावल समझौता राष्ट्रसंघ के महान् आदर्शों के प्रति विश्वासघात था। यह समझौता अत्यन्त ही गुप्त रखा गया था, किन्तु दुर्भाग्यवश यह गुप्त समझौता समाचार-पत्रों में प्रकाशित हो गया। ब्रिटेन में इस पर इतना रोष हुआ कि विदेश-मन्त्री होर को त्याग-पत्र देना पड़ा।

जनवरी, 1936 में इटली की सेनाएँ अवीसीनिया में निरन्तर आगे बढ़ती गईं। इटली ने केवल आक्रमण ही नहीं किया बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध सम्बन्धी नियमों का खुले आम उल्लंघन किया। विमान से ऐसी विषैली गैसें गिरायी गईं तथा ऐसी गोलियों का प्रयोग किया गया जिनका प्रयोग युद्ध-नियमों के अनुसार निषिद्ध था। परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक स्थान पर अवीसीनिया की सेना पराजित होने लगी। 1 मई, 1936 को इटली की सेनाओं ने अवीसीनिया की राजधानी आदिम अवावा पर अधिकार कर लिया। सम्राट हेलीसिलेसी राजधानी छोड़कर भाग खड़ा हुआ। 9 मई, 1936 को अवीसीनिया को इटली के साम्राज्य में शामिल कर लिया गया।

30 जून, 1936 को अवीसीनिया से भाग कर आये सम्राट हेलीसिलेसी ने स्वयं राष्ट्रसंघ की असेम्वली की बैठक में उपस्थित होकर इटली के वर्वरतापूर्ण दुष्कृत्यों का रोमांचकारी वर्णन किया तथा राष्ट्रसंघ के सदस्यों से सहायता की प्रार्थना की। किन्तु राष्ट्रसंघ के किसी सदस्य पर हेलीसिलेसी की प्रार्थना का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। केवल रूस ने अवीसीनिया के प्रति मानवीय दृष्टिकोण अपनाते हुए उसका समर्थन किया, किन्तु रूस की सभी माँगों को अस्वीकार करते हुए 15 जुलाई को इटली के विरुद्ध लगाये गये आर्थिक प्रतिवन्ध हटा लिये गये। फ्रांस और ब्रिटेन के प्रयास से अवीसीनिया को राष्ट्रसंघ से निकाल दिया गया। नवम्बर, 1938 में ब्रिटेन और फ्रांस ने अवीसीनिया पर इटली के आधिपत्य को मान्यता देते हुए राष्ट्रसंघ के मौलिक सिद्धान्तों को तिलाञ्जली दे दी। केवल 19 महीनों के बाद मुसोलिनी ने दोनों देशों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करके इस मान्यता का समुचित उत्तर दे दिया।

अवीसीनिया युद्ध के परिणाम—अवीसीनिया युद्ध, दो विश्व युद्धों के बीच के काल की महत्त्वपूर्ण घटना थी। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से इस युद्ध के अनेक महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले। इसने राष्ट्रसंघ की निर्वलता को प्रदर्शित कर दिया। इससे स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रसंघ प्रबल राष्ट्रों के आक्रमण से छोटे और निर्वल राष्ट्रों की रक्षा करने में असमर्थ है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आक्रामक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। इस युद्ध से इटली और जर्मनी की घनिष्ठता बढ़ने लगी, क्योंकि इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिवन्ध लागू होने के बाद जर्मनी ने शस्त्र देकर इटली की संकटमय

स्थिति में सहायता की थी। राष्ट्रसंघ की निर्बलता से लाभ उठाकर हिटलर ने वर्साय सन्धि तथा लोकार्नो सन्धि को भंग कर राइन प्रदेश में किलेबन्दी आरम्भ कर दी। स्पेन के गृह-युद्ध में जर्मनी और इटली ने खुलकर हस्तक्षेप किया। हिटलर ने आस्ट्रिया का अपहरण कर लिया, चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग कर दिया और, अन्त में पोलैण्ड पर आक्रमण करके द्वितीय विश्वयुद्ध का श्रीगणेश कर दिया। अबीसीनिया युद्ध में मुसोलिनी की सफलता के कारण उसके सिर पर लगे लोकप्रियता के मुकुट में ख्याति एवं लोकप्रियता की एक और पंखुड़ी लग गई। राष्ट्रसंघ ने इटली के विरुद्ध निन्दा का प्रस्ताव पास किया तथा उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये। यद्यपि राष्ट्रसंघ की इन कार्यवाहियों का इटली पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु इटली ने राष्ट्रसंघ से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया।

(9) रोम-बर्लिन धुरी—अबीसीनिया युद्ध के अवसर पर इटली इंगलैण्ड, फ्रांस और रूस से अत्यधिक नाराज हुआ। इस संकट के समय हिटलर आदि से अन्त तक तटस्थ रहा तथा इटली को अस्त्र-शस्त्रों से सहायता करता रहा। हिटलर की तटस्थता मुसोलिनी के लिए बहुत बड़ी नैतिक सहायता सिद्ध हुई। अतः जर्मनी की ओर उसका झुकाव स्वाभाविक था। हिटलर और मुसोलिनी का मेल-मिलाप बढ़ने लगा। फलतः 26 अक्टूबर, 1936 को इटली तथा जर्मनी के बीच एक समझौता हो गया जो इतिहास में रोम-बर्लिन धुरी (Rome-Berlin Axis) के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते में दोनों ने तय किया कि दोनों अपने समान हितों की पूर्ति के लिए समय-समय पर परस्पर वार्ता करेंगे, दोनों देश साम्यवाद का विरोध करेंगे और दोनों स्पेन की रक्षा करेंगे। इस सन्धि के परिणामस्वरूप मुसोलिनी ने आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया पर हिटलर के आक्रमण का कोई विरोध नहीं किया।

(10) स्पेन का गृह-युद्ध—स्पेन का गृह-युद्ध यद्यपि उसकी आन्तरिक स्थिति का विषय है, फिर भी इसे द्वितीय विश्व युद्ध का पूर्वाभिनय कहा जाता है, क्योंकि इसके द्वारा यूरोपीय शक्तियों के संगठन का आभास पहले ही मिल गया था। प्रथम विश्व युद्ध में स्पेन तटस्थ रहा था। युद्ध के बाद एक भयंकर आर्थिक संकट आया जिससे बेकारी की समस्या गम्भीर हो गयी। मजदूरों में असन्तोष बढ़ गया, हड़तालें होने लगीं और दंगे-फसाद आरम्भ हो गये। जनता सरकार के कुशासन से काफी परेशान थी। यद्यपि नाम के लिए वहाँ वैध राजसत्ता थी किन्तु वास्तव में वहाँ का राजा अलफान्सो पूर्णतः तानाशाह था। जनता में विद्रोह की भावना देखते हुए अलफान्सो ने रिवेरा नामक सेनापति की सहायता से देश में सैनिक कानून लागू कर दिया जिससे रिवेरा का स्वेच्छाचारी शासन आरम्भ हो गया। 1923 से 1930 तक वह अपना स्वेच्छाचारी शासन करता रहा, किन्तु देश में दंगे, विद्रोह और हड़तालें होती रहीं। जन-असन्तोष को देखते हुए 1930 में रिवेरा ने पद-त्याग कर दिया। तत्पश्चात् अलफान्सो ने पुनः वैधानिक शासन स्थापित करने की घोषणा कर दी। किन्तु जनता विधान परिषद की माँग करने लगी और अलफान्सो इस माँग को टालता रहा। फलतः 1930 में वहाँ राजतन्त्र के विरुद्ध विद्रोह हो गया और अलफान्सो स्पेन छोड़कर भाग गया। इसके बाद स्पेन में गणतन्त्रीय सरकार की स्थापना हुई।

गणतन्त्र स्थापित होने के बाद वहाँ सत्ता प्राप्त करने के लिए विभिन्न दलों में संघर्ष होने लगा। 1936 के आम चुनावों में उदार तथा अनुदार दोनों दलों को प्रायः बराबर स्थान प्राप्त हुए।

जब उदार दल ने सत्ता अपने हाथ में लेनी चाही तो जनरल फ्रेंको के नेतृत्व में 18 जुलाई, 1936 को अनुदार दल ने गृह-युद्ध आरम्भ कर दिया। सम्पूर्ण स्पेन में एकाएक गृह-युद्ध की आग भड़क उठी। सैनिक अधिकारियों द्वारा निर्देशित यह गृह युद्ध पूर्णतया योजनाबद्ध था और इसकी तैयारी बहुत पहले से हो रही थी। जनरल फ्रेंको ने विदेशी शक्तियों से सहायता माँगी। जर्मनी और इटली यह समझते थे कि स्पेन में यदि उनके जैसी (अधिनायकवादी) शासन प्रणाली स्थापित हो जाय तो उसकी सहानुभूति सदा उनके साथ रहेगी। अतः उन्होंने जनरल फ्रेंको को सहायता देना अपना कर्त्तव्य समझा। किन्तु फासिस्टवाद के विरुद्ध गणतन्त्र को मदद देना रूस ने अपना कर्त्तव्य समझा। किन्तु उस समय रूस उतना शक्तिशाली नहीं था तथा रूस और स्पेन की सीमाएँ मिली-जुली नहीं थी। अतः वह स्पेन की गणतान्त्रिक सरकार को उस मात्रा में मदद नहीं कर सका, जिस मात्रा में फ्रेंको को हिटलर और मुसोलिनी से सहायता प्राप्त हो रही थी। फ्रांस और ब्रिटेन को यह भय था कि कहीं यह गृह-युद्ध यूरोपीय विश्व युद्ध में परिवर्तित न हो जाय, क्योंकि फासिस्ट देश फ्रेंको की सफलता के लिए कटिबद्ध थे और यदि दूसरे देशों ने इसका विरोध किया तो विश्व युद्ध का हो जाना असम्भव नहीं था। अतः ब्रिटेन और फ्रांस तटस्थता का ढोल पीटकर खामोश बैठे रहे। फलस्वरूप इटली तथा जर्मनी की सहायता से जनरल फ्रेंको को विजय प्राप्त हो गयी। 28 मार्च, 1939 को स्पेन की राजधानी मेड्रिड का पतन हो गया और गृह-युद्ध भी समाप्त हो गया। स्पेन में जनरल फ्रेंको की तानाशाही स्थापित हो गयी।

युद्ध के परिणाम—यद्यपि यह युद्ध स्पेन का आन्तरिक मामला था किन्तु विदेशी शक्तियों के हस्तक्षेप से इसे अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हो गया। इस युद्ध ने इटली व जर्मनी की मित्रता को प्रगाढ़ बना दिया, जर्मनी तथा जापान के साथ इटली भी एण्टी-कॉमिण्टर्न पैक्ट में सम्मिलित हो गया और यूरोप में फासिस्ट शक्तियों की स्थिति मजबूत हो गयी। हिटलर और मुसोलिनी को यह विश्वास हो गया कि ब्रिटेन और फ्रांस साम्यवाद के हौवे से बुरी तरह आशंकित हैं और उन्हें यह भय दिखाकर कुछ भी कराया जा सकता है। इससे उन्हें यह ज्ञान हो गया कि उनके आक्रमणों को रोकने का साहस पश्चिमी लोकतन्त्र में नहीं है। राष्ट्रसंघ की सामूहिक सुरक्षा योजना अन्तिम रूप से विफल हो गयी। स्पेन की सरकार ने इस मामले को राष्ट्रसंघ में उठाने का कई बार प्रयत्न किया, किन्तु संघ की असेम्बली ने केवल 2 अक्टूबर, 1937 को यह प्रस्ताव पास किया कि स्पेन की भूमि पर निश्चित रूप से विदेशी सैनिक दल हैं और उन्हें तत्काल और पूर्णरूप से स्पेन से हट जाना चाहिए। किन्तु जर्मनी और इटली अपने स्वयंसेवक हटाने के लिए तैयार नहीं थे। अतः राष्ट्रसंघ अपने इस प्रस्ताव को कार्यान्वित नहीं कर सका। शूमैन ने तो यहाँ तक लिखा है कि इंगलैण्ड और फ्रांस ने अहस्तक्षेप की नीति के आधार पर तथा अमेरिका ने तटस्थता के नाम पर स्पेन को शस्त्र बेचना और भेजना बन्द कर दिया और इस प्रकार धुरी राष्ट्रों द्वारा स्पेन के लोकतन्त्र की हत्या में सहयोग दिया गया। इस युद्ध ने धुरी राष्ट्रों की तुलना में ब्रिटेन और फ्रांस की दुर्बलता बड़े प्रबल व स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर दी। अब धुरी राष्ट्रों को ब्रिटेन और फ्रांस पर धौंस जमाने और अधिक रियायतें प्राप्त करने का स्वर्ण अवसर मिल गया। इसके अतिरिक्त इस गृह-युद्ध में जर्मनी को लड़ने के नये तरीकों का प्रयोग करने का अवसर मिल गया।

(11) सज्जन समझौता—इंगलैण्ड, इटली को मित्र बनाने के लिए प्रयत्नशील था। अतः 2 जनवरी, 1937 को दोनों के बीच एक समझौता हुआ, जिसे इतिहास में सज्जन समझौता (Gentlemen's Agreement) कहते हैं। इसमें दोनों ने स्पेन की तटस्थता और अखण्डता

को स्वीकार किया और भूमध्यसागर में गुजरने की स्वाधीनता के सिद्धान्त को मान्यता दी। किन्तु इसके बाद मुसोलिनी ने ब्रिटेन और फ्रांस के विरुद्ध प्रबल प्रचार आरम्भ कर दिया। उसने अपनी नौं-सेना बढ़ाने की विशाल योजना की घोषणा की, जिससे इंगलैण्ड का भयभीत होना स्वाभाविक ही था। जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया का अपहरण किया गया, किन्तु मुसोलिनी ने इसका विरोध नहीं किया। चेकोस्लोवाकिया के संकट के समय मुसोलिनी ने हिटलर को म्यूनिक समझौते के लिए तैयार किया। इस समय ब्रिटेन इटली को सन्तुष्ट करने तथा उसे हिटलर से पृथक् रखने का प्रयत्न कर रहा था। फलतः 16 नवम्बर, 1939 को ब्रिटिश-इटालियन पैक्ट हुआ, जिसमें ब्रिटेन ने अबीसीनिया पर इटली की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की। इसके बदले में इटली ने स्पेनिश प्रदेश में युद्ध की समाप्ति पर अपने स्वयंसेवक हटाने तथा निकट पूर्व में ब्रिटिश-विरोधी प्रचार न करने का आश्वासन दिया।

(12) फौलादी समझौता—फ्रांस ने भी अबीसीनिया पर इटली के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया, किन्तु इटली की संसद् में फ्रांस से कोर्सिका तथा ट्यूनिसिया लेने की प्रबल माँग की गई। इससे फ्रांस और इटली का वैमनस्य बढ़ने लगा। अतः इटली ने 22 मई, 1939 को जर्मनी के साथ एक राजनैतिक और सैनिक समझौता किया। इसी समझौते को फौलादी समझौता (Steel Pact) कहते हैं। क्योंकि इसमें दोनों ने एक-दूसरे को सैनिक सहायता देने का निश्चय किया था। इटली की भौगोलिक स्थिति इस प्रकार थी कि उस पर जर्मनी की अपेक्षा ब्रिटेन और फ्रांस अधिक सुगमता से आक्रमण कर सकते थे और वह जर्मनी की तुलना में अभी निर्बल भी था। अतः मुसोलिनी ने युद्ध का समर्थक होते हुए भी पोलेण्ड के मामले में शान्तिपूर्ण समझौते का प्रयास किया।

मुसोलिनी का अन्त—मुसोलिनी के प्रयासों के बावजूद जब हिटलर ने 1 सितम्बर, 1939 को पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया तो फौलादी समझौते के विपरीत वह तटस्थ रहा। वह युद्ध में कूदने के लिए अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। इटली के लिए आक्रमण करने और युद्ध में कूदने का उपयुक्त अवसर वही था, जबकि मित्र राष्ट्रों की पराजय लगभग निश्चित हो चुकी थी, किन्तु उन्होंने आत्मसमर्पण न किया हो। अतः हिटलर ने जब फ्रांस को लगभग परास्त कर दिया तब 10 जून, 1940 को इल डूचे ने हर्षोन्मत्त जन-समुदाय को सम्बोधित करते हुए कहा, " भाग्य द्वारा निश्चित की गई घड़ी आ पहुँची है। हम समुद्र में बाँधने वाली प्रादेशिक और सैनिक श्रृंखलाओं को तोड़ना चाहते हैं। हम अवश्य ही विजयी होंगे ताकि इटली में, यूरोप में और विश्व-शान्ति स्थापित हो सके।" 11 जून, 1940 को इटली ने ब्रिटेन और फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। कौन जानता था कि इस युद्ध में मुसोलिनी की न केवल हार होगी अपितु उसके स्वदेशवासी उससे रुष्ट होकर 28 अप्रैल, 1945 को उसे उसकी प्रेयसी सहित गोली का शिकार बना देंगे।

प्रश्न

1. इटली में फासिस्टवाद के उदय एवं विकास के लिए उत्तरदायी कारणों का विश्लेषण कीजिये।
2. मुसोलिनी के उदय एवं पतन के कारणों की समीक्षा कीजिये।
3. मुसोलिनी की विदेश नीति की समीक्षा कीजिये।

अध्याय-18

नाजीवाद का उत्कर्ष
(Rise of Nazism)

पृष्ठभूमि—प्रथम महायुद्ध के परिणामस्वरूप जर्मनी के होहेनजोलर्न राजवंश का अन्त हो गया और उसके स्थान पर हर एवर्ट के नेतृत्व में प्रजातान्त्रिक शासन की स्थापना की गई। जनवरी, 1919 के दिन जर्मन रीष्टाग (लोकसभा) के चुनाव हुए। 6 फरवरी को एवर्ट ने वाइमर (मर) नामक नगर में नव-निर्वाचित लोकसभा को आहूत किया। लोकसभा में किसी भी (ज)नीतिक दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं था। 394 सदस्यों की लोकसभा में समाजवादी दल 163, कैथोलिक दल के 90 एवं डेमोक्रेटिक दल के 70 सदस्य थे। अतः इन तीनों दलों ने (मि)लकर संयुक्त सरकार बनाई। एवर्ट को राष्ट्रपति चुना गया तथा शीडमैन को चान्सलर (प्र)धानमन्त्री) नियुक्त किया गया। नवीन सरकार ने मित्रराष्ट्रों के साथ सन्धि सम्पन्न करने तथा (जर्म)नी के लिए एक नये संविधान बनाने का कार्य हाथ में लिया। लोकसभा में मित्रराष्ट्रों द्वारा (प्रस्)तुत सन्धि की शर्तों की भरपूर निन्दा की गई। स्वयं शीडमैन शर्तों के पक्ष में नहीं था। अतः (उस)ने चान्सलर पद से त्याग-पत्र दे दिया। उसके स्थान पर गुस्टाव वेबर चान्सलर बनाया गया। (उस)की सरकार ने 28 जून, 1919 को वर्साय की आरोपित सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने से 'वाइमर सरकार' कभी लोकप्रिय न हो सकी।

31 जुलाई तक नवीन संविधान भी तैयार हो गया। इसके अनुसार जर्मन संघीय राज्य की व्यवस्था की गई थी। इस संघ के अन्तर्गत 18 राज्य थे। इन राज्यों को उनकी शक्ति के अनुसार अधिकार प्रदान किये गये। परन्तु संविधान की मुख्य विशेपता केन्द्रीय सरकार को शक्तिशाली बनाना था। नवीन संविधान के अनुसार दो सदनों की व्यवस्था की गई—(1) रीष्टाग (2) रीग्रार्ट। रीष्टाग के सदस्यों के कार्यकाल की अवधि चार वर्ष रखी गई और सदस्यों का निर्वाचन वयस्क मताधिकार एवं गुप्त मतदान के द्वारा कराये जाने की व्यवस्था की गई। रीग्रार्ट में संघ के सदस्य राज्यों का प्रतिनिधित्व होता था। दस लाख की आवादी पर राज्य को एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया। दस लाख से कम आवादी वाले राज्य को भी एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार प्रदान किया गया। संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित थी जिसका निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता करती थी। उसकी पदावधि सात वर्ष रखी गई थी। उसकी सहायता के लिए चान्सलर की व्यवस्था की गई। चान्सलर पद के लिए

रीष्टाग के बहुमत वाले दल के नेता को चुना जाता था, क्योंकि वह राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी न होकर रीष्टाग के प्रति उत्तरदायी होता था।

आर्थिक संकट—वाइमर प्रजातन्त्र को प्रारम्भ से ही आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ा। युद्धकाल में जर्मनी की आर्थिक स्थिति अस्त-व्यस्त हो चुकी थी। वर्साय की सन्धि के कारण जर्मनी को भारी आर्थिक क्षति हुई थी जिसका विवरण हम पढ़ चुके हैं। इस पर भी, उस पर भारी हर्जाना लाद दिया गया। ऐसी स्थिति में जर्मनी की मुद्रा की कीमत गिरती गई। उसके सिक्के 'मार्क' की गिरती स्थिति का अनुभव निम्नलिखित तालिका से हो जाता है—

दिसम्बर, 1921, 1 पौण्ड = 700 मार्क

अगस्त, 1922, 1 पौण्ड = 3000 मार्क

दिसम्बर, 1922, 1 पौण्ड = 34,000 मार्क

जर्मनी ने अपनी शोचनीय आर्थिक स्थिति का हवाला देते हुए मित्रराष्ट्रों से दो वर्ष तक हर्जाना न लेने की प्रार्थना की। इंगलैण्ड ने प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया परन्तु फ्रांस और बेल्जियम ने प्रस्ताव को ठुकरा दिया। जब जर्मनी निश्चित अवधि में निर्धारित किस्त अदा नहीं कर पाया तो फ्रांस, बेल्जियम आदि ने मिलकर जर्मनी के समृद्ध रूर प्रदेश पर अधिकार जमा लिया। विवश जर्मनी को यह अपमान भी सहन करना पड़ा। परन्तु उसने सक्रिय असहयोग की नीति अपनाई जिससे जनता को तो भारी कष्ट उठाने ही पड़े परन्तु फ्रांस को भी कोई लाभ नहीं हुआ। अन्त में इस समस्या को हल करने के लिए डावस कमेटी नियुक्त की गई। फ्रांस ने कुछ संशोधनों के साथ डावस कमेटी द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया।

डावस कमेटी की योजनानुसार जर्मनी की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए उसे 80 करोड़ गोल्ड मार्क का विदेशी कर्जा दिया गया। इसके अतिरिक्त जर्मनी में 'रीश मार्क' नाम का नया सिक्का जारी किया गया। इस सिक्के की व्यवस्था के लिए राजकीय बैंक की स्थापना की गई तथा इस बैंक को सरकारी नियन्त्रण से पृथक् रखा गया। कमेटी की सिफारिश के अनुसार रूर का प्रदेश जर्मनी को वापस लौटा दिया गया। हर्जाने की रकम के बदले में जर्मनी की रेलवे आय, आयकर से होने वाली आय आदि को अमानत के रूप में रख लिया गया। डावस कमेटी की योजना से मृत जर्मनी में जीवन की नई आशा दृष्टिगोचर होने लगी और जर्मन जनता भी अदम्य साहस तथा आत्मविश्वास के साथ अपने आर्थिक पुनर्निर्माण की ओर बढ़ी। कोयला तथा इस्पात का उत्पादन बढ़ने लगा। इससे जर्मनी की साख जमने लगी और संयुक्त राज्य अमेरिका से उसे भारी ऋण मिलने लगा। विदेशी ऋण की सहायता से जर्मनी हर्जाने की वार्षिक किस्तों को अदा करने लगा। यह स्थिति 1924 तक कायम रही। इसका अच्छा परिणाम निकला। जर्मनी में प्रजातन्त्र की जड़ें मजबूत होने लगीं। 1925 ई. में प्रजातान्त्रिक दलों का उम्मीदवार एबर्ट भारी बहुमत से पुनः राष्ट्रपति चुना गया। 1925 में उसकी मृत्यु के बाद पुनः चुनाव हुए और इस बार भी प्रजातान्त्रिक उम्मीदवार हिण्डेनबर्ग विजयी हुआ। 1929 में जर्मनी की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए यंग-कमेटी नियुक्त की गई और उसकी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया गया।

दुर्भाग्यवश 1930-31 में सम्पूर्ण संसार आर्थिक मन्दी के गम्भीर संकट में उलझ गया। अमेरिका जैसे समृद्ध राष्ट्र का ढाँचा भी चरमरा उठा। जर्मनी की स्थिति तो बहुत अधिक शोचनीय

हो गई। उद्योग-धन्धे ठप्प हो गये, चारों तरफ रोटी-रोजी की विकराल समस्या फैलती जा रही थी, वस्तुओं के भाव बढ़ते जा रहे थे और सामान्य लोग अपनी थोड़ी-सी पूँजी को खोकर निर्धनों की श्रेणी में सम्मिलित होने को विवश होने लगे। जर्मनी को कहीं से अन्तर्राष्ट्रीय ऋण भी न मिल सका। यद्यपि प्रजातान्त्रिक सरकार ने स्थिति को सुधारने का अथक प्रयास किया परन्तु उसे सफलता नहीं मिल पाई जिससे जर्मन जनता का लोकतन्त्र से विश्वास जाता रहा। ऐसी परिस्थिति में नाजी दल को अपनी लोकप्रियता तथा शक्ति बढ़ाने का अपूर्व अवसर मिल गया।

प्रजातान्त्रिक सरकार की विदेश नीति—जर्मनी में नाजी दल के उत्कर्ष में प्रजातान्त्रिक सरकार की कमजोर विदेश नीति का भारी योगदान रहा है। 1919 से 1932 तक जर्मन राजनीति का मुख्य ध्येय जर्मनी के लिए यूरोप तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सम्मानपूर्वक स्थान प्राप्त करना था। इस सम्बन्ध में भी जर्मन राजनीतिज्ञ एकमत नहीं थे। एक वर्ग रूस से मित्रता करने के पक्ष में था तो दूसरा वर्ग मित्रराष्ट्रों के साथ सहयोग के पक्ष में था। प्रथम वर्ग का कहना था कि रूस के साथ मित्रता स्थापित करके सन्धि के अपमानजनक अनुच्छेदों को अस्वीकार करना चाहिए। दूसरे वर्ग का कहना था कि पुराने शत्रुओं (मित्रराष्ट्रों) के साथ सहयोग से सन्धि की शर्तों में धीरे-धीरे परिवर्तन के लिए प्रयास करना चाहिए।

शुरू में प्रथम वर्ग का पलड़ा भारी रहा जबकि रूस के साथ जर्मनी ने 1922 में रैपोलो की सन्धि सम्पन्न की। चार वर्ष बाद, इसी सन्धि के आधार पर रूस से एक नई सन्धि की गई परन्तु इसके बाद दूसरे वर्ग का प्रभाव बढ़ गया और रूसी झुकाव धीरे-धीरे कम हो गया। दूसरे वर्ग का नेता था—डॉ. स्ट्रेसमान। 1923 में कुछ महीनों के लिए डॉ. स्ट्रेसमान जर्मनी का चान्सलर रहा परन्तु उसे त्यागपत्र देना पड़ा। इसके बाद वह विदेश मन्त्री नियुक्त किया गया और अपनी मृत्युपर्यन्त (अक्टूबर, 1929) इसी पद पर बना रहा। स्ट्रेसमान की विदेश नीति का ध्येय राष्ट्रों के परिवार में जर्मनी के लिए सम्मानित स्थान प्राप्त करना तथा मित्र राष्ट्रों, विशेषतः फ्रांस के साथ मैत्री-सम्बन्ध बढ़ाना था। उसने रूर में चलने वाले निष्क्रिय आन्दोलन को बन्द कर दिया। डावस योजना का स्वागत किया और विभिन्न देशों के साथ व्यापारिक सन्धियाँ करके उनका विश्वास अर्जित करने में सफल रहा। उसके सर्वोच्च महत्त्वपूर्ण कार्य लोकार्नो समझौता और जर्मनी के लिए राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त करना था। इसका परिणाम अच्छा निकला। 1927 में मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी से अपनी सेनाएँ हटालीं। 1928 में जर्मनी ने सम्मान सहित अन्य राष्ट्रों के साथ पेरिस समझौते पर हस्ताक्षर किये। 1929 में क्षतिपूर्ति का नया हल निकाला गया और यंग-योजना अमल में लाई गई। 1930 में मित्रराष्ट्रों ने राइनलैण्ड को भी खाली कर दिया। परन्तु उसके बाद प्रजातान्त्रिक सरकार की विदेश नीति बुरी तरह से असफल होने लगी और बिना किसी ध्येय के अँधेरे में भटकती रही।

इस प्रकार, वर्साय की आरोपित सन्धि के साथ वाइमर सरकार का सहयोग, जर्मनी का निःशस्त्रीकरण, उपनिवेशों की क्षति, राइनलैण्ड पर मित्रराष्ट्रों का आधिपत्य, सार की घाटी पर फ्रेंच-नियन्त्रण और रूर पर फ्रांस का बलात् अधिकार, 1930-31 का विश्वव्यापी संकट आदि ने सामूहिक रूप से वाइमर प्रजातन्त्र के भविष्य को अन्धकारमय बना दिया और जर्मनी में नाजीवाद के उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

नाजी दल की प्रगति

एडोल्फ हिटलर—नाजी दल जिसका मूल नाम "राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन मजदूर दल" था, का संस्थापक एडोल्फ हिटलर था। उसका जन्म आस्ट्रिया और बवेरिया की सीमा पर 'इन' नदी के किनारे ब्रौनी नामक गाँव के एक मोची के घर हुआ था। उसकी जन्म तिथि है 20 अप्रैल, 1889 ई.। हिटलर एक सामान्य बुद्धि का बालक था। माता के प्रति उसे काफी स्नेह था। परन्तु अपने पिता के साथ उसकी कभी नहीं पटी। उसका किशोर काल ध्येयहीन तथा रंगहीन था। वह चित्रकार बनना चाहता था, परन्तु उस क्षेत्र में उसे सफलता नहीं मिली। उसकी युवावस्था का प्रारम्भिक काल इधर-उधर भटकते गुजर गया था। प्रथम महायुद्ध ने उसके भाग्य की दिशा बदल दी। वह जर्मन सेना में भर्ती हो गया। उसकी वीरता के कारण उसे "प्रथम वर्ग का लौह-पदक" (आइरन क्रॉस) प्रदान किया गया। इस युद्ध में वह बुरी तरह से घायल भी हो गया था।

प्रथम महायुद्ध में जर्मनी को पराजय का मुँह देखना पड़ा और उसे मित्रराष्ट्रों द्वारा आरोपित वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश किया गया जिससे सम्पूर्ण जर्मनी में सन्धि के विरुद्ध असन्तोष व्याप्त हो गया था। एलन बुल्लोक के शब्दों में, "इस सन्धि ने जर्मनी को क्षेत्रीय दृष्टि से लंगड़ा, आर्थिक दृष्टि से खाली, भौतिक दृष्टि से कमजोर और भावात्मक दृष्टि से बेइज्जत कर दिया था।" अतः स्वाभाविक था कि हिटलर को भी इससे भारी सदमा पहुँचा। उसने भी अन्य जर्मनों की भाँति इस पराजय और कलंकित सन्धि का बदला लेने का निश्चय कर लिया। परन्तु अभी उसके पास साधनों का अभाव था। वह इस समय म्यूनिक नगर में था। उसने "जर्मन-मजदूर संघ" की सदस्यता ग्रहण कर ली और कभी-कभी साम्यवादी दल की सभाओं में जासूसी का काम भी करता था।

1920 ई. में हिटलर ने अपने कुछ सैनिक साथियों की सहायता से 'जर्मन मजदूर संघ' दल का कायाकल्प कर दिया। अब इसका नया नाम रखा गया—"राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन मजदूर दल" जिसे सामान्य बोलचाल की भाषा में "नाजीदल" कहा जाता था। इस दल का 25 सूत्री कार्यक्रम भी घोषित किया गया। कुछ प्रमुख कार्यक्रम इस प्रकार थे—(1) वर्साय की सन्धि को अस्वीकार करना। (2) जर्मनी से छीने गये प्रदेशों को पुनः प्राप्त करना। (3) जर्मन सैन्य-शक्ति का विकास करना। (4) जर्मनकरण को पूरा करना तथा विदेशी हस्तक्षेप को रोकना। (5) समाजवादियों और साम्यवादियों का दमन करना। (6) भ्रष्टाचार पर आधारित लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था को समाप्त करना। दल के कार्यक्रम तथा उसकी गतिविधियों का प्रसार करने की दृष्टि से दल का एक समाचार-पत्र भी निकाला गया। म्यूनिक को दल का मुख्य कार्यालय बनाया गया। 1921 ई. में दल की स्वयंसैनिक टुकड़ी का गठन किया गया जिसके सदस्य भूरी कुर्ती पहनते थे, दाहिने भुजवन्द पर स्वास्तिक का चिह्न धारण करते थे और अपने नेता का 'हेल हिटलर' कहकर अभिवादन करते थे। इन टुकड़ियों का काम नाजी दल की सभाओं की सुरक्षा करना तथा अन्य दलों की सभाओं में अव्यवस्था पैदा करके उन्हें भंग करना था। इस समय तक हिटलर ने अपनी वक्तृत्वकला को काफी विकसित कर लिया था और वह घण्टों भाषण दे सकता था।

1923 ई. में फ्रांस द्वारा रूर प्रदेश पर अधिकार जमा लेने से जर्मनी की आर्थिक व्यवस्था को भारी धक्का लगा और चारों ओर असन्तोष तथा अव्यवस्था का दौर चल पड़ा था। हिटलर

और उसके एक मित्र लूडेनडौर्फ ने मौजूदा परिस्थिति का लाभ उठाकर जर्मन सरकार का एकाएक तख्ता पलटने का प्रयास किया। यद्यपि उसका प्रयास सफल नहीं हो पाया। परन्तु उसने जिस नाटकीयता के साथ प्रयास किया था, उसके फलस्वरूप बहुत से जर्मन लोग उसे पहचान गये। प्रजातान्त्रिक सरकार ने हिटलर के प्रयास को "मदिरालय का विप्लव" नाम देकर कुचल दिया और हिटलर को पाँच वर्ष की साधारण कैद की सजा मिली। परन्तु लगभग 8½ मास बाद ही उसे जेल से रिहा कर दिया गया। अपने कारावास काल में हिटलर ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "मीन कैम्फ" (मेरा संघर्ष) लिखी जो आगे चलकर नात्सीदल के लिए पवित्र बाईबिल बन गई।

1923 से 1929 की अवधि में नात्सीदल ने अपना सम्पूर्ण ध्यान दल को संगठित करने की तरफ केन्द्रित किया। 1925 ई. में दल के प्रमुख नेता "फ्यूहर्र" के प्रति व्यक्तिगत निष्ठा रखने वाली सैनिक टुकड़ियाँ गठित की गई जिन्हें एस.एस. या "काली कुर्ती वाले" कहा जाता था। नात्सीदल के सदस्यों को लोकसभा के चुनाव लड़ने तथा जीतने की विशेष ट्रेनिंग दी जाने लगी। इससे दल में कई अच्छे नेताओं का विकास हुआ। उदाहरणार्थ, रोएम एक वीर सेनानायक, गोटफ्रिड फेडर एक अर्थशास्त्री और हरमैन गोएरिंग एक प्रसिद्ध हवाबाज सिद्ध हुए। डॉ. जोसेफ गोएबेल्स प्रचार-मन्त्री के रूप में विख्यात हुआ तो रूडोल्फ हेस दल के संगठनकर्त्ता के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इनके अलावा विल्हेमफ्रिक, अल्फ्रेड रोजेनबर्ग, हिमलर, रिबेनट्रौप आदि अन्य नेताओं का विकास हुआ। फिर भी इस दल को 1924 के चुनाव में केवल 13 स्थान ही प्राप्त हो सके और 1928 के चुनाव में केवल 12 स्थान ही प्राप्त हो सके। यदि जर्मनी की आर्थिक स्थिति अचानक फिर खराब नहीं हो गई होती तो शायद इस दल का प्रभाव ही समाप्त हो जाता।

1928 के बाद नाजीदल का उत्तरोत्तर विकास होता गया। उसकी सदस्य संख्या तेजी से बढ़ने लगी। चूँकि आर्थिक अव्यवस्था का सबसे अधिक घातक परिणाम मध्यम श्रेणी के लोगों को भुगतना पड़ा था अतः इस श्रेणी के लोगों ने नाजी दल को पूरा-पूरा समर्थन दिया। वैसे मुसोलिनी की भाँति हिटलर ने भी प्रारम्भ में बड़े-बड़े उद्योगपतियों तथा राजतन्त्रवादियों से साँठ-गाँठ कर रखी थी क्योंकि ये लोग साम्यवाद से भयभीत थे और नाजीदल भी साम्यवाद विरोधी था।

1930 के चुनावों में नात्सीदल को आश्चर्यजनक सफलता मिली। उसे 107 स्थान प्राप्त हुए। फिर भी, हिटलर का उत्थान इतना आकस्मिक रहा कि उस युग के अनुभवी राजनीतिज्ञों, इतिहासकारों एवं पत्रकारों की धारणाएँ असत्य सिद्ध हुई। उदाहरणार्थ; अक्टूबर, 1932 में जर्मन विद्वान् अर्नोल्ड वुल्फर्म ने कहा था कि जर्मनी में एक ही दल द्वारा तानाशाही की आशंका समाप्त हो चुकी है। दिसम्बर, 1932 में विश्वविख्यात इतिहासकार टायनवी ने विचार प्रकट किया था कि "एक बात निश्चित है कि नाजीदल पतनोन्मुखी है।" हिटलर को चान्सलर नियुक्त करने के कुछ दिनों पूर्व स्वयं राष्ट्रपति हिण्डेनबर्ग ने कहा था कि "वह बोहेमियन सिपाही (हिटलर) कभी भी जर्मनी का चान्सलर नहीं बनेगा।" फिर भी हिटलर जर्मनी का भाग्य विधाता बन ही गया। यह सब कुछ बहुत ही आकस्मिक ढँग से हुआ।

1932 के मार्च-अप्रैल में राष्ट्रपति का चुनाव हुआ। तीन उम्मीदवार मैदान में थे—मौजूदा राष्ट्रपति हिण्डेनबर्ग, नात्सीदल का संस्थापक एडोल्फ हिटलर और साम्यवादी नेता थौलमेन।

हिण्डेनवर्ग विजयी हुआ। परन्तु हिटलर को उसके मुकाबले में 37% वोट अर्थात् कुल 1 करोड़ 34 लाख वोट मिले। यह हिटलर और उसके दल की बढ़ती हुई लोकप्रियता का प्रमाण था। जुलाई,1932 में लोकसभा के चुनावों में नात्सीदल को 230 स्थान मिले। परन्तु इसके बाद जर्मनी की आर्थिक स्थिति में थोड़ा सुधार हो गया और नवम्बर,1932 के चुनावों में नात्सीदल को केवल 196 स्थान ही मिल पाये। अर्थात् तीन चार महीनों में ही उसके प्रभाव में कमी आ गई। ऐसी स्थिति में किसी को भी यह उम्मीद नहीं थी कि हिटलर सत्तारूढ़ हो पायेगा। परन्तु उसका भाग्य प्रबल था। 30 जनवरी,1933 को राष्ट्रपति हिण्डेनवर्ग ने तत्कालीन चान्सलर श्लीचर को पदच्युत करके हिटलर को चान्सलर नियुक्त किया। इस प्रकार लम्बे संघर्ष के बाद हिटलर सत्ता प्राप्त करने में सफल रहा और यह सब कुछ वैध उपायों से प्राप्त किया गया।

सत्ता का दृढ़ीकरण

हिटलर चान्सलर तो बन गया परन्तु रीष्टाग (लोकसभा) में [illegible] नहीं था। अतः उसे अपने 11 सदस्यों वाले मन्त्रिमण्डल में 8 राष्ट्रवादियों को मन्त्री बनाना पड़ा। नाजीदल के केवल तीन लोगों को मन्त्री बनाया जा सका। अतः हिटलर ने लोकसभा को भंग करके 5 मार्च,1933 को नवीन चुनावों की घोषणा की। चुनाव के कुछ दिन पूर्व नात्सी सरकार ने अपने विरोधियों की धर-पकड़ शुरू करदी। इसी अवधि में रहस्यमय परिस्थितियों में रीष्टाग के भवन में आग लग गई। सरकार ने इसका सारा दोष साम्यवादियों के मत्थे मँढ दिया और इस आरोप में साम्यवादी दल के सैकड़ों कार्यकर्त्ताओं तथा नेताओं को जेल में ठूँस दिया गया। इतना ही नहीं, एक विशेष आदेश द्वारा उन्हें निर्वाचन में भाग लेने से भी वंचित कर दिया गया। इसके विपरीत साम्यवादियों का आरोप था कि रीष्टाग भवन में आग लगाने का काम नात्सीदल ने ही किया था। आधुनिक युग के कुछ प्रमुख इतिहासकार भी साम्यवादी दल के आरोप को सही बतलाते हैं। जो भी हो, चुनाव बहुत ही उत्तेजित वातावरण में सम्पन्न हुआ। परिणाम भी हिटलर के पक्ष में रहा। रीष्टाग के 647 स्थानों में 288 स्थान नात्सीदल को, 52 स्थान नात्सीदल के सहयोगी राष्ट्रवादियों को, 120 स्थान सोशल डेमोक्रेटों को, 81 साम्यवादियों को और शेष स्थान अन्य दलों को प्राप्त हुए। इस प्रकार नाजियों और राष्ट्रवादियों को सदन में स्पष्ट बहुमत मिल गया।

23 मार्च,1933 को रीष्टाग ने 94 मतों के विरुद्ध 441 मतों से एक विशेष नियम पास करके हिटलर के मन्त्रिमण्डल को चार वर्ष के लिए पूर्ण अधिकार प्रदान कर दिये। इस प्रकार हिटलर की तानाशाही पर वैधानिकता की मुहर लगा दी गई। 1 दिसम्बर, 1933 के एक अन्य नियम द्वारा राज्य और नात्सीदल की एकता की घोषणा की गई। अगस्त, 1934 में राष्ट्रपति हिण्डेनवर्ग की मृत्यु हो गई। इस पर 14 अगस्त, 1934 को हिटलर ने 'राष्ट्रपति' तथा 'चान्सलर' दोनों पदों को मिलाने की व्यवस्था की। जनता ने 90% मतों से हिटलर के कार्य को मान्यता प्रदान की। अब हिटलर ने "इम्पीरियल लीडर" की पदवी धारण की। इस प्रकार, हिटलर जर्मनी का एकमात्र शासक बन गया। अब नाजीदल राष्ट्र का और हिटलर नाजीदल का प्रतीक बन गया। इसके साथ ही, जर्मनी में प्रजातन्त्र का अन्त हो गया।

उत्कर्ष के कारण

नात्सीदल और उसके प्रमुख नेता हिटलर ने जो आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की, उसके मूल में अनेक राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक कारण निहित थे। उनमें कुछ निम्नलिखित थे—

हिटलर का व्यक्तित्व—नात्सीदल के उत्कर्ष का एक प्रमुख कारण हिटलर का असाधारण व्यक्तित्व था। उसमें जननायक होने के सभी गुण थे। वह एक मंजा हुआ राजनीतिज्ञ, एक प्रतिभावान एवं महान् वक्ता और एक वीर सैनिक था। उसमें परिस्थितियों के अनुसार राजनीतिक दाँव-पेचों को अपने अनुकूल कार्यान्वित करने की अद्‌भुत योग्यता थी। उसकी वक्तृत्व-शक्ति वेमिशाल थी। उसकी वाणी में एक विचित्र मोहनी शक्ति थी जो श्रोताओं को मन्त्र-मुग्ध कर देती थी। बैन्स ने उसके सम्वन्ध में लिखा है, "हिटलर एक कुशल मनोवैज्ञानिक था, एक चतुर जन-नेता था और एक श्रेष्ठ अभिनेता था।" वह एक साधनसम्पन्न आन्दोलनकारी तथा एक योग्य संगठनकर्त्ता था। अपनी इन्हीं विशेपताओं के कारण वह उस राष्ट्र का अधिनायक वन गया जिसका वह मूल नागरिक भी नहीं था। इससे भी आश्चर्य की वात यह है कि उसकी उन्नति में जनमत का वहुत वड़ा हाथ रहा था।

वर्साय की आरोपित सन्धि—जर्मन जनता वर्साय की आरोपित सन्धि को भूल नहीं पाई। इस सन्धि ने उनके देश को नैतिक और भौतिक दृष्टि से मृतप्राय वना दिया था। वर्साय की सन्धि के वाद की घटनाओं—फ्रांस का सतत् विरोधी रुख, रूर आधिपत्य, सार आधिपत्य, क्षतिपूर्ति की भारी रकम, जर्मनी का एकपक्षीय निःशस्त्रीकरण आदि ने जर्मनों के क्रोध को भड़काने का काम किया। 1924 से 1929 के अस्थायी आर्थिक पुनरुत्थान के काल में असन्तोप एवं प्रतिशोध के ये तत्त्व पृष्ठभूमि में धकेल दिये गये परन्तु उनका अस्तित्व कायम रहा। 1930-31 के आर्थिक संकट के समय में ये तत्त्व अपनी पूर्ण शक्ति के साथ आ धमके और एक वार पुनः वर्साय की सन्धि के प्रति विद्यमान आक्रोश फूट पड़ा। नात्सीदल ने "वर्साय का अन्त हो" का नारा लगा कर लाखों असन्तुष्ट जर्मनों का समर्थन प्राप्त कर लिया। वस्तुतः नात्सीदल के उत्कर्प का एक प्रमुख कारण वर्साय की सन्धि के प्रति जर्मन जनता का क्रोध था। परन्तु इतिहासकार लिप्सन इसे सही नहीं मानते हैं।

आर्थिक संकट—नात्सी दल और हिटलर के उत्कर्प का एक महत्त्वपूर्ण कारण विश्वव्यापी आर्थिक संकट (1929-33) था जिसके परिणामस्वरूप जर्मनी की आर्थिक स्थिति बहुत खराव हो गई थी। कृपक ऋण-भार से दवे पड़े थे तो वड़े उद्योगपति साम्यवाद से भयभीत थे। छोटे-छोटे व्यापारी वड़े-वड़े स्टोर्स के कारण दुःखी थे तो वेकारों की संख्या 60 लाख के आसपास जा पहुँची थी। हिटलर और उसके नात्सी दल ने घोपित किया कि हम प्रत्येक आर्थिक समस्या का समाधान कर सकते हैं। उनके इस प्रकार के आश्वासनों से समाज के प्रत्येक वर्ग की सहानुभूति उनके साथ हो गई। विद्वानों का मानना है कि यदि जर्मनी में इस प्रकार का संकट नहीं आता तो हिटलर तथा उसकी पार्टी का कभी भी इतना उत्कर्प नहीं होता। वस्तुतः आर्थिक संकट नात्सी दल के लिए वरदान सिद्ध हुआ।

जातीय उत्कृष्टता का प्रचार—नात्सीदल के उत्कर्ष का एक कारण जर्मन जनता में उग्र राष्ट्रीयता का पुनर्जागरण था। हिटलर ने इसे और भी उग्र बनाने के लिए जातीय उत्कृष्टता का विचार प्रतिपादित किया। उसका कहना था कि ईश्वर ने जर्मन जाति को अन्य जातियों पर शासन करने के लिए बनाया है। चूँकि जर्मन जाति शुरू से ही सैनिक मनोवृत्ति एवं वीर पूजा की भावना से प्रेरित होती आई है। अतः अब उसे हिटलर के रूप में एक वीर नायक मिल गया और अपनी स्वाभाविक भावना के साथ जनता ने उसे अपना "फ्यूहर" मान लिया।

प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्था—हिटलर और नात्सीदल के उत्कर्ष का एक कारण जर्मन जनता में प्रजातान्त्रिक लोकसभात्मक शासन पद्धति के विरुद्ध अरुचि होना था। बहुत से जर्मन, संसदात्मक शासन प्रणाली, जिस ढँग से वह कार्य कर रही थी, से ऊब गये थे, क्योंकि उन्हें वे दिन याद थे जबकि लोकसभा में अनुशासन और व्यवस्था की दृढ़ व्यवस्था थी और वाद-विवाद तथा फजीतियों का वातावरण नहीं था। तत्कालीन जर्मन राजनीतिज्ञ केवल थोथे वचन और प्रतिज्ञाएँ करते रहे थे। इससे सामान्य जनता को भारी आघात पहुँचता था। वह एक ऐसे शक्तिशाली व्यक्ति को जर्मनी का भाग्य विधाता देखना चाहती थी जो कि जनता को मौजूदा शोचनीय स्थिति से मुक्ति दिलवा सके।

साम्यवाद का भय—1917 ई. में रूस में साम्यवादियों को जो अभूतपूर्व सफलता मिली उसका प्रभाव यूरोप के कई देशों पर पड़ा। जर्मनी में यह प्रभाव अधिक रहा। नवम्बर, 1932 के चुनावों में साम्यवादी दल को 100 स्थान मिले। साम्यवादियों की इस सफलता ने नात्सीदल के भाग्योदय का मार्ग प्रशस्त कर दिया। जो लोग एक शक्तिशाली व्यक्ति को जर्मनी का भाग्य विधाता देखना पसन्द करते थे वे तो नात्सीदल के अनुयायी बन ही चुके थे परन्तु साम्यवादी भय ने उद्योगपतियों, तथा पूँजीपतियों को भी नात्सीदल का समर्थन करने के लिए विवश कर दिया। हिटलर ने सामान्य जनता में भी साम्यवाद का हौवा खड़ा कर दिया। जब रीष्टाग भवन को जलाने का दोष साम्यवादियों के मत्थे मढ़ा गया तो लोग यह अनुभव करने लगे कि इनको दबाने के लिए नात्सीदल को समर्थन देना आवश्यक है क्योंकि साम्यवादी दल से टक्कर लेने लायक यदि कोई दल है तो वह नात्सीदल है।

मनोवैज्ञानिक कारण—नात्सीदल के उत्कर्ष का एक कारण मनोवैज्ञानिक था। ऐसा प्रतीत होता था कि प्रजातन्त्र अधिकांश जर्मनों की रुचि के प्रति अपेक्षित ध्यान देने में अनिच्छुक है अथवा असमर्थ है। साम्राज्यवादी जर्मनी के महान् पुरुषों एवं उनके आदर्शों की हत्या करने वाले प्रयत्नों के सम्बन्ध में प्रजातान्त्रिक सरकार की सहिष्णु नीति, साम्राज्यवादी ध्वज को तत्परता के साथ त्यागना तथा सोवियत रूस के साथ मैत्री-गठ-बन्धन इन सब कार्यों ने जर्मन जनता को प्रजातन्त्र से विमुख कर दिया। सामन्तवादी तत्त्वों, नवयुवकों, आदर्श किसानों और सैनिकों—जिन्हें मौजूदा राजनीतिज्ञों से घृणा थी—ने इस असन्तोष को और अधिक फैलाने में सहयोग दिया। नात्सीदल और हिटलर ने इस असन्तोष का महत्त्व समझा और इसका लाभ उठाने का पूरा-पूरा प्रयास किया। ली बेन्स ने ठीक ही कहा है कि हिटलर एक कुशल मनोवैज्ञानिक था और उसमें संघर्ष और संगठन करने की अपूर्व क्षमता थी। उसमें असन्तुष्ट लोगों के मन की बात जानने की क्षमता थी और तत्कालीन परिस्थिति को अपने ध्येयों की पूर्ति के लिए मोड़ने की भी क्षमता थी।

नात्सी दल का कार्यक्रम—नात्सीदल के उत्कर्ष का एक प्रमुख कारण उसका आकर्षक कार्यक्रम था। जर्मनी के अधिकांश दलों ने इस कार्यक्रम में अपने कार्यक्रम की झलक देखी। नात्सी कार्यक्रम में, सम्पत्ति की सुरक्षा का आश्वासन तथा साम्यवादियों का दमन, श्रमिकों को शोषितों से मुक्ति का, उपभोक्ताओं को उत्पादकों के शोषण से बचाने का, छोटे-छोटे व्यापारियों को बड़े-बड़े मुनाफाखोरों से बचाने का आश्वासन दिया गया। हिटलर के इस कूटनीतिक कार्यक्रम ने सबको सन्तुष्ट कर दिया। इसके अलावा, इस कार्यक्रम का जोर-शोर के साथ प्रचार किया गया। नात्सी दल के तूफानी दस्तों के सैनिक-शक्ति-प्रदर्शन से जहाँ अन्य दलों के कार्यकर्ता भयभीत हो गये थे, वहीं सामान्य लोगों को यह विश्वास होने लगा था कि नात्सी दल ही जर्मनी को स्थाई शान्ति तथा व्यवस्था प्रदान कर सकेगा।

हिटलर की गृह-नीति

विरोधियों का सफाया—प्रशासनिक सत्ता हस्तगत करने के तुरन्त बाद ही हिटलर ने नात्सी दल के प्रमुख विरोधियों को जर्मनी के राजनीतिक रंगमंच से पूर्ण रूप से हटा देने का निश्चय किया। इस समय नात्सी दल के दो प्रमुख विरोधी थे। एक मार्क्स के अनुयायी साम्यवादी और दूसरे यहूदी, चाहे वे किसी भी दल से सम्बन्धित क्यों न हों। इन दोनों वर्गों के प्रमुख नेताओं को पकड़ लिया गया और हजारों की संख्या में उनके अनुयायियों को कारागार में ठूँस दिया गया। कारागार में उन पर नाना प्रकार के अत्याचार किये गये तथा हरसम्भव उपाय से उन्हें आतंकित किया गया ताकि वे साम्यवाद को छोड़कर नात्सी दल की सदस्यता ग्रहण कर लें। यहूदी जाति से नाजी शासन अत्यधिक असन्तुष्ट था और चाहता था कि यहूदी लोग जर्मनी से चले जायें। हिटलर के सहायक गोएरिंग ने यहूदियों को नेस्तनाबूद करने के लिए 'गेस्टापो' और "समाधि-स्थलों" (Concentration Camps) की स्थापना की जहाँ यहूदियों पर अमानवीय अत्याचार किये गये। परिणाम यह निकला कि जर्मनी के अनेक यहूदी करोड़पति, विद्वान, कलाकार आदि लोग जर्मनी छोड़कर भाग गये। इसके उपरान्त उन लोगों पर जुल्म ढाये गये जो अपनी परम्परागत संस्कृति को त्याग कर नात्सी दल की सदस्यता ग्रहण करने को तैयार न थे।

अपने विरोधियों का सफाया करने के सम्बन्ध में नात्सीदल ने उन सभी राजनैतिक दलों को समाप्त कर दिया जिन्हें मार्क्स के सिद्धान्तों से प्रेरणा मिलती थी। उनके साथ काफी कड़ाई की गई। उनकी सभाओं और अखबारों पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। उनके कोषों को जब्त कर लिया गया और उनके नेताओं को जेलों में ठूँस दिया गया। नात्सी सरकार की इस नीति को देखकर कई राजनैतिक दलों ने स्वयं अपने आपको भंग कर दिया। अब केवल एक दल, एक नेता और एक साम्राज्य के सिद्धान्त का अनुकरण किया गया।

जर्मनी का केन्द्रीयकरण—अपने विरोधियों का सफाया करने के पश्चात् हिटलर ने जर्मनी की केन्द्रीय सत्ता को संगठित तथा मजबूत बनाने का प्रयास किया। मौजूदा प्रजातन्त्र एक संघीय राज्य था जबकि नात्सी दल केन्द्रीयकरण में विश्वास रखता था। केन्द्रीयकरण की दिशा में प्रथम कदम था—जर्मन संघ के राज्यों की विधानसभाओं को भंग करना। इसके उपरान्त उन राज्यों को केन्द्रीय सरकार के प्रान्तों में परिवर्तित करना। यद्यपि नात्सी दल ने प्रशा, बवेरिया, सक्सोनी,

बाडेन आदि राज्यों को राजनीतिक इकाइयों के रूप में एकदम से मिटाने का विधिवत प्रयास किया था, परन्तु इसमें उसे पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी।

जर्मनी के इस पुनर्निर्माण में जो राजनीतिक विचारधारा काम कर रही थी, वह इटली के फासिस्टवाद से मिलती-जुलती थी। फासिस्टों की भाँति नाजियों ने भी समष्टिवादी राज्य की घोषणा की, जिसकी सत्ता स्वयं अपने विकास के लिए है और नागरिक का प्रत्येक कार्य, प्रत्येक स्थिति में उसी की हित-कामना से प्रेरित होना चाहिए। प्रजातान्त्रिक राज्य में नागरिकों को जो मूल अधिकार उपलब्ध होते हैं, नात्सी शासन उनका घोर विरोधी था। समष्टिवादी प्रजातन्त्र की इन परम्परागत स्वतन्त्रताओं को सिद्धान्ततः और व्यापक रूप में निराकृत करते हैं।

श्रमिक नीति—महायुद्ध के उपरान्त से ही जर्मनी के श्रमिकों पर मार्क्स के सिद्धान्तों का गहरा प्रभाव पड़ने लग गया था और उनकी संस्थाएँ साम्यवादी सिद्धान्तों से प्रभावित हो चुकी थीं। हिटलर साम्यवाद का घोर शत्रु था। अतः नात्सी शासनकाल में श्रमिक संघों को भंग कर दिया गया और उनकी निधियों (Funds) को सरकार ने जब्त कर लिया। इसके बाद सम्पूर्ण जर्मन श्रमिकों को उजड्ड तथा असंयत नाजी नेता डॉक्टर 'ले' के नेतृत्व में संगठित किया गया। उद्योग और श्रमिकों के बीच सहयोग स्थापित किया गया। सरकार की ओर से मजदूर-कल्याण, बीमा, बचत, पेशे की ट्रेनिंग आदि की व्यवस्था की गई। हिटलर अपनी नई नीति को राष्ट्रीय समाजवाद की स्थापना की दिशा में पहला कदम कहता था।

आर्थिक उत्थान—यद्यपि हिटलर ने अपने दल का नाम राष्ट्रीय समाजवादी दल रखा था परन्तु उसकी कार्यवाहियों से स्पष्ट हो गया कि यह राष्ट्रीय अधिक है और समाजवादी कम। यह भी सत्य है कि उसने बेकार श्रमिकों को शीघ्र ही काम दिया। इसका मूल कारण यह है कि हिटलर ने प्रारम्भ में गुप्त रूप से और बाद में खुले तौर पर शस्त्रों का निर्माण शुरू कर दिया था। इसके अतिरिक्त नाजियों ने सार्वजनिक निर्माण योजना को कार्यान्वित करने का निश्चय किया और साम्यवादी रूस का अनुकरण करते हुए चतुर्वर्षीय योजना (Four-year Plan) का सूत्रपात किया। हिटलर का लक्ष्य जर्मनी को आर्थिक दृष्टि से पूर्णतः स्वावलम्बी बनाना था। उसने देश के कच्चे माल को भारी मात्रा में उपयोग में लाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम उठाये। रसायन शास्त्रियों तथा वैज्ञानिकों की सहायता से रबड़, तेल, कपास, ऊन, शक्कर आदि का काम देने वाले कृत्रिम द्रव्यों (Ersatz) का विकास किया गया। क्योंकि इन वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए जर्मनी को विदेशों का मुखापेक्षी होना पड़ता था।

शिक्षा और साहित्य—स्कूलों और विश्वविद्यालयों के अध्ययन में ताल-मेल बैठाया गया। जन्म से मृत्यु तक की शिक्षा के द्वारा एक नये समाज की स्थापना का प्रयास किया गया। इस दिशा में उसका सम्पूर्ण ध्यान जर्मनी के विशुद्ध जर्मन नागरिकों का विकास करने की तरफ केन्द्रित था। अतः गैर आर्यों को शिक्षक पदों से हटा दिया गया। गैर आर्य छात्रों को किसी प्रकार की सुविधाएँ नहीं दी गईं। 1933 से 1938 की अवधि में विश्वविद्यालयों के लगभग एक तिहाई पदों को परिवर्तित किया गया। पाठ्य-पुस्तकों को भी नये ढँग से लिखा गया जिससे विद्यार्थियों तथा शिक्षकों में नात्सी सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा और श्रद्धा का विकास हो सके। जियो-पोलिटिक्स, जीव विज्ञान आदि की पढ़ाई में जाति वंश के विषय में नयी बात पढ़ायी जाने लगी और विद्यार्थियों

में शुरू से ही यह भावना भरी जाने लगी कि जर्मनी जाति अन्य जातियों से श्रेष्ठ है और इसकी श्रेष्ठता को बनाये रखना प्रत्येक जर्मन का पवित्र कर्त्तव्य है। इस दृष्टि से नये तरह के नात्सी स्कूल खोले गये, जिनमें चुने हुए छात्रों को नात्सी दल के नेतृत्व के लिए ट्रेनिंग दी जाती थी। इसी तरह कला और साहित्य में भी ताल-मेल स्थापित किया गया। "राइच कल्चर चैम्बर" (Reich Culture Chamber) की स्थापना की गई और गोएबेल्स को इसका प्रधान नियुक्त किया गया। इसका काम साहित्य के सभी अंगों—पत्रकारिता, रेडियो, फिल्म, नाटक, संगीत, चित्रकारिता एवं साहित्य पर नियन्त्रण रखना था।

इस प्रकार, नात्सी दल के प्रथम वर्ष में ही हिटलर ने जर्मनी का स्वरूप बदल दिया। सभी राजनीतिक दलों का लगभग सफाया कर दिया गया और गैर राजनीतिक संस्थाओं को एकदम बदल दिया गया।

धार्मिक नीति—नात्सी दल ने जब धार्मिक क्षेत्र में भी अपने समष्टिवाद के सिद्धान्त को लागू करने का प्रयत्न किया तो भेदभाव और पृथकता के वातावरण में उसे यह काम काफी जटिल लगा। क्योंकि धार्मिक क्षेत्र में ये भेदभाव शताब्दियों से चले आ रहे थे। फिर भी नात्सी शासन ने समता के तीव्र औषधोपचार के द्वारा इन भेदों को मिटाने का प्रयास किया। जर्मनी में एक 'राष्ट्रीय' चर्च की स्थापना की गई जिसमें केवल विशुद्ध जर्मन मूल के पादरियों को नियुक्त किया गया। नात्सी प्रचारकों ने ईसा मसीह को एक आर्य शहीद बतलाया जिसे यहूदियों ने मार डाला था। यहूदियों को दगाबाज, सूदखोर, ठग, बदमाश आदि के रूप में बदनाम किया गया। धार्मिक और सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में यहूदियों का बहिष्कार किया गया। प्रशासनिक सेवाओं से सभी यहूदियों को हटा दिया गया और उन्हें जर्मनी से बाहर खदेड़ने का योजनाबद्ध तरीका अपनाया गया। द्वितीय महायुद्ध के समय में लाखों यहूदियों को मौत के घाट उतार दिया गया। जहाँ तक कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट शाखाओं का सम्बन्ध है, नात्सी दल को विशेष सफलता नहीं मिली। विवश होकर हिटलर को पोप के साथ समझौता करना पड़ा। पोप ने कैथोलिकों द्वारा राजनीति में किसी प्रकार का हिस्सा न लेने-देने का वचन दिया। इसी प्रकार का समझौता प्रोटेस्टेण्ट वालों से भी करने का निश्चय किया गया, परन्तु प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय की एक शाखा ने समझौता प्रस्ताव ठुकरा दिया और उसने नात्सी दल के प्रति अपना विरोध जारी रखा।

हिटलर की विदेश नीति

मुख्य उद्देश्य—हिटलर के नेतृत्व में नात्सी शासन ने जो विदेश नीति अपनाई वह राष्ट्रीय समाजवादी दल द्वारा 1920 में स्वीकृत कार्यक्रम की नीति से भिन्न थी। उसकी विदेश नीति मीन कैम्फ पर आधारित थी और इसके मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे—

(1) जर्मन मूल वंश के सब लोगों को आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के आधार पर एक वृहत्तर जर्मन साम्राज्य में संगठित करना। वैसे बिस्मार्क ने प्रशा के नेतृत्व में जर्मन राज्यों का एकीकरण किया था परन्तु वह जर्मन आबादी वाले प्रदेशों को जर्मन साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं ला सका था। आस्ट्रिया के अधिकांश निवासी जर्मन भाषा-भाषी थे। इसी प्रकार डेन्जिग, स्विट्जरलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया और बाल्टिक राज्यों के कई प्रदेशों में जर्मन भाषा-भाषी लोगों की प्रधानता थी। हिटलर इन सभी जर्मन भाषा-भाषी प्रदेशों को जर्मन साम्राज्य में सम्मिलित करना चाहता था।

(2) हिटलर की विदेश नीति का दूसरा मुख्य उद्देश्य वर्साय तथा अन्य शान्ति समझौतों को रद्द करना था। वह इन्हें जर्मनी के लिए अपमानित तथा कलंकित मानता था। हिटलर ने एक बार कहा था कि, "इसकी (वर्साय) प्रत्येक बात को जर्मन जाति के दिल और दिमाग में इस तरह भर दिया जाय कि अन्तत: 6 करोड़ नर-नारियों के हृदय की लज्जा और घृणा की संयुक्त भावनाओं का एक जाज्वल्यमान सागर बन जाये और उस भट्ठी में से मजबूत फौलाद का एक ऐसा संकल्प पैदा हो, ऐसी भावना विकसित हो कि 'हम फिर से हथियार लेंगे'।"

(3) हिटलर की विदेश नीति का एक मुख्य ध्येय गुप्त रूप से अपने को सुसज्जित करके दूसरे देशों पर वार करने का था। उसके सामने जर्मनी की बढ़ती हुई आबादी को बसाने की समस्या थी। इसके लिए जर्मनी का प्रादेशिक विस्तार करना आवश्यक था। प्रादेशिक विस्तार के लिए हिटलर की विदेश नीति का मूल लक्ष्य जर्मनी के लिए महाद्वीपीय आधार प्राप्त करना था; अर्थात् विस्तृत प्रदेशों को जर्मनी के आस-पास ही प्राप्त करना था न कि उपनिवेशों को प्राप्त करना था। इसके लिए पूर्व की ओर अर्थात् रूस की दिशा में प्रादेशिक विस्तार अधिक सुगम माना गया। दूसरे शब्दों में हिटलर जर्मनी की पूर्व की ओर अग्रसर होने की परम्परागत विदेश नीति को पुनर्जीवित करना चाहता था। इसे पूरा करने के लिए इंगलैण्ड तथा इटली के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने तथा फ्रांस को मित्रविहीन रखने की आवश्यकता थी।

(4) हिटलर की विदेश नीति का एक मुख्य ध्येय प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी द्वारा खोये हुए कुछ क्षेत्रों को वापस लेना था। इन्हें केवल युद्ध के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता था। प्रार्थना अथवा विरोध प्रदर्शन से इन्हें वापस नहीं लिया जा सकता था।

(5) मीन कैम्फ में हिटलर ने अपनी विदेश नीति का उल्लेख करते हुए लिखा है, "यूरोप में कभी दो शक्तियों को ठठने न दिया जाय; जर्मनी की सीमा पर जब भी दूसरी शक्ति के उदय की सम्भावना हो, तभी जर्मनी को उसे कुचल देने का प्रयास करना चाहिए।" शायद हिटलर की विदेश नीति का ध्येय यूरोप की अन्य सभी सैनिक शक्तियों पर आक्रमण करके उन्हें कमजोर बनाने तथा जर्मनी को विश्व शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने का रहा हो।

इस प्रकार की विदेश नीति को कार्यान्वित करने के लिए उत्तम टेकनीक की आवश्यकता थी। हिटलर ने निम्नलिखित साधनों का प्रयोग किया—(1) **पुनः शस्त्रीकरण**—हिटलर युद्ध को मानव जाति के कल्याण के लिए आवश्यक मानता था। उसका मानना था कि संघर्ष के द्वारा ही अच्छी चीज का सृजन होता है। अतः उसने शस्त्रीकरण की तरफ विशेष ध्यान दिया और इसके लिए जर्मनी को राष्ट्रसंघ की सदस्यता छोड़नी पड़ी। (2) **प्रचार**—हिटलर का मानना था कि विजय केवल तलवार के द्वारा ही प्राप्त नहीं होती है। इसके लिए लेखनी और प्रचार की भी आवश्यकता है। उसने पश्चिमी देशों को यह आश्वासन दिया कि वह साम्यवाद को रोकने का अथक प्रयत्न कर रहा है। इसी चक्कर में इंगलैण्ड और फ्रांस ने जर्मनी द्वारा शान्ति सन्धियों का उल्लंघन सहन कर लिया था। जब तक पश्चिमी देशों को साम्यवादी भूत का भय बना रहा, हिटलर निश्चिंत रहा। (3) **मतभेद उत्पन्न करना**—हिटलर हमेशा किसी भी समस्या को इस ढँग से प्रस्तुत करने में विश्वास रखता था जिससे पश्चिमी देशों में आपसी मतभेद उत्पन्न हो जाय। उदाहरणार्थ, जर्मनी और जापान का समझौता पश्चिमी देशों के विरुद्ध किया गया था, परन्तु

हिटलर ने उसे साम्यवाद विरोधी रूप दिया। इसी प्रकार स्पेन के गृह-युद्ध में उसने साम्यवादियों के विरुद्ध कैथोलिकों को सहयोग देने की वात कह कर जनरल फ्रांकों को मदद दी और प्रजातान्त्रिक सरकार का गला घोंट दिया।

विदेश नीति के प्रमुख कार्य

राष्ट्रसंघ से अलग होना—4 अप्रैल, 1933 को हिटलर के निर्देशन में जर्मन सुरक्षा परिषद् की स्थापना की गई और इसे गुप्त रूप से युद्ध के लिए लामवन्दी की योजनाएँ बनाने का तथा शस्त्रों के निर्माण का अधिकार दे दिया गया। हिटलर की यह नीति राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों के प्रतिकूल थी; क्योंकि राष्ट्रसंघ शस्त्रों को कम करना चाहता था और जर्मनी को निःशस्त्रीकरण में कोई रुचि नहीं थी। इसलिए 14 अक्टूबर, 1933 ई. को हिटलर निःशस्त्रीकरण सम्मेलन से अलग हो गया और राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी त्याग दी। उसने अपनी नीति को निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया—"जर्मनी की भूतपूर्व सरकार ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता इस विश्वास के साथ ग्रहण की थी कि वहाँ पर सभी को समानाधिकार एवं सुविधाएँ प्रदान की जायेंगी और जर्मनी अपने भूतपूर्व शत्रुओं के साथ अच्छे सम्बन्ध बना सकेगा। परन्तु राष्ट्रसंघ में न तो समानता है और न समानाधिकार। अतः इस प्रकार के असम्माननीय वातावरण में रहना जर्मन जाति के गौरव के विरुद्ध हो जाता है।" इसके तुरन्त बाद ही हिटलर ने राष्ट्रसंघ छोड़ने के अपने निर्णय को जर्मन मतदाताओं के सन्मुख प्रस्तुत किया और 95% मतदाताओं ने उसके निर्णय का समर्थन किया। यह इस बात की स्पष्ट चेतावनी थी कि स्ट्रेसमान की सहयोगी नीति का अन्त हो चुका है और हिटलर आक्रामक नीति को अपनाने का दृढ़ संकल्प कर चुका है।

पोलैण्ड के साथ अनाक्रमण समझौता—वर्साय की सन्धि द्वारा पोलैण्ड को जर्मनी के बहुत से क्षेत्र—डेन्जिग बन्दरगाह, साइलेशिया, पोसेन आदि प्राप्त हुए थे। हिटलर का सत्तारूढ़ होना पोल राजनीतिज्ञों के लिए सरदर्द बन गया था क्योंकि हिटलर कई बार सार्वजनिक तौर पर जर्मनी द्वारा खोये हुए प्रान्तों को लेने की बात कह चुका था। राष्ट्रसंघ का परित्याग करने के कारण सारा संसार भी हिटलर को अविश्वास की निगाह से देखने लगा था। ऐसी स्थिति में संसार को अपनी शान्तिप्रियता का प्रमाण देने हेतु हिटलर ने 26 जनवरी, 1934 ई. को पोलैण्ड के साथ दस वर्ष के लिए एक अनाक्रमण समझौता सम्पन्न कर लिया। परन्तु उसका वास्तविक उद्देश्य फ्रांस की सुरक्षा-प्रणाली को निर्बल बनाना था जिसका पोलैण्ड एक महत्त्वपूर्ण सदस्य था। इस समझौते के बाद पोलैण्ड, सामूहिक सुरक्षा नीति के मार्ग से दूर खिसकने लगा और फ्रांस की यह आशा धूमिल पड़ गई कि पोलैण्ड, रूस और जर्मनी के मध्य सन्तुलन बनाये रखने में सफल होगा।

अपनी इस कूटनीतिक चाल से हिटलर जर्मनी के प्रबल शत्रु पोलैण्ड को अपना मित्र बनाने में सफल हो गया। हिटलर की इस नीति के पीछे कुछ अन्य कारण भी निहित थे। चूँकि हिटलर ने अपने कार्यों के द्वारा पश्चिमी देशों और साम्यवादी रूस—दोनों को असन्तुष्ट बना दिया था, अतः इस समय जर्मनी अकेला पड़ गया था और उसे दिखावे के लिए ही एक मित्र की आवश्यकता थी। दूसरा कारण यह था कि अगले वर्ष सार घाटी में जनमत संग्रह होने वाला था। एक कारण यह भी था कि पोलैण्ड के साथ समझौता करके वह पूर्व की तरफ से निश्चिंत होकर

अन्य दिशाओं में अपनी विस्तारवादी योजना को कार्यान्वित कर सकता था। पोलैण्ड ने भी अपने स्वार्थों की वजह से समझौता किया था। उसके दोनों पड़ौसी—रूस और जर्मनी उसके शत्रु थे। दोनों शत्रुओं के साथ अधिक समय तक शत्रुता बनाये रखना उसके हित में अच्छा नहीं था। लोकार्नो की सन्धि से पोलैण्ड का अपने मित्र फ्रांस से विश्वास उठ गया था। क्योंकि फ्रांस को अपनी सुरक्षा की चिन्ता पहले थी और इसके लिए वह अपने मित्रों के हितों के प्रति उदासीन रुख अपना सकता था। इधर जर्मनी काफी शक्तिसम्पन्न हो गया था। अतः पोलैण्ड ने एक शत्रु की चिन्ता से मुक्त होने के लिए जर्मनी से समझौता कर लेना उचित समझा।

आस्ट्रिया को हड़पने का प्रयास—सेंट जर्मेन की सन्धि के द्वारा आस्ट्रिया के साथ जर्मनी का एकीकरण वर्जित कर दिया गया था। फिर भी 1919 के बाद कई वर्षों तक अधिकांश आस्ट्रियन जनता जर्मनी के साथ एकीकरण की इच्छुक थी। परन्तु जर्मनी में नात्सी दल के सत्तारूढ़ होने के बाद अधिकांश आस्ट्रियन लोगों का यह मत बदल गया था। केवल जर्मनी के थोड़े अनुयायी नाजी लोग ही इसके लिए प्रयत्नशील थे। हिटलर अपनी मातृभूमि आस्ट्रिया का जर्मनी के साथ एकीकरण करने को अधिक उत्सुक था। उसने आस्ट्रियन नाजियों को अस्त्र-शस्त्र तथा सैनिक प्रशिक्षण दिलवाया तथा गुप्त रूप से उनकी पूरी मदद की। इसके बाद हिटलर के इशारे पर आस्ट्रियन सरकार का तख्ता पलटने का प्रयास किया गया। आस्ट्रिया के चान्सलर डाल्फस को कत्ल करवा दिया गया और आस्ट्रियन नाजियों ने कई महत्त्वपूर्ण सरकारी इमारतों पर अधिकार कर लिया। आस्ट्रियन जनता ने नाजियों को समर्थन नहीं दिया। आस्ट्रियन सेना ने यथाशीघ्र नाजियों के विद्रोह को कुचल दिया। डाल्फस की हत्या की सूचना मिलते ही इटली के मुसोलिनी ने आस्ट्रियन सीमान्त पर अपनी फौजों को तैनात कर दिया और जर्मनी को चेतावनी दे दी कि आस्ट्रिया में हस्तक्षेप करने का अर्थ—इटली से युद्ध छेड़ना होगा। हिटलर को इस प्रकार की परिस्थिति के उत्पन्न हो जाने की आशंका नहीं थी और फिलहाल वह किसी भी बड़े युद्ध के लिए तैयार नहीं था। अतः उसने इस समूची कार्यवाही से अपने किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार, आस्ट्रिया को हड़पने का प्रयास विफल रहा। परन्तु इसके महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले। हिटलर को मुसोलिनी की मित्रता का महत्त्व मालूम हो गया। अतः अब उसने मुसोलिनी की मित्रता प्राप्त करने की तरफ विशेष ध्यान दिया। हिटलर की कार्यवाहियों से शंकित होकर रूस ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता स्वीकार करली। फ्रांस ने भी इटली के प्रति मित्रता का हाथ बढ़ाया और दोनों में 1935 में समझौता हो गया। इतना ही नहीं, आस्ट्रिया ने भी फ्रांस के साथ मैत्री-समझौता कर लिया।

सार पर अधिकार—वर्साय की सन्धि के अनुसार 13 जनवरी, 1935 को राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में सार क्षेत्र में यह जानने के लिए जनमत संग्रह किया गया कि वहाँ की जनता फ्रांस के साथ अथवा जर्मनी के साथ मिलना चाहती है। सार की जनता ने भारी बहुमत से जर्मनी के पक्ष में मतदान किया। परिणामस्वरूप राष्ट्रसंघ की कौंसिल ने 17 जनवरी को सम्पूर्ण सार क्षेत्र जर्मनी को सौंप दिया और 1 मार्च, 1935 को औपचारिक विधि भी अदा करदी गई। पश्चिमी देशों को सन्तुष्ट करने के लिए हिटलर ने सार पर अधिकार करने के उपरान्त घोषणा की कि उसे पश्चिम में और अधिक प्रान्तों की आकांक्षा नहीं है।

शस्त्रीकरण—सार प्रदेश पर अधिकार होते ही हिटलर ने शस्त्रीकरण के काम को तेजी से आगे बढ़ाने का निश्चय कर लिया। इसी समय फ्रांस ने अपने यहाँ अनिवार्य सैनिक सेवा की अवधि दुगुनी कर दी और इंगलैण्ड ने भी वायु-सेना की वृद्धि शुरू करदी। इससे हिटलर को शस्त्रीकरण का स्वर्ण अवसर मिल गया। 16 मार्च, 1935 को हिटलर ने जर्मनी के पुनः शस्त्रीकरण की घोषणा की, जिसमें कहा गया कि चूँकि मित्रराष्ट्र वर्साय सन्धि के अन्तर्गत निःशस्त्रीकरण का पालन करने में असमर्थ रहे हैं, अतः जर्मनी सन्धि के एकपक्षीय पहलू या दायित्व का पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। जर्मन रीष्टाग तत्काल ही अनिवार्य भर्ती के द्वारा अपनी शान्तिकालीन सेना में 5 लाख सैनिकों की वृद्धि करेगी। हिटलर के इस कदम के विरुद्ध ब्रिटिश, फ्रेंच और इटालियन सरकारों ने विरोध-पत्र भेजे। राष्ट्रसंघ ने भी हिटलर की भर्त्सना की। परन्तु जर्मनी को अपने दायित्व से मुँह मोड़ने के लिए सजा देने सम्बन्धी कोई कदम नहीं उठाया गया जिससे हिटलर का उत्साह बढ़ गया और वह जर्मनी की सैन्य-शक्ति की वृद्धि में जुट गया।

एंग्लो-जर्मन नौसेना समझौता—हिटलर द्वारा जर्मनी के पुनः शस्त्रीकरण की घोषणा से फ्रांस और रूस दोनों विशेष रूप से भयभीत हो गये और उन दोनों ने जर्मनी के विरुद्ध "फ्रेंच-सोवियत पैक्ट" पर हस्ताक्षर कर दिये। परन्तु हिटलर ने इंगलैण्ड के साथ समझौता करके इस पैक्ट को अर्थहीन बना दिया। 25 मार्च, 1935 को हिटलर ने इंगलैण्ड के सामने एंग्लो-जर्मन नौ-सैनिक समझौते का प्रस्ताव रखा था जो कुछ विशेष कूटनीतिक दाँव-पेंच के उपरान्त 18 जून, 1935 ई. को सम्पन्न हो गया। इस समझौते के अनुसार जर्मनी को ग्रेट ब्रिटेन की जल-सेना के 35 प्रतिशत के अनुपात से जलसेना रखने की स्वीकृति मिल गई। इस सन्धि के द्वारा जर्मनी को पनडुब्बियाँ बनाने का भी अधिकार मिल गया जिसका वर्साय की सन्धि में निषेध किया गया था। जो भी हो, यह समझौता हिटलर की एक महान् कूटनीतिक सफलता थी। इंगलैण्ड ने अपने साथी राष्ट्रों से सलाह लिये बिना यह समझौता किया था जिससे वे इंगलैण्ड को अविश्वास की दृष्टि से देखने लगे। इससे मित्रराष्टों में मतभेद बढ़ने लगा और यहीं से जर्मनी को सन्तुष्ट करने की नीति का सूत्रपात हुआ जिसे किसी भी आधार पर न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता। इस समझौते की टीका करते हुए जर्मन राजदूत रिब्बनट्राप ने लिखा था कि "इस समझौते का सबसे बड़ा महत्त्व यह था कि इससे ब्रिटेन वर्साय की सन्धि की शस्त्रास्त्र सम्बन्धी व्यवस्थाएँ तोड़ने के लिए तैयार हो गया।"

राइन प्रदेश का सैन्यीकरण—हिटलर लोकार्नो सन्धि को समाप्त करके राइन प्रदेश को पुनः सामरिक दृष्टि से सुसज्जित करना चाहता था। उसे शीघ्र ही अवसर प्राप्त हो गया। मई, 1935 में फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया ने रूस के साथ पारस्परिक सुरक्षा-सन्धि सम्पन्न करली। हिटलर ने इस सन्धि का विरोध किया। 2 मई, 1936 ई. को उसने राइन प्रदेश पर अधिकार कर लिया और घोषणा की कि फ्रेंको-रशियन समझौते ने लोकार्नो सन्धि की आत्मा को ही समाप्त कर दिया है। अतः अब जर्मनी लोकार्नो को मानने के लिए कटिबद्ध नहीं है। इस प्रकार, उसने फ्रांस के ऊपर आरोप लगाकर पश्चिमी देशों को जर्मनी के विरुद्ध किसी प्रकार की कार्यवाही करने से रोक दिया। जर्मन रीष्टाग ने उसकी कार्यवाही का समर्थन नहीं किया। हिटलर ने रीष्टाग

को भंग कर अपनी नीति को जनता के सामने रखा। 28 मार्च, 1936 को जनता ने 88.8 प्रतिशत मतों से उसकी नीति का समर्थन किया।

लोकार्नो सन्धि के अन्त ने वर्साय सन्धि पर आधारित सुरक्षा प्रणाली को पूर्णतः नष्ट कर दिया। जर्मन सेनाओं को आक्रमण का मार्ग मिल गया। इसके परिणामस्वरूप, फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया के मध्य स्थापित सैनिक सहयोग भी व्यर्थ हो गया और आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता को बचाना अब और भी दुष्कर कार्य हो गया। हिटलर के इस कदम से छोटे राष्ट्रों का इंगलैण्ड और फ्रांस से विश्वास जाता रहा और जर्मनी की तरफ मैत्री का हाथ बढ़ाने लगे। राजनीतिक दृष्टि से रूस अकेला पड़ गया और वह राष्ट्रसंघ को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए निरर्थक हाथ-पैर मारता रहा।

रोम-बर्लिन धुरी—यह शायद स्वाभाविक ही था कि तीन असन्तुष्ट महान् शक्तियाँ—जर्मनी, जापान और इटली जो कि 1931-36 के काल में अपनी आक्रामक कार्यवाहियों के द्वारा शेष संसार को विक्षुब्ध किये हुये थी, आपसी समर्थन के लिए एक-दूसरे के समीप आ जायँ, क्योंकि 1935 के प्रारम्भ में प्रत्येक देश पृथक् खड़ा था और संसार की सहानुभूति को खो चुका था। सर्वप्रथम जर्मनी ने अपने अकेलेपन को तोड़ने का प्रयत्न किया। इसका एक कारण यह भी था कि 1934 में मुसोलिनी के विरोध के कारण ही जर्मनी आस्ट्रिया को हड़पने में विफल रहा था। अतः इटली की मित्रता को प्राप्त करना बहुत आवश्यक था। इधर इथोपियन संकट ने इटली को इंगलैण्ड और फ्रांस से दूर फेंक दिया था और मुसोलिनी हिटलर की तरफ झुकने लगा था क्योंकि हिटलर ने राष्ट्रसंघ द्वारा इटली के विरुद्ध लगाये गये आर्थिक प्रतिबन्धों का मुकाबला करने में मुसोलिनी को पूरी-पूरी सहायता दी थी। इतना ही नहीं, इटली की इथोपिया विजय को मान्यता देने वाला पहला देश भी जर्मनी ही था। जुलाई, 1936 में हिटलर के गुप्त सुझावों के अनुकूल आस्ट्रिया ने अपने आपको एक जर्मन राज्य घोषित कर दिया। हिटलर ने आस्ट्रिया की प्रभुसत्ता को स्वीकार करते हुए यह मान लिया कि आस्ट्रिया का राजनीतिक ढाँचा उसका घरेलू मामला है और वह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इसमें हस्तक्षेप नहीं करेगा। हिटलर की इस नीति के पीछे मुसोलिनी की मित्रता को प्राप्त करने की भावना मुख्य थी। इस सम्पूर्ण प्रसंग में मुसोलिनी चुप्पी साधे रहा जिसका अर्थ था—हिटलर का समर्थन। संयोगवश, इसी समय स्पेन का गृह-युद्ध शुरू हो गया जिसमें एक तरफ प्रतिक्रियावादी जनरल फ्रांको था तो दूसरी तरफ लोकतान्त्रिक सरकार थी। मुसोलिनी जनरल फ्रांको की मदद कर रहा था। उसे खुश करने के लिए हिटलर ने जनरल फ्रांको को पूरा-पूरा सहयोग एवं समर्थन प्रदान किया जब कि फ्रांस मुसोलिनी से चिढ़ गया था और इंगलैण्ड का रुख भी मुसोलिनी के अनुकूल नहीं रहा। ऐसी स्थिति में मुसोलिनी और हिटलर का नजदीक आना स्वाभाविक ही था। 21 अक्टूबर, 1936 को इटली के विदेशमन्त्री ने बर्लिन की यात्रा की और 25 अक्टूबर, 1936 को इटली और जर्मनी में एक समझौता हो गया। इसमें यह व्यवस्था की गई—(1) समान हितों से सम्बन्धित सभी मामलों में दोनों के मध्य सहयोग। (2) साम्यवाद के विरुद्ध यूरोपीय सभ्यता की सुरक्षा। (3) डेन्यूब नदी क्षेत्र में आर्थिक सहयोग और (4) स्पेन की प्रादेशिक तथा औपनिवेशिक अखण्डता को बनाये रखना। 1 नवम्बर, 1936 को मुसोलिनी ने प्रथम बार संसार को 'रोम-बर्लिन धुरी' के बारे में जानकारी दी।

बर्लिन-टोकियो धुरी—मुसोलिनी से मैत्री-सम्बन्ध हो जाने पर भी हिटलर को सोवियत रूस के विरुद्ध एक और शक्तिशाली मित्र की आवश्यकता थी। 25 नवम्बर, 1936 को जर्मनी ने जापान के साथ 'एण्टी-कॉमिण्टर्न पैक्ट' (Anti-Commintern Pact) पर हस्ताक्षर कर दिये। इस समझौते का उद्देश्य साम्यवादी रूस का विरोध करना था परन्तु वास्तव में यह रूस और पश्चिमी देशों, दोनों के विरुद्ध किया गया था। इसके अनुसार दोनों देशों ने कोमिण्टर्न की कार्यवाहियों को एक-दूसरे को सूचित करने तथा इसके विरुद्ध कदम उठाने के सम्बन्ध में आपसी सलाह एवं सहयोग देने का वचन दिया। इससे बर्लिन-टोकियो धुरी का निर्माण हुआ। 6 नवम्बर, 1937 को इटली भी इस समझौते में सम्मिलत हो गया। इस प्रकार तीन प्रमुख असन्तुष्ट शक्तियाँ 'कोमिण्टर्न-विरोधी गुट' की चादर ओढ़ कर एकता के सूत्र में बन्ध चुकी थीं और रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी की रचना पूर्ण हो चुकी थी। महाशक्तियाँ पुनः दो गुटों में विभाजित होने की तैयारी में लग चुकी थीं।

रोम-बर्लिन-टोकियो गुट का सहयोग कई अवसरों पर उनकी संयुक्त नीति से शीघ्र ही स्पष्ट हो गया। 1937 ई. में इटली ने घोषणा की कि वह जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया को अपने संघ में मिलाने के प्रयत्न के विरुद्ध आस्ट्रिया की सुरक्षा के लिए सैनिक सहायता नहीं देगा। इसी प्रकार, जर्मनी ने जापान द्वारा स्थापित 'मंचूको' राज्य को मान्यता देकर आपसी सहयोग का परिचय दिया।

आस्ट्रिया को हड़पना—स्पेन के गृह-युद्ध, चीन पर जापान के नये आक्रमण तथा नवीन सन्धि समझौतों के परिणामस्वरूप 1938 तक यूरोप की राजनीतिक स्थिति इतनी संदिग्ध बन चुकी थी कि हिटलर को आस्ट्रिया हड़पने की अपनी चिर-अभिलाषा को पूर्ण करने का अवसर मिल गया। मुसोलिनी जिसने कि पहले उसका इस सम्बन्ध में विरोध किया था, अब हिटलर का मित्र बन चुका था। फ्रांस इस समय मन्त्रिमण्डलों की अस्थिरता के दौर से गुजर रहा था और एक निश्चित प्रभावकारी कदम उठाने की स्थिति में नहीं था। ग्रेट ब्रिटेन की सरकार जर्मनी के प्रति तुष्टिकरण की नीति को अपना रही थी अतः हिटलर के लिए यह उपयुक्त अवसर था।

हिटलर ने आस्ट्रिया के सम्बन्ध में अपना प्रथम कदम 12 फरवरी, 1938 को बढ़ाया जबकि आस्ट्रिया का चान्सलर शुशनिग (Schuschnigg) हिटलर से मिलने आया। हिटलर की धमकियों के कारण शुशनिग को आस्ट्रियन नाजी नेता आर्थर सेइस इन्क्वार्ट को गृहमन्त्री तथा अन्य नेताओं को न्याय तथा विदेशमन्त्री नियुक्त करने का वचन देना पड़ा। शुशनिग ने स्वदेश आकर घोषणा की कि वह यह प्रश्न जनता के सामने रखेगा और चार दिन बाद इस पर जनमत संग्रह लिया जायेगा। शुशनिग को यह विश्वास था कि इतने कम समय में नाजी लोग अपने प्रचार कार्य में सफल नहीं होंगे और जनमत उसके पक्ष में रहेगा तथा संसार को मालूम हो जायेगा कि आस्ट्रिया की जनता जर्मनी के साथ मिलना नहीं चाहती।

परन्तु हिटलर जनमत संग्रह के पक्ष में नहीं था। उसने शुशनिग को मतसंग्रह को रद्द करने तथा त्यागपत्र देने को कहा और यह धमकी भी दी कि यदि ऐसा नहीं किया गया तो जर्मन सेना आस्ट्रिया पर आक्रमण कर देगी और संसार की कोई शक्ति आस्ट्रिया को नहीं बचा सकेगी।

अपने देशवासियों को सम्भावित रक्तपात से बचाने की दृष्टि से शुशनिग ने हिटलर की दोनों माँगें स्वीकार करलीं। सेइस इनक्वर्ट चान्सलर बनाया गया और उसने तत्काल ही जर्मनी से प्रार्थना की कि आस्ट्रिया में शान्ति बनाये रखने के लिए जर्मन सेना भेजी जाये। 13 मार्च, 1938 को जर्मन रीष्टाग ने एक कानून बनाया जिसके अनुसार आस्ट्रिया को जर्मन संघ का एक राज्य स्वीकार कर लिया गया। आस्ट्रियन राष्ट्रपति मिकलास को त्याग-पत्र देना पड़ा। 14 मार्च को हिटलर ने सशस्त्र जर्मन सेना के साथ वियना में प्रवेश किया। जनता ने भारी उत्साह के साथ आस्ट्रिया में जन्मे हिटलर का शानदार स्वागत किया। इस प्रकार आस्ट्रिया को जर्मन साम्राज्य में मिला लिया गया।

आस्ट्रिया के सम्बन्ध में जर्मनी की कार्यवाही की प्रतिक्रिया बड़ी रुचिपूर्ण रही। इंगलैण्ड में यह माना गया कि साम्यवादी तूफान को रोकने के लिए जो बांध बन रहा था वह अब और अधिक मजबूत हो गया। कुछ लोगों ने इसे आत्म-निर्णय का सुन्दर उदाहरण माना। मुसोलिनी भी घबरा गया परन्तु उसने अपनी घबराहट प्रकट नहीं की। फ्रांस को इससे सख्त अफसोस हुआ। पोलैण्ड को अपनी सुरक्षा की चिन्ता लग गई। दूसरी तरफ, मध्य यूरोप में अब जर्मनी की स्थिति मजबूत हो गई और हिटलर को अपनी 'पूर्व की तरफ प्रसार' (Drang nach osten) की नीति को सार्थक करने का मार्ग मिल गया। आस्ट्रियन प्रभुत्व ने जर्मनी को दक्षिण-पूर्वी यूरोप के सम्पूर्ण यातायात का वास्तविक नियन्त्रण प्रदान कर दिया। चेकोस्लोवाकिया अकेला पड़ गया। उसके व्यापारिक मार्ग जर्मनी में से होकर जाते थे, जो अब जर्मनी की कृपा पर निर्भर करते थे।

चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग—हिटलर की अगली योजना चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग थी। इस योजना को कार्यान्वित करने के कई कारण थे—(1) चेकोस्लोवाकिया लोकसभात्मक राष्ट्र था। (2) राष्ट्रसंघ का कट्टर समर्थक था। (3) फ्रांस और रूस का मित्र था। (4) वर्साय की सन्धि से इसकी उत्पत्ति हुई थी। (5) शक्तिशाली चेक सेना का अस्तित्व कभी भी संकट का कारण बन सकता था। (6) सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था और (7) हिटलर को विश्वास था कि इस समय कोई भी राष्ट्र उसकी सहायता को नहीं आ सकेगा। इसके अतिरिक्त, चेकोस्लोवाकिया विविध जातियों का घर था। 1930 की जनगणना के अनुसार उसकी आबादी में 74,47,000 चेक; 32,31,600 जर्मन; 26,09,000 स्लोवाक; 6,91,000 मगयार; 4,49,000 रूथीनियन और 81,000 पोल लोग थे। यदि आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को लागू किया जाता तो चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग निश्चित था।

चेकोस्लोवाकिया के मामले में भी हिटलर ने अपने पुराने नुस्खे का उपयोग किया। चेकोस्लोवाकिया के जर्मन आबादी वाले सूडेटन प्रदेश के जर्मनों की ओट में काम शुरू किया गया। जर्मनों का नेता था कोनर्ड हेनलिन। उसने चेकोस्लोवाकिया में स्थित सभी जर्मनों से अपने दल में सम्मिलित होने की प्रार्थना की और चेकोस्लोवाकिया के मण्त्रिमण्डल के जर्मन सदस्यों से त्याग-पत्र दिलवाने में भी सफल रहा। इसके बाद हेनलिन की माँगें बढ़ती गईं। मई, 1938 में आम चुनावों के समय स्थिति इतनी बिगड़ चुकी थी कि बहुतों को यह सन्देह हुआ कि चुनाव के परस्पर विरोधी राष्ट्रीय वर्गों के आपसी झगड़े की ओट में, कहीं जर्मनी, सूडेटन जर्मनों का पक्ष लेकर चेकोस्लोवाकिया में न घुस आये। परन्तु ऐसा नहीं हुआ।

यद्यपि फ्रांस ने अपने मित्र चेकोस्लोवाकिया से अनुरोध किया था कि कुछ सीमा तक सूडेटन जर्मनों को सुविधाएँ प्रदान करके उन्हें सन्तुष्ट करने का प्रयास करे, परन्तु फिर भी उसने स्पष्ट कर दिया कि यदि चेकोस्लोवाकिया पर जर्मनी ने आक्रमण किया तो वह अपने मित्र की सहायता को पहुँच जायेगा। ब्रिटिश सरकार ने पेरिस के साथ निरन्तर सम्पर्क कायम रखा और वर्लिन तथा प्राग दोनों को शान्तिपूर्वक झगड़े को निपटाने की सलाह दी। इधर जर्मनी ने राइन के किनारे-किनारे स्विट्ज़रलैण्ड से लेकर नीदरलैण्ड तक किलेबन्दी शुरू कर दी। इसे "पश्चिमी दीवार" कहा जाता है और इसका उद्देश्य पश्चिम में फ्रांस को रोकना था, यदि पूर्व में जर्मनी चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण करे।

जुलाई में, ब्रिटिश सरकार ने, चेक सरकार की स्वीकृति के साथ, सूडेटन जर्मनों के विवाद को निपटाने में, चेक सरकार की सहायता के लिए लॉर्ड रन्सीमैन को प्राग भेजा। 7 सितम्बर, 1938 को चेक सरकार ने रन्सीमैन की सलाह से तैयार की गई एक योजना हेनलिन को भेजी। यह योजना सूडेटन जर्मनों की समस्त प्रारम्भिक माँगों को वास्तविक रूप में पूरा करने वाली थी। परन्तु 12 सितम्बर को हिटलर ने एक सार्वजनिक भाषण में कहा कि सूडेटन जर्मनों को आत्म-निर्णय का अधिकार दिया जाना चाहिए। यदि वे अपनी सुरक्षा आप नहीं कर सकते तो उन्हें हमसे सहायता मिलेगी। इस घोषणा से स्थिति और भी खराब हो गई और उपद्रव बढ़ते ही गये।

इस प्रकार की संकटकालीन स्थिति में इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री चेम्बरलेन ने हिटलर को सन्तुष्ट करने तथा भावी युद्ध को टालने की दृष्टि से 15 सितम्बर को हिटलर से व्यक्तिगत मुलाकात की। यहाँ चेम्बरलेन को मालूम हुआ कि हिटलर यह तय कर चुका है कि यदि सूडेटन जर्मन जर्मनी में मिलना चाहें तो उन्हें ऐसा करने की सुविधा दी जानी चाहिए और वह उन्हें यूरोपीय युद्ध की जोखिम पर भी सहायता देने को कटिबद्ध है। ब्रिटिश और फ्रेंच सरकारों के सामने युद्ध को टालने का एकमात्र मार्ग रह गया—आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना। 19 सितम्बर को दोनों सरकारों ने अपने निर्णय चेक सरकार को भेज दिये और यह स्पष्ट कर दिया कि यदि वह इस पर अमल नहीं करेगी तो उसे किसी प्रकार की सहायता नहीं दी जायेगी।

इंगलैण्ड और फ्रांस के विश्वासघात का कोई भी कारण रहा हो, निर्वल चेकोस्लोवाकिया को उनके आदेश को स्वीकार करना पड़ा। चेक नेताओं की यह इच्छा नहीं थी कि संसार उन्हें दूसरे महायुद्ध के लिए दोषी ठहराये। अतः 21 सितम्बर को चेक सरकार ने एंग्लो-फ्रेंच प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। चेम्बरलेन इस खुशखबरी के साथ हिटलर से मिलने गया। हिटलर ने अब अपनी माँगों को और भी बढ़ा दिया, जो इस प्रकार थीं—(1) जर्मनी को सौंपा जाने वाला सम्पूर्ण क्षेत्र 1 अक्टूबर तक जर्मनी को सौंप दिया जाय; (2) इस क्षेत्र से किसी प्रकार की सम्पत्ति नहीं हटायी जाय और न नष्ट की जाय; (3) चेक सेना या पुलिस के सूडेटन जर्मनों को रिहा कर दिया जाय और अन्य जर्मन कैदियों को भी छोड़ दिया जाय और (4) अन्तिम निपटारा जर्मन-चेक या अन्तर्राष्ट्रीय आयोग के नियन्त्रण में मत-संग्रह द्वारा हो। मतसंग्रह 25 नवम्बर तक हो जाना चाहिए।

म्यूनिख समझौता—24 सितम्बर को चेक सरकार ने हिटलर की माँगों को "सर्वथा और विना शर्त अस्वीकार्य" कहकर ठुकरा दिया। इंगलैण्ड और फ्रांस ने भी हिटलर की उपर्युक्त माँगों को अनुचित वतलाया। चेम्बरलेन तथा अन्य नेताओं ने मुसोलिनी से अनुरोध किया कि

वह हिटलर को शक्ति उपयोग से रोकने के लिए अपने प्रभाव का सद् उपयोग करे। मुसोलिनी ने फोन पर हिटलर से बातचीत की और हिटलर ने इस प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने की बात को स्वीकार कर लिया। उसने मुसोलिनी, चेम्बरलेन और दिलादिये (फ्रेंच विदेशमन्त्री) को 29 सितम्बर को म्यूनिख आने का निमन्त्रण दिया।

निश्चित दिन पर हिटलर उन तीनों से म्यूनिख स्थान पर मिला और एक समझौता हो गया जो कि हिटलर की माँगों का ही दूसरा रूप था। यह ध्यान देने की बात है कि इस सम्बन्ध में न तो चेकोस्लोवाकिया को और न उसके हिमायती रूस को ही बुलाया गया था। विवश चेक सरकार के सामने म्यूनिख समझौते को स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं था। म्यूनिख समझौते की शर्तें इस प्रकार थीं—(1) चेक सरकार सूडेटन प्रदेश को खाली कर देगी और यह काम 10 अक्टूबर तक पूरा हो जायेगा। चेक सरकार इस क्षेत्र की किलेबन्दी को नष्ट नहीं करेगी। (2) सूडेटन प्रदेश को खाली करने की शर्तों का निर्धारण एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग करेगा जिसमें जर्मनी, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और चेकोस्लोवाकिया का एक-एक प्रतिनिधि होगा। (3) जनमत संग्रह किन प्रदेशों में किया जाय, इसका निर्णय 5 सदस्यों का उपर्युक्त अन्तर्राष्ट्रीय आयोग करेगा। जनमत संग्रह की तिथि भी आयोग निर्धारित करेगा परन्तु वह नवम्बर के अन्त तक ही होनी चाहिए। (4) सीमाओं का अन्तिम निर्धारण भी अन्तर्राष्ट्रीय आयोग करेगा। (5) जनता को 6 महीने तक दिये गये प्रदेशों को छोड़ने या उनमें बसने की स्वतन्त्रता होगी। जनसंख्या की इस अदला-बदली का काम जर्मन-चेकोस्लोवाकिया आयोग करेगा। (6) चेक सरकार 4 सप्ताह के भीतर-भीतर जर्मन राजनीतिक बन्दियों को रिहा कर देगी। (7) ब्रिटेन और फ्रांस ने चेकोस्लोवाकिया को नये सीमान्तों की सुरक्षा की गारण्टी दी।

1 अक्टूबर, 1938 को प्रातःकाल जर्मन सैनिकों ने सूडेटन प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इसी अवसर पर चेकोस्लोवाकिया को तेसचेन के आस-पास का लगभग 400 वर्ग मील का क्षेत्र पोलैण्ड को सौंपना पड़ा, क्योंकि पोल सेनाएँ इस क्षेत्र की सीमा तक बढ़ आई थीं। हंगरी ने भी मगयार आबादी वाले क्षेत्र का दावा किया और 2 नवम्बर को 4800 वर्ग मील का क्षेत्र हंगरी को सौंपना पड़ा। इस प्रकार चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग हो गया।

म्यूनिख समझौते का यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इसने मोटे तौर पर फ्रांस द्वारा निर्मित महाद्वीपीय सुरक्षा-पंक्ति को नष्ट कर दिया। पोलैण्ड, रूमानिया और यूगोस्लाविया, जिनके साथ फ्रांस दीर्घ समय से यथास्थिति को बनाये रखने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध था, सामान्य रूप से सामूहिक सुरक्षा और विशेषकर फ्रेंच दायित्व के प्रश्न पर संदिग्ध हो उठे। मास्को से अफवाहें आती रहीं कि सोवियत सरकार फ्रांस के साथ सम्बन्ध विच्छेद करने वाली है। यह बात ठीक भी थी। म्यूनिख समझौते से रूस को विश्वास हो गया कि इंगलैण्ड और फ्रांस ने जान-बूझकर हिटलर को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया है ताकि वह पूर्व की तरफ प्रसार की नीति को लागू कर सके और सोवियत रूस से उलझ जाय। वास्तव में यह समझौता तुष्टिकरण की नीति का चरमोत्कर्ष था और सामूहिक सुरक्षा प्रणाली के अवसान का प्रतीक था। इससे इंगलैण्ड और फ्रांस की कायरतापूर्ण नीति का पर्दाफाश हो गया। चेकोस्लोवाकिया के लिए यह समझौता न केवल फाँसी का हुक्म था अपितु एक भयंकर विश्वासघात था। फिर भी, म्यूनिख

से लौटकर चेम्बरलेन ने कहा था कि मैं "सम्मान सहित शान्ति" लेकर आया हूँ। इस पर विंस्टन चर्चिल ने कहा था कि युद्ध एवं अपमान में से एक को चुनना था। आपने अपमान को चुना है अव शीघ्र ही युद्ध करना पड़ेगा। वस्तुतः म्यूनिख समझौता हिटलर के कूटनीतिक जीवन की सवसे वड़ी विजय और चेम्बरलेन की सबसे बड़ी पराजय थी।

चेकोस्लोवाकिया का अन्त—म्यूनिख समझौते के समय हिटलर ने यह विश्वास दिलाया था कि सूडेटन प्रदेश के वाद यूरोप में उसकी कोई प्रादेशिक महत्त्वाकांक्षा नहीं है। परन्तु यह विश्वास भी पहले की भाँति दिखावा मात्र था। उसका ध्यान सम्पूर्ण चेकोस्लोवाकिया को हड़पने की तरफ लगा हुआ था। वोहेमिया और मोरेविया के हवाई अड्डों की प्राप्ति, चेक सेना के अस्त्र-शस्त्रों को प्राप्त करने की अभिलाषा, चेक विदेशी स्वर्ण और मुद्रा का प्रलोभन, कृषि-भूमि और मानवीय शक्ति को प्राप्त करने तथा सामरिक दृष्टि से जर्मनी को सुदृढ़ वनाने की इच्छा से हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया का अन्त करने का निश्चय कर लिया था। सर्वप्रथम उसने स्लोवाकिया प्रान्त के नाजी जर्मनों को चेक सरकार से पृथक् एवं स्वतन्त्र होने के लिए उकसाया। फलस्वरूप 14 मार्च, 1939 को स्लोवाकिया की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली गई। परन्तु हिटलर की तृष्णा का अन्त नहीं हुआ। उसने चेक राष्ट्रपति हच्चा को वर्लिन बुलाया और उसे डरा-धमका कर चेक शासन की बागडोर जर्मन नाजीदल को सौंपने के लिए विवश किया। 15 मार्च, 1939 को जर्मन सेनाओं ने चेकोस्लोवाकिया में प्रवेश किया और सम्पूर्ण देश को अपने अधिकार में ले लिया। हिटलर के इस कदम ने इंगलैण्ड और फ्रांस के भ्रम को दूर कर दिया। मुसोलिनी भी काफी क्रोधित हो उठा परन्तु अब हिटलर का साथ छोड़ने का समय नहीं था।

मेमल—हिटलर का अगला शिकार लिथुआनिया वना। 21 मार्च को हिटलर ने उससे मेमल प्रदेश को पुनः जर्मन रीष्टाग को सौंपने की माँग की। लिथुआनिया हिटलर की माँग को ठुकराने की स्थिति में नहीं था और न ही उसे पश्चिमी देशों की सहायता का विश्वास था। अतः उसने तुरन्त ही वर्लिन सरकार के साथ समझौता कर लिया। 23 मार्च को हिटलर ने मेमल में प्रवेश किया। तब तक लिथुआनिया ने इस क्षेत्र को पूर्ण रूप से खाली करके जर्मन अधिकारियों को सौंप दिया था। मेमल आधिपत्य पश्चिमी राष्ट्रों की सामूहिक सुरक्षा नीति की विफलता का एक ज्वलन्त उदाहरण था।

सोवियत रूस के साथ सन्धि—हिटलर की उपर्युक्त कार्यवाहियों से इंगलैण्ड और फ्रांस का विश्वास समाप्त हो गया था और अब उन्हें यह आशंका उत्पन्न हो गई कि हिटलर का अगला शिकार पोलैण्ड होगा। यह आशंका निर्मूल नहीं थी। वास्तव में हिटलर ने पोलैण्ड पर आक्रमण करने की योजना वना ली थी। 31 मार्च, 1939 को इंगलैण्ड और फ्रांस ने पोलैण्ड को अपनी स्वतन्त्रता को वनाये रखने में पूरी-पूरी सहायता का आश्वासन दिया। इसी प्रकार के आश्वासन यूनान, रूमानिया आदि देशों को भी दिये गये। परन्तु इसके लिए सोवियत रूस की मैत्री आवश्यक थी। क्योंकि पूर्वी यूरोप में तत्काल ही सैनिक सहायता पहुँचाना पश्चिमी देशों के लिए सम्भव नहीं था। अतः सोवियत रूस के साथ वातचीत शुरू की गई जो अगस्त तक चलती रही और जिसका कोई ठोस परिणाम नहीं निकला।

दूसरी तरफ, हिटलर भी अपने प्रबल शत्रु सोवियत रूस के सहयोग के महत्त्व से अपरिचित नहीं था। अतः उसने रूस के साथ समझौता करके उसे पश्चिमी देशों से विमुख करने की शानदार कूटनीतिक चाल खेली और इसमें वह सफल भी रहा। 23 अगस्त, 1939 को हिटलर सोवियत रूस के साथ अनाक्रमण सन्धि करने में सफल रहा। सन्धि के अनुसार यह तय हुआ कि जर्मनी और रूस के मध्य शान्तिपूर्ण सम्बन्ध बने रहेंगे और कोई देश एक-दूसरे पर आक्रमण नहीं करेगा और न ही किसी दूसरे देश को एक-दूसरे के विरुद्ध आक्रमणों में ही सहायता देगा। परन्तु इससे भी अधिक महत्त्व दोनों देशों में सम्पन्न "गुप्त समझौते" का है। इस गुप्त समझौते के द्वारा जर्मनी और रूस ने पूर्वी यूरोप को आपस में निम्न तरह से बाँट लिया—(1) फिनलैण्ड, एसथोनिया और लटेविया को रूसी प्रभाव क्षेत्र में मान लिया गया। लिथुआनिया और वियना जर्मन प्रभाव क्षेत्र में माने गये। (2) पोलैण्ड की नरू, विस्थुला और सेन नदियों को रूस और जर्मनी की सीमा मानी गई। पोलैण्ड को स्वतन्त्र रखना तय हुआ या बाद में परिस्थितियों के अनुकूल कार्य करने का तय किया गया। (3) रूमानिया का बसारविया प्रान्त रूसी प्रभाव के अन्तर्गत माना गया।

यह कहना कठिन है कि इस समझौते के लिए हिटलर और स्टालिन को कौन-कौन से तत्त्वों ने प्रेरित किया होगा ? शायद हिटलर ने सोचा हो कि इस समझौते से घबरा कर इंगलैण्ड और फ्रांस, पोलैण्ड को दिए गये आश्वासन से मुँह मोड़ लें या फिर उसका यह विचार रहा हो कि पहले पश्चिमी यूरोप को अपने अधिकार में ले लिया जाय और फिर रूस से निपट लिया जाय। स्टालिन, शायद इस निर्णय पर पहुँच चुका था कि इंगलैण्ड और फ्रांस से उसे किसी प्रकार की सहायता नहीं मिल सकती। इसके अतिरिक्त यदि जर्मनी एक लम्बे समय तक पश्चिमी देशों से युद्ध में उलझा रहा तो रूस को अपनी सैनिक तैयारी करने का अवसर मिल जायेगा और तब जर्मन आक्रमण जिसे वह अवश्यम्भावी समझता था, का डटकर प्रतिरोध किया जा सकेगा। युद्ध के फलस्वरूप पश्चिमी देशों के निर्बल हो जाने की सम्भावना भी थी और उस स्थिति में साम्यवाद का प्रसार सुगमता से किया जा सकता था। जो कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि रूस से मित्रता करके हिटलर ने पश्चिमी देशों को करारी कूटनीतिक शिकस्त दे दी।

पोलैण्ड पर आक्रमण—1934 ई. में हिटलर ने परिस्थितिवश पोलैण्ड के साथ दस वर्षीय अनाक्रमण सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये थे परन्तु हिटलर की आन्तरिक इच्छा अवसर मिलते ही पोलैण्ड से जर्मनी के उन प्रदेशों को वापस लेने की थी जो वर्साय की सन्धि के द्वारा पोलैण्ड को दिये गये थे। पोलैण्ड भी हिटलर के इरादों से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं था और इसलिए अपने को निरापद अनुभव नहीं कर रहा था। 1934 के प्रारम्भ से ही पोलैण्ड को विक्षोभ के चिह्न दिखलाई देने लग गये। मार्च, 1938 में जर्मन समाचार-पत्रों में पोलिश गलियारे में आबाद जर्मन लोगों पर होने वाले अत्याचारों को बढ़ा-चढ़ा कर छापना शुरू कर दिया गया और पोलैण्ड की कड़ी भर्त्सना की जाने लगी। 28 अप्रैल, 1939 को हिटलर ने पोलैण्ड से डेन्जिग बन्दरगाह को पुनः वापस लौटाने की माँग की जिसे पोलैण्ड ने ठुकरा दिया। पोलैण्ड पर आक्रमण करने के पूर्व हिटलर ने कूटनीतिक खेल खेलना पसन्द किया और उसने रूस के साथ अनाक्रमण सन्धि सम्पन्न कर ली। इस सन्धि को सम्पन्न करने के पीछे हिटलर का एक उद्देश्य यह भी था कि इंगलैण्ड और फ्रांस घबरा जायँ और वे पोलैण्ड को दिये गये आश्वासन को पूरा न करें।

परन्तु हिटलर की धारणा गलत निकली। इंगलैण्ड और फ्रांस अपने आश्वासन पर डटे रहे और उन्होंने वार-वार अपनी बात को दोहराया कि वे किसी भी स्थिति में पोलैण्ड की सहायता करने से पीछे नहीं हटेंगे। 1 सितम्बर,1939 को प्रातःकाल विना विधिवत युद्ध की घोषणा किये ही जर्मन सेनाओं ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। जर्मन वायुसेना ने भी पोलैण्ड पर बम वर्षा शुरू कर दी। कुछ ही घण्टों के बाद हिटलर ने डेन्जिग पर अधिकार करने का आदेश प्रसारित कर दिया और उस नगर के नाजी नेता को वहाँ का प्रशासक भी नियुक्त कर दिया। इंगलैण्ड और फ्रांस ने तत्काल ही जर्मनी को चेतावनी दी कि यदि जर्मनी ने पोलैण्ड के विरुद्ध अपनी कार्यवाही को तत्काल बन्द नहीं किया और जर्मन सेनाओं को पोलैण्ड से नहीं हटाया गया तो वे तत्काल ही अपने दायित्व को पूरा करने के लिए पोलैण्ड की सहायता को आ पहुँचेंगे।

द्वितीय महायुद्ध—3 सितम्वर,1939 को प्रातः 9 बजे तक उपर्युक्त चेतावनी का उत्तर न आने पर बर्लिन स्थित ब्रिटिश राजदूत ने जर्मनी को सूचित किया कि यदि 11 बजे तक उत्तर नहीं दिया गया तो दोनों देशों में युद्ध शुरू हो जायेगा। इस पर भी जब जर्मनी ने कोई उत्तर नहीं दिया तो 11 बजकर 15 मिनट पर चेम्बरलेन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 5 बजे सायंकाल फ्रांस ने भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार,द्वितीय महायुद्ध शुरू हो गया। कुछ समय के उपरान्त जापान और इटली भी जर्मनी के पक्ष में आ डटे। 1941 ई. तक रूस जर्मनी के साथ सम्पन्न गुप्त समझौते के अनुसार पूर्वी यूरोप के इलाकों पर अधिकार करता रहा परन्तु जब जर्मनी ने उसके विरुद्ध भी युद्ध की घोषणा कर दी तो वह भी मित्रराष्ट्रों के पक्ष में आ गया।

इस प्रकार,हिटलर ने अपनी विदेश नीति के द्वारा सम्पूर्ण संसार को द्वितीय महायुद्ध की ओर धकेल दिया। परन्तु इसके लिए केवल हिटलर को दोषी ठहराना उचित नहीं होगा। द्वितीय महायुद्ध का दायित्व मित्रराष्ट्रों पर भी है। उन्होंने शुरू में युद्ध को टालने की इच्छा से तानाशाहों को सन्तुष्ट करने की नीति अपनाई। साम्यवादी रूस के प्रभाव को रोकने के लिए वर्साय व्यवस्था के विरुद्ध छोटे-छोटे राष्ट्रों को तानाशाहों की स्वार्थवेदी पर अर्पित कर दिया। यदि तानाशाहों का सही समय पर उपचार कर दिया गया होता तो द्वितीय महायुद्ध की नौबत न आती।

प्रश्न

1. जर्मनी में नाजीवाद के उत्थान में जिन परिस्थितियों ने सहयोग दिया, उनका विश्लेषण कीजिये।
2. हिटलर के उत्कर्ष और पतन के कारणों की समीक्षा कीजिये।
3. हिटलर की विदेशनीति की समीक्षा कीजिये। क्या उसकी नीति द्वितीय महायुद्ध के लिए उत्तरदायी थी ?

अध्याय-19

द्वितीय विश्व युद्ध
(Second World War)

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के ठीक बीस वर्ष बाद दूसरा विध्वंशकारी महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। 1919 में लोगों ने यह आशा व्यक्त की थी कि भविष्य में पुरानी त्रुटियों को दोहराया नहीं जायेगा और कोई भी राष्ट्र पाशविक शक्ति का स्थान ग्रहण नहीं कर सकेगा। किन्तु ये सभी भविष्यवाणियाँ पूर्णतः मिथ्या प्रमाणित हुईं। वर्साय की सन्धि पर विचार करते हुए मार्शल फौंच ने कहा था, "यह शान्ति सन्धि नहीं है, यह तो बीस वर्ष के लिए युद्ध-विराम सन्धि है।" मार्शल फौंच की यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। ठीक इसी प्रकार म्यूनिख समझौते के बाद चेम्बरलेन ने लन्दन हवाई हड्डे पर अपने स्वागतार्थ आये मित्रों को सम्बोधित करते हुए कहा था, "मैं आपके लिए सम्मानपूर्वक शान्ति लाया हूँ।" इसके प्रत्युत्तर में चर्चिल ने कहा, "ब्रिटेन और फ्रांस के समक्ष दो मार्ग थे—युद्ध और अनादर, उन्होंने 'अनादर' को चुना, किन्तु वे युद्ध से भी नहीं बच सकते।" चर्चिल की यह भविष्यवाणी भी सत्य हुई। ये दोनों ही कूटनीतिज्ञ मनुष्य की प्रवृत्ति से अनभिज्ञ नहीं थे। इसलिए उन्होंने अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया। प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् जो घटनाक्रम चला वह पुनः दूसरे महायुद्ध की ओर ले गया। अतः उन तत्त्वों का विवेचन करना समीचीन होगा, जिन्होंने दूसरे विश्व युद्ध को अनिवार्य बना दिया, संक्षेप में द्वितीय विश्व युद्ध के निम्नलिखित कारण बताये जाते हैं।

कारण—

(1) वर्साय की अपमानजनक सन्धि—वर्साय की सन्धि के समय विजयी राष्ट्रों ने दूरदर्शिता से कार्य नहीं किया, केवल प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने जर्मनी का दमन किया। अतः जर्मनी द्वारा अपने अपमान का प्रतिशोध लेना तो स्वाभाविक ही था। इसके अतिरिक्त मित्र राष्ट्रों की सहमति, उपेक्षा और विरोध से इस सन्धि के अनेक भाग भंग होते चले गये। उदाहरणार्थ, इसके पहले भाग का संशोधन जर्मनी को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाकर किया गया। 1935 में हिटलर ने सन्धि में जर्मनी की सेनाओं को सीमित रखने सम्बन्धी धारा को तोड़ दिया, किन्तु मित्र राष्ट्रों ने इसकी उपेक्षा की। प्रादेशिक व्यवस्था सम्बन्धी धारा को भी हिटलर ने पश्चिमी राष्ट्रों की उपेक्षा और सहमति से भंग कर दिया। राइन को सेना रहित क्षेत्र रखने सम्बन्धी धारा का भी हिटलर ने उल्लंघन किया (1936 ई.)। 1 मार्च, 1938 में आस्ट्रिया के साथ एकीकरण के

निषेध की व्यवस्था को भंग किया और अन्त में जब उसने पोलिश गलियारे और डेन्जिग के प्रश्न पर वर्साय सन्धि की व्यवस्था को तोड़ना चाहा तो द्वितीय विश्व युद्ध का श्रीगणेश हो गया। वस्तुतः मित्र राष्ट्रों की परस्पर-विरोधी एवं सन्धि की शर्तों को कठोरतापूर्वक पालन न कराने की नीति के कारण जर्मनी का साहस बढ़ गया और उसने दूसरा विश्व युद्ध छेड़ने की हिम्मत की। लैंगसम के अनुसार, "1918 में अपनी भीषण हार के केवल 21 वर्ष बाद ही जर्मनी को इतिहास का सबसे बड़ा युद्ध छेड़ने में समर्थ बनाने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि शान्ति समझौते को बनाये रखने के लिए ब्रिटेन और फ्रांस ने विभिन्न नीति मार्गों का अवलम्बन किया।" इसलिए जर्मनी द्वारा सन्धि की विभिन्न शर्तों के उल्लंघन की दोनों उपेक्षा करते रहे, जिससे जर्मनी की हिम्मत बढ़ गयी और उसने वर्साय सन्धि के अपमान का प्रतिशोध लेने में कोई संकोच नहीं किया।

(2) **तानाशाहों का उत्कर्ष**—इस समय कई देशों में तानाशाहों का उत्कर्ष हुआ जिनके कार्यों और उग्र नीति ने द्वितीय विश्व युद्ध को अनिवार्य बना दिया। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् जर्मनी में वाइमर गणतन्त्र की स्थापना हुई थी और अनेक विरोधी दलों का उत्कर्ष होने लगा था। इन दलों में नाजी दल प्रमुख था जो वर्साय सन्धि को भंग करके अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जर्मनी की पुनः प्रतिष्ठा स्थापित करना चाहता था। 1933 में हिटलर जर्मनी का तानाशाह बन गया। इसी प्रकार इटली में भी मित्र राष्ट्रों के प्रति असन्तोष था, क्योंकि युद्ध की लूट में उसे उचित हिस्सा प्राप्त नहीं हुआ था। इसलिये इटली भी वर्साय सन्धि का विरोधी हो गया। फलतः इटली में फासिस्टवाद का उत्कर्ष हुआ। 1922 में इस दल के नेता मुसोलिनी के हाथ में सत्ता आ गयी, और वह इटली का तानाशाह बन गया। मुसोलिनी के लिये युद्ध जीवन था और शान्ति मृत्यु। स्पेन में भी हिटलर और मुसोलिनी द्वारा समर्थित जनरल फ्रैंको की तानाशाही स्थापित हुई। जापान में भी साम्राज्यवादी भावनाएँ पनप रही थीं। जापान ने राष्ट्रसंघ की उपेक्षा करते हुए मंचूरिया पर अधिकार कर लिया। रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी ने यूरोप की राजनैतिक स्थिति को संकटमय बना दिया। वास्तव में यह सन्धि तानाशाहों का समझौता थी। इन सभी घटनाओं ने द्वितीय विश्व युद्ध को अनिवार्य बना दिया।

(3) **अल्पसंख्यक जातियों का असन्तोष**—जिस प्रकार शान्ति समझौते द्वारा सीमाओं में परिवर्तन किया गया वहाँ जातियों का भी अदल-बदल होना स्वाभाविक था। बाल्कन प्रायद्वीप और मध्य यूरोप में यह स्थिति अत्यन्त ही जटिल थी। आस्ट्रिया को जर्मनी से पृथक् रखा गया, चेकोस्लोवाकिया को स्वतन्त्र राज्य स्वीकार किया गया तथा पोलैण्ड को समुद्र तक पहुँचने का मार्ग देने के लिए पूर्वी प्रशा को शेष जर्मनी से पृथक् कर दिया गया। यद्यपि मित्र राष्ट्रों ने आत्म-निर्णय का सिद्धान्त स्वीकार किया था, किन्तु इस सिद्धान्त को सभी जगह लागू करना सम्भव नहीं था। फलस्वरूप अनेक स्थानों पर एक-दूसरे की विरोधी अल्पसंख्यक जातियाँ बस गयीं और उनमें भयंकर असन्तोष फैल गया क्योंकि वे एक राज्य के अधीन असुरक्षा का अनुभव कर रही थीं। कुछ जर्मन जाति के लोग चेकोस्लोवाकिया में थे, कुछ पोलैण्ड में थे और कुछ आस्ट्रिया में। वे सभी अपने को विदेशी शासन के अधीन मानते थे। हिटलर ने उनमें व्याप्त असन्तोष का पूरा लाभ उठाया। उसने जिन-जिन राज्यों में अल्पसंख्यक के रूप में जर्मन जाति

के लोग बिखरे हुए थे और असन्तुष्ट थे, उनकी सहायता करना आरम्भ किया ताकि उनमें तीव्र राष्ट्रीय भावना जीवित रहे। उसने पश्चिम की शक्तियों से सौदेबाजी की और अल्पसंख्यकों पर कुशासन का बहाना बना कर आस्ट्रिया और सूडेटनलैण्ड का अपहरण कर लिया। तत्पश्चात् उसने पोलैण्ड पर हमला कर दिया।

(4) राष्ट्रों के विभिन्न स्वार्थ—प्रथम विश्व युद्ध के बाद आर्थिक सम्पन्नता की होड़, अपने माल की बिक्री के लिए नये बाजारों की खोज, कच्चे माल प्राप्त करने की सुविधा आदि ने विभिन्न राष्ट्रों में पारस्परिक संघर्ष को प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार प्रथम युद्ध की समाप्ति पर प्रत्येक राष्ट्र अपने स्वार्थों के वशीभूत हो चुका था और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को कोई स्थान नहीं था। वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी से उसके सभी उपनिवेश छीन लिये गये थे और ये सभी उपनिवेश इंगलैण्ड, बेल्जियम और फ्रांस में बाँट दिये गये थे। फलस्वरूप इंगलैण्ड, फ्रांस और बेल्जियम को इन प्रदेशों से कच्चा माल प्राप्त करने की सुविधा बढ़ गयी, किन्तु दूसरी ओर जर्मनी को भारी हानि उठानी पड़ रही थी। जर्मनी की भाँति इटली भी कच्चा माल प्राप्त करने के लिए उपनिवेश स्थापित करने तथा तैयार माल के लिए बाजारों की खोज की फिक्र में था। तेल, लोहे और कोयले की कमी ने तो इटली को साम्राज्यवादी नीति अपनाने के लिये विवश कर दिया था। इसी प्रकार जापान भी अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या को बसाने के लिये, औद्योगिक विकास के लिये कच्चा माल प्राप्त करने और तैयार माल के लिये बाजार स्थापित करने हेतु चीन में अपने पैर फैलाने का प्रयत्न कर रहा था। इन विभिन्न स्वार्थों ने आर्थिक संघर्ष को जन्म दिया। 1929-30 के आर्थिक संकट ने तो एक नयी स्थिति उत्पन्न कर दी। प्रत्येक राष्ट्र ने अपने उद्योगों की रक्षा के लिए भारी कर-प्रणाली, आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध, आयातित माल पर भारी तटकर, विदेशी व्यापार पर प्रतिबन्ध आदि कार्यान्वित किये। इससे सम्पन्न देशों में तैयार माल एकत्रित होने लगा, क्योंकि उनके स्वयं के यहाँ तो इतने माल की खपत हो नहीं रही थी। सर्वाधिक समस्या तो उन देशों के समक्ष उत्पन्न हुई, जिनके पास न तो कच्चा माल था और न उपनिवेश थे। इस प्रकार की विषम स्थिति उन देशों में अधिक थी जिन्हें प्रथम विश्व युद्ध में भारी हानि उठानी पड़ी थी। अतः जर्मनी, जापान और इटली अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये एक-दूसरे के निकट आने लगे, जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण कर उस पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया, इटली ने अबीसीनिया पर अधिकार कर लिया और जर्मनी ने भी यूरोप में अपने खोये प्रदेशों का अपहरण करना आरम्भ कर दिया। ये सभी घटनाएँ द्वितीय विश्वयुद्ध की अग्रदूत बन गयीं।

(5) विश्व का दो-गुटों में विभाजन—जिस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व यूरोप दो परस्पर विरोधी गुटों में विभाजित हो गया था, उसी प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व भी विश्व दो गुटों में विभाजित हो गया। 1937 तक अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर दो शक्तिशाली गुटों का निर्माण हो चुका था। एक तरफ जर्मनी, इटली और जापान जैसे राष्ट्र थे जो वर्साय सन्धि के विरोधी तथा अधिनायकवाद के समर्थक थे। अतः इन तीनों ने मिलकर रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी का निर्माण कर लिया। दूसरी ओर मित्र राष्ट्रों का सुदृढ़ संगठन था। युद्ध आरम्भ होने पर रूस प्रथम गुट में था और उसने जर्मनी से अनाक्रमण समझौता भी कर लिया था, किन्तु युद्ध के दौरान जब जर्मनी ने विश्वासघात करके रूस पर आक्रमण कर दिया तो रूस भी मित्र राष्ट्रों के गुट में

आ मिला। ज्योंही मित्र राष्ट्रों (ब्रिटेन और फ्रांस) ने पोलैण्ड को समर्थन दिया त्योंही द्वितीय महासमर भड़क उठा।

(6) राष्ट्रसंघ की निर्बलता—प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् आपसी झगड़ों को शान्तिपूर्ण तरीकों से सुलझाने के लिए तथा विश्व शान्ति बनाये रखने के लिए राष्ट्रसंघ का निर्माण किया गया था। किन्तु जिन आशाओं को लेकर इसका निर्माण हुआ उन आशाओं पर पानी फिर गया। इसके निर्माण के साथ ही अमेरिका द्वारा उसे अस्वीकार कर दिया गया। अमेरिका जैसे शक्तिशाली राष्ट्र ने भी जब राष्ट्रसंघ से अलग रहने का निर्णय ले लिया तो दूसरे निर्बल राष्ट्र भी इसे सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। इस प्रकार के सन्देह राष्ट्रसंघ के भावी जीवन के लिए हितकर सिद्ध नहीं हुए। प्रारम्भ में पराजित राष्ट्रों को राष्ट्रसंघ की सदस्यता से वंचित रखना इस बात का द्योतक हो गया कि राष्ट्रसंघ विजयी राष्ट्रों का गुट है। रूस भी आरम्भ में राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं था। रूस, 'राष्ट्रसंघ को पश्चिमी राष्ट्रों का साम्यवादी रूस के विरुद्ध एक षड्यन्त्र' मानता था। इस प्रकार आरम्भ से ही कई राष्ट्रों को राष्ट्रसंघ के प्रति सन्देह उत्पन्न हो गया था।

यद्यपि 1925 से 1929 तक राष्ट्रसंघ ने कुछ क्षेत्रों में सराहनीय कार्य किया, जिससे प्रभावित होकर 50 राष्ट्रों ने इसकी सदस्यता ग्रहण कर ली, किन्तु यह स्थिति क्षणिक रही। ज्योंही बड़े राष्ट्रों के स्वार्थों का प्रश्न आया तो केवल आयोगों की नियुक्ति के अतिरिक्त राष्ट्रसंघ 'विधवा स्त्री की तरह' हाथ-पाँव पीट कर रह गया। वस्तुतः इसके सदस्य-राष्ट्र स्वयं इसकी नीवें खोदने लग गये थे। इंगलैण्ड रूस की साम्यवादी प्रवृत्तियों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण रखना चाहता था। फ्रांस येन-केन-प्रकारेण शान्ति समझौते की शर्तों को बनाये रखना चाहता था ताकि इस समझौते द्वारा उसे जो लाभ प्राप्त हुए हैं उनसे वह वंचित न रह जाय। अनेक राज्यों ने तो राष्ट्रसंघ की खुली उपेक्षा की। मंचूरिया काण्ड के समय जापान राष्ट्रसंघ के प्रस्तावों को ठुकराते हुए राष्ट्रसंघ की सदस्यता से पृथक् हो गया। अबीसीनिया युद्ध के बाद इटली ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता त्याग दी। हिटलर का तो कहना था कि "खोये हुये प्रदेशों की पुनः प्राप्ति ईश्वर से प्रार्थना करने से अथवा राष्ट्रसंघ के प्रति पवित्र आस्था रखने से नहीं वरन् सैनिक शक्ति से ही हो सकेगी।" अन्तर्राष्ट्रीय संकटों के समय राष्ट्रसंघ कोई कारगर कदम नहीं उठा सका जिससे उसकी निर्बलता प्रकट हो गई। छोटे-छोटे राष्ट्रों को राष्ट्रसंघ से सुरक्षा पाने का विश्वास समाप्त हो गया। राष्ट्रसंघ के प्रति सन्देह और अविश्वास की भावना शीघ्र ही विस्फोटक बनकर युद्ध के रूप में परिणित हो गयी।

(7) निःशस्त्रीकरण की असफलता—निःशस्त्रीकरण वर्साय सन्धि के अन्तर्गत वह योजना थी जिसे जर्मनी को पूर्ण रूप से शक्तिहीन रखने के लिए प्रयुक्त किया गया था और इसी के अन्तर्गत यह सुझाव दिया गया था कि अन्य राष्ट्रों के लिये भी इस प्रयोग को उस सीमा तक लागू किया जाय जिससे सुरक्षा की सम्भावना स्थापित हो सके। सिद्धान्त रूप से इस योजना का समर्थन किया जा सकता था, किन्तु इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न राष्ट्रों द्वारा जो रवैया अपनाया जा रहा था उससे निःशस्त्रीकरण की बजाय शस्त्रीकरण की भावना को ही बल प्राप्त हुआ। निःशस्त्रीकरण के लिये जब-जब भी सम्मेलन हुए तो प्रत्येक राष्ट्र ने केवल इसी बात पर बल दिया कि वह स्वयं तो शस्त्रास्त्रों में कमी न करे, किन्तु दूसरे को ऐसा करने के लिये बाध्य करे। जर्मनी का भी यही कहना था कि यदि जर्मनी को शस्त्रहीन बनाया जाता है तो निःशस्त्रीकरण का सिद्धान्त दूसरे राज्यों पर भी लागू किया जाय। फ्रांस अपनी सुरक्षा के लिये अत्यन्त चिन्तित था अतः वह निःशस्त्रीकरण

को महत्त्व देने के लिये तैयार नहीं था। ब्रिटेन के अनुसार सुरक्षा और निःशस्त्रीकरण दोनों अलग विषय थे और सुरक्षा के सन्दर्भ में निःशस्त्रीकरण पर विचार करने को तैयार नहीं था। जब बड़े राष्ट्रों ने अपने यहाँ निःशस्त्रीकरण करना स्वीकार नहीं किया तो हिटलर ने जर्मनी में निःशस्त्रीकरण करना हानिकारक समझा। उसका कहना था कि "शक्ति और राष्ट्रीय आकांक्षाओं की प्राप्ति के लिये पुनः शस्त्रीकरण ही एकमात्र उपाय है।" पश्चिमी राष्ट्र एक ओर तो निःशस्त्रीकरण की दुहाई दे रहे थे और दूसरी ओर अपने देश में अस्त्र-शस्त्रों को जुटाने में लगे हुए थे। प्रतिवर्ष उनका युद्ध सम्बन्धी बजट बढ़ता जा रहा था। सभी देशों में सुरक्षा के नाम पर युद्ध की तैयारियाँ आरम्भ हो गयीं। फ्रांस ने अपनी उत्तरी-पूर्वी सीमा पर जमीन के नीचे किलों की श्रृंखला बनाई जिसे 'मैजिनो लाइन' कहा जाता था। इसी तरह जर्मनी ने भी अपनी सीमा पर किलेबन्दी की जिसे 'शीगफ्रीड लाइन' कहा जाता था। अब निःशस्त्रीकरण मात्र औपचारिक वार्ता रह गयी थी। 1936 तक तो अनेक राष्ट्रों ने युद्ध की ऐसी तैयारी करली थी कि वे निःशस्त्रीकरण की बात भी सुनने को तैयार नहीं थे। चारों ओर ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया कि निकट भविष्य में युद्ध अनिवार्य दिखाई देने लगा।

(8) मित्र राष्ट्रों के आन्तरिक मतभेद—मित्र राष्ट्रों के पारस्परिक मतभेदों ने भी जर्मनी और इटली की शक्ति के विकास में बड़ा योगदान दिया। क्षतिपूर्ति की समस्या पर ब्रिटेन और फ्रांस के बीच मतभेद उत्पन्न हो गये थे। फ्रांस जर्मनी से क्षतिपूर्ति की रकम कठोरता से वसूल करना चाहता था। किन्तु ब्रिटेन का मत था कि क्षतिपूर्ति की रकम वसूल करने से पहले जर्मनी की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होनी चाहिए। इस प्रकार ब्रिटेन और फ्रांस में तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गये। ब्रिटेन 'शक्ति सन्तुलन' के सिद्धान्त की नीति का समर्थक था, जबकि फ्रांस ने अपने को हर प्रकार से सुरक्षित करके यूरोप का सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र बनाने की नीति अपनायी। हिटलर के उत्कर्ष के बाद उसने साम्यवाद के विरुद्ध विषवमन करना आरम्भ किया और ब्रिटेन और फ्रांस साम्यवाद के हौवे से सशंकित थे ही, अतः दोनों ने हिटलर के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनायी। फलस्वरूप मित्र राष्ट्र उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं कर सके। इसके अतिरिक्त वर्साय सन्धि के समय यह निर्णय लिया गया था कि ब्रिटेन और अमेरिका दोनों फ्रांस की सुरक्षा का दायित्व ग्रहण करेंगे, किन्तु अमेरिका की सीनेट ने इस सन्धि को अस्वीकृत कर दिया। अमेरिका के अलग होने पर ब्रिटेन ने भी फ्रांस को सुरक्षा का आश्वासन देने से इन्कार कर दिया। फलतः फ्रांस ने निराश होकर पोलैण्ड, बेल्जियम और चेकोस्लोवाकिया से अलग-अलग सन्धियाँ कीं। दोनों के इस प्रकार के मतभेद और जर्मनी एवं इटली के प्रति तुष्टिकरण की नीति को देखकर तानाशाहों का हौंसला बढ़ता गया। इधर मित्र राष्ट्रों और रूस के बीच भी तीव्र मतभेद थे। ब्रिटेन रूस के साम्यवाद की लहर को रोकने के लिए हिटलर को ढाल समझता था, इसलिए उसने जर्मनी की शक्ति बढ़ाने में भी रुचि ली। मित्र राष्ट्रों को तो साम्यवादी रूस पर विश्वास ही नहीं था। म्यूनिख सम्मेलन में मित्र राष्ट्रों ने रूस को निमन्त्रित ही नहीं किया। इस पर रूस ने अपनी नीति में परिवर्तन किया। रूस जानता था कि सूडेटनलैंड जर्मनी को देना रूस पर आक्रमण करने के लिए अग्रिम भुगतान था। अतः उसने मित्र राष्ट्रों के प्रबल शत्रु जर्मनी से अनाक्रमण समझौता कर लिया। इस प्रकार पारस्परिक अविश्वास के कारण मित्र राष्ट्रों का मोर्चा निर्बल हो गया तथा वे

तानाशाहों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने में कठिनाई अनुभव करने लगे। इस गम्भीर स्थिति ने द्वितीय विश्व युद्ध को अवश्यम्भावी बना दिया।

(9) पोलैण्ड पर आक्रमण—उपर्युक्त गम्भीर कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर बारूद का महल खड़ा हो चुका था, अब तो केवल एक चिनगारी लगाने की देर थी। यह कार्य हिटलर ने पोलैण्ड पर आक्रमण करके सम्पन्न कर दिया जिससे बारूद के महल में एक भयंकर विस्फोट हो गया। 1 सितम्बर, 1939 को हिटलर ने पोलैण्ड पर अचानक चढ़ाई कर दी। ब्रिटेन और फ्रांस ने जर्मनी को युद्ध बन्द करने की चेतावनी दी, किन्तु हिटलर ने इस चेतावनी की उपेक्षा की। फलतः 3 सितम्बर को ब्रिटेन और फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध की घोषणा कर दी। कुछ ही समय में युद्ध ने विस्तृत रूप धारण कर लिया और विश्व राजनीतिक मंच पर पुनः एक बार बीभत्स ताण्डव नृत्य आरम्भ हो गया।

द्वितीय विश्व युद्ध की गतिविधियाँ—1 सितम्बर, 1939 को जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। ब्रिटेन और फ्रांस ने आक्रमण समाप्त करने की चेतावनी दी जिसका कोई परिणाम नहीं निकला। अतः 3 सितम्बर, 1939 को दोनों ने ही जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। जर्मनी काफी समय से युद्ध की तैयारी कर रहा था तथा युद्ध के नये तरीकों का सफल प्रयोग भी स्पेन के गृह-युद्ध में कर चुका था। अतः जर्मन सेनाओं ने प्रबल आक्रमण करते हुए 5 सितम्बर को सम्पूर्ण साइलेशिया पर अधिकार कर लिया। दो सप्ताह की भीषण लड़ाई के बाद जर्मन सेनाओं ने पोलैण्ड की राजधानी वार्सा पर अधिकार कर लिया।

रूस यूक्रेनिया को अपने राज्य में मिलाना चाहता था। अतः 17 सितम्बर को पीछे हटती हुई पोलैण्ड की सेना पर रूस की सेना ने अचानक हमला बोल दिया। पाँच दिन की लड़ाई के बाद रूस ने यूक्रेनिया पर अधिकार कर लिया। एक तरफ जर्मनी का आक्रमण और दूसरी ओर रूस का आक्रमण होने से पोलैण्ड पस्त हो गया और विवश होकर उसने आत्मसमर्पण कर दिया। 29 सितम्बर को जर्मनी और रूस ने पोलैण्ड का बँटवारा कर लिया। पोलैण्ड का पश्चिमी भाग जर्मनी को तथा पूर्वी भाग रूस को प्राप्त हुआ। फ्रांस में पोलैण्ड की सरकार का पुनर्गठन किया गया और युद्ध चलता रहा। अक्टूबर, 1939 में रूस ने इस्टोनिया, लेटविया और लिथुआनिया से पृथक् सन्धियाँ कीं। जिसके अनुसार इन तीनों राज्यों ने अपने सामुद्रिक एवं हवाई अड्डे रूस को सौंप दिये। किन्तु फिनलैण्ड सन्धि के लिए तैयार नहीं हुआ। फलतः 30 नवम्बर, 1939 को रूस ने फिनलैण्ड पर आक्रमण कर एक महीने में फिनलैण्ड के एक बड़े भू-भाग पर अधिकार कर लिया। 12 मार्च, 1940 को दोनों के बीच सन्धि हो गयी। रूस ने फिनलैण्ड के सभी सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण क्षेत्र अपने अधीन कर लिए।

पोलैण्ड पर अधिकार करने के बाद हिटलर ने एक कूटनीतिक चाल चली और ऐसी चाल वह हमेशा से खेलता आया था। उसने ब्रिटेन और फ्रांस से कहा कि युद्ध बन्द कर दिया जाय क्योंकि अब उसे अन्य किसी प्रदेश प्राप्ति की आकांक्षा नहीं है। ब्रिटेन और फ्रांस हिटलर की चाल से अनभिज्ञ नहीं थे और फिर वे इस शर्त पर शान्ति स्थापित करने को तैयार नहीं थे कि हिटलर की विजयों को मान्यता प्रदान कर दी जाय। पोलैण्ड विजय के बाद लगभग आठ महीने तक हिटलर ने कोई सैनिक कार्यवाही नहीं की। इस काल में एक ओर तो वह शान्ति स्थापित

करने की अपीलें करता रहा और दूसरी ओर युद्ध की घोर तैयारी करता रहा। 9 अप्रैल, 1940 को उसने डेनमार्क और नार्वे पर धावा बोल दिया। दोनों ने पराजित होकर जर्मनी का संरक्षण स्वीकार कर लिया। हिटलर की बढ़ती हुई शक्ति से मित्र राष्ट्रों में खलबली मच गयी। 10 मई को ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चेम्बरलेन को त्याग-पत्र देना पड़ा तथा चर्चिल के नेतृत्व में संयुक्त सरकार बनायी गयी। इसी दिन जर्मनी ने लेक्समबर्ग, बेल्जियम और हालैण्ड पर आक्रमण कर दिया। लेक्समबर्ग पर उसी दिन अधिकार कर लिया गया, पाँच दिन बाद हालैण्ड पर अधिकार हो गया तथा 28 मई को बेल्जियम ने आत्मसमर्पण कर दिया। यद्यपि बेल्जियम की सहायता के लिए लाखों की संख्या में ब्रिटिश सेना आई हुई थी, किन्तु वह स्वयं जर्मन सेनाओं से घिर गयी। ब्रिटिश सैनिक अधिकारियों ने अपने कुशल रणकौशल का परिचय देते हुए अपनी अधिकांश सेना को बचा लिया। 10 मई को ही हिटलर ने अपने पुराने शत्रु फ्रांस पर हमला कर दिया। फ्रांस की सेनाएँ इस प्रबल आक्रमण के समक्ष टिक नहीं सकीं। 11 जून को इटली ने भी युद्ध की घोषणा करते हुए फ्रांस पर आक्रमण कर दिया। 14 जून को पेरिस नगर पर जर्मन सेनाओं का अधिकार हो गया। 22 जून, 1940 को फ्रांस ने हथियार डाल दिये। फ्रांस व जर्मनी के बीच सन्धि हुई जिसके अनुसार उत्तरी फ्रांस जर्मनी के अधिकार में रहा तथा दक्षिणी फ्रांस को स्वतन्त्र मान लिया गया। किन्तु बहुत से फ्रांसीसी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध जारी रखना चाहते थे। अतः जनरल डिगॉल के नेतृत्व में कुछ फ्रांसीसी देशभक्त इंगलैण्ड पहुँचे तथा वहाँ आजाद फ्रांसीसी सेना और आजाद फ्रांसीसी सरकार गठित की। इस आजाद फ्रांसीसी सरकार ने जर्मनी के विरुद्ध अपना युद्ध जारी रखा।

अब नार्वे से लेकर दक्षिण स्पेन तक समस्त समुद्री तट पर जर्मनी का अधिकार हो गया। इससे प्रोत्साहित होकर 18 जून, 1940 को जर्मनी ने इंगलैण्ड पर भीषण हवाई हमला कर दिया। पाँच महीने तक जर्मन हवाई जहाज इगलैण्ड पर बम वर्षा करते रहे। अकेले लन्दन पर पचास हजार बम गिराये गये। किन्तु चर्चिल के नेतृत्व में इंगलैण्ड की सरकार ने बड़े साहस से जर्मनी का मुकाबला किया तथा जर्मनी के तीस हजार से भी अधिक बमवर्षक विमानों को मार गिराया। ब्रिटेन ने हिटलर को बता दिया कि ब्रिटेन से टक्कर लेना आसान नहीं है। अतः धीरे-धीरे हिटलर ने अपने आक्रमणों को धीमा कर दिया। इधर इटली ने सोमालीलैण्ड, केनिया और सूडान पर अधिकार कर लिया। इटली ने उत्तरी मिस्र पर भी आक्रमण किया और तत्पश्चात् यूनान पर चढ़ाई की। यूनान ने अन्य राष्ट्रों की सहायता से इटालियन सेना को यूनान से बाहर निकाल दिया। इस पर जर्मनी ने इटली की सहायता की, जिससे अप्रैल, 1941 में यूनान पर जर्मनी का अधिकार हो गया। रूस भी निरन्तर बाल्टिक क्षेत्रों पर कब्जा करता जा रहा था। जापान भी पीछे रहने वाला नहीं था। वह सुदूर पूर्व में 'वृहत्तर पूर्वी एशिया' का निर्माण करना चाहता था। इसीलिए वह जर्मनी और इटली से मैत्री करके सितम्बर, 1940 में धुरी राष्ट्रों में शामिल हो गया और दो महीने बाद हंगरी, रूमानिया और स्लोवाकिया भी इस गुट में सम्मिलित हो गये। फरवरी, 1941 को यूगोस्लाविया पर हमला करके उसे भी रौंद डाला। जर्मनी ने ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करने के लिए इराक, ईरान और सीरिया पर भी आक्रमण किया, किन्तु जर्मनी को ब्रिटिश शक्ति के समक्ष पराजित होना पड़ा। इससे अब जर्मनी के लिए पूर्वी रास्ता एकदम बन्द कर दिया गया।

यद्यपि रूस और जर्मनी के वीच अनाक्रमण समझौता हो चुका था किन्तु हिटलर की महत्त्वाकांक्षा के समक्ष सभी सन्धियाँ और समझौते महत्त्वहीन थे। वह रूस को पराजित कर पूर्वी सीमा के खतरे को समाप्त करना चाहता था। अतः 22 जून, 1941 को जर्मन सेना ने रूस पर आक्रमण कर यूक्रेनिया, इस्टोनिया, लेटविया, लिथुआनिया, फिनलैण्ड और पूर्वी पोलैण्ड पर से रूसी आधिपत्य समाप्त कर दिया तथा जर्मन फौजें लेनिनग्राद के निकट आ पहुँचीं। लेनिनग्राद और मास्को में रूसी सेनाओं ने घोर युद्ध किया। रूस की गली-गली और घर-घर में शत्रु के विरुद्ध मोर्चावन्दी की गई और अन्त में रूसी सेनाओं ने जर्मन फौजों को खदेड़ना आरम्भ कर दिया। विजय पथ पर निरन्तर अग्रसर होने वाला जर्मनी रूस से पछाड़ खा गया।

पर्ल हार्वर अमेरिकन जल-सेना का प्रधान केन्द्र था। जापान ने विना युद्ध घोषित किये ही इस पर आक्रमण कर दिया (7 दिसम्वर,1940)। इस पर अव अमेरिका भी युद्ध में कूद पड़ा। इंगलैण्ड, नीदरलैण्ड, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, कनाडा आदि ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। जर्मनी, इटली, रूमानिया, हंगरी और वल्गेरिया ने अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार युद्ध की लपटों ने सारे विश्व को अपनी चपेट में ले लिया। जापान वड़ी ही तीव्र गति से आगे वढ़ता गया। जापान हाँगकाँग, ग्वाम, फिलिपाइन, स्याम, मलाया, सिंगापुर आदि को रौंदता हुआ आगे वढ़ता ही गया। भारत पर भी जापानियों ने भारी हमले किये। पूर्वी एशिया में जापान का प्राधान्य स्थापित हो गया।

इस प्रकार धुरी राष्ट्रों को निरन्तर विजय मिलती जा रही थी और मित्र राष्ट्रों की विजय के कोई चिह्न दिखाई नहीं दे रहे थे। किन्तु 1942 के अन्त में धुरी राष्ट्रों की प्रगति रुक गई और वे हारने लगे। नवम्वर,1942 में ब्रिटिश व अमेरिकन फौज़ों ने संयुक्त रूप से उत्तरी अफ्रीका से जर्मन व इटालियन फौजों को खदेड़ना आरम्भ कर दिया और अन्त में उत्तरी अफ्रीका पर मित्र राष्ट्रों का अधिकार हो गया। 10 जुलाई,1943 को मित्र राष्ट्रों ने सिसली पर आक्रमण किया और अव इटली की वारी थी। मुसोलिनी ने हिटलर से सहायता माँगी, किन्तु इस समय जर्मन सेना रूस में वुरी तरह उलझी हुई थी, अतः हिटलर कोई सहायता नहीं भेज सका। 19 जुलाई को मित्र राष्ट्रों ने संयुक्त रूप से इटली पर आक्रमण किया। इस समय इटली का जनमत मुसोलिनी के विरुद्ध हो रहा था। अतः 23 जुलाई को इटली के सम्राट ने उसे पद से हटाकर गिरफ्तार कर लिया तथा युद्ध को जारी रखा। 3 दिसम्वर, 1943 को इटली ने आत्मसमर्पण कर दिया। इसी वीच जर्मनी के कुछ छतरीवाज सैनिक उस स्थान पर उतरे जहाँ मुसोलिनी नजरवन्द था और मुसोलिनी को छुड़ा ले गये। मुसोलिनी ने जर्मनी की सहायता से पुनः इटली को अपने प्रभाव में लाने का विफल प्रयत्न किया। 4 जून,1944 को रोम पर मित्र राष्ट्रों का अधिकार हो गया। इटली में छुटपुट स्थानों पर जर्मन सेना युद्ध करती रही, किन्तु 2 मई,1945 को उन्होंने भी हथियार डाल दिये। रूस में भी जर्मन सेनाओं की पराजय होती गई। 1944 की ग्रीष्म ऋतु तक रूस ने सभी क्षेत्रों से जर्मन सेनाओं को खदेड़ दिया। जर्मनी की पराजय का लाभ उठाते हुए मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी के विरुद्ध पश्चिम में भी मोर्चा खोल दिया। 8 मार्च,1944 को दो हजार अमेरिकन वम-वर्षकों ने वर्लिन पर भीषण वमवारी की। फ्रांस के उत्तरी-पश्चिमी समुद्र के किनारे मित्र राष्ट्रों की फौजें उतारी गई। दिसम्वर, 1944 तक तीन लाख सेना फ्रांस पहुँच गयी। फ्रांस की सीमा पर

जर्मन किलेबन्दी को ध्वस्त कर दिया गया। 15 अगस्त, 1944 को फ्रांस के पूर्व भूमध्यसागरीय तट पर मित्र राष्ट्रों की सेना उतारी गयी जिसने तूलो और मारसेली के बन्दरगाहों पर अधिकार कर लिया। 25 अगस्त को जर्मन अधिकृत पेरिस का भी पतन हो गया और जर्मन सेना ने आत्म-समर्पण कर दिया। फ्रांस को मुक्त कराने के पश्चात् मित्र राष्ट्रों की फौजों ने मध्य यूरोप में जर्मनी के अधीन राज्यों को मुक्त करवाया। रूस ने जिन क्षेत्रों पर विजय प्राप्त की थी और बाद में जिन पर जर्मनी का अधिकार हो गया था, अब रूस ने पुनः उन पर अधिकार कर लिया। बाल्कन प्रायद्वीप के लगभग सभी राष्ट्र मित्र-राष्ट्रों के पक्ष में हो गये। नवम्बर, 1944 में मित्र राष्ट्रों की फौजों ने हालैण्ड की ओर से जर्मनी में प्रवेश किया। जब मित्र राष्ट्रों की सेना राइन नदी पार कर गयी तब तो जर्मनी की अन्तिम घड़ी दिखाई देने लगी। जर्मनी की जनता हिटलर के विरुद्ध हो गयी तथा उसकी हत्या करने के षड्यन्त्र आरम्भ हो गये। इसी बीच रूसी सेना पूर्वी क्षेत्र में जर्मनी के अधीन राज्यों को मुक्त करवाती बर्लिन की ओर तेजी से बढ़ने लगी। 22 अप्रैल, 1945 को रूस ने बर्लिन पर प्रहार किया। इधर ब्रिटेन, फ्रांस व अमेरिका की फौजें भी आ पहुँची। अन्त में 2 मई, 1945 को बर्लिन का पतन हो गया तथा 4 मई को जर्मन सेनाओं ने आत्मसमर्पण कर दिया। हिटलर ने अपनी पत्नी इवाब्रान सहित आत्महत्या कर ली और इटली के देशभक्तों ने मुसोलिनी और उसकी पत्नी को गोली से उड़ा दिया। 7 मई को जर्मनी ने आत्मसमर्पण दस्तावेज पर हस्ताक्षर किये तथा 8 मई को यूरोप में युद्ध बन्द हो गया।

अब केवल जापान ही ऐसा राष्ट्र बचा था जिसने आत्मसमर्पण नहीं किया था तथा युद्ध को जारी रखे हुए था। अतः मित्र राष्ट्रों का ध्यान जापान को पराजित करने की ओर गया। ब्रिटिश फौजें सुदूरपूर्व में तेजी से बढ़ने लगीं और उन्होंने बर्मा को मुक्त करवा लिया। तत्पश्चात् मलाया, फिलीपाइन व सिंगापुर मुक्त करवाये गये। अन्त में जापान पर भीषण आक्रमण हुआ। 26 जुलाई, 1945 को पोट्सडम सम्मेलन में मित्र राष्ट्रों ने जापान से बिना शर्त आत्मसमर्पण की माँग की, किन्तु जापान ने इस माँग को ठुकरा दिया। फलतः 6 अगस्त, 1945 को जापान के अत्यन्त ही समृद्ध नगर हिरोशिमा पर अमेरिका द्वारा पहला अणु बम डाला गया। हिरोशिमा जलकर लगभग भस्म हो गया, फिर भी जापान ने आत्मसमर्पण नहीं किया। उधर रूस ने भी जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी, फिर भी जापान अभी झुकने को तैयार नहीं था। 9 अगस्त, 1945 को अमेरिका ने जापान के एक अन्य नगर नागासाकी पर दूसरा अणु बम डाला। बस, जापान के प्रतिरोध का यहीं अन्त हो गया। 14 अगस्त, 1945 को जापान ने बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया। जापान ने केवल सम्राट के विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखने की शर्त लगाई। मित्र राष्ट्रों ने इस शर्त को स्वीकार करते हुए जापान को मित्र राष्ट्रों के सर्वोच्च सेनाध्यक्ष जनरल मैकार्थर के नियन्त्रण में रखने की माँग की जिसे स्वीकार करने के अतिरिक्त जापान के पास कोई अन्य चारा नहीं था। जापान की इस पराजय के बाद द्वितीय महासमर की विभीपिका की इतिश्री हो गयी।

शान्ति समझौता—युद्ध की समाप्ति पर अब यह आवश्यक हो गया कि युद्धोत्तर विश्व में स्थायी शान्ति की स्थापना के लिये विश्व में नयी व्यवस्था की जाय। किन्तु एक ही स्थान पर बैठकर एक समय में निर्णय लेना कठिन था। अतः इस बार परम्परागत तरीकों को त्याग कर अनेक भिन्न-भिन्न स्थानों पर बैठकें करके समझौते किये गये। ये बैठकें काहिरा, तेहरान, याल्टा,

पोट्सडम आदि स्थानों पर हुई और अनेक सम्मेलनों के पश्चात् सर्वमान्य सन्धियाँ की गईं। शान्ति स्थापित करने के मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन मित्र राष्ट्र अटलाण्टिक चार्टर,कासाब्लांका, मास्को, तेहरान, याल्टा और पोट्सडम सम्मेलनों में पहले ही कर चुके थे। अतः प्रारम्भिक कठिनाइयों के निराकरण के पश्चात् सन्धि-प्रपत्र तैयार कर लिये गये। तत्पश्चात् पेरिस में 29 जुलाई,1946 से 15 अक्टूबर,1946 तक 21 राष्ट्रों का एक सामान्य सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में तैयार किये गये सन्धि-प्रपत्रों को विजयी,पराजित और युद्ध में भाग लेने वाले अन्य राज्यों के समक्ष विचारार्थ रखा गया। दोनों पक्षों को अपने-अपने विचार प्रकट करने का अवसर दिया गया। अतः 1919 के शान्ति सम्मेलन की अपेक्षा इस बार पराजित राष्ट्रों के प्रति उदारता का व्यवहार किया गया,क्योंकि प्रथम युद्ध के पश्चात् सम्पन्न हुई सन्धि को पराजित राष्ट्रों पर थोपा गया था जिसके वड़े अनिष्टकारी परिणाम हुए। 1919 में शान्ति सम्मेलन की समस्त कार्यवाही को गुप्त रखा गया तथा पराजित राष्ट्रों को अपमानित किया गया था। किन्तु इस बार विजयी राष्ट्रों के व्यवहार में शिष्टता थी तथा पराजित राष्ट्रों को विचार प्रकट करने की पूरी स्वतन्त्रता थी।

पेरिस सम्मेलन में काफी विचार-विनिमय के पश्चात् 10 फरवरी,1947 को मित्र राष्ट्रों एवं पाँच पराजित राष्ट्रों (इटली, रूमानिया, बल्गेरिया, हंगरी और फिनलैण्ड) ने इन सन्धियों पर हस्ताक्षर किये। इन सन्धियों को विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा पुष्टि करने हेतु 15 सितम्बर,1946 अन्तिम तिथि स्वीकार कर ली गई। फिर भी किसी पराजित राष्ट्र ने शान्ति सन्धियों को सन्तोपजनक, न्यायसंगत और अच्छी नहीं माना और इन सन्धियों में संशोधन करने हेतु उन्होंने आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। आस्ट्रिया,जर्मनी और जापान के साथ शान्ति सन्धियों के विपय में तीव्र मतभेद वने रहे। अन्त में 1946 में जर्मनी के साथ और 1951 में जापान के साथ सन्धि की गई। आस्ट्रिया ने जुलाई, 1955 में शान्ति समझौते पर हस्ताक्षर किये। अक्टूवर, 1956 में रूस और जापान के बीच एक समझौता हुआ जिससे दोनों के बीच युद्ध की स्थिति समाप्त हो गयी।

प्रस्तुत पुस्तक के विवेचन की सीमा द्वितीय विश्व युद्ध तक ही सीमित है। अतः युद्धोत्तर शान्ति समझौते और विभिन्न सन्धियों की विस्तृत व्याख्या करना अनुपयुक्त होगा।

द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणाम—द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति से इतिहास के एक अध्याय का अथवा युग का अन्त हो गया। यह युद्ध मानव इतिहास का सर्वाधिक क्रूर, भयानक और विनाशकारी युद्ध था। युद्ध में संलग्न सभी राष्ट्रों ने अपने वैज्ञानिक अनुसन्धानों का प्रयोग किया। फलतः युद्ध काल में दोनों ही पक्षों को अपार क्षति उठानी पड़ी। विनाश का सबसे अधिक वीभत्स दृश्य सोवियत रूस को देखना पड़ा,क्योंकि रूस के वार-वार कहने पर भी पश्चिमी राष्ट्रों ने 1944 तक धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध कोई दूसरा मोर्चा नहीं खोला,इसलिये जर्मनी का प्रहार सवसे अधिक लाल सेना को ही सहन करना पड़ा। इसी प्रकार ब्रिटेन और फ्रांस को भी भारी हानि उठानी पड़ी,किन्तु उनकी क्षति रूस की तुलना में कुछ कम थी। पराजित राष्ट्रों ने जो क्षति उठायी, उसकी तो कल्पना ही नहीं की जा सकती है। द्वितीय विश्व युद्ध के परिणामों से एक नवीन युग का सूत्रपात्र हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के निम्नलिखित परिणाम निकले—

(1) यूरोपियन प्रभुत्व का अन्त—द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व तक यूरोप, विश्व इतिहास का निर्माता था किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के वाद यूरोपियन राष्ट्र आर्थिक एवं राजनैतिक दृष्टि से

अपाहिज हो चुके थे। विश्व समाज को अनुशासित करने वाला यूरोप अब 'समस्या प्रधान' यूरोप बन गया। विश्व युद्ध के बाद जर्मनी पूर्णतः पंगु हो चुका था, इटली सर्वनाश के कगार पर खड़ा सिसक रहा था तथा ब्रिटेन और फ्रांस की स्थिति तृतीय श्रेणी के राष्ट्रों जैसी हो गयी थी। अब विश्व में केवल दो ही महाशक्तियाँ रह गयी थीं—सोवियत रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका। युद्ध के बाद ये दोनों ही प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों के रूप में उभर कर सामने आये तथा विश्व के राष्ट्र तेजी से उनके प्रभाव क्षेत्रों में बँटने लगे। इस प्रकार विश्व राजनीति का नेतृत्व अब यूरोप के हाथों से निकलकर इन दो महाशक्तियों के हाथों में चला गया और ये दोनों ही राष्ट्र परस्पर विरोधी विचाराधाराओं के प्रतीक बन गये। रूस साम्यवादी विचारधारा का पोषक बन गया और अमेरिका लोकतन्त्र एवं पूँजीवादी आकांक्षाओं के लिये सहारा बन गया। विश्व राजनीतिक क्षितिज पर रूस और अमेरिका रूपी दो सितारे चमक उठे जिन्होंने विश्व नेतृत्व की कुंजी यूरोप के हाथों से छीन ली और इस प्रकार विश्व में यूरोपियन प्रभुत्व का अन्त हो गया।

(2) राष्ट्रीयता का नवजागरण—युद्ध के पश्चात् यूरोपीय देशों के साम्राज्यों में राष्ट्रीयता की भावनाएँ प्रज्ज्वलित हुईं। एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रीय जागरण ने तो यूरोपीय राष्ट्रों के अवशिष्ट प्रभाव को भी समाप्त कर दिया। यूरोपीय देशों के साम्राज्यों में राष्ट्रीयता एवं नवजागरण की शक्तियाँ इतनी प्रबल हो उठीं कि यूरोपीय राष्ट्रों के लिये अपने साम्राज्यों को बनाये रखना कठिन हो गया। पराजित राष्ट्रों—जर्मनी, इटली और जापान—के साम्राज्य तो छीन ही लिये गये थे किन्तु विजयी राष्ट्र भी अपने साम्राज्यों की रक्षा नहीं कर सके। परिस्थितियों से विवश होकर महायुद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार ने अपनी नीति में परिवर्तन किया जिससे भारत, बर्मा, पाकिस्तान, मलाया, मिस्र आदि देशों को स्वतन्त्रता प्रदान की गई। अफ्रीका के अनेक देशों को भी स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। फ्रेंच हिन्द-चीन में फ्रांसीसी साम्राज्य समाप्त हो गया। कम्बोडिया, लाओस, वियतनाम आदि स्वतन्त्र हुए। हालैण्ड के उपनिवेशों—जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि—ने हिन्देशिया नामक संघराज्य की स्थापना की और वह भी स्वतन्त्र हो गया। जर्मनी दो भागों में विभाजित हो गया, पश्चिमी जर्मनी मित्र राष्ट्रों के प्रभाव में आ गया और पूर्वी जर्मनी पर रूस का प्रभाव स्थापित हो गया। जापान के क्यूराइल द्वीपों एवं दक्षिणी सखालिन पर रूस ने अधिकार कर लिया। फारमोसा चीन ने ले लिया और कोरिया पर अमेरिका एवं रूस ने अपने-अपने क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया और उन्हें उपयुक्त समय पर स्वतन्त्रता देने का आश्वासन दिया। यद्यपि पुर्तगाल और स्पेन आदि कुछ देश अफ्रीका के कुछ प्रदेशों में अभी तक जमे हुए थे, किन्तु अब यूरोपीय साम्राज्य का सूर्य अस्त हो चुका था। वस्तुतः 1919 के बाद एशिया और अफ्रीका में यूरोपीय साम्राज्यवाद की पराजय आरम्भ हुई और 1945 के बाद इसका उन्मूलन हो गया। वास्तव में द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति और संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के बाद एशिया और अफ्रीका में इतनी तीव्र गति से घटनाएँ घटीं कि वहाँ आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक क्रान्तियों का विस्फोट हो गया। 1945 के पश्चात् यूरोपीय साम्राज्यवाद को कितना गहरा आघात पहुँचा, इसका अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि इस युद्ध के पूर्व विश्व की जनसंख्या का 33 प्रतिशत उपनिवेशों में निवास करता था, किन्तु आज उनकी संख्या केवल तीन या चार प्रतिशत रह गयी है।

(3) दो शक्तिशाली गुटों का उत्कर्ष—द्वितीय विश्व युद्ध का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह भी निकला कि प्राचीन शक्ति-सन्तुलन पूरी तरह से नष्ट हो गया। विश्व की दो प्रमुख फासिस्ट शक्तियों—जर्मनी और इटली का पूर्ण पराभव हो चुका था तथा फ्रांस अपने विनाश की दहलीज पर खड़ा था। ब्रिटेन आर्थिक, सामरिक और राजनीतिक दृष्टि से पहले की अपेक्षा अधिक क्षीण हो चुका था। यूरोपीय महाद्वीप पर, युद्धकालीन महाक्षतियों के बावजूद शक्तिशाली होकर निकलने वाला एकमात्र राष्ट्र रूस था। किन्तु युद्धकालीन क्षति उसके लिये वरदान सिद्ध हुई। रूस को विशाल प्रदेशों की उपलब्धि हुई तथा अनेक पड़ौसी देशों पर उसकी आर्थिक नीतियों का प्रभाव पड़ा। अब उसकी सीमाओं में वे सभी प्रदेश सम्मिलित हो गये जो किसी समय जारकालीन रूस में शामिल थे। प्रथम विश्व युद्ध के बाद रूस को जितना अपमान सहन करना पड़ा था अब उसका उतना ही सम्मान बढ़ गया। विश्व राजनीति में साम्यवादी सिद्धान्तों में लोगों की आस्था बढ़ने लगी। पोलैण्ड, रूमानिया, हंगरी, बल्गेरिया, चेकोस्लोवाकिया आदि की जो सरकारें बनीं वे सोवियत रूस की मित्र बनीं। आन्तरिक क्षेत्र में स्टालिन के शासन का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया। रूसी नागरिकों में आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता की भावना का प्रादुर्भाव हुआ। अल्पकाल में ही रूसियों ने बड़े उत्साह और जोश के साथ नाजी आक्रमण के अवशेषों को मिटा दिया और शीघ्र ही वह विश्व की एक महाशक्ति बन गया।

विध्वंशकारी महायुद्ध से अस्त-व्यस्त विश्व में केवल एक देश ऐसा था जो सोवियत रूस का मुकाबला कर सके। यह देश था संयुक्त राज्य अमेरिका। युद्ध में अमरीका का कोई विशेष नुकसान नहीं हुआ था। अतः आर्थिक दृष्टि से विश्व का वह सर्वाधिक सम्पन्न राष्ट्र था तथा विश्व के सभी पूँजीवादी राष्ट्र अमेरिका की सहायता से अपनी अर्थव्यवस्था ठीक करने का प्रयास कर रहे थे। इस प्रकार युद्ध के बाद विश्व में शक्ति के दो प्रमुख केन्द्र बन गये—सोवियत रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका। इन दोनों महाशक्तियों के नेतृत्व में दो विरोधी गुटों का निर्माण होने लगा, जिसने भयानक शीत युद्ध को जन्म दिया। शक्ति के इन दो प्रमुख केन्द्रों के स्थापित हो जाने से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर भी इसका प्रभाव पड़ा। सोवियत रूस की अपेक्षा अमेरिका के प्रभाव में निरन्तर कमी होती गयी।

(4) युद्धोत्तर विश्व में सिद्धान्तों का संघर्ष—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व में "सिद्धान्तों एवं आदर्शों पर बल देने की प्रवृत्ति" एक प्रमुख विशेषता बन गयी। युद्धोत्तर विश्व में विभिन्न सिद्धान्तों एवं विचारधाराओं ने सिर उठाया जिनमें कुछ में तो साम्य था तो कुछ में परस्पर विरोध। युद्धोत्तर विश्व में विभिन्न विचारधाराएँ पल्लवित होती गयीं और अपनी शाखाओं और उपशाखाओं का विस्तार करती रहीं। युद्धोपरान्त अमेरिका ने उदारवादी नीति अपनायी तथा आर्थिक दृष्टि से पस्त राष्ट्रों को आर्थिक पुनर्निर्माण के लिये सहायता प्रदान की। दूसरी ओर उसने पिछड़े हुए एशियाई राष्ट्रों को भी सहायता देने की नीति अपनायी। इस विचारधारा को अमेरिकन उदारवाद की संज्ञा दी जाती है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सोवियत रूस साम्यवाद का प्रमुख केन्द्र बन गया जिसका एकमात्र लक्ष्य विश्व में साम्यवाद का प्रसार करना हो गया। उसने किसानों के समर्थन एवं पूँजीपतियों के विरुद्ध अपने आकर्षक विचारों से साम्यवाद की ओर जनसामान्य का ध्यान आकर्षित किया। पराधीन राष्ट्रों को साम्यवाद ने स्वाधीनता का आश्वासन दिया, उनमें

साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध कटु प्रचार करके राष्ट्रीय भावनाओं को जागृत किया। अपने आकर्षक आर्थिक सिद्धान्तों से एशिया और अफ्रीका के अनेक देशों को अपने प्रभाव में लाने में सफलता प्राप्त की। साम्यवादी रूस, पूँजीवादी अमेरिका का कट्टर शत्रु है। अतः अमेरिका एवं अन्य पूँजीवादी देशों ने साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव का डटकर विरोध किया। इस प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप आज सम्पूर्ण विश्व साम्यवादी और पूँजीवादी दो खेमों में विभाजित है और प्रत्येक एक दूसरे के प्रभाव को नष्ट करने के लिये प्रयत्नशील है। द्वितीय महायुद्ध के बाद 1947 में भारत की स्वतन्त्रता के साथ ही असंलग्नतावाद (Non-alignment) की विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। यह विचारधारा न तो साम्यवाद की ओर आकर्षित होने को कहती है और न पूँजीवाद की ओर। इस प्रकार भारत, विश्व में तटस्थ देशों का नेता बन गया। साम्यवाद एवं पूँजीवाद के मध्य समन्वय स्थापित करने के लिये असंलग्नवाद की विचारधारा विकसित हुई थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीयवाद की विचारधारा को लोकप्रियता प्राप्त हुई। संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को इस विचारधारा का प्रबल पोषक माना गया। इस प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अनेक विचारधाराओं का विकास हुआ।

(5) शीत युद्ध का श्रीगणेश—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर रूस और अमेरिका जैसी दो महाशक्तियों का उत्कर्ष हुआ था। नाजी जर्मनी को कुचलने की समान स्वार्थ भावना के कारण युद्धकाल में रूस तथा अमेरिका एवं पाश्चात्य शक्तियों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहे, किन्तु युद्ध के बाद दोनों में मतभेद उग्र हो गये। दोनों पक्षों की विचारधाराओं में विरोध तो पहले से ही विद्यमान था और युद्धकाल में दोनों एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। साम्यवादी रूस युद्धकाल में निरन्तर अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाता जा रहा था जिसे पाश्चात्य देश रोकने का प्रयत्न करते रहे। पाश्चात्य देशों ने भी रूस को युद्धकाल में उतना सहयोग नहीं दिया जितना देना चाहिये था। अतः युद्ध के पश्चात् दोनों पक्षों ने खुलकर एक दूसरे पर आरोप लगाये। साम्यवादी देशों का केन्द्र रूस बन गया तथा साम्यवाद-विरोधी देशों का नेतृत्व अमेरिका करने लगा। दोनों के वाक् संघर्ष ने एक नये प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष को जन्म दिया जिसे 'शीतयुद्ध' के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार के सम्बन्धों में विरोधी राष्ट्रों के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध बने रहते हैं और प्रत्यक्ष संघर्ष नहीं होता, किन्तु उनका पारस्परिक व्यवहार शत्रुतापूर्ण होता है। दोनों पक्ष अपने भाषणों में एवं समाचार-पत्रों के माध्यम से एक-दूसरे के विरुद्ध विषवमन करते रहते हैं।

(6) प्रादेशिक संगठन—युद्ध के बाद कोई संतोषजनक शान्ति समझौता नहीं हो सका। संयुक्त राष्ट्रसंघ भी रूस व अमेरिका के बीच चलने वाले शीत युद्ध का अखाड़ा बन गया था। फलतः दोनों अपनी भावी सुरक्षा के लिये प्रादेशिक संगठनों के निर्माण की ओर अग्रसर हुए। एक ओर अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी राष्ट्रों ने साम्यवादी राष्ट्रों के चारों ओर सुरक्षा संगठनों का घेरा डालकर साम्यवाद पर अंकुश लगाने की चेष्टा की तो दूसरी ओर रूस ने अपने और पश्चिमी राष्ट्रों के बीच साम्यवादी सरकारों की स्थापना करके सुरक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया। पश्चिमी राष्ट्रों के सुरक्षा संगठनों में 'उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन' (NATO), दक्षिणी पूर्वी एशिया संधि संगठन (SEATO), बगदाद पैक्ट आदि उल्लेखनीय हैं। साम्यवादी सुरक्षा संगठनों में वारसा पैक्ट प्रमुख है।

(7) निःशस्त्रीकरण—द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व भी निःशस्त्रीकरण के प्रयास होते रहे थे, किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् इस समस्या का महत्त्व अधिक बढ़ गया था, क्योंकि द्वितीय विश्व युद्ध में नये-नये वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों तथा अणुवम जैसे विनाशकारी शस्त्रों का प्रयोग हो चुका था, जिससे भावी विश्व में शान्ति वनाये रखना अत्यन्त ही आवश्यक हो गया था। क्योंकि विनाशकारी शस्त्रों के आविष्कार के कारण यदि अब विश्व में तृतीय युद्ध लड़ा गया तो विश्व मात्र राख का ढेर बन कर रह जायेगा। अतः युद्ध के वाद अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अस्त्र-शस्त्रों को सीमित करने के प्रश्न पर गम्भीर रूप से विचार होने लगा। इस प्रश्न के समाधान के लिये सरकारी और गैर-सरकारी दोनों स्तरों पर प्रयत्न किये जाने लगे। किन्तु रूस और अमेरिका के वीच इस प्रश्न के सम्बन्ध में गम्भीर मतभेद उत्पन्न हो गये। एक पूर्णतः निःशस्त्रीकरण का पक्षपाती है तो दूसरा आंशिक निःशस्त्रीकरण चाहता है। इन मतभेदों के कारण निःशस्त्रीकरण के सभी प्रयास विफल हुए हैं। फिर भी द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के वाद से लगातार आज तक किसी भी देश ने निःशस्त्रीकरण के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया है और उसका महत्त्व आज भी है।

(8) संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना—द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका से सभी राष्ट्र आतंकित थे। इस युद्ध के भीषण ताण्डव ने विचारशील राजनीतिज्ञों को मानव जाति की रक्षा के लिये शान्ति को सुरक्षित बनाये रखने वाले एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण की तीव्र आवश्यकता अनुभव कराई। पश्चिमी यूरोप तथा अमेरिका पिछले राष्ट्रसंघ से एक भिन्न संगठन वनाना चाहते थे। अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने कहा था, "राष्ट्रसंघ की असेम्बली जैसी संस्था के पुनर्निर्माण से अधिक निरर्थक कोई अन्य कार्य नहीं है।" युद्ध काल में ही इसकी स्थापना के प्रयत्न आरम्भ हो गये थे। अक्टूबर, 1943 में मास्को सम्मेलन में सामान्य सुरक्षा के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित करने का विचार स्वीकार किया गया। तत्पश्चात् भिन्न-भिन्न बैठकों में इसके संगठन एवं विधान का प्रारूप तैयार किया गया तथा अप्रैल-जून, 1945 में सेन फ्रांसिस्को सम्मेलन में इसे अन्तिम रूप दिया गया। इसके बाद 24 अक्टूबर, 1945 को संयुक्त राष्ट्रसंघ के विधान को लागू कर दिया गया।

निष्कर्षतः, द्वितीय विश्व युद्ध के प्रभाव से विश्व का कोई भी राष्ट्र अछूता नहीं रहा। यहाँ तक कि जो देश इस युद्ध में तटस्थ रहे, वे भी इसके प्रभावों से मुक्त नहीं रह सके। युद्ध के परिणामस्वरूप शक्ति-सन्तुलन ब्रिटेन के हाथों से निकल कर अमेरिका के हाथों में आ गया। वैज्ञानिक आविष्कारों की दौड़ आरम्भ हुई। 'शान्ति को वनाये रखने' के नाम पर नये-नये विध्वंशक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण आरम्भ हो गया। यद्यपि नये-नये आविष्कारकर्त्ता राष्ट्रों का कहना है कि वे इनका प्रयोग शान्तिपूर्ण उद्योगों के लिये करेंगे, किन्तु वास्तव में इनका प्रयोग शान्तिपूर्ण उपायों के लिये होगा या युद्ध के लिये, यह कहना कठिन है।

प्रश्न

1. द्वितीय महायुद्ध के मुख्य कारणों का विश्लेषण कीजिये।
2. द्वितीय महायुद्ध के परिणामों की समीक्षा कीजिये।
3. द्वितीय महायुद्ध के कारणों एवं परिणामों का संक्षेप में उल्लेख कीजिये।

अध्याय-20

राष्ट्रसंघ
(League of Nations)

भूमिका—राष्ट्रसंघ की स्थापना पेरिस शान्ति सम्मेलन का एक महत्त्वपूर्ण रचनात्मक कार्य था। इसे एक अच्छे विश्व संगठन की प्रगति की दिशा में एक सफल कदम कहा जा सकता है। यह पहला अन्तर्राष्ट्रीय संगठन था जिसके पास वैधानिक अस्तित्व था। इसकी स्थापना को विश्व इतिहास का एक क्रान्तिकारी मोड़ बिन्दु कहा जा सकता है। राज्यों के मध्य, राजनीतिक सम्बन्धों के क्षेत्र में, मानव कल्याण के लिए और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रणाली को विकसित करने के लिये अव तक किये गये प्रयासों में सर्वाधिक महत्त्वाकांक्षी प्रयास था। यह ठीक है कि प्राचीन काल से लेकर महायुद्ध के पूर्व तक अनेक विचारकों तथा राजनीतिज्ञों ने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को उन्नत करने का प्रयास किया था, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीयतावाद को विकसित करने की दृष्टि से एक विश्वव्यापी संगठन के निर्माण की दिशा में किसी प्रकार का सक्रिय प्रयास नहीं किया गया था।

अवधारणा—प्रथम महायुद्ध ने अनेक देशों के असंख्य राजनीतिज्ञों एवं विचारकों को विक्षुब्ध कर दिया था और सम्पूर्ण विश्व, युद्ध की विभीषिका से उत्पन्न परिणामों की पीड़ा से कराह रहा था। युद्धोपरान्त मानव समाज सोचने लगा कि क्या धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध सामूहिक सहयोग से कार्य करने वाली शक्तियों का विश्व शान्ति की स्थापना के लिए उपयोग नहीं किया जा सकता ? प्रत्येक देश में इन विचारों की अभिव्यक्ति हुई और वह व्यर्थ नहीं रही। वर्साय की सन्धि में समाविष्ट, राष्ट्रसंघ का प्रतिश्रव (Covenant) इसी अभिव्यक्ति का द्योतक था।

विश्वयुद्ध के सूत्रपात के तुरन्त बाद ही इंगलैण्ड और अमेरिका में विश्व संगठन की सम्भावना के सम्बन्ध में, विश्व शान्ति की स्थापना के लिए, आशावादी और शान्तिवादी आन्दोलन की झलक देखने में आने लगी थी। युद्धकाल में इस विचारधारा को और बल मिला। अमेरिका में भूतपूर्व राष्ट्रपति टैफ्ट के नेतृत्व में "शान्ति स्थापित करने वाले संघ" की स्थापना की गई। संघ के लिए चार-सूत्री कार्यक्रम—अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का मध्यस्थता के द्वारा निपटारा, अन्य झगड़ों को कौंसिल के सामने रखना, संघ के निर्णय का उल्लंघन करने वाले राष्ट्र के विरुद्ध सैनिक तथा आर्थिक कार्यवाही करना और विश्वशान्ति की स्थापना के लिए सदस्यों का समय-समय पर एक स्थान पर मिलते रहना, तैयार किया गया। इस योजना को लोकप्रिय समर्थन मिला। संयुक्त राज्य अमेरिका का तत्कालीन राष्ट्रपति वुडरो विल्सन भी अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का प्रमुख

समर्थक था। 22 जनवरी, 1917 को विल्सन ने अमेरिकी सीनेट को सम्बोधित करते हुए, "शान्ति के लिए विश्वसंघ" की चर्चा की। 8 जनवरी, 1918 को युद्ध-विराम के सम्बन्ध में विल्सन ने अपने "चौदह बिन्दुओं" की घोषणा की, जिसमें अन्तिम बिन्दु एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना से सम्बन्धित था। इंगलैण्ड में शान्ति आन्दोलन का नेतृत्व गैर-सरकारी नेताओं ने किया। फरवरी, 1915 ई. में लॉर्ड ब्राइस के नेतृत्व में कुछ वर्गों के लोगों ने "युद्ध को टालने के लिए प्रस्ताव" नामक लेख प्रकाशित करवाया और जनमत का विचार जानने के लिए इस लेख की प्रतियाँ वितरित की गईं। 1917 में इसी समूह ने "भावी युद्धों को रोकने के लिए प्रस्ताव" नामक लेख प्रकाशित करवाया। लॉर्ड राबर्ट सेसिल ने भी शान्तिवादियों की कार्यवाहियों में गहरी रुचि ली। 1918 के आरम्भ में ब्रिटेन के विदेशमन्त्री बालफोर ने सर फिलीमोर की अध्यक्षता में राष्ट्रसंघ की योजना पर विचार करने के लिए एक समिति नियुक्त की। इसने भी विश्व संगठन की स्थापना के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। फ्रांस में लियो बुजिओस इस दिशा में प्रचार कर रहा था। दक्षिण अफ्रीका संघ के प्रधानमन्त्री जनरल स्मट्स ने भी इन कार्यों की सराहना की और अपनी तरफ से महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये। इस प्रकार, पेरिस शान्ति सम्मेलन के पूर्व ही राष्ट्रसंघ जैसी संस्था की स्थापना के विचार अपना स्थान बना चुके थे।

राष्ट्रसंघ का जन्म—राष्ट्रसंघ की स्थापना में अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। विल्सन राष्ट्रसंघ की स्थापना का दृढ़ संकल्प लेकर अमेरिका से रवाना हुआ था। वह संघ के प्रतिश्रव (संविधान) को शान्ति सन्धियों का प्रथम भाग बनाने का निश्चय कर चुका था। इसके विपरीत इंगलैण्ड, फ्रांस आदि मित्र राष्ट्र पहले शान्ति सन्धियों की धाराओं को निर्धारित करना चाहते थे और इसके बाद राष्ट्रसंघ के मामले को हाथ में लेना चाहते थे। विल्सन अपने विचार पर डटा रहा और उसके प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण ही राष्ट्रसंघ की योजना को प्राथमिकता प्राप्त हो सकी।

जनवरी, 1919 में पेरिस में शान्ति सम्मेलन शुरू हुआ। इस समय तक विभागीय और गैर-विभागीय दोनों ही क्षेत्रों से संघ के निर्माण सम्बन्धी अनेक योजनाएँ प्रस्तुत की जा चुकी थीं। मार्च, 1918 में ब्रिटिश विदेश विभाग द्वारा निर्देशित एवं लॉर्ड फिलीमोर की अध्यक्षता में नियुक्त एक कमेटी ने राष्ट्रसंघ की योजना का एक प्रारूप तैयार किया था। इसके तीन मास बाद, विल्सन के प्रमुख सलाहकार कर्नल हाऊस ने विल्सन के आदर्शों के अनुकूल एक पृथक् प्रारूप तैयार किया। जुलाई, 1918 में विल्सन ने अपने प्रथम प्रारूप को अन्तिम रूप दिया। दिसम्बर, 1918 में दक्षिण अफ्रीका के जनरल स्मट्स ने कौंसिल और मेंडेट-पद्धति को सम्मिलित करके एक नया प्रारूप तैयार किया। इसी समय लॉर्ड सेसिल ने फिलीमोर रिपोर्ट के आधार पर एक नया प्रारूप तैयार किया। 10 जनवरी, 1919 को विल्सन ने अपना दूसरा प्रारूप तैयार किया और दस दिन बाद ही तीसरा प्रारूप तैयार किया। इसी बीच ब्रिटिश प्रतिनिधिमण्डल ने सेसिल और स्मट्स के प्रारूपों को मिलाकर एक नया प्रारूप तैयार किया। शान्ति सम्मेलन में राष्ट्रपति विल्सन के अन्तिम प्रारूप और ब्रिटेन द्वारा प्रस्तावित अन्तिम प्रारूप को मौलिक माना गया। परन्तु चूँकि दोनों में काफी भिन्नता थी, इसलिये ब्रिटिश प्रतिनिधि मण्डल के कानूनी सलाहकार सेसिल हर्स्ट और अमेरिकन सलाहकार डेविड हण्टर मिलर को संशोधन का कार्य सौंपा गया। दोनों ने मिलकर एक नया प्रारूप तैयार किया जिसे 3 फरवरी, 1919 को शान्ति सम्मेलन के सम्मुख प्रस्तुत किया

गया। शान्ति सम्मेलन ने इस नवीन प्रारूप का अध्ययन करने के लिए 19 सदस्यों का एक आयोग नियुक्त किया और विल्सन को इस आयोग का अध्यक्ष मनोनीत किया गया। आयोग ने अपना काम पूरा करके 14 फरवरी को सम्पूर्ण धाराओं सहित प्रारूप को शान्ति सम्मेलन के सामने रखा। इस अवसर पर विल्सन ने कहा था कि "एक जीवित वस्तु पैदा हुई है।" सम्मेलन ने राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव में कुछ संशोधनों को स्वीकार किया और 28 अप्रेल, 1919 को संशोधित प्रारूप सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया। वर्साय सन्धि की प्रथम 26 धाराओं में राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव की व्याख्या है। अन्य शान्ति समझौतों में भी राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव को सम्मिलित किया गया। 10 जनवरी, 1920 ई. को राष्ट्रसंघ ने वैधानिक दृष्टि से अपने अस्तित्व को प्राप्त किया।

श्री गेथोर्न हार्डी ने राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "यह संलेख उस प्रयत्न का एक प्रशंसनीय नमूना था, जो राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद में सामंजस्य लाने के लिए किया गया था।" सर ए. जिमर्न के शब्दों में, "राष्ट्रसंघ हर सूरत में दो पृथक् विचारधाराओं के आगमन से उत्पन्न हुआ था।"

राष्ट्रसंघ के उद्देश्य—राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव की प्रस्तावना में राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों की व्याख्या भी सम्मिलित है। इसके अनुसार मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को प्राप्त करना था। परन्तु इसकी पूर्ति तभी सम्भव थी, जबकि सभी राष्ट्र यह मान लें कि वे युद्ध को हमेशा के लिए तिरस्कृत कर देंगे। उनके मध्य स्पष्ट, उचित एवं प्रतिष्ठापूर्ण सम्बन्ध बने रहेंगे, सभी सरकारें अपने वास्तविक आचरण में अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं न्याय का पालन करेंगी और सभी संगठित राष्ट्र एक दूसरे के साथ अपने व्यवहार में सन्धि की शर्तों का विवेकपूर्ण पालन करेंगे।

उपर्युक्त प्रस्तावना से स्पष्ट है कि राष्ट्रसंघ के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार थे—(1) आपसी विवादों को सुलझाकर सुरक्षा की व्यवस्था करना और राज्यों की यथास्थिति को बनाये रखकर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को कायम रखना। (2) संसार के सभी राष्ट्रों के मध्य भौतिक एवं मानसिक सहयोग को प्रोत्साहन देना और (3) पेरिस शान्ति समझौतों द्वारा सौंपे गये कर्त्तव्यों को पूरा करना।

स्थिति—राष्ट्रसंघ की स्थिति की व्याख्या करना कठिन कार्य है। असंख्य लोगों ने संघ के सम्बन्ध में ऐसा सम्बोधन किया है, जैसे कि वह एक अति राष्ट्रीय लोकसभा (Super National Parliament) हो। परन्तु वह ऐसी नहीं थी, वह कभी भी अतिराष्ट्रीय या अतिराज्य (Super State) नहीं हो सकती थी, क्योंकि उसके सदस्य राष्ट्र सार्वभौम राज्य बने रहे और वे अपने अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता के आदेश को मानने के लिए कभी तैयार नहीं थे। अतः यह एक लोकसभा नहीं हो सकती थी। यह न तो राज्य ही था और न अतिराज्य ही। यह तो सन्धि के द्वारा निर्मित संगठित राज्यों का एक ऐसा संघ था जो विश्वव्यापी था; जिसे कानूनी व्यक्तित्व प्राप्त था और जिसके पास कुछ सम्पत्ति भी थी। परन्तु इसके पास न तो अपनी भूमि थी और न कोई सेना। यह एक नम्र संगठन था। यह अपने सदस्य राष्ट्रों के सहयोग पर आश्रित था, अर्थात् इसका जीवन पराश्रित था। फिर भी, संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन को एक नया स्वरूप दिया और क्रियात्मक राजनीति को सूत्रबद्ध करने का प्रयास किया।

राष्ट्रसंघ के प्रमुख अंग

राष्ट्रसंघ के तीन प्रमुख अंग थे—असेम्बली, कौंसिल और सचिवालय। इसके दो स्वायत्त अंग थे—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन।

असेम्वली—असेम्वली या साधारण सभा राष्ट्रसंघ की प्रतिनिध्यात्मक एवं व्यापक अंग थी। इसमें संघ के सभी सदस्य राष्ट्र सम्मिलित थे और प्रत्येक राष्ट्र को समान रूप से एक मत देने का अधिकार था; यद्यपि प्रत्येक सदस्य राष्ट्र अपने तीन प्रतिनिधि भेज सकता था। असेम्बली का अधिवेशन प्रतिवर्ष सितम्बर मास में जेनेवा नगर में होता था। वार्षिक अधिवेशन के अतिरिक्त असाधारण अधिवेशन बुलाने की भी व्यवस्था थी। राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव के अनुसार असेम्वली अपने कार्याधिकारियों को अपने आप चुनती थी और इस सम्बन्ध में नियम भी वनाती थी। यह प्रति वर्ष एक अध्यक्ष तथा आठ उपाध्यक्षों का निर्वाचन करती थी। असेम्वली की सहायता के लिए स्वयं असेम्वली द्वारा गठित छः स्थायी समितियाँ बनी हुई थीं। इनके अतिरिक्त अन्य विशिष्ट समस्याओं के समाधान हेतु समितियाँ बनाने के लिए भी असेम्वली स्वतन्त्र थी। असेम्वली में मतदान की चार पद्धतियाँ थीं। कुछ विषयों के लिए दो-तिहाई बहुमत की और कुछ के लिए पूर्ण बहुमत आवश्यक था।

असेम्वली का कार्यक्षेत्र काफी विस्तृत था। राष्ट्रसंघ के क्षेत्राधिकार में आने वाले किसी भी विपय पर अथवा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को प्रभावित करने वाले किसी भी विपय पर असेम्वली विचार कर सकती थी। मोटे तौर पर उसके तीन कार्यक्षेत्र थे—निर्वाचन सम्बन्धी, अंगीभूत सम्बन्धी और परामर्श सम्बन्धी। निर्वाचन सम्बन्धी कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत असेम्वली का काम—(1) दो-तिहाई मतों से संघ के नये सदस्यों का चुनाव, (2) साधारण बहुमत द्वारा कौंसिल के अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के 15 न्यायाधीशों का निर्वाचन और (3) कौंसिल द्वारा नियुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव की नियुक्ति की पुष्टि करना था। अंगीभूत कार्यों के अन्तर्गत असेम्वली संविदा के नियमों में संशोधन कर सकती थी, परन्तु ऐसे संशोधन कौंसिल तथा प्रभावित देशों द्वारा स्वीकार्य होने जरूरी थे। परामर्श सम्बन्धी कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत असेम्वली अन्तर्राष्ट्रीय हितों से सम्बन्धित किसी भी सामान्य प्रश्न पर विचार कर सकती थी और कौंसिल को अपना परामर्श भेज सकती थी; परन्तु असेम्बली स्वयं कोई कार्य नहीं कर सकती थी; केवल परामर्श दे सकती थी।

प्रथम असेम्वली को विल्सन ने आहूत किया था और 15 नवम्वर, 1920 को इसका प्रथम अधिवेशन हुआ। असेम्बली का अन्तिम अधिवेशन 18 अप्रैल, 1946 को हुआ था। इस अधिवेशन में उपस्थित 34 सदस्यों ने सर्वसम्मति से राष्ट्रसंघ को विघटित करने का प्रस्ताव पारित किया था।

कौंसिल—कौंसिल अथवा परिपद् राष्ट्रसंघ की एक लघु समिति के समान थी। इसे प्रायः संघ की कार्यकारिणी भी कहा जाता है। कौंसिल में दो प्रकार के सदस्य थे—स्थायी और अस्थायी। प्रारम्भ में स्थायी सदस्यों की संख्या 5 और अस्थायी सदस्यों की संख्या 4 रखी गई

थी, परन्तु बाद में अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 9 कर दी गई। अमेरिका, इंगलैण्ड, फ्रांस, इटली और जापान को स्थायी सदस्यता प्रदान की गई थी, परन्तु अमेरिका द्वारा शान्ति-समझौतों का अनुसमर्थन न किये जाने से अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बन पाया। असेम्बली प्रतिवर्ष तीन वर्ष की अवधि के लिए तीन अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन करती थी।

परिषद् के निर्णय प्रायः निर्विरोध होते थे। केवल रीति विषयक मामलों, अल्पसंख्यकों से सम्बन्धित धाराओं के संशोधन, संघ के सदस्य राष्ट्रों के आपसी विवादों के सम्बन्ध में सिफारिश सम्बन्धी मामलों में कौंसिल बहुमत से निर्णय ले सकती थी। संयुक्त राष्ट्रसंघ की भाँति राष्ट्रसंघ के स्थायी सदस्यों को "निषेधाधिकार" (वीटो) प्राप्त नहीं था। कौंसिल की अध्यक्षता, कौंसिल के सदस्यों में से, प्रति सम्मेलन पर सदस्यों की फ्रेंच नामावली के क्रमानुसार बदलती रहती थी। कौंसिल में जब कोई ऐसा वाद-विवाद चल रहा हो, जिसमें किसी राष्ट्र का स्वार्थ प्रभावित होता हो, तो उसके प्रतिनिधि को भी कौंसिल की बैठक में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया जा सकता था। कौंसिल एक वर्ष में तीन-चार बार अपनी बैठक करती थी, परन्तु विशेष समस्या उपस्थित होने पर किसी भी समय अपनी बैठक कर सकती थी।

असेम्बली की भाँति कौंसिल का कार्यक्षेत्र भी असीमित था। उसके मुख्य कार्य इस प्रकार थे—(1) महासचिव द्वारा की गई विभागीय नियुक्तियों को स्थायी करना। (2) निःशस्त्रीकरण के लिए योजनाएँ बनाना तथा युद्ध के खतरों को टालना तथा उन देशों को सहयोग देना जो युद्ध सामग्री का निर्माण करने में असमर्थ हों। (3) आक्रामक कार्यवाही के समय सम्बन्धित देशों को कर्त्तव्य पालन करने का सुझाव देना। (4) प्रतिश्रव की सुरक्षा के लिए यदि सैनिक कार्यवाही की आवश्यकता आ पड़े, तो कौन देश कितनी सैनिक सहायता देगा—इसका निर्णय करना। (5) प्रतिश्रव के नियमों का उल्लंघन करने वाले सदस्य को सदस्यता से पृथक् करना। (6) मैंडेट पद्धति के अन्तर्गत बड़े राज्यों के संरक्षण में रखे गये देशों के बारे में वार्षिक रिपोर्ट मँगवाना तथा उस पर विचार करना। इसके अतिरिक्त, कौंसिल का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य झगड़ों को निपटाना था। कौंसिल को इन झगड़ों को असेम्बली के पास भी भेजना पड़ता था। इसके अलावा, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, सारघाटी, डेन्जिग और मिश्रित आयोगों की नियुक्ति के सम्बन्ध में भी अनेक काम करने पड़ते थे। असेम्बली के साथ मिलकर कौंसिल को निम्नलिखित कार्य करने पड़ते थे—(1) कौंसिल के अतिरिक्त स्थायी सदस्यों की नियुक्ति। (2) अतिरिक्त अस्थायी सदस्यों की संख्या निर्धारित करना। (3) राष्ट्रसंघ के महासचिव की नियुक्ति। (4) ान्ति सन्धियों में संशोधन। (5) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सदस्यों का निर्वाचन। (6) न्यायालय क अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति। इन सभी कार्यों के लिए असेम्बली और कौंसिल का मिला-जुला त्राधिकार था। इस प्रकार, कौंसिल वास्तव में राष्ट्रसंघ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं शक्तिशाली ंग था।

सचिवालय—सचिवालय (Secretariat) राष्ट्रसंघ का स्थायी प्रशासनिक अंग था। सका केन्द्र जेनेवा में था। इसे राष्ट्रसंघ का "सर्वाधिक उपयोगी और सबसे कम विवादास्पद ग" कहकर पुकारा गया। इसमें लगभग 60 अधिकारी, कर्मचारी और विशेषज्ञ काम करते थे।

इन सभी की नियुक्तियाँ अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक सेवा के आधार पर की जाती थी। सचिवालय का प्रधान अधिकारी "महासचिव" कहलाता था। इसकी नियुक्ति असेम्बली की स्वीकृति के साथ कौंसिल करती थी। इंगलैण्ड के सुयोग्य राजनीतिज्ञ सर ड्यूमण्ड ने 1920 से लेकर 1933 तक इस पद पर कार्य किया था। महासचिव की सहायता के लिए दो उपसचिव और दो सहायक सचिव होते थे। सचिवालय के 11 विभाग थे। प्रत्येक विभाग एक निदेशक के अधिकार में रहता था।

सचिवालय असेम्बली और कौंसिल दोनों के लिए काम करता था। उसका कार्य आपनी विविध सेवाओं के द्वारा संघ के सभी अंगों की सहायता करना था। सचिवालय असेम्बली तथा कौंसिल के विचारणीय विषयों की सूची तैयार करता था; बैठकों की कार्यवाही का विवरण रखता था; बैठकों की व्यवस्था करता था; विविध विषयों के मसौदे तैयार करता था; सन्धियों को पंजीबद्ध करता था और इसी प्रकार के अन्य अनेक प्रशासनिक कार्य करता था।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के लिए असेम्बली और कौंसिल द्वारा 9 वर्ष की अवधि के लिए नियुक्त 11 न्यायाधीशों की व्यवस्था की गई थी; परन्तु कुछ समय बाद न्यायाधीशों की संख्या को बढ़ाकर 15 कर दिया गया। न्यायालय के अध्यक्ष का चुनाव स्वयं न्यायाधीशों द्वारा किया जाता था। अध्यक्ष की अवधि तीन वर्ष होती थी। हेग नगर को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का केन्द्र चुना गया। न्यायालय का क्षेत्राधिकार दो प्रकार का था—ऐच्छिक और अनिवार्य। जब कोई राज्य विशिष्ट समझौते के अन्तर्गत किसी झगड़े को इस न्यायालय के निर्णयार्थ प्रस्तुत करता था, तो यह न्यायालय के ऐच्छिक क्षेत्राधिकार में आता था। इसका अधिकार अनिवार्य तब होता था, जब सन्धि के द्वारा राज्यों के बीच यह समझौता होता कि सन्धि-सम्बन्धी झगड़ों को इसी न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए और सन्धि करने वाले राज्यों ने साफ तौर से इस न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को अपने ऊपर अनिवार्य मान लिया हो।

न्यायालय का अधिकार क्षेत्र तो ऐसे मामलों से था जो कानूनी प्रकृति के हों। इसके अन्तर्गत सन्धियों, अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी किसी भी प्रश्न, अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व का उल्लंघन, उल्लंघन के लिए क्षतिपूर्ति का रूप एवं उसकी सीमा की व्याख्या करना शामिल था। न्यायालय में अभियोग के वादी-प्रतिवादी के रूप में केवल राज्य ही (जिसमें स्वतन्त्र उपनिवेश भी सम्मिलित थे) उपस्थित हो सकते थे। मूलतः न्यायालय का कार्य तो केवल उन्हीं मामलों के विचार तक सीमित कर दिया गया था जो राष्ट्रसंघ के सदस्यों के बीच में होते थे; परन्तु बाद में गैर सदस्य राष्ट्रों के लिए भी इस न्यायालय का द्वार खोल दिया गया। न्यायालय को कौंसिल तथा असेम्बली को माँगने पर सलाह देने का भी अधिकार था। यद्यपि न्यायालय के सुझाव अनिवार्य नहीं होते थे, परन्तु प्रायः उन्हें स्वीकार कर लिया जाता था।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन (I.L.O.) – अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन यद्यपि एक स्वायत्त संस्था थी, फिर भी यह राष्ट्रसंघ का एक अंग थी। इसका केन्द्र जेनेवा में था और इसका संगठन राष्ट्रसंघ के संगठन से मिलता-जुलता था। इसकी एक साधारण सभा, एक शासकीय परिषद्, और

एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय था। इसका निर्माण पेरिस शान्ति सम्मेलन द्वारा, संगठित मजदूरों की माँगों को सन्तुष्ट करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक समस्याओं को हल करने के लिए एक समान प्रयास का परिणाम था। इस संगठन का प्रमुख उद्देश्य सम्पूर्ण संसार में श्रमिक सम्बन्धी कानूनों के निर्माण में एकरूपता लाने का प्रयत्न करना था। निःसन्देह संगठन ने समय-समय पर सदस्य राष्ट्रों को सुझाव भेजे, परन्तु इसके कार्यों को केवल सुझाव मान लिया गया और उन सुझावों को कार्यान्वित करने की दिशा में कोई कारगर कदम नहीं उठाया गया। संगठन के कार्यों में जो समय और परिश्रम लगा, उसको देखते हुए उसकी उपलब्धि नगण्य कही जा सकती है।

राष्ट्रसंघ के कार्य

राष्ट्रसंघ का मुख्य कार्य विश्व शान्ति को बनाये रखना तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि करना था। अपने इस मूल कार्य की पूर्ति के सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ को जो विभिन्न कार्य करने पड़ते थे, वे इस प्रकार थे—(1) प्रशासनात्मक कार्य। (2) मेंडेट अथवा संरक्षण-प्रथा सम्बन्धी कार्य। (3) अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा सम्बन्धी कार्य। (4) आर्थिक, सामाजिक और मानवता सम्बन्धी कार्य और (5) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी कार्य।

प्रशासनात्मक कार्य—वर्साय की सन्धि के अनुसार जर्मनी की सारघाटी का प्रशासन 15 वर्ष की अवधि के लिए राष्ट्रसंघ को सौंपा गया था। राष्ट्रसंघ ने पाँच सदस्यों का एक आयोग गठित किया और सार का प्रशासन इस आयोग को सौंप दिया। प्रारम्भ में आयोग पर फ्रांस का प्रभाव रहा और इस कारण सार के निवासियों को काफी कष्टों का सामना करना पड़ा। राष्ट्रसंघ को बार-बार इस कष्टप्रद स्थिति की जानकारी दी गई परन्तु संघ ने अपनी आँखें बन्द ही रखीं। बहुत वाद-विवाद के बाद आयोग में कुछ परिवर्तन किया गया। 1935 ई. में राष्ट्रसंघ के निरीक्षण में वहाँ जनमत संग्रह किया गया और जनता ने भारी बहुमत से जर्मनी के साथ मिलने का निर्णय दिया। परिणामस्वरूप 1 मार्च, 1935 को सारघाटी का क्षेत्र जर्मनी को वापस लौटा दिया गया।

वर्साय व्यवस्था के अनुसार डेन्जिग के स्वतन्त्र नगर का प्रशासन भी राष्ट्रसंघ को सौंपा गया था। राष्ट्रसंघ ने डेन्जिग के प्रशासन के लिए एक कमिश्नर नियुक्त किया। बाद में एक संविधान बनाया गया और प्रतिनिध्यात्मक विधान सभा का गठन किया गया। चूँकि डेन्जिग बन्दरगाह का नियन्त्रण पोलैण्ड के हाथ में था; अतः डेन्जिग नगर और बन्दरगाह के बीच कई प्रकार के झगड़े उठे, परन्तु राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त कमिश्नर के प्रयत्नों से उन झगड़ों को शान्तिपूर्ण ढँग से निपटा दिया गया। इस स्वतन्त्र नगर के प्रशासन में राष्ट्रसंघ को महत्त्वपूर्ण सफलता मिली, परन्तु 1939 ई. में राष्ट्रसंघ को डेन्जिग के मामले में दुर्भाग्यपूर्ण कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

मेंडेट-सम्बन्धी कार्य—मेंडेट प्रथा को आदेश-पद्धति, समादेश-प्रथा, संरक्षण-प्रथा आदि नामों से भी पुकारा जाता है। समुद्र पार जर्मन उपनिवेशों (किओचाओ को छोड़कर) और तुर्की साम्राज्य के भूतपूर्व अफ्रेशियाई प्रान्तों में निवास करने वाले लोगों की उन्नति और विकास का उत्तरदायित्व राष्ट्रसंघ को सौंपा गया था। राष्ट्रसंघ ने कुछ उन्नत देशों को संघ के नाम पर इन क्षेत्रों का शासन चलाने के लिए समादेश शक्तियाँ प्रदान कीं। समादेश शक्ति प्राप्त राज्यों को इन क्षेत्रों के प्रशासन सम्बन्धी कार्यों की वार्षिक रिपोर्ट कौंसिल को भेजनी पड़ती थी। कौंसिल

इन रिपोर्टों की जाँच करता था और इस काम के लिए राष्ट्रसंघ में एक स्थायी मेंडेट आयोग (समादेश आयोग) की स्थापना की गई।

समादिष्ट क्षेत्रों को उनकी राजनीतिक, भौगोलिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित किया गया। 'अ' वर्ग के अन्तर्गत तुर्की साम्राज्य की वे जातियाँ सम्मिलित थीं, जिनके बारे में यह धारणा निश्चित की गई थी कि वे उन्नति की उस स्थिति तक पहुँच चुकी हैं, जिसमें अस्थायी तौर पर इनकी स्वतन्त्रता के अस्तित्व को माना जा सकता है। इस वर्ग के अन्तर्गत इराक (मेसोपोटामिया), फिलिस्तीन और ट्रान्सजोर्डन इंगलैण्ड को और सीरिया तथा लेबनान फ्रांस को मिले। 'ब' वर्ग के अन्तर्गत मध्य अफ्रीका में स्थित जर्मनी के भूतपूर्व प्रदेश थे। इसके लिए निश्चित सरकारी नियन्त्रण एवं निरीक्षण की आवश्यकता अनुभव की गई और इन क्षेत्रों को स्वायत्त शासन प्रदान करने की बात भविष्य के लिए टाल दी गई। 'ब' वर्ग के क्षेत्रों का इस ढँग से विभाजन किया गया कि कैमरून का 1/6 भाग, टोगोलैण्ड का 1/3 भाग और जर्मन पूर्वी अफ्रीका का अधिकांश भाग इंगलैण्ड को मिला। कैमरून का 5/6 भाग और टोगोलैण्ड का 2/3 भाग फ्रांस को मिला और जर्मन पूर्वी अफ्रीका का शेप भाग बेल्जियम को प्राप्त हुआ। 'स' वर्ग के अन्तर्गत दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका और प्रशान्त महासागर में स्थित द्वीप जिन पर पहले जर्मनी का अधिकार था, सम्मिलित थे। ये काफी पिछड़े हुए क्षेत्र थे। इस वर्ग के क्षेत्रों का विभाजन इस प्रकार किया गया—जर्मन दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका दक्षिण अफ्रीकन संघ को, जर्मन सेमोआ न्यूजीलैण्ड को, नारू द्वीप इंगलैण्ड को, विपवत् रेखा के दक्षिण में स्थित अन्य जर्मन द्वीप आस्ट्रेलिया को और विपवत् रेखा के उत्तर में स्थित जर्मन द्वीप जापान को दिये गये।

स्थायी समादेश आयोग कौंसिल को सूचित करता रहता था कि समादिष्ट क्षेत्रों का शासन प्रबन्ध वहाँ के निवासियों के कल्याण तथा उन्नति की दृष्टि से तथा राष्ट्रसंघ की धाराओं के अनुसार चलाया जा रहा है अथवा नहीं। दुर्भाग्यवश, आयोग को समादिष्ट क्षेत्रों की अपीलों को सुनने अथवा उन क्षेत्रों का निरीक्षण करने का अधिकार नहीं दिया गया था। फिर भी, यह पद्धति मूल्यवान सिद्ध हुई।

अल्पसंख्यकों की सुरक्षा—पेरिस शान्ति समझौतों के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा के लिए की गई सन्धियों के निरीक्षण का उत्तरदायित्व राष्टसंघ को सौंपा गया था। उपर्युक्त, सन्धियों में यह व्यवस्था की गई थी कि यदि कोई राज्य अल्पसंख्यकों के सम्बन्ध में स्वीकृत कर्त्तव्यों का उल्लंघन करता है तो कौंसिल का कोई भी सदस्य कौंसिल का ध्यान आकर्पित कर सकता था। अल्पसंख्यकों के सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ का उत्तरदायित्व बहुत भारी था; क्योंकि यह व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय नहीं थी और जिन देशों ने इस प्रकार की सन्धियों पर हस्ताक्षर नहीं किये थे, उन्हें अल्पसंख्यकों पर अत्याचार करने से रोकना सरल काम नहीं था। पोलैण्ड और रूमानिया ऐसे ही देश थे। पोलैण्ड ने तो स्पष्ट रूप से राष्ट्रसंघ के सुझावों को ठुकरा दिया। कालान्तर में जर्मनी ने भी यहूदियों पर अमानुपिक अत्याचार किये और संघ अल्पसंख्यकों की सुरक्षा करने में असफल रहा। वस्तुतः संघ को बहुत ही सतर्कता के साथ कदम उठाना पड़ता था। एक तरफ तो अल्पसंख्यकों की सुरक्षा और उन पर होने वाले अत्याचारों को रोकने की बात थी और दूसरी

तरफ बहुसंख्यकों के राष्ट्रीय स्वाभिमान को सन्तुष्ट बनाये रखने की बात थी। राष्ट्रसंघ की इस दोहरी नीति की कटु आलोचना की गई, क्योंकि इस प्रकार की नीति के अन्तर्गत किसी भी प्रकार की सख्त कार्यवाही के लिए कोई स्थान न था।

आर्थिक, सामाजिक और मानवीय कार्य—यद्यपि राष्ट्रसंघ मुख्यतः एक राजनीतिक संस्था थी; फिर भी इसने आर्थिक, सामाजिक और मानवीय क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण एवं प्रशंसनीय कार्य किया और इन क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीयतावाद को प्रोत्साहन दिया।

(1) आर्थिक सहयोग—आर्थिक क्षेत्र में इसने विश्व के सभी देशों को स्वस्थ आर्थिक नीतियाँ अपनाने के लिए प्रेरित किया, ताकि महायुद्ध से विध्वंसित संसार का पुनर्निर्माण किया जा सके। उसके प्रयासों के फलस्वरूप एक अन्तर्राष्ट्रीय सहायता संघ अस्तित्व में आया, जिसने संकटग्रस्त देशों को अनेक बार आर्थिक सहायता प्रदान की। आस्ट्रिया के नागरिकों को जीवित रखने के लिए मित्रराष्ट्रों ने 4 करोड़ पौण्ड की सहायता दी। परन्तु इसके बाद भी जब स्थिति में सुधार नहीं हो पाया तो राष्ट्रसंघ से अनुरोध किया गया। राष्ट्रसंघ ने बड़े पैमाने पर आस्ट्रिया को अन्तर्राष्ट्रीय ऋण दिलवाया और उसकी आर्थिक स्थिति की देखभाल के लिए एक वित्तीय आयुक्त भी नियुक्त किया। 1930-31 की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी के कारण जब आस्ट्रिया की आर्थिक स्थिति पुनः बिगड़ गई तो राष्ट्रसंघ ने आस्ट्रिया की पुनः मदद की। इसी प्रकार हंगरी की दयनीय आर्थिक स्थिति को सुधारने की दिशा में भी राष्ट्रसंघ ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इसके अलावा, राष्ट्रसंघ ने यूनान तथा बल्गेरिया की आर्थिक स्थिति सुधारने में भी समय-समय पर महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया।

(2) शरणार्थियों की समस्या—महायुद्ध के परिणामस्वरूप यूरोप में शरणार्थियों की समस्या ने गम्भीर रूप ले लिया था। शरणार्थियों को बसाने में राष्ट्रसंघ ने अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस काम के लिए राष्ट्रसंघ ने एक पृथक् आयोग स्थापित किया, जिसका अध्यक्ष डॉ. नानसेन को बनाया गया। यूनान के लगभग दस लाख शरणार्थियों को बसाने के लिए राष्ट्रसंघ ने 5 करोड़ डॉलर की सहायता दी और दूसरे देशों से भी सहायता दिलवाई। इसी प्रकार, बल्गेरिया को भी अपने शरणार्थियों को बसाने के लिए विदेशी ऋण तथा सहायता दिलवाई गई। केवल चार वर्षों में संघ के आयोग के तत्त्वावधान में दो लाख शरणार्थियों को बसाया गया। युद्धबन्दियों को वापस अपने देश भिजवाने के सम्बन्ध में भी संघ ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। डॉ. नानसेन के प्रयत्नों से लगभग 3 लाख युद्धबन्दियों को बन्धन-मुक्त करवाया गया और उनके दुःखों को दूर करने में सहायता दी गई। संघ के प्रयत्नों से 1922 के अन्त तक लगभग सभी युद्धबन्दियों को अपने घरों को भेज दिया गया।

(3) दासप्रथा और बेगार उन्मूलन—दासप्रथा और बेगारी के उन्मूलन के लिए भी राष्ट्रसंघ ने अथक् प्रयत्न किया। इन समस्याओं पर विचार करने के लिए 1924 ई. में एक विशेष समिति नियुक्त की गई, जिसकी रिपोर्ट पर 1926 में साधारण सभा ने 'दासता के दमन के अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय" को स्वीकार किया। संघ के सचिवालय ने इस विषय पर विभिन्न राज्यों द्वारा किये

गये कार्यों का वार्षिक प्रकाशन करवाकर अन्य देशों को प्रोत्साहित किया। लीबिया, इथोपिया, नेपाल, वर्मा आदि देशों में दासता को समाप्त करने के प्रश्न पर संघ ने बड़ी लगन से कार्य किया।

(4) नारी-कल्याण और बाल-कल्याण—नारी-कल्याण और बाल-कल्याण की दिशा में भी संघ ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उसने अपने सदस्य राष्ट्रों से अपील की कि वे अपने-अपने देशों में स्त्रियों और बच्चों के व्यापार को रोकने का प्रयास करें। 1921 ई. में संघ द्वारा नियुक्त परामर्शदात्री आयोग ने अनैतिक उद्देश्यों के लिए होने वाले स्त्रियों के व्यापार को रोकने के नियम बनाये। इसके अलावा अश्लील साहित्य के प्रकाशनों को रोकने और वेश्यावृत्ति का अन्त करने तथा अवैध बच्चों की समस्या को सुलझाने की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

(5) नशीले पदार्थों के व्यापार पर रोक—राष्ट्रसंघ ने अफीम और कोकीन जैसी मादक वस्तुओं के व्यापार को रोकने की तरफ भी विशेष ध्यान दिया। उसका उद्देश्य इन मादक पदार्थों पर नियन्त्रण करके उन्हें केवल औषधियों और वैज्ञानिक प्रयोगों की जरूरतों तक सीमित करना था। इस सम्बन्ध में अनेक नियम बनाये गये जो 'जेनेवा नियम' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

(6) स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्य—स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों की दिशा में 1923 में एक स्थायी स्वास्थ्य संगठन की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के द्वारा जन-स्वास्थ्य की सुरक्षा को विकसित करना था। संगठन का मुख्य कार्य संक्रामक रोगों की रोकथाम तथा निवारण के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित करना था। 1923 ई. में मलेरिया रोग का निराकरण करने के लिए एक मलेरिया आयोग स्थापित किया गया। इसी प्रकार; तपेदिक, कैंसर, आंतशोध, कुष्ठ आदि रोगों की रोकथाम के लिए भी कार्य किया गया। पूर्वी यूरोप में टाइफस बुखार की रोकथाम का प्रयास किया गया।

(7) बौद्धिक सहयोग—बौद्धिक सहयोग के क्षेत्र में राष्ट्रसंघ ने उल्लेखनीय कार्य किये। उसका मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिकों, साहित्यकारों, कलाकारों, लेखकों और शिक्षकों में पारस्परिक सहयोग को विकसित करना था। राष्ट्रसंघ मानव समाज को एकता के सूत्र में बाँधना चाहता था, ताकि सम्मिलित ज्ञान-शक्ति से मानव जीवन को सुखी एवं सम्पन्न बनाया जा सके और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा का भी विकास हो सके। इस दृष्टि से बौद्धिक सहयोग के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय समिति की स्थापना की गई। 1926 ई. में पेरिस में भी "बौद्धिक सहयोग संस्थान" की स्थापना की गई। इस संगठन ने अनेकों ढंग से साहित्य का प्रकाशन करवाया; सेमीनारों और वाद-विवाद का आयोजन किया और विश्व शान्ति की स्थापना तथा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के विकास में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी कार्य

राष्ट्रसंघ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखना था। परन्तु उसे इस काम में सफलता नहीं मिल सकी। जहाँ तक छोटे-छोटे राज्यों के झगड़ों का सम्बन्ध था, राष्ट्रसंघ कुछ सीमा तक सफल रहा। परन्तु जहाँ बड़े राष्ट्रों का सवाल आया, वहाँ राष्ट्रसंघ उनकी कार्यवाहियों को रोकने अथवा उन्हें नियन्त्रण करने में बुरी तरह से असफल रहा।

छोटे राज्यों के झगड़ों को निपटाने में भी संघ को जो सफलता प्राप्त हुई थी, उसका मुख्य कारण महाशक्तियों के आतंक का वह भय था, जो छोटे राज्यों में समाया हुआ था। इस प्रकार के विवादों में सर्वप्रथम अल्बानिया का सीमा-विवाद प्रस्तुत हुआ। 1921 ई. में अल्बानिया और यूगोस्लाविया के मध्य सीमा-विवाद को लेकर सशस्त्र संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। राष्ट्रसंघ ने दोनों देशों में समझौता करा दिया। इसी प्रकार, आलैण्ड द्वीप-समूह के स्वामित्व के प्रश्न पर फिनलैण्ड और स्वीडन में विवाद उठ खड़ा हुआ। राष्ट्रसंघ ने फिनलैण्ड के पक्ष में निर्णय देकर विवाद को समाप्त करवाया। 1921 ई. में ऊपरी साइलेशिया की सीमान्त रेखा को लेकर पोलैण्ड और जर्मनी में विवाद उत्पन्न हो गया। संघ की मध्यस्थता से इस विवाद का निपटारा किया गया। 1925 ई. में बल्गेरिया और यूनान में सीमान्त को लेकर झगड़ा हो गया। यूनानी सैनिक दस्ते तो बल्गेरिया के क्षेत्र में घुस भी गये। परन्तु राष्ट्रसंघ ने तत्काल कार्यवाही करके समस्या को सुलझाया। 1932 ई. में पेरू और कोलम्बिया सशस्त्र झड़प पर उतर आये। 1934 ई. में संघ के निरन्तर प्रयासों के बाद दोनों देशों में समझौता हो गया। 1926 ई. में मौसुल के समृद्ध तेल के क्षेत्र में स्वामित्व को लेकर इराक और तुर्की में झगड़ा उठ खड़ा हुआ। इस समय मेंडेट प्रथा के अन्तर्गत इराक पर इंगलैण्ड का संरक्षण था। अतः इंगलैण्ड ने राष्ट्रसंघ में इराक की तरफ से पैरवी की। राष्ट्रसंघ के सामने आने वाले विवादों में पहली बार एक महाशक्ति सामने आई थी। संघ ने जाँच-पड़ताल के बाद मौसुल का अधिकांश क्षेत्र इराक को दिलवाया। इसमें इंगलैण्ड सन्तुष्ट हो गया।

अब हम उन विवादों को लेते हैं, जिन्हें सुलझाने में राष्ट्रसंघ असफल रहा। उसकी असफलता का मुख्य कारण यह था कि इन विवादों में या तो किसी एक पक्ष को महाशक्ति का समर्थन प्राप्त था अथवा कोई न कोई महाशक्ति स्वयं ही दूसरा पक्ष थी। 1921 ई. में बिल्ना नगर को लेकर पोलैण्ड, और लिथुआनिया में झगड़ा हो गया। पोलैण्ड को फ्रांस का समर्थन प्राप्त था। राष्ट्रसंघ ने समस्या को सुलझाने का अथक् प्रयास किया परन्तु उसे सफलता न मिली, क्योंकि महाशक्तियाँ पोलैण्ड के पक्ष में थीं जबकि तथ्य उसके विरुद्ध थे। इसी प्रकार, कोर्फ्यूकाण्ड में भी राष्ट्रसंघ असफल रहा। हुआ यह कि यूनान की भूमि पर राष्ट्रसंघ द्वारा भेजे गये एक सीमान्त आयोग के इटालियन सदस्यों को कुछ उपद्रवी यूनानियों ने मार डाला। इटली के तानाशाह ने यूनान को क्षमा माँगने तथा हर्जाने की भारी धनराशि जमा कराने को कहा। यूनान ने इस मामले को संघ के सामने रखा तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का निर्णय मानने और न्यायालय के पास हर्जाने की धनराशि जमा कराने की बात की। इस पर इटली के जहाजी बेड़े ने यूनान के कोर्फ्यू-द्वीप पर अधिकार जमा लिया। संघ के सभी सुझावों को मुसोलिनी ने ठुकरा दिया। अन्त में, इंगलैण्ड और फ्रांस की मध्यस्थता से इटालियन सैनिकों ने कोर्फ्यू द्वीप खाली किया। इस घटना से संघ की निर्बलता का आभास हो गया।

सुदूरपूर्व की समस्याओं को सुलझाने में तो राष्ट्रसंघ पूर्ण रूप से असफल रहा। जापान ने सन्धि व्यवस्था का उल्लंघन करते हुए अचानक चीन के मंचूरिया क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया और समूचे मंचूरिया पर अधिकार करके उस क्षेत्र में "मंचूको" राज्य रूपी अपनी कठपुतली सरकार कायम कर दी। चीन ने जापानी आक्रमण के विरुद्ध राष्ट्रसंघ से अपील की। संघ ने काफी

विलम्ब के बाद घटनास्थल पर एक जाँच-आयोग भेजा। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में जापान को आक्रामक ठहराया और प्रस्ताव भी पास किये। परन्तु प्रस्तावों के माध्यम से संघ चीन को मंचूरिया वापिस नहीं दिलवा पाया। 1935 ई. में जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता को भी त्याग दिया। 1937 ई. में जापान ने चीन के अन्य क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर आक्रामक कार्यवाही प्रारम्भ कर दी। चीन ने पुनः राष्ट्रसंघ से अपील की। परन्तु राष्ट्रसंघ न तो चीन को उसकी भूमि ही दिलवा सका और न उसकी प्रादेशिक अखण्डता को कायम रख सका; न युद्ध बन्द करवा सका और न जापान को दण्डित कर सका। जापान की कार्यवाही ने राष्ट्रसंघ की निर्वलता को स्पष्ट कर दिया और इससे हिटलर और मुसोलिनी जैसे अधिनायकों को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला।

1928 ई. में दक्षिण अमेरिका के दो राज्यों—वोलीविया और पेरागुए में चाको प्रान्त को लेकर संघर्ष छिड़ गया और पेरागुए ने चाको प्रान्त का अधिकांश भाग अपने अधिकार में कर लिया। यह मामला राष्ट्रसंघ के सामने प्रस्तुत किया गया। पेरागुए ने संघ के किसी भी सुझाव को स्वीकार नहीं किया और अन्त में संघ की सदस्यता ही छोड़ दी। इससे भी संघ की निर्बलता स्पष्ट हो गई। इथोपिया (अबीसीनिया) में इटली की आक्रामक कार्यवाही को नियन्त्रित करने में राष्ट्रसंघ की असफलता ने राष्ट्रसंघ के खोखलेपन को और अधिक स्पष्ट कर दिया। जव इटली ने सम्पूर्ण इथोपिया को निगल लिया तो कुछ समय बाद राष्ट्रसंघ ने इथोलिया पर इटली के अधिकार को मान्यता भी दे दी। राष्ट्रसंघ के लिए इससे वढ़कर अनैतिक एवं अपमानजनक वात और क्या हो सकती थी ?

पेरिस शान्ति समझौतों की व्यवस्था को बनाये रखना—राष्ट्रसंघ का मुख्य उद्देश्य था। परन्तु हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी ने सन्धियों की धाराओं का अतिक्रमण कर खुले रूप में अपना शस्त्रीकरण प्रारम्भ कर दिया और संघ में इतनी शक्ति नहीं थी कि उसे रोक सके। जर्मनी ने आस्ट्रिया को हड़प लिया, राइनलैण्ड में किलेबन्दी कर ली और चेकोस्लोवाकिया का अंग भंग कर डाला, परन्तु राष्ट्रसंघ कुछ न कर सका। परिणामस्वरूप तानाशाहों का साहस वढ़ता गया और संसार का वातावरण तनावपूर्ण होता गया।

स्पेन के मामले में भी राष्ट्रसंघ को बुरी तरह से असफल होना पड़ा। जनरल फ्रांको के नेतृत्व में प्रतिक्रियावादी तत्त्वों ने स्पेन की उदारवादी गणतन्त्रीय सरकार के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह कर दिया, जिससे स्पेन में गृह-युद्ध शुरू हो गया। हिटलर और मुसोलिनी ने जनरल फ्रांको को खुले तौर पर सहायता दी। जव गणतन्त्रीय सरकार ने राष्ट्रसंघ से सहायता की माँग की तो संघ ने तटस्थता की नीति अपनाई। परिणामस्वरूप स्पेन की गणतन्त्रीय सरकार का पतन हो गया। संघ के प्रमुख सदस्य राज्यों ने फ्रांको की सरकार को मान्यता देकर राष्ट्रसंघ की घोर उपेक्षा की। अपने पतन के पूर्व राष्ट्रसंघ को एक और विफलता का मुँह देखना पड़ा। 1939 के अन्त में सोवियत रूस ने फिनलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। फिनलैण्ड ने राष्ट्रसंघ से सहायता की माँग की। राष्ट्रसंघ ने सोवियत रूस को संघ से निष्कासित तो कर दिया, परन्तु फिनलैण्ड को वचाने के लिए ठोस कार्यवाही न कर पाया और 1940 के शुरू में फिनलैण्ड पर रूस का अधिकार हो गया। उपर्युक्त घटनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रसंघ बड़ी शक्तियों की आक्रामक कार्यवाहियों को रोकने में सर्वथा असफल रहा और उसका अन्त हो गया।

राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण

(1) राष्ट्रसंघ की कमजोरियाँ—राष्ट्रसंघ पूर्ण रूप से असफल रहा। परन्तु क्या इसका पतन अवश्यम्भावी था ? क्या इस प्रकार की कोई अन्य संस्था दो महायुद्धों के मध्य विश्व शान्ति को बनाये रख सकती थी ? क्या कोई अन्य संस्था द्वितीय महायुद्ध को रोक सकती थी ? ये प्रश्न ऐसे हैं जिनका हम उचित उत्तर नहीं दे सकते। परन्तु इतना तो कहा जा सकता है कि राष्ट्रसंघ का ढाँचा अमेरिका और इंगलैण्ड के शान्तिवादियों की आशा के अनुकूल बन नहीं पाया था। इसमें कई प्रकार की कमजोरियाँ रह गईं जो संघ के पतन के लिए उत्तरदायी सिद्ध हुईं।

फ्रांस की हठधर्मी के कारण जर्मनी को राष्ट्रसंघ से पृथक् रखना, प्रथम दुर्भाग्य था। राष्ट्रसंघ शान्ति काल के प्रथम चरण में, विजेताओं और पराजितों के मध्य व्याप्त वैमनस्य और मतभेद को दूर करने में असफल ही नहीं रहा, अपितु और अधिक बढ़ाने में सहयोगी रहा। पराजित देश सोचने लगे थे कि राष्ट्रसंघ मित्र राष्ट्रों की संस्था है, पराजित राष्ट्रों की नहीं।

अमेरिका के द्वारा शान्ति सन्धियों की पुष्टि न करना दूसरा दुर्भाग्य था। क्योंकि इसके परिणामस्वरूप अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बन सका, क्योंकि राष्ट्रसंघ शान्ति सन्धियों का ही एक अंग था। साम्यवादी रूस को निमन्त्रित न करना राष्ट्रसंघ के लिए तीसरा दुर्भाग्य था। इस प्रकार, राष्ट्रसंघ ने अपना कार्य संसार की तीन प्रमुख शक्तियों के सहयोग के बिना आरम्भ किया। राष्ट्रसंघ में सम्मिलित अधिकांश राज्य छोटे-छोटे थे और उन्हें अपनी उन्नति तथा सुरक्षा के लिए राष्ट्रसंघ के सहयोग की आशा थी; न कि वे इस योग्य थे कि राष्ट्रसंघ की शक्ति और अधिकार में वृद्धि करने में योगदान दे सकें।

(2) संवैधानिक निर्बलता—राष्ट्रसंघ के संविधान में भी कई दोष थे, जिनके परिणामस्वरूप संघ का पतन हुआ। सबसे बड़ा दोष तो यह था कि संघ के पास अपने निर्णयों को लागू करवाने के लिए कोई अन्तर्राष्ट्रीय सेना नहीं थी। जिस समय संघ के प्रारूप को अन्तिम रूप दिया जा रहा था, तब फ्रांस आदि कुछ देशों ने इस बात पर जोर दिया था कि संघ को अपने निर्णयों को लागू करवाने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना रखने का अधिकार होना चाहिए। परन्तु उनके सुझाव को अस्वीकृत कर दिया गया था। इसके स्थान पर धारा 16 के अन्तर्गत कुछ अनुशास्तियों का उल्लेख किया गया जो दो प्रकार की थीं—(1) वित्त और वाणिज्य सम्बन्धी, और (2) सैनिक कार्यवाही सम्बन्धी। संघ के पास अपनी सेना तो थी नहीं। एक अड़ियल और आक्रामक राष्ट्र को सही रास्ते पर लाने के लिए संघ को अपने सदस्य राज्यों की सेना पर निर्भर करना पड़ता था। आर्थिक प्रतिबन्धों को लागू करने के लिए भी सेना की आवश्यकता थी और इस मामले में भी राष्ट्रसंघ को बड़ी शक्तियों पर निर्भर करना पड़ता था। क्या महान् शक्तियाँ राष्ट्रसंघ के लिए उसकी आवश्यकतानुसार सेना देने तथा अड़ियल राष्ट्र से युद्ध छेड़ने को सहमत हो सकती थीं ? निःसन्देह यदि ऐसा हुआ होता तो संसार को दूसरे महायुद्ध के विनाश से बचा लिया गया होता। परन्तु हुआ इसके ठीक प्रतिकूल। इससे एक बात स्पष्ट हो गई कि अच्छे विचार और पवित्र इच्छाएँ हमें अधिक दूर तक नहीं ले जा सकतीं और एक ऐसे संसार का जो कि युद्ध के भय से मुक्त हो, निर्माण नहीं किया जा सकता।

संविधान का दूसरा महत्त्वपूर्ण दोष यह था कि संघ के संविधान में कोई ऐसी प्रभावकारी धारा नहीं थी, जिसके द्वारा सदस्यों को अपने आप राष्ट्रसंघ की सिफारिशों को लागू करने के लिए वाध्य किया जा सके। सिर्फ एक धारा थी, जिसके अन्तर्गत सदस्य को संघ से पृथक् किया जा सकता था। परन्तु संघ राष्ट्रों का एक ऐसा संगठन था, जिसकी सदस्यता "ऐच्छिक" थी और कोई भी राष्ट्र अपनी इच्छानुसार सदस्यता को त्यागने में स्वतन्त्र था और एक वार सदस्यता छोड़ने के वाद उस देश को राष्ट्रसंघ के आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था। अतः सदस्य देशों को राष्ट्रसंघ की सदस्यता की विशेष चिन्ता न थी।

तीसरा महत्त्वपूर्ण दोष यह था कि किसी भी देश को आक्रामक अथवा अपराधी घोषित करने का निर्णय कौंसिल को सर्वसम्मति से लेना होता था। राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा के युग में सर्वसम्मत निर्णय पर पहुँचना दुष्कर काम था। राष्ट्रसंघ की कार्य-पद्धति भी काफी जटिल थी और किसी भी समस्या पर तुरन्त कार्यवाही करना सम्भव नहीं था। इससे आक्रामक देशों को अपने स्वार्थ सिद्ध करने के लिए पर्याप्त समय मिल जाता था। अन्तिम दोष यह था कि संघ के संविधान में सभी प्रकार के युद्धों का निषेध नहीं किया गया था। कोई भी देश रक्षात्मक युद्ध जारी रख सकता था। परन्तु यह तय करना कठिन काम था कि कौन रक्षात्मक युद्ध लड़ रहा है और कौन आक्रामक। इससे संघ की कायरता तथा आत्मविश्वास की कमी स्पष्ट झलकती है।

संघ के संविधान में तथा शान्ति सन्धियों में संशोधन करने की प्रक्रिया भी अत्यधिक जटिल थी। संविधान में इसके लिए सर्वसम्मत निर्णय पर जोर दिया गया। इतनी बड़ी संख्या वाले संघ में सर्वसम्मत निर्णय पर पहुँचना वहुत ही दुष्कर कार्य था।

(3) उत्तरदायित्व का अभाव—राष्ट्रसंघ के पतन का एक कारण उसके सदस्यों द्वारा अपने कर्त्तव्यों से विमुख होना था, अर्थात् अपने उत्तरदायित्व से मुँह मोड़ना था। यह देखा गया कि सदस्य राष्ट्रों ने अपने वचनों को पूरा करने का प्रयत्न नहीं किया। अपना उत्तरदायित्व नहीं निभाया। इतना ही नहीं, उन्होंने इस वात का भी प्रयत्न किया कि सही तथ्य संघ के सामने न लाये जा सकें ताकि उन्हें अपना उत्तरदायित्व निभाने के लिए आक्रामक राष्ट्रों के विरुद्ध अपनी सेनाएँ न भेजनी पड़े। जव आक्रामक देशों को विश्वास हो गया कि वड़ी शक्तियाँ संघ के आदेशों को लागू करवाने के लिए अपनी सेनाएँ भेजने की जोखिम लेने को तैयार नहीं हैं, तब ही वे छोटे-छोटे राष्ट्रों को हड़पने का साहस कर सके। जापान द्वारा मंचूरिया पर आक्रमण के समय इंगलैण्ड के प्रतिनिधि सर जान सीमन ने स्पष्ट कहा था कि, "मेरी नीति का उद्देश्य मेरे देश को संकट से दूर रखना है।" इसी प्रकार इथोपिया के मामले में उसने कहा था कि, "इथोपिया के लिए मैं एक भी ब्रिटिश जहाज को खोने का खतरा उठाना नहीं चाहूँगा।" 1934 ई. में आस्ट्रिया की भूमि पर आस्ट्रिया के राष्ट्रपति डाल्फस की हत्या कर दी गई। इस मामले को संघ के सामने रखना था। परन्तु मुसोलिनी द्वारा इस शर्त पर कि यदि यह मामला संघ के सामने उपस्थित नहीं किया गया तो मैं आस्ट्रिया को वचाने का प्रयत्न करूँगा, आश्वासन देने पर मामला दबा दिया गया। इंगलैण्ड ने वर्साय सन्धि का उल्लंघन करते हुए जर्मनी के साथ नौ-सन्धि की। इसी प्रकार फ्रांस ने इंगलैण्ड को सूचित किये बिना इटली के साथ पृथक् समझौता कर लिया। राइनलैण्ड का पुनः शस्त्रीकरण किया गया, आस्ट्रिया को हड़प लिया गया, जर्मनी में यहूदियों का कत्लेआम

किया गया, स्पेनिश गणतन्त्र का गला घोंट दिया गया, चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग कर दिया गया, परन्तु राष्ट्रसंघ कुछ भी न कर सका। क्योंकि कोई भी सदस्य इन घटनाओं के सम्बन्ध में संघ के प्रस्तावों को लागू करवाने को उत्सुक नहीं था। जब तक बड़े राष्ट्रों को प्रत्यक्ष संकट का सामना नहीं करना पड़ा, तब तक उन्होंने आक्रामक देशों के विरुद्ध किसी प्रकार की कार्यवाही करना ठीक नहीं समझा, चाहे राष्ट्रसंघ का पतन ही क्यों न हो जाये। शूमा ने लिखा है कि, "संघ की सफलता के लिए यह आवश्यक था कि सदस्य राज्यों में इसके सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा, बुद्धिमत्ता और साहस होता, किन्तु उनमें इसका सर्वथा अभाव था।"

(4) असमानता—राष्ट्रसंघ के प्रति सामान्य जनता का और छोटे राज्यों का रुख उत्साहजनक नहीं था। संघ के सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि थे न कि जनता के। अतः संघ का सदस्य राष्ट्रों की जनता के साथ किसी प्रकार का कोई सम्पर्क नहीं था। इसके अतिरिक्त संघ के सभी सदस्यों की संघ में न तो समान स्थिति ही थी और न समानाधिकार ही प्राप्त थे। सच पूछा जाय तो संघ बड़ी शक्तियों का राजनीतिक अखाड़ा था। कौंसिल जो कि संघ की प्रमुख शक्तिशाली अंग थी, में महान् शक्तियों को स्थायी स्थान प्राप्त थे, जबकि संघ के शेष सदस्यों को केवल 9 स्थान प्रदान किये गये थे। अतः यह स्वाभाविक ही था कि इन छोटे राज्यों के मन में बड़े राज्यों के प्रति वैमनस्य बढ़े।

(5) वर्साय सन्धि की उत्पत्ति—वर्साय की सन्धि में राष्ट्रसंघ का जन्म हुआ और यही बात संघ के लिए अभिशाप बन गई। समझौतों के द्वारा राष्ट्रसंघ को कई कार्य सौंपे गये थे, जिनमें एक काम था शान्ति व्यवस्था द्वारा स्थापित यथास्थिति को बनाये रखना। शान्ति समझौतों ने पराजित राष्ट्रों के गौरव को समाप्त कर दिया था, उनकी सैनिक शक्ति को पंगु बना दिया था और उनकी आर्थिक स्थिति को दयनीय बना दिया था। अतः उन्हें शान्ति सन्धियों तथा इन पर आधारित और इनके कर्त्तव्यों को निभाने वाली संस्था-राष्ट्रसंघ से घृणा थी। नार्मन वेण्टविच के शब्दों में, "राष्ट्रसंघ एक कुख्यात माता की कुख्यात पुत्री थी।" अतः राष्ट्रसंघ पराजित देशों का विश्वास अर्जित करने में असफल रहा।

(6) अधिनायकवाद का उदय—राष्ट्रपति विल्सन और उसके सहयोगियों का विश्वास था कि राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य सामूहिक रूप से विश्व शान्ति, स्वतन्त्रता और लोकतांत्रिक व्यवस्था के विकास के लिए प्रयत्नशील रहेंगे। परन्तु यूरोप में इसके विपरीत अधिनायकवादी सरकारों का उदय हुआ। इटली, जर्मनी, स्पेन और पुर्तगाल आदि देशों में अधिनायकवाद के उदय ने राष्ट्रसंघ की प्रगति में भारी रुकावटें पैदा कर दीं। अधिनायकवादी सरकारें हर सम्भव उपाय से तथा हर कीमत पर अपने स्वार्थों की पूर्ति चाहती थी। उनकी नीतियों ने संघ को पंगु बना दिया।

(7) संतुष्टिकरण की नीति—अधिनायकवाद के उदय तक रूस का साम्यवाद पश्चिम के पूँजीवादी राष्ट्रों के लिए सिर-दर्द बन चुका था। अधिनायकों ने अवसर का लाभ उठाया, अपने आप को साम्यवाद विरोधी घोषित कर दिया और अपनी आक्रामक कार्यवाहियों तथा साम्राज्यवादी लिप्सा पर साम्यवाद-विरोधी चादर डाल दी। पश्चिमी देशों ने उनका स्वागत किया। उनके प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाई। उनके छोटे-मोटे आक्रामक कार्यों की उपेक्षा की और उनकी धमकियों

को भी सहन किया। क्योंकि वे चाहते थे कि साम्यवाद और अधिनायवाद एक-दूसरे से टकराकर चकनाचूर हो जायँ, ताकि इसके बाद वे दोनों को सरलता के साथ कुचल सकें। परन्तु हुआ इसके विपरीत। शक्तिसम्पन्न होते ही तानाशाहों ने अपना असली रूप भी प्रकट कर दिया और अन्त में द्वितीय महायुद्ध का सूत्रपात हुआ। यदि कोर्फ्यू काण्ड के समय मुसोलिनी को, मंचूरियन संकट के समय जापान को और राईनलैण्ड में सेना भेजने पर हिटलर को नियन्त्रित कर दिया जाता तो अधिनायकों का हौंसला कभी नहीं बढ़ पाता।

राष्ट्रसंघ का मूल्यांकन

गेथोर्न हार्डी ने लिखा है, "राष्ट्रसंघ शान्ति सम्मेलन का एक महान् रचनात्मक कार्य था। इसकी आत्मा पूर्णतः अन्तर्राष्ट्रीय थी, और उन सदस्यों के हाथों में जो निस्वार्थ भाव से इसका उपयोग करने का संकल्प करते, यह शान्ति का एक शानदार उपकरण बन सकती थी।" यद्यपि राष्ट्रसंघ को राजनैतिक क्षेत्र में सफलता नहीं मिल सकी; फिर भी, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि राष्ट्रसंघ ने अपने आपको एक महत्त्वपूर्ण संस्था प्रमाणित कर दिखाया। आर्थिक, सामाजिक और मानवीय क्षेत्रों में संघ को आशातीत सफलता मिली और संघ के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप विश्व में अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना को अभूतपूर्व बल भी मिला। यही कारण है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद अधिकांश राष्ट्रों ने राष्ट्रसंघ से मिलती-जुलती एक दूसरी संस्था—"संयुक्त राष्ट्र संघ" की स्थापना की। इस सम्बन्ध में वाल्टर महोदय ने लिखा है कि "संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों, सिद्धान्तों, संस्थाओं और अंगों पर, इसकी प्रत्येक बात पर राष्ट्रसंघ की स्पष्ट छाप है। दरअसल 18 अप्रैल, 1946 को राष्ट्रसंघ की अन्त्येष्टि नहीं हुई थी बल्कि उसका पुनर्जन्म हुआ था।" लैंगसम के शब्दों में, "राष्ट्रसंघ की सबसे बड़ी देन अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के विचार को उन्नत करना था।" वस्तुतः राष्ट्रसंघ ने विश्व इतिहास में पहली बार दुनिया के राजनीतिज्ञों को एक ऐसा प्लेटफार्म प्रदान किया, जिसके माध्यम से वे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर अपने विचार एवं सुझाव अभिव्यक्त कर सकते थे और जिसके माध्यम से एक-दूसरे के बौद्धिक ज्ञान का लाभ भी उठा सकते थे। यही तो अन्तर्राष्ट्रीयतावाद है। परन्तु राष्ट्रीय स्वार्थों ने जान-बूझ कर अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के इस प्रयोग को सफल नहीं होने दिया।

प्रश्न

1. राष्ट्र संघ का जन्म कैसे हुआ ? इसके मुख्य उद्देश्यों की व्याख्या कीजिये।
2. राष्ट्र संघ के प्रमुख अंगों का वर्णन कीजिये।
3. राष्ट्र संघ के कार्यों का परीक्षण कीजिये तथा इसकी असफलता के कारण बतलाइये।
4. राष्ट्र संघ की उपलब्धियों का वर्णन कीजिये।

अध्याय-21

संयुक्त राष्ट्रसंघ (UNO)

सन् 1938 तक राष्ट्रसंघ की निर्वलता प्रकट हो चुकी थी। 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ हो गया। द्वितीय विश्व युद्ध के भीषण विध्वंशकारी ताण्डव ने विचारशील राजनीतिज्ञों को मानव जाति की रक्षा के लिए शान्ति को सुरक्षित बनाये रखने वाले एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण की आवश्यकता अनुभव करायी। अतः युद्धकाल में ही कुछ राजनीतिज्ञों ने यह अनुभव किया कि शान्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग विश्व के लिए अनिवार्य है। पश्चिमी यूरोप एवं अमेरिका इसके लिए राष्ट्रसंघ से भिन्न संगठन बनाना चाहते थे। इसके कई कारण थे। प्रथम कारण तो यह था कि अमेरिका की सीनेट ने राष्ट्रसंघ की योजना को ही अस्वीकृत कर दिया था, अतः ऐसी संस्था को अमेरिका द्वारा अब स्वीकृत करना सम्भव नहीं था। दूसरा कारण यह था कि राष्ट्रसंघ की परिषद् ने 1939 में रूस को संघ से निष्कासित कर दिया था। रूस के लिए ऐसी संस्था में सम्मिलित होना सम्भव नहीं था जिसने उसको सदस्यता से ही पृथक् कर दिया हो। तीसरा कारण राष्ट्रसंघ के साथ लगी हुई बदनामी और उसके संविधान की कुछ मौलिक त्रुटियाँ थीं। अतः इसका निराकरण राष्ट्रसंघ से भिन्न एक नई और अधिक शक्तिशाली संस्था से ही सम्भव था। इसलिये नये विश्व संगठन के लिए प्रयत्न आरम्भ हुए।

प्रारम्भिक प्रयत्न—युद्धकाल में धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध लड़ने वाले राष्ट्रों ने सहयोग से काम लिया। मित्र राष्ट्रों का यही सहयोग आगे चलकर संयुक्त राष्ट्रसंघ के रूप में प्रतिफलित हुआ था। किन्तु यह सब एकाएक नहीं हुआ था, अपितु इसकी एक लम्बी कहानी है। इस कहानी का सूत्रपात 7 फरवरी, 1941 से होता है। अमेरिका के तात्कालिक राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने, युद्ध के उपरान्त नये विश्व की रचना के सम्बन्ध में बताया था कि हम जिस नये संसार की स्थापना के लिये लड़ रहे हैं, उस संसार की आधारशिला 'चार स्वतन्त्रताएँ' होंगी—(1) भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, (2) धर्म एवं उपासना की स्वतन्त्रता, (3) आर्थिक अभाव और निर्धनता से स्वतन्त्रता, और (4) भय से समझौता। इसके बाद 14 अगस्त, 1941 को इंगलैण्ड के प्रधानमंत्री चर्चिल और अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट अटलाण्टिक सागर में 'प्रिंस ऑफ वेल्स' नामक जहाज पर मिले और उन्होंने एक घोषणा पर हस्ताक्षर किये जिसे 'अटलाण्टिक चार्टर' कहा जाता है। इस घोषणा-पत्र द्वारा यह आशा व्यक्त की गई थी कि युद्ध के उपरान्त ऐसी शान्ति स्थापित हो सकेगी जब विश्व के समस्त

राष्ट्र अपनी-अपनी सीमाओं में सुरक्षित रह सकें और सदैव के लिए शक्ति-प्रयोग के अमानुषिक साधन समाप्त किये जा सकें। यह घोषणा-पत्र शान्ति स्थापना तथा प्रभावशाली विश्व संगठन का अस्तित्व कायम करने की दिशा में एक सफल प्रयत्न माना गया है।

इस दिशा में अगला प्रयत्न सम्मिलित राष्ट्रों की घोषणा थी। 1 जनवरी, 1942 को वाशिंगटन में 26 मित्र राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने इस घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किये थे। इसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व-विजय की माँग की गई ताकि मानव अधिकारों एवं न्याय को सुरक्षित रखा जा सके। 1 दिसम्बर, 1943 को तेहरान सम्मेलन में तीन प्रधान राजनीतिज्ञों—रूजवेल्ट, चर्चिल और स्टालिन ने पुनः यह घोषित किया कि हमें विश्वास है कि हमारा समझौता विश्व में चिर-शान्ति स्थापित करने में सफल होगा। इसे 'तेहरान घोषणा' कहते हैं। अक्टूबर, 1943 में रूस, इंगलैण्ड और अमेरिका के विदेश मन्त्रियों का एक सम्मेलन मास्को में हुआ। इसमें युद्ध समाप्ति की शर्तों की घोषणा की गई और साथ ही साथ एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था स्थापित करने के सम्बन्ध में भी विचार किया गया। उपर्युक्त पृष्ठभूमि के आधार पर यह निश्चित-सा था कि विश्व युद्ध की ज्वाला शान्त होने के पश्चात् पुनः एक संगठन स्थापित होगा और वह राष्ट्रसंघ की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली, प्रभावशाली और सफल होगा। अब इसके लिए प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट प्रयत्न प्रारम्भ हुए।

निर्माण का इतिहास—उपर्युक्त सभी प्रयत्न संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के आरम्भिक प्रयत्न मात्र थे। किन्तु अभी तक किसी ठोस योजना पर विचार नहीं किया गया था। अब परिस्थितियाँ बदल चुकी थीं। धुरी राष्ट्रों की पराजय नजदीक थी। इटली और जर्मनी घुटने टेक चुके थे और जापान भी शिथिल पड़ गया था। अतः विश्व संगठन के निर्माण की दिशा में ठोस कदम उठाना सम्भव हो गया। प्रथम प्रयत्न सितम्बर, 1944 में हुआ। वाशिंगटन के निकट डम्बर्टन ओक्स में रूस, अमेरिका, इंगलैण्ड और चीन राज्यों के प्रतिनिधि एकत्र हुये। सभी प्रतिनिधि विश्व संगठन के निर्माण के लिए अपनी-अपनी योजनाएँ लेकर आये। इन योजनाओं पर काफी विचार-विमर्श हुआ और 7 अक्टूबर, 1944 को सम्मेलन में स्वीकृत विश्व संगठन की रूपरेखा प्रकाशित की गई। इस पर समाचार-पत्रों में काफी टीका-टिप्पणी की गई। 2 अप्रैल, 1945 को सेन फ्रांसिस्को में एक विशद् सम्मेलन आमन्त्रित करने का निर्णय भी लिया गया।

25 अप्रैल से 26 जून, 1945 तक सेन फ्रांसिस्को (अमेरिका) में यह सम्मेलन हुआ, जिसमें 51 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसमें वे सभी राष्ट्र सम्मिलित थे जिन्होंने धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध घोषित किया था अथवा 1 जनवरी, 1942 की घोषणा पर हस्ताक्षर किये थे। इस सम्मेलन में 'संयुक्त राष्ट्र संविधान' (Charter) तथा 'अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अधिनियम' तैयार किया गया। 26 जनवरी को सर्वसम्मति से संयुक्त राष्ट्रसंघ संविधान स्वीकृत किया गया और समस्त प्रतिनिधियों ने इस पर हस्ताक्षर किये। 24 अक्टूबर, 1945 से यह संविधान लागू हुआ। उसी समय से 24 अक्टूबर 'संयुक्त राष्ट्र दिवस' के रूप में मनाया जाता है। 10 जनवरी, 1946 को संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा की प्रथम बैठक लन्दन के प्रसिद्ध वेस्ट मिनिस्टर हॉल में हुई। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने अस्तित्व को प्राप्त हुआ। आज संयुक्त राष्ट्रसंघ विश्व की कुल आबादी के 90 प्रतिशत से अधिक भाग का प्रतिनिधित्व कर रहा है।

उद्देश्य और सिद्धान्त—संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञा-पत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। इसमें 10,000 शब्द, 111 धाराएँ और 19 अध्याय हैं। इसके आरम्भ में ही इसके उद्देश्यों का वर्णन है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र में कहा गया है कि युद्ध के भय को सदा के लिए समाप्त करने, मानव के मौलिक अधिकार, प्रतिष्ठा, योग्यता, स्त्री व पुरुष तथा छोटे-बड़े समस्त राष्ट्रों के समानाधिकार की रक्षा करने, न्याय की स्थापना करने एवं सामाजिक उन्नति और जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई। घोषणा-पत्र में संयुक्त राष्ट्रसंघ के निम्नलिखित उद्देश्य बताये गये हैं—

(1) मानव जाति की भावी सन्ततियों को युद्ध की विभीषिका से मुक्ति प्रदान करना, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखना और इसके लिए शान्ति को संकट में डालने वाले सभी कार्यों के विरोध के लिए सामूहिक उपायों को ग्रहण करना तथा शान्ति को भंग करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के आधार पर शान्तिपूर्ण उपायों से हल करना।

(2) विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के बीच परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को बढ़ाना, इसका आधार सभी लोगों को समानाधिकार और आत्म-निर्णय का अधिकार होना चाहिये।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक या मानवतावादी समस्याओं को हल करने में सभी देशों का सहयोग प्राप्त करना।

(4) मानव के मूल अधिकारों के प्रति सम्मान में वृद्धि करना तथा जाति, लिंग, भाषा या धर्म का भेदभाव किये बिना सभी को मौलिक स्वतन्त्रताएँ प्राप्त कराना।

(5) संयुक्त राष्ट्रसंघ को ऐसा केन्द्र बनाना जो इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न राष्ट्रों द्वारा किये जाने वाले कार्यों में साम्य स्थापित कर सके।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों को संक्षेप में चार शब्दों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है—(1) सुरक्षा (2) न्याय (3) कल्याण तथा (4) मानव अधिकार। किन्तु इसके साथ ही यह भी स्वीकार किया गया है कि जब तक कोई सदस्य-राष्ट्र चार्टर के अन्तर्गत आचरण करता है, उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया जायेगा।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यह आवश्यक था कि इसके लिए कुछ सिद्धान्तों को अपनाया जाय। इसलिए निम्नलिखित कुछ सिद्धान्त स्पष्ट रूप से चार्टर की दूसरी धारा में दिये गये हैं—

(1) सदस्य राष्ट्रों की सार्वभौमिकता और समानता अक्षुण्ण है। उदाहरणार्थ, इसमें रूस और अमेरिका जैसे बड़े राज्यों का तथा घाना जैसे हाल ही में स्वतन्त्र हुए राज्यों का दर्जा समान माना जाता है, उन्हें बराबर संख्या में प्रतिनिधि भेजने, इसकी सभी कार्यवाहियों में भाग लेने और वोट देने का अधिकार समान है।

(2) सदस्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुसार उन पर लागू होने वाले सभी दायित्वों का पालन पूरी ईमानदारी से करेगा।

(3) सदस्य राष्ट्र आपसी विवादों को शान्तिपूर्ण ढँग से निपटाने के लिए वचनबद्ध हैं।

(4) सदस्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों के प्रतिकूल कोई कार्य नहीं करेंगे। वे एक-दूसरे के विरुद्ध न युद्ध करेंगे और न युद्ध की धमकी देंगे।

(5) कोई भी सदस्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के प्रतिकूल कार्य करने वाले राष्ट्र की सहायता नहीं करेंगे और संघ की कार्यवाही में प्रत्येक प्रकार से सहयोग देंगे।

(6) शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ ऐसी व्यवस्था करेगा कि जो देश सदस्य नहीं है वे भी चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करें।

(7) शान्ति की रक्षा के लिए जब तक आवश्यकता नहीं, संयुक्त राष्ट्रसंघ किसी भी देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

उपर्युक्त सिद्धान्त आदर्श के रूप में बहुत ही उपयुक्त हैं, किन्तु व्यवहार में बड़ी कठिनाई उपस्थित करते हैं। उदाहरण के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ दक्षिणी अफ्रीका की रंगभेद-नीति का विरोधी है, किन्तु दक्षिणी अफ्रीका गैर-श्वेत लोगों पर अमानवीय अत्याचार कर रहा है और जब इस मामले को संघ में ले जाया गया तो उसने इसे अपना आन्तरिक मामला बताया। इसी प्रकार यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर ऐसे विषयों में हस्तक्षेप का अधिकार देता है जो विश्व शान्ति के लिए घातक हों या शान्ति भंग होने की सम्भावना हो। किन्तु यह कठिन प्रतीत होता है क्योंकि सम्बन्धित राष्ट्र की स्वीकृति के बिना ऐसा कोई प्रयत्न सफल नहीं हो सका है। इस प्रकार उपर्युक्त सिद्धान्त आदर्श रूप में होते हुए भी कार्यरूप में पूर्ण सफल व प्रभावशाली नहीं हो पा रहे हैं।

सदस्यता—संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र इसके आरम्भिक सदस्य थे। नये सदस्य के लिए सर्वप्रथम प्रस्ताव सुरक्षा परिषद् में किया जाता है। सुरक्षा परिषद् के पाँच स्थायी सदस्यों सहित बहुमत से सदस्य बनाने की सिफारिश महासभा को की जाती है। जब महासभा अपने दो तिहाई बहुमत से सुरक्षा परिषद् की सिफारिश स्वीकार कर लेती है तब कोई राष्ट्र सदस्य बन जाता है। सदस्य बनने के लिए किसी राष्ट्र का शान्तिप्रिय होना, चार्टर में उल्लिखित उद्देश्यों और सिद्धान्तों को स्वीकार करना तथा उन्हें पूरा करने के लिए समर्थ होना आवश्यक है। सुरक्षा परिषद् के पाँच स्थायी सदस्यों में से कोई भी नये सदस्य को अपने वीटो (निषेधाधिकार) से संघ में प्रविष्ट होने से रोक सकता है। इसके सभी सदस्यों के अधिकार समान समझे जाते हैं और उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे चार्टर के अनुसार अपने दायित्वों और कर्त्तव्यों का पालन पूरी ईमानदारी से करेंगे। यद्यपि इसका सदस्य न बनने वाले राष्ट्रों पर चार्टर के दायित्व लागू नहीं होते, फिर भी यदि वे शान्ति भंग करते हैं तो संयुक्त राष्ट्रसंघ उनके विरुद्ध भी कार्यवाही कर सकता है। गैर-सदस्यों को भी अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवाद सुरक्षा परिषद् के सामने ले जाने का अधिकार होता है।

विविध बातें—संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रधान कार्यालय न्यूयार्क में है जो 1952 में बनकर पूरा हुआ था। अक्टूबर, सन् 1952 में वहाँ सर्वप्रथम महासभा की बैठक हुई थी। इस भवन में 29 मंजिलें हैं और लगभग 3,500 अधिकारी इसमें कार्य करते हैं। इस कार्यालय के बनने के पूर्व इसका अस्थायी कार्यालय लाग द्वीप के लेक सक्सेस में था। अँग्रेजी, फ्रेंच, चीनी, रूसी, तथा

स्पेनिश भाषाएँ संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्वीकृत भाषाएँ हैं। किन्तु अधिकांश कार्य अँग्रेजी तथा फ्रेंच भाषा में ही होता है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का आय-व्यय लगभग 5 करोड़ डॉलर प्रतिवर्ष माना जाता है। प्रतिवर्ष इसमें वृद्धि की सम्भावना रहती है। यह राशि सदस्य राज्यों द्वारा दिये जाने वाले अंशदानों से पूरी की जाती है। इन अंशदानों का अनुमानित अनुपात इस प्रकार है—

संयुक्त राज्य अमेरिका	36.90%
इंगलैण्ड	10.59%
सोवियत रूस	9.58%
राष्ट्रीय चीन व फ्रांस	5.75% (प्रत्येक)
भारत	3.53%
कनाडा	3.35%

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अंग—संयुक्त राष्ट्रसंघ में मुख्य रूप से छः अंग संगठित किये गये हैं जो क्रमशः (1) महासभा (2) सुरक्षा परिषद् (3) आर्थिक व सामाजिक परिषद् (4) संरक्षण परिषद् (5) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और (6) सचिवालय हैं। प्रत्येक अंग का संगठन, अधिकार क्षेत्र तथा कार्यों आदि का विस्तार से अध्ययन करना अनिवार्य है।

(1) महासभा (General Assembly)—संयुक्त राष्ट्रसंघ की सबसे अधिक प्रतिनिधित्वपूर्ण और केन्द्रीय संस्था महासभा है। इसे साधारण सभा भी कहते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य-राष्ट्र इस सभा के सदस्य होते हैं। साधारण सभा के सदस्यों में समानता का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। अतः प्रत्येक सदस्य-राज्य को 5 प्रतिनिधि तथा 5 वैकल्पिक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। किन्तु एक राष्ट्र को एक ही मत देने का अधिकार है। इसका अधिवेशन वर्ष में एक बार सितम्बर महीने के तीसरे वृहस्पतिवार से प्रारम्भ होता है। किन्तु आवश्यकता पड़ने पर इसका विशेष अधिवेशन महामन्त्री, सुरक्षा परिषद् की अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों के बहुमत की प्रार्थना पर बुला सकता है। विशेष अधिवेशन 15 दिन की पूर्व सूचना देकर आमन्त्रित किया जाता है। महासभा अपने अधिवेशन के आरम्भ में ही एक अध्यक्ष एवं सात उपाध्यक्ष निर्वाचित करती है। जो अधिवेशन की समाप्ति तक रहते हैं। इस अधिवेशन में कोई सदस्य राष्ट्र चार्टर की सीमाओं के अन्तर्गत किसी विषय को विचारार्थ प्रस्तुत कर सकता है, किन्तु वह निजी अथवा आंतरिक विषयों से सम्बन्धित नहीं होना चाहिये।

(क) शक्तियाँ एवं कार्य—संयुक्त राष्ट्रसंघ के संविधान की धारा 10 से 17 तक, महासभा के कार्यों का विवरण है। तदनुसार महासभा अपने अधिवेशनों में किसी भी ऐसे विषय पर विचारविमर्श कर सकती है जो इसके क्षेत्र में आता है और उन प्रश्नों को आवश्यकतानुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों के पास अथवा सुरक्षा परिषद् या दोनों के समक्ष भी उपस्थित कर सकती है। विश्व शान्ति और सुरक्षा की स्थापना से सम्बन्धित प्रश्न पर विचार करने के लिए यह सभा पूर्ण रूप अधिकारिणी है। ऐसा प्रश्न सदस्य-राष्ट्र की ओर से, सुरक्षा परिषद् द्वारा अथवा गैर-सदस्य-राष्ट्र द्वारा भी प्रस्तुत किया जा सकता है। यद्यपि यह सभा विश्व की सार्वभौम संविधान

सभा नहीं है, किन्तु फिर भी इसके द्वारा विचार किया हुआ विषय विश्व के जनमत को नैतिक रूप से प्रभावित करने के लिए पर्याप्त है। यही महासभा, स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए, यदि विश्व शान्ति को खतरा उत्पन्न होने की सम्भावना हो तो सुरक्षा परिषद् का ध्यान भी आकर्षित कर सकती है और अन्य वैधानिक साधनों द्वारा पुनः सन्तुलन के लिए प्रयत्न कर सकती है। धारा 13 के अनुसार महासभा को निम्नलिखित विशेष कार्य करने को कहा गया है—

(1) शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के सिद्धान्तों पर विचार करना तथा अपने सुझाव देना।

(2) निःशस्त्रीकरण तथा इससे सम्बन्धित समस्याओं पर शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से विचार करना।

(3) विश्व के राजनैतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देना।

(4) विश्व के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा सम्बन्धी तथा स्वास्थ्य के क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि करना।

(5) समस्त मानव मात्र के लिए जाति, लिंग, भाषा या धर्म का भेद न मानते हुए मानव अधिकार और मौलिक स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति में सहायता करना।

(6) संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत सम्पूर्ण विभागों एवं संस्थाओं द्वारा वर्ष भर में किये हुए कार्यों का विवरण एवं प्रतिवेदन प्राप्त करना और उस पर विचार करना।

(7) संयुक्त राष्ट्रसंघ का वार्षिक आय-व्यय विवरण (बजट) पर विचार करना एवं स्वीकृति देना तथा सहायक संस्थाओं की आर्थिक स्थिति पर विचार करना।

(8) निर्वाचन सम्बन्धी कार्य करना। इस कार्य के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों का निर्वाचन करना, सुरक्षा परिषद् के अस्थाई सदस्यों को निर्वाचित करना, संरक्षण परिषद् के कुछ सदस्य तथा आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् का निर्वाचन करना आदि मुख्य निर्वाचन कार्य हैं।

(9) महासभा ही, सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महामन्त्री की नियुक्ति करती है तथा सचिवालय के सदस्यों की नियुक्ति के नियम बनाती है और संघ के किसी ऐसे सदस्य को जो चार्टर में प्रतिपादित सिद्धान्तों का उल्लंघन करता हो, निष्कासित कर सकती है।

(10) संयुक्त राष्ट्रसंघ में नये सदस्यों को प्रवेश देना।

(11) आवश्यकतानुसार नई संस्थाओं को स्थापित करना।

(ख) **मतदान पद्धति**—संयुक्त राष्ट्रसंघ की इस महासभा में साधारणतया महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर, उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से निर्णय किए जाते हैं। प्रत्येक राष्ट्र को केवल एक ही मत देने का अधिकार स्वीकार किया गया है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रश्नों को महत्त्वपूर्ण माना गया है—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था सम्बन्धी सिफारिश।

(2) सुरक्षा परिषद् के अस्थायी सदस्यों का चुनाव।

(3) आर्थिक व सामाजिक परिषद् के सदस्यों का चुनाव।

(4) संरक्षण परिषद् के कुछ सदस्यों का चुनाव।

(5) नये राष्ट्रों को सदस्यता के लिए स्वीकार करना।

(6) सदस्यता के अधिकारों और विशेष सुविधाओं को निलम्बित करना। इस प्रकार महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को छोड़कर अन्य सभी विषयों पर उपस्थित सदस्यों में मतदान करने वालों के साधारण बहुमत द्वारा निर्णय किये जाते हैं। वह सदस्य-राष्ट्र जो अपना वार्षिक शुल्क संगठन में नहीं दे पाता, मताधिकार से वंचित रहता है।

(ग) कार्य पद्धति—संयुक्त राष्ट्रसंघ की यह महासभा अपना अधिकांश कार्य समितियों द्वारा सम्पादित करती है। ये समितियाँ मुख्य रूप में चार प्रकार की हैं—(1) प्रमुख समितियाँ, (2) प्रक्रिया समितियाँ, (3) स्थायी समितियाँ, और (4) तदर्थ समितियाँ। प्रमुख समितियों की कुल संख्या छः है। प्रथम समिति का मुख्य कार्य राजनैतिक एवं सुरक्षा के क्षेत्र से सम्बन्धित है जिसमें शस्त्र-नियन्त्रण भी सम्मिलित है। दूसरी समिति—आर्थिक एवं वित्त-सम्बन्धी विषय। तीसरी समिति—सामाजिक, मानवीय तथा सांस्कृतिक विषय। चौथी समिति—संरक्षण तथा गैर-स्वतन्त्र क्षेत्रीय विषय। पाँचवीं समिति—प्रशासनीय एवं आय-व्यय वितरण सम्बन्धी विषय तथा छठी समिति—विधि से सम्बन्धित विषय। ये समितियाँ कार्यसूची में आये प्रश्नों पर विचार करती हैं और अपनी सिफारिशें सभा के पास भेजती हैं जो प्रमुख सभा के अधिवेशन में प्रस्तुत की जाती हैं। प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र को इन प्रमुख समितियों में प्रतिनिधित्व पाने का अधिकार है। प्रक्रिया समितियों का काम महासभा के कार्य, संगठन तथा विभिन्न समितियों के कार्यों में समन्वय स्थापित करना है। स्थायी समितियाँ मुख्य रूप से उन प्रश्नों को हल करने के लिए बनाई जाती हैं जो महासभा के सामने किसी न किसी रूप में चलते ही रहते हैं।

इस प्रकार महासभा "अणुबम से लेकर मानवीय कल्याण, भोजन, कपड़ा और आवास स्थान" तक की सभी समस्याओं पर विचार करती है। नवम्बर, 1950 में "शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव" के पारित हो जाने से महासभा का महत्त्व कुछ अंशों में सुरक्षा परिषद् से भी बढ़ गया। महासभा अपने दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित करके निषेधाधिकार के प्रभाव को समाप्त करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की सुरक्षा के लिए आवश्यक कार्यवाही कर सकती है।

(2) सुरक्षा परिषद् (Security Council)—संघ के चार्टर के पाँचवें अध्याय में धारा 23 से 32 तक सुरक्षा परिषद् के संगठन, कार्यों, अधिकारों तथा मतदान पद्धति का वर्णन है। सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्रसंघ का सबसे शक्तिशाली और सक्रिय अंग है। आरम्भ में इसके कुल 11 सदस्य थे। (अब अस्थायी-सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई है। पहले अस्थाई सदस्यों की संख्या छः थी, किन्तु दिसम्बर, 1965 में अस्थाई सदस्यों की संख्या 10 कर दी गई); इनमें चीन, फ्रांस, इंगलैण्ड, रूस और अमेरिका, ये पाँचों स्थाई सदस्य है। अस्थाई सदस्य दो वर्ष के लिये चुने जाते हैं। यह चुनाव महासभा द्वारा विभिन्न सदस्य-राष्ट्रों में से उनके संयुक्त राष्ट्रसंघ को दिये गये सहयोग, शान्ति व्यवस्था में सहायता तथा भौगोलिक वितरण के आधार पर किया जाता है। कोई सदस्य-राष्ट्र तत्काल पुनर्निर्वाचन के योग्य नहीं माना जाता है। इस परिषद् में सदस्य संख्या निर्धारित हो जाने के कारण छोटे राज्यों द्वारा गुटबन्दी की सम्भावना नहीं रही। इस परिषद् में सदस्य-राष्ट्र का एक ही प्रतिनिधि उपस्थित हो सकता है। विधान में यह भी दिया

गया है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ का ऐसा सदस्य जो सुरक्षा परिषद् का सदस्य नहीं है, परिषद् की वैठकों में बिना मताधिकार प्राप्त किये सम्मिलित हो सकता है; यदि उस राष्ट्र के हितों पर प्रभाव डालने वाले प्रश्नों पर विचार किया जाय। इसी प्रकार ऐसा राष्ट्र जो न सुरक्षा परिषद् का सदस्य है और न संयुक्त राष्ट्रसंघ का, वह भी उससे सम्बन्धित विवादग्रस्त प्रश्नों पर विचार करते समय, विचार-विमर्श में बिना मताधिकार, भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया जा सकेगा। इस परिषद् की अध्यक्षता इसी परिषद् के सदस्यों की अँग्रेजी की वर्णमाला के क्रम से प्राप्त होती है। प्रत्येक अध्यक्ष का कार्यकाल एक पूरा महीना होता है। परिषद् के सदस्य-राष्ट्रों का एक-एक प्रतिनिधि सदैव संयुक्त राष्ट्रसंघ के केन्द्र स्थान (न्यूयार्क) पर रहता है। कोई भी प्रश्न सामने आने पर तुरन्त उस पर विचार करने की दृष्टि से परिषद् की बैठक सप्ताह में सातों दिन हो सकती है। किन्तु साधारणतया इसकी बैठक प्रत्येक पखवारे में होती है। इसका संगठन इस प्रकार बनाया गया है कि यह लगातार काम करती रहे।

(क) कार्य एवं शक्तियाँ—संयुक्त राष्ट्रसंघ का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली अंग सुरक्षा परिषद् ही है। इसलिये इस परिषद् की शक्तियाँ एवं कार्य भी अनेक हैं। कुछ अधिकार तो परिषद् के स्वयं ही पूर्ण हैं और शेष महासभा के सहयोग से पूर्ण बन जाते हैं। विश्व शान्ति और सुरक्षा की स्थापना एवं व्यवस्था, इस परिषद् का मुख्य कार्य है। साधारण रूप से इस संस्था को संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यकारिणी कहा जा सकता है, जो संघ के समस्त महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। धारा 25 के अनुसार समस्त सदस्य-राष्ट्रों ने सुरक्षा परिषद् के निर्णयों को स्वीकार करने तथा कार्यान्वित करने का आश्वासन दिया है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था कायम रखने के लिये परिषद् के हस्तक्षेप की निम्नलिखित चार अवस्थाएँ हैं—प्रथम अवस्था—विवादों की जाँच-पड़ताल करती है और शान्ति भंग करने वाली बातों के लिये कार्यवाही करती है। विवादग्रस्त दलों को आवश्यकता समझे तो आमन्त्रित कर सकती है, और विश्व शान्ति व सुरक्षा को खतरा होने की अवस्था में वार्ता, सोच-विचार, विचार-विमर्श मध्यस्थ निर्माण, प्रादेशिक संस्थाओं की स्थापना या अपने इच्छानुसार अन्य शान्तिपूर्ण उपायों से तय कर लेती है। दूसरी अवस्था—जब वास्तव में शान्ति भंग हो जाय अथवा एक राज्य दूसरे राज्य पर आक्रमण करे तो परिषद् झगड़ने वाले राज्यों को अपनी स्थायी शर्तें स्वीकार करने के लिए आह्वान करती है, किन्तु उस अवस्था में उन राज्यों के अधिकार तथा दावे अक्षुण्ण रहेंगे। तीसरी अवस्था—यदि दूसरी अवस्था में सफलता न मिले तो परिषद् सदस्य राष्ट्रों को आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने, जिसमें रेल, डाक, समुद्र, तार, रेडियो तथा यातायात के अन्य साधनों की पूरी अथवा आंशिक या कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद सम्मिलित हो, के लिए कह सकती है। चौथी अवस्था—अन्त में परिषद् सैनिक कार्यवाही, सैन्य प्रदर्शन, अवरोध तथा वायु, जल या स्थल सेना का प्रयोग परिस्थिति के अनुसार कर सकती है।

इस प्रकार सुरक्षा परिषद् यह निर्णय करती है कि किस स्थान पर शान्ति को खतरा है, कहाँ शान्ति भंग हो चुकी है, कहाँ आक्रमण हो रहा है और उसी के अनुसार उपाय करने का प्रयत्न या सिफारिश करती है। सुरक्षा परिषद् ही ऐसी स्थिति में कार्य कर सकती है और परिषद् में बड़ी शक्तियों को (स्थायी सदस्यों) पूर्ण निषेधाधिकार प्राप्त है, जिसका प्रयोग होने पर कोई निर्णय वैध नहीं होता।

सुरक्षा परिषद् के अन्य कार्य भी महत्त्वपूर्ण है, जैसे—न्यास क्षेत्र, जो सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माने गये हैं, उनका नियन्त्रण व निरीक्षण भी सुरक्षा परिषद् करती है और सदस्यों को प्रवेश, निलम्बन तथा निष्कासन, महामंत्री की नियुक्ति, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति आदि भी महासभा, सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर ही करती है।

(ख) **मतदान पद्धति**—इस परिषद् के प्रत्येक सदस्य को एक मत देने का अधिकार है। प्रक्रिया सम्बन्धी विषयों पर सुरक्षा परिषद् नौ सदस्यों के स्वीकारात्मक मत से निर्णय करती है, किन्तु इन नौ मतों में पाँच स्थायी सदस्यों का सम्मिलित होना अनिवार्य है। इन पाँच स्थायी सदस्यों में से एक की भी असहमति होने पर निर्णय नहीं लिया जा सकता है। चाहे अन्य या सभी सदस्य एक मत हों परन्तु निर्णय वैध नहीं हो सकता। स्थायी सदस्यों का यह अधिकार ही वीटो (Veto) या निषेधाधिकार कहलाता है। यह अधिकार पाँच बड़ी शक्तियों को इसलिए दिया गया था, कि विश्व शान्ति और सुरक्षा का दायित्व प्रमुख रूप से इन्हीं पर रहेगा। भविष्य में छोटी शक्तियों के सहयोग से बहुमत बनाकर ये बड़ी शक्तियाँ परस्पर एक दूसरे को न दबा सकें, इसलिए इन्हें निषेधाधिकार दिया गया था। वास्तव में विश्व शान्ति की सुरक्षा के लिए यह प्रावधान रखा गया था, किन्तु यही प्रावधान सबसे अधिक परिषद् को निष्क्रिय बना रहा है। कैसी विडम्बना है ! कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न इसी स्थिति के कारण उपस्थित ही नहीं हो पाते।

(ग) **महासभा और सुरक्षा परिषद्**—उपर्युक्त वर्णन द्वारा दोनों प्रमुख अंगों का सम्बन्ध ऐसा प्रतीत होता है जैसा एक राज्य में कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका का होता है। सुरक्षा परिषद् में बहुत कुछ प्रशासन संस्था के रूप और लक्षण विद्यमान हैं और महासभा उसकी व्यवस्थापिका के रूप में। संयुक्त राष्ट्रसंघ का सम्पूर्ण कार्यक्षेत्र और विषय, जो विधान में वर्णित है, महासभा के सामने ही प्रस्तुत होते हैं। जबकि सुरक्षा परिषद् का मुख्य सम्बन्ध केवल उन्हीं प्रयत्नों से है जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थिति में बाधक या घातक सिद्ध हो सकते हैं। सुरक्षा परिषद् की समस्त कार्यवाही की सूचना प्रतिवर्ष उसके प्रतिवेदन द्वारा महासभा के सामने प्रस्तुत होती है और महासभा में उस पर विचार और बहस भी होती है। परन्तु उस पर किसी प्रकार का आक्षेप अथवा उसमें किसी प्रकार का संशोधन नहीं किया जा सकता, जिससे महासभा की उच्चता और परिषद् की हीनता प्रदर्शित हो। अधिकतम प्रश्नों के निर्णय में साधारणतया महासभा और सुरक्षा परिषद् मिलजुल कर ही कार्य करती हैं, जैसे—नये राष्ट्र का प्रवेश, सदस्य-राष्ट्रों का निष्कासन, महामन्त्री की नियुक्ति, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति आदि।

(3) **आर्थिक तथा सामाजिक परिषद्** (Economic and Social Council)—विभिन्न राष्ट्रों में शान्ति तथा मैत्रीपूर्ण व्यवहार और परस्पर कल्याण के लिये आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् का निर्माण किया गया है। यह सच है कि शान्ति और सुरक्षा केवल संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा प्रस्तावित सुझावों और उनके पालन पर ही निर्भर नहीं है, बल्कि उससे अधिक आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य विषयों के उचित सन्तुलन पर भी आधारित है। इसी उद्देश्य से महासभा के अधिकारों के अन्तर्गत इस परिषद् की स्थापना की गई। इस परिषद् में महासभा द्वारा निर्धारित संयुक्त राष्ट्रसंघ के 18 सदस्य होते हैं (दिसम्बर, 1956 में इसकी सदस्य संख्या 27 कर दी गई है)। महासभा के 1971 के प्रस्ताव के अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर अनुच्छेद 61 को संशोधित करके परिषद् के सदस्यों की संख्या 54 करदी गई है। इनमें से एक-तिहाई सदस्यों का प्रत्येक वर्ष महासभा द्वारा निर्वाचन किया जाता है।

इस परिषद् को मुख्य रूप से निम्नलिखित उत्तरदायित्व सौंपे गये हैं—

(1) विश्व को अधिक समृद्धिशाली, स्थायी और न्यायपरायण बनाना।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा शिक्षा एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी तथा इसी प्रकार के अन्य विषयों का अध्ययन करना तथा उनके लिए आवेदन तथा प्रतिवेदन प्रस्तुत करना और महासभा, संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों तथा विशिष्ट समितियों को नवीन सुझाव देना।

(3) समस्त मानव मात्र के लिये मौलिक मानव अधिकारों एवं मूल स्वतन्त्रताओं का अध्ययन करना और इन पर अपना प्रतिवेदन तथा सुझाव प्रस्तुत करना।

(4) महासभा के समक्ष इन्हीं विषयों के सम्बन्ध में नियम बनाने के लिए प्रारूप तैयार कर, प्रस्तुत करना, तथा

(5) अपने क्षेत्र के विषयों से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाना और विचार-विमर्श के बाद निर्णयों को सर्वत्र भेजना।

इस परिषद् में मतदान की साधारण पद्धति है। प्रत्येक सदस्य को एक मत प्राप्त होता है। बहुमत से निर्णय लिए जाते हैं। इस परिषद् के तत्त्वावधान में 9 कार्यकारी आयोग स्थापित किये गये; जो इस प्रकार हैं—मानव अधिकार आयोग, महिला प्रतिष्ठा आयोग, सामाजिक समस्या आयोग, आर्थिक तथा वृत्ति आयोग, यातायात और संचार आयोग, सांख्यिकी आयोग, मादक-औषधि आयोग आदि। इस परिषद् के अन्तर्गत विशिष्ट संस्थाएँ भी कार्य करती हैं, जिनका उल्लेख आगे के पृष्ठों में पृथक् रूप से किया जायेगा।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर निर्माताओं ने, जिन्हें आर्थिक तथा सामाजिक कुप्रबन्ध से युद्ध छिड़ जाने की सम्भावना अनुभव हुई, मनुष्य मात्र को इस आवश्यकता से मुक्त करने का विचार किया और वास्तव में इन समस्याओं का हल विश्व में युद्ध की सम्भावनाओं को दूर ले जाता है।

(4) **संरक्षण परिषद् (Trusteeship Council)**—प्रथम विश्वयुद्ध के बाद विश्व के पिछड़े हुए राष्ट्रों के संरक्षण के हेतु मेण्डेट प्रणाली की स्थापना की गई थी, किन्तु राष्ट्रसंघ की भाँति मेण्डेट प्रणाली भी सफल नहीं हुई। उस अनुभव के आधार पर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पिछड़े हुए राष्ट्रों के कल्याण के लिए संरक्षण पद्धति अपनाई गई है। तदनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ के विधान में अविकसित तथा अधीन व्यक्तियों के कल्याण तथा विकास और स्वायत्त शासन की ओर उनकी उत्तरोत्तर उन्नति के लिए अग्रसर होते रहने की व्यवस्था करना, विश्व के उन्नत राष्ट्रों ने अपना कर्त्तव्य स्वीकार किया है। यह प्रणाली उन प्रदेशों पर लागू होती है जो पहले राष्ट्रसंघ के शासनादेश के अधीन कर दिये गए थे, जो द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् शत्रु से लिए गये हैं तथा वह प्रदेश जो स्वयं संरक्षण परिषद् के अन्तर्गत आ गये हैं। उस प्रणाली को प्रचलित करने के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बढ़ाना।

(2) न्यास क्षेत्र (Trust Territory) के निवासियों को स्वशासन की ओर अग्रसर करना।

(3) मानव अधिकारों और मूल स्वतन्त्रताओं के प्रति आस्था बढ़ाना और विश्व में पारस्परिक सहयोग को मान्यता देना, तथा

(4) न्यायिक समानता को प्रतिष्ठित करना।

संरक्षण परिषद् में वे लोग सम्मिलित हैं, जो संरक्षण प्राप्त प्रदेशों के शासक हैं, सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्य तथा जो महासभा द्वारा अपने सदस्यों में से तीन वर्ष की अवधि के लिए इस परिषद् की सदस्यता के लिए चुने जाते हैं। इस परिषद् के मुख्य कार्य महासभा के अन्तर्गत ही सम्पादित होते हैं। प्रशासकों द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनों पर विचार, प्रस्तुत प्रार्थना-पत्रों की स्वीकृति तथा प्रशासकों से सम्पर्क स्थापित करते हुए उनका परीक्षण करना, विभिन्न क्षेत्रों का समय-समय पर निरीक्षण करना, संरक्षण सम्बन्धित समझौतों के अनुसार कार्यवाही करना आदि इस परिषद् के कार्य हैं। इस परिषद् में मतदान साधारण ढँग से होता है तथा निर्णय बहुमत से लिये जाते हैं। घाना, फ्रेंचकेमरून्स, टोगोलैण्ड, इटालियन सोमालीलैण्ड आदि संरक्षित प्रदेशों द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करना संरक्षण पद्धति की बहुत बड़ी सफलता है।

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय** (International Court of Justice) – यह न्यायपालिका संयुक्त राष्ट्रसंघ के लिये अपने विधान की भाँति अभिन्न तथा महत्त्वपूर्ण अंग है। राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में बना पिछला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सका था। अतः एक नये न्यायालय की स्थापना की गई। फिर भी संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत स्थापित इस न्यायालय को एक नया न्यायालय कहना उचित नहीं है। केवल नाम परिवर्तन को छोड़कर और पुराने न्यायालय के विधान में कुछ शाब्दिक परिवर्तन के अतिरिक्त नये न्यायालय में कोई नवीनता नहीं है। वर्तमान न्यायालय सर्वप्रथम अप्रैल, 1946 को हेग में प्रारम्भ हुआ। चार्टर की धारा 92 के अनुसार यह न्यायालय संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रमुख न्यायायिक अंग है।

इस न्यायालय में कुल मिलाकर 15 न्यायाधीश होते हैं। सभी न्यायाधीश अपने सदस्यों में से ही एक अध्यक्ष तथा एक उपाध्यक्ष चुनते हैं। इन सभी न्यायाधीशों की नियुक्ति संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा और सुरक्षा परिषद् द्वारा होती है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश के पद के लिये उच्च नैतिक चरित्र एवं राष्ट्रीय कानून का विशेषज्ञ होना आवश्यक है। कोई दो न्यायाधीश एक ही राज्य के नहीं होने चाहिये। न्यायाधीशों का साधारण कार्यकाल नौ वर्ष का होता है और वे पुनः निर्वाचित हो सकते हैं। न्यायाधीशों की निर्वाचन प्रणाली कठिन है। राष्ट्रीय विधि-विशेषज्ञों द्वारा चार प्रसिद्ध विधिशास्त्रियों के नाम मनोनीत किये जाते हैं और उनमें से दो से अधिक नाम अपने राष्ट्र से सम्बन्धित नहीं होने चाहिये। चुनाव की तिथि से कम से कम तीन माह पूर्व महामन्त्री राष्ट्रीय कानून विशेषज्ञ के नाम पर एक लिखित प्रार्थना पत्र भेजता है तथा विभिन्न राष्ट्रीय दलों के पास भी इस प्रकार के नाम मनोनीत करने की सूचनाएँ भेजता है। वे ऐसे लोगों के नाम भेजते हैं जो इस पद के उपयुक्त हों तथा न्यायालय के सदस्य बन सकें। कोई भी दल चार से अधिक नाम नहीं भेजता। महामन्त्री इस प्रकार आये हुए सारे मनोनीत नामों की सूची वर्णमाला के अनुसार बनाता है और तत्पश्चात् महासभा और सुरक्षा परिषद् एक दूसरे से स्वतन्त्र होकर न्यायालय के सदस्यों का निर्वाचन करती है। ऐसे प्रत्याशी जो महासभा तथा सुरक्षा परिषद् में शुद्ध बहुमत प्राप्त करते हैं, निर्वाचित माने जाते हैं।

इस न्यायालय का न्याय-क्षेत्र उन सभी राज्यों पर व्याप्त है जो न्यायालय की संविधि (Statute) को स्वीकार चुके हैं। न्याय-क्षेत्र मुख्य रूप से तीन प्रकार के हैं—वैकल्पिक न्याय-क्षेत्र, अनिवार्य न्याय-क्षेत्र और परामर्शात्मक न्याय-क्षेत्र। वैकल्पिक न्याय-क्षेत्र में वे सभी विवाद सम्मिलित हैं, जिन्हें दोनों पक्ष सहमत होकर न्यायालय के समक्ष अपना विवाद प्रस्तुत करते हैं। अनिवार्य न्याय-क्षेत्र के अन्तर्गत संविधि को स्वीकार करने वाला कोई राष्ट्र यह घोषित कर सकता है कि प्रस्तुत विवाद को वह अनिवार्य न्याय-क्षेत्र के अधीन मानता है। इससे सम्बन्धित दूसरे राष्ट्र को भी सहमत होना पड़ता है, किन्तु इसके लिये दोनों की स्वीकृति आवश्यक है। किसी राष्ट्र की इच्छा के विरुद्ध कोई अभियोग न्यायालय में नहीं चलाया जा सकता। परामर्शात्मक न्याय-क्षेत्र के अन्तर्गत यह न्यायालय महासभा तथा सुरक्षा परिषद् को न्याय सम्बन्धी परामर्श देता है। किन्तु इसके परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं है। इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य अंग भी न्यायालय से किसी वैधानिक विषय पर परामर्श ले सकते हैं।

(6) सचिवालय (Secretariat) – संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्पादन के लिये एक सचिवालय की स्थापना की गई है। इस संगठन के सुगम और व्यवस्थित कार्य करने पर ही संयुक्त राष्ट्रसंघ की सफलता निर्भर करती है। सचिवालय का मुख्य प्रशासन अधिकारी महामन्त्री (Secretary General) होता है, जिसकी नियुक्ति सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा द्वारा पाँच वर्ष के लिये की जाती है। महामन्त्री सचिवालय की सहायता से अपना सारा कार्य करता है। चार्टर के अनुसार महामन्त्री के निम्नलिखित कार्य हैं—

(1) यदि महामन्त्री यह समझे कि किसी विवाद के कारण अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा खतरे में पड़ सकती है तो वह उस विवाद की ओर सुरक्षा परिषद् का ध्यान आकर्षित कर सकता है। इस प्रकार महामन्त्री अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यक्तिगत रूप से दिलचस्पी लेकर विश्वशान्ति बनाये रखने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है।

(2) संघ की सम्पूर्ण कार्यवाही के सम्बन्ध में प्रतिवर्ष महासभा के अधिवेशन में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है।

(3) अपने पद के कारण महामन्त्री महासभा, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् तथा संरक्षण परिषद् के अधिवेशनों में उपस्थित होता है तथा उनकी कार्यवाही में भाग लेता है।

(4) महामन्त्री, महासभा द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार, संघ के पदाधिकारियों की नियुक्ति करता है। इन नियुक्तियों के समय उनकी कार्य-निपुणता, योग्यता और ईमानदारी पर ध्यान दिया जाता है। जहाँ तक सम्भव हो, अधिकांश देशों को सचिवालय सेवाओं में प्रतिनिधित्व दिया जाता है। इस प्रकार के पदाधिकारियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे संयुक्त राष्ट्रसंघ से बाहर किसी सत्ता से न तो कोई आदेश ही प्राप्त करेंगे और न उनके दबाव में आयेंगे। संघ के सदस्यों ने भी यह तय किया कि सचिवालय उत्तरदायित्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय होगा और वे उन दायित्वों के निर्वाह में पदाधिकारियों पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डालेंगे। अतः यह कहा जा सकता है कि सचिवालय के कर्मचारी अपना राष्ट्रीय स्वभाव छोड़कर अन्तर्राष्ट्रीय विचार और व्यवहार करते हैं।

सचिवालय में महामन्त्री का पद बड़े महत्त्व का है। इसकी सहायता के लिये सचिवालय में लगभग 3,500 कर्मचारी एवं पदाधिकारी हैं। महामन्त्री को केवल प्रशासनिक कार्य ही नहीं वरन् राजनैतिक कार्य भी करने पड़ते हैं। राजनीतिक मामलों में महामन्त्री बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। महामन्त्री को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने के अनेक अवसर मिलते हैं। विभिन्न देशों के प्रतिनिधिमण्डल के साथ उसका सम्पर्क बना रहता है। उसे इस बात की स्वतन्त्रता होती है कि वह सदस्य-राज्यों के विदेश मन्त्रालय में जा सके। वह अपने वार्षिक प्रतिवेदन में यह भी सिफारिश कर सकता है कि संघ को कौनसी नीति अथवा कार्यक्रम अपनाना चाहिये।

चार्टर में संशोधन—चार्टर की धारा 108 के अनुसार किसी भी संशोधन के स्वीकृत होने के लिए साधारण सभा का दो तिहाई बहुमत होना तथा सुरक्षा परिषद् के नौ सदस्यों का बहुमत होना चाहिये। इन नौ सदस्यों में पाँच स्थायी सदस्यों की सहमति आवश्यक है। चार्टर की धारा 109 में कहा गया है कि जब कभी चार्टर में संशोधन की आवश्यकता अनुभव की जाय तो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों का एक सम्मेलन बुलाया जाय। किन्तु संशोधन का प्रस्ताव, चार्टर लागू होने के दस वर्ष बाद साधारण सभा में पेश किया जा सकता है, अर्थात् चार्टर लागू होने के दस वर्ष की अवधि में चार्टर में कोई संशोधन सम्भव नहीं है।

विशिष्ट समितियाँ

आर्थिक और सामाजिक परिषद् के तत्त्वावधाना में अनेक विशिष्ट संस्थाएँ (Specialised Agencies) भी कार्य करती हैं। इन संस्थाओं का क्षेत्र राजनीतिक नहीं है बल्कि सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं मानवीय है। इनकी अपनी कार्य प्रणाली और अपने कार्यालय हैं। ये संस्थाएँ अलग-अलग विषयों के ज्ञाताओं के हाथ में रहती हैं ताकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सामान्य कटुता से इन्हें परे रखा जा सके। ये संस्थाएँ मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ (I.L.O.)

(2) खाद्य तथा कृषि संघ (F.A.O)

(3) संयुक्त राष्ट्रीय शैक्षणिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संघ (UNESCO)

(4) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (I.B.R.D.)

(5) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I.M.F.)

(6) विश्व डाक संघ (W.P.U.)

(7) अन्तर्राष्ट्रीय तार संचार संघ (I.T.U.)

(8) विश्व स्वास्थ्य संघ (W.H.O.)

(9) अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संघ (U.N.C.H.R.)

(10) अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संघ (I.C.A.O.)

इनमें से कुछ संस्थाएँ तो संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के पहले से ही कार्य कर रही हैं, जैसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ। किन्तु इन सभी संस्थाओं की प्रगति का विशेष कार्य संयुक्त राष्ट्रसंघ

ने ही किया। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने इन विभिन्न संस्थाओं के द्वारा विश्व में भुखमरी, बीमारी, निर्धनता और अज्ञान को दूर करने का प्रयत्न किया है। ऐसी कुछ महत्त्वपूर्ण संस्थाओं का संक्षिप्त परिचय देना वांछनीय होगा।

(1) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ—प्रथम विश्व युद्ध के बाद स्थापित विशिष्ट संस्थाओं में यह सर्वाधिक प्राचीन संस्था है। इस संघ के विधान में जो सन् 1919 में बना था, घोषित किया गया है कि सामाजिक न्याय के आधार पर ही विश्व में शाश्वत शान्ति स्थापित की जा सकती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ में इस संघ का रूप एक विशेष महत्त्व रखता है। इस संघ में श्रमिकों के प्रतिनिधि और प्रबन्धकों के प्रतिनिधि एवं सरकार के प्रतिनिधि मिलकर नीति निर्धारित करते हैं तथा निर्णय भी। इस संघ के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं जो 1914 में फिलाडेलफिया सम्मेलन में घोषित किये थे—

(1) श्रम कोई वस्तु नहीं है, (2) किसी भी स्थान की निर्धनता अन्य सभी स्थानों की समृद्धि के लिए खतरा है, (3) निरन्तर प्रगति के लिये अभिव्यक्ति और समुदाय की स्वतन्त्रता आवश्यक है, तथा (4) प्रत्येक देश को अभाव एवं दरिद्रता के विरुद्ध पूरे जोश के साथ युद्ध करना चाहिये। इन सिद्धान्तों की पूर्ति के लिये अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने निम्नलिखित कार्यक्रम निर्धारित किया—

(1) जीवन निर्वाह एवं पूर्ण रोजगार के लिये आवश्यक एवं पर्याप्त वेतन मिले।

(2) श्रमिकों की सामाजिक सुरक्षा का विस्तार हो।

(3) मजदूरों के लिये पर्याप्त भोजन, वस्त्र और निवास की व्यवस्था हो।

(4) मजदूरों को सामूहिक रूप से विनिमय (Bargain) का अधिकार हो।

(5) उन्हें अवसरों की पूरी समानता मिले।

(6) उनके स्वास्थ्य और सुरक्षा की अच्छी व्यवस्था हो।

यह श्रम संघ अपने सदस्य-राज्यों को अनेक प्रकार से मदद पहुँचाता है। शिष्टमण्डल भेजना, श्रमिकों के शिक्षण की व्यवस्था करना, सामाजिक विषयों पर शोध की व्यवस्था करना, आर्थिक प्रतिवेदन तैयार करना, सांख्यिकी तथा पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित करना आदि इसके मुख्य कार्य हैं। यह श्रम संघ संयुक्त राष्ट्रसंघ के तकनीकी कार्य में भी सहायता पहुँचाता है तथा विभिन्न राष्ट्रों को अपने यहाँ जीवन-स्तर बढ़ाने में सहायता देता है। यह श्रमिकों को शिक्षा द्वारा, मालिकों को परामर्श द्वारा और सरकारों की नीति के सम्बन्ध में सुझाव द्वारा, उत्पादन में वृद्धि और सम्बन्धों को सुधारने में सहायता करता है। श्रमिकों की जनसंख्या को उचित स्थान पर भेजने तथा उनकी व्यवस्था का भी निरीक्षण करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ तीन मुख्य अंगों द्वारा अपना सारा कार्य सम्पादित करता है—(1) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन, (2) प्रशासक संस्था, और (3) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय।

(2) यूनेस्को—यह संस्था भी संयुक्त राष्ट्रसंघ की प्रमुख संस्था है। विश्व संगठन को सफल बनाने में तथा लोकप्रियता एवं ख्याति प्राप्त करने में यह संस्था अद्वितीय है। इस संगठन का उद्देश्य है कि "संयुक्त राष्ट्रसंघ के संविधान द्वारा स्वीकृत विश्व के नागरिकों के लिये बिना

जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म का भेद किये शिक्षा, विधान एवं संस्कृति के माध्यम से, न्याय विधिमय-शासन (Rule of Law) तथा मानव अधिकार एवं मूल स्वतंन्त्रताओं के सम्मान की अभिवृद्धि के लिये, विभिन्न राष्ट्रों का सहयोग और समर्थन लेकर शान्ति और सुरक्षा की स्थापना में योग देना।"

इस संस्था का संगठन भी व्यापक एवं प्रभावशाली है। इसके भी तीन अंग हैं—(1) महा सम्मेलन, (2) कार्यपालिका मण्डल, तथा (3) सचिवालय। महा सम्मेलन में यूनेस्को में प्रत्येक राष्ट्र का एक प्रतिनिधि सम्मिलित होता है। महा सम्मेलन में एक वर्ष में दो अधिवेशन होते हैं, जिसमें यह अपनी रीति-नीति तथा कार्यक्रम निर्धारित करता है तथा अपनी कार्यपालिका का निर्वाचन भी करता है। कार्यपालिका में 20 सदस्य होते हैं। यह मण्डल वर्ष में कम से कम दो बार बैठक करता है तथा महा सम्मेलन द्वारा निर्धारित कार्यक्रम का पालन करता है। सचिवालय एक विशाल कार्यालय है, जिसका अध्यक्ष, प्रधान निदेशक (Director General) होता है। उसके निरीक्षण में विश्व भर के विभिन्न राष्ट्रों के लोग कार्यालय में काम करते हैं। प्रधान कार्यालय पेरिस में स्थित है। इस कार्यालय में मुख्य छः विभाग हैं—(1) शिक्षा, (2) प्राकृतिक विज्ञान, (3) सामाजिक विज्ञान, (4) सांस्कृतिक कार्य, (5) जन संचार, तथा (6) तकनीकी सहायता।

इस संस्था का मुख्य कार्यक्रम 8 विभिन्न शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है—(1) शिक्षा, (2) प्राकृतिक विज्ञान, (3) सामाजिक विज्ञान, (4) सांस्कृतिक कार्यक्रम, (5) व्यक्तियों का आदान-प्रदान, (6) जनसंचार, (7) पुनर्वास, और (8) तकनीकी सहायता।

उपर्युक्त सभी शीर्षकों में से शिक्षा के क्षेत्र में यूनेस्को "मौलिक शिक्षा" अथवा "सामुदायिक विकास" के नाम से कार्य चलाता है और इसके अन्तर्गत जनता को अपना स्वास्थ्य, भोजन, उपज तथा जीवन-स्तर सुधारने का ज्ञान प्रदान करता है। अध्ययन के लिये निरक्षर नागरिकों को वर्णमाला के ज्ञान के साथ-साथ स्वास्थ्य, कृषि तथा गृह सम्बन्धी अर्थव्यवस्था के लिए भी प्रारम्भिक ज्ञान देने की व्यवस्था करता है। विज्ञान के क्षेत्र में यूनेस्को और भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। विश्व में विज्ञान के विशेषज्ञों द्वारा जो भी नये प्रयोग अथवा योजनाएँ चलायी जाती हैं उनका ज्ञान सर्वत्र उपयोगी एवं उपलब्ध बनाना इसका मुख्य कार्य है। इसके अतिरिक्त रेगिस्तानों के शोध-कार्यालय के प्रसार एवं विकास का कार्य भी यह संस्था प्रगति से कर रही है। जहाँ इस प्रकार के काम हो रहे हैं वहाँ प्रोत्साहन देना, नई-नई ऐसी समस्याओं के अध्ययन की व्यवस्था करना इसी संस्था का काम है। सामाजिक अध्ययन के क्षेत्र में भी शोध-कार्य को प्रोत्साहन देना तथा विभिन्न जातियों तथा राष्ट्रों में मिथ्यावाद अथवा असत्य धारणाओं को दूर करना भी इसी संस्था का कार्य है। सांस्कृतिक क्षेत्र में तो विभिन्न कलाएँ; जैसे—नाटक, नृत्य, संगीत, चित्रकला, वास्तुकला, साहित्य, दर्शन आदि सभी इसी संस्था के सम्बन्ध के विषय हैं।

(3) खाद्य एवं कृषि संगठन—अक्टूबर, 1945 में क्यूबेक (कनाडा) में खाद्य एवं कृषि संगठन की स्थापना हुई। इसके कार्यालय में अलग-अलग विभाग हैं। जैसे—कृषि वितरण, आर्थिक व्यवस्था, मछली उद्योग, ग्राम कल्याण आदि। इसकी ओर से विभिन्न राष्ट्रों की खाद्य पूर्ति, आवश्यकता और सम्भावना के सम्बन्ध में तथ्य मालूम किये जाते हैं और उपयोगी साहित्य

प्रकाशित किया जाता है। संघ की ओर से अनेक देशों में विशेषज्ञ भेजे जाते हैं जो पशुओं और पौधों की बीमारी से रक्षा, कृषि की उन्नति, भोजन में पौष्टिक तत्त्वों में वृद्धि, वनों की रक्षा, भूमि के कटाव को रोकना और बाढ़ नियन्त्रण करना आदि कार्यों में सहायता करते हैं। कृषि सुधार आदि कार्यों के लिये संघ की ओर से विशिष्ट सहायता दी गई है। विश्व में कृषि के उन्नत तरीकों का प्रचार करती है तथा मवेशियों की बीमारियों की रोकथाम के लिये कार्यक्रम बनाती है।

खाद्य एवं कृषि संगठन के मुख्य अंग एक सम्मेलन, एक परिषद् तथा डायरेक्टर जनरल और उसके अन्य कर्मचारी हैं। सम्मेलन में प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र का एक-एक प्रतिनिधि होता है। यह सम्मेलन संगठन की नीति निर्धारित करता है तथा बजट स्वीकार करता है। परिषद् में सम्मेलन द्वारा चुने गये 24 सदस्य होते हैं। परिषद् सम्मेलन का अधिवेशन आरम्भ होने और समाप्त होने की अवधि में कार्य करती है। इसका प्रधान कार्यालय रोम में स्थित है। इस कार्यालय का प्रधान डाइरेक्टर जनरल होता है।

(4) विश्व स्वास्थ्य संगठन—विश्वव्यापी स्वास्थ्य समस्या के समाधान के लिए 7 अप्रैल, 1948 को अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य संगठन की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य विश्व के लोगों के स्वास्थ्य को उच्च स्तर पर पहुँचाना और रोगों की रोकथाम करना है। इस संघ ने विश्व की स्वास्थ्य सम्बन्धी कई समस्याओं से संघर्ष किया है। 1947 में बहुत ही खतरनाक और उग्र रूप से फैलने वाले हैजे पर इस संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से छः सप्ताह के अन्दर ही पूरी विजय प्राप्त की। यह सफलता अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण और आश्चर्यजनक मानी गई थी। संघ विशेषज्ञों की समितियों द्वारा कई घातक रोगों के सम्बन्ध में अनुसन्धान करता है। संघ के तत्त्वावधान में मलेरिया, तपेदिक, जननेन्द्रिय सम्बन्धी रोगों, मातृ-शिशु स्वास्थ्य, पौष्टिक भोजन और स्वस्थ वातावरण के सम्बन्ध में अलग-अलग विभाग काम करते हैं।

इस संगठन के मुख्य रूप से तीन अंग हैं—(1) सभी सदस्य-राज्यों के प्रतिनिधियों की असेम्बली, (2) असेम्बली द्वारा चुने गये चिकित्सा आदि का विशेष ज्ञान रखने वाले 18 व्यक्तियों की एक कार्यकारिणी, तथा (3) सचिवालय। इसका मुख्य कार्यालय जेनेवा में है।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय बाल संकट कोष—बच्चों के स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान देने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा ने 11 दिसम्बर, 1946 को अन्तर्राष्ट्रीय बाल संकट कोष की स्थापना की। इसका उद्देश्य विश्व के पिछड़े हुए देशों के बच्चों के स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान देना है। एशिया, अफ्रीका तथा यूरोप के देशों में इस संस्था ने मानवीय दृष्टि से अत्यन्त ही सराहनीय कार्य किया है। इसके तत्त्वावधान में बच्चों और दूध पिलाने वाली माताओं को दूध इत्यादि पौष्टिक पदार्थों की व्यवस्था की जाती है। तपेदिक, मलेरिया, उपदंश एवं अनेक महामारियों के नियन्त्रण के लिए यह संस्था प्रयत्नशील है। इसके अतिरिक्त भूकम्प, बाढ़ आदि के समय यह संस्था प्रसूतिकाओं एवं शिशुओं की अपेक्षित सहायता करती है। भारत में डी.डी.टी. और पेनिसिलिन के उत्पादन के लिए इस संस्था से काफी सहायता मिली है तथा बच्चों के स्वास्थ्य के लिए दूध भी बाँटा जाता है। स्कूलों एवं अस्पतालों में क्षय से बचाव के लिए बी.सी.जी. के टीके लगाने की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार अनेक रूपों में भारत व अनेक अन्य देशों में इस संस्था द्वारा सहायता की जा रही है।

(6) विश्व शरणार्थी संगठन—इसकी स्थापना संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा द्वारा 1 जनवरी, 1951 को हुई थी। इस संगठन का सबसे बड़ा काम शरणार्थी समस्या का हल करना है, अर्थात् शरणार्थियों का पुनर्वास। जब तक यह कार्य सम्पन्न नहीं होता तब तक शरणार्थियों की देखरेख व भरण-पोषण का काम भी होता था। स्वदेश लौटना चाहने वाले लोगों को इस बात के लिए संघ से प्रोत्साहन और सहायता मिली। संघ ने लगभग 60 लाख व्यक्तियों को बसाने में सहायता की। परन्तु इस संघ को असमय में ही समाप्त हो जाना पड़ा, क्योंकि अमेरिका ने, जो कि इसका आर्थिक दृष्टि से सबसे बड़ा सहायक था, पैसा देना अस्वीकार कर दिया। अपने अल्पकाल में, विश्व शरणार्थी संगठन ने द्वितीय विश्व युद्ध के परिणामस्वरूप बेघर लोगों की बहुत सेवा की।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और बैंक—विश्व युद्ध से जर्जरित विश्व का पुनर्निर्माण और विकास के क्षेत्र में दो संस्थाएँ—अन्तर्राष्ट्रीय बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का उद्देश्य उत्पादन के लिए तथा पुनर्निर्माण और विकास के लिए सदस्य राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों की पूँजी सुलभ करना और सहायता पहुँचाना है। मुद्रा कोष की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सहयोग को चालू रखने, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार करने और विनिमय के प्रतिस्पर्द्धा भरे उतार-चढ़ाव को रोकने की दृष्टि से हुई है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक अपने सदस्य राष्ट्रों को आर्थिक पुनर्निर्माण तथा प्राकृतिक साधनों और उद्योगों के विकास के लिए स्वयं ऋण देता है अथवा गारण्टी से दूसरी जगह से दिलवाता है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक सामान्यतः किसी देश की सरकार को ही ऋण देता है या दिलवाता है; किन्तु यदि किसी देश की सरकार ऋण चुकाने की गारण्टी दे तो उस देश के निजी उद्योग-धन्धों को भी बैंक ऋण दे सकता है।

मुद्रा कोष तथा बैंक से विभिन्न देशों को अपने आर्थिक विकास और सुधार कार्यों के लिए बहुत सहायता मिल रही है। फ्रांस, बेल्जियम, हालैण्ड, डेनमार्क आदि देशों को बहुत सहायता मिल रही है। भारत को रेलों के विकास, इस्पात के उत्पादन और बहुमुखी योजनाओं के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से बहुत ऋण प्राप्त हो चुका है।

(8) तकनीकी सहायता कार्यक्रम—संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में एक 'संयुक्त राष्ट्र तकनीकी सहायता कार्यक्रम' चलता है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए राष्ट्रों को उनका जीवन-स्तर ऊँचा उठाने में तकनीकी सहायता देना है। पिछड़े राष्ट्रों के लिए यह बड़ी ही उपयोगी व हितकर योजना है। यद्यपि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका आदि विकसित देश पिछड़े हुए देशों की अनेक प्रकार से मदद करते हैं और कामनवेल्थ के देशों के लिए 'कोलम्बो योजना' जैसी योजनाएँ इसी दिशा में काम कर रही हैं, किन्तु किसी देश विशेष या संघ विशेष से सीधी सहायता लेने में प्रायः यह भय बना रह सकता है कि उस आर्थिक सहायता के साथ राजनीतिक बन्धन न लगा दिये जायँ। संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था से प्राप्त सहायता के लिये किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता और आवश्यकता की पूर्ति भी हो जाती है। इस दृष्टि से यह कार्यक्रम अत्यन्त उपयोगी एवं सराहनीय है। कार्यक्रम के उल्लेखनीय प्रयासों में पाकिस्तान की 'आयरन फाउण्ड्री', ईरान में वायु सेना से फोटो लेकर कुओं के लिए भूगर्भ जल क्षेत्रों की खोज तथा इण्डोनेशिया में हवाई यातायात के विकास के लिये और लेटिन अमेरिका में इस्पात के उद्योगों की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योगदान आदि प्रमुख हैं।

(9) मानव अधिकार आयोग—वर्तमान युग में जैसे सत्य, शान्ति तथा अच्छाई का विरोध नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मानव के मूल अधिकार भी सर्वसम्मति से स्वीकार किये जाते हैं किन्तु उनके सम्बन्ध में कुछ समस्याएँ हैं, जिनका प्रवेश संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में नियुक्त मानव अधिकार आयोग के विचार-विमर्श के समय हो चुका है। वर्षों के निरन्तर प्रयास के फलस्वरूप अब जाकर ऐसे प्रलेख (Documents) प्रस्तुत हो सके हैं, जिनसे मानव के मूल अधिकार का स्वरूप निश्चित हो सका।

चार्टर के अनुसार मानव अधिकार आयोग की स्थापना आवश्यक मानी गयी थी। इस संस्था का कार्य भी बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद ही यह आयोग संगठित हुआ और कार्य आरम्भ कर दिया गया। इसमें 18 राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं जो तीन वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते हैं और पुनः निर्वाचन के योग्य माने जाते हैं। यह संस्था इस विषय के सभी पक्षों पर विचार करने की अधिकारिणी है। किन्तु मानव अधिकारों को यह प्राथमिकता देती है। श्रीमती रूजवेल्ट की अध्यक्षता में इस आयोग ने मानव अधिकारों का आदेश-पत्र तैयार किया और 10 दिसम्बर, 1949 को महासभा ने मानव अधिकारों का विश्व-घोषणा-पत्र स्वीकार किया। इस घोषणा-पत्र में मानव के मूलभूत अधिकारों को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता दी गई है। मानव के सम्मान और मूल्य को महत्त्व दिया गया है। घोषणा-पत्र में उल्लिखित विभिन्न धाराओं द्वारा निम्नलिखित मौलिक अधिकार स्वीकार किये गये हैं—

(1) सम्मान और अधिकारों की दृष्टि से तथा स्वतंत्र रहने के लिए सभी मानव समान हैं।

(2) घोषणा-पत्र में सम्मिलित अधिकारों और स्वतंत्रता के लिए सारे मानव अधिकारी हैं।

(3) जीवन, स्वतन्त्रता और सुरक्षा का अधिकार प्रत्येक मानव को प्राप्त है।

(4) कोई भी मानव दास नहीं रखा जा सकता एवं दासता और दास प्रतिबन्धित होगा।

(5) किसी भी मानव के साथ अत्याचार एवं अमानवीय व्यवहार नहीं किया जा सकता।

(6) कानून के समक्ष प्रत्येक मानव, प्रत्येक स्थान पर मानव के अधिकार की प्राप्ति का अधिकारी है।

(7) कानून के समक्ष सभी व्यक्ति समान हैं और समान रूप से कानून का संरक्षण प्राप्त करने के अधिकारी हैं।

(8) स्वीकृत मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करना अथवा अनुचित लाभ उठाना नियम-विरुद्ध है।

(9) किसी भी व्यक्ति को बिना उचित कारण के बन्दीगृह अथवा बन्धन में नहीं रखा जा सकता।

(10) व्यक्ति के निजी कार्यों अथवा जीवन में बाह्य हस्तक्षेप नहीं किया जायेगा।

इसी प्रकार आवागमन और निवास का समान अधिकार, राष्ट्रीयता का अधिकार, विवाह एवं परिवार का अधिकार, सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार आदि अनेक अधिकार हैं, जो स्वीकार किये गये हैं। यह कहा जा सकता है कि घोषणा-पत्र में किसी भी मानवीय अधिकार को नहीं छोड़ा गया है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का मूल्यांकन

युद्धों के भय से मुक्ति के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा समाधान के लिये तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना मानव इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसके चार्टर में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की उन सभी बुराइयों को समाप्त करने का प्रयत्न किया गया जिनके कारण राष्ट्रसंघ असफल हो गया था। इस संगठन का मूल्यांकन करने से पूर्व हमें यह स्वीकार करना होगा कि हम निष्पक्ष रूप से इसकी कार्यवाहियों का पर्यवेक्षण करेंगे। न तो हम उन्हें हीन दृष्टि से देखें और न अतिशयोक्ति द्वारा तिल का पहाड़ बनायें। यह व्यवहार अनिवार्य है।

सर्वप्रथम हम यह देखते हैं कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद विश्व में तीन प्रधान विकास हुए हैं—(1) पाँच बड़ी शक्तियों में विरोध, (2) परमाणु शक्ति का विकास, तथा (3) औपनिवेशिक प्रणाली का क्रमशः विसर्जन। इस प्रगति को देखते हुए यह एक सफल संस्था है। उपर्युक्त नवीन परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने पर भी यह संगठन पर्याप्त रूप से सफल हुआ है। सन् 1946 में ईरान विवाद में मध्यस्थ बनकर रूस की सेनाएँ वापस बुलवायीं। हिन्देशिया में सहायता पहुँचाकर उसे स्वतन्त्रता दिलवाने में सहायता की और संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाया। इसराइल और अरब राज्यों के आपसी विरोध को रोककर विराम-सन्धि पर हस्ताक्षर करवाये। इसी संगठन ने कश्मीर में युद्ध-विराम समझौता करवाया। यूनान की सीमा पर आयोग भेजकर शान्ति स्थापित की। 20 जून, 1950 को जब उत्तरी कोरिया, दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण करने लगा तब अन्तर्राष्ट्रीय सेना की व्यवस्था के लिए कार्यवाही कर शान्ति बनाये रखी। 1954 में इंगलैण्ड व फ्रांस ने जब मिस्र पर आक्रमण किया तो संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना ने ही विदेशी सेनाओं से वह प्रदेश रिक्त करवाया। सीरिया और लेबनान, बर्लिन (ब्लोकेड) अर्थ प्रतिबन्ध तथा हिन्द-चीन भी संयुक्त राष्ट्रसंघ की सफलता के प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त साम्राज्यवाद की समाप्ति की दिशा में भी संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयत्न प्रशंसनीय हैं। अबीसीनिया की स्वतन्त्रता तथा इरीट्रिया का अबीसीनिया के साथ योग, द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इटालियन सोमालीलैण्ड, बेल्जियम-कांगो, यूगाण्डा तथा अन्य अफ्रीकी देश अभी हाल ही में स्वतन्त्र हुए हैं। लीबिया जो अभी तक साम्राज्य का एक अंग था, इस संगठन के अन्तर्गत स्वतन्त्र बना दिया गया। मोरक्को एवं ट्यूनिशिया, जिसे फ्रांस नहीं छोड़ना चाहता था, और संयुक्त राष्ट्रसंघ के समक्ष कई बार विवाद का विषय रहा, अन्त में स्वतन्त्र हो गये। इसी प्रकार घाना, मलाया आदि देश भी स्वतन्त्र हुए हैं। इस प्रकार यह एक सफल संस्था है।

किन्तु अभावों की दृष्टि से देखा जाय तो कई ऐसे स्थल हैं जहाँ यह संघ असफल रहा है। ईरान का तेल विवाद, दक्षिणी अफ्रीका संघ तथा कश्मीर मुख्य रूप से गिने जा सकते हैं। तेल विवाद में यह संस्था इंगलैण्ड और अमेरिका के हितों को सुरक्षित बनाये रख सकी, वहाँ की जनता के हितों को नहीं बचा सकी। दक्षिणी अफ्रीका संघ ने भारत और पाकिस्तान के साथ किसी प्रकार का समझौता करने से इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि यह उसका घरेलू प्रश्न है और संयुक्त राष्ट्रसंघ भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता। कश्मीर के प्रश्न पर तो संघ बहुत अधिक असफल रहा। इसी प्रकार हंगरी और चेकोस्लोवाकिया पर साम्यवादी आक्रमण के समय भी यह संगठन कुछ न कर सका। हंगरी पर आक्रमण के समय जब विश्व लोकमत जाँच के लिए उत्सुक

हुआ तो यह प्रस्ताव किया गया कि महामन्त्री श्री हेमरशोल्ड उसी स्थान पर जाकर जाँच करे, किन्तु रूस द्वारा प्रेरित हंगरी ने आवश्यक अनुमति नहीं दी। बाद में महासभा ने प्रिंसवान पैथेको की नियुक्ति एक सदस्यीय आयोग के रूप में की और वहाँ जाकर जाँच करने के पश्चात् प्रतिवेदन प्रस्तुत करने का आदेश दिया गया। इस आयोग ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया कि "यह आयोग सहयोग के अभाव में पूर्ण असफल रहा है।" इसी प्रकार लाल चीन की सदस्यता का मामला था। अमेरिका के षड्यन्त्र के कारण विशाल शक्तिशाली साम्यवादी चीन काफी लम्बे समय तक संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त नहीं कर सका था।

इस प्रकार विश्व में जगह-जगह घाव नजर आ रहे थे जिनकी चिकित्सा करने में संयुक्त राष्ट्रसंघ असफल रहा है। सुरक्षा परिषद् की अपनी कोई सेना नहीं बनायी जा सकी है। निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में भी कोई निर्णय नहीं हो पाया है। परमाणु शक्ति से अणुबम्ब और उद्जन बम्ब तथा कृत्रिम उपग्रहों के बनाने के प्रयास जारी हैं और उनके परीक्षण जारी हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ अणु-शस्त्रों के नियन्त्रण और उनके विनाशकारी परीक्षण रोकने में भी अभी तक कुछ नहीं कर सका है, बल्कि संरक्षण परिषद् के अन्तर्गत प्रशान्त महासागर स्थित मार्शल द्वीपों के निवासियों की प्रार्थना को ठुकरा कर अमेरिका को उन द्वीपों में अणु-शस्त्रों के परीक्षण की छूट दे दी गई है। संघ के चार्टर की ओट में उत्तर अटलांटिक सन्धि, दक्षिणी पूर्व एशिया सन्धि, बगदाद समझौता (अब सेण्टो) आदि क्षेत्रीय सैनिक संगठन बन रहे हैं और इन संगठनों के कारण शान्ति को खतरा उत्पन्न हो गया है। किन्तु शक्ति की शतरंज के खेल में वह मृत राष्ट्रसंघ की भाँति ही एक दर्शक की भाँति तमाशा देख रहा है। कुछ कर भी तो नहीं सकता।

संयुक्त राष्ट्रसंघ केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही काम नहीं करता, अपितु, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में भी गतिशील है। इसलिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की सफलता पर विचार करते समय हमें चित्र के दूसरे पहलू पर भी नजर डालनी चाहिये। दूसरे क्षेत्र में संघ की विशिष्ट समितियों द्वारा किया गया काम सहाहनीय है और इसकी सफलता में किसी प्रकार का सन्देह करना भारी भूल होगी।

दोनों पक्षों का अध्ययन करने पर यह कहा जा सकता है कि अब संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थिति कैसी है। बड़ी शक्तियाँ किसी भी विवाद को सत्यता के आधार पर न देखकर, राजनैतिक दृष्टि से देखती हैं। अपनी राष्ट्रीय भावनाओं के प्रसार के लिए यत्न करती हैं। इसलिए ये बड़ी शक्तियाँ स्वयं ही आदेश-पत्र का उल्लंघन करती हैं और विश्व शान्ति को क्षति पहुँचाती हैं। दलबन्दी विशेष हो गयी है और 'नाटो', 'सीटो', 'बगदाद पैक्ट' द्वारा शान्त-युद्ध को विकसित कर रही हैं। फिर भी, इन सब बुराइयों को दबाते हुए यह संगठन बराबर आगे बढ़ रहा है। प्रत्येक स्थान पर संघर्षों को स्थानीय बना देना, एक बड़ी भारी बात है। यह संगठन अब तक बहुत बड़ी नैतिक सत्ता को प्राप्त कर चुका है जिसके साथ विश्व का ठोस लोकमत है। अतः कोई भी राष्ट्र सरलता से इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। यहाँ तक कि बड़ी शक्तियाँ जो प्रादेशिक सन्धियों और समझौते में सम्मिलित हैं, अपने को सन्धियाँ सम्बन्धी कार्य संघ के विधान के अन्तर्गत मानती हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ समस्त विपरीत परिस्थितियों और बड़ी शक्तियों के स्वार्थी व्यवहार के होते हुए भी सफल हो रहा है और होगा, क्योंकि विश्व का बहुमत वास्तव में शान्ति चाहता है और इस संगठन का आदर्श भी शान्ति-स्थापना है। बड़ी शक्तियाँ

भले ही अपनी दौड़ में लगी हुई हों, परन्तु वास्तव में वे भी युद्ध नहीं चाहती हैं। इसलिये वह शान्ति, जो सभी राष्ट्रों की आकांक्षा है, उसकी पूर्ति इसी संगठन से होगी। यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ ने विवादग्रस्त एवं तनावपूर्ण समस्याओं को सजगता के साथ न निपटाया होता तो सम्भवतः विश्व को अब तक तीसरे भयानक युद्ध में फँस जाना पड़ता।

राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ की तुलना

राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ की तुलना से यह प्रतीत होता है कि दोनों में अनेक समानताएँ तथा अन्तर हैं। प्रोफेसर शूमा ने लिखा है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ पुराने राष्ट्रसंघ का ही परिवर्तित रूप है। किन्तु शूमा महोदय का यह कथन पूर्णतः सत्य नहीं कहा सकता। यह सत्य है कि कुछ अंशों में संयुक्त राष्ट्रसंघ और राष्ट्रसंघ में बहुत ही कम मौलिक अन्तर है, फिर भी संयुक्त राष्ट्रसंघ, पुराने राष्ट्रसंघ की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है। कुछ अंशों में राष्ट्रसंघ की व्यवस्थाएँ अधिक स्पष्ट और सुदृढ़ थीं, किन्तु अधिकांशतः संयुक्त राष्ट्रसंघ की व्यवस्थाएँ राष्ट्रसंघ की व्यवस्थाओं की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट हैं और इसीलिए यह संगठन राष्ट्रसंघ की अपेक्षा श्रेष्ठ संगठन है। दोनों में निम्नलिखित अंशों में समानताएँ पायी जाती हैं—

(1) दोनों का उद्देश्य युद्ध की विभीषिका से मानव जाति को स्वतन्त्र कराना है।

(2) दोनों ही प्रभुसत्तासम्पन्न स्वतन्त्र राज्यों के संघ हैं।

(3) दोनों सभी विवादों के निर्णय के सर्वोत्तम उपाय परस्पर वातचीत द्वारा समझौता करना समझते हैं।

(4) दोनों के विभिन्न अंग लगभग एक से हैं। यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ कई विशेष अंगों से युक्त है तथापि मौलिक रूप से दोनों के मौलिक अंग एक जैसे हैं।

(5) दोनों के क्षेत्राधिकार राज्य पर हैं, किसी को व्यक्ति से कोई मतलब नहीं है।

(6) दोनों का काम सदस्य राज्यों द्वारा दिये जाने वाले अंशदानों पर निर्भर है।

(7) दोनों की सफलता इसकी सत्ता और शक्ति पर नहीं, अपितु सदस्यों के स्वेच्छापूर्वक दिये जाने वाले सहयोग पर निर्भर है।

(8) सभी देशों में स्वास्थ्य सुधार, नशीली दवाइयों तथा स्त्रियों के अनैतिक व्यापार के विरोध के लिए सहयोग प्राप्त करने में दोनों संगठन बहुत साम्य रखते हैं।

इस प्रकार दोनों संगठनों में काफी अंशों में साम्यता दिखाई देती है। किन्तु यदि हम दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो दोनों में अनेक अन्तर भी स्पष्ट दिखाई देते हैं। इन दोनों के मुख्य अन्तर निम्नलिखित हैं—

(1) दोनों का प्रादुर्भाव विभिन्न प्रकार से हुआ। राष्ट्रसंघ की स्थापना युद्ध के बाद हुई थी, जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म युद्ध समाप्त होने से पूर्व हो चुका था।

(2) दोनों के विधान के आकार में भी अन्तर है। राष्ट्रसंघ के विधान में केवल 26 धाराएँ थीं, किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में 111 धाराएँ हैं।

(3) दोनों के संगठन में भी अन्तर है। राष्ट्रसंघ के मुख्य अंग केवल तीन थे—असेम्बली, कौंसिल और सचिवालय। किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रधान अंग छः हैं—महासभा, सुरक्षा परिषद,

आर्थिक और सामाजिक परिषद् , संरक्षण परिषद् , अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और सचिवालय। इससे यह स्पष्ट होता है कि राष्ट्रसंघ का प्रधान कार्य राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित था, किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रधान कार्य केवल राजनीतिक ही नहीं वरन् इनमें आर्थिक, सामाजिक, मानवीय तथा सांस्कृतिक विपयों को भी बहुत महत्त्व दिया गया है। इस कार्य के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ में मानव व्यक्तित्व के विकास तथा व्यक्तियों के मानवीय अधिकारों के संरक्षण पर बहुत महत्त्व दिया गया है। इस कार्य के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत अनेक विशिष्ट समितियाँ हैं, किन्तु राष्ट्रसंघ में इनका अभाव था। संयुक्त राष्ट्रसंघ इस भावना पर आधारित है कि युद्ध पहले मनुष्य के मन में उत्पन्न होता है, अतः शान्ति की आधारशिलाएँ मनुष्यों के मन में स्थापित की जानी चाहिये।

(4) दोनों के उद्देश्यों में भी अन्तर है। राष्ट्रसंघ का प्रतिज्ञा-पत्र इस वाक्य से आरम्भ होता है—"अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देने तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की प्राप्ति के लिये............" किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के प्रारम्भ में कहा गया है, "भावी सन्तति को युद्ध की विभीपिका से मुक्त कराना"। इससे स्पष्ट है कि राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से शान्ति पर बल देता था, जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ विश्व शान्ति पर विशेष जोर देता है।

(5) राष्ट्रसंघ की तथा संयुक्त राष्ट्रसंव की असेम्बलियों में एक प्रधान अन्तर यह है कि राष्ट्रसंघ की असेम्बलियों के निर्णय का पालन सदस्यों के लिये अनिवार्य (Binding) होता था, जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ में ऐसी अनिवार्यता नहीं है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की असेम्बली केवल सिफारिश ही करती है।

(6) संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में मतदान प्रणाली, राष्ट्रसंघ की प्रणाली से अच्छी है। राष्ट्रसंघ की असेम्वली में सभी निर्णयों के लिए उपस्थित तथा वोट देने वाले सदस्यों की सर्वसम्मति आवश्यक थी, किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा के सभी महत्त्वपूर्ण विपयों के निर्णय दो तिहाई बहुमत से किये जाते हैं। राष्ट्रसंघ में 'सर्व सम्मति' का नियम होने के कारण कोई भी एक सदस्य-राष्ट्र उसके कार्य में बाधा उत्पन्न कर सकता था, किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ में ऐसी कोई बाधा उपस्थित नहीं की जा सकती।

(7) संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में महासभा और सुरक्षा परिषद् के कार्यों का राष्ट्रसंघ की असेम्बली और कौंसिल के कार्यों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट विभाजन है। राष्ट्रसंघ में इसका अभाव था जिससे बड़ी अनिश्चितता और सन्देह व्याप्त था और इस कारण राष्ट्रसंघ बड़ी निर्बल संस्था थी।

(8) संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् एक स्थायी संस्था है और हर पखवारे में इसकी बैठक होती है, किन्तु राष्ट्रसंघ की परिषद् के साथ ऐसी बात नहीं थी। उसकी बैठक वर्ष में केवल तीन बार होती थी। यदि आवश्यकता हो तो सुरक्षा परिषद् की बैठक अविलम्ब बुलाई जा सकती है।

(9) शान्ति भंग तथा आक्रमणों को रोकने के सम्बन्ध में 'संयुक्त राष्ट्रसंघ' राष्ट्रसंघ की अपेक्षा निम्नलिखित कारणों से अधिक शक्तिशाली है—

(i) राष्ट्रसंघ आक्रमण होने पर ही उसे रोकने की कार्यवाही कर सकता था, किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ "शान्ति भंग होने की सम्भावना" पर भी कार्यवाही कर सकता है।

(ii) राष्ट्रसंघ में शान्ति भंग करने वाले के विरुद्ध मुख्य रूप से आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये जाते थे, किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् को स्थल, जल और वायु सेना के प्रयोग का भी अधिकार दिया गया है। इस प्रकार की कार्यवाही करने के लिए इसके पास एक सैनिक स्टाफ समिति भी है। किन्तु राष्ट्रसंघ के पास संकट में प्रयुक्त की जा सकने वाली इस प्रकार की सेना नहीं थी।

(iii) शान्ति के लिये एकता के प्रस्ताव ने संयुक्त राष्ट्र की महासभा को भी, सुरक्षा परिषद् में वीटो के कारण गतिरोध होने पर शान्ति स्थापित करने के लिए सैनिक कार्यवाही करने का अधिकार प्रदान किया है। किन्तु राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञा-पत्र में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी।

(10) संयुक्त राष्ट्रसंघ की संरक्षण व्यवस्था, राष्ट्रसंघ की संरक्षण व्यवस्था से भिन्न और श्रेष्ठ है। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ का महासचिव राष्ट्रसंघ के महासचिव से अधिक शक्तिशाली है।

(11) घरेलू अधिकार क्षेत्र के सम्बन्ध में दोनों में मौलिक अन्तर है। राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञा-पत्र और संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर दोनों में यह व्यवस्था थी कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन सदस्य-राज्यों के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी। राष्ट्रसंघ में इस विषय पर निर्णय करने का अधिकार कि कौनसा मामला घरेलू है, सदस्य-राज्यों पर नहीं छोड़ा गया था बल्कि इसका निर्णय कौंसिल करती थी। किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र को इसका निर्णय करने की स्वतन्त्रता है। राष्ट्रसंघ का प्रतिज्ञा-पत्र (Covenent) वर्साय सन्धि तथा अन्य सन्धियों का अनिवार्य भाग था और इसका सबसे बड़ा उद्देश्य इन सन्धियों द्वारा की गई व्यवस्था को बनाये रखना था। किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ का सम्बन्ध पराजित राष्ट्रों पर थोपी गई ऐसी किसी सन्धि से नहीं है। संयुक्त राष्ट्रसंघ केवल मानव मात्र को युद्ध की विभीषिका से मुक्त कराने के दृढ़ संकल्प का मूर्त रूप है।

(12) आत्म रक्षा के अधिकार के सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञा-पत्र में कोई बात स्पष्ट रूप से नहीं की गई थी, केवल धारा 15 (7) में कुछ अस्पष्ट बातें कही गयी थीं। किन्तु चार्टर की धारा 51 में संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा कार्यवाही करने से पूर्व आक्रमण का शिकार बने राज्यों को आत्मरक्षा का अधिकार बड़े स्पष्ट शब्दों में दिया गया है। धारा 52 के द्वारा शान्ति-रक्षा तथा आत्मरक्षा के लिए सदस्य राष्ट्रों को प्रादेशिक संगठन बनाने का भी अधिकार दिया गया है। राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञा-पत्र में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी।

उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ का संगठन, उद्देश्य और कार्य प्रणाली राष्ट्रसंघ से अनेक अंशों में उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठ है। संयुक्त राष्ट्रसंघ आज विश्व-शान्ति का प्रतीक है।

प्रश्न

1. संयुक्त राष्ट्र संघ के जन्म के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों का वर्णन कीजिये।
2. संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिये।
3. संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्य अंगों का वर्णन कीजिये।
4. "संयुक्त राष्ट्र संघ पुराने राष्ट्र संघ का ही परिवर्तित रूप है।" इस कथन की पुष्टि कीजिये।
5. संयुक्त राष्ट्र संघ की उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिये।

अध्याय-22

चीन का उदय
(Rise of China)

चीन पूर्वी एशिया का एक विशाल देश है और उसकी सभ्यता प्राचीनतम एवं सर्वाधिक समृद्ध सभ्यताओं में से एक है। इस विशाल देश पर अनेक राजवंशों ने शासन किया। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में मंचू राजवंश ने चीन पर अधिकार कर लिया, जिसका शासन 1911 की राज्य क्रान्ति तक जारी रहा। मंचू शासनकाल के उत्तरार्द्ध में चीन यद्यपि पूर्णतः आत्मनिर्भर था, परन्तु साम्राज्यवादी शक्तियों ने उसके मान-सम्मान को धूल में मिला दिया। इस स्थिति से पुनः उबरने की कहानी बहुत लम्बी और रोमांचक है। चीन के उदय के घटनाक्रम को चार मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है—(1) साम्राज्यवादी शक्तियों की घुसपैठ, (2) 1911 में चीन की राज्य क्रान्ति, (3) सन-यात-सेन और च्यांग-काई-शेक के नेतृत्व में चीन की प्रगति, और (4) चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना।

(अ) चीन में साम्राज्यवादी शक्तियों की घुसपैठ

1. प्रारम्भिक सम्पर्क—1275 ई. में वेनिस का व्यापारी एवं यात्री मार्कोपोलो चीनी सम्राट कुबलई खाँ के दरबार में जा पहुँचा और लगभग 17 वर्ष तक चीन में रहा। स्वदेश आकर उसने एक पुस्तक लिखी—"द बुक ऑफ मार्कोपोलो"। इस पुस्तक में चीन की समृद्धि तथा धन-वैभव का आकर्षक विवरण दिया गया था। तभी से यूरोपीय लोग चीन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उत्सुक हो उठे।

सर्वप्रथम, 1511 ई. में कुछ पुर्तगाली मलक्का पहुँचे और 1514 ई. में वे मलक्का से चीन पहुँचे। 1517 ई. में एक पुर्तगाली व्यापार-मण्डल कैण्टन आया। लेकिन 1522 ई. में चीनियों ने कैण्टन की पुर्तगाली व्यापारिक चौकी पर आक्रमण कर उसे नष्ट कर दिया। इस संघर्ष के उपरान्त भी 1557 ई. में पुर्तगालियों को मकाओ द्वीप में आने-जाने और व्यापार करने की अनुमति मिल गई। पुर्तगालियों के प्रवेश के बाद 1575 ई. में स्पेनवासी, 1604 ई. में डच और 1637 ई. में अँग्रेजों ने भी इस क्षेत्र में प्रवेश किया और वे कैण्टन में बस गये।

यूरोपीय व्यापारी कैण्टन के आसपास बस तो गये, परन्तु उन लोगों की स्थिति विशेष अच्छी नहीं थी। उन्हें चीन की मुख्य भूमि पर नहीं रहने दिया जाता था और किसी प्रकार की

व्यापारिक सुविधाएँ भी नहीं दी गई थीं। उन्हें चीनी सरकार द्वारा स्थापित तेरह चीनी व्यापारियों के एक संघ (को-होंग) के साथ ही व्यापार करने की अनुमति दी गई थी। अतः यूरोपीय देशों के साथ व्यापार में चीन का पलड़ा भारी रहा। असुविधाओं और अपमान के उपरान्त भी पश्चिम के व्यापारी चीन से चिपके रहे। 1689 ई. में रूस ने भी चीन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाने का प्रयास किया, परन्तु उसे भी इस दिशा में कोई विशेष सफलता न मिली।

2. प्रथम अफीम युद्ध (1840-42 ई.)—चीन में पैर जमाने तथा व्यापार सन्तुलन को अपने पक्ष में करने की दृष्टि से अँग्रेजों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने एक नई योजना तैयार की। उसने चीन के लोगों को भारतीय अफीम का नशा करना सिखलाया और भारत से अफीम का निर्यात किया जाने लगा। 1800 ई. तक चीन में अफीम का आयात चार हजार पेटी (एक पेटी का वजन 133 पौण्ड होता था) हो गया और 1839 ई. तक यह तीस हजार पेटी हो गया। चीनी सरकार मादक अफीम के बुरे परिणामों से चिंतित हो उठी। इसके अलावा अब चीन को प्रतिवर्ष विदेशी व्यापार में दो लाख पौण्ड का घाटा होने लगा और चीन से सोना-चाँदी निकलकर बाहर जाने लगा। ऐसी स्थिति में चीन की सरकार ने अफीम के आयात और बिक्री पर प्रतिबन्ध लगा दिया और इस नियम का उल्लंघन करने वालों को कठोर सजा देने की घोषणा की। इससे इंगलैण्ड को चीन से युद्ध करने का बहाना मिल गया और परिणामस्वरूप प्रथम अफीम युद्ध लड़ा गया। इस युद्ध के अन्य कारण थे—ब्रिटेन की साम्राज्यवादी लालसा, को-होंग के नियन्त्रण से मुक्ति की आकांक्षा, समानता की इच्छा, पश्चिमी कानूनों को मान्यता इत्यादि।

मध्यकालीन अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित चीनी सेना अँग्रेजों की आधुनिक सेना का सामना न कर सकी। चेसर्न, निगपो, अमोय, शंघाई और हाँगकाँग पर अँग्रेजों का अधिकार हो गया और उन्होंने चीन की राजधानी पीकिंग तथा नानकिंग पर भी सीधा आक्रमण कर दिया। ऐसी स्थिति में मंचू शासन ने अँग्रेजों से समझौता करना ही उचित समझा। 29 अगस्त, 1842 ई. को दोनों के मध्य नानकिंग की सन्धि हो गई। इस सन्धि के अनुसार—

(i) चीन ने अपने पाँच बन्दरगाह—कैण्टन, अमोय, फूचाऊ, निगपो और शंघाई अँग्रेज व्यापारियों के निवास एवं व्यापार के लिए खोल दिये।

(ii) हाँगकाँग का क्षेत्र हमेशा के लिए इंगलैण्ड को दे दिया गया।

(iii) चीन ने 2 करोड़ दस लाख डॉलर की क्षतिपूर्ति देना स्वीकार किया।

(iv) को-हांग को भंग कर दिया गया और ब्रिटिश व्यापारियों को अपनी इच्छानुसार किसी भी चीनी से व्यापारिक लेन-देन का अधिकार दिया गया।

(v) चीन ने आयात-निर्यात पर पाँच प्रतिशत की दर से तट-कर लेना स्वीकार कर लिया।

चीन को निर्णायक पराजय का सामना करना पड़ा। यूरोपीय लोगों को यह पता चल गया कि चीन उनके आगे टिक नहीं सकेगा। नानकिंग की सन्धि ने दूसरे यूरोपीय देशों को भी आकृष्ट किया और उन्होंने भी चीन के साथ व्यापारिक सन्धियाँ कर लीं। 1844 ई. में अमेरिका ने भी चीन के साथ सन्धि कर ली। इस सन्धि में क्षेत्रातीत अधिकार की स्पष्ट व्याख्या की गई

जसके अनुसार विदेशी अमेरिकन नागरिकों के अभियोगों की सुनवाई का अधिकार चीनी सरकार को न होकर अमेरिकन सरकार को होगा। यह चीन की सार्वभौम सत्ता पर एक घातक प्रहार था।

3. द्वितीय अफीम युद्ध (1856-58 ई.)—प्रथम अफीम युद्ध में चीन की पराजय से पहले से विद्यमान जन-असन्तोष और भी व्यापक हो गया। चीन में अनेक गुप्त समितियों का गठन हुआ जिनके तत्त्वावधान में अगले सात वर्षों में लगभग 100 विद्रोह हुए, जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ताइपिंग का विद्रोह था। यह विद्रोह चीन में विदेशियों के बढ़ते हुए प्रभाव के विरुद्ध था। विदेशियों की सहायता से इस विद्रोह का दमन किया गया। इससे साम्राज्यवादी देशों को मनमानी सुविधाएँ प्राप्त करने का स्वर्ण अवसर मिल गया और वे 1842 की सन्धि पर पुनर्विचार करने तथा विदेशियों के लिए और अधिक चीनी बन्दरगाहों को खोलने की माँग करने लगे।

1856 ई. में फ्रांस के एक कैथोलिक पादरी ऑगस्टे चैपडीलेन को क्वांग्सी के स्थानीय अधिकारियों ने फाँसी दे दी। इसी समय एरो जहाज की घटना से इंगलैण्ड भी क्रोधित हो उठा। उपर्युक्त दोनों घटनाओं को बहाना बनाकर इंगलैण्ड और फ्रांस ने संयुक्त रूप से चीन के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। चीन पुनः पराजित हुआ और उसे 1858 ई. में तीन्तसिन की सन्धि करनी पड़ी। इस सन्धि के अनुसार—

(i) चीन के 11 नये बन्दरगाहों को विदेशी व्यापार के लिए खोल दिया गया।

(ii) यांग्त्सी नदी को भी विदेशी व्यापार के लिए खोल दिया गया।

(iii) अफीम के व्यापार को वैध करार दिया गया।

(iv) तटकर की नई दरें स्वीकार की गईं।

(v) चीन ने युद्ध का हर्जाना देना स्वीकार किया।

(vi) चीन ने अपनी राजधानी में विदेशी राजदूतों को रखना स्वीकार किया।

(vii) ईसाई धर्म प्रचारकों को चीन के प्रत्येक भाग में धर्म-प्रचार करने का अधिकार दिया गया।

परन्तु कुछ नेताओं के दबाव में आकर चीनी सरकार ने सन्धि का अनुमोदन करने से इन्कार कर दिया। अतः पुनः युद्ध शुरू हो गया और चीन को पुनः पराजित होकर इससे भी अधिक अपमानजनक पीकिंग सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े। यह सन्धि विदेशियों के लिए लाभप्रद रही। इसके द्वारा चीन का दरवाजा पूरी तरह से खुल गया और चीन में उनके पैर मजबूती से जम गये।

4. रूस का प्रवेश—चीन और रूस के बीच एक लम्बी भूमि-सीमा थी। चीन में यूरोपीय देशों की घुसपैठ से रूस ने भी लाभ उठाने का निश्चय किया। 1850 में रूस ने आमूर नदी के मुहाने पर निकोलाइवेस्क नगर की स्थापना की। 1853 ई. में उसने साखालिन द्वीपों पर अधिकार कर लिया और द्वितीय अफीम युद्ध का लाभ उठाकर आमूर नदी के उत्तर के चीनी प्रदेश और उसूरी के पूर्व के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। असहाय एवं निर्बल चीन को इन क्षेत्रों पर रूसी अधिकार को मान्यता देनी पड़ी। इसके अलावा रूस ने वे सभी व्यापारिक एवं राजनयिक सुविधाएँ प्राप्त कर लीं जो अब तक ब्रिटेन और फ्रांस ने प्राप्त की थीं।

5. इंगलैण्ड एवं फ्रांस द्वारा और सुविधाएँ प्राप्त करना—1876 ई. में "मार्गरी" नामक एक अँग्रेज नागरिक को चीनियों ने मार डाला। इंगलैण्ड ने इसका पूरा फायदा उठाया और उसने चीन से बहुत-सी सुविधाएँ प्राप्त कर लीं। 1884 ई. में फ्रांस ने अनाम पर अधिकार कर लिया। इस पर चीन और फ्रांस में युद्ध छिड़ गया। चीन पराजित हुआ और उसे "कोचीन-चीन" पर से अपनी संप्रभुता का दावा त्यागना पड़ा।

6. जापान की घुसपैठ—चीन में यूरोपीय साम्राज्यवाद के प्रसार से जापान भी अपना प्रलोभन न रोक सका। 1874 ई. में जापान ने प्रशान्त महासागर में स्थित चीन के लुचू द्वीप समूह पर अधिकार कर लिया। इसके बाद जापान ने कोरिया में अपना प्रभाव जमाना शुरू किया, जिसके परिणामस्वरूप 1894-95 में चीन-जापान युद्ध लड़ा गया। इस युद्ध में चीन बुरी तरह से पराजित हुआ और उसे शिमोनोशकी की सन्धि करनी पड़ी। इस सन्धि के अनुसार मंचूरिया, फारमोसा तथा कुछ अन्य द्वीपों पर जापान का अधिकार मान लिया गया। जापान के "पीले साम्राज्यवाद" से घबड़ा कर रूस, जर्मनी और फ्रांस ने मिलकर जापान को चेतावनी दी कि वह मंचूरिया का प्रदेश पुनः चीन को लौटा दे। जापान ने स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए उनका सुझाव मान लिया।

7. जर्मनी की घुसपैठ—1897 ई. में दो जर्मन पादरियों की हत्या की आड़ लेकर जर्मनी ने चीन से बलपूर्वक त्सिंग-ताओ बन्दरगाह और कियाऊचाऊ की खाड़ी को छीन लिया और शान्तुंग प्रदेश में रेलमार्ग बनाने तथा खनिज पदार्थों के उपयोग का एकाधिकार भी प्राप्त कर लिया। इस प्रकार 1898 ई. तक साम्राज्यवादी देशों ने चीन के विभिन्न क्षेत्रों को अपने "प्रभाव-क्षेत्रों" में बाँट लिया।

8. बॉक्सर आन्दोलन—चीन में विदेशी साम्राज्य के प्रसार तथा विदेशियों द्वारा चीनी जनता पर किया जाने वाला अत्याचार इतना अधिक बढ़ गया कि चीन के लोग विदेशियों के विरुद्ध उठ खड़े हुए। जापान जैसे छोटे-से देश के हाथों चीन की पराजय ने चीनियों को काफी क्रोधित कर दिया। उन्हें विश्वास हो गया कि साम्राज्यवादी शक्तियाँ चीन की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति को नष्ट करके अपना साम्राज्य स्थापित करने की ताक में हैं। पश्चिमी शक्तियों से अपने देश की रक्षा का पहला प्रयास चीन के नवयुवक सम्राट क्वांगसू ने 1898 ई. में किया। उसने चीन में पश्चिमी ढंग की शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की, पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन पर जोर दिया, रेल मार्गों का निर्माण करवाया तथा शासन-प्रबन्ध के पुनः संगठन पर जोर दिया। 1900 ई. में चीनियों ने एक राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू किया जो "बॉक्सर आन्दोलन" (मुष्टि विद्रोह) के नाम से प्रसिद्ध है। इस आन्दोलन को चीन की साम्राज्ञी का गुप्त समर्थन प्राप्त था। इस आन्दोलन के दौरान पीकिंग के विदेशी दूतावासों को घेर लिया गया, विदेशियों की सम्पत्ति को नष्ट किया गया, ईसाई धर्मप्रचारकों की हत्याएँ की गईं, गिरजाघरों को लूटा गया तथा रेल की पटरियाँ उखाड़ दी गईं। जापान, अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी और इंगलैण्ड की सम्मिलित सेनाओं ने बॉक्सर आन्दोलन को बुरी तरह से कुचल दिया और क्षतिपूर्ति के रूप में चीन से 32 करोड़ डॉलर वसूल करने के अतिरिक्त उससे अनेक प्रकार की राजनीतिक तथा आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त कीं।

9. सुधारों का दौर—बॉक्सर आन्दोलन की असफलता के बाद चीन में सुधारों की आवश्यकता अनुभव की गई। सर्वप्रथम, राजनीतिक सुधारों को हाथ में लिया गया। 1905 ई. में पाँच व्यक्तियों का एक दल विदेशों की संवैधानिक पद्धतियों का अध्ययन करने के लिए बाहर भेजा गया। वापिस लौटकर उसने संविधान बनाने का काम शुरू किया। इसके परामर्शानुसार 1908 ई. में सरकार ने एक नौ-वर्षीय संवैधानिक कार्यक्रम की घोषणा की। इस घोषणा के अनुसार 1909 ई. में आम चुनाव हुए तथा प्रान्तीय विधानसभाओं की बैठक हुई। इन्होंने राष्ट्रीय संसद की जोरदार माँग की। अतः 1910 ई. में पीकिंग में केन्द्रीय विधानसभा का प्रथम अधिवेशन हुआ। इसे कानून बनाने तथा बजट के सम्बन्ध में कुछ अधिकार दिये गये। किन्तु इसके 200 सदस्यों में से आधे सदस्य सम्राट द्वारा मनोनीत होते थे। मई, 1911 ई. में एक मन्त्रिपरिषद् का भी गठन किया गया, किन्तु वे सभी सम्राट के प्रति उत्तरदायी थे। 1911 ई. में ही पश्चिमी तरीके की एक राष्ट्रीय सेना संगठित की गई। 1907 ई. में न्याय विभाग को सामान्य प्रशासन से अलग किया गया और 1911 ई. में एक दण्ड-संहिता भी बनाई गई।

1901 ई. में एक राष्ट्रीय विद्यालय-व्यवस्था का श्रीगणेश करते हुए शिक्षा सम्बन्धी सुधार भी आरम्भ किये गये। 1903 ई. में शिक्षा मन्त्रालय स्थापित किया गया तथा जापानी नमूने की शिक्षा-पद्धति तैयार की गई। शिक्षा के स्तर एवं प्रशासन में एकरूपता पैदा करने के लिए एक केन्द्रीय बोर्ड की व्यवस्था की गई। 1905 ई. तक चीन में 57,000 विद्यालय, 90,000 अध्यापक और 16 लाख से अधिक विद्यार्थी हो गये। इसके अतिरिक्त हजारों चीनी विद्यार्थी यूरोप, जापान और अमेरिका में अध्ययनरत थे।

आर्थिक सुधारों के अन्तर्गत 1911 ई. में रेल लाइनों के राष्ट्रीयकरण की योजना बनाई गई। 1906 ई. में अफीम की पैदावार और उसके सेवन पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये। 1909 ई. में कर-विधान को सुधारने के लिए एक समिति गठित की गई तथा केन्द्रीय एवं प्रान्तीय वित्त व्यवस्था को समन्वित करने का प्रयास किया गया। किन्तु प्रान्तीय अधिकारियों के विरोध के कारण सुधारों की योजना असफल होने लगी।

10. सम्राज्ञी त्जुशी की मृत्यु—15 नवम्बर, 1908 को सम्राज्ञी त्जुशी की मृत्यु हो गयी। वह मंचू राजवंश की एक विलक्षण महिला थी। उसकी योग्यता, कुशलता, शक्ति और साहस के सामने सभी नतमस्तक होते थे। किन्तु कट्टरता, रूढ़िवादिता, अहंकार एवं क्रूरता ने उसकी योग्यता को कुण्ठित कर दिया था। सम्राज्ञी की मृत्यु के एक दिन पहले सम्राट कुआंग शू की भी मृत्यु हो चुकी थी। अतः सम्राज्ञी ने [illegible] के किशोर पौत्र को सम्राट का उत्तराधिकारी चुना तथा उसके पिता को उसका संरक्षक नियुक्त किया। किन्तु दूसरे दिन सम्राज्ञी की मृत्यु होते ही मंचू शासन का बिखरना निश्चित हो गया। नया संरक्षक सुधारों का पक्षपाती था, लेकिन वह शासन का मंचीकरण करना चाहता था। अतः वह चीनियों को विशिष्ट पदों से हटाने लगा, जिससे देश में घोर असन्तोष व्याप्त हो गया। प्रान्तीय सरकारों ने केन्द्र की अवहेलना आरम्भ कर दी। चारों ओर अराजकता और अव्यवस्था फैल गई। ऐसी विघटनकारी परिस्थितियों में 1911 ई. की चीनी क्रान्ति हुई जिसने मंचूशासन का अन्त कर दिया।

(ब) चीन की राज्यक्रान्ति (1911 ई.)

कारण—चीन की राज्य क्रान्ति के मुख्य कारण निम्नलिखित थे—

1. विदेशी शोषण के विरुद्ध प्रतिक्रिया—अफीम युद्धों में चीन की पराजय के बाद साम्राज्यवादी देशों में चीन की लूट-खसोट और उस पर आर्थिक प्रभाव स्थापित करने की होड़ शुरू हो गयी। 19वीं सदी के अन्त तक विदेशियों का शोषण अत्यधिक बढ़ गया। अतः 1900 ई. में चीन में बाक्सर विद्रोह हुआ, जिसे विदेशियों ने कुचल दिया। अब चीनियों ने समझ लिया कि विदेशी शोषण से छुटकारा पाने के लिए एक व्यापक क्रान्ति का सहारा लेना होगा। मंचू सम्राट इतने निर्बल हो गये थे कि उनके लिए शासन संचालित करना कठिन हो रहा था। इन परिस्थितियों में एक निकम्मी सरकार को बदलने के लिए चीन में क्रान्ति होना अनिवार्य हो गया था।

2. सुधारों की असफलता—बाक्सर विद्रोह के बाद सुधारवादियों ने सम्राज्ञी को सुधारों को कार्यान्वित करने के लिए बाध्य कर दिया और शासन तन्त्र को आधुनिक ढँग से ढालने का प्रयास किया। किन्तु सरकार की ओर से सुधार कार्य बहुत ही मन्दगति से कार्यान्वित किये जा रहे थे। 1909 में प्रान्तों में विधान सभाओं की स्थापना हुई और 1910 में सम्पूर्ण चीन के लिए पहली बार राष्ट्रीय महासभा की स्थापना की गई। इस राष्ट्रीय महासभा में उग्रवादियों का बहुमत था, जिन्होंने शासन सुधारों के साथ-साथ चीन में संसदीय व्यवस्था तथा वैध राजसत्ता की माँग की। परन्तु सरकार ने यह माँग ठुकरा दी। ऐसी स्थिति में क्रान्ति का बिगुल बजना अवश्यम्भावी हो गया।

3. नवीन पीढ़ी और नवीन विचार—चीनी युवकों में नये विचार चीन की क्रान्ति का एक आधारभूत कारण था। 1895 ई. में प्राचीन परीक्षा पद्धति को समाप्त कर दिया गया और राजकीय पदों पर नियुक्ति के लिए आधुनिक शिक्षा को महत्त्व दिया जाने लगा। परिणामस्वरूप हजारों चीनी विद्यार्थी अमेरिका, यूरोप और जापान जाने लगे। ये सभी पश्चिमी देशों के नमूने पर सुधारों के पक्षपाती हो गये। इस समय जापान में बहुत से चीनी देशभक्त रहते थे। उन्होंने जापान में क्रान्तिकारी संगठन स्थापित कर लिये थे। चीन से जो विद्यार्थी जापान जाते थे उनका इन क्रान्तिकारी संगठनों से सम्पर्क हो जाता था और जब वे वापिस चीन लौटते तो वे क्रान्तिकारी विचारों से ओत-प्रोत होते थे।

4. आर्थिक अवनति एवं प्राकृतिक प्रकोप—चीनी क्रान्ति का एक प्रमुख कारण चीन की आर्थिक अवनति भी था। चीन की आबादी बड़ी तेजी से बढ़ती जा रही थी। 1885 ई. में चीन की आबादी 37,70,00,000 के आसपास थी जो 1911 में 43 करोड़ हो गई थी। देश में जो खाद्य सामग्री पैदा हो रही थी, वह बढ़ती हुई आबादी के लिए पर्याप्त नहीं थी और सरकार इस सम्बन्ध में कोई प्रबन्ध नहीं कर पा रही थी। इसके अलावा चीन के लोग निरन्तर प्राकृतिक प्रकोपों के शिकार होते जा रहे थे। 1910-11 ई. में चीन की अनेक नदियों में भयंकर बाढ़ आई जिससे फसलें नष्ट हो गईं और लाखों लोग बेघरबार हो गये। सरकार ने इस संकटकाल में भी जनता को राहत पहुँचाने का कोई प्रबन्ध नहीं किया। ऐसी आर्थिक स्थिति में जनता में सरकार-विरोधी भावना का फैलना स्वाभाविक ही था।

5. प्रवासी चीनियों का प्रभाव—देश की आर्थिक दुर्दशा से परेशान हजारों चीनी अपनी आजीविका की खोज में अमेरिका, मलाया, फिलिपाइन्स, हवाई द्वीप आदि में जाकर बसने लगे। प्रवासी चीनी जब विदेश से चीन लौटते थे तो वे अपने साथ नई भावना लेकर आते और अपने लोगों को यह बताते कि किस प्रकार अमेरिका आदि देश उन्नत हैं और वहाँ की साधारण जनता की स्थिति कैसी है। प्रवासी चीनियों की ऐसी बातें सुन-सुनकर चीनियों में भी क्रान्ति की भावना विकसित हुई।

6. यातायात एवं समाचार-पत्रों की भूमिका—छापेखाने के आविष्कार तथा समाचार-पत्रों के प्रकाशन एवं रेलमार्गों के निर्माण ने दूर-दूर के प्रान्तों के चीनियों को निकट सम्पर्क में ला दिया। इससे उन लोगों को विचारों के आदान-प्रदान का अवसर मिला और क्रान्तिकारी विचारों का तेजी से प्रचार किया गया। परिणामस्वरूप चीनी जनता ने सामूहिक रूप से स्वेच्छाचारी शासन को समाप्त करने का निश्चय किया।

7. क्रान्तिकारी प्रवृत्ति का विकास—बीसवीं सदी के प्रथम दशक तक चीन में क्रान्तिकारी दलों का संगठन व्यापक रूप से हुआ। अतः इस काल में चीन में क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का जोर बहुत बढ़ गया। बाक्सर विद्रोह के तुरन्त बाद चीन में पुनः क्रान्तिकारी दल संगठित होने लगे। चीन के इन क्रान्तिकारी संगठनों में डॉ. सन-यात-सेन का "थुंग-मेंग-हुई" अत्यधिक महत्त्वपूर्ण था।

8. तात्कालिक कारण—चीन में रेलवे लाइनों का निर्माण बड़ी तेजी से हो रहा था। पीकिंग सरकार से अनुमति प्राप्त करके अनेक विदेशी कम्पनियाँ इस काम में जुटी हुई थीं। परन्तु चीन के प्रान्तपति स्वयं रेलवे लाइनों का निर्माण करवाना चाहते थे क्योंकि उन्हें विदेशियों का बढ़ता हुआ प्रभाव पसन्द नहीं था। इस प्रकार केन्द्र सरकार और प्रान्तीय सरकारों में मतभेद बढ़ते गये। ऐसी परिस्थितियों में जेचुआन प्रान्त में विद्रोह उठ खड़ा हुआ। सरकार ने दमन नीति का सहारा लेते हुए सितम्बर, 1911 ई. में सभी विरोधी नेताओं को बन्दी बना लिया। जिस समय आन्दोलन जोरों पर था उसी समय 10 अक्टूबर, 1911 को हांको की रूसी बस्ती के एक घर में एक बम फट गया। यह घर क्रान्तिकारियों का अड्डा था। रूसी अधिकारियों ने अनेक विद्रोहियों को पकड़कर चीनी वायसराय के हवाले कर दिया। इसी समय पुलिस ने कुछ सैनिक अधिकारियों को सन्देह में गिरफ्तार कर लिया। इस पर चीनी सेना में जो क्रान्तिकारी थे, उन्होंने वायसराय के कार्यालय को घेर लिया और उसमें आग लगा दी। कर्नल ली युआन हुंग ने क्रान्तिकारियों का नेतृत्व किया। ली युआन हुंग के नेतृत्व में विद्रोही सैनिकों ने वूचांग पर अधिकार कर लिया तथा 12 अक्टूबर को हांको पर अधिकार कर कामचलाऊ सरकार स्थापित कर ली। इस सरकार ने सभी प्रान्तों एवं नगरों के लोगों से मंचू शासन को उखाड़ फेंकने की अपील जारी की। इस प्रकार, चीन में क्रान्ति प्रारम्भ हो चुकी थी।

क्रान्ति की मुख्य घटनाएँ

क्रान्ति की आग शीघ्र ही सम्पूर्ण देश में फैल गई। पूरा आन्दोलन स्वतन्त्र रूप से हुए विद्रोह की श्रृंखला में प्रतीत हो रहा था, एक सुनियोजित क्रान्ति नहीं। इसका प्रमुख कारण यह

था कि क्रान्तिकारियों के गुट केवल स्थानीय स्तर पर बनाये गये थे, राष्ट्रीय स्तर पर नहीं। मूल नेतृत्व वूचांग में केन्द्रित था लेकिन स्थानीय गुटों पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं था। इसी बीच क्रान्ति की ज्वाला शंघाई तक पहुँच गई और वहाँ सैनिक शासन स्थापित कर दिया गया। शंघाई की सैनिक सरकार ने अपने आपको समस्त क्रान्तिकारियों का प्रतिनिधि होने की घोषणा कर दी।

पीकिंग में संवैधानिक सरकार—27 अक्टूबर, 1911 को मंचू सरकार ने युआन-शीह-काई को सभी सेनाओं का सर्वोच्च अधिकारी नियुक्त किया। इसी बीच 22 अक्टूबर को केन्द्रीय विधानसभा की बैठक बुलाई गई थी। केन्द्रीय विधानसभा ने माँग की कि उन सभी पदाधिकारियों को पदच्युत कर दिया जाय जो विदेशियों के समर्थक हैं। मंचू सम्राट को विवश होकर ऐसा करना पड़ा। यह चीन के लोकमत की भारी विजय थी। अब विधानसभा ने माँग की कि देश का शासन वैधानिक ढँग से चलाने के लिए मन्त्रिमण्डल का गठन किया जाय। सम्राट ने इस माँग को भी स्वीकार कर लिया। परन्तु अहम समस्या प्रान्तों के विद्रोह की थी। यह उत्तरदायित्व युआन-शीह-काई को सौंपा गया। 1 नवम्बर, 1911 को उसे प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त कर दिया गया।

नानकिंग की गणतान्त्रिक सरकार—15 नवम्बर, 1911 को शंघाई में प्रान्तों की क्रान्तिकारी सरकारों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें "चीनी गणतन्त्र" की केन्द्रीय सरकार की स्थापना की गई और उसका मुख्यालय वूचांग रखा गया। 30 नवम्बर को सभी प्रतिनिधि हांको में मिले और वहाँ संघीय संविधान की रूपरेखा तैयार की गई। शुरू में युआन-शीह-काई को गणतन्त्र का राष्ट्रपति बनाने का विचार था। 4 दिसम्बर को क्रान्तिकारियों ने नानकिंग पर अधिकार कर लिया जो अस्थायी सरकार की राजधानी बन गया। 24 दिसम्बर को डॉ. सन-यात-सेन अमेरिका से शंघाई पहुँचे। क्रान्तिकारियों ने उनका भव्य स्वागत किया और 29 दिसम्बर, 1911 को क्रान्तिकारियों ने उन्हें अपनी सरकार का अध्यक्ष चुन लिया। 17 प्रान्तों में से 16 प्रान्तों के प्रतिनिधियों ने सन-यात-सेन का समर्थन किया।

गणतन्त्र की स्थापना—इस प्रकार, अब चीन में दो सरकारें कायम हो गईं—एक, नानकिंग की गणतान्त्रिक सरकार और दूसरी, पीकिंग में मंचू सरकार। मंचू सरकार ने नानकिंग की सरकार को कुचलने का निश्चय किया, परन्तु उसके पास शक्ति नहीं थी। दूसरी तरफ डॉ. सन-यात-सेन अब युद्ध को जारी रखना बेकार समझते थे, क्योंकि क्रान्तिकारियों के पास धन, नेतृत्व एवं एकता का अभाव था। अतः दोनों पक्षों में समझौते की बातचीत आरम्भ हुई। क्रान्तिकारियों की माँग थी कि मृतप्राय मंचू राजवंश का अन्त किया जाय और गणतन्त्र की स्थापना की जाय। युआन-शीह-काई ने इसे स्वीकार कर लिया और 12 फरवरी, 1912 को उसने डॉ. सन-यात-सेन के साथ एक समझौता कर लिया। तदनुसार चीन में मंचू राजवंश के शासन का अन्त कर गणतन्त्र की स्थापना कर दी गई। मंचू राजवंश के लिए राजप्रासाद छोड़ दिया गया और सम्राट के लिए वार्षिक पेंशन निश्चित कर दी गई। डॉ. सन-यात-सेन ने राष्ट्रपति पद से त्यागपत्र दे दिया और युआन-शीह-काई को नये गणतन्त्र का राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया।

क्रान्ति का मूल्यांकन—चीन में मंचू राजवंश का अन्त और गणतन्त्र की स्थापना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना थी। 20वीं सदी में चीन एशिया का प्रथम देश था जहाँ गणतान्त्रिक सरकार की

स्थापना हुई थी। इसके अतिरिक्त इस क्रान्ति की कोई अन्य उपलब्धि नहीं थी। इस क्रान्ति के फलस्वरूप जनता की आर्थिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया। युआन-शीह-काई के नेतृत्व में चीन में प्रतिक्रियावादी शासन का ही बोलबाला रहा। इस दृष्टि से 1911 की क्रान्ति को एक असफल क्रान्ति ही कहा जा सकता है।

क्रान्ति की असफलता के कारण

1. युआन-शीह-काई का प्रतिक्रियावाद—मंचू सरकार ने क्रान्ति का दमन कर देश में शान्ति स्थापित करने के लिए शासन-सूत्र युआन-शीह-काई को सौंप दिया था। दूसरी तरफ, देश की एकता के खातिर सन-यात-सेन तथा अन्य क्रान्तिकारियों ने युआन से समझौता कर उसे चीनी गणतन्त्र का राष्ट्रपति स्वीकार कर लिया था। किन्तु युआन-शीह-काई घोर प्रतिक्रियावादी था और उसे क्रान्ति तथा गणतन्त्र के प्रति किसी प्रकार की सहानुभूति नहीं थी। अतः इस क्रान्ति का कोई विशेष परिणाम नहीं निकला। सरकार के स्वरूप में परिवर्तन होने के उपरान्त भी उसके क्रिया-कलापों में कोई परिवर्तन नहीं आया।

2. राष्ट्रीय भावना का अभाव—विशाल चीन में अनेक प्रान्त थे। मंचू शासनकाल में विभिन्न प्रान्तों के सामन्त लगभग स्वतन्त्र शासकों की भाँति शासन करते थे। उनकी शासन व्यवस्था भी अलग-अलग थी और लोग चीन को एक राष्ट्र के रूप में नहीं देखते थे। क्रान्ति के बाद भी चीन एक राष्ट्र के रूप में संगठित नहीं हो सका। राष्ट्रीय भावना के अभाव में क्रान्ति का असफल होना स्वाभाविक ही था।

3. जनता में जागृति का अभाव—क्रान्ति की सफलता के लिए जागरूक जनता का होना आवश्यक होता है। परन्तु चीन की अधिकांश जनता अशिक्षित थी और वह क्रान्ति अथवा गणराज्य के महत्त्व को समझ नहीं पाई। लोकतन्त्रीय शासन के प्रति लोगों में उत्साह की कमी ने क्रान्ति को विफल बना दिया। यही कारण है कि दिसम्बर, 1915 ई. में युआन-शीह-काई चीन में पुनः राजतन्त्र स्थापित करने और स्वयं चीन के सिंहासन पर बैठने की तैयारी करने लगा और जनता शान्तिपूर्वक समारोह की प्रतीक्षा करने लगी।

4. जनता की आर्थिक दुर्दशा—गणतान्त्रिक सरकार यदि जनता की आर्थिक स्थिति को सुधारने की दिशा में थोड़ा-बहुत प्रयास भी करती तो सम्भव है कि जनता क्रान्ति का महत्त्व समझ जाती और क्रान्ति का समर्थन भी करती। क्रान्ति के बाद भी जनता की आर्थिक परेशानियाँ पूर्ववत् बनी रहीं। अतः लोगों के लिए मंचू शासन और गणतान्त्रिक शासन में कोई भेद नहीं रह गया था।

(स) डॉ. सन-यात-सेन का योगदान

1. डॉ. सन-यात-सेन का परिचय—आधुनिक चीन के उदय में डॉ. सन-यात-सेन का योगदान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उसका जन्म 12 नवम्बर, 1866 ई. में एक निर्धन परिवार में हुआ था। 12 वर्ष की आयु में वह हवाई द्वीप गया और एक ईसाई स्कूल में भर्ती हो गया। 1882 ई. तक उसने वहाँ पश्चिमी विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण की। तत्पश्चात् उसने हाँगकाँग

और कैण्टन में अपनी शिक्षा जारी रखी। मई,1884 ई. में उसने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। 1887 ई. में वह हाँगकाँग में मेडिकल कॉलेज में भर्ती हुआ और उस विषय में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। फिर भी,उसे कहीं नौकरी नहीं मिली। अतः वह हवाई द्वीप चला गया और वहाँ प्रवासी चीनियों को "शिंग-चुंग-हुई" (चीनी पुनर्जागरण सभा) में संगठित किया तथा चीनी क्रान्ति के लिए धन एकत्र करना शुरू किया। 1894 ई. में वह हाँगकाँग आ गया और यहाँ पर उसने शिंग-चुंग-हुई का मुख्य कार्यालय स्थापित किया। यहाँ रहते हुए उसने एक क्रान्तिकारी सेना के संगठन का काम भी शुरू कर दिया तथा कैण्टन पर अधिकार करने की एक योजना बनाई। परन्तु समय से पहले ही सरकार को भनक मिल गई। डॉ. सेन वहाँ से भाग निकला और जापान पहुँच गया। इसके बाद उसने अमेरिका और कई यूरोपीय देशों का भ्रमण किया तथा कार्ल मार्क्स के "दास केपिटल" का गम्भीरता से अध्ययन किया। तब से डॉ. सेन के विचारों में समाजवादी पुट आ गया।

1899 ई. में डॉ. सन-यात-सेन जापान के योको-हामा नगर में बस गये। बाक्सर विद्रोह के बाद उसकी लोकप्रियता बढ़ने लगी और अधिकाधिक लोग उसकी तरफ आकर्षित होने लगे। उसके इशारे पर चीन में कई जगह विद्रोह हुए। चूँकि ये विद्रोह संगठित नहीं थे, अतः सरकारी सेना ने उन्हें तुरन्त दबा दिया।

चीन के नवयुवक छात्रों पर डॉ. सन-यात-सेन का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। 1901 ई. में टोकियो में रहने वाले चीनी छात्रों ने अपना एक संगठन बनाया तथा प्रान्तीय अधिकारियों को केन्द्रीय शासन से अलग होने की प्रेरणा दी। डॉ. सेन ने इन छात्रों का पूरा समर्थन किया और उनके साथ गहरे सम्बन्ध स्थापित कर लिये। सितम्बर, 1905 में सन-यात-सेन ने विद्यार्थियों के साथ मिलकर "थुंग-मेंग-हुई" नामक दल की स्थापना की। इस दल का मुख्य उद्देश्य चीन में मंचू शासन को समाप्त करना, पाश्चात्य देशों के शोषण से चीन को मुक्त कराना तथा देश की भूमि का राष्ट्रीयकरण करना था। थुंग-मेंग-हुई दल ने "मिनपाओ" नामक एक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। 1906-10 की अवधि में इस दल की जड़ें सम्पूर्ण चीन में जम गईं। ऐसा कोई प्रान्त न था, जहाँ इस दल की शाखाएँ न हों। यहाँ तक कि विदेशों में भी इस दल की शाखाएँ स्थापित हो चुकी थीं।

1907 ई. में क्वांग तुंग और क्वांगसी में चार असफल विद्रोह हुए। सन-यात-सेन को जापान छोड़कर हनोई जाना पड़ा। वहाँ से उसने फ्रांसीसियों की मदद से कैण्टन पर अधिकार करने का प्रयास किया, लेकिन इसमें उसे सफलता नहीं मिली। मंचू शासन के दबाव के कारण फ्रांसीसियों ने उसे हनोई छोड़ने को विवश कर दिया। तत्पश्चात् वह सिंगापुर पहुँचा और वहाँ से यूरोप चला गया। अक्टूबर, 1911 ई. में जब चीन में क्रान्ति का विस्फोट हुआ, उस समय डॉ. सेन अमेरिका में था। दिसम्बर में वह कैण्टन पहुँचा तथा क्रान्तिकारियों ने उसे नई क्रान्तिकारी सरकार का अध्यक्ष चुन लिया। अब थुंग-मेंग-हुई ने खुले रूप से काम करना शुरू कर दिया। इसी दल के प्रस्ताव पर डॉ. सेन ने नानकिंग में गणतन्त्रीय सरकार का गठन किया था, किन्तु युआन-शीह-काई से समझौता हो जाने पर इस सरकार को भंग कर दिया गया।

किन्तु जब युआन ने मंचू राजाओं की तरह अपना निरंकुश शासन स्थापित करने का प्रयास किया तब क्रान्तिकारी दलों के साथ संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया। नई परिस्थितियों से मुकाबला करने के लिये अगस्त, 1912 ई. में डॉ. सेन और उसके साथियों ने थुंग-मेंग-हुई को अन्य गणतन्त्रीय दलों से मिलाकर एक नये राष्ट्रवादी दल कुओमिनतांग की स्थापना की। 1913 ई. के चुनावों में इस दल को भारी सफलता मिली। युआन-शीह-काई इस दल को अपना प्रबल विरोधी मानने लगा और उसने इस दल पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये। 1913 ई. में चीन के नये संविधान के अनुसार युआन-शीह-काई चीन का अधिनायक बन गया तथा नवम्बर, 1913 ई. में उसने कुओमिनतांग को गैर-कानूनी घोषित कर दिया। इसके अनेक सदस्यों को बन्दी बना लिया गया और जो किसी तरह बच गये, वे विदेशों में भाग खड़े हुए। इस प्रकार कुछ समय के लिए कुओमिनतांग दल समाप्त हो गया। किन्तु चीन में युआन का निरंकुश शासन अधिक दिनों तक कायम नहीं रह सका। 1916 ई. में युआन की मृत्यु हो गयी।

युआन की मृत्यु के बाद चीन में पुनः अराजकता फैल गई। प्रान्तों पर केन्द्रीय सरकार का प्रभाव समाप्त हो जाने से प्रान्तपति अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र शासकों की भाँति कार्य करने लगे। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए डॉ. सेन ने दक्षिण चीन में पुनः अपनी शक्ति की स्थापना कर, कैण्टन को अपनी राजधानी बनाकर पुनः कुओमिनतांग दल की सरकार का गठन किया। इस प्रकार चीन में पुनः दो सरकारें स्थापित हो गयीं, कैण्टन में डॉ. सेन की सरकार और पीकिंग में तुआन-शी-जुई का शासन।

सन-यात-सेन और सोवियत संघ—डॉ. सन-यात-सेन कैण्टन को केन्द्र बनाकर चीन का राष्ट्रीय एकीकरण करना चाहता था तथा अपने कुओमिनतांग दल के माध्यम से देश का आर्थिक पुनर्निर्माण करना चाहता था। किन्तु यह कार्य कुछ मित्र राज्यों की सहायता से ही सम्भव था। अतः उसने अमेरिका, ब्रिटेन आदि देशों से सहायता की अपील की, किन्तु किसी भी साम्राज्यवादी देश ने डॉ. सेन की सरकार के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित नहीं की।

1917 ई. में रूस में बोल्शेविक क्रान्ति हुई तथा वहाँ पर साम्यवादियों की नई सरकार बनी। जुलाई, 1919 ई. में 'चीनी जनता के नाम एक घोषणा-पत्र' में रूस की साम्यवादी सरकार ने चीन को वे सारे इलाके वापिस लौटाने का आश्वासन दिया, जिन्हें रूस की पूर्व जार-सरकार ने उससे छीन लिया था और चीनी-पूर्वी रेलवे का प्रबन्ध उसे लौटाने, बॉक्सर विद्रोह के बाद उस पर लगाये गये हर्जाने को छोड़ने, वहाँ रहने वाले रूसियों को वहाँ के कानूनों से बाहर समझने तथा ऐसे सभी अधिकार जो दो राष्ट्रों की समानता के प्रतिकूल हों, छोड़ने का वचन दिया। रूस की साम्यवादी सरकार ने यह भी आश्वासन दिया कि चीन को औपनिवेशिक शोषण से मुक्ति दिलाने में उसकी हरसम्भव सहायता करेगी। रूसी सरकार का यह आश्वासन चीनी जनता का मनोबल उठाने में बड़ा ही प्रभावकारी सिद्ध हुआ। चीन के बहुत से लोग समझने लगे कि बोल्शेविक क्रान्ति साम्राज्यशाही के विरुद्ध एक प्रबल आघात है तथा इसकी साम्यवादी विचारधारा में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति निहित है। अतः चीन के कुछ प्रगतिशील विचारकों ने 1919 ई. से कुंग-चान-तांग नामक एक साम्यवादी पार्टी की स्थापना कर ली।

अगस्त, 1921 ई. में चीन की इस साम्यवादी पार्टी का एक अधिवेशन हुआ तथा इसमें भाग लेने के लिए कोमिण्टर्न का प्रतिनिधि मेरिंग चीन पहुँचा। मेरिंग ने सन-यात-सेन से भेंट की तथा रूसी सहायता का आश्वासन दिया। यद्यपि दोनों नेताओं की लम्बी बातचीत के बाद कोई समझौता तो नहीं हो सका, किन्तु डॉ. सेन ने यह अनुभव किया कि उसके विचारों में और रूसी साम्यवाद में काफी समानता है। वस्तुतः रूसी साम्यवाद का उस पर गहरा प्रभाव पड़ चुका था। इसलिए जब 1922 ई. में पूर्वी एशिया की पराधीन जातियों का एक सम्मेलन मास्को में आयोजित हुआ, तब कुओमिनतांग का प्रतिनिधि भी इसमें शामिल हुआ। 16 नवम्बर, 1923 को डॉ. सेन ने एक जापानी राजनीतिज्ञ को लिखा कि सोवियत संघ विश्व की दलित-शोषित-जनता का एकमात्र मददगार है। 1 दिसम्बर, 1923 को कुओमिनतांग के अधिवेशन में उसने सोवियत सरकार की प्रशंसा करते हुए बोल्शेविक क्रान्ति को मानव जाति की महान् आशा बताया। 28 नवम्बर, 1924 को कोबे में, अपने भाषण में उसने यह बात जोर देकर कही कि विश्व के सभी अविकसित देशों के दलित लोगों को सोवियत संघ के उदाहरण पर चलने की आवश्यकता है।

रूस के प्रभाव और परामर्श के कारण उन दिनों कुओमिनतांग और कुंग-चान-तांग के बीच काफी तालमेल रहा। सोवियत संघ के नेताओं के दिल में चीन के प्रति असीम सहानुभूति थी। उनका विचार था कि चीन जैसे अर्द्ध-औपनिवेशिक देश में क्रान्ति का प्रथम लक्ष्य सामन्तवाद और साम्राज्यवाद का अन्त होना चाहिए, सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना नहीं। सामन्तवाद और साम्राज्यवाद का अन्त बुर्जुआ-लोकतन्त्रीय क्रान्ति द्वारा किया जा सकता है। डॉ. सेन और कुओमिनतांग का लक्ष्य भी यही था। जनवरी, 1923 ई. में सोवियत प्रतिनिधि जोफ्रे ने सन-यात-सेन से भेंट की तथा दोनों की बातचीत के बाद वे इस बात पर सहमत हो गये कि सोवियत-पद्धति अभी चीन के लिए उपयुक्त नहीं है। उनकी मान्यता थी कि चीन की प्रमुख तात्कालिक समस्या राष्ट्रीय एकता और पूर्ण स्वतन्त्रता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जोफ्रे ने सोवियत संघ की ओर से चीन को सहायता देने का आश्वासन दिया। जोफ्रे ने सन-यात-सेन को यह समझाया कि चीन में किसी कार्य को पूरा करने के लिए एक सशक्त राजनीतिक दल का संगठन आवश्यक है, क्योंकि कोई भी क्रान्तिकारी कार्य राजनीतिक दल के द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

कुओमिनतांग का पुनर्गठन—इस समय कुओमिनतांग में अनेक कमजोरियाँ थीं। इसके संगठन का आधार सन-यात-सेन के प्रति इसके सदस्यों की व्यक्तिगत वफादारी थी। 1913 ई. के विद्रोह की असफलता के बाद यह दल पुनः गुप्त क्रान्तिकारी दल के रूप में कार्य करने लगा था। तब से इसके प्रत्येक सदस्य को डॉ. सेन के प्रति व्यक्तिगत रूप से निष्ठा रखने की शपथ लेनी पड़ती थी। इस कारण, दल की सदस्य संख्या अत्यन्त सीमित रह गई। क्रान्तिकारियों में केवल डॉ. सेन के व्यक्तित्व के कारण एकता थी। इससे दल की निर्बलता के लक्षण प्रकट होने लगे थे। अतः 1920 ई. में दल के नियमों में कुछ सुधार किया गया। शपथ लेने की प्रथा समाप्त कर दी गई तथा पूर्व के कुछ अन्य प्रतिबन्ध भी हटा दिए गए। इससे दल की सदस्य संख्या में तो वृद्धि हुई, लेकिन दल में स्फूर्ति नहीं आ सकी। क्योंकि आपसी सहयोग के आधार पर कार्यक्रम

तैयार करने के लिए दल की वैठकें करने की व्यवस्था नहीं थी। इसके अतिरिक्त दल के नेतृत्व तथा राजनीतिक और सैनिक सत्ता के वीच कोई सीधा सम्वन्ध भी नहीं था।

रूसी प्रतिनिधि जोफ़े और सन-यात-सेन की भेंट के एक महीने बाद डॉ. सेन ने कैण्टन में अपनी सैनिक सरकार स्थापित कर ली। सोवियत संघ ने सन-यात-सेन को सहायता देने के लिए सितम्वर,1923 ई. में अनेक विशेषज्ञ चीन भेजे। इनमें माइकेल वोरोदिन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। वोरोदिन ने आते ही नये सिरे से कुओमिनतांग दल का संगठन करना प्रारम्भ कर दिया। उसका विचार था कि अनुशासित व्यक्तियों को, एक संयुक्त कार्यक्रम के सूत्र में आवद्ध करके एक सुसंगठित दल वनाया जाय। इसके लिए सोवियत साम्यवादी दल को आदर्श वनाया गया। दल के पुराने सदस्यों की एक वार फिर नये सिरे से भर्ती की गई। इस प्रक्रिया से अनेक ऐसे लोग दल की सदस्यता से वंचित हो गए जो अब भी 1911 ई. की विचारधारा में विश्वास करते थे या दल की नई विचारधारा में रूसी सुझाव को पसन्द नहीं करते थे। दल की सदस्य संख्या वढ़ाने के लिए चीन के साम्यवादी दल के सदस्यों को व्यक्तिगत रूप से कुओमिनतांग का सदस्य वनने की अनुमति मिल गई। अक्टूवर,1923 ई. में कुओमिनतांग की एक अस्थायी कार्यकारिणी समिति वनाई गई, जिसे जनवरी 1924 ई. में दल का सम्मेलन वुलाने तथा सोवियत साम्यवादी दल के नमूने पर इसका संविधान वनाने का काम सौंपा गया। निश्चित समय पर कुओमिनतांग का पहला सम्मेलन हुआ। सम्मेलन में सोवियत संघ और चीनी साम्यवादी दल से मेल करने की वात मान ली गई तथा दल का संविधान भी स्वीकार कर लिया गया। नीति निर्धारण का अन्तिम अधिकार द्विवर्षीय राष्ट्रीय सम्मेलन को दिया गया और इसके वीच में काम करने के लिए सम्मेलन द्वारा 24 सदस्यों की एक समिति चुने जाने की व्यवस्था की गई। इस समिति का कार्य अगले सम्मेलन में प्रतिनिधियों की संख्या और उनके चुनाव का तरीका तय करना था। लेकिन दूसरा सम्मेलन शुरू होते ही यह समिति अपने आप समाप्त हो जाती थी और सम्मेलन दूसरी समिति चुनता था। केन्द्रीय समिति ने अपने सदस्यों में से एक छोटी उपसमिति वनायी जिसकी वैठक प्रति सप्ताह होती थी। सन-यात-सेन को जीवन भर के लिए दल का अध्यक्ष वनाया गया और उसे सम्मेलन, केन्द्रीय समिति, उप समिति आदि के सभी अंगों के निर्णयों को रद्द करने का अधिकार दिया गया। यह व्यवस्था की गई कि दल के सभी सदस्य अध्यक्ष का निर्देशन मानेंगे और दल के काम को आगे वढ़ायेंगे।

वोरोदिन ने सेना के पुनर्गठन पर भी ध्यान दिया। कैण्टन के निकट होनपाओ में सोवियत विशेषज्ञों की देख-रेख में एक आधुनिक सैनिक विद्यालय की स्थापना की गई। इसके अध्यक्ष पद पर सन-यात-सेन के पुराने सहकर्मी च्यांग-काई-शेक की नियुक्ति की गई। इस विद्यालय से प्रतिवर्ष सुयोग्य सैनिक अफसर निकलने लगे और कुओमिनतांग की सेना सुसंगठित होती रही। कई प्रान्तीय सेनाएँ भी इसके साथ मिल गईं और 1925 ई. तक कुओमिनतांग सेना की संख्या लाखों में पहुँच गई।

सन-यात-सेन के तीन सिद्धान्त—जिस समय कुओमिनतांग दल और सेना के पुनर्गठन का काम चल रहा था, उसी समय सन-यात-सेन ने उसे एक राजनीतिक दर्शन और कार्यक्रम प्रदान

करने का भी काम किया। इसे सान मिन चू (राष्ट्रीयता, लोकतन्त्र और सामाजिक न्याय) कहते हैं जिसको 1924 ई. के राष्ट्रीय सम्मेलन में दल के घोषणा-पत्र में स्थान दिया गया। सान मिन चू की विचारधारा डॉ. सेन के कई लेखों में विकसित हुई थी। 1905 ई. में ब्रुसेल्स के विद्यार्थियों की एक सभा में भाषण देते हुए डॉ. सेन ने सर्वप्रथम इसका उल्लेख किया था। लेकिन 1924 ई. में कैण्टन में आकर उसने इस कार्यक्रम को ठोस क्रान्तिकारी स्वरूप प्रदान किया। सान मिन चू कुओमिनतांग दल के उद्देश्यों के मुख्य आधार बन गये। 1924 ई. में डॉ. सेन ने अपने दल के सदस्यों के सामने इन सिद्धान्तों का विस्तृत रूप पेश किया।

(1) **राष्ट्रीयता**—डॉ. सेन का कहना था कि चीन की दशा सुधारने के लिए यह आवश्यक है कि लोगों में राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का समुचित विकास हो। राष्ट्रीयता के आधार पर ही चीन उन्नति कर सकता है। चीन पर विदेशियों का प्रभुत्व छाया हुआ था जिसके कारण चीन का राष्ट्रीय विकास अवरुद्ध हो गया था। विदेशी साम्राज्यवाद के रहते चीनी राष्ट्रीयता का विकास असम्भव है। विदेशी राज्य चीन को ऐसी स्थिति में लाते जा रहे थे कि उसकी स्थिति औपनिवेशिक राज्य की तरह होती जा रही थी। ऐसी स्थिति में विदेशी साम्राज्यवाद से देश की रक्षा करने का प्रश्न सर्वोपरि था। किन्तु चीन को विदेशी साम्राज्यवाद का शिकार बनने से तभी बचाया जा सकता है जबकि चीन के लोग अपने देश से प्रेम करना सीखें और उनमें देशभक्ति की भावना जागृत हो। साम्राज्यवाद का विरोध-मात्र राष्ट्रीयता का पूर्ण सिद्धान्त नहीं था, बल्कि चीनी जनता की अपने प्रति भावना और उसके सोचने के ढँग को बदलना था। इसका तात्पर्य यह था कि चीनी जनता छोटे-छोटे गुटों के आधार पर नहीं बल्कि पूरे राज्य के आधार पर सोचे। प्रजातीय समानता के सिद्धान्त को देश के भीतर और बाहर दोनों जगह लागू करना था। राष्ट्रीयता का उद्देश्य चीन के 'रेत की तरह बिखरे हुए कणों को एक सुदृढ़ शिला का रूप देना था।'

(2) **लोकतन्त्र**—चीन के विकास के लिए लोकतन्त्रीय व्यवस्था को डॉ. सेन परम आवश्यक मानते थे। उनका कहना था कि लोकतन्त्र का वाहन समानता के सिद्धान्त पर आधारित गणराज्य है, जो लोगों द्वारा निर्वाचित विधानसभा और अध्यक्ष द्वारा संचालित हो। इसकी स्थापना तीन चरणों में हो सकती है—सैनिक शासन, संक्रान्तिकालीन राज्य और संवैधानिक सरकार। प्रथम चरण की अवधि तीन वर्ष की होगी। इसमें एकतन्त्रीय राज्य का उन्मूलन, भ्रष्टाचार, कठोर दण्ड-विधान और भारी करों का निवारण तथा चोटी रखने, स्त्रियों के पैर बाँधने, अफीम और चण्डू पीने, दास रखने और देवी-देवताओं में अन्धविश्वास करने की प्रथाओं का निराकरण होगा। इसमें समस्त शासन सेना के हाथ में होगा, किन्तु इसकी अन्तिम अवधि में जिला स्तर पर स्वायत्तता सम्भव हो सकेगी। दूसरे चरण में कामचलाऊ संविधान या राजनीतिक संरक्षकता रहेगी। इसकी अवधि छः वर्ष की होगी। इसमें जिला स्तर पर स्वायत्त शासन होगा। स्थानीय सभाएँ और प्रशासनिक कर्मचारी जनता द्वारा निर्वाचित होंगे। जिले का प्रशासन और केन्द्रीय सैनिक प्रशासन के पारस्परिक सम्बन्ध एक आचार-संहिता द्वारा निर्धारित होंगे। तत्पश्चात् तीसरे चरण में संवैधानिक सरकार काम करने लगेगी। जनता द्वारा निर्वाचित राष्ट्रीय सभा एक संविधान तैयार करेगी। इस संविधान के अनुसार राज्य का गठन होगा और सैनिक शासन समाप्त हो जायेगा।

सन-यात-सेन जनमत को सर्वोपरि स्थान देते हुए चाहते थे कि जनता शासन के कार्यों में अधिकाधिक हिस्सा ले। किन्तु उनका यह भी कहना था कि चीन की विशेष परिस्थितियों को देखते हुए यहाँ की सरकार भी काफी शक्तिशाली होनी चाहिए। सरकार पर जनता का नियन्त्रण अवश्य रहना चाहिए, किन्तु सरकार को इतनी शक्ति तो अवश्य ही मिलनी चाहिए कि वह देश में शान्ति और व्यवस्था बनाये रख सके। डॉ. सेन की मान्यता थी कि केन्द्रीय प्रशासन को लोकतन्त्रीय बनाने से पूर्व प्रान्तीय प्रशासन का लोकतन्त्रीकरण होना चाहिए ताकि केन्द्र में इस प्रकार की व्यवस्था स्थापित करने में आसानी हो सके।

(3) सामाजिक न्याय—सन-यात-सेन के अनुसार लोकतन्त्र की स्थापना के बाद सामाजिक न्याय का सिद्धान्त कार्यान्वित किया जायेगा। इसके लिए देश का आर्थिक विकास करना आवश्यक था। डॉ. सेन के कार्यक्रम के अनुसार सामाजिक विकास द्वारा भूमि में लगी पूँजी, सरकार से लेकर भूमि का बराबर-बराबर बँटवारा करना था। यद्यपि डॉ. सेन के इस विचार में समाजवाद का आभास होता है, तथापि यह मार्क्सवाद से काफी दूर था। मोटे तौर पर डॉ. सेन का कार्यक्रम सामाजिक व्याख्या पर आधारित था। डॉ. सेन ने मार्क्स के भौतिकवादी सिद्धान्त की कटु आलोचना की थी और यह निष्कर्ष निकाला कि वर्ग-संघर्ष और भौतिकवाद दोनों ही चीन की परिस्थितियों में लागू नहीं हो सकते। उनका कहना था कि चीन की समस्या उत्पादन की है, वितरण की नहीं। चीन की जनता निर्धनता से पीड़ित है, धन के असमान वितरण का प्रश्न बाद में आता है। इसलिए डॉ. सेन ने विदेशी पूँजीपतियों के जाल को काटने का प्रयास किया तथा साम्राज्यवाद का जबरदस्त विरोध किया। इस प्रकार डॉ. सेन ने अपने भाषणों में जीविका के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप से लागू करने के लिये जो सुझाव दिये उनसे वह एक उग्र बुर्जुआ-समाज-सुधारक के रूप में प्रकट होते हैं, साम्यवादी के रूप में नहीं। इसीलिए डॉ. सेन की विचारधारा को साम्यवादी विचारधारा कहना भूल होगी, हालाँकि उन पर साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव अवश्य था।

सन-यात-सेन का मूल्यांकन—डॉ. सन-यात-सेन को आधुनिक चीन का निर्माता माना जाता है। उसकी गणना विश्व के महानतम व्यक्तियों में की जाती है। उसमें संगठन की अपूर्व क्षमता थी। उसने एक निद्रा-ग्रस्त राष्ट्र को जागृत करने और उसमें राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना भरने का अथक प्रयास किया। वह एक ऐसा महापुरुष था जिसने अपना सारा जीवन ही देश की सेवा में समर्पित कर दिया। उसने अपने जीवन के उषाकाल में चीन की मुक्ति का स्वप्न देखा था और उसके लिए उसने जीवनपर्यन्त संघर्ष किया। देश-सेवा के मार्ग पर चलते हुए उसे निर्वासित जीवन व्यतीत करना पड़ा, शारीरिक यंत्रणाएँ भोगनी पड़ीं और व्यक्तिगत नुकसान भी उठाने पड़े, फिर भी वह अपने मार्ग से कभी विचलित नहीं हुआ। चीन की एकता के लिए उसने अपूर्व बलिदान किया। देशभक्ति तथा निस्वार्थ भावना इतनी अधिक थी कि स्वयं कैण्टन सरकार का अध्यक्ष होते हुए, देश की एकता तथा गणतन्त्र की सफलता के लिए उसने अपनी पृथक् सरकार को भंग करके युआन-शीह-काई जैसे प्रतिक्रियावादी को राष्ट्रपति स्वीकार कर लिया। यह उसकी निस्वार्थ देशभक्ति का अनुपम उदाहरण है। लेकिन जब युआन-शीह-काई ने गणराज्य को समाप्त करने का प्रयास किया तो वह पुनः उसका मुकाबला करने के लिये आ डटा।

यद्यपि कैण्टन में नया पुनर्गठित कुओमिनतांग और सैनिक शासन पूर्णतः शक्तिसम्पन्न था, फिर भी चीन के एकीकरण के लिए वह पीकिंग के साथ समझौता करने के लिए प्रयत्नशील रहा। 1924 ई. के उत्तरार्द्ध में पीकिंग में सैनिक सरदार को राष्ट्रपति पद से हटा दिया गया और उसके स्थान पर त्वान ची जुई अस्थाई रूप से कार्य करने लगा। त्वान ची जुई ने कुओमिनतांग की शक्ति को पहचानते हुए सन-यात-सेन को बातचीत के लिए पीकिंग बुलाया ताकि चीन के राजनीतिक एकीकरण की योजना बनायी जा सके। कैण्टन में शक्तिसम्पन्न होते हुए भी चीन के एकीकरण के लिए वह पीकिंग के त्वान ची जुई से बातचीत करने गया, हालाँकि कुओमिनतांग के उग्रवादी और साम्यवादी सदस्यों ने पीकिंग से समझौते की बातचीत का विरोध किया था। डॉ. सन-यात-सेन और पिकिंग सरकार के प्रतिनिधियों में बातचीत भी हुई, किन्तु इसी दौरान वह बीमार हो गया और 12 मार्च, 1925 को उसकी मृत्यु हो गयी। मरते समय उसने अपने अनुयायियों के लिए क्रान्ति को जारी रखने का सन्देश छोड़ा। इस प्रकार सन-यात-सेन ने मरते दम तक चीन के राजनीतिक एकीकरण का प्रयास किया।

डॉ. सन-यात-सेन में संगठन की अपूर्व क्षमता थी। प्रवासी जीवन व्यतीत करते हुए उसने थुंग-मेंग-हुई की स्थापना की, जो चीन का एक मुख्य राजनीतिक दल बन गया। बाद में युआन-शीह-काई के निरंकुश शासन का मुकाबला करने के लिए अगस्त, 1912 ई. में एक नये राष्ट्रवादी दल कुओमिनतांग की स्थापना की। डॉ. सेन के नेतृत्व में कुओमिनतांग की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई। यह उसके प्रयासों का ही फल था कि उसकी मृत्यु के दो वर्षों के अन्दर ही कुओमिनतांग की सेना ने सैनिक सामन्तों का दमन कर काफी अंशों में देश की एकता स्थापित कर ली। अपनी मृत्यु के बाद भी वह चीन की राजनीति को प्रभावित करता रहा। वह चीन का लोकनायक बन गया। उसके विवेक के सम्बन्ध में जो भी संशय थे वे समाप्त हो गये। अब वह समस्त ज्ञान और विवेक का स्रोत बन गया। सनयातसेनवाद, सन-यात-सेन से अधिक महत्त्वपूर्ण शक्ति बन गया। उसके तीन सिद्धान्त राष्ट्रवादियों के मूल-मन्त्र बन गये। वह चीन के राष्ट्रपिता की श्रेणी में आ गया। चीन की स्कूलों और कॉलेजों में उसके दर्शन की शिक्षा दी जाने लगी और चीन की जनता उसके प्रति श्रद्धा एवं सम्मान प्रदर्शित करने लगी।

(द) च्यांग-काई-शेक द्वारा राष्ट्रीय एकीकरण

डॉ. सन-यात-सेन की मृत्यु के बाद कुओमिनतांग दल में आन्तरिक कलह शुरू हो गयी। एक गुट वामपक्षी उग्रवादियों का था, जो साम्यवाद के समर्थक थे। दूसरा गुट पुराणपंथी दक्षिणपक्ष के लोगों का था जो साम्यवादियों के विरोधी थे। तीसरा गुट च्यांग-काई-शेक के नेतृत्व में मध्यम मार्ग के अनुयायियों का था, जो सभी पक्षों को साथ लेकर चलना चाहते थे। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं हो पाया। दक्षिणपंथियों ने वामपंक्षी लोगों को कुओमिनतांग दल से निकाल दिया और च्यांग-काई-शेक को नया अध्यक्ष चुना।

1. च्यांग-काई-शेक का परिचय—च्यांग-काई-शेक का जन्म 1887 ई. में चीन के चेकियांग प्रान्त में एक साधारण राज्याधिकारी के परिवार में हुआ था। बचपन में ही पिता की मृत्यु हो जाने के कारण च्यांग को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। 1906 ई. में उसने

पाओतिंग के सैनिक विद्यालय में शिक्षा आरम्भ की। तत्पश्चात् उच्च शिक्षा के लिए उसे जापान भेजा गया। जापान में रहते हुए वह डॉ. सन-यात-सेन के "थुंग मेंग हुई" का सदस्य बन गया। 1911 ई. की क्रान्ति के दौरान उसने शंघाई के गवर्नर के अधीन काम किया। परन्तु बाद में वह कुओमिनतांग की गतिविधियों में सक्रिय भाग लेने लगा। जब युआन-शीह-काई की सरकार ने क्रान्तिकारियों का दमन शुरू किया तो वह कुओमिनतांग दल से अलग हो गया। जब डॉ. सन-यात-सेन ने कैण्टन को राजधानी बनाकर कुओमिनतांग दल की सरकार का गठन किया तो च्यांग-काई-शेक पुनः दल में सम्मिलित हो गया। उसे "वाम्पोआ" की सैनिक संस्था का अध्यक्ष बना दिया गया। इस महत्त्वपूर्ण पद के कारण वह अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर विजय पा सका। 5 जुलाई, 1926 को उसे सैनिक विभाग का अध्यक्ष चुन लिया गया और दूसरे दिन उसे कुओमिनतांग की केन्द्रीय कार्यकारिणी की स्थायी परिषद् का प्रधान चुन लिया गया।

च्यांग-काई-शेक ने डॉ. सन-यात-सेन के पुत्र सुन को और कुओमिनतांग के वरिष्ठ नेता हू हान को उच्च पदों पर बनाये रखकर उनका सहयोग प्राप्त कर लिया। डॉ. सेन की साली सुंग मेई तुंग से विवाह कर उसने शंघाई के धनिक व्यापारियों से अपना राजनीतिक सम्बन्ध सुदृढ़ कर लिया। ईसाई धर्म को अपनाकर उसने पश्चिमी राष्ट्रों की सहानुभूति भी प्राप्त कर ली। इस प्रकार, च्यांग ने अपनी स्थिति को काफी मजबूत बना लिया।

2. विघटनकारी तत्त्वों का दमन—च्यांग-काई-शेक ने चीन में विघटनकारी तत्त्वों को दबाने के लिए सैनिक अभियान चलाने का निश्चय किया। इस अभियान में कुओमिनतांग सेना का सर्वत्र अभियान चलाने का निश्चय किया। इस अभियान में कुओमिनतांग सेना का सर्वत्र मुक्तिदाता के रूप में स्वागत किया गया। किसानों, मजदूरों और सिपाहियों ने उसका साथ दिया। हाकांग, शंघाई, नानकिंग, हानयान, हाको, वूचांग व नानचांग पर कुओमिनतांग सेना का नियन्त्रण कायम हो गया।

इस समय हाको में वामपंथियों की सरकार थी। च्यांग-काई-शेक ने उससे अपना सम्बन्ध विच्छेद करके नानकिंग में अपनी अलग सरकार कायम कर ली। इसी समय वामपंथियों में फूट पड़ गई और उन्होंने साम्यवादियों को दल से निकालना शुरू कर दिया। इसके बाद वे च्यांग-काई-शेक से जा मिले। इस प्रकार, हाको की सरकार का नानकिंग की सरकार में विलय हो गया। 1928 ई. तक अधिकांश सैनिक शासक एवं प्रान्तपति भी नानकिंग की सरकार के अधीन हो गये और चीन की एकता पूरी हो गयी।

3. चीन का नया संविधान—1931 ई. में चीनी सरकार ने एक नया संविधान बनाया। इसमें मानव के मौलिक अधिकारों और जीविका के सिद्धान्त आदि को भी स्थान दिया गया। संविधान में स्पष्ट किया गया कि नागरिकों के बीच किसी भी आधार पर भेदभाव नहीं किया जायेगा, सभी नागरिकों को मतदान का अधिकार रहेगा, सम्पत्ति का अधिकार अक्षुण्ण रहेगा, स्थानीय स्वशासन को प्रोत्साहित किया जायेगा और नागरिकों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया जायेगा। शासन में राष्ट्रपति के पद का महत्त्व समाप्त कर दिया गया। स्वयं च्यांग ने राष्ट्रपति पद को त्याग दिया तथा वयोवृद्ध नेता लिनसेन को इस पद पर नियुक्त किया गया। इस परिवर्तन

के बाद भी च्यांग के महत्त्व और शक्ति में कोई अन्तर नहीं आया। वह राष्ट्रीय सैनिक समिति तथा नानकिंग सैनिक अकादमी का अध्यक्ष बना रहा। इसके अतिरिक्त सरकारी अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए स्थापित केन्द्रीय राजनीतिक संस्थान का भी अध्यक्ष रहा। इस प्रकार, अगले वर्षों में च्यांग देश का सर्वेसर्वा बना रहा।

4. चीन-जापान संघर्ष—1928 ई. में ऐसा लग रहा था कि चीन का एकीकरण पूरा हो गया है। परन्तु ऐसा नहीं हो पाया। मंचूरिया में चांगत्सोलिन और उसका पुत्र चांग दुसेहलिंग एक तरह से बिल्कुल स्वतन्त्र थे। कैण्टन में साम्यवादियों का जोर था और मई, 1931 ई. में उन्होंने एक समानान्तर सरकार की स्थापना भी कर दी। हेको तथा आसपास के क्षेत्र भी साम्यवादियों के प्रभाव में थे। च्यांग ने चीन के एकीकरण के लिए पुनः प्रयास शुरू किया ही था कि जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण कर स्थिति को बिगाड़ दिया।

(i) जापान का मंचूरिया पर आक्रमण—मंचूरिया पर जापानी आक्रमण के लिए कई कारण उत्तरदायी थे। संक्षेप में ये कारण थे—(1) बढ़ती हुई जनसंख्या के भरण-पोषण की समस्या, (2) जापान में पूँजीवाद का विकास, (3) विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी, (4) जापान के सैनिक नेताओं की साम्राज्यवादी नीति, (5) जापान में उग्र-राष्ट्रीयता की भावना का विकास, और (6) मंचूरिया में जापान के स्वार्थ।

अन्तिम कारण तत्कालीन राजनीतिक स्थिति था। मंचूरिया का सूबेदार चांगत्सोलिन स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करता रहा, परन्तु उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र ने नानकिंग की केन्द्रीय सरकार की अधीनता स्वीकार कर ली। इससे जापान क्रोधित हो उठा। क्योंकि एक स्वतन्त्र सूबेदार से अपनी माँगे मनवाना जापान के लिए सरल काम था, परन्तु चीन की केन्द्रीय सरकार से अपनी माँगें मनवाया उतना आसान नहीं था। इसके अलावा जापान का शत्रु देश रूस उत्तरी मंचूरिया में अपना प्रभाव बढ़ाने में लगा हुआ था। इधर नानकिंग सरकार जापान से माँग कर रही थी कि वह चीन के लियाओतुंग से हट जाय और दक्षिण मंचूरियन रेलवे का अधिकार चीन को सौंप दे तथा रेलवे क्षेत्र से अपनी सेना हटा ले। जापान को यह स्वीकार नहीं था। इस पर चीनी सरकार ने हजारों चीनियों को मंचूरिया में बसाना शुरू कर दिया। इससे जापान क्रोधित हो उठा और उसने अपने संरक्षण में मंचूरिया में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना का निश्चय कर लिया।

18 सितम्बर, 1931 ई. की रात्रि को मुकदन नगर के समीप स्थित जापानी सैनिक शिविर के पास रेलवे लाइन पर एक बम का विस्फोट हुआ। जापानियों ने इसका दोष चीनी सेना पर डाला और मुकदन नगर पर अधिकार कर लिया। इसके बाद जापानी सेनाएँ मंचूरिया प्रदेश में आगे बढ़ती ही गईं और 1931 के अन्त तक सम्पूर्ण प्रदेश पर जापान का अधिकार हो गया। 18 फरवरी, 1932 ई. को जापान ने मंचूरिया में एक स्वतन्त्र राज्य "मंचूको" की स्थापना की। चीन के पदच्युत मंचू वंश के सम्राट को इस नये राज्य का शासक नियुक्त किया गया। 15 सितम्बर, 1932 को जापान ने इस नये राज्य को राजनीतिक मान्यता दे दी, यद्यपि इस राज्य का वास्तविक शासन जापानी अधिकारियों के हाथ में ही बना रहा।

चीन की सरकार ने जापान के विरुद्ध राष्ट्रसंघ में अपील की। परन्तु राष्ट्रसंघ भी जापान को रोक नहीं पाया। उल्टे जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता ही छोड़ दी। जापान की मंचूरिया विजय के दूरगामी परिणाम निकले। इससे च्यांग-काई-शेक की प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा। चीन के एकीकरण का स्वप्न अधूरा रह गया।

(ii) मंचूरिया के बाद जापानी गतिविधियाँ—जापान मंचूरिया की विजय मात्र से सन्तुष्ट नहीं हुआ। चीन के अन्य प्रान्तों को हड़पने के लिए उसकी सैनिक कार्यवाहियाँ जारी रहीं। 1933 ई. में उत्तरी चीन के पाँच प्रान्तों—होपे, चाहार, शाण्टुंग, शांसी और स्वेयुआन में जापान ने पृथकतावादी आन्दोलन भड़काने का प्रयत्न किया। उसने तेल की दृष्टि से समृद्ध जेहोल प्रदेश को मंचूरिया का भाग बतलाते हुए उस पर अधिकार कर लिया। 1933 के अप्रैल में जापानियों ने कई स्थानों पर चीन की महान् दीवार को लांघकर चीनी भूमि पर आगे बढ़ना शुरू कर दिया। यद्यपि चीनी जनता ने जापान के विरुद्ध जबरदस्त आन्दोलन किया था, परन्तु च्यांग-काई-शेक इस समय अपनी शक्ति को जापान के विरुद्ध न लगाकर साम्यवादियों के विरुद्ध लगाये हुए था। 25 मई, 1933 को चीन और जापान के मध्य सैनिक सुलह हो गई।

(iii) जापान का नया अभियान—1936 ई. में जब च्यांग-काई-शेक साम्यवादियों का सफाया करने के लिए शान्शी प्रान्त में गया तो सैनिक अधिकारियों ने उसका अपहरण करके उसे बन्दी बना लिया और उसे तभी छोड़ा गया, ज़बकि उसने साम्यवादियों के साथ मिलकर जापान का प्रतिरोध करने का वचन दिया।

1937 ई. में जापान ने नये सिरे से चीनी प्रदेशों को हड़पने का सिलसिला शुरू कर दिया। इस बार च्यांग और साम्यवादियों ने मिलकर मुकाबला किया, फिर भी कुछ ही समय में होपेई, शान्शी तथ शान्तुंग प्रान्तों पर जापान का अधिकार हो गया। चीन-जापान का यह संघर्ष द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति तक चलता रहा। यद्यपि चीन, जापान को पराजित करने में असफल रहा, फिर भी वह बहादुरी के साथ मैदान में डटा रहा और अन्तिम समय तक साहस नहीं खोया।

(घ) साम्यवादी शासन की स्थापना

1. चीनी साम्यवादी दल की स्थापना—1917 की बोल्शेविक क्रान्ति ने अनेक प्रबुद्ध चीनियों को प्रभावित किया और वे साम्यवाद की ओर आकर्पित हुए। 1918 में पीकिंग विश्वविद्यालय के कुछ प्राध्यापकों और छात्रों ने मार्क्सवाद और साम्यवाद के अध्ययन के लिए एक संस्था कायम की। इन लोगों में विश्वविद्यालय का एक कर्मचारी माओत्से तुंग भी था। बाद में इन लोगों ने "कुंग चानतांग" (चीनी साम्यवादी दल) की स्थापना की। इसी समय पेरिस में पढ़ने वाले चीनी विद्यार्थियों ने चाउ एन लाई के नेतृत्व में और जर्मनी में पढ़ने वाले छात्रों ने चू तेह के नेतृत्व में इसी प्रकार के दल स्थापित किये। 1921 ई. के मध्य तक पीकिंग, कैण्टन, शंघाई और हूनान प्रान्तों में भी साम्यवादी दल की शाखाएँ स्थापित हो गईं। जुलाई, 1921 में इन सभी शाखाओं का प्रथम सम्मेलन शंघाई में हुआ और कुछ दिनों बाद चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई जिसके प्रारम्भिक सदस्यों में चेन तु सिउ, माओत्से तुंग, चाउ एन लाई, चू तेह जैसे प्रमुख व्यक्ति सम्मिलित थे।

2. कुओमिनतांग के साथ सहयोग—1922 से 1927 तक साम्यवादी दल और कुओमिनतांग में घनिष्ठ सहयोग रहा। डॉ. सन-यात-सेन की सोवियत संघ की साम्यवादी सरकार के प्रति सहानुभूति थी। अतः उसने सोवियत संघ से सम्पर्क बढ़ाना शुरू किया और रूस से बहुत से सलाहकार चीन आये; जिन्होंने कुओमिनतांग और चीनी सेना का पुनर्गठन किया। इस अवधि में साम्यवादी किसानों और मजदूरों को संगठित करते रहे।

3. च्यांग-काई-शेक द्वारा साम्यवादियों का विरोध—1925 ई. में डॉ. सन-यात-सेन की मृत्यु के बाद माओत्से तुंग ने हूनान प्रान्त में एक जबरदस्त किसान आन्दोलन चलाया। इस आन्दोलन के फलस्वरूप न केवल जमींदारों का सफाया होने लगा बल्कि पण्डे-पुजारियों की सत्ता, कुल के अधिकार तथा समस्त ढाँचा बदलने लगा। इन घटनाओं से च्यांग-काई-शेक साम्यवादियों का कट्टर विरोधी बन गया। उसने रूसी सलाहकारों के विरुद्ध खुली आवाज उठाई तथा साम्यवादियों को कुचलना आरम्भ किया। साम्यवादियों की उग्र नीति से कुओमिनतांग दल के वामपंथी नेता भी उनसे नाराज हो गये और उन्होंने साम्यवादियों को अपने दल से निकाल बाहर किया।

4. माओत्से की प्रथम साम्यवादी सरकार—मई, 1927 ई. में माओत्से के नेतृत्व में हूनान में जबरदस्त किसान आन्दोलन हुआ जिसे सरकार ने कुचल दिया। परन्तु माओत्से ने अपने अनुयायियों को संगठित रखा और उनकी सहायता से हूनान तथा कियांग्सी के किसानों को संगठित किया। इस प्रकार, उसने एक साम्यवादी केन्द्र की स्थापना की जिसका मुख्यालय चिंगकान्सान में रखा गया। जहाँ माओ ने अपनी अलग सेना संगठित की तथा एक शासन तन्त्र भी स्थापित किया जिससे इस क्षेत्र में माओत्से की स्थिति काफी सुदृढ़ बन गई। मई, 1928 में नानचांग के विद्रोह की असफलता के बाद चू तेह भी अपने समर्थकों सहित माओत्से से आ मिला। इससे माओत्से की स्थिति और अधिक मजबूत हो गई। माओत्से की प्रेरणा से हु येह, कियांग्सी, क्योंगतुंग, शेन्सी आदि प्रदेशों में भी साम्यवादी केन्द्र स्थापित किये गये। 1930 ई. में माओत्से ने कियांग्सी प्रान्त में प्रथम साम्यवादी सरकार की स्थापना की। वह स्वयं इसका अध्यक्ष बना और चू तेह को प्रधान सेनापति बनाया। 1931 के अन्त तक चीनी साम्यवादी दल के अन्य नेताओं ने भी माओत्से का नेतृत्व स्वीकार कर लिया और वे भी कियांग्सी में आ गये।

5. ऐतिहासिक प्रयाण—जिस समय चीन में साम्यवादी आन्दोलन सशक्त हो उठा था, तभी 1931 ई. में मंचूरिया को लेकर चीन-जापान युद्ध आरम्भ हो गया। किन्तु च्यांग इस विदेशी आक्रमण को उतना खतरनाक नहीं मानता था जितना साम्यवादी आन्दोलन को। अतः जिस समय जापानी सेना चीनी प्रदेशों पर आधिपत्य जमा रही थी, उस समय च्यांग की सेना साम्यवादियों का दमन करने में जुटी हुई थी। बार-बार की असफलताओं से खिन्न होकर अक्टूबर, 1933 में च्यांग-काई-शेक ने दस लाख सैनिकों को साम्यवादियों के मुख्य केन्द्र कियांग्सी के विरुद्ध झोंक दिया। चारों ओर से घिर जाने पर माओत्से ने सेना-सहित उत्तर की ओर प्रस्थान किया। उसका यह प्रयाण "ऐतिहासिक प्रयाण" के नाम से प्रसिद्ध है। 90,000 सैनिकों में से केवल 30,000 सैनिक शेन्सी पहुँच पाये। शेष रास्ते में राष्ट्रवादी सेना से लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुए। कियांग्सी से शेन्सी की दूरी पार करने में आठ मास लग गये। इस महाभियान में माओत्से तुंग

सफल रहा। अब उसने येन्नान को अपना नया केन्द्र बनाया। यह क्षेत्र रूसी सीमा के निकट था और आसानी के साथ रूसी सहायता मिल सकती थी।

6. जापान के विरुद्ध सहयोग—यद्यपि माओत्से और च्यांग-काई-शेक एक-दूसरे के कट्टर विरोधी थे, परन्तु देश की सुरक्षा के खातिर 1935 ई. में माओत्से ने जापान के विरुद्ध च्यांग-काई-शेक को सहयोग देने का प्रस्ताव रखा, जिसे च्यांग ने स्वीकार नहीं किया। उल्टे उसने साम्यवादियों का दमन करने का कार्य तेज कर दिया। परन्तु 1936 ई. में च्यांग के कुछ सेनानायकों ने उसे साम्यवादियों के साथ मिलकर जापान् का सामना करने के लिए विवश कर दिया। काफी विचार-विमर्श के बाद अगस्त, 1937 में दोनों दलों ने "संयुक्त मोर्चा" बनाया। परन्तु इस मोर्चे को कभी भी ठोस आधार प्राप्त नहीं हो सका। चीन में दो सरकारें विद्यमान थीं तथा दोनों की अपनी पृथक्-पृथक् सेनाएँ थीं। दोनों अपने-अपने क्षेत्रों में अपनी-अपनी विचारधारा के अनुसार शासन एवं सामाजिक व्यवस्था कायम कर रहे थे।

7. किसानों में जागरण—जापानी आक्रमण और आधिपत्य का भार मुख्य रूप से चीन के किसानों को झेलना पड़ा। 1942 ई. में जापानियों ने "सांको-सेई-साकू" (सबको मारो, सबको फूँको, सबको बर्बाद करो) की नीति अपनाई। इससे किसानों में भी जागृति आई और उन्होंने साम्यवादियों के साथ मिलकर जापानियों से डटकर मुकाबला किया। अब वे राष्ट्रीय सुरक्षा को अपनी रक्षा समझने लगे। किसानों के इस राष्ट्रीय जागरण से साम्यवादियों की शक्ति काफी बढ़ गई। दूसरी तरफ, च्यांग की राष्ट्रीय सरकार द्वारा ग्रामीणों के लिए कोई लाभकारी व्यवस्था न करना, एक ऐसा कारण बन गया, जो आगे चलकर कुओमिनतांग की शक्ति का अन्त करने में सहायक सिद्ध हुआ।

8. द्वितीय महायुद्ध के बाद—अगस्त, 1945 में जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया और उसी के साथ द्वितीय महायुद्ध भी समाप्त हो गया, क्योंकि जर्मनी और इटली बहुत पहले पराजित हो चुके थे। युद्ध समाप्ति के बाद अमेरिका और ब्रिटेन ने चीन के साम्यवादियों और च्यांग की सरकार के मध्य समझौता कराने का अथक प्रयास किया परन्तु च्यांग की हठधर्मिता और वचनभंग के कारण समझौता सार्थक नहीं हो पाया और चीन गृह-युद्ध में फँस गया।

9. गृहयुद्ध के समय दोनों पक्षों की स्थिति—गृहयुद्ध के प्रारम्भ में च्यांग-काई-शेक के कुओमिनतांग की शक्ति साम्यवादियों से अधिक थी। च्यांग को अमेरिकी वायुसेना एवं नौसेना के यानों के अतिरिक्त उनके चालक भी उपलब्ध थे। उन्हें मित्र राष्ट्रों की पर्याप्त युद्ध सामग्री भी हाथ लगी थी। कुओमिनतांग की सेना साम्यवादियों के मुकाबले में दस गुनी थी। कुओमिनतांग सरकार के पास करोड़ों की विदेशी मुद्रा थी जिससे वे विश्व के किसी भी बाजार से कोई भी सामग्री खरीद सकते थे। किन्तु कुओमिनतांग की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि उसके अधिकांश पदाधिकारी भ्रष्ट थे। वे लोग भारी रिश्वत लेकर चोरी-छिपे लाखों पौण्ड मूल्य के हथियार साम्यवादियों को पहुँचाते रहे। साम्यवादियों को चीन के किसानों एवं मजदूरों के साथ-साथ सोवियत संघ की सहायता एवं सहानुभूति प्राप्त थी। उत्तरी चीन पर साम्यवादियों का नियन्त्रण था तो चीन के शेष भाग पर कुओमिनतांग सरकार का अधिकार था।

10. गृहयुद्ध में साम्यवादियों की सफलता—1947 ई. के प्रारम्भ में गृह-युद्ध शुरू हो गया और फरवरी में गृह-युद्ध में तेजी आ गई। मार्च, 1947 में च्यांग की सेनाओं को भारी सफलता मिली। उसने साम्यवादियों की राजधानी येन्नान, मंचूरिया और शान्तुंग पर कब्जा कर लिया। परन्तु शीघ्र ही साम्यवादी छापामारों ने रेल लाइनों को उखाड़ फेंका। कुओमिनतांग सेना में रसद व अन्य सामग्री की कमी हो गई और वे नवविजित क्षेत्रों में साम्यवादियों से घिर गये। 1947-48 में कड़ाके की सर्दी पड़ी जिसे कुओमिनतांग के सैनिक सहन करने के आदी नहीं थे। नवम्बर, 1948 में कुओमिनतांग सेना की हालत एकदम खराब हो गई। हजारों की संख्या में कुओमिनतांग सैनिक अपने हथियारों के साथ साम्यवादियों से जा मिले। दिसम्बर, 1948 में शू ची का भयानक युद्ध हुआ जिसमें पाँच लाख कुओमिनतांग सैनिक मारे गये और बेशुमार सामान नष्ट हो गया। इस निर्णायक युद्ध ने गृहयुद्ध के भाग्य का फैसला कर दिया। इसके तुरन्त बाद कुओमिनतांग के सेनापति फूत्सो ने पीकिंग नगर और एक लाख सैनिकों के साथ आत्मसमर्पण कर दिया।

जनवरी, 1949 में च्यांग-काई-शेक ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया और उपराष्ट्रपति लि सुंग जेन ने राष्ट्रपति का कार्यभार ग्रहण किया। परन्तु वह साम्यवादी सेना की प्रगति को रोकने में असफल रहा। नानकिंग, शंघाई, चेकिआंग, कियांग्सी और हूनान पर भी साम्यवादियों का अधिकार हो गया। 21 नवम्बर, 1949 को माओत्से तुंग ने चीनी गणतन्त्र की स्थापना की घोषणा कर दी। मार्च, 1950 में च्यांग-काई-शेक अपने प्रमुख सैनिक अधिकारियों के साथ समुद्र पार फारमोसा द्वीप भाग गया। यहाँ उसने कुओमिनतांग की सरकार कायम की और स्वयं उसका अध्यक्ष बन गया। अमेरिका ने उसे संरक्षण देकर साम्यवादी आक्रमण से बचा लिया। परन्तु समूचे चीन पर साम्यवादी शासन कायम हो गया।

साम्यवादियों की सफलता के कारण

यद्यपि चीन के इस गृहयुद्ध में कुओमिनतांग पूर्णतः साधन सम्पन्न था और उसे अमेरिका जैसे शक्तिशाली देश का पूर्ण समर्थन प्राप्त था, फिर भी युद्ध में कुओमिनतांग की निर्णायक पराजय हुई और साम्यवादियों ने विजयी होकर चीन में साम्यवादी व्यवस्था स्थापित कर ली। साम्यवादियों की इस सफलता के निम्नलिखित कारण थे—

(1) कुओमिनतांग की फासिस्टवादी प्रवृत्ति—निःसन्देह सन-यात-सेन के जमाने में कुओमिनतांग एक जनतान्त्रिक संस्था थी। किन्तु उसकी मृत्यु के बाद जब इस दल पर च्यांग-काई-शेक का नियन्त्रण स्थापित हुआ, तब उसका जनतान्त्रिक स्वरूप समाप्त होने लगा। जमींदारों व पूँजीपतियों के सम्पर्क में आकर यह प्रतिक्रियावाद और अधिनायकशाही का रूप लेने लगा। चीन में ज्यों-ज्यों साम्यवादी आन्दोलन बढ़ता गया, त्यों-त्यों च्यांग फासिस्टवादी विचारों की ओर झुकने लगा तथा हिटलर व मुसोलिनी का प्रशंसक बन गया। उसने मुसोलिनी की जीवनी का चीनी भाषा में अनुवाद कराकर अधिकारियों में वितरित करवाया, अपने हवाबाजों को प्रशिक्षण देने के लिये इतालवी विशेषज्ञ नियुक्त किये तथा अपनी सरकार के कई विभागों में जर्मन सलाहकार नियुक्त किये। इन लोगों के प्रभाव में आकर उसने फासिस्ट तरीके के गुप्त

सैनिक और राजनीतिक दल संगठित किये जिन्होंने सरकार के अधीन सारे प्रदेशों में घोर दमन चक्र चलाया। फलस्वरूप जनता सशंकित हो उठी और उसने खुले दिल से साम्यवादियों का समर्थन किया।

(2) चार परिवारों का एकाधिकार—चूँकि च्यांग साम्यवादियों का कट्टर विरोधी था, इसलिये उसे चीनी पूँजीपतियों का पूरा समर्थन प्राप्त हुआ। इस समय चीन में चार परिवार पूँजीपति थे। ये परिवार थे च्यांग, सुंग, कुंग और छेन। इनका देश के आर्थिक जीवन पर एकाधिकार था। 1944 ई. में कुओमिनतांग अधिकृत प्रदेशों की औद्योगिक पूँजी का 70 प्रतिशत भाग इन्हीं चार परिवारों के हाथ में था। देश के उद्योग एवं व्यापार पर इन्होंने अपना एकाधिकार कायम कर लिया था। उनके चार प्रमुख बैंक देश के लगभग पाँच हजार बैंकों पर नियन्त्रण रखते थे। मार्च, 1946 से फरवरी, 1947 तक जो विदेशी मुद्रा व्यापारियों को दी गई उसका अधिकांश भाग केवल कुंग और सुंग परिवारों को मिला। जब एक समाचार-पत्र सेण्ट्रल डेली न्यूज ने खबर दी कि यह भाग 87 प्रतिशत है, तो जनता में सनसनी फैल गयी। जन-उत्तेजना को शान्त करने के लाख प्रयत्न किये गये किन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला। जब जनमत का दबाव बढ़ने लगा तब च्यांग-काई-शेक ने उन पर कुछ नियन्त्रण स्थापित करने का निश्चय किया और यह कार्य अपने पुत्र च्यांग चिंग कुओ को सौंपा। उसने चोर-बाजारी और सट्टेबाजी को खत्म करने हेतु जब सख्त कदम उठाये, तो उनके सरदार सीधे च्यांग-काई-शेक से मिले और च्यांग चिंग कुओ पर दबाव डालकर सख्त नीति छोड़ने को बाध्य किया। इसी प्रकार च्यांग चिंग कुओ ने कुंग द्वारा संचालित यांगत्सी विकास निगम के गोदाम से निषिद्ध वस्तुओं का भण्डार पकड़ा और उसके प्रबन्धक डेविड कुंग को गिरफ्तार कर लिया। कुंग, श्रीमती च्यांग-काई-शेक का भतीजा था। कुंग की गिरफ्तारी से श्रीमती च्यांग क्रुद्ध हो उठी और उसने शंघाई जाकर अपने भतीजे को छुड़वा लिया, जो अमेरिका चला गया। दुःखी होकर च्यांग चिंग कुओ ने अपना पद छोड़ दिया। इन घटनाओं से स्पष्ट है कि च्यांग-काई-शेक की सरकार इन चार परिवारों की बेइमानी का यन्त्र बन गई थी।

कुछ ही दिनों बाद चीन के पूँजीपतियों और अमेरिकन पूँजीपतियों में एक गठबन्धन कायम हो गया और चीन में अमेरिकी आर्थिक साम्राज्यवाद पूरी तरह छा गया। इसका चीनियों के निजी उद्योग-धन्धों पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ा। 1948 ई. तक आते-आते चीन में अमेरिका का इतना माल आने लगा कि देश की हजारों औद्योगिक इकाइयाँ बन्द हो गयीं और लाखों मजदूर बेकार हो गये ! इन मजदूरों ने साम्यवादियों का साथ दिया।

(3) आर्थिक संकट और जनता की परेशानी—चीन और अमेरिकी पूँजीवाद की साँठ-गाँठ के कारण सम्पूर्ण चीन में घोर आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया। युद्ध के दिनों में 15 खरब डॉलर की अमेरिकी सहायता और अगस्त, 1945 से 1948 तक बीस खरब डॉलर के अनुदान से सरकार का काम चलता रहा। लेकिन इसके कारण भयंकर मुद्रास्फीति हुई और चीजों के दाम बेहद बढ़ गये। जनवरी-जुलाई, 1948 के बीच शंघाई में थोक माल के दाम पैंतालीस सौ प्रतिशत बढ़ गये। विडम्बना यह थी कि कुओमिनतांग के कर्मचारियों के आने के पहले शंघाई में चीजों का मूल्य बहुत मामूली था। अतः लोगों में यह भावना उत्पन्न हुई कि कुओमिनतांग

शासन में उनका भला होने वाला नहीं है। अगस्त,1948 में सरकार ने मूल्यों पर नियन्त्रण करने के लिये कुछ कदम उठाये। च्यांग चिंग कुओ की नियुक्ति इसीलिये की गई थी। लेकिन च्यांग चिंग कुओ की एक न चली और उसकी सारी व्यवस्था असफल हो गयी।

मुद्रास्फीति और महँगाई के कारण वेतनभोगी लोग अत्यधिक परेशान हो गये, क्योंकि बढ़ती हुई महँगाई के कारण उनका गुजारा करना कठिन हो गया। विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों और न्यायालय के न्यायाधीशों तक ने हड़ताल कर दी। शंघाई में तो एक अध्यापक ने सरकार का ध्यान आर्थिक दुर्दशा की ओर आकर्षित करने के लिए आत्म-हत्या कर ली। लोगों में असन्तोष बढ़ता गया और हड़तालों का ताँता लग गया। कुओमिनतांग सरकार ने इन हड़तालों को दबाने में बड़ी कठोर नीति अपनाई। 18 मई,1945 को एक अध्यादेश द्वारा आन्दोलनों व प्रदर्शनों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। पुलिस, शान्तिपूर्ण जुलूसों व प्रदर्शनकारियों को सख्ती से कुचलने लगी। इससे कुओमिनतांग का शासन बुरी तरह बदनाम हो गया और जनता की सहानुभूति साम्यवादियों को मिल गई। गृह-युद्ध में जनता का पूर्ण समर्थन और सहयोग मिलने पर साम्यवादियों की विजय निश्चित हो गई।

(4) किसानों का संगठन—चीन एक कृषि प्रधान देश था और चीन के साम्यवादी इस तथ्य से भलीभाँति परिचित थे कि देश में कोई क्रान्ति किसानों के समर्थन के बिना सफल नहीं हो सकती। अतः उन्होंने किसानों को संगठित करने पर ही अधिक ध्यान दिया। जापानी आक्रमण के फलस्वरूप चीन के किसानों में अपूर्व जागृति उत्पन्न हुई। किसानों ने अपनी रक्षा के लिये तरह-तरह के संगठन स्थापित किये। साम्यवादियों ने उनका समर्थन कर उन्हें नेतृत्व प्रदान किया। अतः किसानों और साम्यवादियों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गये। किसानों का यह संगठन शीघ्र ही साम्यवादी आन्दोलन में परिणत हो गया। प्रारम्भ में इस आन्दोलन का उद्देश्य जापानियों को देश से निकालना था। किन्तु बाद में इस आन्दोलन ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूप धारण कर लिया और यह देश के पूरे कायाकल्प का वाहन बन गया। चीन में एक ओर तो साम्यवादी, शोषित वर्ग के साथ मिल रहे थे तो दूसरी ओर च्यांग-काई-शेक की सहानुभूति चीन के सम्पन्न वर्ग के साथ थी। उसका सम्पूर्ण ध्यान चीन के उद्योगपतियों को लाभ पहुँचाने में लगा रहा। च्यांग-काई-शेक का मानना था कि यदि किसानों के हित में काम नहीं भी किया गया तो भी उसकी शक्ति और प्रभाव में कोई अन्तर नहीं आयेगा। लेकिन साम्यवादी किसानों की शक्ति को वास्तविक आधार मानते थे। ऐसी स्थिति में साम्यवादियों को ग्रामीण किसानों का समर्थन मिलना स्वाभाविक था।

(5) जापान के विरोध में साम्यवादी—साम्यवादियों में देशभक्ति और राष्ट्रीय भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। 1930 ई. में आर्थिक संकट के तुरन्त बाद 1931 ई. में चीन पर जापान का आक्रमण हुआ और यह युद्ध 1945 ई. में समाप्त हुआ। इस दीर्घ अवधि में जापानियों के खिलाफ विरोध संगठित करने में साम्यवादियों ने अपने 'वर्ग संघर्ष और सम्पत्ति के समाजीकरण' का सिद्धान्त छोड़कर जापानियों को निकालने और उनके अमानवीय अत्याचारों से देहातों को मुक्त कराने का बीड़ा उठाया, जिससे असंख्य किसान उनके साथ हो गये। लेकिन च्यांग-काई-शेक की सरकार जापानियों से अधिक साम्यवादियों को देश का शत्रु मानती थी। साधारण जनता

विदेशी आक्रान्ताओं को देश का प्रमुख शत्रु मानती थी; अतः उसने साम्यवादियों की नीति को ही पसन्द किया। जापान का विरोध वह धरातल था जहाँ आकर किसान और साम्यवादी एक हो गये। च्यांग-काई-शेक और उसके साथी चीन-जापान युद्ध की अपेक्षा चीन में अपनी स्थिति को मजबूत रखने की अधिक चिन्ता करते थे। इसीलिये, वे अमेरिका तथा ब्रिटेन से प्राप्त होने वाली सहायता का उपयोग भी जापान के विरुद्ध न करके साम्यवादियों के विरुद्ध करते थे। चीन की जनता इससे नाराज हो गयी।

(6) साम्यवादियों की रणनीति—साम्यवादियों की सफलता का एक कारण उनकी रणनीति और युद्ध-संचालन था। वे गुरिल्ला-पद्धति से युद्ध करते थे, जिससे आधुनिक शस्त्रास्त्रों के अभाव में तथा संख्या में कम होने के बावजूद युद्ध में विजय प्राप्त कर लेते थे। उनके योग्य सेनापति देशभक्ति की भावना से प्रेरित होकर युद्ध का संचालन करते थे। इसके विपरीत कुओमिनतांग के सैनिक अधिकारी अयोग्य और भ्रष्ट थे। अमेरिका से, जापान का प्रतिरोध करने के लिये जो सैनिक सहायता आती थी उसको काला-बाजारी में अपने ही विरोधी साम्यवादियों को बेच देते थे।

सैनिक नेता के रूप में च्यांग-काई-शेक पूरी तरह असफल रहा। 1947 ई. में जब गृह-युद्ध में तेजी आयी तब अमेरिकी विशेषज्ञों के परामर्श की अवहेलना करते हुए उसने मंचूरिया पर आक्रमण करने का निश्चय किया, जबकि इस क्षेत्र में साम्यवादी अधिक शक्तिशाली थे। फलस्वरूप मंचूरिया में उसे भीषण पराजय का सामना करना पड़ा। शूचो के युद्ध के समय जनरल ली त्सुग-रन तथा पाई चुंग-शी ने च्यांग-काई-शेक को सलाह दी कि हवाई नदी के सुरक्षित मोर्चे पर जमने के लिये कुछ पीछे हटना चाहिये। किन्तु च्यांग ने इस परामर्श की भी अवहेलना की तथा कुओमिनतांग फौज शूचो पर ही जमी रही जिससे उसके तीन पक्ष शत्रु के सामने खुल गये। इन पर साम्यवादियों ने बड़े जोर से धावे मारे जिससे उसका मोर्चा टूट गया। कुओमिनतांग सेना पराजित हुई और साम्यवादियों के लिये यांगत्सी घाटी का मार्ग खुल गया। इस प्रकार च्यांग-काई-शेक की गलत रणनीति ने साम्यवादियों की विजय का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

(7) साम्यवादियों की आर्थिक नीति—साम्यवादी शासन ने बंजर भूमि जोतने वालों को पहले तीन वर्ष के लिये अनाज की बँटाई से मुक्त किया, सिपाहियों व राज्यकर्मचारियों को खेती-बाड़ी, अनाज बोने, तरकारी उगाने, सूअर और भेड़ पालने, जुराबें बुनने, जर्सी और दस्ताने तैयार करने आदि कामों में लगाया। जब साम्यवादी शेन्सी नामक क्षेत्र में आये तो वहाँ कोई उद्योग नहीं था। उन्होंने आते ही कारखाने लगाने शुरू किये और 1944 ई. तक वहाँ 90 कारखाने खोल दिये जिनमें लगभग 20 हजार आदमी काम करते थे। दस घण्टे काम करके मजदूर इतना कमाने लगा था कि उसे रोज डेढ़ पौण्ड चावल और महीने में दो पौण्ड मांस मिल सके। 1939 ई. में हूनान में दो साल लगातार सूखा पड़ गया। ऐसे समय साम्यवादियों ने भूमि की जब्ती बन्द कर दी तथा सूद की दरों में कटौती की गई। इससे गरीब और मँझले किसान खुश हो गये। पैदावार को बढ़ाने के लिये एक विशाल अभियान शुरू किया। इससे आर्थिक व्यवस्था में सुधार हुआ। हर प्रशासकीय कर्मचारी को भरपेट भोजन, पर्याप्त वस्त्र और मुफ्त इलाज की सुविधा मिलने लगी।

1947 ई. में साम्यवादियों ने जमींदारों की जमीन छीनकर किसानों में बाँटने की आज्ञा दे दी। जिस प्रदेश पर वे अपना अधिकार करते वहाँ की भूमि किसानों में बाँट देते। इस नीति के कारण साम्यवादियों को जनसाधारण का पूरा समर्थन मिला। साम्यवादियों द्वारा शासित क्षेत्रों में शोषण का अन्त हुआ। इसके विपरीत कुओमिनतांग द्वारा शासित प्रदेशों की आर्थिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त थी, वहाँ वस्तुओं के मूल्य अत्यधिक बढ़ गये तथा साधारण जनता का जीवन-निर्वाह करना कठिन हो गया। साम्यवादियों की आर्थिक नीति की यह विशेषता थी कि चीन में पूँजीवाद तथा चार परिवारों के एकाधिकार का अन्त करने के लिये उन्होंने देश के सभी वर्गों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास किया। वे अपने उद्देश्यों में सफल भी हुए। साम्यवादियों का जनता के साथ घनिष्ठ सम्पर्क था। वे अपनी शक्ति के लिए जनता की सद्भावना व सहायोग पर निर्भर करते थे। इसके विपरीत कुओमिनतांग दल के नेता साधारण जनता की उपेक्षा कर अपने वैयक्तिक उत्कर्ष के लिये तत्पर रहते थे। ऐसी स्थिति में साम्यवादियो की विजय और कुओमिनतांग की पराजय अवश्यंभावी थी।

कुओमिनतांग को परास्त करके साम्यवादियों ने चीन में साम्यवादी शासन व्यवस्था स्थापित कर दी। चीन अब माओत्से तुंग और उसके सहयोगियों के हाथ में आ गया। साम्यवादियों ने अपने विरोधियों को चीन की मुख्य भूमि से खदेड़ दिया। यह एक अत्यन्त ही युगान्तकारी घटना थी और इसका महत्त्व केवल, एशिया के इतिहास में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व के इतिहास में है। विश्व का एक महान् भूखण्ड साम्यवादी झण्डे के नीचे आ गया। सोवियत संघ और साम्यवादी चीन को मिलाकर विश्व की आबादी का करीब एक तिहाई हिस्सा साम्यवादी पद्धति का अनुयायी हो गया।

चीनी पुनर्जागरण (1895-1931)

पुनर्जागरण, धर्मसुधार, व्यावसायिक क्रान्ति, वैज्ञानिक विकास, प्रजातन्त्र तथा राष्ट्रवाद के सिद्धान्तों ने यूरोप में आधुनिक सभ्यता की नींव रखी और यूरोप को प्रगति तथा समृद्धि की ओर अग्रसर किया। इसी सभ्यता से लैस यूरोप ने एशिया पर आक्रमण किया। एशिया की मध्यकालीन सभ्यता इसका सामना करने में असमर्थ थी। जापान ने इस सत्य को आरम्भ में ही समझ लिया था और उसने तत्परता के साथ पाश्चात्य सभ्यता को अपना लिया। परन्तु चीन के कुलीन वर्ग ने अपनी श्रेष्ठता की भावना से प्रेरित होकर आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता का मुकाबला किया। शनैः शनैः चीनियों को अपनी भूल समझ में आने लगी और चीन में पाश्चात्य सभ्यता का विकास आरम्भ हुआ। 19वीं सदी के अन्त में अनेक सुधारवादियों ने चीन में परिवर्तन लाने की चेष्टा की। इन सुधारकों में डॉ. सन-यात-सेन, कांग-यू-वेई, चांग चिह तुंग, लिउ कुन यी आदि प्रमुख थे। चीनी सम्राट क्वांगसू और उसके शिक्षक वेंग तुंग हो के नाम भी प्रमुख सुधारकों में गिनाये जा सकते हैं। 1895 ई. में जापान के हाथों चीन की पराजय ने चीनी जनता की आँखें खोल दीं और उन्हें विश्वास हो गया कि जापानी सफलता का मुख्य कारण उसके द्वारा पश्चिमी विचारधारा का अपनाया जाना था। 1895 ई. से लेकर 1931 ई. की अवधि में चीन के आधुनिकीकरण की दिशा में अनेक ठोस कदम उठाये गये। 1898 ई. तथा 1908 ई. में सम्राट के अधिकारियों ने

सुधारों को कार्यान्वित करने की चेष्टा की। 1911 ई. की क्रान्ति और बाद में कुओमिनतांग दल की प्रगति ने सुधारकों के मार्ग में विद्यमान कंटकों को दूर कर दिया। इस काल में चीन ने पाश्चात्य सभ्यता के प्रमुख तत्त्वों को तेजी से अपनाया, जिसके परिणामस्वरूप नवीन चीन का उदय हुआ। इस प्रक्रिया को "चीनी पुनर्जागरण" के नाम से पुकारा जाता है।

राजनीतिक पुनर्निर्माण—चीन में पश्चिमी देशों की घुसपैठ तथा उनके द्वारा चीन पर आरोपित सन्धियों ने चीन की राजनीतिक सम्प्रभुता को पंगु बना डाला था। चीन में बसने वाले विदेशियों पर चीनी शासन का नियन्त्रण नहीं था और चीन की आय का मुख्य स्रोत चुँगी, डाक, परिवहन आदि पर विदेशियों ने अधिकार कर रखा था। चीन के कई क्षेत्र उसके अधिकार से निकल चुके थे और पश्चिमी शक्तियों में उसके विभिन्न क्षेत्रों को अपने-अपने प्रभाव के अन्तर्गत लाने की होड़ लगी हुई थी। परन्तु उनकी इसी साम्राज्यवादी नीति ने चीन में क्रान्तिकारी भावनाओं का विकास भी किया। परिणामस्वरूप 1911 ई. में निर्बल मंचू राजतन्त्र का अन्त हुआ और गणतन्त्र की बुनियाद पड़ी। इससे चीन में देश-प्रेम तथा राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ और पाश्चात्य प्रभाव के विरुद्ध आन्दोलन जोर पकड़ने लगा। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति से चीन को आंशिक सफलता मिली जबकि पराजित जर्मनी के प्रभाव-क्षेत्र एवं अन्य अधिकारों का स्वतः अन्त हो गया। क्रान्तिग्रस्त रूस की तत्कालीन स्थिति का लाभ उठाते हुए चीन ने अपने सरहदी क्षेत्रों पर पुनः अपना अधिकार जमा लिया। 1924 ई. में सोवियत रूस ने स्वतः अपने पुराने अधिकारों को त्याग दिया। 1922 ई. के वाशिंगटन सम्मेलन में चीन के बाह्य क्षेत्रीय अधिकारों, विदेशी डाकघरों एवं पाश्चात्य नियन्त्रित चुंगी व्यवस्था के अन्त करने पर विचार हुआ और जापान ने शांतुंग का क्षेत्र पुनः चीन को लौटाने का वचन दिया। इंगलैण्ड ने भी 'वे हाई वे' लौटाने का फैसला किया और सभी राष्ट्रों ने चीन में "खुले दरवाजे की नीति" के प्रतिपादन का निर्णय लिया। कुओमिनतांग दल की प्रगति के साथ ही, विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध आन्दोलन में तेजी आई। चीन के अनेक भागों में विद्यार्थियों तथा मजदूरों ने हड़ताल तथा दंगे आरम्भ किये। 1923 ई. में कुओमिनतांग ने "हॉकाउ" तथा "किउक्वांग" नामक ब्रिटिश केन्द्रों पर अधिकार कर लिया। 1929 ई. में इंगलैण्ड ने स्वेच्छा से 'अमोय' तथा 'चिक्यांग' चीन को लौटा दिये। वेल्जियम ने भी टिटसीन स्थित अपना क्षेत्र चीन को लौटा दिया। टिटसीन, शंघाई आदि अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासनिक समितियों में चीन को भी स्थान दिया गया। 1931 ई. तक अधिकांश देशों ने चीन में अपने बाह्य क्षेत्रीय अधिकारों का भी त्याग कर दिया। 1929 ई. में चीन ने चुँगी के मामलों में अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी तथा चुँगी की नई सूची प्रकाशित की। इस अवधि में चीन ने अपने जनतान्त्रिक संविधान तथा शासन विधि का भी संगठन कर लिया। इस प्रकार, राजनीतिक क्षेत्र में विदेशी प्रभाववर्ती क्षेत्रों, विशेषाधिकारों तथा सुविधाओं को समाप्त करके चीन ने एक नया राजनीतिक ढाँचा व्यवस्थित कर लिया, जिससे नवीन चीन के उदय का मार्ग प्रशस्त हो गया।

आर्थिक क्षेत्र में—पश्चिमी देशों के सम्पर्क में आने से पूर्व चीन आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर था। उसकी आर्थिक व्यवस्था का मुख्य आधार कृषि तथा कुटीर उद्योग-धन्धे थे। पश्चिमी देशों की व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा और अफीम व्यापार ने चीन में आर्थिक दुर्व्यस्था का सूत्रपात किया। धीरे-धीरे चीन का तटकर, तटवर्ती व्यापार, जल-पथ परिवहन आदि विदेशियों

के अधिकार में चले गये। साम्राज्यवादी शक्तियों के आर्थिक शोषण के कारण चीन का औद्योगिक विकास तो नहीं हो पाया, परन्तु व्यावसायिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण हो गया और नये ढँग के छोटे उद्योग भी स्थापित होने लगे। 19वीं सदी के अन्त तक चीन के सन्धि बन्दरगाहों में विदेशियों ने अनेक कारखाने खोले तथा उत्तरी चीन में रेलमार्ग का निर्माण किया। 1895 ई. के बाद इस दिशा में भी तेजी के साथ प्रगति हुई। पाश्चात्य मशीनों तथा यन्त्रों को मँगाया गया। कपड़ा, चीनी, आटा, कागज आदि की बहुत-सी मिलें कायम की गईं, जिनके परिणामस्वरूप पुराने औद्योगिक संगठन, गिल्ड आदि टूटने लगे। उनके स्थान पर आधुनिक बैंकों का विकास हुआ और ज्वायण्ट स्टाक कम्पनियों का संगठन किया गया। चूँकि चीन में कच्चा माल तथा श्रमिक पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थे, अतः उद्योगों के संगठन में काफी सहायता मिल जाती थी। औद्योगिक विकास के साथ ही श्रमिक संगठनों का भी उदय हुआ। 1919 ई. में शंघाई में श्रमिकों ने अपना संघ संगठित किया। कृषि का क्षेत्र भी पाश्चात्य प्रभाव से अछूता न रहा और अब किसानों ने खाद्य पैदावार बढ़ाने की चेष्टा की। कृषि कार्य में आधुनिक यन्त्रों तथा उपकरणों का प्रयोग भी शुरू हो गया। उपर्युक्त सभी परिवर्तनों के फलस्वरूप चीन के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में काफी वृद्धि हुई। विदेशों से मशीनें, तम्बाकू, किरोसीन आदि का आयात होने लगा और बदले में चाय, रेशम, कपास, लकड़ी आदि का निर्यात किया जाने लगा। यद्यपि निर्यात की तुलना में आयात अधिक रहा, परन्तु प्रवासी चीनियों द्वारा भेजे गये द्रव्य और विदेशी पर्यटकों एवं मिशनरियों के खर्च के कारण चीन को विदेशी मुद्रा की कमी महसूस नहीं हुई। अब चीनी लोग मोटर, टेलीफोन, कैमरा, रेडियो आदि का उपयोग बहुत बड़ी मात्रा में करने लग गये थे। इस काल में यातायात के साधनों का भी विकास किया गया। मंचूरिया तथा उत्तरी चीन में रेलवे लाइनों का निर्माण हुआ और मोटर-बसों के लिए चौड़ी-चौड़ी सड़कें बनाई गईं। इसी काल में भाप से चलने वाले जहाजों तथा हवाई जहाजों का भी चीन में आगमन हुआ। कुओमिनतांग सरकार ने तटकर की स्वतन्त्रता प्राप्त कर आर्थिक प्रगति की ओर एक महत्त्वपूर्ण कदम बढ़ाया। फिर भी, यह कहना सही है कि 1931 ई. तक चीन में समुचित औद्योगीकरण नहीं हो पाया। अभी भी चीन में कई मुद्राओं का प्रचलन था, जिसकी वजह से आर्थिक प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता था। परन्तु आर्थिक अवरोध का सबसे बड़ा कारण देश की राजनैतिक अस्थिरता एवं अनिश्चितता थी। दीर्घकाल तक लड़े जाने वाले गृहयुद्ध ने चीन की आर्थिक प्रगति को जकड़ दिया।

सामाजिक क्षेत्र में—चीनी समाज संयुक्त परिवार प्रथा में विश्वास रखता था और पितरों की पूजा को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता था। महात्मा कन्फ्यूशियस की नैतिक शिक्षा में लोगों का अगाध विश्वास था। परन्तु पाश्चात्य सम्पर्क और औद्योगीकरण ने चीन की परम्परागत सामाजिक व्यवस्था में महान् परिवर्तन ला दिया। ईसाई धर्म प्रचारकों ने भी चीनियों के पारिवारिक संगठन पर जोरदार चोट की। 1895 ई. के बाद सामाजिक परिवर्तनों की प्रक्रिया तेज होती गई। अब चीनी युवक बड़े-बड़े नगरों में जाकर बसने लगे और पारिवारिक बन्धनों तथा दायित्व से मुक्त होने की चेष्टा करने लगे। अब पारिवारिक मर्यादा का स्थान वैयक्तिक स्वतन्त्रता ने ले लिया। संयुक्त परिवारों के स्थान पर परिवारों की छोटी इकाइयाँ बनने लगीं और नवयुवक अपनी मनपसन्द लड़कियों से अपना विवाह तय करने लगे। इस काल में स्त्री शिक्षा का भी प्रसार हुआ

और बहुत-सी चीनी लड़कियाँ उच्च शिक्षा के लिए विदेशों में भी जाने लगीं। 1911 की क्रान्ति के बाद चीनी स्त्रियों में जबर्दस्त चेतना आई और बहुत बड़ी संख्या में चीनी लड़कियाँ अध्ययन के लिए विदेशों में जाने लगीं। वे चिकित्सा, अध्यापन, पत्रकारिता, क्लर्क, टाइपिस्ट आदि पेशों को अपना कर अपना स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने लगीं। सह-शिक्षा के विकास के फलस्वरूप चीनी स्त्रियाँ पुरुषों के साथ प्रतिद्वन्द्विता रखने लगीं और उनमें समानता की भावना जोर पकड़ने लगी। वे भी अपना मन-पसन्द जीवन साथी तय करने लगीं। वेशभूषा, मनोरंजन आदि पर भी पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव पड़ा। 1911 के बाद चीनियों ने चोटी रखना बन्द कर दिया तथा यूरोपियन ढँग के बाल रखने लगे। पोशाक में भी पश्चिम का अनुसरण किया गया। फुटवाल, टेनिस आदि यूरोपियन खेल लोकप्रिय होने लगे। नाटकों का स्थान सिनेमा ने ले लिया। कला के क्षेत्र में भी पाश्चात्य शैली की नकल की जाने लगी। संक्षेप में, 1931 तक चीन के सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक महान् परिवर्तन आ गया और चीनी समाज पश्चिमी सभ्यता के रंग में डूबने लग गया था।

धार्मिक क्षेत्र में—पाश्चात्य सम्पर्क में आने के समय चीन में पाँच धर्मों—कन्फ्यूशियस का धर्म, ताओवाद, बौद्ध धर्म, इस्लाम और ईसाई धर्म के अनुयायी चीन के विभिन्न क्षेत्रों में फैले हुए थे। इनमें कन्फ्यूशियस मत के अनुयायियों की संख्या सर्वाधिक थी। ताओवाद के अनुयायियों की संख्या तेजी से घटती जा रही थी। बौद्ध धर्म अब भी लोकप्रिय था और देश के विभिन्न भागों में बौद्ध मठ तथा केन्द्र फैले हुए थे। इस्लाम के अनुयायियों की संख्या सिक्यांग तथा मंगोलिया के प्रान्तों में ठीक थी। ईसाई धर्म अभी मजबूती के साथ अपने पैर नहीं जमा पाया था और इसके अनुयायियों की संख्या काफी कम थी। वस्तुतः चीनी समाज और राजनीति कन्फ्यूशियस के धर्म पर आधारित थी। परन्तु पश्चिम के विचारों ने कन्फ्यूशियसवाद की नींव को खोखला बनाने का प्रयास किया और मंचू राजवंश के अन्त हो जाने के बाद यह प्रक्रिया काफी तेज हो गई। प्राचीन परीक्षा पद्धति को समाप्त कर देने का एक परिणाम यह निकला कि चीनी विद्यार्थियों ने अब कन्फ्यूशियस का अध्ययन बन्द कर दिया और उसके स्थान पर पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन को महत्त्व दिया जाने लगा। मन्दिरों और मठों की मरम्मत तथा रख-रखाव पर ध्यान न देने के कारण वे ढहने लगे। लोगों का धर्म के प्रति रुझान कम होने लगा। इसी काल में ईसाई धर्म प्रचारकों ने तेजी के साथ अपने धर्म का व्यापक प्रचार किया। उन्होंने चीन के विभिन्न क्षेत्रों में शिक्षण संस्थाओं और चिकित्सालयों की स्थापना की। उनके परोपकारी कार्यों से चीनी जनता में ईसाई धर्म के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा। डॉ. सन-यात-सेन और च्यांग-काई-शेक, दोनों ही ईसाई धर्म के अनुयायी थे। 1931 ई. के अन्त तक लाखों चीनी ईसाई धर्म अपना चुके थे। ईसाई धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए बौद्ध धर्म ने अपना पुनर्गठन किया और इस काम में चीनी बौद्धों को जापान से पर्याप्त सहायता मिली। इस प्रकार, चीन में धार्मिक आन्दोलन की लहर आ गई, जिसके परिणामस्वरूप चीन के सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक जीवन में तर्क, विवेक एवं बुद्धि का विकास हुआ। मध्यकालीन अन्धविश्वासों तथा ढोंग-पाखण्ड का अन्त हुआ।

बौद्धिक क्षेत्र में—पाश्चात्य सम्पर्क के परिणामस्वरूप चीन के बौद्धिक क्षेत्र में जिस महान् क्रान्ति का सृजन हुआ, उसका महत्त्व राजनीतिक तथा आर्थिक परिवर्तनों से भी अधिक है। इससे पहले चीन का बुद्धिजीवी वर्ग कन्फ्यूशियस साहित्य के सीमित दायरे में बन्द था। पाश्चात्य सम्पर्क ने कन्फ्यूशियस साहित्य की गतिहीनता एवं खोखलेपन को स्पष्ट कर दिया। चीनी लोगों को पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की उपादेयता शीघ्र ही समझ में आ गई। परिणामस्वरूप सम्पूर्ण चीन में अनेकों महाविद्यालय कायम हुए, जिनमें पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान, साहित्य एवं विचारधाराओं की शिक्षा दी जाने लगी। शुरू में, ईसाई मिशनरियों ने ही इस प्रकार के विद्यालय कायम किये थे। 1865 ई. में चीनी सरकार ने तुंगवेन महाविद्यालय की स्थापना की और बीस वर्ष बाद टिटसीन में पेइयांग विश्वविद्यालय और 1900 ई. में पीकिंग विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। इन विश्वविद्यालयों में चीनी साहित्य के साथ-साथ पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान तथा साहित्य की भी शिक्षा दी जाती थी। 1905 ई. में प्राचीन परीक्षा पद्धति को समाप्त कर देने से कन्फ्यूशियस की शैक्षणिक परम्परा की रीढ़ ही टूट गई। 1911 में चीनी गणतन्त्र की स्थापना के बाद अनेक मठों एवं मन्दिरों को विद्यालयों में परिवर्तित कर दिया गया। समूचे चीन में साक्षरता आन्दोलन चलाया गया। इस दिशा में श्री येन ने सामूहिक शिक्षा (Mass Education) का आन्दोलन चलाया, जिससे साक्षरता आन्दोलन को काफी सफलता मिली। उच्च शिक्षा की प्राप्ति हेतु सैकड़ों चीनी विद्यार्थियों को विदेशों में भेजा गया। चीन ने सह-शिक्षा पर जोर दिया, जो अपने आप में एक क्रान्तिकारी कदम था। इससे चीनी स्त्रियों के बौद्धिक विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। पाश्चात्य प्रभाव का एक परिणाम यह भी निकला कि चीनी नवयुवक एवं नवयुवतियाँ अब अपने प्राचीन साहित्य और दर्शन को भी तर्क एवं आलोचना की दृष्टि से देखने लगे। एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि चीनियों में राष्ट्रीय भावना का विकास हुआ और विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध छेड़े गये आन्दोलन में विद्यार्थियों ने सक्रिय भाग लिया। कुओमिनतांग की प्रगति में भी विद्यार्थियों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही थी। 1931 ई. तक चीन में लगभग 1,31,000 शिक्षण संस्थाएँ थीं, जिनमें लगभग 43 लाख विद्यार्थी पढ़ रहे थे। इस प्रकार, चीन सुप्तावस्था से जागरण की ओर अग्रसर हुआ।

साहित्य एवं समाचार-पत्र—पाश्चात्य शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान एवं साहित्य के प्रसार के फलस्वरूप चीन में नई-नई पुस्तकों, पत्र और पत्रिकाओं की संख्या में जबरदस्त वृद्धि हुई। इससे चीनियों के सामने ज्ञान-विज्ञान का अथाह भण्डार खुल गया। पाश्चात्य कृतियों का चीनी भाषा में अनुवाद किया जाने लगा। चीनी साहित्य का शब्दकोश तैयार किया गया और चीन की श्रेष्ठ कृतियों का विदेशी भाषाओं में अनुवाद करने का काम भी शुरू हुआ। परिणामस्वरूप चीनियों को अपने साहित्य का वास्तविक मूल्यांकन करने का अवसर मिला। इस दिशा में पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त चीनी विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। चीन के सुप्रसिद्ध विद्वान् हु शिह के नेतृत्व में चीन के नये लेखकों ने आम चीनी भाषा में लिखने का संकल्प लिया, जिससे एक निश्चित चीनी लेखन शैली का विकास हुआ, जिसमें प्राचीन पांडित्यपूर्ण शैली को महत्त्व दिया गया। वह शीघ्र ही राष्ट्रीयता का प्रतीक बन गई और इस भाषा में अनेक पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं आदि का सृजन होने लगा 1870 ई. में चीनी भाषा में प्रथम समाचार-पत्र का भी प्रकाशन हो गया।

1895 ई. के वाद प्रत्येक बड़े शहर के अपने समाचार-पत्र निकलने लगे। चीनी क्रान्ति के वाद साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक तथा वार्षिक पत्रिकाओं की बाढ़-सी आ गई। 1920 ई. में चीनी सरकार के आदेश से प्राथमिक कक्षाओं में आम चीनी भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाने लगी। परिणामस्वरूप धीरे-धीरे शिक्षा एवं साहित्य के क्षेत्र में परम्परागत बन्धनों का अन्त हो गया और चीनियों के सामने आधुनिक वौद्धिक क्षेत्र का मार्ग प्रशस्त हो गया।

मूल्यांकन—पाश्चात्य सम्पर्क के परिणामस्वरूप चीन में नवजागरण की जो प्रक्रिया शुरू हुई, वह 1931 ई. के बाद अचानक रुक गई। इसका मुख्य कारण चीन का गृह-युद्ध तथा चीन पर जापान का आक्रमण था। फिर भी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि चीनियों ने पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की उपादेयता और महत्त्व को समझ लिया था और राजनैतिक अस्थिरता तथा आन्तरिक अव्यवस्था के उपरान्त भी वे इस दिशा में आगे बढ़ने का निरन्तर प्रयास करते रहे। आर्थिक दृष्टि से चीन के पास खनिज सम्पदा का अक्षय भण्डार था, लेकिन वह उसका पूरा-पूरा उपयोग करने में असमर्थ था। 1931 ई. में भी चीन के प्रमुख उद्योगों पर विदेशियों का नियन्त्रण बना हुआ था और चीन केवल कच्चे माल का निर्यात कर रहा था। पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार तथा साक्षरता आन्दोलन के परिणामस्वरूप चीनी समाज में नई चेतना का उद्‌भव हुआ, परन्तु अभी उसे गाँव-गाँव तक पहुँचना बाकी रह गया था। प्रतिकूल राजनीतिक परिस्थितियों के कारण चीनी जनता नवजागरण का पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा पाई; फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि नवजागरण ने आधुनिक चीन के निर्माण की आधारशिला रख दी। 1949 ई. के बाद साम्यवादी सरकार ने इसका पूरा-पूरा लाभ उठाया और चीन को महान् शक्तियों की पंक्ति में ला खड़ा किया।

प्रश्न

1. 1911 की क्रान्ति के पूर्व पश्चिमी देशों के साथ चीन के प्रारम्भिक सम्बन्धों की समीक्षा कीजिये। इससे यूरोपीय देशों का क्या लाभ मिला ?
2. 1911 की चीनी क्रान्ति के मुख्य कारणों एवं परिणामों की व्याख्या कीजिये।
3. डॉ. सनयातसेन के सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिये तथा उनकी उपलब्धियों का उल्लेख कीजिये।
4. च्यांगकाईशेक के नेतृत्व में चीन के उदय के समीक्षा कीजिये।
5. चीन में साम्यवादी दल के उदय एवं विकास पर एक टिप्पणी लिखिये।
6. चीन के गृह-युद्ध में साम्यवादियों की सफलता के कारणों का उल्लेख कीजिये।
7. चीनी-पुनर्जागरण से आपका क्या अभिप्राय है ? चीन के उदय में इसकी भूमिका का उल्लेख कीजिये।

अध्याय-23

जापान का उदय
(Rise of Japan)

भूमिका—"उगते सूर्य का देश" अर्थात् जापान कई द्वीपों का समूह है, जिनमें चार द्वीप क्यूशु (Kyushu), शिकोकू (Shikoku), होन्सू (Honshu) और होकायड़ी (Hokhaido) प्रमुख हैं। इन द्वीपों का सिलसिला उत्तर में कमचटका द्वीप से शुरू होता है और दक्षिण में फार्मोसा द्वीप पर जाकर समाप्त होता है। जापान के पश्चिम में कोरिया स्थित है, जो चीन तथा एशिया से जापान का स्थल सम्बन्ध स्थापित करता है और इसी कारण जापान के लिए कोरिया का विशेष महत्त्व रहा है। जापानी द्वीपों का इलाका पहाड़ी है और अनेक ज्वालामुखी पर्वत भी हैं। कृषि-योग्य भूमि की काफी कमी है और खनिज सम्पदा की दृष्टि से भी जापान आत्म-निर्भर नहीं कहा जा सकता। परिणामस्वरूप जापानी लोग प्राचीन काल से ही कठोर परिश्रमी और अध्यवसायी रहे हैं।

जापान का प्राचीन धर्म "शिंतो" के नाम से प्रसिद्ध था। इस धर्म में प्राकृतिक पूजा तथा भूत-प्रेतों में विश्वास की भावना अधिक प्रबल थी। छठी सदी में जापान में बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ और अधिकांश जापानियों ने इस धर्म को अपना लिया। वैसे कन्फ्यूशियस और लाओत्से के विचारों का भी थोड़ा-बहुत जापानियों पर प्रभाव पड़ा। फिर भी, शिंतो धर्म पूर्णतया नष्ट नहीं हुआ और इसका प्रभाव भी बना रहा।

राजनीतिक पृष्ठभूमि—प्राचीन काल के आरम्भ से ही जापान में राजतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था का उदय हो चुका था। जापान के विभिन्न भागों में अलग-अलग परिवारों ने अपना शासन कायम कर लिया था। 650 ई.पू. के आसपास "जिम्मोतेन्नो" नामक पराक्रमी व्यक्ति ने अन्य सभी परिवारों को अपने अधीन कर लिया और 'यामातो' नामक नगर को अपनी राजधानी बनाया। इसी नगर के नाम पर जिम्मो के राजवंश का नाम यामातो पड़ा। तब से ही जापान पर यामातो राजवंश का शासन चला आ रहा था। 745 ई. में केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण को सुदृढ़ बनाने के लिए कई तरह के प्रशासनिक सुधार कार्यान्वित किये गये जिनमें से एक था—देश के भिन्न-भिन्न भागों में सरकारी अधिकारियों को नियुक्त करना। समय के साथ-साथ इन अधिकारियों के पद वंशानुगत बना दिये गये और सरकार की तरफ से करमुक्त जमीनें भी प्रदान

की गई। इन्हीं अधिकारियों से जापान के सामन्त वर्ग का उदय एवं विकास हुआ। ये लोग 'डेम्पो' के नाम से पुकारे जाते थे। धीरे-धीरे इन सामन्तों में राजदरबार में प्रमुखता प्राप्त करने तथा शासन सत्ता को अपने हाथों में लेने के लिए प्रतिस्पर्द्धा शुरू हो गई। 1192 ई. में सर्वप्रथम योरीतोमो नामक सामन्त को अपना प्रभाव स्थापित करने में सफलता मिली और सम्राट ने उसे 'शोगून' अर्थात् 'बर्बर विजयी सेनापति' का पद प्रदान किया। अन्य पदों की भाँति यह पद भी वंशानुगत हो गया। शासन की बागडोर अब शोगून के हाथ में आ गई। अतः डेम्पो में इस पद को प्राप्त करने की प्रतिस्पर्द्धा शुरू हो गई। परिणामस्वरूप शोगून का पद एक परिवार से दूसरे परिवार में आता-जाता रहा। 1603 ई. में इस पर तोकूगावा परिवार का अधिकार हो गया, जो 1867 ई. तक कायम रहा।

पश्चिमी देशों के सम्पर्क से पूर्व का जापान—पश्चिमी देशों के सम्पर्क में आने से पूर्व जापान की आर्थिक स्थिति तो ठीक थी, परन्तु राजनीतिक स्थिति ठीक नहीं थी। शासन का प्रमुख सम्राट माना जाता था, परन्तु उसके हाथ में किसी प्रकार की शक्ति नहीं थी। वैसे शासन उसी के नाम से चलाया जाता था, परन्तु वह शासन नीति का निर्माता नहीं था। सम्राट तथा उसका परिवार क्योतो के राजप्रासाद में रहता था और उसे राजकीय आय का एक निश्चित भाग दे दिया जाता था। जापानी लोग अपने सम्राट को ईश्वर का अंश समझते थे और सामान्य लोगों को तो सम्राट से मिलने की भी मनाही थी। सम्राट की वास्तविक शक्ति 'शोगून' के हाथ में थी। इस समय इस पद पर तोकूगावा परिवार का अधिकार था। शोगून का निवास स्थान "येडो" में था और वह इसी नगर से शासन संचालन करता था। इस परिवार के शोगूनों के काल में विदेशियों के लिए जापान के द्वार बन्द रखे गये और सामन्तों पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये गये। तोकूगावा परिवार के समर्थक सामन्तों को ऊँचे पद प्रदान किये गये तथा इस परिवार के विरोधी सामन्तों को शक्तिहीन बना दिया गया। इससे जापान में शान्ति बनी रही, व्यापार-वाणिज्य तथा उद्योग-धन्धों का विकास हुआ और जापान शेष संसार से पृथक् होकर चैन की वंशी बजाता रहा। उन्नीसवीं सदी में पश्चिमी राष्ट्रों ने उसके रमणीय एकान्तवास को समाप्त कर दिया।

पश्चिमी देशों के साथ सन्धियाँ—पुनर्जागरण के बाद यूरोपियन नाविक एशिया के जलमार्गों की खोज करते-करते जापान तक जा पहुँचे। जापान के साथ सम्पर्क स्थापित करने का सर्वप्रथम प्रयास 1542 ई. में पुर्तगालियों ने किया था। 16वीं सदी के अन्त तक स्पेनिश और 17वीं सदी के प्रारम्भ में डच और अँग्रेज भी जापान पहुँचे। इन लोगों ने दक्षिणी जापान से प्रवेश किया और नागासाकी में अपनी कोठियाँ कायम कीं। इसके बाद ईसाई धर्म-प्रचारक भी जापान आ पहुँचे और उन्होंने अपना धर्म-प्रचार शुरू किया। आरम्भ में जापानियों ने विदेशियों का स्वागत किया, परन्तु इनके आपसी झगड़ों को देखकर वे चौकन्ने हो गये। 1637 ई. में एक कानून द्वारा पश्चिमी देशों के साथ सम्पर्क विच्छेद कर दिया गया। स्पेन, पुर्तगाल तथा इंगलैण्ड के व्यापारियों को जापान में आने से मना कर दिया गया तथा जापानियों को भी इनके साथ व्यापार करने से मना कर दिया गया। केवल डच व्यापारियों को नागासाकी में रहकर व्यापार करने की अनुमति दी गई।

19वीं सदी के प्रारम्भ में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप वाष्पचालित बड़े-बड़े जहाज दुनिया के हर कोने में चक्कर लगाने लगे। प्रशान्त महासागर में आने-जाने वाले जहाजों को प्रायः कोयले और पानी की कमी हो जाया करती थी और जहाजों की मरम्मत की आवश्यकता भी आ पड़ती थी। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण जापान का इस काम की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया था। परन्तु जापान विदेशियों के लिए अपने द्वार बन्द रखना चाहता था, जबकि पश्चिमी देशों के लिए जापान के द्वार को खुलवाना अत्यधिक आवश्यक हो गया था। इस काम को संयुक्त राज्य अमेरिका ने पूरा किया और पश्चिमी देशों के लिए जापान के द्वार खुल गये।

19वीं सदी के द्वितीय चरण तक संयुक्त राज्य अमेरिका ने प्रशान्त महासागर के तट तक अपना प्रसार कर लिया था और केलिफोर्निया वन्दरगाह का विकास हो जाने के बाद से प्रशान्त महासागर में अमेरिकन जहाजों का आवागमन बढ़ने लग गया था। इन जहाजों की मरम्मत के लिए किसी सुविधाजनक स्थान की आवश्यकता थी। इस दृष्टि से जापान उपयुक्त स्थान था। क्योंकि चीन में अन्य यूरोपीय शक्तियाँ अपना भाग्य आजमा रही थीं अतः अमेरिका ने जापान में अपना भाग्य आजमाने का निश्चय किया और 1840 ई. में अमेरिका ने अपने दो जहाज येडो की खाड़ी में भेजे ताकि जापान के साथ राजनीतिक सम्पर्क कायम किया जा सके। अमेरिका के इस प्रथम प्रयास को सफलता नहीं मिली। इसके कुछ समय बाद ही चीन और इंगलैण्ड में अफीम युद्ध लड़ा गया, जिसमें चीन को पराजित होना पड़ा और यूरोपीय राष्ट्रों के लिए अपने कुछ वन्दरगाह खोलने पड़े। इस घटना का प्रभाव जापान और अमेरिका दोनों देशों पर पड़ा। जापान ने सोचा कि युद्ध में पश्चिमी देशों को पराजित करना असम्भव होगा और पराजित हो जाने के बाद पश्चिमी देशों की मुँह-माँगी सुविधाएँ देनी पड़ेंगी। इससे तो अच्छा होगा कि उन्हें अपनी तरफ से ही सुविधाएँ दे दी जायँ, ताकि जापान युद्ध के विनाश और अपमान से सुरक्षित रहे। दूसरी तरफ, इस घटना से अमेरिका में उत्साह फैल गया और वह सोचने लगा कि जब इंगलैण्ड चीन जैसे विशाल देश को पराजित करके सुविधा प्राप्त कर सकता है तो अमेरिका जापान जैसे छोटे राष्ट्र से वांछित सुविधाएँ क्यों नहीं प्राप्त कर सकता ? इसलिए 1853 ई. में अमेरिका ने कमांडोर पेरी के नेतृत्व में चार जहाज जापान भेजे। जापानियों ने पेरी को आगे बढ़ने से रोकना चाहा परन्तु वह जापान के समुद्री तट पर पहुँच गया और वहाँ के जापानी अधिकारियों को अपने राष्ट्रपति का पत्र दिया जिसे जापान सम्राट तक पहुँचाने को कहा गया। पेरी एक वर्ष बाद आकर उत्तर ले जाने का वायदा करके वापिस अमेरिका लौट आया। अगले वर्ष पेरी पहले से भी अधिक शक्तिशाली जहाजी बेड़े के साथ जापान पहुँचा तो शोगून ने परिस्थिति का सही मूल्यांकन करते हुए अमेरिका के साथ सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार जापान के तीन बन्दरगाह अमेरिका के लिए खोल दिये गये जहाँ से वे कोयला, रसद और पानी ले सकते थे और अपने जहाजों की मरम्मत भी करवा सकते थे। जहाज के दुर्घटनाग्रस्त हो जाने पर अमेरिकी नाविकों को जापान में आश्रय लेने की सुविधा भी दी गई। जापानी सरकार ने अपनी राजधानी में अमेरिकी सरकार के एक प्रतिनिधि को रखना भी मंजूर कर लिया। इस प्रकार, अमेरिका को सभी वांछित सुविधाएँ प्राप्त हो गईं और जापान भी पश्चिमी देशों के राजनीतिक सम्पर्क में आ गया। इसके बाद 1854 ई. में इंगलैण्ड के साथ, 1855 ई. में रूस के साथ और 1857 ई. में हालैण्ड के साथ भी जापान ने इसी प्रकार की सन्धियाँ कर लीं।

परन्तु अमेरिका को केवल तीन बन्दरगाहों की सुविधा भी कम प्रतीत हुई और जापान में स्थित उसके राजदूत टाउनशेंड हेरिस ने और अधिक सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए जापानी सरकार से वार्ता जारी रखी। परिणामस्वरूप, 1858 ई. में जापान ने अमेरिका के साथ एक और सन्धि की। इस नयी सन्धि के अनुसार चार और बन्दरगाह अमेरिका के लिए खोल दिये गये और सातों बन्दरगाहों में अमेरिका को व्यापार करने की अनुमति भी प्रदान की गई। व्यापारिक सामान पर पाँच प्रतिशत चुँगी-कर निश्चित किया गया और अमेरिकी नागरिकों को जापानी कानून तथा न्याय-व्यवस्था से मुक्त रखा गया। इसके बदले में अमेरिका ने जापान तथा पश्चिमी देशों के मध्य उत्पन्न होने वाले विवाद को सुलझाने में जापान को पूरा सहयोग देने का आश्वासन दिया। अन्य देशों को भी ऐसी ही सुविधायें दी गईं।

सम्राट की शक्ति का पुनरुद्धार—सम्राट की शक्ति का पुनरुद्धार का अर्थ है—"मेजी शासन की पुनःस्थापना"। जापान में पश्चिमी देशों के प्रवेश ने विदेशियों के विरुद्ध एक नये आन्दोलन को जन्म दिया। चूँकि पश्चिमी देशों के साथ सन्धियाँ करने का दायित्व शोगून का था, अतः जनता उसके विरुद्ध हो गई। इस आन्दोलन का ध्येय विदेशियों का बहिष्कार, शोगून की पदच्युति और सम्राट की शक्ति की पुनःस्थापना था। इस आन्दोलन से पश्चिमी देशों को भी ज्ञात हो गया कि राज्य की सर्वोपरि शक्ति वास्तव में क्योतो स्थित सम्राट में है और सन्धियों पर उसके हस्ताक्षर होना अति आवश्यक है। अतः वे सम्राट से सीधा सम्पर्क आवश्यक समझने लगे। क्योतो के राजदरबार में शोगून के विरोधी सामन्तों ने भी सम्राट को शोगून तथा उसके द्वारा की गई सन्धियों के विरुद्ध भड़काया। फल यह हुआ कि शोगून के विरुद्ध प्रबल जनमत तैयार हो गया। जापान में "सम्राट का आदर करो, विदेशियों को भगा दो" का नारा गूँजने लगा।

इसी बीच आन्दोलन ने थोड़ा उग्र रूप धारण कर लिया और विदेशियों पर आक्रमण किये जाने लगे। ब्रिटिश तथा अमेरिकी दूतावासों को जला दिया गया और एक अन्य अवसर पर कुछ अँग्रेज नागरिकों को मौत के घाट उतार दिया गया। इन हिंसक वारदातों के पीछे शोगून-विरोधी सामन्तों का प्रत्यक्ष हाथ था। मौजूदा शोगून इन आक्रमणों को रोकने में असमर्थ रहा। इस पर पश्चिमी देशों ने संयुक्त रूप से कार्यवाही करने का निश्चय किया। पश्चिमी जहाजों तथा सैनिकों ने शोगून-विरोधी अथवा आन्दोलन को भड़काने वाले सामन्तों के किलों पर आक्रमण कर उन्हें नष्ट कर दिया। इन सब घटनाओं से शोगून की प्रतिष्ठा और शक्ति धूल में मिल गई। परन्तु इससे सम्राट और विरोधी सामन्तों को भी सबक मिल गया कि पश्चिमी देशों से झगड़ा मोल लेने में हानि के अलावा कुछ नहीं मिलने वाला है। ऐसे समय में 1866 ई. में बूढ़े शोगून की मृत्यु हो गई और 'केइकी' नया शोगून बना। केइकी एक समझदार तथा विचारवान व्यक्ति था और वह समय को पहचानने में सफल रहा। 1867 ई. में बूढ़े सम्राट का भी स्वर्गवास हो गया और 'मुत्सुहितो' नया सम्राट बना। उस समय उसकी आयु केवल 24 वर्ष की थी, परन्तु वह एक योग्य तथा बुद्धिमान् शासक सिद्ध हुआ। उसने "मेजी" की उपाधि धारण की—जिसका अर्थ है, "बुद्धिमत्तापूर्ण शासन"। उसने अपनी उपाधि को सार्थक कर दिखाया। 1868 ई. में केइकी ने स्वेच्छा से शोगून पद से त्यागपत्र दे दिया। अब शासन की वास्तविक तथा कानूनी शक्ति सम्राट के हाथ में आ गई। इस घटना को इतिहास में 'सम्राट की शक्ति का पुनरुद्धार' अथवा 'मेजी शासन की पुनः स्थापना' के नाम से पुकारा जाता है।

जापान का आधुनिकीकरण

शोगून की समाप्ति और मेजी पुनर्स्थापना, दोनों घटनाएँ अत्यन्त असाधारण ढँग से सम्पन्न हुईं। लेकिन इन घटनाओं ने जापान को नवजीवन प्रदान किया जिससे वह कुछ ही वर्षों में एक आधुनिक राज्य बन गया। जापान के लोगों में विदेशियों के प्रति विरोध की भावना विद्यमान थी और वे किसी तरह विदेशियों को अपने राज्य से निकाल बाहर कर देना चाहते थे। किन्तु वे चीन की हो रही दुर्दशा से भी परिचित थे और इसलिये वे अनुभव कर रहे थे कि इन विदेशियों से अपने देश की रक्षा करने का एकमात्र उपाय उन्हीं के साधनों, ज्ञान-विज्ञान, तकनीकी और सैन्य संगठन को अपनाना है। जापानियों की धारणा थी कि जापान स्वयं एक आधुनिक शक्तिशाली राज्य बनकर ही पाश्चात्य साम्राज्यवाद का मुकाबला कर सकता है। अतः जापान में देश के आधुनिकीकरण के लिये एक प्रबल आन्दोलन आरम्भ हो गया, जिसके फलस्वरूप देश के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आमूल परिवर्तन हुए और जापान का कायाकल्प हो गया।

सामन्ती प्रथा का अन्त—मेजी पुनर्स्थापना के पूर्व जापान में सामन्ती प्रथा प्रचलित थी। किन्तु 1868 ई. की रक्तहीन क्रान्ति एवं मेजी पुनर्स्थापना के बाद इस व्यवस्था का बना रहना कठिन हो गया। नवीन परिस्थितियों में सम्राट के समक्ष प्रमुख प्रश्न यह था कि देश में एक व्यवस्थित और शक्तिशाली सरकार की स्थापना की जाय और सम्पूर्ण जापान को एक केन्द्रीय शासन के सूत्र में आबद्ध कर दिया जाय।

जापान में सामन्तवाद का अन्त अनेक चरणों में पूरा हुआ। राष्ट्रीय भावना से अभिभूत होकर अनेक सामन्त स्वयं सम्राट के समक्ष नत मस्तक होने लगे। 5 मार्च, 1869 को सातसूमा, चोशू, तोसा और हीजन के डैम्पों ने एक आवेदन-पत्र द्वारा अपनी रियासतें सम्राट को समर्पित कर दीं और केन्द्रीय शासन की अधीनता स्वीकार कर ली। सम्राट ने उनकी सारी सामन्ती सुविधाएँ समाप्त कर दीं। अन्य डैम्पों ने भी ऐसा ही किया और जो कुछ शेष रह गये थे उन्हें 25 जुलाई को सम्राट ने ऐसा करने का आदेश दिया। यद्यपि सारी रियासतें सम्राट के अधीन हो गयीं, किन्तु जागीरों पर से सामन्ती शासन का अन्त नहीं हुआ। रियासतों को जिले का रूप दे दिया गया और उनमें उनके डैम्पों को ही प्रशासक नियुक्त कर दिया गया तथा उन पर केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण को कड़ा कर दिया गया। इससे जागीरों में रहने वाली प्रजा यह अनुभव करने लगी कि सम्राट का उन पर प्रत्यक्ष शासन है। कुल आय का दसवाँ हिस्सा डैम्पो का वेतन निश्चित कर दिया गया और उनके लिये वर्ष में तीन महीने राजधानी टोक्यो में रहना अनिवार्य कर दिया गया। 29 अगस्त, 1871 को सरकार ने सामन्ती रियासतों (जिनका नाम अब हान था) को पूरी तरह समाप्त करने का फैसला कर लिया। सम्पूर्ण देश को तीन शहरी प्रदेशों—ओसाका, क्योतो और टोक्यो व बहत्तर अन्य प्रदेशों में बाँटकर उन्हें केन्द्र द्वारा नियुक्त गवर्नरों के अधीन कर दिया। प्रदेशों (केन) को जिलों (गून), शहर (कू), कस्बा (माची) और गाँव (मूरा), इन भागों में बाँटा गया और गवर्नरों को इनके प्रशासनिक अधिकारी नियुक्त करने का अधिकार दे दिया गया। बाद में सामन्तों के भत्तों में कमी कर दी गई। 1873 ई. में सरकार ने छोटे सामन्तों को कहा कि वे अपनी वार्षिक आमदनी का चार या छः गुना आधा नकद और आधा सरकारी हुण्डियों में एक मुश्त ले

लें। 1876 ई. में एक कानून द्वारा सभी भत्ते सरकारी हुण्डियों में इस तरह वदल दिये गये वि ज्यादा भत्ते पाने वाले को कम और कम भत्ता पाने वाले को ज्यादा मुआवजा मिले। इस प्रकार सदियों से चली आ रही सामन्ती प्रथा का अन्त हो गया और सम्पूर्ण देश एकता के सूत्र में बँध गया। यह एक महान् क्रान्ति थी।

सैनिक सुधार—जापान की सैनिक व्यवस्था सामन्ती प्रथा पर आधारित थी। लेकिन जब जापान में सामन्ती व्यवस्था का अन्त कर दिया गया तब सेना के संगठन में भी परिवर्तन करना अनिवार्य हो गया। अब तक जापानी सेना का निर्माण सामूराई लोगों द्वारा होता आया था। सामूराई लोग सामन्तों की सेवा में रहकर सैनिक सेवा प्रदान करते थे। सेना में प्रवेश केवल इसी वर्ग तक सीमित था अर्थात् सेना में प्रवेश केवल सामूराई वर्ग को ही दिया जाता था, जनसाधारण को सैनिक सेवा करने का कोई अवसर उपलब्ध नहीं होता था। लेकिन जब सामन्ती प्रथा का अन्त हो गया तब सामूराई वर्ग के इस एकाधिकार का भी अन्त हो गया। जापान के सभी वर्गों के लिये सेना में भर्ती के लिये दरवाजा खोल दिया गया। इस परिवर्तन के कारण अब जापानी सेना का स्वरूप राष्ट्रीय हो गया। 1872 ई. में सैन्य संगठन के सम्वन्ध में दूसरा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया गया। इस वर्ष एक राज्याज्ञा द्वारा जापान में सैनिक सेवा को अनिवार्य घोषित कर दिया गया। अब जापान के नागरिकों के लिये सैनिक शिक्षा प्राप्त करना तथा निश्चित समय तक सैनिक सेवा करना अनिवार्य हो गया। इस परिवर्तन का जापान के राष्ट्रीय जीवन पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। इस परिवर्तन के कारण ही जापान में सैनिकवाद की उन्नति हुई और जापान साम्राज्यवादी युद्धों में उलझ गया।

कानूनी समानता की स्थापना—मेजी पुनर्स्थापना के बाद सामन्ती प्रथा की समाप्ति के साथ ही सामन्तों को जन-सामान्य की स्थिति में लाना अनिवार्य हो गया था, क्योंकि विशेषाधिकारों की स्थिति अधिक दिनों तक नहीं चल सकती। 1869 ई. में सरकारी और व्यावसायिक नौकरियों पर से वर्ग-विषयक पाबन्दियाँ हटा ली गईं। 1870 ई. में सामान्य जनता को पारिवारिक नाम धारण करने का अधिकार मिल गया जो पहले केवल सामन्तों तक ही सीमित था। 1871 ई. में समाज के सबसे निम्न वर्ग को भी पूरी समानता दे दी गयी। सामन्तों को विशेष चिह्न के रूप में दो तलवारें रखने का विशेष अधिकार था, सामान्य व्यक्ति इन्हें नहीं रख सकते थे। किन्तु 1871 ई. में सरकार ने अपनी एक राज्याज्ञा जारी कर कहा कि जो सामन्त या सामूराई इन तलवारों को छोड़ना चाहें वे ऐसा कर सकते हैं। 1876 ई. में एक कानून पारित कर तलवार रखने पर ही प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इससे सामन्ती प्रतिष्ठा और पृथकता का दिखावटी चिह्न समाप्त हो गया। अब ऐसा कोई कानूनी अधिकार नहीं रहा जो सामन्तों को प्राप्त हो और सामान्य जनता को प्राप्त न हो। इस प्रकार जापान में कानूनी समानता की स्थापना कर दी गई।

औद्योगिक विकास—जापानी लोग यह अनुभव करने लगे थे कि व्यवसाय के क्षेत्र में वे पाश्चात्य देशों की तुलना में बहुत पिछड़े हुए हैं और जब तक वे पर्याप्त आर्थिक विकास नहीं कर लेते तब तक पश्चिमी राज्यों का मुकावला नहीं कर सकेंगे। अतः उन्होंने बड़ी तेजी से पाश्चात्य व्यावसायिक संगठन को अपनाना आरम्भ कर दिया। जापान की सरकार ने भी औद्योगिक विकास की ओर पर्याप्त ध्यान दिया। यूरोप तथा अमेरिका से मशीने मँगवायी गयीं

और जापान में शीघ्र ही नये-नये कारखाने स्थापित किये गये। 1870 ई. में जापान में उद्योग मन्त्रालय स्थापित किया गया, जिसने सरकारी उद्योग स्थापित किये तथा निजी उद्योगों की सहायता की। 1871 ई. में मशीन के पुर्जे और सामान बनाने का कारखाना, 1875 ई. में सीमेण्ट का कारखाना, 1876 ई. में काँच का कारखाना और 1878 ई. में सफेद ईंटों के कारखाने चालू किये गये। सातसूमा की रियासत में 1868 ई. में सबसे पहले कपड़े का कारखाना स्थापित हुआ। सातसूमा की ओर से ओसाका में एक और कपड़े का कारखाना खोला गया। 1872 ई. में इसे सरकार ने अपने नियन्त्रण में ले लिया और 1881 ई. व 1882 ई. में दो और कारखाने स्थापित कर दिये गये। सूत के साथ-साथ रेशम के कारोबार में भी वृद्धि हुई। 1870 ई. में होन्शू में सर्वप्रथम रेशम लपेटने की मशीन लगायी गई। ओनो परिवार ने टोकियो में 1860 ई. में इसी किस्म का कारखाना लगाया और 1872-73 ई. में सात और ऐसे कारखाने लगाये गये। सरकार की ओर से भी 1872 ई. और 1877 ई. के बीच तीन कारखाने लगाये गये। इस प्रकार कुछ ही वर्षों में जापान में औद्योगिक क्रान्ति हो गयी और जापान कल-कारखानों का देश हो गया। सरकार ने ऐसे व्यवसायों के विकास पर भी ध्यान दिया जो सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे। इसलिये जापान में खानें खोदी गयीं, लोहा-इस्पात के व्यवसाय को उन्नत किया गया तथा युद्ध-सामग्री के उत्पादन हेतु कारखाने स्थापित किये गये। वाष्प शक्ति के विकास पर बल दिया गया तथा 1890 ई. तक जापान के अधिकांश कारखाने वाष्प शक्ति से संचालित होने लगे। कुछ ही वर्षों में जापान ने इतनी औद्योगिक उन्नति करली कि वह यूरोप के किसी भी देश का मुकाबला कर सकता था।

औद्योगिक विकास के साथ-साथ यातायात के साधनों के विकास पर भी ध्यान दिया गया। 1872 ई. में जापान में सर्वप्रथम रेल लाइन का निर्माण कार्य शुरू हुआ और 1894 ई. तक सम्पूर्ण देश में रेल लाइनों का जाल बिछ गया। रेल की ये लाइनें आन्तरिक व्यापार-व्यवसाय की उन्नति में भी पर्याप्त सहायता पहुँचा रही थीं। जापान सरकार ने डाक-विभाग का भी संगठन किया। 1868 ई. में जापान में सर्वप्रथम तार लाइन लगाई गई। रेलवे और डाकघरों के विस्तार के साथ-साथ जहाजों के निर्माण पर भी ध्यान दिया गया। 19वीं शताब्दी के अन्त तक नाविक क्षेत्र में जापान ने अभूतपूर्व उन्नति कर ली और वह विश्व की एक प्रमुख नाविक शक्ति बन गया। सरकार ने टोकियो और ओसाका में तोप, बन्दूक, गोला और बारूद बनाने के कारखाने लगवाये। व्यापार, उद्योग-धन्धे तथा यातायात के साधनों में विकास के साथ-साथ जापान में बैंकों के विकास पर भी ध्यान दिया गया। 1873 ई. में जापान में एक नेशनल बैंक की स्थापना हुई और 1880 ई. तक जापान में डेढ़ सौ से भी अधिक बैंक स्थापित हो गये। 1885 ई. में बैंक ऑफ जापान की स्थापना की गई।

औद्योगीकरण के लिए खानों का विकास अनिवार्य था। अतः 1869 ई. में हीजन में आधुनिक ढँग की कोयले की खान चालू की गई। 1873 में एक खान विभाग स्थापित किया गया। 1880 ई. तक सरकार की ओर से आठ और कोयले की खानें चालू की गईं। 1881 ई. में सरकार ने एक लोहे की खान चालू की तथा सोने और चाँदी की खानों का धन्धा अपने हाथ में ले लिया।

औद्योगिक विकास, रेल लाइनों का विस्तार और बैंकों के विकास के फलस्वरूप जापान के आर्थिक ढाँचे में आमूल परिवर्तन हो गया। जापान के इस विकास ने ही बाद में जापानी

साम्राज्यवाद को जन्म दिया। क्योंकि औद्योगिक विकास के बाद जापान को अपने माल की खपत के लिए विदेशों में बाजार की आवश्यकता हुई तथा इन उद्योग-धन्धों को चलाने के लिए कच्चे माल की भी आवश्यकता पड़ी। कच्चा माल प्राप्त करने तथा तैयार माल को वेचने के लिए जापान को उग्र-साम्राज्यवादी नीति का अवलम्बन करना पड़ा।

कृषि सम्बन्धी सुधार—1868 ई. के बाद जापान में केवल औद्योगिक विकास ही नहीं हुआ वल्कि कृषि में भी अभूतपूर्व सुधार हुआ। सामन्ती प्रथा के समाप्त हो जाने से किसानों की स्थिति में सुधार हुआ। 1872 ई. में किसानों का उनके खेतों पर स्वत्व स्थापित हो गया। पूर्व में सामन्त लोग अपनी जागीर में भूमि जोतने वाले किसानों से उनकी उपज का एक निश्चित भाग लगान के रूप में लेते थे, किन्तु सरकार ने अब उपज का भाग लेने के स्थान पर नकद मालगुजारी लेनी आरम्भ कर दी। फिर भी सरकार को बढ़ते हुए खर्च को पूरा करने के लिए धन की सख्त आवश्यकता थी, जिससे वह किसानों को कोई विशेष राहत नहीं दे सकी। किसानों ने शोगून-शासन का विरोध और मेजी व्यवस्था का समर्थन इस आशा से किया था कि सभी सरकारी भूमि उनमें वँट जायेगी और उनके करों का भार हल्का हो जायेगा। किन्तु सरकार में सामन्तों की बहुतायत और शासन की आर्थिक कठिनाइयों के कारण ऐसा न हो सका। जुलाई, 1873 ई. में जमीन की कीमत फसल के मूल्य के औसत से $16\frac{2}{3}$ गुने के हिसाब से तय की गई और जमीन की कीमत का तीन प्रतिशत लगान तय किया गया, जिसे जमीन के मालिक से वसूल किया जाता था। कीमतों में उतार-चढ़ाव के दिनों में, इस लगान से किसानों को काफी हानि उठानी पड़ी। अतः मेजी शासन के प्रथम दस वर्षों में दो सौ से भी अधिक विद्रोह हुए। कुछ मायूस सामूराइयों ने लोगों को भड़काया। 1876 ई. में सरकार को लगान की दर, जमीन की क़ीमत की ढाई प्रतिशत करनी पड़ी, लेकिन इससे भी किसानों को कोई खास राहत नहीं मिल सकी।

ऐसी स्थिति में सरकार ने किसानों की स्थिति सुधारने हेतु दूसरे उपायों का सहारा लिया। अब कृषि की उन्नति के लिए पैदावार बढ़ाने पर विशेष बल दिया गया। किसानों को हर प्रकार से राजकीय सहायता दी गई ताकि वे पैदावार बढ़ा सकें। उन्हें वैज्ञानिक तरीकों से खेती करना सिखाया गया, लेकिन इससे भी किसान सन्तुष्ट नहीं हुए, क्योंकि उनसे लगान बड़ी कड़ाई से वसूल किया जाता था। अनाज की कीमत गिर जाने से किसानों की कठिनाइयाँ और भी बढ़ गईं और वे लगान चुकाने में भी कठिनाई अनुभव करने लगे। जैसे ही फसल कटती थी, उन्हें माल-गुजारी देने के लिए बाध्य किया जाता था। 1883 ई. से 1890 ई. तक कर वसूल करने के लिये किसानों पर घोर अत्याचार किये गये। ऐसी स्थिति में किसानों को अपनी जमीनें बेचनी पड़ीं जिन्हें जापान के धनी व्यक्तियों एवं पुराने सामन्तों ने खरीद लिया। इस प्रकार जापान में एक नया सामन्त वर्ग पैदा हो गया तथा भूमिहीन किसान मजदूर बन गये।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जापानी समाज का जो वर्ग सामन्ती व्यवस्था के अन्तर्गत शोषित था उसकी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ, क्योंकि नई व्यवस्था के अन्तर्गत भी उसका शोषण चलता रहा। वस्तुतः मेजी पुनर्स्थापना ने जापान के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के उस बुर्जुआ-पूँजीवादी ढाँचे को तैयार किया जिसके अन्तर्गत ही जापान को आगे बढ़ना था। मेजी पुनर्स्थापना ने जापान को आधुनिक पूँजीवाद का स्वर्ग बना दिया।

शिक्षा में सुधार—मेजी काल के प्रारम्भिक सुधारों में महत्त्वपूर्ण सुधार शिक्षा के क्षेत्र में हुआ। जापानियों में नये पश्चिमी विश्व को जानने का पहले से ही उत्साह था। 1811 ई. में शोगून शासन ने पाश्चात्य भाषाओं के ग्रन्थों का जापानी भाषा में अनुवाद करने के लिए जो 'बान्शो शीराबेशो' नामक संस्था स्थापित की थी, उसे 1857 ई. में एक विद्यालय का रूप दे दिया गया, जिसमें पश्चिमी भाषाओं और विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी। इस उद्देश्य के लिए कुछ जापानियों ने पश्चिमी देशों की यात्रा भी की। किन्तु मेजी पुनर्स्थापना के बाद शिक्षा के क्षेत्र में बड़ी तेजी से प्रगति हुई। 1871 ई. में एक शिक्षा विभाग की स्थापना की गई। इसके लिए एक कानून बनाकर यह व्यवस्था की गई कि, "हर व्यक्ति ऊँचा और नीचा, स्त्री और पुरुष शिक्षा प्राप्त करे जिससे सारे समाज में कोई भी परिवार और परिवार का कोई भी व्यक्ति अशिक्षित और अज्ञानी नहीं रह जाय।" सामन्ती व्यवस्था में शिक्षा केवल उच्च वर्ग के लोगों के लिए थी, लेकिन अब ऐसी बात नहीं रही। प्राथमिक शिक्षा सभी के लिए अनिवार्य कर दी गई। अमेरिका की प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा में यथोचित संशोधन कर जापान ने उसे अपनी पद्धति का आधार बना लिया। सम्पूर्ण देश को आठ विश्वविद्यालयी क्षेत्रों में बाँटा गया। इस प्रत्येक क्षेत्र में बत्तीस माध्यमिक-विद्यालय प्रदेश बनाये गये। प्रत्येक प्रदेश को दो सौ दस प्राथमिक पाठशाला हलकों में विभाजित किया गया। इस प्रकार प्रत्येक छः सौ व्यक्तियों के लिए एक प्राथमिक पाठशाला उपलब्ध हो गयी। छः वर्ष के बालक-बालिकाओं के लिए पहले चार वर्ष का और बाद में छः वर्ष का शिक्षण काल पूरा करना अनिवार्य कर दिया। उन्हें सामान्य विषयों के अतिरिक्त सम्राट के प्रति आदर और निष्ठा एवं चारित्रिक शिक्षा भी दी जाती थी। प्रारम्भ में यह अनिवार्य शिक्षा 16 महीने की थी। 1880 ई. में इस अवधि को तीन वर्ष कर दिया गया तथा 1886 ई. में यह अवधि चार वर्ष कर दी गई। 1907 ई. में पूरा छः वर्ष का पाठ्यक्रम अनिवार्य हो गया। 1899 ई. तक पाँच वर्ष वाले माध्यमिक विद्यालय सभी प्रान्तों में खोल दिये गये। इनके द्वारा छात्रों को विश्वविद्यालय या किसी रोजगार के लिए तैयार किया जाता था। सामान्य विद्यालयों से अध्यापक तैयार होने लगे तथा व्यापारिक विद्यालयों से उद्योग में काम करने वाले स्नातक तैयार होने लगे। इंजीनियरिंग आदि व्यावसायिक शिक्षा के लिए अलग से शिक्षणालय थे। इन सबके ऊपर तीन वर्ष का विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम था। इस प्रकार कुल शिक्षा काल 17 वर्ष का था।

1869 ई. में येदो के कन्फ्यूशियसी विद्यालय, शोगूनी आयुर्वेद शिक्षालय और 'बान्शो शीराबेशो' को मिलाकर एक नया राजकीय विश्वविद्यालय बनाया गया। 1877 ई. में इसका नाम टोकियो विश्वविद्यालय रखा गया। 1886 ई. में इसमें सभी संकाय कायम कर दिये गये। इसका विधि संकाय विशेष रूप से प्रतिष्ठित था तथा उसके स्नातक उच्च पदों पर नियुक्त किये जाते थे। तत्पश्चात् 1897 ई. में क्योतो, 1907 ई. में सेन्दाई, 1910 ई. में फूकूओका, 1918 ई. में साप्पोरो आदि विश्वविद्यालय स्थापित किये गये। 1850 ई. में फूकूजावा यूकीची द्वारा स्थापित केईओ की संस्था बाद में विश्वविद्यालय बन गई। 1882 ई. में ओकूमा शीगेनोबू ने वासेदा विश्वविद्यालय की नींव रखी।

नये जापान ने स्त्रियों की शिक्षा पर भी ध्यान दिया। लड़कियों के लिए प्राथमिक शिक्षा लड़कों के समान ही थी, किन्तु माध्यमिक शिक्षा में उन्हें अच्छी पत्नी और अच्छी माता बनाने की

के आधार पर लोकतन्त्री होगा। नई परिस्थितियों में अब शासन में सुधार करना भी आवश्यक था। 1868 ई. में ही सम्राट ने एक घोषणा प्रकाशित करदी थी, जिसमें शासन सम्बन्धी नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर दिया गया था। इस घोषणा में एक संसद की स्थापना की व्यवस्था थी, जो राज्य की नीति का निर्धारण करेगी और इसमें जापान के अधिक से अधिक व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व होगा। न्याय के क्षेत्र में सभी नागरिकों को समान स्तर पर रखा जायेगा। किन्तु जापान में कुछ लोग शासन-सुधार के विरोधी भी थे, जो किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहते थे।

इस समय जापान में कुछ प्रगतिशील विचारक भी हुए जिन्होंने शासन-सुधार के लिए आन्दोलन चलाया। इस आन्दोलन का नेता ईसागाकी नाईसूके था। 1874 ई. में उसने सम्राट से अनुरोध किया कि 1868 ई. की घोषणा के अनुसार जापान में एक संसद की स्थापना की जाय जो जापान के लोकमत का वास्तविक प्रतिनिधित्व करे। इस माँग को राष्ट्रव्यापी बनाने के लिए 1885 ई. में 'आईकोकूरैशा' (देश भक्तों का समाज) नामक एक संगठन बनाया गया। बाद में इसका नाम 'कोक्काई कीसेई दोमेई' (राष्ट्रीय संसद स्थापना दल) रख दिया गया। इस आन्दोलन को 'जीयू मीनकेन उन्दो' (जनतन्त्रीय आन्दोलन) कहते थे। इस आन्दोलन को गाँव के जमींदारों, किसानों, मजदूरों, व्यापारियों और उद्योगपतियों का समर्थन प्राप्त था। इस आन्दोलन से प्रभावित होकर सम्राट ने कुछ सुधार किये जिसके अनुसार जापान में पहली बार एक सीनेट और एक प्रधान केन्द्रीय न्यायालय की स्थापना की गई। 1878 ई. में जापान में स्थानीय स्वशासन का सूत्रपात किया गया। 1878 ई. में प्रान्तों में पाँच येन या उससे अधिक लगान देने वाले पुरुषों द्वारा चुनी हुई प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा स्थापित करने का निर्णय लिया गया। इनका काम वित्तीय मामलों पर विचार करना था, लेकिन प्रान्तों के गवर्नरों को विशेषाधिकार देकर इन संस्थाओं को निरर्थक कर दिया गया। शहरों, कस्बों और गाँवों में भी इसी तरह की संस्थाएँ स्थापित की गईं, जो केवल जनतन्त्र की माँग करने वालों के आँसू पोंछने के लिए थीं।

जापान में बहुत-से ऐसे लोग थे जो इन सुधारों से सन्तुष्ट नहीं थे और जो जापान को पूर्णतः एक लोकतान्त्रिक देश बनाना चाहते थे। अतः इसी समय जापान में राजनीतिक दलों का प्रादुर्भाव हुआ। 1881 ई. में ईतागाकी ने अपने संगठन को 'छो जीयूतो' (उदारवादी दल) में बदल दिया। इसकी विचारधारा फ्रांसीसी उग्रवादी सिद्धान्त पर आधारित थी। इसका मूल मन्त्र था, "स्वतन्त्रता मनुष्य की प्राकृतिक दशा है।" इस उग्रवादिता का प्रतिरोध करने के लिए 15 मार्च, 1882 को काउण्ट ओकूमा शीगेनोबू ने 'रीक्केन काईशिन्तो' (संवैधानिक सुधार दल) बनाया। इसमें शहरों के व्यापारी और बुद्धिजीवी शामिल थे। उसी समय रूढ़िवादियों ने 'रीक्केन तेईसेईतो' (संवैधानिक साम्राज्यशाही दल) बनाया जो इन दोनों का विरोधी था। इसमें मुख्य रूप से राज्य-कर्मचारी और बुद्धिजीवी शामिल थे। यह दल सम्राट की प्रभुसत्ता में विश्वास करता था। इन राजनीतिक दलों के प्रादुर्भाव से देश के राजनीतिक वातावरण में सरगर्मी पैदा हो गयी। सरकार ने इन दलों पर अनेक प्रतिबन्ध लगाने आरम्भ कर दिये, किन्तु साथ ही संविधान बनाने का काम भी चलता रहा। सरकार ने राजनीतिक दलों के आन्दोलनों को कुचलने के लिए अनेक नियम बनाये तथा राजनीतिक दलों के पत्र-पत्रिकाओं पर पाबन्दियाँ लगा दीं। 25 दिसम्बर, 1887 ई.

को एक सुरक्षा-अधिनियम जारी किया जिससे सरकार को, किसी व्यक्ति पर शान्ति के लिए खतरा होने का आरोप लगाकर उसे टोकियो से निष्कासित करने का अधिकार मिल गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत लगभग छः सौ व्यक्तियों को टोकियो से निष्कासित कर दिया गया।

संविधान का निर्माण—3 मार्च, 1882 को ईतो हीरोबूमी को पश्चिमी देशों की शासन पद्धतियों का अध्ययन करने के लिए यूरोप भेजा गया। ईतो बर्लिन, वियना, पेरिस, लन्दन और रूस होते हुए वापिस जापान लौटा। तत्पश्चात् ईतो ने तीन सुयोग्य व्यक्तियों को अपनी सहायता के लिए नियुक्त किया। संविधान का प्रारूप तैयार होने पर प्रिविकौंसिल ने उसे पुष्ट कर दिया। 11 फरवरी, 1889 को नये संविधान की घोषणा कर दी गई। इसे मेजी संविधान कहा जाता है।

नये संविधान में संसद या डाइट के संगठन का प्रावधान था। इसके दो सदन कायम किये गये—उच्च सदन और निम्न सदन। उच्च सदन में अमीर-उमरावों एवं कुलीन वर्ग के लोग, सम्राट द्वारा मनोनीत व्यक्ति तथा सर्वाधिक कर देने वाले लोग सदस्य होते थे। निम्न सदन में 15 येन या इससे अधिक कर देने वाले व्यक्तियों के निर्वाचित प्रतिनिधि थे। कानूनों की वैधता के लिए संसद की स्वीकृति अनिवार्य थी। डाइट का अधिवेशन हर वर्ष तीन महीने का होता था। इसके सदस्यों को बहस करने का अधिकार था तथा उन्हें गिरफ्तार नहीं किया जा सकता था। किन्तु उनके वित्तीय अधिकार बहुत सीमित थे। शाही घराने के खर्च और उसके कर्मचारियों के वेतन उसके अधिकार क्षेत्र से बाहर थे। सम्राट को प्रत्येक कानून के विषय में निषेधाधिकार प्राप्त था। वह किसी समय संसद के अधिवेशन को समाप्त कर सकता था तथा प्रतिनिधि सभा को भंग कर सकता था। संसद का अधिवेशन नहीं होने की अवधि में उसे अध्यादेश जारी करने का अधिकार था। संविधान में दो वैधानिक परामर्शदात्री समितियों का गठन करने का प्रावधान था—एक का नाम मन्त्रि-परिषद् व दूसरी का नाम प्रिवि-कौंसिल था। मन्त्रि-परिषद् शासन के कार्यकारिणी कार्यों को सम्पादित करती थी, किन्तु वह संसद के प्रति उत्तरदायी न होकर सम्राट के प्रति उत्तरदायी थी। प्रिवि-कौंसिल का निर्माण स्वयं सम्राट करता था और इसका काम विभिन्न समस्याओं पर सम्राट को परामर्श देना था। संविधान में जनता को कुछ मूल अधिकार भी प्रदान किये गये। प्रत्येक व्यक्ति को भाषण देने, लिखने, संस्था बनाने और अपनी पसन्द का धर्म मानने की स्वतन्त्रता थी। सभी व्यक्तियों को योग्यतानुसार सरकारी पदों पर नियुक्ति का समान अधिकार था। किसी व्यक्ति के घर में घुसकर मनमानी ढँग से तलाशी नहीं ली जा सकती थी। उन्हें कानून के अनुसार ही गिरफ्तार किया जा सकता था और न्यायालय में मुकदमा चलाये बिना दण्डित नहीं किया जा सकता था। वे सम्पत्ति रख सकते थे और बेच सकते थे।

चूँकि यह संविधान जन-प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित नहीं था वरन् 'सम्राट की ओर से उपहार' था इसलिए उसमें संशोधन करने का अधिकार केवल सम्राट को था। इसके लिए जापानी संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति आवश्यक थी। संविधान की व्याख्या का अधिकार न्यायालयों को दिया गया था, किन्तु मतभेद होने की स्थिति में उसके निबटारे का अधिकार प्रिवी-कौंसिल को था। कोई कानून बनाकर उसमें संशोधन करना संसद के नियन्त्रण से बाहर था। इसमें प्रिवी-कौंसिल तथा शाही परिवार की परिषद् की सलाह से ही संशोधन किया जा सकता था। सम्राट को अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त थे।

1873 ई. में फौजदारी क़ानूनों की रचना आरम्भ करके 1882 ई. में एक दण्ड-संहिता स्वीकार करली गई। इन कानूनों पर फ्रांसीसी कानूनों का गहरा प्रभाव था। 1870 ई. में दीवानी कानूनों की संहिता बनाने का काम भी प्रारम्भ किया गया और 1890 ई. में पूरा होने पर उसे स्वीकार कर लिया गया। यद्यपि दीवानी संहिता में जर्मन और कुछ अन्य देशों के कानून की बातें आ गयी थीं, फिर भी इसका मूल आधार फ्रांसीसी कानून था। दीवानी संहिता 1891 ई. में लागू कर दी गई। इन कानूनों के लागू हो जाने के बाद पश्चिमी राष्ट्रों के जापान में जो क्षेत्रातीत अधिकार थे, वे समाप्त कर दिये गये। न्याय विभाग के पुनर्गठन में भी फ्रांस की न्याय पद्धति को आदर्श माना गया। 1889 ई. तक न्यायालय से सम्बन्धित नई व्यवस्था की रूपरेखा तैयार करली गई और 1894 ई. में सम्पूर्ण देश में इस पद्धति के अनुसार न्याय-प्रशासन चलने लग गया था।

जापान के आधुनिकीकरण का परिणाम—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मेजी पुनर्स्थापना के बाद जापानी जीवन का कायापलट हो गया। खाने-पीने, रहने-सहने, पहिनने-ओढ़ने, सोचने-विचारने तथा राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की सारी क्रियाएँ तेजी से बदल गईं और जापान का, एक आधुनिक देश के रूप में विश्व के रंगमंच पर आगमन हुआ। जापान के इस आधुनिकीकरण के महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले। जिस समय पाश्चात्य देशों ने बलात् जापान का दरवाजा खोला था, उस समय जापान को विवश होकर अनेक असमान सन्धियों पर हस्ताक्षर करने पड़े थे, जिसके फलस्वरूप जापान की प्रभुसत्ता नाममात्र की रह गई थी। औद्योगिकीकरण के फलस्वरूप जापान अब एक शक्तिशाली राष्ट्र बन गया था। वह किसी भी क्षेत्र में किसी भी पाश्चात्य देश से कम नहीं था। ऐसी स्थिति में जापान ने अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस आदि देशों से अनुरोध किया कि वे असमान सन्धियों को निरस्त करके समानता के स्तर पर दूसरी सन्धि करें। जापान ने क्षेत्रातीत अधिकार को समाप्त करने की विशेष रूप से माँग की। पश्चिमी देश अब जापान की इन माँगों की उपेक्षा नहीं कर सकते थे, क्योंकि जापान अब काफी शक्तिशाली हो गया था। अतः उन सभी असमान सन्धियों में संशोधन किया गया और जापान में विदेशियों के सारे विशेषाधिकार समाप्त कर दिये गये। पाश्चात्य जीवन-शैली को अपनाते हुए जापान इस समय जिस द्रुत गति से सभी क्षेत्रों में उन्नति कर रहा था, उसके फलस्वरूप वह पूर्णतया पाश्चात्य देशों के समकक्ष बन गया और अब पाश्चात्य देशों के लिए यह सम्भव नहीं रहा कि वे उसके साथ वही व्यवहार करें जो चीन व अन्य एशियायी देशों के साथ किया जाता था। आधुनिकीकरण का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम जापानी साम्राज्यवाद का विकास था। सैनिक दृष्टि से जापान पश्चिमी देशों के समकक्ष आ गया, अतः यह स्वाभाविक था कि वह भी यूरोपीय राज्यों व अमेरिका का अनुसरण कर साम्राज्यवाद के मार्ग पर अग्रसर हो।

विश्व-शक्ति के रूप में जापान का उदय

जापान के आधुनिकीकरण ने उसकी विदेश नीति को भी प्रभावित किया। पश्चिमी देशों के साथ की गई पुरानी सन्धियों को जापान संशोधित करवाना चाहता था, क्योंकि ये सन्धियाँ उसकी स्वतन्त्र एवं सार्वभौम सत्ता पर कलंक का धब्बा थीं। बाह्य क्षेत्राधिकार अर्थात् विदेशी

नागरिकों के अपराधों एवं अभियोगों की सुनवाई का अधिकार जापानी न्यायालयों के पास न होने से जापान का न्याय शासन पंगु हो रहा था। व्यापार शुल्क निश्चित करने का अधिकार भी जापानी सरकार को न था। इन सन्धियों का प्रभाव जापान की अर्थव्यवस्था पर भी पड़ रहा था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा पद्धति पर पश्चिमी देशों का नियन्त्रण था। इन दिनों जापान में सोने का भाव चाँदी के भाव से चौगुना था, परन्तु यूरोप में सोने का भाव चाँदी से सोलह गुना था। अतः यूरोपीय व्यापारी वहाँ से चाँदी लाते और जापान से सोना ले जाते और इससे काफी मुनाफा कमाते थे। इस प्रकार, जापान का स्वर्ण विदेशों में जा रहा था और सरकार इसे रोकने में असमर्थ थी, क्योंकि सन्धियाँ इस मार्ग में रुकावट बनकर खड़ी थीं। अतः जापान के लिए सन्धियों में संशोधन करवाना आवश्यक होता जा रहा था। 1873 ई. में इस काम के लिए जापान ने अपना एक विशेष मिशन विदेशी सरकारों से बातचीत करने के लिए भेजा, परन्तु मिशन को अपने काम में तनिक भी सफलता न मिली। 1888 ई. में जापान ने इस विषय में सम्बन्धित विदेशी सरकारों से पुनः बातचीत की। परन्तु इस बार भी निराशा ही हाथ लगी। अब जापान को विश्वास हो गया कि शक्ति के आधार पर आरोपित सन्धियों का अन्त अथवा संशोधन केवल शक्ति के प्रदर्शन से ही सम्भव हो पायेगा। अतः वह अपनी शक्ति के प्रदर्शन के लिए उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। अब तक उसकी सैन्य शक्ति का भी विस्तार हो चुका था।

पड़ोसी द्वीपों पर अधिकार—1871 ई. में रयुक्यु द्वीप के कुछ नाविकों को फार्मोसा में मौत के घाट उतार दिया गया। फार्मोसा पर चीन का अधिकार था, परन्तु रयुक्यु द्वीप पर चीन और जापान दोनों ही अपना-अपना अधिकार बतलाते थे। उपर्युक्त घटना का राजनीतिक लाभ उठाते हुए जापान ने चीन से क्षतिपूर्ति की माँग की, जिसे चीन ने इस आधार पर ठुकरा दिया कि रयुक्यु द्वीप भी उसी का है। इस पर 1874 ई. में जापान ने फार्मोसा पर आक्रमण कर उसके एक क्षेत्र पर कब्जा कर लिया। चीन ने हर्जाना अदा कर जापान से पीछा छुड़ाया। परन्तु इससे अब तक विवादग्रस्त रयुक्यु द्वीप पर जापानी अधिकार को मान्यता मिल गई। साम्राज्य विस्तार की दिशा में यह जापान की प्रथम सफलता थी। 1875 ई. में जापान ने रूस के साथ समझौता कर लिया। इस समझौते के अनुसार जापान ने साखालिन द्वीप पर अपने दावे को त्याग दिया और बदले में रूस ने कुरील द्वीप पर जापान का अधिकार मान लिया। इस प्रकार, जापान को कुरील द्वीप भी मिल गया। 1878 ई. में जापान ने अपने पड़ौस में स्थित बोनिन द्वीप समूह पर भी कब्जा कर लिया।

कोरिया की समस्या—जापान के ठीक सामने समुद्र के दूसरे किनारे पर चीन की सीमा पर कोरिया स्थित था। जापान और कोरिया के बीच केवल एक पतली खाड़ी थी। कोरिया और चीन की सीमा को यालू नदी विभाजित करती थी। मंचू शासनकाल में कोरिया पर चीन का प्रभुत्व कायम हो गया और जापान के साथ उसके पुराने राजनीतिक सम्बन्धों का अन्त हो गया। जिस समय जापान में जागरण की लहर चल रही थी, कोरिया की समस्या उसके लिए अत्यधिक संकट का विषय बन गई। रूस ने इस समय तक अपनी सीमा का विस्तार कोरिया की सीमा तक कर लिया था और वह कोरिया में प्रवेश करने की सोचने लगा था। चीन और कोरिया—दोनों ही सैनिक दृष्टि से अति कमजोर थे और विदेशी आक्रमण को रोकने में असमर्थ थे। पश्चिमी

देश भी कोरिया में अपने पैर फैलाने की योजना वना रहे थे। जापान के लिए स्वतन्त्र कोरिया अथवा जापान के अधीनस्थ कोरिया का भारी महत्त्व था, क्योंकि महाद्वीप में पैर रखने के लिए कोरिया होकर जाने का मार्ग ही उपलब्ध था। साम्राज्य प्रसार के लिए भी कोरिया की स्थिति अनुकूल थी। इन्हीं सब वातों को ध्यान में रखते हुए मुत्सोहितो ने कोरिया के शासक को जापान की अधीनता स्वीकार करने का आमन्त्रण भेजा, जिसे उसने ठुकरा दिया।

1875 ई. में कोरिया ने एक जापानी युद्धपोत पर आक्रमण कर दिया। इस पर जापान ने कोरिया के सामने कई प्रकार की माँगें प्रस्तुत कर दीं। अन्ततः 1876 ई. में दोनों में समझौता हो गया, जिसके अनुसार जापान ने कोरिया की स्वतन्त्रता को मान्यता दे दी और वदले में कोरिया ने जापान को व्यापारिक सुविधाएँ प्रदान कीं और बाह्य-क्षेत्राधिकार भी प्रदान किया। इस प्रकार जापान ने चीनी दावे पर प्रहार किया, क्योंकि चीन अभी तक कोरिया को अपने अधीन मानता आया था। कोरिया में भी दो दल वन गये थे। एक दल जापान के पक्ष में था और उसके सहयोग से कोरिया का आधुनिकीकरण करना चाहता था। दूसरा दल चीन के पक्ष में था। 1882 ई. में चीन समर्थक दल ने कई जापानियों को मार डाला। जापान के कार्यवाही करने पर कोरियाई सरकार ने जापान से क्षमा प्रार्थना की, उसे हर्जाना दिया और उसे कुछ और व्यापारिक सुविधाएँ प्रदान कीं। कुछ समय बाद चीन ने अपने सैनिकों को कोरिया में भेज दिया। इसी समय जापान समर्थक कोरियाई दल ने सरकार का तख्ता पलटने का प्रयास किया और इस सिलसिले में उनकी चीनी सैनिकों से झड़प हो गई, जिसमें फिर कुछ जापानी मारे गये। जापान ने भी अपनी सेना कोरिया में भेज दी। एक वार पुनः कोरियाई सरकार को झुकना पड़ा। 1885 ई. में चीन और जापान में कोरिया के प्रश्न पर आपसी समझौता हो गया।

चीन-जापान युद्ध (1894-95)—1885 की सन्धि से न तो कोरिया में चीन के प्रभाव में कोई कमी आई और न जापान की आशंका ही समाप्त हुई। जब रूस और इंगलैण्ड भी कोरिया में सक्रिय रुचि लेने लगे तो जापान की आशंका और भी बढ़ गई, क्योंकि कोरिया पर अपने सिवा वह अन्य किसी भी विदेशी शासन को सहन करने को तैयार नहीं था। 1893 ई. में कोरिया में तोंग-हक नामक एक सम्प्रदाय ने विद्रोह कर दिया, जिसे दबाने के लिए चीनी सेना कोरिया पहुँच गई। सन्धि के अनुसार जापान ने भी अपनी सेना कोरिया में भेज दी। विद्रोह दवा दिया गया, परन्तु अव चीनी और जापानी सेनाएँ कोरिया में आमने-सामने डट गईं। एक दिन जापानी युद्धपोतों ने चीनी जहाजों पर गोलावारी कर दी। परिणामस्वरूप चीन-जापान युद्ध शुरू हो गया। यह युद्ध दो असमान पक्षों के मध्य था। विशाल चीन का मुकावला छोटे-से जापान से था। परन्तु साल भर चलने वाले इस युद्ध में चीन को स्थल और जल—दोनों ही क्षेत्रों में जापान के हाथों वुरी तरह से पराजित होना पड़ा। जापानी सेनाओं ने मंचूरिया तथा फारमोसा जीत लिया और खास चीन पर धावा वोल दिया। अन्त में 1895 ई. में शिमोनेसकी की सन्धि के द्वारा इस युद्ध का अन्त हुआ। सन्धि के अनुसार चीन ने कोरिया को स्वतन्त्र मान लिया और उस पर अपनी प्रभुसत्ता का दावा छोड़ दिया। जापान को चीन से मंचूरिया में लाओतुंग प्रायद्वीप, फार्मोसा और पेस्काडोर्स प्राप्त हुए। चीन ने अपने चार नये बन्दरगाह जापानी व्यापार के लिए खोल दिये।

चीन ने जापान को क्षतिपूर्ति देने का भी वचन दिया और उसकी अदायगी न होने तक 'वे हाई वे' बन्दरगाह जापान के कब्जे में रहने दिया।

चीन पर जापान की विजय एक युगान्तकारी घटना थी और इस घटना ने विश्व राजनीति को भी प्रभावित किया। इससे प्रभावित होकर इंगलैण्ड, अमेरिका आदि ने 1858 की पुरानी सन्धियों में जापान के संशोधन की बात को मान लिया जिससे जापान को उन अपमानजनक सन्धियों से मुक्ति मिल गई। परन्तु चीन में जापान की सफलता से रूस चिन्तित हो उठा, क्योंकि मंचूरिया में जापानी प्रभाव रूस के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकता था। अतः रूस ने फ्रांस तथा जर्मनी के साथ मिलकर हस्तक्षेप किया और जापान को चेतावनी दी गई कि वह लाओतुंग प्रायद्वीप वापस चीन को लौटा दे। जापान तीन पश्चिमी देशों की संयुक्त माँग को ठुकराने की स्थिति में नहीं था। अतः उसे विवश होकर लाओतुंग प्रायद्वीप चीन को वापस लौटाना पड़ा। फिर भी जापान को इससे काफी लाभ पहुँचा। अब उसे कोरिया का खुला द्वार मिल गया। फार्मोसा और पेस्काडोर्स की प्राप्ति से उसका साम्राज्य बढ़ गया। चीन से प्राप्त क्षतिपूर्ति से उसकी आर्थिक-व्यवस्था मजबूत हो गई और चीन पर प्राप्त विजय ने उसकी सैनिक श्रेष्ठता को सिद्ध कर दिया।

इंगलैण्ड के साथ सन्धि—जापान ने चीन को पराजित करके लाओतुंग प्रायद्वीप प्राप्त किया था, परन्तु पश्चिमी संसार की तीन बड़ी शक्तियों के सामूहिक विरोध के कारण उसे अपनी विजय के पुरस्कार से वंचित हो जाना पड़ा। जापान अपनी इस कूटनीतिक पराजय को नहीं भुला पाया और अब उसने एक शक्तिशाली मित्र की आवश्यकता का अनुभव किया ताकि भविष्य में उसे पुनः कूटनीतिक पराजय का सामना न करना पड़े। उधर यूरोप में इंगलैण्ड भी इस समय अकेला पड़ गया था। एक तरफ जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली का त्रिगुट बन गया था और दूसरी तरफ फ्रांस और रूस का गठबन्धन हो गया था। इंगलैण्ड का दोनों ही गुटों से विरोध चल रहा था। अतः उसे भी अपने अकेलेपन को समाप्त करने के लिए एक मित्र की तलाश थी। फलस्वरूप 1902 ई. में इंगलैण्ड और ज़ापान के मध्य समानता के आधार पर सन्धि हो गई। इस सन्धि ने तत्कालीन राजनीतिज्ञों को भी विस्मय में डाल दिया, क्योंकि कहाँ विश्व का एक शक्तिशाली राष्ट्र इंगलैण्ड और कहाँ एशिया का एक छोटा-सा नवोदित राष्ट्र जापान। दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर था। जो भी हो, इस सन्धि से अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर जापान का स्थान बहुत ऊँचा हो गया और अब वह पाश्चात्य राष्ट्रों की बराबरी का दम भरने लगा। अब उसकी साम्राज्य विस्तार की लालसा भी जाग उठी।

रूस-जापान युद्ध (1904-5) – रूस ने जापान को शिमोनेसकी की सन्धि के लाभ से वंचित कर दिया था। अब उसने मंचूरिया में अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयास शुरू किया। चीन में इस समय बॉक्सर विद्रोह उठ खड़ा हुआ था। इस अवसर का लाभ उठाते हुए रूस ने मंचूरिया पर अधिकार कर लिया। इससे जापान क्रोधित हो उठा, क्योंकि कोरिया में जापान अपना आर्थिक और राजनीतिक प्रसार करने में लगा हुआ था। मंचूरिया क्षेत्र के पोर्ट आर्थर में रूस द्वारा अपनी नौ-सेना का केन्द्र स्थापित करने से कोरिया में जापान की स्थिति को खतरा उत्पन्न हो गया। अतः

उसने मंचूरिया से रूसी फौजों के हटाये जाने की माँग की और अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिये 1902 ई. में इंगलैण्ड के साथ सन्धि कर ली। रूस ने सेना हटाने का आश्वासन तो दिया, परन्तु वहाँ से कोई सेनाएँ नहीं हटाई गईं। कुछ दिनों बाद उसने सेनाएँ हटाने से साफ मना कर दिया और चीन से माँग की कि उसे मंचूरिया में आर्थिक एकाधिपत्य स्थापित करने की अनुमति दी जाय।

थोड़े दिनों बाद यालू नदी के क्षेत्र में लकड़ी काटने की बात को लेकर रूस और जापान में संघर्ष का वातावरण तैयार हो गया। जापान ने माँग की कि दोनों में एक समझौता हो जाय, जिसके अनुसार वे कोरिया और चीन की प्रादेशिक अखण्डता को बनाये रखेंगे; पूर्वी एशिया में खुले दरवाजे की नीति का अवलम्बन करेंगे तथा रूस इस बात को स्वीकार करले कि कोरिया में जापान के विशेष स्वार्थ हैं। इसके प्रत्युत्तर में रूस ने यह प्रस्ताव रखा कि जापान यह स्वीकार करले कि मंचूरिया में रूस के विशेष स्वार्थ हैं तथा कोरिया में जापान के लिये तरह-तरह के प्रतिबन्ध। यह स्थिति जापान को कैसे मान्य हो सकती थी ?

जापानी मन्त्रिमण्डल ने 1903 में ही यह निर्णय कर लिया था कि यदि रूस के साथ वार्ता असफल रहे तो सैनिक शक्ति का प्रयोग किया जाये। अतः 6 फरवरी, 1904 को जापान ने रूस के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिये और 7 फरवरी, 1904 को अचानक पोर्ट आर्थर पर आक्रमण कर दिया और 10 फरवरी को विधिवत् युद्ध की घोषणा कर दी। वस्तुतः रूस को यह विश्वास नहीं था कि जापान उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने का साहस करेगा। यह प्रथम अवसर था, जबकि जापान यूरोप के एक महान् शक्तिशाली राष्ट्र से लोहा ले रहा था। यह दो असमान शक्तियों का युद्ध था, परन्तु जापान पहले से तैयार था।

रूस और जापान का यह युद्ध लगभग एक साल तक चला और जल तथा थल दोनों पर लड़ा गया। 26 मई, 1904 को जापान ने रूस को नानशान की लड़ाई में पराजित किया और रूस को पोर्ट आर्थर तक पीछे हटना पड़ा। जनवरी, 1905 में मुकदन के युद्ध में रूस बुरी तरह से पराजित हुआ और उसकी सेनाओं को वहाँ से भी पीछे हटना पड़ा। मई, 1905 में दोनों में भयंकर जलयुद्ध लड़ा गया, जिसमें जापान ने रूसी जहाजी बेड़े को नष्ट कर दिया। इसके बाद तो रूस की विजय की सम्भावना ही समाप्त हो गई। विश्व इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता कि जिस राष्ट्र ने 50 वर्ष पूर्व तीर-कमान के अलावा किसी हथियार को देखा तक नहीं थां, वह आधुनिक हथियारों से लैस एक यूरोपीय महाशक्ति को पराजित कर दे। इन पराजयों के कारण रूस में सरकार विरोधी जबरदस्त आन्दोलन उठा जो 1905 की क्रान्ति में परिणित हो गया। ऐसी स्थिति में रूस के लिए युद्ध का जारी रखना कठिन था। जापान के साधन भी सीमित थे और इस युद्ध में उसका काफी रुपया खर्च हो गया था। अतः वह भी युद्ध बन्द करने के पक्ष में था। अन्त में अमेरिकी राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट के प्रयत्नों से दोनों पक्षों के मध्य 5 सितम्बर, 1905 को पोर्ट्समाउथ की सन्धि हो गई। इस सन्धि के अनुसार (1) पोर्ट आर्थर और लाओतुंग प्रायद्वीप जापान को मिला, (2) कोरिया पर जापान का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया गया, (3) मंचूरिया को दो भागों में बाँटा गया—उत्तरी मंचूरिया पर रूस का और दक्षिणी मंचूरिया पर

जापान का प्रभाव स्वीकार किया गया। दोनों ने यह वचन दिया कि मंचूरिया में वे अपने अधीन रेलमार्गों का उपयोग केवल औद्योगिक एवं व्यापारिक उद्देश्यों के लिए ही करेंगे।

इस युद्ध के द्वारा जापान ने यह सिद्ध कर दिया कि वह भी विश्व के शक्तिशाली राष्ट्रों में से एक है। इस युद्ध से जापान को इतने लाभ प्राप्त हुये थे, जिसकी कल्पना युद्ध से पूर्व जापान ने भी नहीं की थी। अब उसे चीन में घुसने का अवसर मिल गया। मंचूरिया पर रूस का प्रभाव नाममात्र का रह गया था और कोरिया से तो रूसी प्रभाव सदा के लिए समाप्त हो गया। 1910 में कोरिया को जापान ने पूर्णतः अपने साम्राज्य में मिला लिया। वस्तुतः यह युद्ध जापान के लिए वरदान सिद्ध हुआ। इससे उसकी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा बढ़ गई और इससे उसकी साम्राज्यवादी महात्त्वाकांक्षा को बड़ा प्रोत्साहन मिला।

प्रथम महायुद्ध—1914 ई. में प्रथम महायुद्ध शुरू हो गया। जापान ने मित्र राष्ट्रों का पक्ष लेकर जर्मनी और आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। युद्ध काल में जापान ने प्रशान्त महासागर में स्थित जर्मन द्वीपों तथा चीन में जर्मनी के प्रभाववर्ती क्षेत्रों पर ही अधिकार नहीं किया अपितु चीन के सामने "इक्कीस माँगें" रखकर चीन को अपना आर्थिक उपनिवेश बनाने का भी प्रयत्न किया। महायुद्ध के समय में जापान के व्यापार-वाणिज्य तथा उद्योग-धन्धों का जबरदस्त विकास हुआ। चूँकि इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि राष्ट्र युद्ध में फँसे हुए थे, अतः एशिया में माल पहुँचाने में असमर्थ थे। जापान ने इस कमी को पूरा किया और एशिया का प्रत्येक देश जापानी माल का अच्छा ग्राहक बन गया। जापान के उद्योग-धन्धों का विकास इस महायुद्ध का एक प्रमुख परिणाम सिद्ध हुआ। वह सारे एशिया का कारखाना बन गया।

दो युद्धों के मध्य जापान

शान्ति सम्मेलन—प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद पराजित देशों के साथ सन्धियों पर विचार करने के लिए पेरिस में मित्र राष्ट्रों का शान्ति सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में जापान को विश्व की पाँच प्रमुख शक्तियों में स्थान मिला, जिससे उसकी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा एवं सम्मान में अत्यधिक वृद्धि हुई। सम्मेलन में जापान की नीति का मुख्य ध्येय—(1) चीन में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाना तथा (2) चीन स्थित भूतपूर्व जर्मन उपनिवेशों एवं हितों पर अपने अधिकार को स्वीकार कराना था। अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन के विरोध के उपरान्त चीन का शांतुंग प्रदेश जो पहले जर्मनी के पास था, जापान को दे दिया गया। इस सम्बन्ध में चीनी प्रतिरोध पर किसी प्रकार का ध्यान नहीं दिया गया। प्रशान्त महासागर के कई जर्मन द्वीपों को भी आदिष्ट प्रथा (मेंडेट व्यवस्था) के अन्तर्गत जापानी प्रशासन के अन्तर्गत रखा गया। परन्तु शान्ति सम्मेलन में जापान की अन्य माँगों को स्वीकार नहीं किया गया। युद्धकाल में उसने जिन चीनी क्षेत्रों को अपने अधिकार में ले लिया था, वे उसे वापस लौटाने तथा वहाँ से अपनी सेनाओं को हटाने के लिए कहा गया। जापान ने सम्मेलन में जातीय समानता की भी माँग की थी, जिसे पश्चिमी देशों ने स्वीकार नहीं किया। इसके अलावा, जापान को यह वायदा भी करना पड़ा कि अन्ततः वह शांतुंग प्रदेश चीन को वापस लौटा देगा। इस प्रकार, शान्ति सम्मेलन में जापान को आंशिक सफलता ही मिल पाई। जापान शान्ति सम्मेलन के निर्णय से असन्तुष्ट ही रहा और इटली की

भाँति जापान में भी यह भावना व्याप्त होती गई कि उसने युद्ध में जो कुछ जीता था, उसे शान्ति में खो दिया।

वाशिंगटन सम्मेलन—जापान की अभूतपूर्व प्रगति ने उसके शत्रु उत्पन्न कर दिये और जापान के इन विरोधियों ने जापान की बढ़ती हुई शक्ति को नियन्त्रित करने का निश्चय किया। जापान की प्रगति में सबसे अधिक खतरा संयुक्त राज्य अमेरिका को था। कोरिया, साखालिन, पेस्काडोर्स, फार्मोसा, क्यूरिल आदि पर अधिकार होने की वजह से प्रशान्त महासागर में जापान की स्थिति सर्वोपरि हो गई थी। मंचूरिया एवं शांतुंग के अधिकार ने चीन पर भी जापानी प्रभाव को बढ़ा दिया। महायुद्ध के समय में जापान ने चीन के बाजारों पर भी अपना प्रभाव जमा लिया था। परिणामस्वरूप चीन के साथ अमेरिका का व्यापार निरन्तर कम होता गया जिससे वह चिंतित हो उठा। इस समय तक अमेरिका ने भी प्रशान्त महासागर में हवाईद्वीप और फिलीपीन्स पर अपना अधिकार जमा लिया था और इसके फलस्वरूप प्रशान्त महासागर में उसकी रुचि बढ़ती जा रही थी। जापान के साम्राज्य विस्तार से आस्ट्रेलिया तथा कनाडा के हितों के लिए भी खतरा उत्पन्न हो जाने की आशंका थी। इंगलैण्ड के व्यापारियों को भी जापान के बढ़ते व्यापार से हानि पहुँचने लगी थी। स्थिति की जटिलता तब और अधिक बढ़ गई, जब युद्ध के तुरन्त बाद जापान में जंगी जहाजों का निर्माण शुरू कर दिया गया और उसकी वजह से इंगलैण्ड तथा अमेरिका को भी विवश होकर जंगी जहाजों का निर्माण कार्य जारी रखना पड़ा। जहाजों की इस प्रतियोगिता में तीनों राष्ट्रों के सम्बन्ध तनावपूर्ण होने लग गये थे। इधर चीन में सैनिक प्रभुओं की आपसी प्रतियोगिता से चीन में अव्यवस्था बढ़ती जा रही थी और पश्चिमी देशों का मानना था कि इस-प्रकार की स्थिति में जापान अधिक लाभ उठा सकता है। इस प्रकार, पूर्वी एशिया की अराजकतापूर्ण स्थिति और जंगी जहाजों के निर्माण की प्रतियोगिता पर विचार-विमर्श करने के लिए अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन में एक सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें अमेरिका, इंगलैण्ड, जापान, फ्रांस, हालैण्ड, बेल्जियम, पुर्तगाल, इटली और चीन सम्मिलित हुए। नौ राज्यों का यह सम्मेलन 11 नवम्बर, 1921 को शुरू हुआ। 5 फरवरी, 1922 को जापान, अमेरिका, इंगलैण्ड, फ्रांस एवं इटली के मध्य एक पंचराष्ट्रीय समझौता सम्पन्न हो गया, जिसके अन्तर्गत इन देशों के जंगी जहाजों की शक्ति एवं आपसी अनुपात को निश्चित कर दिया गया। इसके अनुसार इंगलैण्ड, अमेरिका एवं जापान का अनुपात 5:5:3 का रखा गया और फ्रांस तथा इटली का 1.75 का रखा गया। सम्मेलन में 1902 की इंगलैण्ड तथा जापान की सन्धि को भंग कर दिया गया तथा उसके स्थान पर चार राष्ट्रों की सन्धि की गई। ये चार राष्ट्र थे—इंगलैण्ड, फ्रांस, जापान और अमेरिका। इस सन्धि के द्वारा चारों देशों ने प्रशान्त महासागर में एक-दूसरे के अधिकृत प्रदेशों को मान्यता प्रदान कर दी। इसके बाद नौ राष्ट्रों की सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये, जिसके द्वारा चीन की प्रादेशिक अखण्डता का वचन दिया गया तथा चीन के साथ व्यापार-वाणिज्य के लिए "खुले दरवाजे" की नीति पर जोर दिया गया। वाशिंगटन सम्मेलन को एशिया के इतिहास का मोड़ बिन्दु माना जाता है। परन्तु इससे चीन कोई लाभ न उठा पाया और जापान के बढ़ते हुए प्रभाव को भी नहीं रोका जा सका। अगले दस वर्षों के बाद ही जापान ने अपने साम्राज्य विस्तार का सिलसिला शुरू कर दिया।

तनाका मेमोरियल—1931 ई. तक जापान की विदेश नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ, परन्तु इसके बाद में लागू की जाने वाली साम्राज्यवादी नीति का निर्माण इसी अवधि में किया गया था। जापान की इस नूतन साम्राज्यवादी योजना की झलक जनरल बैरनटंका (तनाका) द्वारा 1927 में जापानी सम्राट को प्रस्तुत किये गये "तनाका मेमोरियल" में स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। इसमें स्पष्ट रूप से यह कहा गया था कि, जापान के राष्ट्रीय अस्तित्व के लिए न केवल मंचूरिया और मंगोलिया एवं चीन की विजय की ही आवश्यकता है, अपितु सम्पूर्ण पूर्वी एशिया और दक्षिण सागरीय देशों की विजय की भी आवश्यकता है और इसमें संयुक्त राज्य अमेरिका को भी पराजित करना पड़ेगा।

यद्यपि जापान का मन्त्रिमण्डल इस नीति पर चलने को तैयार नहीं हुआ, परन्तु जापान के सेनानायक घटनाओं के प्रवाह को प्रभावित करने की स्थिति में थे। क्योंकि वे नागरिक, मन्त्रियों तथा अधिकारियों से स्वतन्त्र थे तथा मन्त्रियों से पूछे बिना सीधे सम्राट से वार्ता कर सकते थे। इन सैनिक अधिकारियों को अवसर मिलने पर अपनी नीति को लागू करवाने के लिए उच्चाधिकारियों की हत्या करवाने में भी घृणा नहीं होती थी। यही कारण था कि 1930 ई. में प्रधानमन्त्री हेमागूशी की हत्या करवा दी गई। इसके बाद सेनानायकों का मार्ग प्रशस्त हो गया।

मंचूरिया पर आक्रमण—जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण क्यों किया ? इस प्रश्न को समझने के लिए उन प्रवृत्तियों को जो साम्राज्यवाद को प्रोत्साहित कर रही थीं, समझना होगा। जापान के सामने सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या, अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या के भरण-पोषण की थी। कृषि के द्वारा इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता था, क्योंकि जापान में कृषि-योग्य एक इंच भूमि भी बेकार नहीं पड़ी थी। उत्प्रवास (Emigration) अर्थात् दूसरे देशों में बस जाने से भी इस समस्या का हल होना असम्भव था; क्योंकि जापान के अन्तर्गत कोरिया, फार्मोसा आदि जो क्षेत्र थे, वहाँ और अधिक लोगों को बसाने की गुंजाइश नहीं थी और आसपास के अन्य द्वीप समूहों पर अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड आदि का अधिकार था। अमेरिका, कनाडा और आस्ट्रेलिया जैसे विशाल देशों में जापानियों के बसने पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे। अतः जापान के सामने एक ही विकल्प रह गया था और वह था, औद्योगिक विकास का। परन्तु इसके लिए भी कच्चे माल के लिए उसे दूसरे देशों पर निर्भर करना पड़ता था और तैयार माल को खपाने के लिए भी दूसरे देशों का मुँह ताकना पड़ता था। यदि अमेरिका, इंगलैण्ड आदि देश जापान को कच्चा माल देने तथा तैयार माल को लेने से इन्कार कर देते तो जापान का सर्वनाश निश्चित था। इस भय से मुक्ति पाने के लिए जापान अपना स्वयं का एक विशाल साम्राज्य स्थापित करना चाहता था।

दूसरा प्रमुख कारण जापान में पूँजीवाद का विकास था। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप जापान में तेजी के साथ पूँजीवाद का विकास हुआ। पूँजीवाद साम्राज्यवाद का जन्मदाता माना जाता है। जापान में पूँजीपति भी देश के राजनीतिक तथा सैनिक नेताओं और सरकार को साम्राज्य-विस्तार के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे, ताकि वे और अधिक मुनाफा कमा सकें।

तीसरा प्रमुख कारण विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी का प्रभाव था। इसके परिणामस्वरूप कारखाने बन्द होने लगे, बेरोजगारी बढ़ने लगी, वस्तुओं के भाव बढ़ गये और लोगों के लिए

दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं को खरीदना भी कठिन हो गया। अमेरिका जो जापानी रेशम का सबसे वड़ा ग्राहक था, ने जापान से रेशम खरीदना लगभग बन्द कर दिया, जिससे जापान की अर्थव्यवस्था को भारी धक्का लगा। अन्य देशों में भी ज़ापानी माल की खपत में भारी कमी आ गई। इस आर्थिक संकट से मुक्ति का एक ही उपाय था और वह था साम्राज्य का विस्तार।

चौथा कारण सैनिक नेताओं और राजनीतिक नेताओं का आपसी मतभेद था। जापान के सैनिक अधिकारी सीधे सम्राट के प्रति उत्तरदायी होते थे। सरकार का उन पर नियन्त्रण नहीं था। वाशिंगटन सम्मेलन में जापानी राजनीतिज्ञों ने अमेरिका और इंगलैण्ड से कम अनुपात में नौ-सेना रखना स्वीकार कर लिया था। इससे जापानी सैनिक अधिकारी राजनीतिज्ञों से जले हुए थे। आर्थिक संकट के समय राजनीतिज्ञों ने सेना में कमी और खर्च में कटौती का प्रस्ताव रखा जिससे सैनिक अधिकारी राजनीतिज्ञों से जले हुए थे। आर्थिक संकट के समय सेना में दायहारा, होंगो, अराकी, हयासी आदि नवयुवक सेनानायकों का प्रभाव बढ़ रहा था और ये सभी लोग साम्राज्यवाद के समर्थक थे। इनके अलावा देशभक्त संस्थाओं ने भी सैनिकवाद एवं साम्राज्यवाद का नारा बुलन्द कर रखा था। अन्धी राष्ट्रीयता के इन नेताओं में किता इक्की, ओकवा सुमेई और गोंडो सैक्यो प्रमुख थे। सैनिक अधिकारियों ने सम्राट को भड़काना शुरू किया और आर्थिक संकट से मुक्ति प्राप्त करने के लिए साम्राज्य-विस्तार की नीति अपनाने की आवश्यकता पर जोर दिया। जापानी सम्राट को सेना की योजना पसन्द आ गई। फलस्वरूप जापानी साम्राज्य विस्तार का मार्ग प्रशस्त हो गया।

पाँचवाँ कारण जापानी जनता में व्याप्त राष्ट्रीयता की भावना थी। वाशिंगटन समझौता जापानी जनता को भी पसन्द नहीं आया था। उनका मानना था कि, इस समझौते ने जापान को पंगु बना दिया है। जापानियों को इस प्रकार की दब्बू विदेश नीति से घृणा हो गई और उनमें उग्र-राष्ट्रीयता की भावना विकसित होने लगी। जापानी नवयुवक साम्राज्य विस्तार के लिए व्याकुल हो उठे। सम्पूर्ण जापान में अनेक समितियाँ गठित की गईं और उनके माध्यम से इस माँग को उठाया गया। जनता की जबरदस्त माँग को अधिक समय तक टालना असम्भव था।

छठा कारण, मंचूरिया में जापान के निहित स्वार्थ थे। युद्ध का मूल कारण यही स्वार्थ थे। खनिज पदार्थों तथा सम्पदा की दृष्टि से मंचूरिया एक महत्त्वपूर्ण तथा समृद्ध क्षेत्र था। कुछ परमावश्यक कच्चा सामान विशेषकर सोयाबीन, कोयला, लोहा और तेल इस क्षेत्र मं प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे। इसके अतिरिक्त मंचूरिया जापान के लिए एक अच्छा बाजार भी था। जापानी लोग काफी संख्या में यहाँ वस गये थे और जापानियों ने मंचूरिया के रेलमार्गों के निर्माण तथा खनिज पदार्थों की खोज में करोड़ों रुपये की पूँजी लगा रखी थी। जापान के लिए मंचूरिया की सामरिक स्थिति भी महत्त्वपूर्ण थी। गैथोर्न हार्डी ने लिखा है कि, "जापान के लिए मंन्चूरिया का, प्रतिरक्षा और आक्रमण की दृष्टि से सामरिक महत्त्व इसकी भौगोलिक स्थिति के कारण है।"

अन्तिम कारण तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय तथा स्थानीय राजनीतिक स्थिति थी। मंचूरिया पर आक्रमण करने के लिए इस समय अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति अनुकूल थी। सारा संसार आर्थिक मन्दी के भँवरजाल में डूबा हुआ था। मार्च, 1931 ई. में जर्मन-आस्ट्रियन चुंगी संगठन ने यूरोपीय देशों

का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित कर रखा था। चीन में गृह-युद्ध जारी था। च्यांग-काई-शेक को येन-सीशांग और फेंग यूसियांग की सेनाओं से टक्कर लेनी पड़ रही थी। अतः जापान सरलता के साथ मंचूरिया को हड़प सकता था। जहाँ तक स्थानीय राजनीति का सवाल है, वह जापान के प्रतिकूल होती जा रही थी। मंचूरिया का सूबेदार चांगत्सोलिन स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करता रहा, परन्तु उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र लिआंग ने नानकिंग की सरकार की अधीनता स्वीकार कर ली। इससे जापान को धक्का लगा। क्योंकि एक स्वतन्त्र सूबेदार से अपनी माँगें मनवाना आसान काम था और चीन की सरकार से ऐसा करवाना उतना आसान न था। दूसरी तरफ, उत्तरी मंचूरिया में रूस अपना प्रभाव जमाने में लगा था और यह रूस पहले वाले जारशाही रूस की भाँति कमजोर न था। अब उसे चुनौती देना अपने विनाश को आमन्त्रित करना था। पिछले कुछ दिनों से चीन की राष्ट्रीय सरकार जापान से यह कहने लग गई थी कि वह लाओतुंग प्रायद्वीप से हट जाय और दक्षिणी मंचूरियन रेलवे का अधिकार भी छोड़ दे और रेलवे क्षेत्र में तैनात अपनी सेना को हटा ले। क्योंकि ये सभी चीन की सार्वभौम सत्ता के ऊपर कलंक के धब्बे थे। जापान को यह स्वीकार नहीं था। इस पर चीनी सरकार ने हजारों चीनियों को मंचूरिया में बसाना शुरू कर दिया और मंचूरिया में अपनी अलग रेलवे का निर्माण करना शुरू कर दिया। चीन की इस कार्यवाही से जापान क्रोधित हो उठा। उधर चीन की दूसरी सरकार कैण्टन की सरकार जापान के विरुद्ध धुआँधार प्रचार कर रही थी। इस प्रकार की परिस्थितियों के अन्तर्गत जापान ने अपनी अधीनता के अन्तर्गत मंचूरिया में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करने का निश्चय कर लिया।

18 सितम्बर, 1931 की रात को मुकदन नगर के समीप स्थित जापानी सैनिकों की छावनी के पास रेलवे की लाइन पर एक बम्ब का विस्फोट हुआ। जापानियों ने इसका दोष समीप की चीनी सेना पर लगाया और मुकदन नगर पर अधिकार कर लिया। इसके बाद जापानी सेनायें मंचूरिया प्रदेश में आगे बढ़ती गईं और 1931 के अन्त तक सम्पूर्ण प्रदेश पर जापान का अधिकार हो गया। 18 फरवरी, 1932 को जापान ने मंचूरिया में एक स्वतन्त्र राज्य "मंचूको" की स्थापना कर दी। चीन के पदच्युत सम्राट फू.यी को इस नये राज्य का शासक नियुक्त किया गया। 15 सितम्बर, 1932 को जापान ने मंचूको राज्य को औपचारिक रूप से मान्यता भी दे दी। यद्यपि इस राज्य का वास्तविक शासन जापानी अधिकारियों के हाथों में ही रहा। चीन की सरकार जापान की सैनिक कार्यवाहियों को रोकने में सर्वथा असफल रही। राष्ट्रसंघ भी इस सम्बन्ध में जापान पर अधिक जोर नहीं डाल सका और जब उसने कुछ कदम उठाने की बात सोची तो जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता ही छोड़ दी।

मंचूरिया काण्ड की गम्भीर अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियायें हुईं। इस काण्ड ने सम्पूर्ण विश्व के इतिहास को एक नया मोड़ दे दिया। जापान ने एक ही धक्के से राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र, नौ राष्ट्रों की सन्धि और पेरिस पेक्ट की भावना को नष्ट कर दिया। इसके उपरान्त भी उसने अपने कार्य को आक्रामक न बताकर चीनी लुटेरों से जापानियों के जीवन और उनकी सम्पत्ति को बचाने के लिए पुलिस कार्यवाही की संज्ञा दी। अमेरिका, रूस तथा अन्य राष्ट्रों ने जोरदार शब्दों में जापान की निन्दा तो की, परन्तु किसी ने उसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने का साहस नहीं किया। ई. एच. कार ने इस घटना का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि "जापान द्वारा मंचूरिया विजय

प्रथम महायुद्ध के वाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सीमा-चिह्नों में से एक थी ।" इससे जापानी साम्राज्य को प्रोत्साहन मिला, राष्ट्रसंघ की प्रतिष्ठा धूल में मिल गई, कमजोर राष्ट्रों का सामूहिक सुरक्षा पद्धति से विश्वास उठ गया और यूरोप में मुसोलिनी तथा हिटलर जैसे अधिनायकों को लूट-खसोट के द्वारा साम्राज्य विस्तार की प्रेरणा मिली ।

मंचूरिया के वाद—जापान मंचूरिया की विजय मात्र से सन्तुष्ट नहीं हुआ । चीन के अन्य प्रान्तों को हड़पने के लिए उसकी सैनिक कार्यवाहियाँ जारी रहीं । चीनी जनता ने जापान के विरुद्ध जवरदस्त आन्दोलन किया । परन्तु चीन का राष्ट्रपति च्यांग-काई-शेक इस समय भी अपनी शक्ति को जापान के विरुद्ध न लगाकर साम्यवादियों के विरुद्ध लगाये हुए था । 1933 में उत्तरी चीन के पाँच प्रान्तों—होपे, चाहार, शाण्टुंग, शांसी और स्वेयुआन में जापान ने पृथकवादी आन्दोलन भड़काने का प्रयत्न किया ? उसने तेल की दृष्टि से समृद्ध जेहोल प्रदेश को मंचूरिया का भाग वतलाते हुए अपने अधिकार में ले लिया । अप्रैल, 1933 में जापानियों ने कई स्थानों पर चीन की महान् दीवार को लांघकर चीनी भूमि पर आगे बढ़ना शुरू कर दिया । 3 मई, 1933 को दोनों देशों के मध्य सैनिक सुलह हो गई ।

1937 ई. में जापान ने नये सिरे से चीनी प्रदेशों को हड़पने का सिलसिला शुरू कर दिया । कुछ ही दिनों में होपेई, शांसी तथा शाण्टुंग प्रान्तों पर पर जापान का अधिकार हो गया । चीन-जापान का यह संघर्ष द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति तक चलता रहा ।

नई व्यवस्था—मंचूरिया विजय के वाद जापान की वैदेशिक नीति का एक नया अध्याय शुरू हुआ । अब जापान ने सम्पूर्ण पूर्वी एशिया को अपने प्रभाव क्षेत्र में लाने का निश्चय किया और इसके लिए वह विश्व के सभी राज्यों से टक्कर लेने को तैयार हो गया । अप्रैल, 1934 ई. में जापान ने अपनी नई व्यवस्था जिसे जापान का "मुनरो सिद्धान्त" भी कहा जाता है, संसार के सामने रखा । इस व्यवस्था द्वारा एशिया की शान्ति बनाये रखने के लिए चीन-जापान सहयोग पर जोर दिया गया तथा चीन को दी जाने वाली सैनिक सहायता का विरोध किया गया । वाहरी देश चीन को तभी सहायता दे सकते थे, जवकि उससे पूर्वी एशिया की शान्ति भंग न हो । दूसरे शव्दों में, जापान ने चीन में अपने विशिष्ट एवं सार्वभौम हितों की घोषणा कर दी थी । वास्तव में यह जापान की घोषणा पश्चिमी देशों को एक चेतावनी थी, जिसमें उन्हें चीन से पृथक् रहने की धमकी दी गई थी । वैसे इसका अर्थ यह था कि एशिया, एशिया वालों के लिए है, पश्चिमी देशों को यहाँ से हट जाना चाहिए और एशिया की राजनीति में उन्हें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए ।

एण्टी-कोमिंटर्न पेक्ट--1936 ई. में जापान की विदेश नीति में एक और परिवर्तन आया । इस सम्वन्ध में इतिहासकार शूमा ने लिखा है कि, "जब यह बात स्पष्ट हो गई कि साम्यवाद का विरोध, देशभक्ति उभाड़ने तथा पश्चिमी प्रजातन्त्रों को भ्रमित करने के लिए एक लाभदायक प्रतीक है, तो जापान के नीति-निर्माताओं ने 25 नवम्बर, 1936 को एण्टीकोमिंटर्न पेक्ट पर हस्ताक्षर करने में नाजी रीश का साथ दिया ।" एण्टी-कोमिंटर्न पेक्ट का अर्थ है—साम्यवाद विरोधी गुट । इसमें जापान के अतिरिक्त जर्मनी और इटली भी सम्मिलित थे और यह गुट मात्र सोवियत संघ के विरुद्ध वनाया गया था । इस कदम से जापान को न केवल जर्मनी और इटली की मित्रता प्राप्त

हो गई, अपितु साम्यवाद विरोधी कार्यों को करने में इंगलैण्ड, फ्रांस और अमेरिका का मौन समर्थन भी प्राप्त हो गया।

द्वितीय महायुद्ध और जापान का पतन—1937 ई. में जापान ने पुनः चीन पर आक्रमण किया। इस युद्ध का अन्त भी नहीं हुआ था कि द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। इस बार जापान ने मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध धुरी राष्ट्रों—जर्मनी और इटली का साथ दिया। शीघ्र ही जापान ने दक्षिणीपूर्वी एशिया में अपना राज्य स्थापित कर लिया। फिलिपाइन द्वीप समूह, हिन्द चीन, मलाया, स्याम, हिन्देशिया, बर्मा आदि देशों पर भी जापान का अधिकार हो गया। जापान ने भारत पर भी आक्रमण करने की तैयारी कर ली थी। वस्तुतः इस महायुद्ध में 1944 ई. तक जापान को पराजय का मुँह नहीं देखना पड़ा था और हर क्षेत्र में उसे सफलता मिलती गई। परन्तु हिंसा और सैनिक शक्ति पर आधारित साम्राज्य अधिक दिनों तक नहीं ठहर सकता। धीरे-धीरे जापानियों के भी पैर उखड़ने लगे। 1945 के शुरू में उसके मित्र देशों—जर्मनी और इटली को पराजित होकर घुटने टेकने पड़े। जापान अकेला रह गया, फिर भी उसने दिलेरी के साथ सम्पूर्ण विश्व के विरुद्ध अकेले ही संघर्ष जारी रखा। अगस्त, 1945 के शुरू में अमेरिका ने जापान के दो नगरों हिरोशिमा और नागासाकी पर बीसवीं सदी के सर्वाधिक विनाशकारी "अणुबम्ब" गिराये। लाखों लोग पल भर में ही मारे गये जिससे भयभीत होकर 9 अगस्त, 1945 को जापान ने हथियार डाल दिये। इस प्रकार, जापान साम्राज्य का पतन हुआ। जापान को एक बार पुनः अपनी पुरानी सीमाओं तक सीमित कर दिया गया। युद्धोपरान्त जापान को कष्टदायक आर्थिक अव्यवस्था के दौर से गुजरना पड़ा और कई वर्षों तक अमेरिकन प्रभुत्व में रहना पड़ा। फिर भी, जापानियों ने साहस नहीं खोया और अपने अथक परिश्रम से उन्होंने पुनः अपने देश को विश्व की एक प्रमुख शक्ति बना दिया है। इस प्रकार की उत्थान-पतन और उत्थान की कहानी कम देखने में आती है।

प्रश्न

1. मेजी शासन की पुनर्स्थापना के पूर्व के जापान की स्थिति का उल्लेख कीजिये।
2. उन्नीसवीं सदी में जापान के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को संक्षेप में समझाइये।
3. जापान के आधुनिकीकरण के क्या परिणाम निकले ? इसने जापान को विश्वशक्ति बनाने में कितना सहयोग दिया ?
4. दो महायुद्धों के मध्य जापानी साम्राज्यवाद के विकास एवं पतन की समीक्षा कीजिये।

अध्याय-24

तुर्की का उदय
(Rise of Turkey)

तुर्की, एशिया और यूरोप के संगम पर बसा हुआ यूरेशिया का कटिप्रदेश है। देश का अधिकांश भाग चारागाह है तथा बीस प्रतिशत भाग में ही कृषि होती है। अतः यहाँ के लोगों का मुख्य पेशा पशुपालन है। एशिया और यूरोप का संगम स्थान होने से तुर्की ने अनेकों साम्राज्यों को उदित एवं नष्ट होते देखा है। यहाँ के निवासियों में ईसाई, यहूदी, तुर्क, अरव आदि जातियाँ मुख्य हैं। ये सब जातियाँ तुर्की के ऐतिहासिक विकासक्रम में यहाँ प्रविष्ट हुई और धीरे-धीरे यहाँ की आबादी का अभिन्न अंग बन गईं। आधुनिक युग के पूर्व तुर्की एक विशाल इस्लामी साम्राज्य था और मौजूदा तुर्की का स्वरूप अनेक उत्थान-पतन के बाद निर्मित हुआ है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—यूनानियों के शासन की स्थापना के पूर्व इस क्षेत्र में इजियन लोगों ने अपनी सभ्यता का विकास किया था। ट्राय उनका प्रसिद्ध नगर था। होमर के युग में ट्राय का पतन हो गया और यहाँ यूनानियों का शासन कायम हुआ। बाद में अनेक राज्यों का उदय और पतन हुआ और फिर यह क्षेत्र रोमन साम्राज्य का अंग बन गया। रोमन सम्राट कान्सटेनटाइन ने यहाँ सुप्रसिद्ध कुस्तुनतुनिया (Constantinople) नगर बसाया, जो बाद में पूर्वी रोमन साम्राज्य (बाइजेंटाइन) की राजधानी बना। 1453 ई. में ओटोमन तुर्कों के नेता महमूद द्वितीय ने कुस्तुनतुनिया को जीतकर पूर्वी रोमन साम्राज्य का अन्त कर दिया। इन्हीं तुर्कों के कारण इस क्षेत्र का नाम "तुर्की" पड़ा।

तुर्क लोग मूलतः हूण जाति की ही एक शाखा के सदस्य थे। शायद छठी सदी में उन्होंने मध्य एशिया से अरब प्रायद्वीप में प्रवेश किया और बाद में इस्लाम धर्म अपना लिया। तुर्कों ने इस्लाम धर्म को फैलाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। साथ ही अफगानिस्तान, इराक, ईरान तथा एशिया माइनर के अनेक क्षेत्रों में उन्होंने अपनी राजनीतिक सत्ता भी स्थापित कर ली। धर्म-युद्धों और मंगोल आक्रमणों ने तुर्कों की कमर तोड़ दी, फिर भी, उनकी कुछ शाखाएँ भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में फलती-फूलती रहीं। उन्हीं में से एक शाखा ने अपने नेता उस्मान के नेतृत्व में उत्तर-पश्चिम अनातोलिया (तुर्की का केन्द्रीय भाग) में अपनी सत्ता स्थापित कर ली। इस क्षेत्र की सीमा पूर्वी रोमन साम्राज्य से मिलती थी। अतः शीघ्र ही दोनों में संघर्ष शुरू हो गया। तुर्कों ने धीरे-धीरे

एशिया माइनर के विभिन्न प्रदेशों, इजियन सागर और भूमध्य सागर के अनेक बन्दरगाहों, गैलीपोली, मैसिडोनिया, सोफिया, सैलोनिका, सर्बिया, बल्गेरिया आदि पर अधिकार जमा लिया। ईसाइयों ने तुर्कों को रोकने का काफी प्रयास किया, परन्तु उन्हें सफलता न मिली। तैमूर के आक्रमणों से थोड़े समय के लिए तुर्कों की प्रगति अवश्य रुक गई थी। परन्तु महमूद प्रथम (1413-21) ने तुर्कों की खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः कायम किया। उसके उत्तराधिकारी मुराद द्वितीय (1421-51) और महमूद द्वितीय (1451-82) ने तुर्क साम्राज्य को काफी विस्तृत बना दिया। 1453 ई. में पूर्वी रोमन साम्राज्य का पतन हो गया। उसकी राजधानी कुस्तुनतुनिया पर तुर्कों का अधिकार हो गया। अब कुस्तुनतुनिया तुर्की साम्राज्य की नई राजधानी बन गई।

कुस्तुनतुनिया को केन्द्र बनाकर ओटोमन सुल्तानों ने तुर्की के साम्राज्य को बढ़ाने का क्रम जारी रखा। सर्बिया, एशिया माइनर, अल्बानिया, वेनेशिया, जेनोआ, बोस्निया आदि पर उसका अधिकार हो गया। बाद में ईरान, सीरिया और मिस्र पर भी उसका अधिकार हो गया। कुछ समय तक हंगरी भी उसके शासन के अन्तर्गत रहा। परन्तु बाद में यूरोप में उसकी प्रगति को रोक दिया गया। 1683 ई. में तुर्की को आस्ट्रिया के हाथों पराजित होना पड़ा। 26 जनवरी, 1699 की सन्धि के द्वारा हंगरी, मोरिया, डालमेशिया, क्रोसिया और स्लोवेनिया उसके हाथ से निकल गये। इसके बाद तो तुर्क साम्राज्य का पतन शुरू हो गया।

तुर्कों ने यूरोप के बहुत-से क्षेत्रों को जीता था। परन्तु जिनको उन्होंने जीता था, उनके प्रति घृणा से पूर्ण होने के कारण उनको अपने में मिलाने अथवा एक राजनीतिक संस्था में संगठित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया था। वे उनको अधीन करने तथा उनका शोषण करने से ही सन्तुष्ट थे। उन्नीसवीं सदी में तुर्क साम्राज्य के अधीन ईसाई लोग स्वाधीन होने के लिए उतावले हो उठे थे। ऐसी परिस्थितियों में तुर्क साम्राज्य का विघटन अवश्यंभावी था। परन्तु यूरोपीय शक्तियों के परस्पर विरोधी राजनैतिक स्वार्थों के कारण उसका अस्तित्व लम्बे समय तक कायम रहा। यहीं से "पूर्वी समस्या" का सूत्रपात होता है।

प्रारम्भ में आस्ट्रिया ने तुर्की की पतनोन्मुख स्थिति से लाभ उठाना चाहा। तत्पश्चात् रूस ने भी ऐसा ही करना चाहा। परिणामस्वरूप आस्ट्रिया और रूस का संघर्ष शुरू हो गया। इंगलैण्ड को अपने भारतीय साम्राज्य की चिन्ता थी। अतः वह रूस को तुर्की से दूर रखना चाहता था। उसने तुर्की के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए सर्वाधिक प्रयास किया। फ्रांस और जर्मनी के भी अपने-अपने हित थे और वे भी तुर्की के साम्राज्य को कायम रखने के पक्ष में थे। परन्तु इसके उपरान्त भी बाल्कन प्रायद्वीप की जातियों को स्वतन्त्रता प्राप्त करने से नहीं रोका जा सका। सर्बिया, यूनान, मौंटिनीग्रो, रूमानिया, बल्गेरिया आदि तुर्क शासन से मुक्त हो गये। इंगलैण्ड, रूस और आस्ट्रिया भी समय-समय पर तुर्की के क्षेत्रों को हड़पते रहे। मिस्र, सूडान तथा ईरान की खाड़ी के क्षेत्र में इंगलैण्ड अपना प्रभुत्व कायम कर चुका था। अल्जीरिया तथा ट्यूनिस पर फ्रांस ने कब्जा कर लिया था। ट्रिपोली पर इटली की नजर लगी थी। आर्थिक दृष्टि से भी तुर्की दिवालिया हो चुका था। सेना का संगठन भी छिन्न-भिन्न हो गया था और अनुशासन का सर्वथा अभाव था। चारों तरफ विनाश और निराशा ही देखने को मिल रही थी।

उपर्युक्त परिस्थितियों में तुर्क नवयुवकों ने देश के पुनरुत्थान के लिए आन्दोलन छेड़ दिया, जो इतिहास में "तरुण तुर्क आन्दोलन" के नाम से प्रसिद्ध है। 1908 ई. में उन्होंने क्रान्ति कर दी। सुल्तान अब्दुल हमीद को विवश होकर संवैधानिक सुधार स्वीकार करने पड़े। परन्तु जब सुल्तान अपने वायदों के विरुद्ध आचरण करने लगा तो उसे सिंहासन से हटा दिया गया और उसके भाई महमूद पंचम को नया सुल्तान बनाया गया। इसके बाद युवा तुर्कों ने उग्र-राष्ट्रीयता की भावना पर आधारित "तुर्कीकरण" की नीति अपनायी। इसके कुछ समय पूर्व आस्ट्रिया ने बोस्निया और हर्जीगोविना के प्रान्त हड़प लिए। परिणामस्वरूप प्रथम एवं द्वितीय बाल्कन युद्ध लड़े गये। इसके तुरन्त बाद ही विश्व का प्रथम महायुद्ध लड़ा गया। पिछले कुछ वर्षों में जर्मनी तुर्की में अपना प्रभाव बढ़ाने में लगा हुआ था। जर्मनी का सम्राट कैसर विलियम बर्लिन से बगदाद तक रेलवे मार्ग का निर्माण करना चाहता था। वह इंगलैण्ड की शक्ति को चूर करना चाहता था। इसलिए उसने तुर्की शासन को विशेष रूप से आर्थिक तथा सैनिक सहायता देकर अपने पक्ष में कर लिया था। जब 1914 ई. में प्रथम महायुद्ध शुरू हुआ तो तुर्की ने भी दोस्ती निभाते हुए मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। प्रथम महायुद्ध में अपने साथियों की भाँति तुर्की को भी परास्त होकर, आत्मसमर्पण करना पड़ा। इसके बाद ही आधुनिक तुर्की का उदय हुआ।

प्रथम महायुद्ध के बाद—महायुद्ध की समाप्ति के बाद पेरिस में शान्ति सम्मेलन शुरू हुआ। तुर्की के साथ सन्धि करने में काफी समय लगा, क्योंकि एक तरफ तो यूरोपीय शक्तियाँ ओटोमन साम्राज्य के महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों को हड़पना चाहती थी, दूसरी तरफ अरब लोग नये-नये स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की माँग कर रहे थे, तीसरी तरफ यहूदी लोग भी पेलेस्टाइन में अपना राजनीतिक प्रभुत्व कायम करने की योजना में लगे थे और चौथी तरफ बाल्कन जातियाँ और अधिक क्षेत्रों की माँग कर रही थीं। अन्त में 10 अगस्त, 1920 को मित्रराष्ट्रों ने तुर्की की भगोड़ी सरकार के साथ सेब्रे की सन्धि सम्पन्न की। तुर्की को विवश होकर इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े थे, क्योंकि तुर्की की राजधानी तथा विभिन्न महत्त्वपूर्ण सामरिक क्षेत्रों पर मित्रराष्ट्रों की सेनाओं का अधिकार जमा हुआ था। इस सन्धि के अनुसार—(1) तुर्की ने मिस्र, सूडान, साइप्रस, ट्रिपोलीटानिया, मोरक्को, ट्यूनिशिया, अरब, फिलिस्तीन (पेलेस्टाइन), मेसोपोटामिया और सीरिया पर अपने सभी अधिकारों और हितों को त्याग दिया। (2) एशिया माइनर, थ्रेस का कुछ क्षेत्र, एड्रियानोपल और गैलीपोली यूनान को दिये गये। (3) सीरिया, फ्रांस के संरक्षण में और फिलीस्तीन, मेसोपोटामिया इंग्लैण्ड के संरक्षण में रखे गये। (4) हेजाज के राजा को स्वतन्त्र मान लिया गया। (5) इटली को रोड्स तथा डोडेकनीज द्वीप समूह मिले। (6) आर्मीनिया को स्वतन्त्र राज्य बना दिया गया और कुर्दिस्तान को स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया गया। (7) दर्रे-दानियाल के जलडमरूमध्य की किलेबन्दी को नष्ट करके उसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मान लिया गया। (8) तुर्की की सैनिक शक्ति को 50 हजार सैनिकों तक सीमित कर दिया गया। उसकी नौ-सेना को भंग कर दिया गया और वायुसेना पूरी तरह से नष्ट कर दी गई। (9) कुस्तुनतुनिया, अलेक्जेंड्रिया, स्मर्ना आदि बन्दरगाहों को अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण के अन्तर्गत रख दिया गया। तुर्की की दयनीय आर्थिक स्थिति को देखते हुए उस पर क्षतिपूर्ति की रक़म नहीं थोपी गई, परन्तु उसे युद्ध के लिए दोषी अवश्य ठहराया गया।

राष्ट्रीय संग्राम और लोसान की सन्धि—सेब्रे की सन्धि तुर्की के लिए घोर राष्ट्रीय अपमान था। एक आत्महत्या के समान थी। तुर्की के विलासी सुल्तान ने इसे स्वीकार कर लिया था। परन्तु इसके विरुद्ध तुर्की में एक भीषण राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, जिसके झंझावात में सेब्रे की सन्धि तिनके की तरह उड़ गई और नवीन तुर्की का जन्म हुआ। 15 मई, 1919 को तुर्कों के जन्मजात शत्रु यूनानियों ने स्मर्ना में प्रवेश किया एवं उनकी सेनाओं ने तुर्कों का कत्लेआम आरम्भ कर दिया। यह तुर्कों की राष्ट्रीय विपत्ति का समय था। ऐसे ही समय में उन्हें एक प्रभावशाली नेता मिल गया, जिसका नाम था मुस्तफा कमाल। मुस्तफा कमाल ने प्रथम महायुद्ध में काफी यश कमाया था तथा वह राष्ट्रनायक के रूप में गिना जाने लगा था। मई, 1919 में उसे अनातोलिया के विद्रोही तुर्कों को दबाने का काम सौंपा गया था। मुस्तफा कमाल ने राष्ट्रीय सेना के संगठन का कार्य आरम्भ किया एवं देशभक्तों के सम्मेलन बुलाये। पहला सम्मेलन जुलाई, 1919 में एर्जेरूम में और दूसरा सम्मेलन सितम्बर, 1919 में सिवास में हुआ। परिणामस्वरूप अनेक देश भक्त मुस्तफा कमाल के झण्डे के नीचे एकत्र हो गये। 23 अप्रैल, 1920 में अंकारा नगर में तुर्की की "महान् राष्ट्रीय सभा" का उद्घाटन हुआ, जिसमें अनेक तुर्क प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस महान् सभा ने तुर्की की सम्प्रभुता अपने हाथों में ले ली और घोषणा की कि चूँकि सुल्तान मित्रराष्ट्रों का बन्दी है, अतः उसे तुर्की के भाग्य का फैसला करने का अधिकार नहीं है। इस पर सुल्तान ने मुस्तफा कमाल को पदच्युत कर दिया परन्तु कमाल ने अपना काम जारी रखा। राष्ट्रीय महासभा ने एक 6 सूत्री राष्ट्रीय समझौता की घोषणा की तथा शान्ति की शर्तें रखीं जिसमें तुर्की को पूर्ण राजनीतिक तथा आर्थिक स्वतन्त्रता देने की माँग की गई। यह एक राष्ट्रीय कार्यक्रम था परन्तु इसको पूरा करने के लिए सैनिक शक्ति की आवश्यकता थी। इस समय तुर्की को अपने पाँच प्रमुख शत्रुओं से निपटना था—पूर्व में आर्मेनिया, सिलिसिया में फ्रांस, अदालिया में इटली, स्मर्ना में यूनान और कुस्तुनतुनिया में इंगलैण्ड।

मुस्तफा कमाल अवसर के अनुकूल सिद्ध हुआ। उसने जीर्ण-शीर्ण तुर्क सेना का पुनर्गठन किया। सर्वप्रथम उसने फ्रांसीसी सेना पर सिलिसिया में आक्रमण किया और उसे पीछे धकेल दिया। इस पर फ्रांस ने 29 मई, 1920 ई. को कमाल के साथ सामयिक सन्धि करके आपसी युद्ध बन्द कर दिया। इससे राष्ट्रीय सभा एवं कमाल की सत्ता को फ्रांस जैसे देश द्वारा राजनीतिक मान्यता मिल गई जिससे राष्ट्रवादियों का उत्साह बढ़ गया। इसके बाद कमाल की सेना ने अर्मीनिया पर आक्रमण किया और कार्स का क्षेत्र जीत लिया। 3 दिसम्बर, 1920 को दोनों में सम्पन्न सन्धि के अनुसार तुर्की को कार्स तथा अरदहान मिल गये। साथ ही अर्मीनिया की तरफ से भावी खतरा भी समाप्त हो गया। अब कमाल ने इटली से बातचीत शुरू की और 13 मार्च, 1921 ई. को दोनों के मध्य सन्धि हो गई जिसके अनुसार इटली की सेना ने अनातोलिया खाली कर दिया। इसके तीन दिन बाद ही कमाल ने नवोदित सोवियत संघ के साथ सन्धि कर ली, जिसके अनुसार कार्स एवं अरदहान पर तुर्की के अधिकार को मान लिया गया। बदले में तुर्की ने बाटम पर रूस का अधिकार मान लिया। रूस ने अस्त्र-शस्त्र से भी कमाल को सहायता देने का वचन दिया। अब कमाल ने अपना ध्यान यूनानी सेना पर केन्द्रित किया। प्रारम्भ में यूनानियों

को शानदार सफलताएँ मिलीं और वे जीतती हुई अंकारा के समीप तक आ पहुँची। परन्तु 'सकरिया नदी' के युद्ध में कमाल ने यूनानियों को बुरी तरह से पराजित करके पीछे धकेल दिया। इसके बाद तो यूनानी फौजें निरन्तर परास्त होकर पीछे हटती गईं। 11 सितम्बर, 1922 को तुर्क सेना ने स्मर्ना पर अधिकार कर लिया और यूनानियों को तुर्की से बाहर खदेड़ दिया गया। इसके बाद कमान कुस्तुनतुनिया की ओर बढ़ा। 11 अक्टूबर, 1922 को इंगलैण्ड और कमाल पाशा दोनों के मध्य मुदानिया का समझौता हो गया। इंगलैण्ड ने पूर्वी थ्रेस एवं एड्रियानोपल पर तुर्की का अधिकार मान लिया और कमाल ने खाड़ियों के अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण को स्वीकार कर लिया। इसके बाद, सन्धि के विशद् विचार हेतु 20 नवम्बर, 1922 को लोसान में एक सम्मेलन बुलाया गया और 24 जुलाई, 1923 को सेव्रे की सन्धि के स्थान पर लोसान की सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये।

लोसान की सन्धि के अनुसार अनातोलिया पर तुर्की की सार्वभौम सत्ता को स्वीकार कर लिया गया और आर्मीनिया तथा कुर्दिस्तान को स्वतन्त्रता देने की बात रद्द कर दी गई। कुस्तुनतुनिया, पूर्वी थ्रेस, गैलीपोली, सिलिसिया, अदालिया तथा स्मर्ना पर तुर्की की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली गई। परन्तु इंगलैण्ड और फ्रांस के संरक्षण में रखे गये प्रदेश तुर्की को वापस नहीं लौटाये गये। दर्रे-दानियाल और बासफोरस के जलडमरुओं को पहले की भाँति किलेबन्दी रहित अन्तर्राष्ट्रीय प्रदेश बने रहने दिया गया। तुर्की ने अपने गैर-मुस्लिम नागरिकों को मुसलमानों के समान अधिकार देने का वचन दिया। नई सन्धि में तुर्की की सैन्यशक्ति पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया। लोसान की सन्धि वास्तव में तुर्की का दूसरा जन्म था। अब ओटोमन साम्राज्य का अन्त हो गया और उसके भग्नावशेषों पर नवीन तुर्की का उदय हुआ। इसके द्वारा राष्ट्रीयता पर आधारित एक स्वतन्त्र तुर्की का उदय हुआ, जिसने राष्ट्रीय प्रगति के पथ पर अबाध गति से कदम बढ़ाये।

मुस्तफा कमाल एवं तुर्की का पुनर्निर्माण

मुस्तफा कमाल का प्रारम्भिक जीवन—महायुद्ध के बाद तुर्की के राष्ट्रीय संग्राम का सफलतापूर्वक संचालन करने वाले मुस्तफा कमाल को "आधुनिक तुर्की का पिता" अथवा "अतातुर्क" के नाम से पुकारा जाता है। उसका जन्म 1880 ई. में सालोनिका में हुआ था। उसके पिता का नाम अली रजा एफंदी और माता का नाम जुबेद था। 1888 ई. में ही कमाल के पिता की मृत्यु हो गई और कमाल की माता ने ही उसका लालन-पालन किया। 1893 ई. में वह "सालोनिका सैनिक विद्यालय" में भर्ती हुआ। बाद में 1899 ई. में वह कुस्तुनतुनिया के "सैनिक महाविद्यालय" में भर्ती हुआ और वहाँ से 1905 ई. में एक सैनिक अधिकारी बनकर निकला। उसके एक शिक्षक ने उसके नाम 'मुस्तफा' के आगे 'कमाल' और जोड़ दिया था जिसका आशय है—'पूर्णता'। आगे वह इसी नाम "मुस्तफा कमाल" से पुकारा जाने लगा।

1911-12 में कमाल ने ट्रिपोली में युद्ध किया था। 1912-13 में होने वाले बाल्कन युद्धों में उसने बड़ा नाम कमाया और उसकी गिनती तुर्की के दक्ष सेनानायकों में की जाने लगी। प्रथम महायुद्ध के काल में "गैलीपोली अभियान" में मित्र राष्ट्रों की असफलता में कमाल का

प्रमुख हाथ था और इस अभियान के बाद वह राष्ट्रनायक के रूप में माना जाने लगा। उसे ब्रिगेडियर का पद और 'पाशा' की उपाधि दी गई। इसके बाद उसने काकेशस में रूसी फौजों के विरुद्ध सफलता प्राप्त की और 1918 ई. के अक्टूबर में सीरिया में उसने शत्रु सेना की प्रगति को रोक दिया था। जब युद्ध समाप्त हुआ तब सारे देश में वह लोकप्रिय बन चुका था। मई, 1919 ई. में सुल्तान ने उसे सेना का प्रधान निरीक्षक बनाकर अनातोलिया में भेजा तथा यहीं से उसने राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथ में लिया।

राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व—विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद तुर्की का सुल्तान और उसकी सरकार जिस ढँग से मित्रराष्ट्रों की खुशामद कर रहे थे उससे कमाल को बहुत अधिक दुःख हुआ। उसने अंकारा नगर में अवशिष्ट संसद का संगठन करने का प्रयास शुरू किया। इस पर 8 जुलाई, 1919 को सुल्तान ने उसे सैनिक पद से बर्खास्त कर दिया। परन्तु कमाल ने अपना काम जारी रखा। 23 जुलाई, 1919 को राष्ट्रवादी प्रतिनिधियों का एजेरूम सम्मेलन हुआ जिसमें कमाल को अध्यक्ष चुना गया। बाद में, सितम्बर में "सिवास सम्मेलन" हुआ। इस सम्मेलन में पहले के निर्णय की पुष्टि की गई। इसके बाद 22 अप्रैल, 1920 को अनातोलिया की राजधानी अंकारा में महान् राष्ट्रीय सभा का अधिवेशन बुलाया गया। सभा ने देश का शासन अपने हाथों में लेने की घोषणा की तथा मुस्तफा कमाल को सभा का अध्यक्ष तथा राष्ट्रीय सेना का अध्यक्ष चुना गया। 20 जनवरी, 1921 ई. को राष्ट्रीय सभा ने देश के लिए सामयिक संविधान की घोषणा की। इस बीच कमाल ने फ्रांस, इटली, आर्मीनिया आदि से समझौते कर लिये थे। सकरिया नदी के युद्ध के बाद उसे 'मार्शल' का पद तथा 'गाजी' की उपाधि प्रदान की गई। मुस्तफा कमाल के प्रयासों से ही लोसान की सम्मानजनक सन्धि सम्भव हो पाई। अक्टूबर, 1923 में तुर्की से तमाम विदेशी सेनाएँ हटा ली गईं और 29 अक्टूबर, 1923 ई. को तुर्की एक गणराज्य घोषित कर दिया गया। मुस्तफा कमाल को नये गणराज्य का प्रथम अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। वह अपनी मृत्युपर्यन्त (1932) तक इस पद पर बना रहा और अपने सुधारों के द्वारा तुर्की की कायापलट कर दी।

आन्तरिक सुधार

प्रथम महायुद्ध के परिणामस्वरूप तुर्की का पुराना ढाँचा नष्ट हो गया था और नया स्वरूप विकसित करना बाकी था। अब तुर्की के पास न तो अरब प्रदेश थे, न यूरोपीय प्रदेश थे और न ही गैर-तुर्की आबादी की गम्भीर समस्या थी। उसका केन्द्र अब अनातोलिया क्षेत्र हो गया था। उसके पुनर्निर्माण की समस्या आसान न थी क्योंकि तुर्की की आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। देश पर विदेशी ऋणों का भारी बोझा था। आबादी का बहुत बड़ा भाग युद्ध में नष्ट हो गया था और लाखों यूनानी तुर्की छोड़कर चले गये थे। अल्पसंख्यक कुर्द जाति स्वराज्य के लिए प्रयत्नशील थी। ऐसी स्थिति में मुस्तफा कमाल ने तुर्की के उत्थान के लिए एक नया कार्यक्रम प्रस्तुत किया जिसका मूल उद्देश्य तुर्की को पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंगने तथा उसे एक औद्योगिक देश में परिणत करना था। इस कार्यक्रम में 6 सिद्धान्तों का नारा दिया

गया, जो इस प्रकार थे—(1) गणतन्त्रवाद, (2) राष्ट्रवाद, (3) समानतावाद, (4) नियन्त्रित अर्थवाद, (5) धर्म-निरपेक्षवाद और (6) क्रान्तिवाद। इनके माध्यम से कमाल तुर्की को उसकी प्राचीन परम्परा से विमुख कर राष्ट्रीयता के आधार पर एक धर्म-निरपेक्ष प्रगतिवादी गणतन्त्र बनाना चाहता था। 1931 ई. में उसके राजनीतिक दल ने भी इन सिद्धान्तों को मान्यता दे दी तथा 1937 ई. में ये संविधान के अंग बन गये। अपने इस कार्य में उसे दमन का सहारा भी लेना पड़ा। परन्तु उसकी लोकप्रियता और प्रबल सैनिक शक्ति के कारण कोई भी विरोधी अधिक समय तक नहीं टिक सका और अन्त में तुर्की का नवनिर्माण होकर ही रहा। आज तुर्की किसी भी पाश्चात्य देश से कम नहीं है।

राजनीतिक पुनर्निर्माण—राष्ट्रीय आन्दोलन की शुरूआत के साथ ही राजनीतिक पुनर्निर्माण की भूमिका तैयार होने लग गई थी। जनवरी, 1921 ई. में सामयिक संविधान की स्थापना ने सार्वभौम सत्ता राष्ट्रीय सभा को सौंपकर सुल्तान की शासन सत्ता को खोखला बना दिया था। 2 नवम्बर, 1921 को महान् राष्ट्रीय सभा ने सुल्तान को पदच्युत कर दिया और सुल्तान के पद का अन्त कर दिया गया। सुल्तान के चचेरे भाई अब्दुल मजीद को सिर्फ इस्लाम धर्म के 'खलीफा' का पद दिया गया। 19 अक्टूबर, 1923 ई. को तुर्की को गणतन्त्र घोषित कर दिया गया और मुस्तफा कमाल को प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया। नये संविधान के अनुसार व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का अधिकार 'राष्ट्रीय सभा' के हाथ में रखा गया तथा उसके प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल और राष्ट्रपति की व्यवस्था की गई। न्यायपालिका को स्वतन्त्र रखा गया। राष्ट्रीय सभा की अवधि चार साल की रखी गई तथा इसके सदस्यों के लिए शिक्षित होना आवश्यक रखा गया। नये संविधान में मूल अधिकारों को स्थान दिया गया एवं व्यक्तिगत, राजनीतिक, आर्थिक अधिकार और विचारों की स्वतन्त्रता पर जोर दिया गया। प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बना दिया गया। तुर्की को एक धर्म-निरपेक्ष राज्य करार दिया गया तथा 1928 ई. में एक संशोधन द्वारा इस्लाम धर्म को राज्य धर्म के स्थान से भी हटा दिया गया। अब राज्य के पदाधिकारियों को परमात्मा (अल्लाह) में विश्वास रखने की शपथ के स्थान पर गणराज्य के प्रति अपनी निष्ठा की घोषणा करनी पड़ती थी।

इसके बाद प्रशासनिक सुधारों को लागू किया गया। 1926 ई. में सम्पूर्ण देश को 62 प्रान्तों (Vilayets) में विभाजित कर दिया गया और प्रान्तों को 430 जिलों (Kazas) में और जिलों को छोटे मण्डलों (Nahiyas) में विभाजित कर दिया गया। देश की पुरानी न्याय व्यवस्था का भी अन्त कर दिया गया। उसके स्थान पर स्विट्जरलैण्ड के नमूने का दीवानी कानून, इटालियन फौजदारी कानून एवं जर्मन नियमों पर आधारित व्यापारिक कानून लागू किये गये। 1926 में ग्रैग्रोरीय वर्ष अपना लिया गया और 24 घण्टों वाली घड़ी भी प्रयोग की जाने लगी। कुछ समय बाद अरबी लिपि के स्थान पर लेटिन लिपि को अपनाने का प्रस्ताव पास किया गया। यूरोपीय अंक पद्धति और मीटरीक पद्धति को अपनाया गया। सैनिक सेवा की अवधि घटाकर अठारह मास कर दी गई।

मुस्तफा कमाल ने पाश्चात्य जनतन्त्र के सिद्धान्तों पर देश में राजनीतिक दलों को भी प्रोत्साहन दिया। इस समय तुर्की में एक ही दल का शासन था। अप्रैल, 1923 ई. में कमाल ने अपने साथियों के सहयोग से "जनता दल" (People's Party) का संगठन किया था। 10 नवम्बर, 1924 ई. को इसका नाम बदलकर "गणतन्त्रवादी जनता दल" कर दिया गया। कमाल के विरोधियों ने "प्रगतिशील गणतन्त्रवादी दल" की स्थापना की, परन्तु इसने प्रारम्भ से ही क्रियात्मक आलोचना के स्थान पर ध्वंसात्मक नीति अपनाई। 1925 ई. के कुर्द विद्रोह में इस दल का हाथ रहा और सरकार ने इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इसके बाद कमाल ने अपने एक मित्र फेथीबे को विरोधी दल संगठित करने को कहा। उसने अगस्त, 1930 ई. में "उदार गणतन्त्रवादी दल" की स्थापना की। इस दल ने धीरे-धीरे कमाल के सुधारों की आलोचना तथा तोड़-फोड़ नीति अपनानी शुरू करदी और इसे भी भंग कर दिया गया। वस्तुतः तुर्की अभी इस अवस्था में नहीं पहुँचा था कि विभिन्न राजनीतिक दलों का विकास हो सके।

आर्थिक पुनर्निर्माण—महायुद्ध के परिणामस्वरूप तुर्की की आर्थिक स्थिति काफी दयनीय हो गई थी और युद्ध के बाद की अनिश्चितता ने अर्थ व्यवस्था को और भी चौपट कर दिया। कृषि, उद्योग-धन्धे और व्यापार सभी क्षेत्रों की स्थिति दयनीय बन चुकी थी। इसलिए मुस्तफा कमाल की राष्ट्रवादी सरकार ने देश को समृद्ध बनाने के लिए कृषि, औद्योगिक विकास तथा यातायात के साधनों को उन्नत बनाने की तरफ विशेष ध्यान दिया।

(i) कृषि में सुधार—मुस्तफा कमाल पाशा ने तुर्की के आर्थिक पुनर्निर्माण में कृषि के क्षेत्र में सुधारों की तरफ समुचित ध्यान दिया, क्योंकि तुर्की मूलतः एक कृषि प्रधान देश था। कमाल पाशा का उद्देश्य कृषि के क्षेत्र में आत्म-निर्भरता प्राप्त करना था ताकि खाद्यानों के लिए उसे विदेशों की दया पर आश्रित न रहना पड़े। परन्तु यह काम सरल नहीं था। तुर्की के अधिकांश किसानों की आर्थिक दशा काफी शोचनीय थी, क्योंकि किसी भी सामान्य कृषक की आय 100 डालर वार्षिक से अधिक नहीं थी। कृषि का आधुनिकीकरण एवं विस्तार करने हेतु सरकार ने पश्चिमी देशों से कृषि के आधुनिक यन्त्र मंगवाये। कृषि उत्पादन बढ़ाने तथा कृषकों की दशा सुधारने के लिये कृषि विद्यालयों, प्रायोगिक फार्मों एवं आदर्श फार्मों के माध्यम से कृषि के नये तरीकों का प्रचार किया गया। अंकारा में एक आदर्श फार्म स्थापित किया गया। तम्बाकू के लिए एक अनुसन्धान केन्द्र भी स्थापित किया गया। कृषकों को सहायता प्रदान करने हेतु 1929 ई. में एक कृषि बैंक स्थापित किया गया और उसी वर्ष सहकारी समितियों की परियोजनाओं को सफल बनाने की चेष्टा की गई। कृषि की शिक्षा प्रदान करने के लिए 1935 ई. में उच्च कृषि विद्यालय खोला गया, जो बाद में "अंकारा विश्वविद्यालय" का अंग बन गया। इसके अलावा कुछ योग्य तुर्की विद्यार्थियों को कृषि की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए अमेरिका भेजा गया। निर्धन कृषकों को सरकार की ओर से हल और पशु सहायता के रूप में दिये गये और भूमिहीन किसानों को कृषि योग्य भूमि प्रदान की गई। प्रशासन की कृषि नीति के फलस्वरूप गेहूँ, तम्बाकू, शक्कर और कपास के उत्पादन में तुर्की आत्मनिर्भर हो गया और तुर्की का कृषक वर्ग भी सम्पन्न एवं समृद्ध हो गया।

1926 ई. में स्विस कानून संहिता लागू कर भूमि-व्यवस्था को एकरूपता प्रदान करने का सफल प्रयास किया गया और सामन्तशाही के समस्त चिह्नों को उखाड़ फेंका गया। गणतन्त्रीय सरकार ने 1927 और 1929 के मध्य भूमि वितरण सम्बन्धी कानून पास किये। लगभग 14,000 वर्गमील अतिरिक्त भूमि कृषि के काम में लाई गई। 1934 में कृषि के लिए चार वर्षीय योजना बनाई गई। सारे देश में पीपुल्स पार्टी की शाखाएँ किसानों को खेती के नये तरीकों की शिक्षा देने लगी। 11 जून, 1945 को भूमि-सुधार बिल पास किया गया। इसके अन्तर्गत बड़े-बड़े कृषि फार्मों की सीमा निर्धारित की गई और 500 दोनूम (123.5 एकड़) से ज्यादा जमीनें जब्त कर उसे किसानों में बाँटने का काम शुरू हुआ। जिन लोगों की जमीनें जब्त की गई, उन्हें उचित मुआवजा दिया गया। भूमि को अपने उत्तराधिकारियों में बाँटने पर भी पावन्दी लगा दी गई। लेकिन इस नियम का समूचे देश में जोरदार विरोध हुआ। अतः सरकार को इस धारा को निरस्त करना पड़ा।

(ii) औद्योगिक विकास—मुस्तफा कमाल पाशा का मानना था कि आर्थिक विकास के विना एक निर्बल राष्ट्र दरिद्रता से नहीं बच सकता; वह सुसंस्कृत, सुखी और सम्पन्न नहीं हो सकता। इसलिए उसकी सरकार ने तुर्की को समृद्ध बनाने के लिए औद्योगिक विकास की ओर भी विशेष ध्यान दिया। उसका ध्येय औद्योगिक क्षेत्र में भी तुर्की को एक आत्मनिर्भर राष्ट्र बनाना था। परन्तु इस ध्येय की प्राप्ति के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ थी। सुल्तानों के शासनकाल में औद्योगिक एवं व्यापारिक विकास की तरफ कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया था और न ही तुर्कों को इन क्षेत्रों में विशेष रुचि थी। इन क्षेत्रों में यूनानियों और आर्मीनियन लोगों का बोलबाला था। तुर्की की अस्सी प्रतिशत तुर्क जनता कृषि फर्म में लगी हुई थी। यूनानियों के तुर्की से चले जाने और आर्मीनियन लोगों के उन्मूलन से दोनों क्षेत्रों की स्थिति नाजुक हो गई। राष्ट्रवादी सरकार औद्योगिक विकास के पक्ष में थी; परन्तु उसके पास आवश्यक धन का अभाव था। सरकार इसके लिए विदेशों से ऋण लेने के पक्ष में भी नहीं थी; क्योंकि उसे इस बात की आशंका थी कि विदेशों से ऋण लेने के पक्ष में भी नहीं थी; क्योंकि उसे इस बात की आशंका थी कि विदेशी ऋणों की ओट में विदेशी प्रभाव बढ़ सकता है। इसके अलावा, तुर्की के यातायात के साधन भी अपर्याप्त थे। पिछले आठ वर्षों के निरन्तर युद्धों ने भी अर्थ-व्यवस्था को चौपट कर दिया था।

मुस्तफाकमाल ने तुर्की की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए एक ओर तो वार्षिक वजट को संतुलित बनाने तथा दूसरी ओर उद्योगों के विकास को यथा शक्ति प्रोत्साहन देने का निश्चय किया। इसके लिए उसे राज्य द्वारा नियंत्रित तथा संचालित उद्योग तथा व्यवसाय की नीति अपनानी पड़ी। इसी को "नियंत्रित अर्थवाद" (Etatism) के नाम से पुकारा जाता है। 1927 ई. में राष्ट्रीय महासभा ने उद्योगों की सहायता हेतु कानून पारित किया। 1929 ई. में स्थानीय उद्योगों की रक्षा के लिए संरक्षात्मक टेरिक दरें लागू की गई। 1933 ई. में औद्योगिक विकास के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना बनाई गई। इस योजना पर रूसी योजना का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

तुर्की की अर्थ एवं राजस्व-व्यवस्था को सुधारने के लिए फ्रांसीसी विशेषज्ञों को नियुक्त किया गया और उनकी सलाह से राजस्व-सम्बन्धी अनेक सुधार लागू किये गये। विदेशी ऋणों की समस्या को हल करने के लिए सम्वन्धित देशों से वातचीत की गई और कमाल पाशा के

विशेष आग्रह पर सभी देशों ने उसमें भारी कमी करना स्वीकार कर लिया। इससे तुर्की को काफी राहत मिल गई।

राज्य की आय में वृद्धि करने की दृष्टि से शराब, तम्बाकू, नमक, पेट्रोल, अल्कोहल, नौ-परिवहन, माचिस एवं अस्त्र-शस्त्र से सम्बन्धित उद्योगों पर राज्य का एकाधिकार स्थापित करके उन्हें स्वयं संचालित करने की नीति अपनाई। विदेशी कम्पनियों से "रेलवे लाइनों" को खरीद लेने का निश्चय किया गया तथा 1947 तक सम्पूर्ण रेल व्यवस्था पर भी सरकार का आधिपत्य स्थापित हो गया। इसके साथ ही सरकार ने रेलवे लाइनों के विस्तार का कार्यक्रम भी आरम्भ किया। 1924 में अंकारा से कायेसेरी, सिवास और समसून तक नई रेलवे लाइन बनाने का काम आरम्भ किया। उसके पश्चात् कुछ ऐसी लाइनों का निर्माण आरम्भ हुआ, जो प्रमुख खनिज-क्षेत्रों को जोड़ती थी। इसी प्रकार, नई-नई सड़कें बनाई गई तथा पुरानी सड़कों की मरम्मत की गई। इस प्रकार, यातायात के साधनों को उन्नत बनाया गया जिससे व्यापार-वाणिज्य को प्रोत्साहन मिला। 1934 ई. में कृषि के लिए चार वर्षीय, उद्योग के लिए पंचवर्षीय, खनिज के लिए तीन वर्षीय और सड़क-निर्माण के लिए दस वर्षीय योजनाएँ शुरू की गई। इस प्रकार, भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के विकास के लिए अलग-अलग योजनाएँ बनाई गई। इन सभी योजनाओं को सही ढंग से लागू करने के लिए विदेशी विशेषज्ञों की सेवाएँ प्राप्त की गई। राज्य के संरक्षण में कई बैंकों को भी संचालित किया गया और उन्हें पृथक्-पृथक् कार्य सौंपे गये। सेण्ट्रल बैंक को मुद्रा संचालन, सुमेर बैंक को उद्योग, इज बैंक को व्यवसाय और इलो बैंक को खनिज क्षेत्र का उत्तरदायित्व सौंपा गया। विदेशी व्यापार को भी पर्याप्त प्रोत्साहन किया गया। लोसान की सन्धि के कारण, तुर्की सरकार 1929 तक आयात-निर्यात शुल्क की दरों में वृद्धि नहीं कर सकी, परन्तु उसके पश्चात् उसने अपने उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए "संरक्षात्मक टेरिफ दरें" लागू कर दी।

उद्योगों के विकास की दृष्टि से "चैम्बर ऑफ कामर्स" की स्थापना की गई। 1934 में तुर्की सरकार को सोवियत संघ से एक बड़ा ब्याज रहित ऋण उपलब्ध हो गया जिससे औद्योगीकरण के कार्यक्रम को आगे बढ़ाने में भारी मदद मिली। 1935 से 1939 की अवधि में वस्त्र-उद्योग, खनिज-उद्योग, शक्कर-उद्योग एवं उनसे सम्बन्धित छोटे उद्योगों में महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई। 1935 में क़ायेसेरी कॉटन मिल, जो उस समय निकट पूर्व क्षेत्र की सबसे बड़ी कपड़ा मिल थी, में उत्पादन का काम आरम्भ हो गया। विदेशी विशेषज्ञों एवं यन्त्रों की सहायता से खनिज, कोयला, तांबा, क्रोमियम आदि धातुओं का उत्पादन कई गुना बढ़ गया। इसी प्रकार, ऊनी वस्त्र, कृत्रिम रेशम, कांच, कागज आदि के उत्पादन में भी महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई। इस प्रकार, मुस्तफा कमाल ने तुर्की औद्योगिक विकास करने तथा उसे एक सुदृढ़ अर्थ-व्यवस्था प्रदान करने का अथक् प्रयास किया।

(iii) श्रमिकों की समस्या का समाधान—औद्योगीकरण के साथ ही कमाल ने श्रमिकों की समस्याओं तथा उनकी खुशहाली की तरफ भी पूरा-पूरा ध्यान दिया। सरकार की तरफ से एक "श्रमिक संहिता" तैयार की गई जिसमें श्रमिकों से सम्बन्धित कानूनों का उल्लेख था। इसके अन्तर्गत श्रमिक संघ बनाना अथवा हड़ताल करना अवैध माना गया, परन्तु उनके विवादों का अनिवार्य रूप से समाधान करने की व्यवस्था भी की गई। 1936 ई. में श्रमिकों के कल्याण के लिए अनेक श्रम-कानून बनाये गये तथा अंकारा में "केन्द्रीय श्रम-कार्यालय" की स्थापना की गई।

सामाजिक पुनर्निर्माण—सुधारों का सर्वाधिक प्रभाव सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों पर पड़ा। तुर्की जैसे धर्म प्रधान एवं मध्यकालीन सामाजिक व्यवस्था वाले देश में सामाजिक पुनर्निर्माण का काम एक जबरदस्त चुनौती था। ओटोमन साम्राज्य के विघटन के साथ ही लाखों अरब और यूनानी तुर्की के प्रभाव क्षेत्र से पृथक् हो गये थे, जिससे तुर्की में अरब-संस्कृति और यूनानी संस्कृति की आधारशिला ही नष्ट हो गई, क्योंकि भूतपूर्व तुर्की साम्राज्य में सांस्कृतिक क्षेत्र में यूनानी ही आगे बढ़े हुए थे। अधिकांश तुर्क अशिक्षित थे। उन लोगों के पृथक् हो जाने से तुर्की के लिये सांस्कृतिक विकास का मार्ग खुल गया था। परन्तु मुस्तफा कमाल ने पुरानी परम्परा के स्थान पर पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के आधार पर तुर्की के सामाजिक जीवन का पुनर्निर्माण करने का दृढ़ संकल्प ले रखा था। आर्थिक एवं राजनीतिक समानता, धर्म-निरपेक्षता और गणतन्त्र की स्थापना ने कमाल का मार्ग अपेक्षाकृत सरल बना दिया। राजतन्त्र और खलीफा पद को समाप्त किया जा चुका था। अप्रैल, 1924 ई. में कमाल ने सभी धार्मिक अदालतों, शिक्षण संस्थाओं एवं मठों को बन्द कर दिया। उनके स्थानों पर "धार्मिक कार्य बोर्ड" (Board of Religious Affairs) और "पवित्र संस्था बोर्ड" (Board of Pious Foundations) नामक दो सरकारी विभाग स्थापित किये गये। जनवरी, 1926 में हिजरी संवत् के स्थान पर ईसवी संवत् लागू किया गया और 1928 ई. में संवैधानिक दृष्टि से इस्लाम का महत्त्व भी समाप्त कर दिया गया। इसके साथ ही छोटे-मोटे परिवर्तन भी हुए। भविष्य में मस्जिदों में जूते पहने जा सकते थे, और प्रार्थना के समय मस्जिद में स्थान सुरक्षित किये जा सकते थे तथा गाना गाया जा सकता था। पवित्र मुसलमान होने के चिह्न तुर्की टोपी को पहनने की आज्ञा नहीं दी गई। निजी तथा सार्वजनिक सभी प्रकार के विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये गये।

स्त्रियों की स्थिति में भी भारी परिवर्तन हुआ। 1926 ई. में बहु-विवाह की प्रथा को समाप्त कर दिया गया तथा विवाह का भविष्य में पंजीकरण होना अनिवार्य कर दिया गया। राष्ट्रपति विवाह-सम्बन्ध-विच्छेद (तलाक) की आज्ञा दे सकता था। 1934 ई. में स्त्रियों को भी पुरुषों के समान मताधिकार दिया गया। अब वे भी प्रतिनिधि सभा के निर्वाचन में भाग लेने लगीं। विवाह की इच्छा करने वाले व्यक्तियों की न्यूनतम आयु निश्चित कर दी गई। स्त्रियों के लिए सतरह वर्ष और पुरुषों के लिए अठारह वर्ष। स्त्रियों को स्वतन्त्रतापूर्वक शिक्षा दी जाने लगी और उन्होंने बड़ी संख्या में नवीन अवसरों का लाभ उठाना शुरू कर दिया। पर्दा को ऐच्छिक घोषित किया गया। स्त्रियों को पश्चिमी वेश-भूषा पहनने की स्वीकृति दे दी गई और उसका व्यापक प्रचलन भी हो गया। स्त्रियों के लिए बहुत से व्यवसाय खोल दिये गये और उनके लिए मनोरंजन-क्लब भी पर्याप्त मात्रा में स्थापित किये गये।

नवीन तुर्की के लोगों ने अतीत के सभी बन्धनों को तोड़ने का निश्चय कर लिया था। उन्होंने अपनी भाषा तथा भौगोलिक नामों तक में परिवर्तन कर दिये। अन्य देशों में बसे तुर्क लोगों को स्वदेश में बसने के लिए आमन्त्रित किया गया। परिणाम अच्छा निकला और विदेशों से आकर हजारों तुर्क तुर्की में बस गये, जिससे तुर्की की आबादी भी बढ़ गई। एक कानून के द्वारा सभी तुर्कों को अपने नाम के आगे पदवी धारण करना आवश्यक कर दिया जिससे कि वे

नाम से जाने जा सकें। उदाहरणार्थ मुस्तफा कमाल ने "अतातुर्क" की उपाधि ली तो उसके साथी इस्मत ने "इनोनू" की पदवी ली। ओटोमन काल की पदवियों का अन्त कर दिया गया और उन्हें धारण करना कानूनी अपराध करार दिया गया। इन सभी के परिणामस्वरूप तुर्की में एक नये समाज का उदय हुआ, जो धार्मिक तथा सामाजिक परम्पराओं से सर्वथा मुक्त था।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान—सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए मुस्तफा कमाल ने तुर्की में शिक्षा का प्रसार करने का अथक प्रयास किया। 1928 ई. में अरबी लिपि को समाप्त कर दिया गया क्योंकि वह काफी क्लिष्ट थी। इससे पूर्व 1926 ई. में सोवियत संघ के बाकू नगर में "तुर्क भाषा-भाषी सम्मेलन" हो चुका था, जिसने अरबी के स्थान पर रोमन लिपि स्वीकार करने का सुझाव दिया था। मुस्तफा कमाल ने इस सुझाव का स्वागत किया और काफी विरोध के उपरान्त भी उसने रोमन लिपि का उद्घाटन किया और तुर्की में इस लिपि के प्रचार अभियान का भार अपने कन्धों पर ले लिया। 1932 ई. में नई भाषा को समृद्ध बनाने की दृष्टि से "तुर्क-भाषा समाज" की स्थापना की गई। इसी समय तुर्क नगरों के नये नाम रखने का सिलसिला शुरू किया गया। कुस्तुनतुनिया का नाम इस्तांबुल, आंगोरा का अंकारा और स्मर्ना का इजमिर नाम रखा गया। इतिहास का क्षेत्र भी अछूता न रहा। अब तुर्की का इतिहास ओटोमन साम्राज्य के उदय से शुरू न मानकर हूणों के इतिहास से शुरू माना जाने लगा।

शिक्षा के प्रसार पर विशेष ध्यान दिया गया। संविधान में प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य तथा निःशुल्क करार दे दिया गया। नई लिपि ने शिक्षा के प्रसार में और अधिक सहयोग दिया। सरकार की तरफ से अनेकों स्कूल तथा विद्यालय खोले गये। व्यापार, कृषि, विज्ञान आदि से सम्बन्धित विद्यालय भी खोले गये और विदेशों से सुयोग्य शिक्षकों को भी बुलाया गया। इस्तांबुल में एक मेडिकल कॉलेज और अंकारा में राजनीति एवं समाज विज्ञान के शिक्षणालय कायम किये गए। इन विद्यालयों में लिखाई-पढ़ाई के साथ-साथ शारीरिक व्यायाम तथा ललित कलाओं पर भी जोर दिया जाता था। गैर-सरकारी समाचार-पत्रों एवं पत्रिकाओं को भी प्रोत्साहन दिया गया जिससे बहुत-से समाचार-पत्र और पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं और इससे तुर्क जनता में जागृति आती गई।

सुधारों का विरोध—यह ठीक है कि मुस्तफा कमाल ने जितने भी सुधार किये, उन सभी को उसने राष्ट्रीय सभा से पारित करवाया था और बाद में उन्हें लागू किया था। चूँकि राष्ट्रीय सभा में उसके दल का बहुमत था और सेना भी उसी के नियन्त्रण में थी, अतः वह एक तानाशाह की भाँति शासन कर सकता था। परन्तु उसने अपने इस अधिकार का प्रयोग भी जन-कल्याण के लिए किया और इस दिशा में उसने अपने विरोधियों को कुचलने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं दिखलाई। उसके विरोधी या तो मुल्ला-मौलवी थे या पुरातनपंथी रूढ़िवादी लोग। मित्र राष्ट्रों की कैद से लौटे ओटोमन संसद के भूतपूर्व सदस्यों ने भी व्यक्तिगत ईर्ष्या के खातिर उसका विरोध किया था, परन्तु प्रथम निर्वाचन में ही वे बुरी तरह से मात खा गये। कमाल के विरोधियों को उसकी धार्मिक नीति पसन्द न आई और धर्म के नाम पर वे लोग कुर्दिस्तान में विद्रोह कराने में कामयाब भी हो गये, परन्तु कमाल ने शीघ्र ही विद्रोह को दबा दिया। प्रगतिशील गणतन्त्रवादी

दल ने भी कुर्द विद्रोह में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। अतः इस दल को गैर-कानूनी करार देकर समाप्त कर दिया गया और इसके लगभग चालीस नेताओं को फाँसी की सजा दी गई। 1926 ई. तक कमाल के अधिकांश विरोधियों का सफाया हो गया।

सुधारों का मूल्यांकन—मुस्तफा कमाल के सुधारों से पूर्व तुर्की अपना विशाल साम्राज्य तथा लगभग आधी आवादी खो चुका था। तुर्की अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो चुकी थी और उसकी आवादी का अधिकांश भाग अशिक्षित तथा पिछड़ा हुआ था। सुधारों ने तुर्की में जागृति पैदा की और वह एक प्रगतिशील राष्ट्र बन गया। अब उसके पास एक लिखित संविधान था। लोगों को मौलिक अधिकार प्राप्त थे। आर्थिक क्षेत्र में नवीन उद्योगों तथा व्यवसायों को प्राथमिकता दी गई, यातायात के साधनों को उन्नत बनाया गया, व्यापार-वाणिज्य की उन्नति के लिए आवश्यक सुविधाएँ भी दी गईं और कृषि की उन्नति पर विशेष ध्यान दिया गया। परिणामस्वरूप थोड़े समय बाद ही तुर्की एक सम्पन्न एवं समृद्ध राष्ट्र बन गया। सामाजिक जीवन में सभी को समानता, पुरानी परम्पराओं का त्याग एवं पाश्चात्य सभ्यता को अपनाकर तुर्की सही अर्थों में एक आधुनिक देश बन गया। धार्मिक सहिष्णुता की नीति को अपनाकर उसने एक आदर्श कदम उठाया। इससे तुर्की का कायापलट हो गया।

विदेश नीति

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद 23 अप्रैल, 1920 ई. को राष्ट्रीय सभा ने देश के शासन को अपने हाथ में लेने की घोषणा कर दी थी। उस समय तुर्की चारों तरफ शत्रुओं से घिरा हुआ था। केवल नवोदित सोवियत संघ से ही थोड़ी बहुत सहायता मिल सकती थी। मुस्तफा कमाल ने सभी सम्भव उपायों की सहायता से अपने सभी शत्रुओं को सन्धि करने के लिए विवश कर दिया और अन्त में लोसान की सन्धि से शान्ति स्थापित हुई। तुर्की एक स्वतन्त्र गणराज्य मान लिया गया। गणराज्य की स्थापना के बाद कमाल को अपना सम्पूर्ण ध्यान तुर्की की आन्तरिक स्थिति को सुधारने में लगाना पड़ा, अतः उसने शान्तिपूर्ण वैदेशिक नीति अपनाना अधिक उचित समझा।

गणतांत्रिक तुर्की के सामने मुख्य समस्या ईराक और सीरिया के साथ अपनी सीमा को तय करना तथा खाड़ियों पर अपना प्रभुत्व एवं नियन्त्रण स्थापित करना था। लोसान संधि के अनुसार तुर्की का मोसुल क्षेत्र ईराक को सौंप दिया गया और ईराक इंगलैण्ड के संरक्षण में था। तुर्की में इंगलैण्ड से लड़ने की शक्ति न थी। इसी बीच इंगलैण्ड मोसुल के मामले को राष्ट्रसंघ में ले गया, जहाँ ईराक के पक्ष में निर्णय हुआ। इससे खिन्न होकर तुर्की ने सोवियत संघ के साथ एक दस-वर्षीय मित्रता एवं सहयोग का समझौता सम्पन्न कर लिया। चूँकि इंगलैण्ड तुर्की में सोविधत संघ के बढ़ते हुए प्रभाव को पसन्द नहीं कर सकता था, अतः 1926 ई. में उसने तुर्की के साथ समझौता कर लिया और मोसुल के तेल का दसवाँ भाग देना स्वीकार कर लिया। 1930 ई. में तुर्की ने अपने शत्रु यूनान के साथ एक समझौता कर लिया जिसके अनुसार दोनों देशों के विस्थापितों की सम्पत्ति तथा भूमध्यसागर में दोनों की स्थिति का मसला हल हो गया। 1932 ई. में तुर्की राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया।

इटली में मुसोलिनी के उदय से तुर्की के लिए खतरा पैदा हो गया था। जर्मनी में हिटलर के उदय ने इस खतरे को और अधिक बढ़ा दिया। परिणामस्वरूप 1933 ई. में तुर्की बाल्कन मित्र संघ का सदस्य बन गया। इसके दूसरे सदस्य थे—यूगोस्लाविया, रूमानिया और यूनान। इन सदस्य देशों ने एक-दूसरे की स्वतन्त्रता तथा प्रादेशिक अखण्डता को बनाये रखने तथा आपसी सहयोग स्थापित करने का वचन दिया। 1935 ई. में जब इटली ने अबीसिनिया पर आक्रमण किया तो तुर्की ने राष्ट्रसंघ का पक्ष लिया। हिटलर द्वारा जर्मनी के शस्त्रीकरण की घोषणा से तुर्की को अपनी सुरक्षा की चिन्ता लग गई, परिणामस्वरूप तुर्की, इंगलैण्ड और फ्रांस के खेमे में चला गया। इसका लाभप्रद परिणाम यह निकला कि इन दोनों देशों के साथ विवाद के जो मामले थे, उनका अब निपटारा हो गया। 20 जुलाई, 1936 ई. को मोंट्रो सन्धि सम्पन्न की गई, जिसके अनुसार लोसान की सन्धि में संशोधन किये गये तथा खाड़ियों के क्षेत्र में तुर्की को-किलेबन्दी करने के अधिकार दिये गये। शान्तिकाल में सभी देशों के जहाजों को गुजरने देने की स्वीकृति दे दी गई, परन्तु युद्धकाल में तुर्की को अपने शत्रु देशों के जहाजों के आने-जाने पर रोक लगाने का अधिकार दिया गया। इस सन्धि से तुर्की ने अपना खोया हुआ अधिकार पुनः प्राप्त कर लिया। इसके बाद अलेक्जेंड्रिया के सम्बन्ध में फ्रांस से बातचीत की गई। हुआ यह कि सितम्बर, 1936 ई. में फ्रांस ने इसे सीरिया को सौंपने का निश्चय किया और तुर्की इस मामले को राष्ट्रसंघ में ले गया। राष्ट्रसंघ ने इस क्षेत्र के स्वराज्य, निःशस्त्रीकरण एवं तुर्कों के विशेषाधिकारों को मान्यता देने की बात स्वीकार कर ली। परन्तु इससे इस क्षेत्र के तुर्कों को सन्तोष नहीं हुआ। अन्त में 1938 ई. में इस क्षेत्र में जनमत संग्रह करवाने का निश्चय किया गया। सितम्बर, 1938 में हुए जनमत संग्रह में लोगों ने तुर्की के पक्ष में भारी मतदान किया और तुर्की ने यहाँ पर एक स्वतन्त्र गणराज्य स्थापित करने का निश्चय किया। परिणामस्वरूप "हायटी गणराज्य" अस्तित्व में आया। परन्तु एक साल बाद ही इस गणराज्य को तुर्की में शामिल कर लिया गया। इस प्रकार, शान्तिपूर्ण प्रयासों के द्वारा मुस्तफा कमाल ने अपने पड़ौसी एशियाई देशों के साथ भी मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम किये। जुलाई, 1937 ई. में तुर्की, ईराक और अफगानिस्तान के मध्य "सादाबाद की सन्धि" सम्पन्न हुई, जिसके अनुसार तीनों देशों ने सीमाओं की सुरक्षा का आश्वासन दिया तथा आपसी समस्याओं के शान्तिपूर्वक आपसी वार्तालाप के द्वारा हल करने का निश्चय प्रकट किया। इसी प्रकार की सन्धि बाल्कन राज्यों के साथ पहले ही सम्पादित की जा चुकी थी। 10 नवम्बर, 1938 ई. को मुस्तफा कमाल का स्वर्गवास हो गया। अपनी मृत्यु के पूर्व वह तुर्की की आन्तरिक तथा बाह्य समस्याओं का समाधान करने में सफल रहा था।

कमाल का मूल्यांकन—शताब्दियों से तुर्की को यूरोप में एक रोगग्रस्त साम्राज्य के नाम से पुकारा जाता था। प्रथम महायुद्ध में तुर्की के विशाल साम्राज्य का अन्त हो गया और उसे अपने रोग से भी मुक्ति मिल गई। परन्तु उसे रोग मुक्त करके नवजीवन प्रदान करने में मुस्तफा कमाल की सेवायें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रही थीं। उसने अपनी सूझबूझ, दृढ़ संकल्प तथा योग्य नेतृत्व के द्वारा तुर्की पर से विपत्ति के मंडराते हुए बादलों को हटाया और तुर्की को एक नया संविधान, नयी अर्थ-व्यवस्था, नया समाज और नयी वैदेशिक नीति प्रदान की। ओटोमन साम्राज्य

के जीर्ण-शीर्ण भग्नावशेषों पर आधुनिक तुर्की का निर्माण उसी के परिश्रम का परिणाम है। वह वास्तव में एक योग्य राष्ट्र-नायक, सफल निर्माता, कुशल प्रशासक और चतुर राजनीतिज्ञ था। गणराज्य की स्थापना के बाद उसने शान्तिपूर्ण उपायों से तुर्की की समस्याओं को हल किया और पड़ौसी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करके तुर्की को सुरक्षा प्रदान की। अपनी मृत्यु के पूर्व उसने तुर्की को सभ्यता के प्रशस्त मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया था। उसकी इन्हीं सब सेवाओं के कारण तुर्क लोग उसे "आधुनिक तुर्की का पिता" कहकर पुकारते हैं। फिर भी उसके विरोधियों ने उसके कार्यों एवं नीतियों की आलोचना करने में कसर बाकी नहीं रखी थी। उनकी आलोचना का एक मुख्य बिन्दु कृषि की उन्नति के सम्बन्ध में पर्याप्त कदम न उठाना था। दूसरी बात, गणतन्त्र में अन्य राजनीतिक दलों को फलने-फूलने के लिए आवश्यक सुविधायें न देना तथा निष्पक्ष-निर्वाचन की पर्याप्त व्यवस्था न करना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुस्तफा कमाल ने अपने व्यक्तिगत तानाशाही शासन के विरुद्ध किसी भी प्रकार की आलोचना को सहन नहीं किया और अपने विरोधियों का कठोरता के साथ दमन किया। परन्तु इन सब कार्यवाहियों का उद्देश्य जन-कल्याण ही था। तुर्की को एक उन्नत राष्ट्र बनाना था और तानाशाही शासन की स्थापना किये बिना ऐसा करना कदापि सम्भव न होता। उसके विरोधियों ने उसके व्यक्तिगत जीवन पर भी काफी कीचड़ उछाला है। उनके अनुसार कमाल जुआ, शराब और सुन्दरियों का अनन्य प्रेमी था। अतः वह देश के सामने अपने व्यक्तिगत जीवन का कोई आदर्श प्रस्तुत नहीं कर पाया। इन सब कमियों और दोषों के उपरान्त भी वह विश्व के महान् व्यक्तियों में गिना जाता है। उसने "अतातुर्क" की उपाधि को सार्थक कर दिखाया था।

कमाल के बाद का तुर्की

इस्मत इनोनू (11 नवम्बर, 1938 से 22 मई, 1950) – मुस्तफा कमाल की मृत्यु के बाद तुर्की की बागडोर उसके परम मित्र तथा प्रमुख सहयोगी इस्मत इनोनू के हाथों में आ गई। वह एक साथ ही "गणराज्य का राष्ट्रपति" एवं "गणतान्त्रिक जनता दल" का अध्यक्ष निर्वाचित कर लिया गया। इस्मत का जन्म 24 सितम्बर, 1884 ई. में हुआ था। उसका पिता हाजी रशीद बे ओटोमन साम्राज्य में एक न्यायाधीश था। उसे भी सैनिक महाविद्यालय में भर्ती करवाया गया था और 1906 ई. में उसे एड्रियानोपल में नियुक्त किया गया। जहाँ वह "एकता-प्रगति संघ" के सम्पर्क में आया। 1910 ई. में उसे यमन भेज दिया गया और 1912 ई. में उसे यमन स्थित तुर्की सेना का सेनानायक बना दिया गया। प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ में वह कुछ दिनों तक कमाल का सेनाधिकारी भी रहा था। युद्ध की समाप्ति के पूर्व उसे "कर्नल" का पद प्रदान किया गया था। जब कमाल ने "महान् राष्ट्रीय सभा" का पुनर्गठन किया तो इनोनू ने भी अपनी सेवायें राष्ट्रीय सभा को अर्पित कर दीं। 1921 ई. में यूनानियों के विरुद्ध लड़े गये "इनोनू के युद्धों" में इस्मत ने शानदार सफलताएँ प्राप्त कीं और इसीलिए उसने अपने नाम के आगे "इनोनू" की पदवी धारण की। लोसान की सन्धि-वार्ता के समय उसी को तुर्कों का प्रधान प्रतिनिधि बनाकर भेजा गया था और अपनी दृढ़ता के कारण वह इस सन्धि में तुर्की के लिये सम्मानजनक शर्तें रखवाने में कामयाब

रहा। वह काफी समय तक तुर्की का प्रधानमन्त्री रहा। अतः कमाल की मृत्यु के बाद वही एक मात्र उसका उचित उत्तराधिकारी था। आगामी दस वर्षों तक वह तुर्की का नेतृत्व करता रहा।

इनोनू की आन्तरिक नीति—राष्ट्रपति बनते ही इनोनू को कई प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ा। वस्तुस्थिति यह थी कि मुस्तफा कमाल ने जिस अल्पावधि में तुर्की के राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक ढाँचे को बदल दिया था, उससे पुरातनपंथियों में बहुत बड़ा असन्तोष व्याप्त हो गया था। मुस्तफा ने अपने जीवनकाल में उनके असन्तोष को सिर उठाने का अवसर नहीं दिया। उसने सख्ती के साथ उनके विरोध को कुचल दिया था। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ पुनः सिर उठाने लगीं। दुर्भाग्यवश, इसी समय द्वितीय महायुद्ध हो गया, जिसने तुर्की को पुनः संकट में डाल दिया। महायुद्ध के परिणामस्वरूप कई नयी आन्तरिक समस्याएँ उत्पन्न हो गईं। सम्पूर्ण देश महँगाई की चपेट में आ गया। सैनिक व्यय भी काफी बढ़ गया। देश की अर्थ-व्यवस्था पर पुनः भारी बोझ आ पड़ा। यह ठीक है कि इनोनू एक योग्य सेनानायक और मंझा हुआ राजनीतिज्ञ भी था, परन्तु उसमें मुस्तफा कमाल की-सी क्रियात्मक योग्यता का अभाव था। समस्याओं के समाधान के लिए जिस प्रशासनिक दृढ़ता की जरूरत होती है, वह उसमें नहीं थी। परिणामस्वरूप उसकी लोकप्रियता कम होती गई और अन्त में उसे सत्ता से हाथ धोना पड़ा।

द्वितीय महायुद्ध के कारण तुर्की की अर्थ-व्यवस्था बिगड़ने लग गई थी। इसे सुधारने के लिये 11 नवम्बर, 1942 ई. को तुर्की के सभी नागरिकों पर एक नया "जायदाद कर" लगाया गया। परन्तु कर लगाते समय धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त का गला घोंट दिया गया। तुर्की के गैर-मुस्लिम नागरिकों से मुस्लिम नागरिकों की तुलना में दस गुना अधिक कर वसूल किया गया। जो नागरिक कर अदा करने की स्थिति में न था, उसकी सम्पत्ति को नीलाम करने तथा पूरी कर-राशि वसूल न होने तक उसे राज्य द्वारा संचालित "श्रम-शिविरों" में भेजने की व्यवस्था की गई। सरकार का यह कदम कमाल के गणतन्त्रीय आदर्शों पर एक काला धब्बा था। इस कदम ने सामाजिक समानता के सिद्धान्त पर भी कुठाराघात किया। इससे तुर्की के व्यापार-वाणिज्य तथा व्यवसाय को भारी हानि पहुँची। महायुद्ध की समाप्ति के साथ ही इस कर को समाप्त कर दिया गया, परन्तु वह अपने पीछे व्यापक असन्तोष छोड़ गया, जिससे प्रतिक्रियावादी शक्तियों को अपने पैर फैलाने का उचित अवसर प्राप्त हो गया। धीरे-धीरे मुस्तफा कमाल की धर्म-निरपेक्षता तथा उदारवादी नीति में परिवर्तन की माँग की जाने लगी और समय के साथ-साथ यह माँग जोर पकड़ती गई। सितम्बर, 1945 ई. में गठित "राष्ट्रीय पुनर्स्थापना दल" ने सार्वजनिक तौर से कमाल की नीतियों में परिवर्तन करने की आवश्यकता पर जोर दिया। यह बात दूसरी है कि इस दल को कोई उल्लेखनीय सफलता न मिल पाई, परन्तु इसने देश में विद्यमान असन्तोष को और अधिक व्यापक बना दिया। अब शिक्षित तथा बौद्धिक वर्ग प्रतिबन्धों को समाप्त करने की माँग करने लगा। व्यापारी लोग नये स्रोतों की खोज करने लगे। श्रमिक वर्ग सरकार की दमनकारी नीति में संशोधन की माँग करने लगा तो धर्मान्ध तुर्क देश में इस्लाम को पुनः प्रतिष्ठित करने की जोरदार माँग करने लगे। गैर-मुसलमानों में "जायदाद-कर" के कारण पहले से ही असन्तोष फैला हुआ था। इस प्रकार सभी वर्ग मुस्तफा कमाल की नीतियों में परिवर्तन की माँग करने लगे थे। इनोनू राष्ट्र

की आकांक्षाओं में बाधक बनना नहीं चाहता था। उसने अपने आपको तटस्थ रखा और नीति-निर्धारण का कार्य राष्ट्रीय सभा को सौंप दिया।

नवम्बर,1945 में राष्ट्रीय सभा का अधिवेशन शुरू हुआ। उद्घाटन-भाषण में स्वयं इनोनू ने देश में विरोधी दल की अनिवार्यता पर जोर दिया। इस समय तक महायुद्ध पूरी तरह से समाप्त हो चुका था। अतः अन्य दलों पर प्रतिबन्धों की कोई आवश्यकता भी न थी। परन्तु इससे शासकीय दल "गणतान्त्रिक जनता दल" में गहरी फूट पड़ गई और उसके कुछ प्रमुख नेताओं ने दल से त्याग-पत्र देकर 7 जनवरी, 1946 को "डेमोक्रेटिक दल" की स्थापना की। डेमोक्रेटिक दल के नेताओं में दो व्यक्ति प्रमुख थे—एक थे सेलाल बयार और दूसरे थे अदनान मेंदरस। सेलाल बयार मुस्तफा कमाल के निकट सहयोगी थे और उन्होंने तरुण तुर्क आन्दोलन में भी भाग लिया था। मुस्तफा कमाल के अन्तिम दिनों में वे तुर्की के प्रधानमन्त्री भी रह चुके थे। अदनान मेंदरस एक सुयोग्य राजनीतिज्ञ था। इन दो प्रमुख नेताओं के साथ अन्य बहुत-से नेताओं तथा कर्मठ एवं अनुभवी कार्यकर्त्ताओं ने भी पुराने दल को छोड़कर नये दल की सदस्यता ग्रहण कर ली। इस प्रकार, पहली बार एक शक्तिशाली विरोधी दल अस्तित्व में आया।

डेमोक्रेटिक दल मुस्तफा कमाल के सिद्धान्तों का विरोधी नहीं था, परन्तु वह उन सिद्धान्तों के पुनरावलोकन और आवश्यकता हो तो संशोधन के पक्ष में था। इसके अलावा वह राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में जारी प्रतिबन्धों का भी विरोधी था। परन्तु शासकीय दल परिवर्तनों के पक्ष में नहीं था। जुलाई 1946 ई. में राष्ट्रीय सभा के लिए आम चुनाव हुये, जिसमें डेमोक्रेटिक दल को केवल 62 स्थान ही प्राप्त हो सके। इसका मूल कारण निष्पक्ष निर्वाचन का न होना था। इसके उपरान्त भी डेमोक्रेटिक दल ने अपनी माँगों के लिए संघर्ष जारी रखा और शासकीय दल पर इसका प्रभाव भी पड़ा। 2 जुलाई, 1947 ई. को मुस्लिम धार्मिक शिक्षण संस्थाओं पर लगे प्रतिबन्धों को हटा दिया गया और कुछ समय बाद धार्मिक शिक्षा पर लगे प्रतिबन्धों को समाप्त कर दिया गया। गणतान्त्रिक जनता दल में पुनः मतभेद उत्पन्न हो गये थे और बहुत-से सदस्य परिवर्तनों की माँग करने लगे थे। इसी समय, जुलाई, 1948 ई. में तुर्की में एक प्रतिक्रियावादी राजनैतिक दल "नेशनल पार्टी" का भी गठन हुआ। फरवरी, 1950 में सरकार ने एक नयी "निर्वाचन विधि" लागू करने की घोषणा की; जिसमें "गुप्त मतदान" और "सार्वजनिक मतगणना" की व्यवस्था की गई और देश में निर्वाचन की देखरेख का उत्तरदायित्व न्यायपालिका को सौंप दिया गया ताकि निष्पक्ष चुनाव कराये जा सकें। नये परिवर्तनों का महत्त्व समझाने के लिए इनोनू ने देशव्यापी भ्रमण किया। मई, 1950 ई. में नई विधि के अनुसार आम-निर्वाचन हुए, जिसमें डेमोक्रेटिक दल को कुल 487 स्थानों में से 408 स्थान प्राप्त हुए। शासक दल को केवल 69 स्थान प्राप्त हो सके। इस प्रकार, तुर्की की राजनीति में एक शान्तिपूर्ण क्रान्ति सम्पन्न हो गई देश की बागडोर गणतन्त्रवादी दल के हाथों से डेमोक्रेटिक दल के हाथों में आ गई। 22 मई 1950 को महान् राष्ट्रीय सभा ने सेलाल बयार को नया राष्ट्रपति निर्वाचित किया। मेंदरस प्रधानमन्त्री नियुक्त किये गये।

इनोनू की विदेश नीति—विदेश नीति के क्षेत्र में भी इस्मत इनोनू को कई प्रकार व गम्भीर समस्याओं का सामना करना पड़ा। उसके राष्ट्रपति बनने के थोड़े समय बाद ही द्विती

महायुद्ध शुरू हो गया, जिससे नई-नई परिस्थितियाँ उत्पन्न होती गईं। इनोनू ने इस अवसर पर राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा एवं वृद्धि की दृष्टि से जो नीति अपनाई, उसे "राष्ट्रीय स्वार्थपरता" की नीति कहा जा सकता है। इस नीति की मुख्य विशेषता तुर्की को महायुद्ध की ज्वाला से दूर रखना था, ताकि देश में शान्ति एवं समृद्धि बनी रहे।

महायुद्ध के आरम्भ से ही तुर्की का झुकाव इंगलैण्ड-फ्रांस की तरफ था। जब इटली ने इथोपिया पर आक्रमण किया था, तब भी तुर्की ने इंगलैण्ड को सहयोग दिया था। इससे दोनों देशों के मध्य मैत्री-सम्बन्ध कायम हो गये। जब मुसोलिनी ने अलबानिया पर आक्रमण किया तो खतरा तुर्की की सीमाओं के निकट पहुँच गया। इस अवसर पर तुर्की ने इंगलैण्ड के साथ "पारस्परिक आश्वासन की सन्धि" की और फ्रांस के साथ अनाक्रमण सन्धि की। फ्रांस ने हैती गणराज्य पर तुर्की का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया और तुर्की को सैनिक साज-सामान खरीदने के लिये ऋण दिया। 23 अगस्त, 1939 को जर्मनी और रूस की सन्धि से परिस्थिति ही बदल गई। जब जर्मनी ने पौलण्ड पर आक्रमण किया तो रूस ने भी उसका साथ दिया। तुर्की रूस के साथ मैत्री कायम रखना चाहता था, ताकि उसकी सुरक्षा को किसी प्रकार का खतरा न रहे। परन्तु जब तुर्की ने रूस से इस सम्बन्ध में वार्ता की तो रूस का स्पष्ट उत्तर था कि तुर्की पहले इंगलैण्ड-फ्रांस से पृथक् हो जाय। यह बात इनोनू की सरकार को मान्य नहीं थी। ऐसी स्थिति में इनोनू ने कूटनीतिक सूझबूझ का परिचय दिया। उसने इंगलैण्ड और फ्रांस से एक सन्धि करके किसी भी यूरोपीय देश के आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त कर लिया और बदले में भूमध्यसागर में युद्ध होने पर इंगलैण्ड और फ्रांस के साथ सहयोग करने का आश्वासन दिया। उस सन्धि की विशेषता यह थी कि तुर्की को रूस के विरुद्ध हथियार उठाने को नहीं कहा गया। जब फ्रांस का पतन हो गया और इंगलैण्ड संकट में फँस गया, तब तुर्की को सन्धि के अनुसार युद्ध में कूद पड़ना था, परन्तु तुर्की ने ऐसा नहीं किया। क्योंकि इस समय तक जर्मन सेनाएँ उसे चारों ओर से घेर चुकी थीं और यदि तुर्की इंगलैण्ड का पक्ष लेता तो उसे तत्काल जर्मनी से लड़ना पड़ता, जबकि इनोनू का उद्देश्य अपने देश की सुरक्षा करना था। अतः उसने सन्धि की शर्तों को ताक में रख दिया और जर्मनी के प्रति मैत्री प्रदर्शित करके तुर्की को बचाने का निश्चय किया।

युद्धों के पूर्व तुर्की और जर्मनी में अच्छे व्यावसायिक सम्बन्ध थे। अब जब तुर्की जर्मन सेनाओं से घिर गया तो उसने जर्मनी के साथ पुनः बातचीत की और 18 जून, 1940 को तुर्की और जर्मनी के मध्य दस वर्ष के लिए एक अनाक्रमणात्मक सन्धि हो गई। बाद में जब जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया और जर्मन सेनाओं को रूस के विरुद्ध भी सैनिक सफलताएँ मिलने लगीं तो तुर्की ने 9 अक्टूबर, 1941 ई. को जर्मनी के साथ एक व्यापारिक सन्धि भी कर ली। हिटलर ने रूस में निवास करने वाली तुर्क जातियों को स्वराज्य देने का प्रलोभन देकर भी तुर्की को अपनी ओर आने के लिए उकसाया। परन्तु इनोनू ने खुले रूप से युद्ध में सम्मिलित होना अच्छा नहीं समझा। हाँ, उसने जर्मन सेना एवं युद्धपोतों को सुविधाएँ देना स्वीकार कर लिया। बाद में रूसियों ने जर्मन फौजों की प्रगति रोक दी और उन्हें पीछे धकेलना शुरू कर दिया। इसके कुछ समय बाद ही संयुक्त राज्य अमेरिका जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित हो गया। इससे

युद्ध का पासा पुनः पलट गया और तुर्की सरकार की विदेश नीति ने भी रंग बदलना शुरू कर दिया। अप्रैल 1943 ई. में इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री चर्चिल और इनोनू के बीच तुर्की के युद्ध में सम्मिलित होने की बातचीत हुई और ब्रिटिश सैनिक विशेषज्ञ तुर्की आये। परन्तु तुर्की ने अब भी खुले रूप से युद्ध में सम्मिलित होना उचित नहीं समझा। हाँ, उसने जर्मनी के साथ की गई व्यापारिक सन्धि भंग कर दी और खाड़ियों से गुजरने वाले जर्मन युद्धपोतों पर रोक लगा दी। बाद में उसने जर्मनी और जापान के साथ अपने कूटनीतिक सम्बन्ध समाप्त कर लिये और युद्ध के अन्तिम दिनों में अर्थात् 23 फरवरी, 1945 को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। ऐसा करने में उसका ध्येय सेन फ्रांसिस्को सम्मेलन में भाग लेने का अधिकार प्राप्त करना मात्र था। इस प्रकार, द्वितीय महायुद्ध में तुर्की की विदेश नीति केवल "राष्ट्रीय सुरक्षा" के मुख्य बिन्दु के इधर-उधर ही मंड़राती रही और किसी प्रकार की नैतिकता से प्रभावित नहीं हुई।

द्वितीय महायुद्ध के बाद विश्व की राजनीति पर अमेरिका और रूस भारी हो गये। लगभग सारा संसार दो परस्पर विरोधी गुटों—पूँजीवादी एवं साम्यवादी में विभाजित हो गया। तुर्की के लिए पुनः विपत्ति आ गई, क्योंकि उसने अपने युद्धकालीन व्यवहार से रूस को असन्तुष्ट कर दिया था और 21 मार्च, 1945 ई. को रूस ने तुर्की के साथ अपनी पुरानी सन्धि को समाप्त करने की घोषणा भी कर दी। इसके बाद रूस ने खाड़ियों पर रूसी-तुर्की संयुक्त नियन्त्रण की माँग की तथा काला सागर क्षेत्र के कोर्स और अरदहान की भी माँग की। ऐसी स्थिति में तुर्की का अमेरिका की तरफ झुकना स्वाभाविक ही था। 1946 ई. में तुर्की और रूस के सम्बन्ध तनावपूर्ण बने रहे। तुर्की ने अपने देश की सभी समाजवादी संस्थाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिया। 12 मार्च, 1947 को अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमेन ने यूनान तथा तुर्की को रूसी खतरे से बचाने का आश्वासन दिया तथा तुर्की को पर्याप्त आर्थिक सहायता भी दी गई। इससे तुर्की को राहत तो मिल गई, परन्तु वह शीत युद्ध के दलदल में फँस गया।

1950 ई. में तुर्की में शासकीय परिवर्तन हो गया। सत्ता डेमोक्रेटिक पार्टी के हाथ में आ गई परन्तु सत्ता परिवर्तन से तुर्की की विदेश नीति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। राष्ट्रपति सेलाल ने अमेरिका के साथ सहयोग की नीति को जारी रखा। परिणामस्वरूप 'मार्शल योजना' के अन्तर्गत तुर्की को अमेरिका से पर्याप्त मात्रा में आर्थिक सहायता मिली। बाद में तुर्की को उत्तरी अटलाण्टिक सन्धि (NATO) का सदस्य बना लिया गया। इस प्रकार, शीत युद्ध में तुर्की ने आरम्भ से ही अपना भाग्य अमेरिका के साथ जोड़ दिया।

डेमोक्रेटिक दल का शासन

1950 से लेकर 1960 तक तुर्की में डेमोक्रेटिक दल का शासन बना रहा और शासन की बागडोर सेलाल बयार तथा अदनान मेंदरस के हाथों में बनी रही। प्रारम्भ में लोगों को इस दल से काफी आशाएँ थीं परन्तु समय के साथ-साथ डेमोक्रेटिक नेता कुर्सी से चिपकने लगे और उन्होंने राजनैतिक औचित्य को भी भुला दिया। परिणामस्वरूप मई 1960 ई. में तुर्की में सैनिक क्रान्ति हो गई और डेमोक्रेटिक पार्टी का शासन समाप्त हो गया।

राजनैतिक क्षेत्र में डेमोक्रेटिक पार्टी ने अपनी सत्ता का उपयोग अपने विरोधियों का सफाया करने के लिए किया और इससे सबसे अधिक हानि गणतान्त्रिक जनता दल को उठानी पड़ी। इस दल द्वारा संचालित "सार्वजनिक संस्थाओं" को बन्द कर दिया गया। दल का कोष तथा सम्पत्ति जब्त कर ली गई और इसकी शाखाओं को बन्द कर दिया गया। दल के मुख्य समाचार-पत्र 'वतन' को सरकारी नियन्त्रण में ले लिया गया। इसके बाद नेशनल पार्टी का दमन किया गया तथा पार्टी के नेताओं पर मुकदमे चलाये गये। प्रेस की स्वतन्त्रता छीन ली गई तथा सरकारी कार्यों की आलोचना करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। 1953 ई. में देश में राजनीतिक गतिविधियों पर भी रोक लगा दी गई। इसके बाद, 1954 में आम चुनाव कराये गये जिसमें एक बार पुनः डेमोक्रेटिक पार्टी भारी बहुमत से विजयी हुई। चुनावों में निष्पक्षता नहीं बरती गई और सरकारी मशीनरी का भारी दुरुपयोग किया गया। नये चुनावों के बाद सरकार ने बुद्धिजीवियों पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये और सरकारी अधिकारियों तथा कर्मचारियों पर कठोर नियन्त्रण रखा जाने लगा। विरोधी दल की गतिविधियों को भी नियन्त्रित कर दिया गया और आम सभाओं पर रोक लगा दी गई। परिणाम यह निकला कि डेमोक्रेटिक दल में भी दरार पड़ गई और 1955 ई. में कई सदस्य पार्टी से अलग हो गये। मन्त्रिमण्डल के कुछ सदस्यों ने भी त्याग-पत्र दे दिये। अब सरकार ने राष्ट्रीय सभा के कार्यों की आलोचना पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया और न्यायाधीशों पर दबाव डाला जाने लगा कि वे सरकार विरोधी लोगों को सख्त सजाएँ दें। 1957 के नवम्बर में होने वाले आम चुनावों में डेमोक्रेटिक दल जीत तो गया परन्तु इस बार उसे भारी बहुमत नहीं मिल पाया। इससे पार्टी में गुटबन्दी का जोर बढ़ गया और मेंदरस को 1958 में ही तीन बार मन्त्रिमण्डल में हेरफेर करना पड़ा। इससे डेमोक्रेटिक पार्टी की प्रतिष्ठा धूल में मिल गई। फिर भी, उसने दमनकारी नीति को नहीं त्यागा। सारे देश में उसके शासन के विरुद्ध पहले से ही असन्तोष धधक रहा था। ऐसी स्थिति में 27 मई, 1960 को सेना ने क्रान्ति के द्वारा शासन सत्ता हथिया ली।

आर्थिक क्षेत्र में डेमोक्रेटिक पार्टी ने कृषि पर अधिक जोर दिया और गणतान्त्रिक दल की राष्ट्रीयकरण की नीति को त्याग दिया। निजी पूँजी लगाने वालों को प्रोत्साहन दिया गया और विदेशियों को अपनी पूँजी तुर्की से बाहर ले जाने की छूट दे दी गई। शराब और दियासलाई उद्योग पर राज्य के एकाधिकार को समाप्त कर दिया गया। विदेशी उद्योगपतियों को तुर्की में उद्योग स्थापित करने के लिए आमन्त्रित किया गया। तेल उत्पादन क्षेत्र में उनकी सेवाओं को प्राप्त किया गया। परिणामस्वरूप तेल-उत्पादन में काफी वृद्धि हो गई और बहुत-से नये कारखाने भी स्थापित हो गये। जल, विद्युत एवं सड़क निर्माण की योजनाओं पर भी ध्यान दिया गया और इन क्षेत्रों में सन्तोषजनक प्रगति भी हुई। कृषि के क्षेत्र में सर्वाधिक उन्नति हुई। अब तुर्की गेहूँ का निर्यात करने वाला देश बन गया। उपर्युक्त सभी विकास योजनाओं के लिये तुर्कों ने भारी कर्जा लिया था। अब उस कर्जे का विनाशकारी प्रभाव भी देखना पड़ा। देश में मुद्रास्फीति की स्थिति पैदा हो गई। कानून के द्वारा मुद्रास्फीति को रोकने का प्रयास किया गया, परन्तु सफलता नहीं मिली। 1958 ई. में अमेरिका तथा अन्य स्रोतों से भारी कर्जा लेकर स्थिति को सुधारने का

प्रयास किया गया, परन्तु इसका भी कोई ठोस परिणाम नहीं निकला। डेमोक्रेटिक शासन के प्रति असन्तोष का एक प्रमुख कारण आर्थिक क्षेत्र में उसकी असफलता था।

सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में डेमोक्रेटिक शासन ने मुस्तफा कमाल के सिद्धान्तों से अधिक दूर जाना उचित नहीं समझा। परन्तु ग्रामीण तुर्कों को सन्तुष्ट करना भी आवश्यक था, क्योंकि वे अब भी धर्म से काफी प्रभावित थे। 1950 ई. में रेडियो पर धार्मिक कार्यक्रम को पुनः चालू किया गया। 1952 में ग्रामीण शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा दिये जाने की व्यवस्था की गई। परिणामस्वरूप देश में नई-नई मस्जिदों का निर्माण किया जाने लगा और मस्जिदों में जाने वालों की संख्या भी काफी बढ़ गई। परन्तु डेमोक्रेटिक दल ने धर्मान्धता को प्रोत्साहन नहीं दिया। उसने धर्म से प्रभावित नेशनल पार्टी पर प्रतिबन्ध लगा दिया और डेमोक्रेटिक पार्टी से उन सदस्यों को भी निष्कासित कर दिया, जो धार्मिक भावनाओं को उभारने का काम करते थे। इस क्षेत्र में नये शासन ने पुराने शासन की नीतियों का यथासम्भव पालन किया। शिक्षा के प्रसार के लिए भी बहुत कुछ किया गया। इस प्रकार, तुर्की लोकतन्त्र एवं धर्म-निरपेक्षता के मार्ग पर आगे बढ़ता गया।

प्रश्न

1. मुस्तफा कमालपाशा के सत्तारूढ़ होने के पहले तुर्की की स्थिति का विश्लेषण कीजिये।
2. तुर्की के उदय एवं आधुनिकीकरण में मुस्तफा कमाल पाशा की उपलब्धियों का उल्लेख कीजिए।
3. मुस्तफा कमालपाशा को "आधुनिक तुर्की का पिता" कहना कहाँ तक उचित है ? समझाइये।
4. मुस्तफा कमालपाशा के बाद तुर्की में होने वाले परिवर्तनों का मूल्यांकन कीजिये।

अध्याय-25

हिन्दचीन और हिन्देशिया का स्वतन्त्रता संघर्ष
(Freedom Struggle in Indo-china and Indonesia)

(1) हिन्दचीन का स्वतन्त्रता संघर्ष

हिन्दचीन प्रायद्वीप में तीन देश आते हैं—कम्बोडिया, लाओस और वियतनाम। इस सम्पूर्ण प्रायद्वीप का क्षेत्रफल तीन लाख वर्ग मील से थोड़ा अधिक है और जनसंख्या लगभग चार करोड़ है। हिन्दचीन का स्वतन्त्रता संघर्ष अपने आप में विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध और साथ ही आन्तरिक संघर्ष का रोमांचक इतिहास है।

(क) कम्बोडिया का मुक्ति संघर्ष

परिचय—प्राचीन चीनी ग्रन्थों में इसे "फूनान" प्रदेश कहा गया है और यहाँ भारतीय मूल के राजाओं का शासन था। इसे 'अंगकोर का साम्राज्य' भी कहा जाता था। भारतीय ग्रन्थों में इसका प्राचीन नाम "काम्बुज" मिलता है। आधुनिक कम्बोडिया का क्षेत्रफल 88,780 वर्ग मील और जनसंख्या पचास लाख के आसपास है।

फ्रांसीसी संरक्षण की स्थापना—उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में फ्रांस ने हिन्दचीन में प्रवेश किया और वियतनाम को अपने औपनिवेशिक शासन के अन्तर्गत लाने में संलग्न हो गया। परिणामस्वरूप कम्बोडिया में भी उसकी रुचि बढ़ती गई और 1863 में फ्रांसीसियों ने कम्बोडियाई शासक नोरोदम (1860-1904) को सूचित किया कि वे कम्बोडिया को अपने संरक्षण में लेने की सन्धि पर हस्ताक्षर करने को तैयार हैं। इस प्रकार, कम्बोडिया पर फ्रांस का प्रभुत्व स्थापित हुआ और उसके विदेशी मामलों का नियन्त्रण फ्रांस ने सम्भाल लिया।

प्रारम्भ में फ्रेंच संरक्षण से नोरोदम को नुकसान के स्थान पर लाभ ही हुआ। वह अपने सौतेले भाइयों के विरोध तथा विद्रोह से अपने सिंहासन को सुरक्षित रखने में सफल रहा। परन्तु 1870 के बाद कम्बोडिया स्थित फ्रांसीसी अधिकारी राज्य के आन्तरिक मामलों में अधिक अधिकार तथा नियन्त्रण के लिए दबाव डालने लगे। 1884 में नोरोदम को एक नये समझौते पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश किया गया। इस समझौते ने कम्बोडिया को फ्रांस के एक उपनिवेश में बदल दिया। इसके विरुद्ध देश में एक जोरदार विद्रोह उठ खड़ा हुआ जिसे दबाने में दो वर्ष

लग गये। इसके वाद द्वितीय महायुद्ध तक कम्वोडिया में कोई विद्रोह नहीं हुआ। 1897 में कम्वोडिया स्थित फ्रांसीसी प्रतिनिधि ने कम्वोडियाई मन्त्रिमण्डल का अध्यक्ष पद सम्भाल लिया। इससे राजा का प्रभाव काफी कम हो गया। 1904 में नोरोदम की मृत्यु के वाद उसका सौतेला भाई सिसोवत कम्वोडिया का राजा वना। उसने 1927 तक शासन किया और उसके शासनकाल में राजा और फ्रेंच शासन के मध्य किसी प्रकार का विवाद नहीं उठा। न ही कम्वोडिया में किसी प्रकार की राष्ट्रीय गतिविधियों का ही उदय हुआ।

द्वितीय महायुद्ध और राष्ट्रीय जागरण—द्वितीय महायुद्ध के दौरान जापानियों ने सम्पूर्ण हिन्दचीन पर अपना अधिकार जमा लिया परन्तु उन्होंने फ्रांसीसी प्रशासन को लागू रहने दिया, यद्यपि सम्पूर्ण वास्तविक सत्ता अपने हाथों में केन्द्रित रखी। कम्वोडिया के राजा की मृत्यु के वाद 1941 में फ्रेंच गवर्नर-जनरल ने राजकुमार नोरोदम सिंहनक को गद्दी पर वैठाया। युद्ध के दौरान कम्वोडियाई देशभक्तों ने जापानियों के विरुद्ध छापामार संघर्ष छेड़कर उन्हें काफी परेशान किया। नतीजा यह निकला कि जापान ने कम्वोडिया के कुछ इलाके पड़ौसी देश थाइलैण्ड को दे दिये।

द्वितीय महायुद्ध में जव जापान को अपनी पराजय सुनिश्चित दिखाई देने लगी तो उसने सम्पूर्ण हिन्दचीन में फ्रांसीसी प्रशासन को उखाड़ फेंका (मार्च, 1945 में) और हिन्दचीन को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। कम्वोडिया को भी इससे एक राजनीतिक अवसर हाथ लगा और सिंहानक ने अपने देश को फ्रांसीसी आधिपत्य से स्वतन्त्र घोषित कर दिया।

द्वितीय महायुद्ध के वाद—द्वितीय महायुद्ध के वाद फ्रांस ने कम्वोडिया पर पुनः अपना आधिपत्य जमा लिया। 1945 से लेकर 9 नवम्वर, 1953 (जव कम्वोडिया को स्वतन्त्रता मिली) के मध्य का समय महत्त्वपूर्ण राजनीतिक गतिविधियों से पूर्ण रहा। एक तरफ तो फ्रांस से पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष जारी रहा और दूसरी तरफ सम्राट तथा उसके समर्थकों द्वारा एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था को स्थापित करने के प्रयास जारी रहे जिसके अन्तर्गत संसदात्मक शक्ति को सम्राट के विशेषाधिकारों के द्वारा सीमित किया जा सके। जवकि दूसरा पक्ष संसद को सर्वोच्चता देने का समर्थक था। इस प्रकार, 1945 के वाद कम्वोडिया आन्तरिक संघर्ष में उलझ गया। लोकप्रिय डेमोक्रेटिक पार्टी और राजसत्तावादियों के मध्य आपसी संघर्ष जारी रहा। सोननगोक थान ने "खैमर इसारक" (फ्री कम्वोडिया) नामक पार्टी का गठन किया। यह पार्टी सम्राट की नीतियों तथा कम्वोडिया पर फ्रांसीसी नियन्त्रण—दोनों की विरोधी थी। जनवरी, 1953 में सिंहानक ने संसद को भंग कर मार्शल लॉ लागू कर दिया और स्वयं विश्व जनमत को अपने अनुकूल वनाकर फ्रांस पर दवाव डालने के लिए कम्वोडिया से निकल पड़ा।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति—सिंहनक का परिश्रम व्यर्थ नहीं गया और अन्ततोगत्वा फ्रांस को कम्वोडिया को स्वतन्त्रता प्रदान करने की वात माननी पड़ी। 9 नवम्वर, 1953 को कम्वोडिया को स्वतन्त्रता मिल गई। 1954 में जेनेवा सम्मेलन में सिंहनक की सरकार को समूचे देश में एक मात्र वैधानिक सत्ता के रूप में मान्यता मिल गई और वियतनाम सेना को कम्वोडिया के किसी भी क्षेत्रीय अधिकार से वंचित कर दिया गया। सिंहनक ने 1953 से मार्च, 1970 तक अपने देश पर निरंकुश शासक की भाँति शासन किया परन्तु मार्च, 1970 में उसकी सरकार का तख्ता पलट

दिया गया। वस्तुतः 1965 में वियतनाम युद्ध में कम्बोडिया के प्रत्यक्ष हस्तक्षेप को टालने की दृष्टि से सिंहनाक ने उत्तर वियतनामी और राष्ट्रीय मुक्ति मंच के सैनिकों को अस्पष्ट कम्बोडियाई क्षेत्रों का उपयोग करने की छूट दे दी थी। उसका यह कदम अविवेकपूर्ण तथा दुर्भाग्यशाली सिद्ध हुआ और इसी के परिणामस्वरूप उसे अपने सिंहासन से हाथ धोना पड़ा।

(ख) लाओस का मुक्ति संघर्ष

परिचय—हिन्दचीन प्रायद्वीप का दूसरा देश लाओस है। इसका कुल क्षेत्रफल 89,000 वर्गमील और जनसंख्या तीस लाख से ऊपर है। लाओस की भौगोलिक स्थिति काफी महत्त्वपूर्ण है। इसकी सीमाएँ साम्यवादी चीन, उत्तरी व दक्षिणी वियतनाम, कम्बोडिया, थाईलैण्ड और बर्मा (म्यानमार) से मिली हुई हैं।

1674 में लाओस के सम्राट सोलिंग बोंगसा की मृत्यु के बाद लाओस तीन छोटे-छोटे राज्यों—लुआंग प्रबांग, विएनतिएन और चम्पस्साक में विभाजित हो गया। 1782 के अन्त तक थाईलैण्ड ने तीनों राज्यों पर अधिकार कर लिया और उनके शासक थाईलैण्ड के करद्शासकों की भाँति शासन करने लगे। 1819 में विएनतिएन के राजा ने थाई आधिपत्य से मुक्त होने का प्रयास किया परन्तु वह पराजित हुआ और विएनतिएन को थाई राज्य का एक प्रान्त बना दिया गया। इसके बाद थाईलैण्ड ने अपनी औपनिवेशिक नीति का विस्तार करते हुए मेंकोंग घाटी तक अपने आधिपत्य को सुदृढ़ बनाया ताकि वियतनाम के सम्भावित पश्चिमी विस्तार को रोका जा सके। इससे फ्रांसीसी असन्तुष्ट हो गये क्योंकि उन्होंने अभी-अभी वियतनाम पर अपना संरक्षण थोपा था। इसके बाद फ्रांसीसियों को लुआंग प्रबांग को अपनी तरफ मिलाने में सफलता मिल गई। थाईलैण्ड के साथ 1904 और 1907 की सन्धियों के द्वारा फ्रांस ने लाओस के इस राज्य पर अपने प्रभुत्व को सुदृढ़ बना लिया।

स्वतन्त्रता संघर्ष—फ्रांस ने इस क्षेत्र को 'लाओस का संरक्षित्र क्षेत्र' के रूप में संगठित किया और आन्तरिक मामलों में स्थानीय सरकार को स्वायत्तता प्रदान की। परन्तु अन्य क्षेत्रों को सीधे फ्रेंच अधिकारियों के शासन के अन्तर्गत रखा गया। द्वितीय महायुद्ध के अन्तिम दिनों में मार्च, 1945 में जापान ने फ्रांसीसियों को हिन्दचीन से निकाल बाहर किया और लाओस की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी गई। इसी समय लाओस में दो आन्दोलन चले। पहला, लुआंग-प्रबांग के राजकुमार बौनओम के नेतृत्व में और दूसरा राजकुमार पेटसार्थ के नेतृत्व में जिसका क्षेत्र विएनतिएन था। पहला जापान विरोधी था तो दूसरा फ्रांस विरोधी। युद्ध की समाप्ति के बाद फ्रांसीसी वापस लौट आये और उन्होंने फ्रांस विरोधी आन्दोलनकारियों को थाईलैण्ड की तरफ खदेड़ दिया। 1946 में एक अस्थायी समझौते के अन्तर्गत फ्रांस ने लुआंग-प्रबांग के राजा सिंसबोग के अन्तर्गत लाओस की एकता तथा आन्तरिक स्वायत्तता को मान्यता प्रदान कर दी। 11 मई, 1947 को एक नया संविधान लागू किया गया जिसके अन्तर्गत देश में एक संवैधानिक राजतन्त्र की स्थापना हुई और संसद के चुनाव सम्पन्न हुए। 19 जुलाई, 1949 को फ्रांस और लाओस के मध्य एक समझौता हुआ जिसके अनुसार लाओस को फ्रांसीसी संघ के अन्तर्गत वैधानिक रूप से स्वतन्त्र देश बना दिया गया।

स्वतन्त्रता के बाद—फ्रांस-विरोधी आन्दोलन के अधिकांश अनुयायियों ने राजनीतिक आकांक्षाओं को पूरी होते देखकर आन्दोलन को समाप्त कर दिया और सरकार में हिस्सा लेने के लिए विएनतिएन लौट आये। परन्तु कुछ लोगों को तुष्टिकरण की यह नीति पसन्द न आई और उन्होंने राजकुमार सुफोनोबोंग के नेतृत्व में "पाथेटलाओ" आन्दोलन चलाया और फ्रांसीसियों के विरुद्ध उत्तरी वियतनाम द्वारा चलाये जा रहे गुरिल्ला युद्ध में सम्मिलित हो गये। "पाथेटलाओ" ने शीघ्र ही उत्तरी प्रान्तों में अपना नियन्त्रण मजबूत कर लिया; परन्तु उसने अपनी सरकार के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की। 1953 में पार्थटलाओ और उत्तरी वियतनाम के साम्यवादियों ने उत्तरी लाओस में अनेक हमले किये और लुआंग-प्रबांग की राजधानी को भी संकट में डाल दिया। परन्तु फ्रांसीसी सेना ने उन्हें वापस खदेड़ दिया। इसके बाद फ्रेंच सेना ने आगे बढ़कर वियतनाम की उत्तरी-पश्चिमी पहाड़ियों पर अधिकार कर लिया और वहाँ डिएनबिनफू का दुर्ग बनवाया। मई,1954 में वियतनामी सैनिकों ने इस दुर्ग पर अधिकार करके फ्रांसीसियों की पराजय का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

अन्त में,31 जुलाई, 1954 को जेनेवा में एक समझौता सम्पन्न हो गया। इसमें फ्रांस, ब्रिटेन, अमेरिका, चीन और सोवियत संघ सहित 14 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसके अन्तर्गत पश्चिम समर्थक थाईलैण्ड और साम्यवादी गुट के उत्तरी वियतनाम के मध्य एक तटस्थ राज्य के रूप में लाओस राज्य की सर्वोच्च प्रभुत्व सम्पन्न स्वतन्त्रता को मान्यता दी गई। अन्तर्राष्ट्रीय पहलू से मान्यता मिल गई परन्तु लाओस की स्थानीय राजनीति के कारण तटस्थता को बनाये रखना कठिन हो गया। "पाथेटलाओ" को साम्यवादी चीन और वियतनाम से सहयोग मिलता रहा और दक्षिणपंथियों को पश्चिमी देशों का समर्थन मिलता रहा जिसकी वजह से एक लम्बे समय तक लाओस अशान्ति एवं अव्यवस्था का शिकार बना रहा।

1958 के निर्वाचन में जब "पाथेटलाओ" और अमेरिकन-विरोधी दलों को बहुमत मिलने की आशंका उत्पन्न हो गई तो दक्षिणपंथियों ने सुवन्नाफौंमा को प्रधानमन्त्री पद से हटने के लिए विवश कर दिया और फौऊ सेनायकोने को प्रधानमन्त्री बनाया। उसने फिलिपाइन्स तथा अमेरिका से सैनिक सहायता प्राप्त कर अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया। इससे जेनेवा सम्मेलन द्वारा स्थापित तटस्थता भंग हो गई। प्रत्युत्तर में "पाथेटलाओ" ने सैमन्यूवा और फोंगसैली नामक दो उत्तरी प्रान्तों को अपने अधिकर में लेकर सुदृढ़ मोर्चाबन्दी कर ली। 30 दिसम्बर,1959 को दक्षिणपंथियों के समर्थन से जनरल फौमी नासवान ने सत्ता अपने हाथ में ले ली। उसने पाथेटलाओ के साथ संघर्ष जारी रखा। 9 अगस्त,1960 को छाताधारी सेना के कमाण्डर कैप्टन फोंगली ने लाओस सरकार का तख्ता पलट दिया। उसने सुवन्नाफौंमा को पुनः प्रधानमन्त्री बनाया और तटस्थ लाओस की पुनर्स्थापना का प्रयास किया। इंगलैण्ड, फ्रांस तथा सोवियत रूस ने भी उसे समर्थन दिया। परनतु फौमीनासवान और उसका समर्थक बौनऔम विरोध में डटे रहे। उन्होंने दक्षिणी लाओस को अपना केन्द्र बना रखा था। दिसम्बर, 1960 में फौमी नासवान ने अमेरिका और थाईलैण्ड की सहायता से राजधानी विएनतिएन पर अधिकार कर लिया और सुवन्नाफौंमा की तटस्थ सरकार को निकाल वाहर किया। कोंगली अपने सैनिकों के साथ "पाथेटलाओ" के

साथ मिल गया। लाओस के इस आन्तरिक संघर्ष के कारण अमेरिका और रूस में भी तनाव बना रहा।

3 मई, 1961 को दोनों पक्षों में युद्ध-विराम समझौता हो जाने पर यह लड़ाई बन्द हुई। इसी महीने लाओस की समस्या पर विचार करने के लिए जेनेवा में एक बार पुनः 14 राष्ट्रों का सम्मेलन बुलाया गया। जून, 1962 में लाओस के तीनों राजकुमारों में लाओस में एक तटस्थ सरकार की स्थापना के बारे में समझौता हुआ। 25 जून को लाओस में संयुक्त सरकार की स्थापना हुई और 2 जुलाई, 1962 को जेनेवा सम्मेलन में उसकी तटस्थता की गारण्टी प्रदान की गई।

परन्तु लाओस के भाग्य में अभी शान्ति नहीं लिखी थी। संयुक्त सरकार की स्थापना के बाद भी तीनों गुटों ने अपने-अपने सशस्त्र बलों को बनाये रखा और युद्ध-विराम के समय के अपने-अपने क्षेत्रों पर नियन्त्रण बनाये रखा। साम्यवादियों तथा तटस्थतावादियों के गठबन्धन ने उत्तरी और पूर्वी लाओस तथा दक्षिणपंथियों ने मेकोंग घाटी पर नियन्त्रण किया। परिणामस्वरूप देश संयुक्त न हो सका।

तीनों गुटों में शीघ्र ही विवाद उत्पन्न हो गया। 1963 में कई राजनैतिक हत्याओं के फलस्वरूप समूचे देश में सशस्त्र झड़पें शुरू हो गईं। पाथेटलाओ के मन्त्री राजधानी से भागकर अपने अधिकृत क्षेत्र में जा छिपे और एक बार पुनः गृह-युद्ध शुरू हो गया। सुवन्नाफौंमा ने दक्षिणपंथियों से हाथ मिला लिया। गर्मियों में पाथेटलाओ के सैनिकों ने सरकारी क्षेत्रों को हस्तगत कर लिया तो वर्षाऋतु में सरकारी सेनाओं ने उन्हें पुनः वहाँ से खदेड़ दिया। 1965 के प्रारम्भ में अमेरिका ने पाथेटलाओ अधिकृत क्षेत्रों पर जोरदार हवाई हमले किये। अमेरिका और वियतनाम के हस्तक्षेप के कारण लाओस अराजकता और संघर्ष का केन्द्र बना रहा। परन्तु 1973 में वियतनाम में युद्ध-विराम की सन्धि पर हस्ताक्षर हो जाने के बाद लाओस में भी स्थायी शान्ति के लक्षण प्रकट होने लगे।

(ग) वियतनाम का मुक्ति संघर्ष

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—हिन्दचीन प्रायद्वीप का तीसरा और सबसे बड़ा देश वियतनाम है। इसका क्षेत्रफल 1,27,000 वर्ग मील और जनसंख्या तीन करोड़ के आस-पास है। 16वीं सदी से यूरोपीय जातियों ने वियतनाम की तरफ पहुँचना शुरू कर दिया। सबसे पहले पुर्तगाली पहुँचे। उनके बाद डचों ने प्रवेश किया और फिर फ्रांसीसी आये। सम्राट दियुत्री के शासनकाल (1841-47) में कुछ फ्रेंच धर्म प्रचारकों को मौत की सजा सुनाई गई; यद्यपि इस आदेश को कार्यान्वित नहीं किया गया। फिर भी, फ्रांसीसियों ने प्रतिशोधात्मक कार्यवाही करते हुए तूरेन (डानांग) बन्दगाह पर अप्रैल, 1847 में जोरदार बमबारी की।

इसके बाद, 2 सितम्बर, 1858 को फ्रांसीसियों ने तूरेन बन्दरगाह पर अधिकार कर लिया और 17 फरवरी, 1859 को सैगोन पर भी फ्रांसीसियों का कब्जा हो गया। परन्तु वियतनामी प्रत्याक्रमण के कारण 1860 में उन्हें तूरेन तथा सैगोन से हट जाना पड़ा। जुलाई, 1861 में फ्रांसीसियों ने बड़े पैमाने पर आक्रमण करके सैगोन तथा उसके समीपवर्ती तीन प्रान्तों पर अधिकार कर लिया और जून, 1862 में सम्राट को सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश कर दिया। इस

सन्धि से सैगोन तथा उसके समीपवर्ती तीनों प्रान्तों पर फ्रांसीसी अधिकार को मान्यता मिल गई। चार साल बाद फ्रांस ने सम्पूर्ण कोचीन-चीन पर अपने शासन का विस्तार कर लिया।

फ्रांसीसियों को कोचीन-चीन (दक्षिणी वियतनाम) पर अधिकार जमाने में आठ वर्ष लगे और टोंकिंग (उत्तरी वियतनाम) को अधिकार में लाने के लिए आगामी सोलह वर्ष तक प्रयास करना पड़ा। इसी अवधि में अनाम (मध्य वियतनाम) पर भी उनका अधिकार हो गया। इस प्रकार समूचा वियतनाम उनके अधिकार में आ गया।

फ्रांसीसियों का मुख्य ध्येय हिन्दचीन की वास्तविक सम्पदा का दोहन करना था और इस ध्येय की पूर्ति के लिए रेलमार्गों, मुख्य सड़क मार्गों, बन्दरगाहों, पुलों और नहरों का निर्माण करवाया गया। वियतनाम को कच्चे माल की मण्डी और फ्रेंच उत्पादनों के लिए एक बाजार के रूप में विकसित करने का प्रयास किया गया। सामाजिक कल्याणकारी कार्यों अथवा बौद्धिक विकास की दिशा में कोई कदम नहीं उठाया गया।

राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन—कोचीन-चीन के अधिकांश मंदारिनों (राज के समर्थक) ने फ्रेंच शासन के साथ सहयोग करना पसन्द नहीं किया और उन लोगों ने पुराने सैनिकों का नेतृत्व कर छापामार संघर्ष शुरू कर दिया। 1863 के प्रारम्भ में ही एक आम विद्रोह उठ खड़ा हुआ जिसको दबाने में फ्रांसीसी सेना को कई सप्ताह लग गये। 1885 में अनाम दरबार के मंदारिनों के नेतृत्व में इससे भी व्यापक जन-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जिसको 1888 में दबाया जा सका। इसके कुछ ही वर्षों बाद महान् विद्वान् फान दिन्हकुंग के नेतृत्व में अनाम में पुनः सशस्त्र आन्दोलन चला जिसे 1895 में उसकी मृत्यु के बाद ही दबाया जा सका। फ्रांसीसियों के लिए इतना ही कष्टदायक आन्दोलन टोंकिंगवालों का रहा जिसको कुचलने में 14 वर्ष (1883 से 1897) का समय लग गया।

उन्नीसवीं सदी के समाप्त होते ही एक नवीन राष्ट्रीय आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। इस आन्दोलन का प्रमुख नेता था फानबाओ चाऊ। वह फ्रांसीसी आधिपत्य का तो विरोधी था परन्तु पश्चिमी विचारों, विज्ञान और तकनीक का समर्थक था। बाओचाऊ का ध्येय एक प्रगतिशील सम्राट के नेतृत्व में नवीन वियतनाम का निर्माण करना था। उसने राजकुमार कुंगदे को अपना उम्मीदवार चुना। 1905 में वह जापान चला गया और एक वर्ष बाद राजकुमार कुंग भी जापान पहुँच गया। वहाँ उन्होंने मिलकर वियतनाम आधुनिकीकरण संघ की स्थापना की। उनकी योजना जापानी सहायता से वियतनाम को मुक्त कराना था। बाओचाऊ के लेखों से प्रेरणा पाकर 1907 में हनोई में कुछ राष्ट्रभक्त बुद्धिजीवियों ने "फ्री स्कूल ऑफ टोंकिंग" की स्थापना की, जो शीघ्र ही फ्रांस विरोधी आन्दोलन का केन्द्र बन गया और जिसे कुछ महीने बाद ही कुचल दिया गया। 1908 में बाओचाऊ के अनुयायियों ने भारी करों में कमी की माँग को लेकर अनेक नगरों में जन-प्रदर्शन किये।

1910 में फ्रांस के राजनीतिक दबाव के कारण जापान ने बाओचाऊ और राजकुमार कुंग को अपने देश से निर्वासित कर दिया। वे भागकर चीन पहुँच गये। वहाँ उन्होंने 1912 में एक निर्वासित गणतान्त्रिक सरकार की स्थापना की। परन्तु यहाँ भी फ्रांस ने कूटनीतिक दबाव का

उपयोग किया और उन दोनों को चीनी कारागार में डाल दिया गया। दक्षिणी चीन में सफल क्रान्ति के अवसर पर ही उन्हें कारागार से मुक्ति मिल पाई। 1925 में फ्रांसीसी एजेण्टों ने बाओचाऊ का अपहरण कर लिया। उसे वियतनाम लाया गया और मौत की सजा सुनाई गई। परन्तु गवर्नर-जनरल ने मृत्यु की सजा को आजीवन कारावास में बदल दिया। 1940 में उसकी मृत्यु हो गई।

द्वितीय महायुद्ध और उसके बाद—द्वितीय महायुद्ध के दौरान जापान ने हिन्दचीन में कूटनीति का खेल खेला। उसने स्थानीय फ्रेंच शासन के साथ 21 जुलाई, 1941 को एक पारस्परिक सुरक्षा समझौता कर लिया जिसके अन्तर्गत जापानी सेनाओं को हिन्दचीन में आने-जाने की अनुमति मिल गई। हिन्दचीन का आन्तरिक प्रशासन फ्रेंच अधिकारियों के हाथों में ही बना रहा परन्तु वास्तविक सत्ता जापानियों के हाथ में रही। जापान का मुख्य उद्देश्य अपनी यौद्धिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हिन्दचीन के प्राकृतिक स्रोतों का उपयोग करना था। अपनी पराजय को निकट जानकर मार्च, 1945 में जापान ने हिन्दचीन के फ्रेंच प्रशासन को उखाड़ फेंका और हिन्दचीन को स्वतन्त्र घोषित कर दिया।

डॉ. हो-ची-मिन्ह का नेतृत्व—द्वितीय महायुद्ध के दौरान ही वियतनाम में राष्ट्रवादी शक्तियाँ पुनः सक्रिय हो उठी थीं। इन शक्तियों ने मिलकर "वीत मिन्ह लीग" (वियतनाम स्वातन्त्र्य लीग) की स्थापना की। इस संगठन का नेतृत्व सुप्रसिद्ध साम्यवादी छापामार नेता डॉ. हो-ची-मिन्ह को सौंपा गया। आत्मसमर्पण के बाद लौटते हुए जापानी प्रचुर मात्रा में अस्त्र-शस्त्र; गोला-बारूद तथा युद्धोपयोगी सामग्री छोड़ गये और यह सब सामग्री वियतनाम के क्रान्तिकारी राष्ट्रवादी तत्त्वों के हाथ लग गई। इसी के सहारे आगे चलकर वे लम्बे समय तक फ्रांसीसियों के विरुद्ध छापामार युद्ध जारी रख सके।

जापानियों से मुक्ति मिलते ही वीत मिन्ह राष्ट्रवादियों ने सितम्बर, 1945 में फ्रांस से अपनी स्वतन्त्रता को घोषित करते हुए "वियतनाम गणराज्य" की स्थापना कर ली। हो-ची-मिन्ह को नवस्थापित गणराज्य का राष्ट्रपति चुना गया। अनाम का भूतपूर्व सम्राट बाओदाई भी उनके खेमें में सम्मिलित हो गया। नये गणराज्य ने समूचे वियतनाम (कोचीन-चीन, टोकिंग और अनाम) पर अपने प्रभुत्व का दावा प्रस्तुत किया।

दूसरी तरफ, महायुद्ध की समाप्ति के बाद फ्रांस भी अपने उपनिवेश में आ पहुँचा और हिन्दचीन पर अपना पुनः अधिकार कायम कर लिया। उसने वियतनाम के राष्ट्रवादियों का दमन करने का निश्चय किया। इस प्रकार, दोनों पक्षों में संघर्ष शुरू हो गया जिसकी समाप्ति जुलाई, 1954 में जेनेवा सम्मेलन के समझौते से ही सम्भव हो पाई।

1945 से लेकर 1954 तक चलने वाले इस संघर्ष में डॉ. हो-ची-मिन्ह को साम्यवादियों, गैर-साम्यवादी देशभक्तों और बाद में चीनी साम्यवादियों से निरन्तर सहायता मिलती रही। उसके प्रशिक्षित लड़ाकू छापामारों ने समूचे देश में आतंक, तोड़फोड़, लूट और विध्वंस का ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया कि फ्रांस अपनी पूरी फौजी ताकत और दमन-चक्र के उपरान्त भी व्यवस्था स्थापित करने में विफल रहा और जब इन उपायों से सफलता न मिली तो उसने अँग्रेजों की भाँति फूट नीति का सहारा लिया। उसने भूतपूर्व सम्राट बाओदाई को अपने पक्ष में करके

उसे अनाम में एक नई कार्यकारी सरकार स्थापित करने के लिए उकसाया। तदनुसार, 5 जून, 1948 को उसने "रिपब्लिक ऑफ वियतनाम" की नई सरकार स्थापित कर ली। इस प्रकार, वियतनाम में एक ही साथ दो सरकारें काम करने लगीं। एक, डॉ. हो-ची-मिन्ह की जिसका नियन्त्रण उत्तरी वियतनाम पर था और दूसरी, बाओदाई की सरकार जिसका नियन्त्रण दक्षिणी वियतनाम पर था। हो-ची-मिन्ह ने हनोई को अपनी राजधानी बनाया तो बाओदाई ने सैगोन को।

इस प्रकार, फ्रांस की कूटनीति ने वियतनाम को भीषण गृह-युद्ध में धकेल दिया, क्योंकि दोनों ही सरकारें अपने आपको सम्पूर्ण वियतनाम की वैधानिक सरकार कहने लगीं। अतः दोनों का संघर्ष राष्ट्रव्यापी युद्ध में बदल गया। बाओदाई को फ्रांस और अमेरिका का पूरा समर्थन प्राप्त था और इन दोनों की कृपा से उसकी सेना के पास अस्त्र-शस्त्रों, टैंकों और वायुयानों की पर्याप्त संख्या थी। लगभग डेढ़ लाख फ्रांसीसी सैनिक भी उसके पक्ष में युद्ध मैदान पर उपस्थित थे। दूसरी तरफ, हो-चीन-मिन्ह के पास निष्ठावान, क्रान्तिकारी सैनिकों का जमाव था और साम्यवादी चीन का सहयोग व समर्थन प्राप्त था। अन्तर्राष्ट्रीय 'शीत युद्ध' के कारण रूस की सहानुभूति भी हो-ची-मिन्ह को प्राप्त थी।

फरवरी, 1950 में अमेरिका, इंगलैण्ड, थाईलैण्ड तथा अनेक स्वतन्त्र देशों ने बाओदाई की सरकार को मान्यता दे दी। दूसरी तरफ, यूगोस्लाविया ने हो-ची-मिन्ह की सरकार को मान्यता प्रदान की। रूस, चीन तथा अन्य साम्यवादी देशों से उसे केवल समर्थन मिल पाया, मान्यता नहीं। अब अमेरिका ने वियतनाम स्थित फ्रांसीसी सेना को बड़े पैमाने पर सहायता देनी शुरू कर दी। प्रत्युत्तर में साम्यवादी देशों ने हो-ची-मिन्ह की सहायता में बढ़ोतरी कर दी। इस प्रकार, वियतनाम के गृह-युद्ध का स्वरूप भी बदल गया। अब यह साम्राज्यवादियों और साम्यवादियों के संघर्ष में परिवर्तित हो गया।

7 मई, 1954 को हो-ची-मिन्ह की सेनाओं ने डीन बीन फू में फ्रेंच सेनाओं को बुरी तरह से पराजित किया और उसके लगभग 15,000 सैनिकों को बन्दी बना लिया। इस निर्णायक पराजय ने हिन्दचीन में फ्रेंच साम्राज्यवाद को अधमरा कर दिया। अमेरिका अकेला ही महासमर में कूदना नहीं चाहता था क्योंकि इससे तीसरे महायुद्ध के छिड़ जाने की आशंका थी। इसलिए उसने शान्तिपूर्ण तरीके से इस समस्या को हल करने का निश्चय किया।

जेनेवा सम्मेलन : वियतनाम का विभाजन—हिन्दचीन के भविष्य को लेकर बड़ी शक्तियों सहित 14 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन जेनेवा में आयोजित किया गया। यह सम्मेलन 26 अप्रैल, 1954 से आरम्भ हुआ और 21 जुलाई को समाप्त हुआ। सम्मेलन के अन्त में हिन्दचीन के बारे में जो समझौता हुआ, उसकी मुख्य व्यवस्थाएँ इस प्रकार थीं—

1. वियतनाम को दो भागों—उत्तरी वियतनाम और दक्षिणी वियतनाम में विभाजित कर दिया गया। 17वीं अक्षांश रेखा के उत्तर में हनोई नदी से सटा हुआ समूचा क्षेत्र उत्तरी वियतनाम के साम्यवादियों को मिला और उसके दक्षिण का भू-भाग वियतनाम गणराज्य को मिला। दोनों भागों के मध्य एक तटस्थ क्षेत्र की भी स्थापना की गई।
2. वियतनाम से फ्रांसीसी सेना हटा ली जाय।

3. दो वर्ष बाद, 1956 में वियतनाम के एकीकरण के लिए देशव्यापी चुनाव कराकर एकीकरण का मार्ग प्रशस्त करने की बात स्वीकार की गई।
4. दोनों पक्षों द्वारा सन्धि की शर्तों का पालन करने के लिए त्रिसदस्यीय अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग की स्थापना की गई। भारत, पोलैण्ड और कनाडा इस आयोग के सदस्य नामजद किये गये।

जेनेवा सम्मेलन से निकट भविष्य में वियतनाम में पूर्ण शान्ति स्थापित हो जाने की आशा उत्पन्न हुई थी। उत्तरी वियतनाम की साम्यवादी सरकार देश के एकीकरण के पक्ष में थी, परन्तु दक्षिणी वियतनाम की अमेरिका समर्थक सरकार इस सम्बन्ध में उदासीन और एक सीमा तक एकीकरण के विरोध में थी।

जेनेवा समझौते के बाद दोनों पक्ष अपनी-अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने में जुट गये और एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप भी लगाते रहे। इससे दोनों पक्षों में तनाव बढ़ता गया। दक्षिणी वियतनाम के लोग वियतनाम का एकीकरण चाहते थे। जब उनकी सरकार ने एकीकरण विरोधी नीतियाँ अपनानी शुरू कीं तो वहाँ एकीकरण के लिए आन्दोलन शुरू हो गया। इसके लिए 1960 में वियतकांग (राष्ट्रीय मुक्ति सेना) नामक संगठन कायम किया गया। उसे उत्तरी वियतनाम का पूरा समर्थन प्राप्त था। इस संगठन ने शीघ्र ही अपनी सरकार के विरुद्ध हिंसात्मक कार्यवाहियाँ शुरू कर दीं।

गृह-युद्ध की शुरूआत—1960-61 की अवधि में वियतकांग छापामारों की गतिविधियाँ काफी व्यापक हो गईं और अनुमान है कि लगभग बीस हजार सशस्त्र छापामार समूचे दक्षिण वियतनाम में जहाँ-तहाँ आतंकपूर्ण कृत्यों में लिप्त थे। ऐसी स्थिति में दक्षिण वियतनाम के प्रधानमन्त्री निगोदिन दियम ने 19 अक्टूबर, 1961 को देश में आपातस्थिति की घोषणा कर दी और वियतकांग के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। दियम सरकार ने अमेरिका से सैनिक सहायता का अनुरोध भी किया। इस पर अमेरिका ने अक्टूबर, 1961 में जनरल मैक्सवेल टेलर को दक्षिण वियतनाम भेजा ताकि वह साम्यवादियों को नियन्त्रित करने के लिए सैगोन सरकार की सैनिक आवश्यकताओं का मूल्यांकन कर सके। 10 दिसम्बर, 1961 को अमेरिका ने "शान्ति को खतरा" के नाम से दो भागों में एक श्वेत-पत्र जारी किया जिसमें यह आरोप लगाया गया कि वियतकांग मुक्ति-आन्दोलन का संचालन एवं निर्देशन उत्तरी वियतनाम से किया जा रहा है; साम्यवादी यदि दक्षिण वियतनाम को जीत लेते हैं तो स्पष्ट रूप से इस प्रायद्वीप में शान्ति को खतरा उत्पन्न हो जायेगा और लाओस का अस्तित्व भी खतरे में पड़ जायेगा। कुछ विद्वानों का मत है कि यह श्वेत-पत्र वियतनाम में अमेरिका के हस्तक्षेप को उचित ठहराने का एक बहाना मात्र था। इसकी पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि 4 जनवरी, 1962 को अमेरिका ने दक्षिण वियतनाम को सैनिक और आर्थिक सहायता देने की योजनाएँ घोषित कर दीं। इसके एक माह बाद ही दक्षिण वियतनाम में एक अमेरिकी सैनिक कमान स्थापित की गई और 4 हजार अमेरिकन सैनिकों को युद्ध में सक्रिय भाग लेने के लिये भेजा गया।

गृह-युद्ध का अन्तर्राष्ट्रीयकरण—अमेरिका की इस कार्यवाही का सोवियत रूस और चीन द्वारा जोरदार विरोध किया गया। उनकी दलील थी कि दक्षिण वियतनाम की देशभक्त जनता

अमेरिका समर्थक दियम सरकार की निरंकुशता के विरुद्ध संघर्ष कर रही है और अमेरिका अपने प्रत्यक्ष सैनिक हस्तक्षेप के द्वारा दक्षिण वियतनामियों के मुक्ति संघर्ष को कुचलना चाहता है। दोनों महाशक्तियों ने अन्तर्राष्ट्रीय आयोग से भी अमेरिकन हस्तक्षेप को बन्द करने का अनुरोध किया। 2 जून, 1962 को आयोग के भारतीय और कनाडियन सदस्यों ने अपनी रिपोर्ट में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया कि उत्तरी वियतनाम आक्रामक कार्यवाहियों के लिए उत्तरदायी है। उसने दक्षिण वियतनाम के आतंकवादियों को समर्थन एवं सहायता देकर जेनेवा समझौते का उल्लंघन किया है। दूसरी तरफ, दक्षिण वियतनाम ने भी अमेरिका के साथ सैनिक गठबन्धन करके जेनेवा समझौते की अवहेलना की है। परन्तु महाशक्तियों के शीत-युद्ध की परिधि में आयोग की रिपोर्ट का कोई परिणाम नहीं निकला। उल्टे स्थिति बिगड़ गई। अब साम्यवादी देश उत्तरी वियतनाम के समर्थन में आ जुटे। अमेरिका, इंगलैण्ड तथा कुछ अन्य पश्चिमी देश दक्षिण वियतनाम के पक्ष में आ खड़े हुए।

युद्ध का भयंकर स्वरूप—1 नवम्बर, 1963 को सेना ने दक्षिण वियतनाम की दियम सरकार का तख्ता पलटकर सत्ता अपने हाथ में ले ली। मेजर जनरल मिन्ह की नई सरकार ने संघर्ष जारी रखा और अमेरिकन सहायता से वियतकांग छापामारों का दमन करती रही। दिसम्बर, 1963 में अमेरिका के प्रतिरक्षा सचिव राबर्ट मैकनमारा ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि दक्षिण वियतनाम को जब तक आवश्यकता होगी, अमेरिका उसको सैनिक एवं आर्थिक सहायता जारी रखेगा। फ्रांस और अमेरिका ने यह बात भी कही कि यदि चीन व उत्तरी वियतनाम, दक्षिण वियतनाम में अपना हस्तक्षेप बन्द कर दें तो वे दक्षिण वियतनाम के तटस्थीकरण को भी स्वीकार कर सकते हैं। परन्तु इसका परिणाम दूसरा ही निकला। उत्तरी वियतनाम ने दक्षिण वियतनाम की सीमा (17वीं अक्षांश रेखा) पर अपना सैनिक दबाव बढ़ाना शुरू कर दिया और चीन के हजारों सैनिक भी उत्तरी वियतनाम से सटी हुई अपनी सीमा पर जमा होने लगे। उनमें से कुछ हजार तो उत्तरी वियतनाम के क्षेत्रों में पहुँच गये। इसके साथ ही लगभग डेढ़ लाख साम्यवादी सैनिक दक्षिण वियतनाम में पूरी तरह से सक्रिय हो उठे। परिस्थितियाँ धीरे-धीरे भयंकर युद्ध का मार्ग प्रशस्त करने लगीं।

ऐसे ही वातावरण में उत्तरी वियतनाम की पनडुब्बियों ने टोंकिंग की खाड़ी में खड़े एक अमेरिकन विध्वंसक पोत पर आक्रमण कर दिया। प्रत्युत्तर में अमेरिका ने 5 अगस्त, 1964 को उत्तरी वियतनाम के नौ-सैनिक अड्डों तथा तेल प्रतिष्ठानों पर पाँच घण्टे तक जमकर बम-वर्षा की। अमेरिका की इस आक्रामक कार्यवाही का बदला लेने के लिए वियतनामी छापामारों ने भी व्यापक पैमाने पर छापामार युद्ध शुरू कर दिया। सोवियत रूस और चीन ने अमेरिका को चेतावनी दी कि यदि उत्तरी वियतनाम पर आक्रमण किया गया तो वे अमेरिका के विरुद्ध उत्तरी वियतनाम को सहायता देने के लिए विवश हो जायेंगे।

रूस और चीन से भारी मात्रा में सैनिक सहायता प्राप्त हो जाने के बाद वियतकांग छापामारों ने दक्षिण वियतनाम के सैनिक अड्डों को तहस-नहस करना शुरू कर दिया। 1 नवम्बर, 1964 को उनकी छापामार टुकड़ियों ने ब्रेयेतहोआ के हवाई अड्डे पर जोरदार धावा बोलकर 25 विमान नष्ट कर दिये। इस कार्यवाही में अनेक अमेरिकन सैनिक मारे गये और बहुत-से घायल

हुए। प्रत्युत्तर में 7 फरवरी, 1965 से उत्तरी वियतनाम पर अमेरिकी हवाई हमले आरम्भ हो गये। इन हमलों का उद्देश्य वियतकांग को सहायता भेजने वाले मार्गों को नष्ट करना था। परन्तु इसके अलावा अमेरिकन वायुयानों ने उत्तरी वियतनाम के सैनिक अड्डों, पुलों, तेल-भण्डारों और सामरिक महत्त्व के ठिकानों को भी अपनी बमबारी का निशाना बनाया।

विश्व के अनेक देशों ने अमेरिका द्वारा की गई भीषण बमवर्षा की घोर भर्त्सना की और समस्या के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए पुनः जेनेवा सम्मेलन बुलाये जाने की अपील की। 7 अप्रैल, 1965 को अमेरिका के राष्ट्रपति जॉनसन ने कहा कि यदि दक्षिण वियतनाम की स्वतन्त्रता को मान लिया जाय और दक्षिण वियतनाम में अमेरिका को अपने सैनिक रखने की स्वीकृति दे दी जाय तो वह उत्तरी वियतनाम के साथ वार्ता करने को तैयार है। इसके जवाब में उत्तरी वियतनाम ने अमेरिकी शर्तों को ठुकराते हुए माँग की कि वियतनाम से सभी विदेशी सैनिकों को हटाया जाये, जेनेवा समझौते को लागू किया जाये और वियतनाम के एकीकरण के लिये शीघ्र ही मत संग्रह करवाया जाय और वियतकांग को दक्षिणी वियतनाम सरकार में उचित प्रतिनिधित्व दिया जाय। स्वाभाविक था कि अमेरिका इस प्रकार की माँगों को ठुकराता।

वस्तुतः अमेरिका दक्षिण-पूर्वी एशिया में साम्यवादी चीन के बढ़ते हुए प्रभाव को नियन्त्रित करना चाहता था और इसके लिये दक्षिण वियतनाम को साम्यवादियों से बचाना आवश्यक था। इस प्रकार, दक्षिण वियतनाम का अस्तित्व अमेरिका की प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया। मई, 1965 में उसने बड़े पैमाने पर उत्तरी वियतनाम पर हवाई हमले शुरू कर दिये। जून में दोनों पक्षों में घमासान संघर्ष जारी रहा। केवल दिसम्बर के क्रिसमस के अवसर पर अमेरिका ने कुछ दिनों के लिये हवाई हमले स्थगित रखे।

समस्या के समाधान में चीन का अड़ंगा—क्रिसमस पर स्थापित शान्ति का लाभ उठाते हुए इस संघर्ष को आपसी बातचीत के द्वारा निपटाने के लिए जोरदार कूटनीतिक प्रयास किये गये, परन्तु दुर्भाग्यवश इस अनुकूल अवसर का लाभ नहीं उठाया जा सका। इस बार साम्यवादी चीन बाधक बन गया। सोवियत संघ के साथ उसके मतभेद उभर कर सामने आ गये। चीन को ऐसा लगा कि इस संघर्ष का शान्तिपूर्ण समाधान निकाल कर सोवियत संघ सारा श्रेय ले लेगा और चीन की विश्व-प्रभुत्व की योजना अधूरी रह जायगी। इसलिए चीनी समाचार-पत्रों ने दोनों महाशक्तियों पर जोरदार दोषारोपण करना आरम्भ कर दिया। चीन ने उत्तरी वियतनाम को भी चेतावनी दी कि सोवियत प्रस्तावों के आधार पर समझौता करना मार्क्सवाद-लेनिनवाद के प्रति विश्वासघात समझा जायेगा। 37 दिन के युद्ध-विराम के बाद भी जब उत्तरी वियतनाम के रुख में किसी प्रकार का बदलाव नहीं आया तो अमेरिका ने पुनः तेजी के साथ हवाई हमले जारी कर दिये।

1966 और 1967 की अवधि में दोनों पक्षों में संघर्ष जारी रहा। कभी एक पक्ष को भारी हानि उठानी पड़ती तो कभी दूसरे पक्ष को। कभी एक पक्ष कुछ वर्गमील क्षेत्र जीत लेता तो कभी दूसरा पक्ष आगे बढ़ जाता। अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर भी संघर्ष को बन्द करवाने के लिये निरन्तर प्रयास जारी रहे। यहाँ तक कि पोप ने भी इस खूनी संघर्ष का अन्त करने की अपील की। परन्तु दोनों के अड़ियल रुख के कारण सफलता नहीं मिल पाई।

अमेरिका में विरोध—वियतनाम का संघर्ष जितना लम्बा होता गया, अमेरिका को उतनी ही अधिक जान-माल की हानि उठानी पड़ी। परिणामस्वरूप अमेरिका में आर्थिक संकट के चिह्न दिखाई देने लगे। बहुत बड़ी संख्या में अमेरिकन सैनिकों के मारे जाने से भी अमेरिकन लोग इस युद्ध के खिलाफ हो गये और राष्ट्रपति जॉनसन के प्रति लोगों का विरोध बढ़ता गया। यह विरोध इतना जबरदस्त था कि जॉनसन को राष्ट्रपति पद का चुनाव लड़ने का साहस नहीं हुआ और अपनी पार्टी की छवि सुधारने के लिए उत्तरी वियतनाम पर बमबारी को भी सीमित रखने के आदेश देने पड़े। इससे शान्ति की सम्भावना पुनः बढ़ने लगी।

पेरिस सन्धि वार्ता—12 मई, 1968 से पेरिस में अमेरिका और उत्तरी वियतनाम के प्रतिनिधियों के मध्य वियतनाम समस्या का हल निकालने के लिए बातचीत शुरू हुई। नवम्बर, 1968 में दक्षिण वियतनाम भी वार्ता में भाग लेने के लिए तैयार हो गया। उधर 20 जनवरी, 1969 को निक्सन अमेरिका का नया राष्ट्रपति बना। उसने हैरीमन की जगह हैनरी कॉबट लाज को वार्ता के लिए अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया।

8 मई, 1969 को राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा (साम्यवादी गुट) ने वियतनाम समस्या के समाधान के लिए एक दस-सूत्री योजना प्रस्तुत की जिसमें दक्षिण वियतनाम से अमेरिकन सैनिकों की वापसी और दक्षिण वियतनाम में अस्थायी संयुक्त सरकार के गठन की बातें मुख्य थीं। दक्षिण वियतनाम को यह स्वीकार्य न था।

अमेरिकन नीति में परिवर्तन—राष्ट्रपति निक्सन अमेरिका को वियतनाम के दलदल से बाहर निकालना तो चाहता था परन्तु साम्यवादियों को खुली छूट देने के पक्ष में नहीं था। अतः मई, 1969 में उसने पचास हजार अमेरिकन सैनिकों को वियतनाम से हटा दिया। इसके बाद उसने शान्ति स्थापना के लिए एक सात-सूत्री योजना का प्रस्ताव रखा। साम्यवादी गुट ने उसके प्रस्ताव का उदासीनता के साथ अध्ययन किया और कोई परिणाम नहीं निकला। 1 सितम्बर, 1969 को डॉ. हो-ची-मिन्ह का स्वर्गवास हो गया। अपनी मृत्यु से पूर्व वह अपने समर्थकों को दक्षिण वियतनाम की मुक्ति तक संघर्ष जारी रखने की हिदायत दे गया। इससे शान्तिपूर्ण समाधान की आशा धूमिल पड़ गई।

अक्टूबर, 1970 में निक्सन ने वियतनाम सहित समूचे दक्षिण-पूर्वी एशिया में शान्ति की स्थापना के लिए एक और योजना प्रस्तुत की। परन्तु साम्यवादी गुट ने इस योजना को साम्राज्यवादी चाल कहकर ठुकरा दिया। दिसम्बर, 1970 में अमेरिका ने पुनः भीषण हवाई हमले जारी कर दिये। वस्तुतः राष्ट्रपति निक्सन दोहरी नीति अपना रहा था। एक तरफ शान्तिवार्ता का द्वार खुला रखना और दूसरी तरफ सैनिक शक्ति के द्वारा उत्तरी वियतनाम पर दबाव बनाये रखना ताकि वह वार्ता में अनुकूल रुख अपनाने को विवश हो जाय। परन्तु उत्तरी वियतनाम पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। लम्बे समय से चली आ रही पेरिस वार्ता से उसने अपने प्रतिनिधियों को वापस बुला लिया।

जनवरी, 1972 में राष्ट्रपति निक्सन ने पुनः एक नया प्रस्ताव रखा जिसे उत्तरी वियतनाम ने हमेशा की भाँति ठुकरा दिया। क्रोधित अमेरिका ने एक बार पुनः उत्तरी वियतनाम पर भयंकर

बम वर्षा के आदेश देते हुए घोषणा की कि, "हम पराजित नहीं होंगे और न ही हम अपने मित्रों को साम्यवादी आक्रमण के समक्ष घुटने टेकने देंगे।" इस बार उत्तरी वियतनाम की राजधानी हनोई भी बमबारी से बच नहीं पाई। फिर भी, उत्तरी वियतनाम बहादुरी के साथ मैदान में डटा रहा। अमेरिका की अपार सैनिक शक्ति भी उसके मनोबल को नहीं तोड़ सकी। सम्पूर्ण 1972 भयंकर संघर्ष में गुजर गया। शान्ति के लिए कूटनीतिक प्रयासों में भी तेजी आ गई। विश्व का लोकमत भी इस खूनी संघर्ष को बन्द करने की माँग करने लगा। अमेरिका में भी वियतनाम युद्ध विरोधी प्रदर्शनों का जोर बढ़ता गया। इन सबके सामूहिक परिणामस्वरूप आखिरकार 27 जनवरी, 1973 को वियतनाम में युद्धबन्दी समझौते पर हस्ताक्षर हो गये।

युद्ध-विराम समझौता—27 जनवरी, 1973 को सम्पन्न युद्ध-विराम समझौते की मुख्य व्यवस्थाएँ इस प्रकार थीं—

1. युद्ध-विराम समझौते के लागू होने के 60 दिन में दक्षिण वियतनाम से अमेरिकन सैनिकों की वापसी।
2. उत्तरी वियतनाम से दक्षिण वियतनाम में सैनिकों की घुसपैठ और युद्ध-सामग्री भेजने पर प्रतिबन्ध।
3. हिन्दचीन में पकड़े गये अमेरिकी सैनिकों और नागरिकों की 60 दिन में रिहाई और लापता लोगों की सूची तैयार करके सौंपने की बात।
4. लाओस और कम्बोडिया से सभी विदेशियों की वापसी।
5. सभी पक्षों द्वारा विसैन्यीकृत क्षेत्रों का आदर करने की शर्त।
6. दक्षिण वियतनाम में साम्यवादी और सरकारी सैनिकों की संख्या में कटौती की बात।
7. अमेरिका द्वारा वियतनाम के पुनर्निर्माण में पर्याप्त सहायता का आश्वासन।
8. वियतनाम के एकीकरण के लिए शान्तिपूर्ण प्रयास जारी रखना। दक्षिण वियतनाम के लोगों को आत्म-निर्णय का अधिकार दिया जायेगा।
9. कम्बोडिया और लाओस की स्वतन्त्रता, सम्प्रभुता तथा अखण्डता का वचन।
10. युद्ध समाप्ति के बाद अमेरिका और उत्तरी वियतनाम में मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का वायदा।

युद्ध-विराम का नियन्त्रण एवं निरीक्षण करने के लिए 1160 सैनिकों के एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग का भी गठन किया गया।

वियतनाम का एकीकरण—सभी को विश्वास था कि अब वियतनाम में स्थायी शान्ति कायम हो जायेगी, परन्तु हमेशा की भाँति इस बार भी आशा निराशा में बदल गई। अगस्त, 1974 में दोनों वियतनामों में जोरदार सैनिक झड़पें हुई जिसमें दोनों तरफ के सैकड़ों सैनिक मारे गये और हजारों घायल हुए। यद्यपि अमेरिका ने दक्षिण वियतनाम को आर्थिक सहायता जारी रखी परन्तु इससे उसकी सैनिक स्थिति सुदृढ़ नहीं हो पाई। युद्ध-विराम भी स्थायी न रहा। 1975 में दोनों पक्षों में पुनः घमासान युद्ध छिड़ गया। अमेरिकन सेना के अभाव में दक्षिण वियतनाम अपने साम्यवादी शत्रुओं का ठीक से मुकाबला न कर सका। साम्यवादियों ने राजधानी सैगोन

से 120 किलोमीटर दूर स्थित फुआकविन्ह नगर पर अधिकार कर लिया। मार्च, 1975 में साम्यवादियों को और भी सफलताएँ मिलीं जिससे दक्षिण वियतनाम में भगदड़ मच गई। अमेरिका के राष्ट्रपति फोर्ड ने दक्षिण वियतनाम को बचाने के लिये अमेरिकी काँग्रेस के समक्ष एक अरब डालर की सहायता का प्रस्ताव रखा। परन्तु काँग्रेस ने राष्ट्रपति के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। अन्त में,30 अप्रैल,1975 को दक्षिणी वियतनाम के सैनिकों ने राष्ट्रीय मुक्ति सेना के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। इसके साथ ही विगत बीस वर्षों से चले आ रहे गृह-युद्ध का भी अन्त हो गया। वियतनाम का एकीकरण पूरा हुआ। यह संघर्ष जहाँ साम्यवादी गुट की शानदार सफलता थी, वहीं अमेरिका के लिए शर्मनाक पराजय थी। अपने तमाम साधनों के उपरान्त भी वह दक्षिण वियतनाम को नहीं बचा सका। इससे उसकी प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा। साथ ही यह पुनः स्पष्ट हो गया कि जनशक्ति के सामने बड़ी से बड़ी महाशक्ति भी अधिक समय तक नहीं टिक सकती।

(2) हिन्देशिया का स्वतन्त्रता संघर्ष

भौगोलिक परिचय—हिन्देशिया (इण्डोनेशिया) लगभग तीन हजार द्वीपों का समूह है, जो यूरोप को एशिया से तथा एशिया को आस्ट्रेलिया से जोड़ने वाले सामुद्रिक भागों पर स्थित है। 1945 ई. से पूर्व इस द्वीप समूह को पूर्वी द्वीप समूह (ईस्ट-इण्डीज) के नाम से पुकारा जाता था। इसी द्वीप समूह में चार सबसे बड़े द्वीप हैं—जावा, सुमात्रा, कालीमंटन तथा सेलीबीज। अन्य द्वीपों में लोम्बोक, सोएमबावा, सोएम्बा, पश्चिमी न्यूगिनी, बोर्नियो का पश्चिमी व दक्षिणी-पूर्वी क्षेत्र, फ्लोर्स, तिमोर, वेट्टर और मोल्युक्कास प्रमुख हैं। हिन्देशिया की आबादी लगभग 9 करोड़ है, जिसमें लगभग 6 करोड़ तो केवल जावा की ही है। जावा एक प्रकार से हिन्देशिया की आत्मा है। हिन्देशिया की आबादी में मलय जाति की प्रधानता है। दूसरी बड़ी जाति चीनियों की है। डच और मुसलमान भी काफी संख्या में आबाद हैं।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—प्राचीनकाल में भारत और चीन से बहुत-से लोग इन द्वीपों में आकर बस गये थे। भारतीयों ने तो इन द्वीपों में अपने अनेक उपनिवेश स्थापित कर लिये थे। सोलहवीं सदी में हिन्देशिया में मुसलमानों का आगमन हुआ। उन्होंने यहाँ इस्लाम धर्म का प्रचार व प्रसार किया। हिन्देशिया के बहुत-से राजाओं ने भी इस्लाम स्वीकार कर लिया। परिणामस्वरूप हिन्दू एवं बौद्ध धर्म निर्बल होते गये। बाली द्वीप के अलावा अन्य सभी द्वीपों की अधिकांश जनता मुसलमान बन गई।

सोलहवीं सदी के प्रारम्भ से ही यूरोपीय देशों के व्यापारी भी हिन्देशिया में आने लगे। उनका मुख्य ध्येय व्यापार करना था। हिन्देशिया के द्वीप गर्म मसालों के भण्डार थे। सर्वप्रथम पुर्तगाल के व्यापारी आये थे। उन्होंने व्यापार के साथ-साथ ईसाई धर्म का प्रचार भी किया। हिन्देशिया की निर्बल राजनीतिक स्थिति ने पुर्तगालियों की साम्राज्यवादी लिप्सा को भड़काया। 1511 में उन्होंने सुमात्रा के उत्तर-पूर्व में स्थित मलक्का पर अपना अधिकार जमा लिया। व्यापारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कुछ अन्य द्वीपों पर भी पुर्तगाल ने अपना नियन्त्रण कायम कर लिया, परन्तु पुर्तगालियों ने हिन्देशिया में अपना साम्राज्य स्थापित करने का कभी विचार नहीं किया।

हिन्देशिया पर डचों का आधिपत्य—सोलहवीं सदी के अन्त में हालैण्ड के डच निवासी भी व्यापार के लिए हिन्देशिया में आ पहुँचे। अँग्रेजों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी की भाँति डच लोगों ने भी "यूनाईटेड ईस्ट इण्डिया कम्पनी" की स्थापना कर रखी थी। पुर्तगाली, अँग्रेज, स्पेनी तथा एशियाई व्यापारियों के साथ प्रतियोगिता के कारण डचों ने अपने व्यापारिक हितों की सुरक्षा के लिए हिन्देशिया में अपना राजनीतिक प्रभाव स्थापित करने का निश्चय किया। सर्वप्रथम, उन्होंने न्यूगिनीं के समीप स्थित एम्बोइना द्वीप पर अपना अधिकार जमाया। 1641 में डचों ने पुर्तगालियों से मलक्का व उसके आस-पास का क्षेत्र छीन लिया। अठारहवीं सदी के प्रारम्भ होते-होते डचों ने हिन्देशिया के एक बहुत बड़े क्षेत्र पर अपना अधिकार जमा लिया। फ्रांसीसी क्रान्ति के दौरान थोड़े समय के लिए हिन्देशिया के डच क्षेत्रों पर फ्रांसीसी नियन्त्रण रहा और 1811 से 1819 तक इंगलैण्ड का प्रभुत्व रहा। वियना काँग्रेस के निर्णयों के अनुसार इंगलैण्ड ने हिन्देशिया के द्वीप हालैण्ड को वापस कर दिये। इस प्रकार, हिन्देशिया पर डचों का पुनः नियन्त्रण कायम हो गया।

डचों के विरुद्ध विद्रोह एवं जागरण—डच शासन के विरुद्ध हिन्देशिया के लोगों ने जबरदस्त विद्रोह किया। सर्वप्रथम, 1825 में जावा के लोगों ने विद्रोह किया, जिसे पाँच साल के कठोर दमन के बाद कुचला जा सका। इसके बाद सुमात्रा के मुसलमानों ने उन्नीसवीं सदी के अन्त तक डच शासन का विरोध किया। कालीमन्टन द्वीप के चीनियों ने भी डचों का जबरदस्त विरोध किया। परन्तु डच शासन ने सभी विद्रोहों को कुचल दिया।

डच शासन के विरुद्ध स्थानीय विद्रोहों को दबाने में जो धन खर्च हुआ था, उसे वसूल करने के लिए डचों ने एक नई पद्धति 'कल्चर सिस्टम' लागू की। इस पद्धति के अन्तर्गत हिन्देशिया के किसानों को अपनी भूमि के एक निश्चित भाग में उस चीज की पैदावार करने (जो हालैण्ड के लिए उपयोगी हो) और उस चीज के रूप में ही सरकारी मालगुजारी अदा करने के लिए विवश किया गया। इसके लिए दो चीजों को उपयोगी माना गया—ईख और कॉफी। इसके पहले हिन्देशियाई किसान आमतौर पर चावल की खेती करते थे। ईख और कॉफी की खेती में काफी समय और श्रम लगाना पड़ता था और डच सरकार इनकी पैदावार का उचित मूल्य भी नहीं देती थी। इससे किसानों की आर्थिक स्थिति दयनीय हो गई। हिन्देशिया में रहने वाले उदारवादी डच लोगों ने किसानों की दुर्दशा के विरुद्ध आवाज बुलन्द की और धीरे-धीरे उनका आन्दोलन जोर पकड़ता गया। अन्त में, 1870 में 'कल्चर सिस्टम' को समाप्त किया गया।

उदारवादी डच लोगों ने इसके बाद जिस नवीन नीति का प्रचार एवं प्रसार किया, वह 'नैतिक नीति' के नाम से प्रसिद्ध है। इस नीति का मुख्य उद्देश्य अपने अधिकार क्षेत्र के लोगों की आर्थिक स्थिति को सुधारना था ताकि उन लोगों का भला हो। बहुत-से विद्वानों का मानना है कि इस नीति का मूल ध्येय उच्च शासन के विरुद्ध उठने वाले संभावित विद्रोह को समाप्त करना था। जो भी ध्येय रहा हो, इससे हिन्देशिया के विकास का मार्ग प्रशस्त हो गया। इस नीति के अन्तर्गत भूमि का सर्वेक्षण किया गया तथा अलग-अलग क्षेत्रों में उपलब्ध या पाई जाने वाली खनिज सम्पदा का पता लगाया गया। सड़कों तथा रेलमार्गों का निर्माण किया गया तथा जल मार्गों को सुधारा गया। कृषि की उन्नति की दिशा में भी कई कदम उठाये गये। मछली पालन

एवं पशुपालन के क्षेत्र में भी पर्याप्त उन्नति की गई। शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रगति की गई तथा आधुनिक शिक्षण संस्थाएँ स्थापित की गईं। आधुनिक शिक्षा के प्रसार से हिन्देशियाई लोग भी स्वतन्त्रता, समानता, प्रजातन्त्र, राष्ट्रवाद आदि विचारों के प्रति जागरूक हो गये और उनमें राष्ट्रीय एकता की भावना सुदृढ़ होने लगी।

राष्ट्रीय चेतना का उदय—आधुनिक शिक्षा के प्रसार के परिणामस्वरूप हिन्देशियन लोग पश्चिमी विचारों के सम्पर्क में आये। इससे उनमें भी स्वतन्त्रता, समानता, प्रजातन्त्र आदि का महत्त्व बढ़ता गया। जब वे अपने देश की स्थिति की तुलना पश्चिमी देशों के साथ करते तो उन्हें भारी असमानता देखने को मिलती। आर्थिक एवं बौद्धिक दृष्टि से सम्पन्न होने के उपरान्त भी उन लोगों को पश्चिमी देशों के लोगों की तुलना में निम्न कोटि का समझा जाता था और उन्हें आगे बढ़ने के उचित अवसर एवं सुविधाएँ प्रदान नहीं की जाती थीं। इससे उन लोगों में डच शासन के विरुद्ध असन्तोष उत्पन्न होने लगा। बीसवीं सदी के प्रारम्भ होते ही एशिया और अफ्रीका के बहुत-से देशों में राष्ट्रीय नवजागरण की जो लहरें उठने लगी थीं, उससे हिन्देशियाई लोग भी प्रभावित हुए और उन्होंने भी अपने अधिकारों के लिए आन्दोलन एवं संघर्ष का मार्ग अपनाने का निश्चय किया। अधिकारों की इस माँग ने शीघ्र ही एक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। हालैण्ड के बहुत-से उदारवादी लोगों ने भी अपने देश में आन्दोलन छेड़ रखा था। उनका मुख्य ध्येय हिन्देशिया के लोगों को स्वतन्त्रता एवं समानता दिलाने के लिए अपनी सरकार पर दबाव डालना था।

राष्ट्रीय जागरण की दिशा में सर्वप्रथम 1908 में "बोदी उतोमो" नामक संगठन कायम किया गया। इसका मुख्य ध्येय हिन्देशिया का आर्थिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक विकास करना था। यह संगठन सम्पन्न लोगों को ही आकर्षित कर पाया। आम जनता ने इसमें विशेष रुचि नहीं दिखलाई। 1912 में "सरेकत इस्लाम" नामक दूसरी राष्ट्रीय संस्था स्थापित की गई। इसका मुख्य ध्येय किसानों की दुर्दशा सुधारना था। यह संस्था शीघ्र ही लोकप्रिय हो गई और देश के विभिन्न क्षेत्रों में इसकी शाखाएँ खुल गईं। लाखों लोग इसके सदस्य बन गये। शहरों के लोग भी इसके सदस्य बने। इसी समय प्रथम विश्व युद्ध शुरू हो गया। मित्र राष्ट्रों ने स्वतन्त्रता व प्रजातन्त्र की सुरक्षा का नारा दिया। इससे हिन्देशियाई लोगों में स्वतन्त्र हो जाने की लालसा जागृत हुई।

प्रथम महायुद्ध के बाद—प्रथम महायुद्ध के बाद जब हिन्देशियाई लोगों को स्वतन्त्रता मिलने की कोई आशा न रही तो उनमें डच शासन के विरुद्ध विद्रोह की भावना और भी बलवती हो उठी। जावा और सुमात्रा में डचों के विरुद्ध विद्रोह उठ खड़ा हुआ। इसे कुचलने में काफी समय लगा। 1927 में नवयुवक सुकर्ण के नेतृत्व में "हिन्देशियाई राष्ट्रवादी दल" की स्थापना की गई। इस दल में विद्यार्थियों की संख्या अधिक थी। दल का ध्येय हिन्देशिया को विदेशी शासन से पूर्ण स्वतन्त्रता दिलाना था। डॉ. सुकर्ण के जोरदार भाषणों ने इस दल को शीघ्र ही लोकप्रिय बना दिया और समूचे हिन्देशिया में दल की शाखाओं का जाल-सा बिछ गया। इससे डच सरकार घबरा गई और 1929 में उसने दल को भंग करने का आदेश प्रसारित किया और

दल के बहुत से नेताओं को बन्दी बना लिया गया। डॉ. सुकर्ण और उसके मुख्य सहयोगी हट्टा जापान चले गये।

राष्ट्रीय आन्दोलन के बढ़ते हुए प्रभाव को कम करने की दृष्टि से डच सरकार ने हिन्देशिया में संवैधानिक सुधारों को शुरू करने का निश्चय किया। 1927 के सुधारों के अन्तर्गत हिन्देशिया में एक ऐसे विधानमण्डल की स्थापना की गई जिसको कानून बनाने का अधिकार प्राप्त था। विधानमण्डल में दो-तिहाई निर्वाचित सदस्यों और एक-तिहाई मनोनीत सदस्यों का प्रावधान रखा गया। इसके अलावा एक सिविल सर्विस का संगठन भी बनाया गया और हिन्देशियाई लोगों का भी चयन किया जाने लगा। 1931 में डच सरकार ने यह घोषणा की कि विधानमण्डल में एशियावासियों का बहुमत रखा जायेगा। 1940 तक देश की सिविल सर्विस में 80 प्रतिशत अधिकारी हिन्देशियाई थे। परन्तु राष्ट्रवादी दल पूर्ण स्वतन्त्रता से कम किसी भी बात को मानने को तैयार न था। उसने संघर्ष जारी रखा।

जापानियों का आधिपत्य—द्वितीय महायुद्ध के दौरान जब जर्मनी ने हालैण्ड, फ्रांस और बेल्जियम को परास्त कर दिया तो जापान ने इन देशों के दक्षिण-पूर्वी एशिया में फैले उपनिवेशों को जीत कर अपना प्रभुत्व बढ़ाने का अच्छा अवसर देखा। हिन्देशिया के कुछ नेता भी जापानी सहयोग से डच शासन से मुक्त होने का विचार करने लगे थे। संयोगवश जापानी सेनाओं को शानदार सफलताएँ मिलती गईं। मार्च, 1942 तक सम्पूर्ण हिन्देशिया पर जापान का अधिकार हो गया। डच शासन के विरुद्ध घृणा पैदा करने के लिए और जापान को एशियावासियों का मुक्तिदाता सिद्ध करने की दृष्टि से जापानियों ने हिन्देशिया के राष्ट्रवादी नेताओं को नवीन शासन में सम्मानित पद प्रदान किये। परिणामस्वरूप हिन्देशिया के सभी राजनैतिक दलों ने जापानी शासन के साथ सहयोग किया।

हिन्देशिया का स्वतन्त्रता संघर्ष—द्वितीय महायुद्ध के अन्त में जापान पराजित हो गया और उसे आत्मसमर्पण करना पड़ा। इस घटना से लेकर 27 दिसम्बर, 1949 (हिन्देशिया का स्वतन्त्रता दिवस) के मध्य का जो संक्रमण काल है, वह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। जापान द्वारा आत्मसमर्पण करने के दो दिन बाद ही हिन्देशिया के राष्ट्रवादी नेताओं ने 17 अगस्त, 1945 को एक स्वतन्त्र गणराज्य की घोषणा कर दी। डॉ. सुकर्ण को राष्ट्रपति तथा हट्टा को उपराष्ट्रपति बनाया गया। 153 सदस्यों की एक राष्ट्रीय समिति बनाई गई। चूँकि हिन्देशियाई लोगों का विश्वास था कि डच लोग उनके देश पर पुनः अधिकार जमाने का अवश्य प्रयत्न करेंगे, अतः इस सम्भावित खतरे का सामना करने के लिए सम्पूर्ण हिन्देशियाई जनता एकजुट हो गई।

चूँकि हालैण्ड कुछ दिनों पूर्व ही जर्मन आधिपत्य से मुक्त हुआ था, अतः उसमें इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि वह अकेले अपने सैनिक बल पर हिन्देशिया पर पुनः अपना अधिकार कर सके। इसलिए मित्रराष्ट्रों की सेनाओं से सहायता माँगी गई। डचों को सहायता करने का काम "दक्षिण-पूर्व एशिया कमाण्ड" को सौंपा गया। यह व्यवस्था की गई कि मित्रराष्ट्रों की सेनाएँ जैसे-जैसे हिन्देशिया के द्वीपों पर कब्जा करती जाए, वैसे-वैसे वहाँ का शासन डच सरकार को सौंपती जाय। सितम्बर माह के अन्तिम दिनों में मित्रराष्ट्रों की सेना जावा में उतरी। परन्तु इस

वार हिन्देशियाई जनता ने साम्राज्यवादियों से जमकर टक्कर लेने का निश्चय कर लिया था। अतः मित्रराष्ट्रों की सेना को कदम-कदम पर कड़े संघर्ष का सामना करना पड़ा। 23 अक्टूबर, 1945 को दोनों पक्षों में घमासान युद्ध हुआ, जिसमें हजारों लोग मारे गये। जावा एवं सुमात्रा तथा कुछ अन्य द्वीपों पर मित्रराष्ट्रों ने डच शासन स्थापित कर दिया। 17 जनवरी, 1946 को यूक्रेन ने हिन्देशिया के मामले को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा-परिषद् में पेश किया, परन्तु पश्चिमी राष्ट्रों के विरोध के कारण किसी प्रकार की कार्यवाही नहीं की गई। इस बीच दोनों पक्षों में समझौता कराने के लिए भी कई प्रयास किये गये जिन्हें सफलता नहीं मिली। अब हालैण्ड ने हिन्देशियाई द्वीपों में अलगाववादी तत्त्वों को उकसा कर राष्ट्रवादियों में फूट डालने का प्रयास किया। अक्टूबर, 1946 में ब्रिटिश मध्यस्थता के फलस्वरूप दोनों पक्षों में युद्ध-विराम हो गया। इसके बाद पुनः समझौता वार्ता शुरू हुई।

25 मार्च, 1947 को दोनों पक्षों के मध्य "लिंगायती समझौता" सम्पन्न हुआ। इस समझौते के अनुसार संयुक्त राज्य हिन्देशिया का एक संघीय राज्य बनाने का निश्चय किया गया। यह संघीय राज्य तीन स्वायत्त राज्यों को मिल कर बनना था—(1) हिन्देशियाई गणतन्त्र, (2) महापूर्व और (3) बोर्नियों का डच भाग। इस समझौते के अनुसार हालैण्ड, हालैण्ड के अधीन हिन्देशियाई क्षेत्र और संयुक्त संघीय हिन्देशियाई गणराज्य को मिलाकर एक "यूनियन" कायम करने की भी व्यवस्था की गई। आन्तरिक क्षेत्र में प्रत्येक द्वीप की स्वतन्त्रता को स्वीकारा गया, परन्तु बाह्य क्षेत्र में "यूनियन" का नियन्त्रण रखा गया। परन्तु इस समझौते से दोनों ही पक्ष सन्तुष्ट न थे। डचों ने अलगाववादी आन्दोलन को भड़काने में पूरा-पूरा सहयोग दिया। अप्रैल, 1947 में पश्चिमी जावा ने हिन्देशियाई गणराज्य के विरुद्ध विद्रोह करके डच सैनिक संरक्षण में एक पृथक् राज्य की स्थापना कर ली। मई, 1947 में पश्चिमी बोर्नियों को "संयुक्त राज्य इण्डोनेशिया" के अन्दर एक स्वशासित प्रदेश घोषित कर दिया गया और पूर्वी बोर्निया को भी यही स्तर प्रदान किया गया।

जावा और बोर्नियों की घटनाओं ने हिन्देशियाई नेताओं को डचों की कुटिल कूटनीति का आभास दे दिया। गणराज्यवादी सरकार ने अब डचों के विरुद्ध कठोर रुख अपनाना शुरू कर दिया। इस पर जुलाई, 1947 में "कानून एवं व्यवस्था" स्थापित करने की ओट में डचों ने पुलिस कार्यवाही करने का निश्चय किया और गणराज्य अधिकृत जावा और सुमात्रा पर सशस्त्र आक्रमण कर दिया। भारत और आस्ट्रेलिया ने तत्काल सुरक्षा परिषद् में इस आक्रमण के सवाल को उठाया। दोनों देशों ने डचों की कार्यवाही को सशस्त्र आक्रमण बतलाया, जबकि हालैण्ड ने इसे अपना आन्तरिक मामला बताया। सुरक्षा परिषद् ने तत्काल युद्ध-विराम करवाया और उसी के फलस्वरूप दोनों पक्षों में "रेनविल समझौता" सम्पन्न हुआ। गणराज्य ने यह समझौता परिस्थितियों की विवशता के कारण किया था। इसकी शर्तें भी लिंगाती समझौते के समान ही थीं। अतः राष्ट्रवादियों ने शुरू से ही समझौते को लागू करने में सहयोग नहीं दिया। डचों ने भी इस अवसर का लाभ उठाते हुए पार्थक्यवादी आन्दोलन को और अधिक भड़काया। परिणाम यह निकला कि हिन्देशिया गृह-युद्ध में उलझ गया। इससे राष्ट्रवादी शक्तियों की स्थिति कमजोर होती गई। इस कमजोरी का लाभ उठाते हुए हालैण्ड ने दिसम्बर, 1948 में एक बार फिर बड़े

पैमाने पर हिन्देशिया पर आक्रमण कर दिया। उसकी राजधानी जकार्ता पर डचों का अधिकार हो गया और बहुत-से राष्ट्रवादी नेताओं को गिरफ्तार करके बंदी बना लिया गया। डच अधिकारियों ने अपने क्रूर और अमानवीय कार्यों से वाह्य विश्व की सद्भावना को खो दिया। सुरक्षा परिषद् के संकटकालीन अधिवेशन में इस समस्या पर पुनः विचार हुआ और परिषद् ने पुनः युद्ध-विराम का आदेश दिया और हिन्देशिया के राजनैतिक बन्दियों को रिहा करने की अपील की। संयुक्त राज्य अमेरिका की कांग्रेस ने भी अपनी सरकार पर हालैण्ड की भर्त्सना करने पर जोर दिया। वस्तुतः चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना हो जाने के बाद से ही अमेरिकन लोकमत के लिए दक्षिण-पूर्वी एशिया का महत्त्व बढ़ गया था और अमेरिकन सरकार भी इस क्षेत्र में साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए चिन्तित थी। 20 जनवरी, 1949 को नई दिल्ली में हिन्देशियाई समस्या पर विचार करने के लिए बहुत-से देशों के राजनेताओं का एक सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसमें हालैण्ड की भर्त्सना की गई और हिन्देशिया की स्वतन्त्रता का जोरदार समर्थन किया गया। उपर्युक्त परिस्थितियों में हालैण्ड के लिये विश्व लोकमत की अवहेलना करना सम्भव नहीं रहा और हिन्देशिया में भी राष्ट्रवादियों ने छापामार युद्ध के माध्यम से डच शासन की जड़ों को हिला दिया था। अतः हालैण्ड को समझौते के लिए तैयार होना पड़ा। 3 अगस्त, 1949 को दोनों पक्षों में समझौता हो गया। समझौते के अनुसार हालैण्ड ने अपनी सैनिक कार्यवाही रोक दी और समस्त राजनैतिक बन्दियों को रिहा कर दिया गया और समस्या के समाधान के लिए हेग में एक गोलमेज सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति—2 नवम्बर, 1949 को उपर्युक्त गोलमेज सम्मेलन समाप्त हो गया और इसके निर्णय से हिन्देशिया पर से डच शासन का भी अन्त हो गया। समझौते के अनुसार, "संयुक्त रा... हिन्देशिया" को 16 राज्यों सहित हालैण्ड की साझेदारी में एक ही संप्रभु की छत्रछाया में समान स्तर पर एक "सार्वभौम लोकतन्त्रात्मक गणराज्य" में परिणत करने का निश्चय किया गया। परन्तु प्रस्तावित संघीय सरकार में "डच न्यूगिनी" (पश्चिमी न्यूगिनी या इरियन) को सम्मिलित नहीं किया गया। 27 दिसम्बर, 1949 को हालैण्ड ने हिन्देशिया को प्रभुसत्ता पूर्णरूप से हस्तान्तरित कर दी।

यह समझौता भी हिन्देशियाई नेताओं ने परिस्थितिवश होकर किया था। वे लोग पश्चिमी इरियन पर हिन्देशिया का प्रभुत्व छोड़ने को तैयार नहीं थे, परन्तु मौजूदा स्थिति में उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा। इसी प्रकार वे लोग हिन्देशियाई संघ और हालैण्ड के सम्मिलित संघ के लिए भी तैयार नहीं थे।

स्वतन्त्र हिन्देशिया की समस्याएँ—27 दिसम्बर, 1949 को हिन्देशिया एक प्रभुतासम्पन्न गणराज्य के रूप में उदित हुआ। डॉ. सुकर्ण राष्ट्रपति और हट्टा प्रधानमन्त्री बने। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हिन्देशियाई सरकार ने अनुभव किया कि डचों की सुविधाओं के लिए विभिन्न इकाइयों द्वारा निर्मित संघीय ढाँचा देश की उन्नति में विशेष सहायक नहीं होगा। अतः हिन्देशियाई नेताओं ने एकात्मक शासन स्थापित करने का निश्चय किया। इस दृष्टि से नया संविधान तैयार किया गया और 1954 में संघात्मक पद्धति के स्थान पर एकात्मक पद्धति स्थापित की गई। अब उसे "हिन्देशियाई गणतन्त्र" का नाम दिया गया। डचों के उकसाने पर हिन्देशिया के कुछ क्षेत्रों में

एकात्मक पद्धति के विरुद्ध विद्रोह उठ खड़े हुए, परन्तु गणराज्य सरकार ने विद्रोहों को कुचलने तथा केन्द्रीय सत्ता का नियन्त्रण स्थापित करने में सफलता प्राप्त की।

हिन्देशिया-हालैण्ड संघ में भी दरारें पड़ने लग गईं। मतभेद का मुख्य कारण हिन्देशियाई गणराज्य द्वारा हालैण्ड से पूछे बिना संघात्मक पद्धति के स्थान पर एकात्मक पद्धति को लागू करना था। दूसरा मुख्य कारण पश्चिमी न्यूगिनी था। हिन्देशियाई गणराज्य अपने देश के इस क्षेत्र को अपने नियन्त्रण में लाने की इच्छा रखता था और हालैण्ड इस पर अपना नियन्त्रण बनाये रखने को दृढ़ संकल्प था। धीरे-धीरे मतभेद इतने अधिक बढ़ गये कि हिन्देशिया ने इस संघ को ही समाप्त करने का निश्चय कर लिया और 10 अगस्त, 1954 को वह संघ से पृथक् हो गया, जिससे संघ की अन्त्येष्टि हो गई।

इसके बाद भी, पश्चिमी न्यूगिनी को लेकर दोनों पक्षों में विवाद बना रहा। हिन्देशिया ने पश्चिमी न्यूगिनी के भाग्य का फैसला करने के लिए जनमत-संग्रह का प्रस्ताव रखा। परन्तु हालैण्ड इसके लिए तैयार नहीं था। उल्टे उसने पश्चिमी न्यूगिनी पर हिन्देशिया के दावों को भी ठुकरा दिया। हिन्देशिया इस मामले को संयुक्त राष्ट्रसंघ में ले गया। 19 अफ्रेशियाई राष्ट्रों ने उसका समर्थन किया। परन्तु आवश्यक बहुमत के अभाव में उसका प्रस्ताव गिर गया और संयुक्त राष्ट्र संघ में कोई कार्यवाही न हो पायी। इस पर हिन्देशिया में डच लोगों के विरुद्ध जोरदार असन्तोष उत्पन्न हो गया और उन्होंने डच उद्योगों, कारखानों, व्यापारिक प्रतिष्ठानों पर कब्जा करना शुरू कर दिया। हिन्देशिया सरकार ने भी लगभग 10,000 डच नागरिकों को देश से निष्कासित कर दिया। हालैण्ड ने पश्चिमी न्यूगिनी की सुरक्षा के लिए और अधिक सेना तथा युद्धपोत भेज दिये। इस पर हिन्देशिया ने हालैण्ड के साथ अपने राजनैतिक सम्बन्ध भी भंग कर दिये। स्थिति को बिगड़ते देख कर भारत, अमेरिका आदि देशों के नेताओं ने समस्या सुलझाने के प्रयास किये। आखिर दोनों देशों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के माध्यम से समस्या को हल करने की बात स्वीकार कर ली। 1 अक्टूबर, 1962 को पश्चिमी न्यूगिनी में डच शासन को समाप्त कर दिया गया और उसे एक अस्थायी संयुक्त राष्ट्रीय अधिशासन के प्रशासन के अन्तर्गत रखा गया। 1 मई, 1963 को यह क्षेत्र हिन्देशियाई गणराज्य को सौंप दिया गया। इस प्रकार, हिन्देशिया के समस्त क्षेत्र पर से डच प्रभुसत्ता का अन्त हुआ।

राष्ट्रपति सुकर्ण ने अपने सभी विरोधियों को कुचलते हुए 1966 ई. तक एक तानाशाह की भाँति शासन किया, जिसके परिणामस्वरूप उनके विरोधियों की संख्या बढ़ती गई और अन्त में 11 मार्च, 1966 को सेना के नेता जनरल सुहार्तो ने देश की सत्ता अपने हाथ में ले ली। 12 मार्च, 1967 को जनरल सुहार्तो स्वयं राष्ट्रपति बन गये और आज भी वे इस पद पर आसीन हैं।

प्रश्न

1. हिन्दचीन के स्वतन्त्रता संघर्ष की समीक्षा कीजिये।
2. "वियतनाम का मुक्ति संघर्ष अमेरिका के लिए एक शर्मनाक पराजय थी।" इस कथन की पुष्टि कीजिये।
3. हिन्देशिया के स्वतन्त्रता संघर्ष में डॉ. सुकर्ण की भूमिका का मूल्यांकन कीजिये।

परिशिष्ट

पाठ्यक्रम से सम्बन्धित प्रमुख तिथियाँ

1275 ई. — मार्कोपोलो चीनी दरबार में पहुँचा।
1348 ई. — यूरोप में "काली-मृत्यु" का प्रकोप।
1453 ई. — कुस्तुनतुनिया पर तुर्कों का अधिकार; पूर्वी रोमन साम्राज्य का अन्त।
1454 ई. — जर्मनी में जान गुटनबर्ग ने छापाखाना स्थापित किया।
1492 ई. — क्रिस्टोफर कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज।
1497 ई. — जॉन कैबट ने न्यूफाउण्डलैण्ड की खोज की।
1498 ई. — वास्को-डी-गामा द्वारा भारत के समुद्री मार्ग की खोज।
1499 ई. — अमेरिगो वेसपुगी ने दक्षिण अमेरिकी तट के भाग का नक्शा बनाया।
1500 ई. — ब्रेडो केब्राल द्वारा ब्राजील की खोज।
1517 ई. — मार्टिन लूथर द्वारा जर्मनी में धर्म सुधार आन्दोलन की शुरूआत।
— पहला पुर्तगाली व्यापार-मण्डल कैण्टन पहुँचा।
1519 ई. — पुर्तगाली मैगेलन की समुद्री मार्ग से प्रथम विश्व परिक्रमा की शुरूआत।
1521 ई. — स्पेन ने मैक्सिको को जीता।
1524 ई. — जर्मनी में किसानों का महान् विद्रोह।
1533 ई. — स्पेन ने पेरू (पीरू) को जीता।
1542 ई. — प्रथम पुर्तगाली नाविक जापान पहुँचे।
1557 ई. — चीन का मकाओ द्वीप पुर्तगालियों का स्थायी बन्दरगाह बना।
1565 ई. — अमेरिका में पहली स्थायी बस्ती "फ्लोरिडा" बसाई गई।
1598 ई. — नान्तेज का अध्यादेश—फ्रांस के प्रोटेस्टेण्टों को उपासना की स्वतन्त्रता मिली।
1600 ई. — अँग्रेजों ने "ईस्ट इण्डिया कम्पनी" बनाई।
1602 ई. — डचों ने "डच-ईस्ट-इण्डिया कम्पनी" की स्थापना की।
1610 ई. — गैलीलियो ने सर्वप्रथम टेलीस्कोप द्वारा अन्तरिक्ष का अवलोकन किया।
1619 ई. — फ्रांस के रेने देकार्ते द्वारा विश्लेषणात्मक ज्यामिति का सूत्रपात।

1628 ई. — विलियम हार्वे ने रक्त के परिसंचरण का प्रदर्शन किया।

1685 ई. — न्यूटन के प्रसिद्ध ग्रन्थ "प्रिंसिपिया मेथेमेटिसिया" का प्रकाशन।

1687 ई. — न्यूटन द्वारा "गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त" का प्रतिपादन।

1688 ई. — गौरवपूर्ण क्रान्ति (रक्तहीन क्रान्ति)।

1712 ई. — थामस न्यूकोमेन द्वारा भाप के इंजन (पिस्टन) का आविष्कार।

1757-63 ई. — सप्तवर्षीय युद्ध।

1762 ई. — रूसो की "द सोशल कांट्रेक्ट" का प्रकाशन।

1764 ई. — ज़ेम्स हारग्रीव्स ने स्पिनिंग जेनी का आविष्कार किया।

1765 ई. — जेम्स वाट द्वारा भाप के इंजन (कंडेन्सर) का निर्माण।

— अमेरिकन उपनिवेशों में 'स्टाम्प एक्ट' लागू किया गया।

1766 ई. — 'स्टाम्प एक्ट' का निरस्तीकरण।

1769 ई. — नेपोलियन वोनापार्ट का जन्म।

1770 ई. — वोस्टन हत्याकाण्ड (5 मार्च)।

1773 ई. — वोस्टन टी पार्टी (26 दिसम्बर)।

1774 ई. — अमेरिका में प्रथम महाद्वीपीय काँग्रेस का अधिवेशन (5 सितम्बर)।

1775 ई. — फिलाडेल्फिया में द्वितीय महाद्वीपीय काँग्रेस (10 मई)।

— जार्ज वाशिंगटन का अमेरिकी सेनाध्यक्ष के रूप में चयन।

1776 ई. — अमेरिकी उपनिवेशों द्वारा स्वतन्त्रता की घोषणा (4 जुलाई)।

1777 ई. — साराटोगा में ब्रिटिश सेना का आत्मसमर्पण (17 अक्टूबर)।

1779 ई. — सेम्युअल क्राम्पटन द्वारा कताई मशीन का आविष्कार।

1781 ई. — लॉर्ड कार्नवालिस द्वारा अमेरिकी सेना के समक्ष आत्मसमर्पण (19 अक्टूबर)।

1783 ई. — पेरिस की सन्धि; इंगलैण्ड ने अमेरिकी उपनिवेशों की स्वतन्त्रता स्वीकार की।

1789 ई. — वर्साय में इस्टेट्स जनरल का अधिवेशन शुरू (5 मई)।

— तीसरे इस्टेट्स ने अपने आपको राष्ट्रीय सभा घोषित किया (17 जून)।

— टेनिस कोर्ट की शपथ (20 जून)।

— लुई ने तीनों सदनों को एक साथ बैठने की अनुमति दी। (27 जून)।

— वस्तीय का पतन (14 जुलाई)।

— राष्ट्रीय महासभा द्वारा मानवाधिकारों की घोषणा (26 अगस्त)।

— महिलाओं का वर्साय अभियान (5 अक्टूबर)।

— जार्ज वाशिंगटन संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति बने।

1791 ई. — फ्रांस का नया संविधान बना (14 सितम्बर)।
— फ्रांस में दास-प्रथा की समाप्ति (28 सितम्बर)।
1792 ई. — जेकोबिन दल का उत्थान। राजतन्त्र का पतन एवं गणतन्त्र की स्थापना।
1793 ई. — लुई सोलहवें को मृत्यु-दण्ड (21 जनवरी)।
— फ्रांस की रानी को मृत्यु-दण्ड। फ्रांस में आतंकवादी गतिविधियाँ।
— ब्रिटिश सरकार ने लॉर्ड मेकार्टन को दूत बनाकर चीन भेजा।
1795 ई. — डायरेक्टरी का शासन शुरू (27 अक्टूबर)।
1797 ई. — नेपोलियन ने आस्ट्रिया को पराजित किया; केम्पोफोर्मियो की सन्धि।
1798 ई. — नेपोलियन का मिस्र अभियान शुरू। नील नदी का युद्ध—इंगलैण्ड ने फ्रांसीसी बेड़े को नष्ट किया।
1799 ई. — नेपोलियन बोनापार्ट प्रथम कौंसल बना।
1802 ई. — फ्रांस और इंगलैण्ड में आमीन्स की सन्धि।
— नेपोलियन और पोप के मध्य समझौता।
1804 ई. — नेपोलियन बोनापार्ट फ्रांस का सम्राट बना।
1805 ई. — ट्राफल्गार का युद्ध; इंगलैण्ड की विजय परन्तु नेल्सन की मृत्यु।
— आस्टरलित्स का युद्ध; प्रेसबुर्ग की सन्धि।
1806 ई. — नेपोलियन द्वारा इंगलैण्ड की नाकेबन्दी की घोषणा।
1807 ई. — नेपोलियन ने रूस को पुनः पराजित किया; टिलसिट की सन्धि।
1808 ई. — स्पेन का राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू।
1810 ई. — नेपिल्स में कार्बोनरी की स्थापना।
1812 ई. — नेपोलियन का रूस पर आक्रमण।
1813 ई. — लाइपजिग में राष्ट्रों का युद्ध; वेलिंगटन का फ्रांस पर आक्रमण।
1814 ई. — नेपोलियन की पराजय; एल्बा भेजा गया। वियना कॉंग्रेस की शुरूआत।
— फ्रांस में लुई अठारहवाँ सत्तारूढ़ हुआ।
1815 ई. — नेपोलियन का एल्बा से भाग कर फ्रांस आना; 100 दिन का शासन।
— वाटरलू के युद्ध में नेपोलियन की पराजय; सेंट हेलेना में निर्वासित किया गया।
1819 ई. — जालवरीन की शुरूआत। जर्मनी में कार्ल्सवाद अध्यादेशों द्वारा प्रतिक्रियावादी शासन की शुरूआत।
1830 ई. — फ्रांस में जुलाई क्रान्ति; लुई फिलिप नया राजा बनाया गया। यूरोप में जुलाई क्रान्ति का प्रसार।
1831 ई. — मेजिनी द्वारा 'यंग इटली' की स्थापना।

1832 ई. — इंगलैण्ड में प्रथम सुधार अधिनियम पारित।
1833 ई. — यूरोपीय शक्तियों द्वारा यूनान की स्वतन्त्रता को मान्यता।
1836 ई. — डचों ने केपकोलोनी को त्यागा। इंगलैण्ड में चार्टिस्ट आन्दोलन।
1840 ई. — चीन और इंगलैण्ड में प्रथम अफीम युद्ध शुरू।
1842 ई. — नानकिंग की सन्धि; चीन ने अपने पाँच बन्दरगाह खोले।
1847 ई. — फ्रांस ने अल्जीरिया पर अधिकार जमाया।
1848 ई. — फ्रांस में क्रान्ति; द्वितीय फ्रांसीसी गणतन्त्र की स्थापना।
— यूरोप में 1848 की क्रान्ति का प्रसार।
— मार्क्स और एंगेल्स ने "कम्युनिस्ट घोषणा पत्र" का प्रकाशन किया।
1850 ई. — कावूर सार्डिनिया का प्रधानमंत्री बना।
— प्रशा और आस्ट्रिया में आल्मुत्ज का समझौता।
1852 ई. — नेपोलियन तृतीय फ्रांस का सम्राट बना।
1853 ई. — कमांडर पेरी जापान के समुद्री तट पर पहुँचा।
— रूस और तुर्की के मध्य क्रीमिया युद्ध का आरम्भ।
— चीन में ताइपिंग विद्रोह शुरू हुआ।
1854 ई. — जापान ने अमेरिका के साथ सन्धि की।
1856 ई. — लिविंग्स्टन ने अफ्रीका के भीतरी हिस्सों का अन्वेषण किया।
— पेरिस की सन्धि द्वारा क्रीमिया युद्ध का अन्त।
1857-58 ई. — द्वितीय अफीम युद्ध।
1858 ई. — नेपोलियन तृतीय और कावूर के मध्य प्लेम्बियर्स का समझौता।
— तीन्तसिन की सन्धि; चीन ने 11 और बन्दरगाह विदेशियों के लिए खोले।
1859 ई. — आस्ट्रिया और सार्डिनिया के मध्य युद्ध शुरू।
— विलाफ्रेंका की सन्धि द्वारा युद्ध समाप्त; सार्डिनिया को लोम्बार्डी मिला।
— स्वेज नहर का निर्माण कार्य शुरू।
1860 ई. — मध्य इटली के राज्यों का सार्डिनिया में विलय।
— गेरीवाल्डी ने सिसली और नेपल्स जीते।
1861 ई. — कावूर की मृत्यु। रूमानिया के एकीकृत राज्य को मान्यता मिली।
1862 ई. — बिस्मार्क प्रशा का चांसलर बना।
1864 ई. — प्रथम इंटरनेशनल की स्थापना।
1865 ई. — आस्ट्रिया और प्रशा ने डेनमार्क से श्लेसविग और हाल्सटाइन छीने।
— आस्ट्रिया और प्रशा के मध्य गेस्टाइन का समझौता।

1866 ई. — आस्ट्रिया और प्रशा के मध्य सेडोवा का युद्ध; प्राग की सन्धि।
— इटली को वेनेशिया मिला।
1867 ई. — मास्को में विराट सर्वस्लाव सम्मेलन शुरू।
— इंगलैण्ड में द्वितीय सुधार अधिनियम पारित।
1868 ई. — जापान में शोगुन का पतन। मेजी शासन के अन्तर्गत जापान के द्रुत गति से पश्चिमीकरण की शुरूआत।
1869 ई. — स्वेज नहर बन कर तैयार।
1870 ई. — फ्रांस और प्रशा में युद्ध शुरू; सेडान में नेपोलियन तृतीय का आत्मसमर्पण।
— पेरिस में विद्रोह; द्वितीय साम्राज्य का पतन; रोम पर इटली का अधिकार।
1871 ई. — प्रशा का विलियम प्रथम जर्मन सम्राट घोषित; पेरिस का आत्मसमर्पण; फ्रेंकफर्ट की सन्धि।
1875 ई. — इंगलैण्ड ने मिस्र के पाशा से स्वेज नहर के शेयर खरीदे।
1876 ई. — तुर्कों द्वारा बल्गेरिया में कत्लेआम।
1877 ई. — रूस ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की।
1878 ई. — रूस और तुर्की के मध्य सेन स्टीफेनों की सन्धि (3 मार्च)।
— बर्लिन काँग्रेस का अधिवेशन शुरू (30 जून)।
1879 ई. — अँग्रेजों ने डचों से ट्रांसवाल छीना।
1880 ई. — मुस्तफा कमाल पाशा का जन्म।
1881 ई. — बोअर युद्ध में अँग्रेजों की प्रथम पराजय।
— फ्रांस ने ट्यूनिस पर अधिकार किया।
1884 ई. — अफ्रीका के बँटवारे के लिये बर्लिन सम्मेलन शुरू।
— इंगलैण्ड में तृतीय सुधार अधिनियम पारित।
1894 ई. — जापान ने चीन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की।
1895 ई. — फारमोसा और कोरिया पर जापान का अधिकार, शिमोनेस्की की सन्धि द्वारा युद्ध का अन्त।
1898 ई. — फिलीपाइन्स पर अमेरिका का अधिकार।
1899 ई. — बोअर युद्ध प्रारम्भ। चीन में बॉक्सर विद्रोह शुरू।
1902 ई. — बोअर युद्ध की समाप्ति। इंगलैण्ड और जापान की सन्धि।
1904 ई. — रूस-जापान युद्ध शुरू।
1905 ई. — पोर्ट्समाउथ की सन्धि द्वारा रूस-जापान युद्ध समाप्त हुआ।
— प्रथम रूसी क्रान्ति।
— सन-यात-सेन ने "थुंग-मेंग-हुई" की स्थापना की।

1908 ई. — युवा तुर्क क्रान्ति।
1909 ई. — "यूनियन ऑफ साउथ अफ्रीका" का निर्माण।
1911 ई. — चीन की राज्य क्रान्ति।
— इंगलैण्ड में संसदीय अधिनियम पारित।
1914 ई. — साराजेवो में आस्ट्रियन युवराज की हत्या (28 जून)।
— आस्ट्रिया ने सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की (28 जुलाई)।
— प्रथम विश्व युद्ध का प्रारम्भ।
— जर्मनी ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की (1 अगस्त)।
— जर्मनी ने फ्रांस के विरुद्ध युद्ध घोषित किया (3 अगस्त)।
— जर्मनी का बेल्जियम पर आक्रमण (3 अगस्त)।
— इंगलैण्ड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की (4 अगस्त)।
— आस्ट्रिया ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की (6 अगस्त)।
— जापान ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की (23 अगस्त)।
— रूस ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की (2 नवम्बर)।
1916 ई. — रूसी साधु रास्पुटिन की हत्या (6 दिसम्बर)।
1917 ई. — पैट्रोग्राड में रूसी सैनिकों का विद्रोह (10 मार्च)।
— जार निकोलस ने सिंहासन त्यागा (15 मार्च)।
— रूस में मार्च की क्रान्ति।
— रूस में बोल्शेविक क्रान्ति शुरू (6 नवम्बर)।
1918 ई. — विल्सन द्वारा चौदह सूत्रों की घोषणा (8 जनवरी)।
— जर्मनी में क्रान्ति; सम्राट विलियम द्वितीय ने देश त्यागा।
— जर्मन गणतन्त्र की उद्घोषणा (9 नवम्बर)।
— 'इंगलैण्ड में स्त्रियों को मताधिकार मिला।
1919 ई. — पेरिस में शान्ति सम्मेलन शुरू (18 जनवरी)।
— वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर (28 जून)।
— सेंट जर्मेन की सन्धि सम्पन्न (10 सितम्बर)।
— बल्गेरिया के साथ न्यूइली की सन्धि (27 नवम्बर)।
1920 ई. — राष्ट्रसंघ की प्रथम बैठक हुई (10 जनवरी)।
— हंगरी के साथ ट्रायनों की सन्धि (4 जून)।
— तुर्की के साथ सेव्रे की सन्धि (10 अगस्त)।
— कमाल पाशा के नेतृत्व में तुर्की की "महान् राष्ट्रीय सभा" का उद्घाटन।

1922 ई. — इटली में फासिस्ट पार्टी की सरकार बनी (31 अक्टूबर)।
— तुर्की के साथ लोसान की नई सन्धि (24 जुलाई)।
1924 ई. — लेनिन की मृत्यु; स्टालिन सत्तारूढ़।
1925 ई. — डॉ. सन-यात-सेन की मृत्यु; चीन में च्यांग-काई-शेक सत्तारूढ़।
1929 ई. — अमेरिका में वाल स्ट्रीट में शेयरों के भाव गिरे।
— विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी का प्रारम्भ।
1931 ई. — जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण किया।
1932 ई. — जापान ने मंचूरिया में एक स्वतन्त्र राज्य "मंचूको" की स्थापना की।
1933 ई. — हिटलर जर्मनी का चांसलर बना (30 जनवरी)।
— जर्मनी राष्ट्रसंघ से अलग हुआ (14 अक्टूबर)।
— माओत्से तुंग का "ऐतिहासिक प्रयाण"।
1934 ई. — जर्मनी का पोलैण्ड के साथ अनाक्रमण समझौता (26 जनवरी)।
— आस्ट्रियन चांसलर डालफस की हत्या (25 जुलाई)।
— हिंडेनबर्ग की मृत्यु; हिटलर जर्मनी का तानाशाह बना (14 अगस्त)।
1935 ई. — राष्ट्रसंघ ने सार का क्षेत्र जर्मनी को सौंपा।
— हिटलर द्वारा शस्त्रीकरण की घोषणा (16 मार्च)।
— इंगलैण्ड ने जर्मनी के साथ नौ-सैनिक समझौता किया (18 जून)।
— इटली ने इथोपिया पर आक्रमण किया।
1936 ई. — इटली ने इथोपिया पर अधिकार किया। स्पेन में गृह-युद्ध छिड़ा।
— जर्मनी द्वारा राइनलैण्ड का सैन्यीकरण।
— रोम-बर्लिन धुरी का निर्माण (25 अक्टूबर)।
— बर्लिन-टोक्यो धुरी का निर्माण (25 नवम्बर)।
1937 ई. — चीन पर जापान का नया हमला। जापानियों के विरुद्ध चीनियों का "संयुक्त मोर्चा"।
— रोम-बर्लिन-टोक्यो धुरी का निर्माण (6 नवम्बर)।
1938 ई. — म्यूनिख समझौता—चेकोस्लोवाकिया का विभाजन (29 सितम्बर)।
— चेकोस्लोवाकिया और मेमल पर जर्मनी का अधिकार।
— मुस्तफा कमाल पाशा की मृत्यु।
1939 ई. — रूस के साथ जर्मनी का अनाक्रमण समझौता (23 अगस्त)।
— जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण किया। द्वितीय विश्व युद्ध का प्रारम्भ (1 सितम्बर)।
— इंगलैण्ड और फ्रांस द्वारा जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा (3 सितम्बर)।

1941 ई. — जर्मनी ने रूस पर आक्रमण किया। रूस मित्र राष्ट्रों के साथ आया।
— पर्ल हार्बर पर जापान का हमला (7 सितम्बर); संयुक्त राज्य अमेरिका भी युद्ध में कूदा।

1942 ई. — मित्र राष्ट्रों को जर्मन फौजों की प्रगति को रोकने में सफलता मिली।

1943 ई. — इटली ने आत्मसमर्पण किया (3 दिसम्बर)।

1944 ई. — रूस में जर्मन फौजों की पराजय। बर्लिन पर भयंकर बम वर्षा।

1945 ई. — बर्लिन का पतन; जर्मन सेनाओं का आत्मसमर्पण।
— हिटलर ने आत्महत्या की। मुसोलिनी की हत्या कर दी गई।
— सेन फ्रांसिस्को सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर।
— हिरोशिमा पर अणु बम (6 अगस्त)।
— नागासाकी पर अणु बम गिराया (9 अगस्त)।
— जापान का आत्मसमर्पण। द्वितीय महायुद्ध का अन्त।

1946 ई. — राष्ट्रसंघ का अन्त (18 अप्रैल)।

1949 ई. — माओत्से तुंग ने चीनी गणतन्त्र की स्थापना की घोषणा की।

1949 ई. — हिन्देशिया स्वतन्त्र हुआ।

1950 ई. — च्यांग-काई-शेक फारमोसा भागा।

1953 ई. — कम्बोडिया को स्वतन्त्रता मिली।

1954 ई. — जेनेवा सम्मेलन—लाओस को स्वतन्त्रता मिली।
— वियतनाम का विभाजन किया गया।
— वियतनाम गणराज्य की स्थापना।

1963 ई. — पश्चिमी न्यूगिनी हिन्देशिया को मिला।

1966 ई. — हिन्देशिया में डॉ. सुकर्ण का तख्ता पलटा।
— जनरल सुहार्तो ने सत्ता सम्भाली।

1969 ई. — डॉ. हो-ची-मिन्ह का देहावसान।

1975 ई. — वियतनाम का एकीकरण पूरा हुआ।